आत्मकथा

लेखक

राजेन्द्र प्रसाद

प्राक्कथन

सरदार वल्लभभाई पटेल

●

२००२

सस्ता साहित्य मण्डल

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

पितातुल्य चिरस्मरणीय

भाई

की

पुण्य-स्मृति में

प्रकाशकीय

हिन्दी में अबतक जितना आत्मकथा-साहित्य प्रकाशित हुआ है, उसमें इस पुस्तक का विशेष महत्त्व है । इसलिए नहीं कि यह एक विशेष व्यक्ति की जीवनी है, बल्कि इसलिए कि यह बड़ी ही हार्दिकता, निश्छलता तथा सचाई के साथ लिखी गई है । विद्वान लेखक ने कहीं भी कुछ छिपाने का प्रयत्न नहीं किया और अपने जीवन की दीर्घकालीन घटनाओं को ज्यों-का-त्यों चित्रित कर दिया । वास्तव में यह कार्य बड़ा कठिन था, क्योंकि उनका जीवन सामान्य जीवन नहीं रहा, राष्ट्र की स्वतंत्रता के इतिहास का महत्त्वपूर्ण अंग रहा था । जितने उतार-चढ़ाव, जितनी युग-परिवर्तनकारी घटनाएं और जितने संकट उनके जीवन में आये, उनका सही-सही और सजीव वर्णन करना निस्संदेह बड़ा मुश्किल काम था !

जिस प्रकार लेखक का जीवन सरल और सुलझा हुआ था, उसी प्रकार उनकी लेखन-शैली भी सुबोध तथा स्पष्ट थी । बड़ी-से-बड़ी बात और घटना को उन्होंने इतने आसान ढंग से इस पुस्तक में कहा कि पढ़कर आश्चर्य होता है । हिन्दी में इस प्रकार की सरल-सुबोध आत्मकथा शायद ही मिले !

इस पुस्तक का पहला संस्करण लगभग पचपन वर्ष पूर्व प्रकाशित हुई थी । उन वर्षों में हमारे देश में बहुत-से परिवर्तन हुए थे, लेकिन उनका हाल इसमें नहीं जोड़ा जा सका । हम उन दिनों चाहते थे कि उन वर्षों की घटनाओं को शामिल करके इस पुस्तक को अद्यतन कर दिया जाय, लेकिन लेखक की उन दिनों की व्यस्तताओं तथा जिम्मेदारियों के कारण यह संभव न हो सका । फिर भी विशेष रूप से भूमिका लिखकर उन्होंने, संक्षेप में, मोटी-मोटी घटनाओं का उल्लेख कर दिया

इस पुस्तक का आरंभ जेल में हुआ था और आगे का अंश भी ऐसे स्थान पर लिखा गया, जहां संदर्भ पुस्तकों आदि की सुविधा नहीं थी । अतः याददाश्त पर लिखी जाने के कारण इसके विवरणों और घटनाओं के क्रम में कुछ हेर-फेर हो जाना स्वाभाविक था । पाठकों से हमारा अनुरोध है कि वे इस अन्तर पर विशेष ध्यान न

देकर इस पुस्तक को यह मानकर पढ़ें कि वे घटनाएं उनकी जीवनी के अंग के रूप में लिखी गई हैं ।

हमें प्रसन्नता है कि पुस्तक का पांचवा संस्करण पाठकों के हाथों में इतनी जल्दी पहुंच रहा है । विस्तार-भय के कारण पिछले संस्करण में इसके कुछ अंश कम कर दिये गये थे । उन्हें इस बार जोड़ दिया गया है ।

इस बीच कई भारतीय भाषाओं में इस पुस्तक का अनुवाद और प्रकाशन हुआ है ।

इस आशा करते हैं कि प्रत्येक देश-प्रेमी इस पुस्तक को पढ़ेगा और इसके प्रसार में योग देगा ।

-मंत्री

प्राक्कथन

श्री राजेन्द्रबाबू की आत्मकथा को प्राक्कथन की आवश्यकता क्या ? तिसपर मेरे जैसा आदमी, जिसने कभी विद्वत्ता का या साहित्यकार होने का दावा नहीं किया, प्राक्कथन क्या लिखे ? सन् १६१८ के खेड़ा-सत्याग्रह की लड़ाई के दिनों में हम पहली बार मिले थे । उसी समय से राजेन्द्रबाबू के प्रति मेरे दिल में जो आकर्षण उत्पन्न हुआ और हम दोनों के बीच प्रेम की जो गांठ बंधी, वह मुझे इस काम को सिर-माथे चढ़ाने के लिए विवश कर रही है ।

श्री राजेन्द्रबाबू को देखते ही उनकी सरलता और नम्रता की जो छाप हमारे दिल पर पड़ती है, उसका प्रतिबिंब इस आत्मकथा के पन्ने-पन्ने में पाया जाता है ।

प्रायः पिछले पच्चीस वर्षों से हमारा देश किस स्थिति से किस स्थिति को पहुंच गया है, इसका सजीव और एक पवित्र देश-भक्त के हृदय के रंग में रंगा हुआ इतिहास पाठकों को इस आत्मकथा में मिलेगा ।

इस आत्मकथा में हमें राजेन्द्रबाबू के बाल्यकाल के बिहार के सामाजिक रीति-रिवाजों का, संकुचित प्रथाओं से होनेवाली हानियों का, उस समय के ग्राम-जीवन का, धार्मिक व्रतों, उत्सवों और त्योहारों का, उस जमाने के बच्चों के जीवन का और उस समय की शिक्षा की स्थिति का हू-ब-हू चित्र देखने को मिलता है । उस चित्र में सादगी और खानदानियत के साथ विनोद और खेद उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियों का मिश्रण हुआ है । साथ ही आजकल हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच भेद-भाव की जो खाई बढ़ी हुई नजर आती है, उसके अभाव का और दोनों जातियों के बीच शुद्ध स्नेह का जो चित्र इस आत्मकथा में है, वह आंखों को ठंडक पहुंचानेवाला होते हुए भी दुर्भाग्य से आज लुप्त होता जा रहा है ।

सन् १९०५ में बंग-भंग के जमाने से ही राजेन्द्रबाबू पर देशभक्ति का रंग चढ़ने लगा था। उसी समय से वह अपने जीवन में इस और क्रम-क्रम से बराबर आगे ही बढ़ते गए। सन् १९१७ में चम्पारन की लड़ाई के समय उन्होंने गांधीजी के कदमों पर चलकर फकीरी धारण की। उसके बाद की उनकी आत्मकथा हमारे देश के पिछले तीस वर्षों के सार्वजनिक जीवन का इतिहास बन जाती है।

जो कोई इस पुस्तक को पढ़ेंगे, वे इससे जीवन को उन्नत बनाने की प्रेरणा प्राप्त करेंगे। कोई देश-प्रेमी इसे बिना पढ़े न रहे।

—वल्लभभाई पटेल

भूमिका

'आत्मकथा' का पहला संस्करण जनवरी १९४७ में प्रकाशित हुआ था । उस समय तक की घटनाओं का समावेश मूल पुस्तक तथा परिशिष्ट में हो गया । दूसरे संस्करण में उसके बाद की घटनाओं का समावेश होना अपेक्षित था । इस बीच कई महत्त्वपूर्ण घटनाएं देश में हुई हैं, जिनके साथ मेरा घनिष्ट संबंध रहा है । उदाहरणार्थ, संविधान-सभा और उसका कार्य, भारत का स्वातन्त्र्य और अधिकार का हस्तांतरण, खाद्य और कृषि-मंत्रिपद पर नियुक्ति, महात्मा गांधीजी का निधन, 'गांधी स्मारक निधि' की स्थापना, कांग्रेस-संगठन, संविधान-सभा द्वारा तात्कालिक राष्ट्रपति-पद पर नियुक्ति, १९५२ में संविधान के अनुसार आम चुनाव के बाद राष्ट्रपति का निर्वाचन, राष्ट्रपति की हैसियत से देश में भ्रमण व देश-सेवाये ऐसे विषय हैं, जिनपर बहुत कुछ लिखा जा सकता है, किंतु इस काम को पूरा करने के लिए न तो मेरे पास समय है और न, जिस परिस्थिति में मै हूं, तदनुसार अनुकूलता । इसलिए मैंने इसमें कोई भी नई सामग्री नहीं जोड़ी है ।

यहां इतना ही कहना काफी है कि ये वर्ष विश्व के इतिहास में विशेष महत्त्व रखते हैं । द्वितीय युद्ध की विभीषिका से मुक्त हो संसार के राष्ट्रों ने इस अवधि ने पुनर्निर्माण की ओर कदम उठाया है । यही नहीं, युद्ध की ध्वंसलीला को देखते हुए सभी देश यह महसूस करने लगे हैं कि स्थायी शांति के बिना मानव की प्रगति और सच्चा सुख मृगतृष्णा से बढ़कर और कुछ नहीं रह सकेगा । इसलिए इस काल को हम आत्मविश्लेषण और आत्मानुभूति का काल कह सकते हैं । इस अवधि के विशेष महत्त्व का दूसरा कारण यह है कि अपनी नवजात स्वाधीनता के बाद इन्हीं दिनों भारत विश्व-शांति के लिए कुछ कर सका । इसके हाथ ही शासन-सत्ता राष्ट्र के प्रतिनिधियों के हाथ में आने के बाद से इस देश में एक नवयुग का उदय हुआ है और उसके निर्माण में हमारी सारी शक्ति लग रही है । अतः विगत दस वर्षों का काल

हमारे देश के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। जब एक यंत्र अथवा मशीन चल पड़ती है तो वह अपनी ही शक्ति से कुछ समय तक चलती रहती है, किन्तु एक अचल वस्तु को गति प्रदान करना आसान काम नहीं। इन वर्षों में भारत के नेताओं को कुछ इसी तरह का काम करना पड़ा है।

सन् १९४७ से अबतक 'आत्मकथा' के लेखक के जीवन में क्या-क्या घटनाएं घटीं और उसकी जीवनधारा किस प्रकार प्रवाहित हुई, इसके संबंध में कुछ कहना अनुचित नहीं तो अनावश्यक जरूर जान पड़ता है। मेरे लिए यह प्रश्न ऐसा है, जो अत्यधिक निजी होते हुए भी सार्वजनिक है। मैं नहीं समझता कि इसके संबंध में कुछ कहने का मुझे अधिकार है। हमारे राष्ट्रीय जीवन में जो स्थान राष्ट्र ने मुझे दिया, उसके दायित्व को मैं कहां तक निभा सका, इसका निर्णय स्वयं राष्ट्र की जनता के हाथ है।

पहले संस्करण को साहित्य-जगत एवं जनता ने अपनाकर मेरा जो आदर किया और मान बढ़ाया है, उसके लिए मैं सबका ऋणी हूं। इसीके फलस्वरूप मेरी यह पुस्तक द्वितीय संस्करण के नये रूप में पाठकों के सामने प्रस्तुत है।

'सस्ता साहित्य मण्डल' के प्रकाशन के अनुभव से इसे नई सजावट और बनावट मिली है और द्वितीय संस्करण के संस्कार से यह परिमार्जित और संशोधित भी हुई है। इसके लिए मैं 'मण्डल' का आभारी हूं।

नई दिल्ली
२६ नवम्बर १९५६

-- राजेन्द्र प्रसाद

विषय-सूची

आत्मकथा

: १ :

मेरे पूर्वज

संयुक्त प्रान्त में कोई जगह अमोढ़ा नाम की है। सुनते हैं कि वहां कायस्थों की अच्छी बस्ती है। बहुत दिन पहले वहां से एक परिवार निकलकर पूरब चला और बलिया में जाकर बसा। लम्बे अरसे तक बलिया में रहने के बाद उस परिवार की एक शाखा उत्तर की ओर गई और आजकल के जिला सारन (बिहार) के जीरादेई गांव में जाकर रहने लगी। दूसरी शाखा गया में जाकर बस गई। जीरादेई-शाखा के कुछ लोग भी थोड़ी ही दूर पर एक दूसरे गांव में जाकर बस गये। जीरादेईवाला परिवार ही मेरे पूर्वजों का परिवार है। शायद जीरादेई में आनेवाले मेरे पूर्वज मुझसे सातवीं या आठवीं पीढ़ी में थे। जो लोग जीरादेई में आये थे, वे गरीब थे और रोजगार की खोज में ही इधर आ गये थे। उस गांव में कोई शिक्षित नहीं था और उन दिनों भी कायस्थ तो शिक्षित हुआ ही करते थे, इसलिए गांव के लोगों ने उनको वहां रख लिया। प्रायः उसी समय से उन लोगों का सम्बन्ध हथुअराज से हो गया, जहां कोई लिखने-पढ़ने की छोटी-सी नौकरी उनमें से किसी को मिल गई। हथुआ उन दिनों इतना बड़ा राज नहीं था और न उसकी इतनी आमदनी ही थी। उसके रईस का मुख्य स्थान भी वह बाद में बना, उन दिनों तो कहीं और ही था।

हथुआ-राज के साथ मेरे पूर्वजों का सम्बन्ध कई पीढ़ियों तक चलता रहा। मालूम नहीं कि लोग किस पद पर थे, पर जहांतक खबर है, वह कोई ऊंचा पद नहीं था। गांव के घर भी फूस के छप्पर के ही थे। जीरादेई में वे लोग एक दूसरे कायस्थ जमींदार की, जिनकी बड़ी जमींदारी थी, रैयत थे और हम लोग आजतक कभी भी अपने गांव की जमींदारी में हिस्सेदार नहीं हुए, यद्यपि पीछे हमारे पूर्वज और कई गांवों के जमींदार हो गये।

मेरे दादा दो भाई थे। उनका नाम था मिश्रीलाल। उनके बड़े भाई थे चौधुरलाल। मिश्रीलाल का देहान्त बहुत छोटी उम्र में ही हो गया। उनके केवल एक लड़के थे महादेवसहाय, जो मेरे पिता थे। चौधुरलालजी के भी एक पुत्र थे जगदेवसहाय। मिश्रीलाल की आकस्मिक मृत्यु कम उम्र में हो जाने के कारण मेरे पिता के साथ चौधुरलालजी का बड़ा स्नेह-प्रेम था। जगदेवसहाय और महादेवसहाय दोनों

को उन्होंने अपने पुत्र के समान ही पाला-पोसा और तैयार किया। जगदेवसहाय बड़े थे और उनके भी कोई पुत्र नहीं था, केवल एक लड़की हुई जो जाती रही। महादेवसहायजी के तीन लड़कियां और दो लड़के हुए। एक लड़की तो बचपन में ही गुजर गई। दो की शादी हुई, जिनमें बड़ भगवतीदेवी थोड़े ही दिनों के बाद विधवा हो गई और उस समय से आज तक मेरे ही घर में प्रायः अपनी जिन्दगी काट रही हैं। दूसरी बहन भी, जो दोनों भाइयों से बड़ी थीं, बिना किसी सन्तान के चल बसी। मेरे बड़े भाई बाबू महेन्द्रप्रसाद हुए और सबसे छोटा लड़का घर में हुआ।

हथुआ-राज में चौधुरलालजी ने बड़ी ख्याति पाई। वहां वह दीवान के पद पर पहुंच गये और प्रायः पच्चीस-तीस वर्षों तक दीवान रहे। उन दिनों महाराज छत्रधारी साही गद्दी पर थे। उन्होंने अपने लड़के को राज्य न देकर पोते राजेन्द्रप्रताप साही को वसीयतनामा के जरिये राज्य दे दिया। उनका चौधुरलाल पर बड़ा विश्वास था और छोटे पोते की रक्षा का भार मरते समय उनपर डाल दिया। महाराज की मृत्यु के बाद छोटे कुमार पर बड़ी आफतें आईं। कुटुम्ब के लोगों ने राज पर दावा करके मुकदमा कर दिया जो प्रीवी-कौंसिल तक गया। प्रीवी-कौंसिल में फैसला हुआ कि हथुआ-राज अविभाज्य (**Impartible**) है और अविभाज्य राज्य को वसीयत करने का अधिकार राजा को है, इसलिए राजेन्द्रप्रताप साही राज्याधिकारी हैं। इस मुकदमे के दौरान में राजेन्द्रप्रताप साही की जिन्दगी पर भी आफत थी और उनकी रक्षा करना कोई सहज काम न था। हमने सुना है कि उनकी रक्षा के लिए चौधुरलालजी उनकी चारपाई के पास ही स्वयं सोया करते थे और जो कुछ उनको खाने को दिया जाता था, वह पहले, जहर के भय से, स्वयं खा लिया करते थे।

चौधुरलालजी ने राजा की केवल रक्षा ही नहीं की, उन्होंने राज के इन्तजाम में भी काफी तरक्की की। गैर-आबाद जमीन को आबाद कराकर और दूसरे प्रकार की भी उन्नति करके उन्होंने राज की आमदनी प्रायः तिगुनी कर दी। महाराज राजेन्द्रप्रताप साही इन सब कारणों से उनको बहुत मानते थे और उनकी बड़ी प्रतिष्ठा किया करते थे। सुना है कि उनके सामने महाराज कभी तम्बाकू नहीं पीते थे और जब सुनते कि वह आ रहे हैं तब हुक्का हटवा दिया करते थे।

उन दिनों कर्मचारियों का वेतन बहुत कम हुआ करता था। चौधुरलाल को शायद दीवान होने के जमाने में भी ५० या १०० रू० मासिक मिला करता था। साथ ही, जितने लोग वहां डेरे पर रहते थे सबके लिए सीधा चावल, दाल, घी इत्यादि

राजभंडार से रोजाना आया करता था । राज्य के कई गांव भी, जिनमें जीरात की ज़मीन थी उनको ठेके में राजा ने दे रखा था । जीरात की जमीन में धान की खेती होती थी और उससे काफी आमदनी हो जाया करती थी ।

चौधुरलालजी बड़े मुन्तज़िम आदमी थे । राज की आमदनी उन्होंने दुगुनी-तिगुनी बढ़ा दी, तो भी वहां की रियाया उनसे प्रेम रखती और उनपर विश्वास करती, जिसका सबूत मुझे अपने अनुभव में भी मिला । जब मैं असहयोग के दिनों में उस इलाके में दौरा करने लगा, मैं जहां जाता वहां बूढ़े लोग मेरा स्वागत विशेष करके इस कारण भी करते कि मैं चौधुरलालजी का पोता हूं । चौधुरलालजी ने अपने कुटुम्ब की भी उन्नति की । उन्होंने सात-आठ हजार वार्षिक आमदनी की जमींदारी अपनी भी खरीदी । यह जमींदारी विशेष करके चावल बेच करके ही ली गई थी । कई गांव तो हमारी दोनों दादियों के नाम ही से लिये गये, क्योंकि चावल तो घर में वे ही तैयार करातीं, बेचतीं और रूपये देतीं ।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, चौधुरलालजी ने अपने पुत्र जगदेवसहाय और भतीजे महादेवसहाय की शिक्षा का प्रबन्ध किया । अभी अंगरेजी का चलन नहीं था । फारसी की ही शिक्षा दोनों को मिली । शायद एक बार छपरा भेजकर अंगरेजी पढ़ाने का विचार भी हुआ और मेरे चाचा ने दो-एक किताबें पढ़ीं भी, मगर महाराज ने इसमें प्रोत्साहन नहीं दिया और दोनों भाइयों को फारसी ही पढ़कर सब्र करना पड़ा । फारसी भी दोनों भाई उन्हीं मौलवीसाहब से पढ़ते रहे, जो महाराज के पुत्र को-जो पीछे महाराज कृष्णप्रताप साही हुए पढ़ाते थे ।

महाराज राजेन्द्रप्रताप साही की मृत्यु के बाद राज का इन्तजाम कुछ दिनों के लिए कोर्ट आफ वार्ड्स के हाथ में गया । चौधुरलालजी अंगरेजी तो जानते न थे, इसलिए दीवान रह नहीं सकते थे और उस पद पर पचीस-तीस बरसों तक रहकर उससे छोटा कोई पद स्वीकार करना उन्होंने अपनी शान के खिलाफ समझा । तबसे हम लोगों का कई पीढ़ियों का सम्बन्ध हथुआ-राज से छूट गया । यह मेरे जन्म के पहले की बात है ।

हथुआ से चले आने के बाद चौधुरलालजी जीरादेई में रहने लगे और कुछ दिनों के बाद, थोड़े दिनों के लिए, गोरखपुर में तमुकही-राज के दीवान हो गये । पर उस समय उनकी अवस्था कुछ अधिक हो गई थी । वहां का जलवायु अनुकूल न होने के कारण वह शीघ्र ही वहां से जवाब देकर चले आये । उनके अन्तिम दिन जीरादेई में ही बीते । मुझे तमुकही की बातें कुछ-कुछ याद आती हैं । मैं उन दिनों बहुत छोटा था ।

: २ :

मेरे भाई-बहन

ऊपर कह आया हूं कि मेरे पिता की पांच सन्तानों में सबसे बड़ी भगवतीदेवी हैं। उनका विवाह मेरे जन्म के पहले ही एक बड़े धनी कायस्थ-परिवार में हुआ। बचपन में, जब मैं शायद चार-पांच बरस का था, वहां गया था और उन लोगों की शान-शौकत देखी थी। मेरे बहनोई छः भाई थे। सबके लिए अलग-अलग नौकर और सिपाही थे। कई घोड़े-हाथी थे और कई किते की बड़ी हवेली थी। न मालूम किस तरह से चार-पांच वर्षों के भीतर देखते-ही-दखते सारी जमींदारी, जिसकी आमदनी, सुनते हैं, सत्तर-पचहत्तर हजार सलाना की थी, बिक गई। मेरे बहनोई की मृत्यु भी उन्ही दिनों मेरे ही घर पर जीरादेई में हो गई। मैं छोटा था, फिर भी उस समय का कोलाहल और दादा, चाचा, पिताजी और घर की स्त्रियों की करूण दशा का चित्र अभी तक नहीं भूलता। मैंने अपने होश में मृत्यु का दृश्य पहले-पहल वही देखा।

उनसे छोटी बहन की शादी उसके बाद हुई। भाई साहब की भी शादी हुई। इन दोनों शादियों को भी मैंने देखा। भाई की शादी में मैं बरात गया था। उस समय शायद चार बरस का था और वहां जाकर मां के लिए रोने भी लगा था। उस समय तक शायद ही मां से अलग होकर एक-दो दिनों के लिए कहीं गया होऊं। भाई साहब मुझसे आठ बरस बड़े थे। इसलिए मुझे बहुत बातों की सुविधा हुई। जो उनकी शिक्षा का क्रम हुआ वही मेरे लिए भी स्वभावतः हो गया और मैं उनके पीछे-पीछे बिना किसी विशेष कठिनाई के चलता गया।

घर में चौधुरलालजी रहते थे। मुझे अच्छी तरह याद है कि मैं और मेरे चचा की लड़की, जो मुझसे पांच-छः महीने छोटी थी, उनके बदन पर लोटपोट करके खेला करते और वह बहुत प्यार से हम दोनों को खेलाया करते। मेरे चचासाहब जमींदारी का इन्तजाम करते और अक्सर छपरे आया-जाया करते। वहां जमींदारी के मुकदमे, जो हमेशा कुछ-न-कुछ लगे ही रहते हैं, हुआ करते थे। मेरे भाईसाहब छपरे अंगरेजी पढ़ने के लिए भेज दिये गये थे। जब-तब उनको देखने के लिए भी वही जाया करते। जब कभी उनके छपरे के आने की खबर मिलती, हम बच्चे घर से कुछ दूर

जाकर ही उनका स्वागत करते । स्वागत का अर्थ था उनसे मिठाई, फल इत्यादि की मांग पेश करना और जो कुछ मिल जाय उसे ले उनसे पहले ही दौड़कर घर पहुंच मां को दिखलाना ।

मेरे पिताजी घर पर रहा करते थे । जमींदारी के इन्तजाम से उनका कम सरोकार रहता । उनको बाग लगाने का शौक था । वह बहुत समय बाग-बगीचे लगाने में ही बिताते । आज भी उनके लगाये आम के दो बड़े-बड़े बगीचे हम लोगों के कब्जे में हैं, जिनमें अच्छे अच्छे आम पैदा होते हैं । वह फारसी के अच्छे विद्वान थे । कुछ-कुछ संस्कृत भी जानते थे । आयुर्वेद और तिब में उनकी दिलचस्पी थी । इन विषयों की पुस्तकों का संग्रह भी कर रखा था और उसका अध्ययन भी किया करते थे । वह इस तरह बिना बाजाब्ता शिक्षा पाये चतुर वैद्य या हकीम हो गये थे । उनके पास तरह-तरह के रोगी आया करते । जो दवा खरीद सकते उनको नुस्खे लिखकर देते । गरीबों को अपने पास से दवा भी देते । उनके साथ एक नौकर हमेशा दवा तैयार करने के लिए ही रहता । कभी किसीकी नाड़ी नहीं देखते थे और न किसी के घर जाकर रोगी को ही देखते थे, हालत सुनकर ही दवा देते और बहुतेरों को आराम भी हो जाता । इससे उनका यश फैला था । वह शरीर से भी पुष्ट थे । बचपन से अखाड़े में कुछ कसरत उन्होंने की थी । मुझे याद है जब मैं स्कूल या कालेज में पढ़ता था और छुट्टियों में घर आया करता था, तो स्वयं मुगदर भांजना सिखाते थे और साथ-साथ मुगदर भांजकर तरह-तरह के खेल दिखलाते थे । घोड़े की सवारी अच्छी करते थे और हमेशा एक अच्छा घोड़ा रखा करते थे । बचपन में मुझे और भाईसाहब को घोड़े की सवारी करना भी उन्होंने सिखाया था । छोटी ही उम्र में हम दोनों भाई दो घोड़ों पर सवार होकर, कभी-कभी छुट्टियों में जीरादेई आने पर, घूमने-फिरने जाया करते ।

लड़कपन में हम लोग देहाती खेल भी खेला करते । खास करके वहां का प्रचलित खेल कबड्डी और चिक्का तो हम खूब खेलते । प्रायः कोई दिन बिना खेले नहीं बीतता होगा । यह क्रम उस समय तक जारी रहा जबतक कालेज की पढ़ाई खतम नहीं हुई । जब कभी छुट्टियों में हम जीरादेई आते थे, खेल जरूर खेलते जिसमें भाई भी शरीक होते । एक खेल और गांवों में प्रचलित था । उसे 'दोल्हापाती' कहते हैं । उसमें पेड़ों पर चढ़ना होता है । मैं पेड़ों पर चढ़ने से डरता था, इसलिए उस

खेल में कभी शरीक नहीं हुआ। इसी प्रकार गांव में बहती नदी के अभाव में तैरना भी नहीं सीख सका।

माता और दादी मुझे बहुत प्यार करतीं। बचपन से ही मेरी आदत थी कि मैं संध्या को बहुत जल्द सो जाता था और उधर कुछ रात रहते ही, बहुत सवेरे ही, जाग जाता था। घर पक्का था, पुराने तरीके पर। बीच में आंगन और चारों ओर ओसारे और कमरे। कमरों में एक दरवाजा और छप्पर के नजदीक हर कमरे में एक या दो छोटे-छोटे रोशनदान। जाड़ों में, खास करके लम्बी रात होने के कारण, रात रहते ही नींद टूट जाती और उसी समय से मां को भी मैं सोने नहीं देता। रजाई के भीतर-ही-भीतर उनको जगाता। वह जागकर पराती (प्रभाती) भजन सुनातीं। कभी-कभी रामायण इत्यादि की कथाएं भी सुनातीं। उन भजनों और कथाओं का असर मेरे दिल पर बहुत पड़ता। इसी प्रकार जबतक रोशनदान में बाहर की रोशनी नजर नहीं आती, पड़ा रहता और मां से भजन गवाता रहता या कथा कहलाता रहता। जब रोशनी खूब आ जाती तब घर से बाहर निकलता। संध्या को इतना पहले सो जाता कि शायद ही कभी रात का खाना जागते-जागते खाया हो। उन दिनों रात का खाना भी बहुत देर के बाद तैयार होता था। बच्चे क्या, बूढ़े लोग भी एक नींद सोकर उठने के बाद ही खाना खाते। शायद ही किसी रात को बारह-एक बजे के पहले खाना-पीना होता हो। पहले घर के पुरूष खाते, तब स्त्रियां खातीं, और तब नौकर खाते। गरमी के मौसम में तो नौकरों के खाते-खाते कभी-कभी सवेरा तक हो जाता। इसलिए अगर मैं शाम को बिना खाये सो जाता तो मैं अपना कोई कसूर मानने को तैयार नहीं हूं।

घर में रसोई बनाने के लिए एक कायस्थ थे। इसलिए रसोई का भार मेरी चाची या मां पर नहीं था। तो भी उन्हें तरकारी इत्यादि तो कुछ बनाना ही पड़ता। संध्या होते ही मैं मां को पकड़ लेता और साथ सोने के लिए रोने लगता। अगर वह किसी काम में लगी रहतीं तो उसे छोड़ मेरे साथ उनको सोना पड़ता। पर मैं समझता हूं कि यह क्रिया कुछ देर तक नहीं होती ; क्योंकि मैं बहुत जल्द सो जाता और जब एक बार सो गया तो वह फिर उठकर चली जातीं और काम करतीं। मुझे स्मरण है कि हमेशा रात को मुझे जगाकर खिलाया जाता। आंखें खुलतीं नहीं, पर बदन हिलाकर मां मैना-सुग्गा के नाम और किस्से कहकर मुंह तो खुलवा देतीं और उसमें भोजन दे देतीं। एक दाई थी, जिसको हम 'काकी' कहा करते थे। वह इस प्रकार

खिलाने में बड़ी पटु थी। जब किसी दूसरे की हजार कोशिश पर भी आंख और मुंह बन्द ही रहते, तो भी वह किसी-न-किसी उपाय से मुंह तो जरूर खुलवा देती और भात खिला देती। सांझ के बाद ही सोने और भोर होते ही जागने की आदत मुझमें बराबर बनी रही। यहांतक कि जब मैं छपरे और पटने पढ़ने के लिए गया, तब भी रात होते ही बहुत जल्द सो जाता और पांचवें क्लास में पहुंचने के समय तक शायद ही कभी रात में अपने हाथों खाया हो। एक ब्राह्मण रसोईदार थे, जो रात को मुझे गोद में बिठाकर, उसी पुरानी रीति से, आंखें बन्द रहने पर भी, खुले मुंह में भात के गोले रख दिया करते, जिनको मैं निगल लिया करता था।

जब मैं वकालत करता था तबतक सांझ ही सो जाने की आदत जारी रही। संध्या समय मवक्किलों का कागज लेकर देखने बैठता और उनके सामने ही, साढ़े सात-आठ बजे, झुकने लगता। तब काम बन्द कर देता। १६१४-१५ में, जब मैं एम० एल० परीक्षा के लिए तैयारी कर रहा था, एक घटना घटी। उन दिनों कलकत्ता हाईकोर्ट में मैं प्रैक्टिस करता था। लॉ-कालेज में प्रोफेसरी भी मिल गई थी। कुछ मुकदमे भी हाथ में रहा करते थे। इसलिए सवेरे का समय मुकदमों की बहस की तैयारी में और लॉ-कालेज की पढ़ाई की तैयारी में लग जाता। दिन का समय कचहरी में कट जाता। केवल रात का ही समय परीक्षा की तैयारी के लिए मिलता। इसलिए संध्या को ही पुस्तक पढ़ता और जब पुस्तक हाथ में आती, साथ-साथ नींद भी आ ही जाती। एक दिन सोचा कि इस प्रकार से तो परीक्षा की तैयारी में सफलता नहीं मिलेगी, किसी तरह संध्या की नींद को रोकना चाहिए और कम-से-कम नौ बजे रात तक तो पढ़ना ही चाहिए। जब नींद आने लगी तो किताब हाथ में लेकर खड़ा हो गया। उसपर भी जब नींद का हमला कम न हुआ, तो कमरे के अन्दर टहल-टहलकर पढ़ने लगा। मालूम नहीं कितनी देर तक यह क्रम चला। एकबारगी हाथ से किताब नीचे गिरी और मैं भी साथ-ही-साथ धड़ाम से कमरे के फर्श पर चित्त हो रहा। न मालूम सिर क्यों नहीं फूटा। कुछ तो चोट जरूर आई। तब से उस प्रयोग को खतरनाक समझकर छोड़ दिया और जो कुछ समय बैठे-बैठे निकाल सकता, उतना ही पढ़कर सब्र करता।

: ३ :
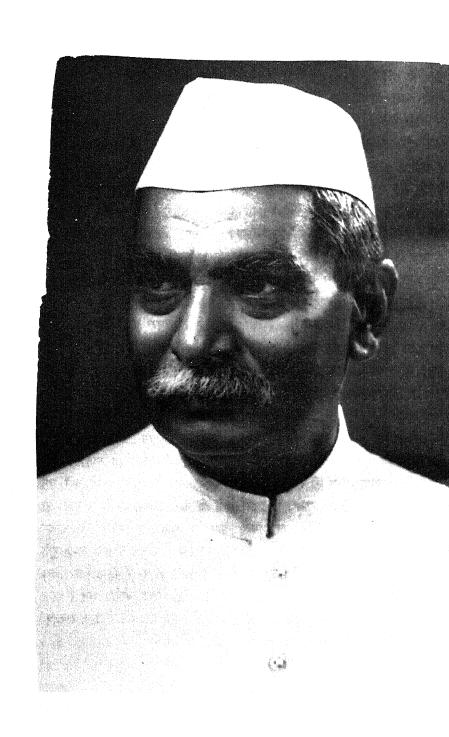
प्रारम्भिक शिक्षा

पांचवें या छठे बरस में मेरा अक्षरारम्भ कराया गया था । उस समय मेरे भाई अंगरेजी पढ़ने के लिए छपरे भेजे जा चुके थे । उस समय की प्रचलित प्रथा के अनुसार अक्षरारम्भ मौलवीसाहब ने कराया था । जिस दिन अक्षरारम्भ हुआ, मौलवीसाहब आये, बिसमिल्लाह के साथ अक्षरारम्भ हुआ, शीरनी बांटी गई और उनको रूपये भी दिये गये । हम तीन विद्यार्थी उनके सपुर्द किये गये--एक मैं और दूसरे दो अपने कुटुम्ब के ही चचेरे भाई, जिनमें एक यमुनाप्रसादजी सबसे बड़े और मुझसे दो बरस बड़े हैं, तीसरे अब नहीं रहे ; वह भी मुझसे बड़े थे । यमुनाभाई ही हम सबके 'लीडर' थे और तमाम खेल और लड़कपन की चुल्लेपनी में आगे रहा करते थे । उनके एक चचा, जो मेरे भी चचा होते थे, बड़े मजाक-पसन्द थे । वह मेरे पिताजी से छोटे होते थे, पर पिताजी के कई गुण उन्होंने भी सीखे थे । वह भी घोड़े की अच्छी सवारी करते, दवा करते और बांटते और बन्दूक चलाना, गुलेल चलाना खूब जानते थे । फारसी भी पढ़े थे और शतरंज भी खूब खेलते थे । पर इन सब चीजों में वह मेरे पिताजी का लोहा मान लेते थे । बड़े ही हँसमुख और पुरमजाक आदमी थे ।

मौलवीसाहब, जो हम लोगों को पढ़ाने आये, विचित्र आदमी थे । उनका बहुत बातों पर दावा था । बलदेव चचा के मजाक के लिए वह एक बहुत उपयोगी साधन बन गये । चचा तरह-तरह की बातें मौलवीसाहब को सुनाते और उनको उत्साह देकर उनसे कहला लेते कि वह भी, चाहे वह कोई बात या काम क्यों न हो, जानते या कर सकते थे । बलदेव चचा शतरंज खेलाते, पर बावजूद दावे के मौलवीसाहब कभी जीतते नहीं । हम छोटे-छोटे बच्चे इन सारे मजाकों को भय और कौतूहल से देखते । हँसने का मौका आ जाय तो भी हँसना मुश्किल हो जाता । मजाक की बात दादाजी चौधुरलालजी तक पहुंच गई । वह भी कभी-कभी उसमें शरीक हो जाते ।

एक दिन बलदेव चचा ने मौलवीसाहब से कहा कि बाग में हनुमान आ गये हैं, उनको किसी तरह भगाना चाहिए, वे गुलेल से मारकर भगाये जा सकते हैं । इतना कहना था कि मौलवीसाहब ने दावा पेश कर दिया कि वह भी गुलेल चलाना खूब जानते हैं । बलदेव चचा तो खूब समझ गये थे कि वह कुछ नहीं जानते, पर मजाक

उनको मंजूर था । वह उनको साथ लेकर बगीचे में गये । गुलेल और गोली उनके सुपुर्द कर कहा कि खूब खींचकर एक बन्दर को मारिये । मौलवीसाहब मे खूब खींचकर जो गोली छोड़ी और देखना चाहा कि बन्दर को कैसी चोट लगती है कि इतने में उनके बायें हाथ के अंगूठे से तरतर खून टपकने लगा और चोट के दर्द से सहमकर बैठ गये । गोली बन्दर को लगने के बदले मौलवीसाहब के अपने अंगूठे पर ही जा बैठी थी ।

एक दूसरे दिन का जिक्र है कि शाम को सब लोग, जिनमें हमारे दादासाहब भी शरीक थे, टहलने निकले । मौलवीसाहब और बलदेव चचा भी थे । तरह-तरह की बातें हो रही थीं । इतने में एक सांड़ देखने में आया । लोगों ने कहा कि सांड़ लोगों को मारता है । बलदेव चचा के इशारे पर मौलवीसाहब इससे कब डरनेवाले थे, बेखौफ आगे बढ़े कि इतने में सांड़ ने उनको दे पटका । इस प्रकार के मजाक बराबर ही हुआ करते ।

एक दिन बलदेव चचा ने मौलवीसाहब को बन्दूक चलाने की शिक्षा दी । मौलवीसाहब किसी चीज को न जानना कबूल करना अपनी शान के खिलाफ समझते थे और उन्होंने साफ कह दिया कि वह अच्छा निशाना लगा सकते हैं । उन्हें साथ लेकर बलदेव चचा बन्दूक के साथ गये । मौलवीसाहब के दो लड़के थे, जो हम लोगों के साथ ही पढ़ा करते थे । हम सब और वह दोनों लड़के भी साथ हो लिये । कुछ दूर पर एक ऊंचे दरख्त पर एक गीध बैठा नजर आया । बलदेव चचा ने उसीपर निशाना लगाने को कहा । वह काफी ऊंचाई पर था और प्रायः खड़ी बन्दूक करके ही निशाना लग सकता था । मौलवीसाहब को जो बन्दूक दी गई थी, वह पुराने किस्म की थी, जिसमें बारूद ऊपर से भरी जाती थी और वजनी भी थी । मौलवीसाहब ने शायद कभी पहले बन्दूक नहीं चलाई थी । उन्होंने प्रायः खड़ी बन्दूक अपने सीने पर रखकर निशाना लगाया । उधर बन्दूक का घोड़ा चटका, आवाज हुई और इधर गीध के बदले मौलवीसाहब जमीन पर चित गिरे । बलदेव चचा ने झट उनको उठाया और लड़कों को पानी लाने के लिए भेजा । मौलवीसाहब किसी तरह घर लाये गये।

इस प्रकार के मजाकों के बीच हम लोग फारसी पढ़ते रहे । छः-आठ महीनों के बाद मौलवीसाहब चले गये । हम लोग शायद अक्षर सीख चुके थे और करीमा पढ़ने लगे थे । फिर दूसरे मौलवी बुलाये गये, जो बहुत गम्भीर थे और अच्छा पढ़ाते भी

थे। वही दो बरसों तक रहे और करीमा, मामकीमा, खालकबारी, खुशहालसीमिया, दस्तूरूलसीमिया, गुलिस्तां, बोस्तां तक हम लोगों को पढ़ा सके। उसी जमाने में हम लोगों ने कैथी लिखना और गिनती करना सीख लिया, पर यह याद नहीं है कि यह कब और कैसे सीखा। हफ्ते में साढ़े पांच दिन फारसी पढ़ते थे। वृहस्पतिवार के दोपहर के बाद और शुक्रवार के दोपहर तक फारसी से छुट्टी रहती थी और इसी में कैथी अथवा गिनती वगैरह सीखते। इसके अलावा कुछ खेलने-कूदने के लिए भी अधिक समय दिया जाता।

पढ़ने का तरीका था कि खूब सवेरे हम लोग उठकर मकतब में चले आते। मकतब मेरे पक्के मकान से अलग एक दूसरे मकान के ओसारे में था। एक कोठरी थी, जिसमें मौलवीसाहब रहा करते और सामने ओसारे में तख्तपोश पर बैठकर हम लोग पढ़ा करते। मौलवीसाहब कभी अपनी चारपाई पर और कभी तख्तपोश पर बैठकर पढ़ाया करते। सवेरे आकर पहले का पढ़ा हुआ सबक एक बार आमोख्ता करना पड़ता और जो जितना जल्द आमोख्ता कर लेता उसको उतना ही जल्द नया सबक पढ़ा दिया जाता। मैं अक्सर अपने दोनों साथियों से पहले मकतब में पहुंच जाता और आमोख्ता भी पहले खतम करके सबक भी पहले पढ़ लिया करता। यह करते सूर्योदय होकर कुछ दिन भी निकल आता। तब नौकर आता और साथ ले जाकर मुंह-हाथ धुला देता और घर मां के पास कुछ खिलाने के लिए पहुंचा देता। इसके लिए प्रायः आध घंटे पौन घंटे की छुट्टी मिलती। नाश्ता करके लौटने पर सबक याद करना पड़ता और सबक याद करके सुना देने के बाद मौलवीसाहब हुकुम देते, किताब बन्द करो। किताब बन्द करके तख्ती निकालनी पड़ती। इन दोनों क्रियाओं के बीच कुछ समय खेलने-कूदने का भी मिल जाता या दोबारा घर जाकर कुछ खा लेने का भी मौका मिल जाता। तख्ती पर लिखना होता और जब तख्ती भर जाती तो उसे धोना पड़ता। इस क्रिया में भी कुछ समय आपस में हँसने-खेलने का मिलता। दोपहर को नहाने-खाने के लिए एक-डेढ़ घंटे की छुट्टी मिलती और खाकर फिर मकतब में ही उसी तख्तपोश पर सोना पड़ता। मौलवीसाहब चारपाई पर सोते। हम लोगों को अक्सर नींद नहीं आती और तख्तपोश पर लेटे-लेटे शतरंज खेलते और जब मौलवीसाहब के जागने का वक्त होता उसके पहले ही गोटियों को उठाकर रख देते। उसी जमाने में कभी शतरंज खेलना भी आ गया, पर इसका पता नहीं कि कब,

कैसे और किससे सीखा। दोपहर बाद दूसरा सबक मिलता और उसको कुछ हद तक याद करके सुनाने के बाद घंटा-डेढ़-घंटा दिन रहते खेलने के लिए छुट्टी मिलती। इसी समय गेंद, चिक्का इत्यदि खेल खेले जाते। संध्या को फिर चिराग-बत्ती जलते किताब खोलकर पढ़ने के लिए बैठना पड़ता। दिन के दोनों सबक याद करके फिर सुनाने पड़ते और तब हुक्म होता, किताब बन्द करो। किताब बन्द करके, कायदे के मुताबिक मौलवीसाहब को आदाब करके, घर जाकर सो जाते।

संध्या को जल्द नींद आती। इससे हमेशा डर रहता कि कहीं झुकते देखकर मौलवीसाहब मार न बैठें। जल्द छुट्टी के लिए दो उपाय थे। खेल-कूद में जमुनाभाई 'लीडर' थे और जल्द छुट्टी पाने के उपाय भी वही करते। पढ़ने के लिए तेल देकर दिया जलाया जाता था। जमुनाभाई दिन को ही कपड़े में राख या धूल बांधकर छोटी-सी पोटली बनाकर छिपाकर रख लेते। जिस दिन दिया में तेल अधिक देखने में आता, चिराग की बत्ती उकसाने के बहाने, छिपाकर पोटली दिया में रख देते। वह देखते-देखते तेल सोख लेती और दिया जल्द बुझने पर आ जाता। मौलवीसाहब दाई पर गुस्सा होते कि तेल क्यों कम लाई, पर मजबूर होकर जल्द ही किताब बन्द करने का हुक्म दे देते। किसी-किसी दिन जमुनाभाई पेशाब करने के लिए छुट्टी मांगकर बाहर जाते और पेशाब करने के बदले दौड़कर कभी मेरी मां के पास, कभी-कभी अपनी मां के पास और कभी गंगाभाई की मां के पास जाकर कह आते कि अब नींद लग रही है, जल्द दाई को हमें बुलाने के लिए भेजो, नहीं तो पिट जायेंगे। उनके पेशाब से लौटने के थोड़े ही बाद दाई पहुंच जाती और मौलवीसाहब से कहती कि अब छुट्टी दे दीजिये। मौलवीसाहब छुट्टी दे देते।

एक दिन, जब इस तरह जमुनाभाई दौड़े जा रहे थे, गांव के एक सज्जन ने, जो रिश्ते में हम लोगों के चचा होते थे, उन्हें देख लिया और जाकर मौलवीसाहब से कह दिया कि जमुना कहीं दौड़े जा रहे थे। तहकीकात हुई और जमुनाभाई की कैफियत हुई कि वह पेशाब करने गये और अंधेरे में डर गये, इसलिए भागे जा रहे थे। इस तरह से बचे।

जो कुछ वहां फारसी का ज्ञान हुआ, उन्हीं मौलवीसाहब ने दिया। हम सब भी उनको प्यार करने लगे थे। जब घर छोड़कर छपरे अंगरेजी पढ़ने के लिए जाना पड़ा, तो मौलवीसाहब को और हम लोगों को भी बड़ा दुःख हुआ।

: ४ :

गांव का जीवन

उन दिनों गांव का जीवन आज से भी कहीं अधिक सादा था। जीरादेई और जमापुर दो गांव हैं, पर दोनों की बस्ती इस प्रकार मिली-जुली है कि यह कहना मुश्किल है कि कहां जीरादेई खतम है और कहां से जमापुर शुरू है। इसलिए आबादी के लिहाज से दोनों गांवों को साथ भी लिया जाय तो कोई हर्ज नहीं। दोनों गांवों में प्रायः सभी जातियों के लोग बसते हैं। आबादी दो हजार से अधिक होगी। उन दिनों गांव में मिलनेवाली प्रायः सभी चीजें वहां मिलती थीं। अब तो कुछ नये प्रकार की दुकानें भी हो गई हैं, जिनमें पान-बीड़ी भी बिकती है। उन दिनों ऐसी चीजें नहीं मिलती थीं, यद्यपि काला तम्बाकू और खैनी बिका करती थी। कपड़े की दुकानें अच्छी थीं, जहां से दूसरे गांवों के लोग और कुछ बाहर के व्यापारी भी कपड़ा ले जाया करते थे। चावल, दाल, आटा, मसाला, नमक, तेल इत्यादि वहां सबकुछ बिकता था और छोटी-मोटी दुकान दवा की भी थी, जिसमें हर्रे-बहेरा-पीपर इत्यादि की तरह की चीजें मिल सकती थीं। जहांतक मुझे याद है, केवल मिठाई की कोई दुकान नहीं थी। गांव में कोयरी लोगों की काफी बस्ती है, इसलिए साग-सब्जी भी काफी मिलती थी। अहीर कम थे, पर आसपास के गांवों में उनकी काफी आबादी है, इसलिए दही-दूध भी मिलते थे। चर्खे काफी चलते थे। गांव में जुलाहों को भी आबादी थी, जो सूत लेकर बुन दिया करते थे। चुड़िहार चूड़ियां बना लेते। बिसाती छोटी-मोटी चीजें, जैसे टिकुली इत्यादि, बाहर से लाकर बेचते और खुद भी बनाते। मुसलमानों में चुड़िहार, बिसाती, थवई (राज), दर्जी और जुलाहे ही थे। कोई शेख-सैयद नहीं रहता था। हिन्दुओं में ब्राह्मण, राजपूत, भूमिहार, कायस्थ, कोयरी, कुरमी, कमकर, तुरहा, गोंड, डोम, चमार, दुसाध इत्यादि सभी जाति के लोग बसते थे। मेरा ख्याल है कि सबसे अधिक बस्ती राजपूतों की ही है। उनमें कुछ तो जमींदार-वर्ग के हैं, जो पुराने खानदानी समझे जाते हैं और कुछ मामूली किसान-वर्ग के हैं। कायस्थ जीरादेई में ही पांच घर थे, जिनमें तीन तो हमारे सगे थे और दो सम्बन्ध के कारण बाहर से आकर बस गये थे।

सबकुछ प्रायः गांव में ही मिल जाता था। इसलिए गांव के बाहर जाने का लोगों को बहुत कम मौका आता था। गांव में हफ्ते में दो बार बाजार भी लगता था, जहां कुछ आसपास के गांव के दुकानदार भी अपना माल सौदा सिर पर अथवा बैल, घोड़ा या बैलगाड़ी पर लादकर अपना लाते थे। बाजार में मिठाई की दुकान भी आ जाती थी और जो चाहते उनको मछली-मांस भी खरीदने को मिल जाते। जिनकी जरूरतें इस प्रकार पूरी नहीं होतीं, वे 'सीवान' जाते। वहीं थाना और मजिस्ट्रेट हैं कचहरियां हैं और दूकानें भी हैं। वह एक कस्बा है, जो देहात के लोगों के लिए उन दिनों बहुत बड़ी जगह का रूतबा रखता था। मुझे याद है कि गांव में बाहर से सगे-सम्बन्धियों के सिवा बहुत कम लोग आया करते थे। मौलवीसाहब के यहां दो-चार महीने में एक बार एक आदमी फारसी की छोटी-मोटी किताबों की एक छोटी गठरी और एक-दो बोतलों में सियाही (आजकल की ब्लूब्लैक रोशनाई नहीं) लिये आ जाता था। जब वह आता तो हम बच्चों के कौतूहल का ठिकाना न रहता। कभी-कभी जाड़ों में कोई नारंगी-नीबू की टोकरी लिये बेचने आ जाता तो हम बच्चे इतना खुश होते कि मानों कुछ नायाब मिल गया। एक दिन ऐसा ही एक आदमी आया और मैं दौड़कर मां से कहने गया। वहां से दौड़कर जो बाहर आ रहा था कि पैर में जोर से किसी चीज की ठोकर लगी, गिर गया। ओठ में चोट आई और खून बहने लगा। बहुत दिनों तक उसका चिहन रहा था। एक बार और किसी चीज के लिए दौड़ता हुआ गिर गया था--उसका निशान तो आज तक दाहिनी आंख के नीचे गाल पर मौजूद है। गांव में फल--आम के दिनों में आम और मामूली तरह से कभी-कभी बाग से केले--मिल जाते थे। चचासाहब, जिनको हम लोग नूनू कहा करते थे, छपरे से कभी-कभी अंगूर लाया करते थे। अंगूर आज की तरह खुले आम गुच्छों में नहीं बिका करते थे, काठ की छोटी पेटी में रूई के फाहे के बीच में रखकर बिकते थे और दाम भी काफी लगता था। गांव के लोग केवल आम और केले ही मौसम में पाते थे।

गांव में दो छोटे-मोटे मठ हैं, जिनमें एक-एक साधु रहा करते थे। गांव के लोग उनको भोजन देते हैं और वह सुबह-शाम घड़ी-घंटा बजाकर आरती करते हैं। आरती के समय कुछ लोग जुट भी जाते हैं। कभी-कभी हम लोग भी जाया करते थे और बाबाजी तुलसीदल का प्रसाद दिया करते थे। रामनौमी और विशेषकर जन्माष्टमी में मठ में तैयारी होती थी। हम सब बच्चे कागज और पन्नी के फूल

काटकर ठाकुरबारी के दरवाजों और सिंहासन पर साटते थे और उत्सव में शरीक होते थे, व्रत रखते थे और दधिकांदो के दिन खूब दही-हल्दी एक दूसरे पर डालते थे। प्रायः हर साल कार्तिक में कोई-न-कोई पंडित आ जाते, जो एक-डेढ़ महीना रहकर रामायण, भागवत अथवा किसी दूसरे पुराण की कथा सुनाते थे। जिस दिन पूर्णाहुति होती थी उस दिन गांव के सब लोग इकट्ठे होते और कुछ-न-कुछ पूजा चढ़ाते। मेरे घर से अधिक पूजा चढ़ती, क्योंकि हम सबसे बड़े समझे जाते थे। अक्सर कथा तो मेरे ही दरवाजे पर हुआ करती थी। उसका सारा खर्च हमको ही देना पड़ता था। जब गांव में पंचायती कथा होती तब गांव-भर के लोग बारी-बारी से पंडित के भोजन का सामान पहुंचाते, उसमें मेरा घर भी शामिल रहता। हम बच्चे तो शायद ही कथा का कुछ ज्यादा अंश सुन पाते हों; क्योंकि मैं तो संझौत के बाद ही सो जाता। पर जब आरती होती तो लोग जगाते और प्रसादी खिला देते।

मनोरंजन और शिक्षा का एक दूसरा साधन रामलीला थी। वह आसिन में हुआ करती थी। रामलीला करनेवाली जमात कहीं से आ जाती और पन्द्रह-बीस दिनों तक खूब चहलपहल रहती। लीला कभी जमापुर में होती, कभी जीरादेई में। लीला भी विचित्र होती। उसमें राम-लक्ष्मण इत्यादि जो बनते, कुछ पढ़े-लिखे नहीं होते। एक आदमी तुलसीदास की रामायण हाथ में लेकर कहता--'रामजी कहीं, हे सीता'--इत्यादि और रामजी वही दुहराते। इसी प्रकार, जिनको जो कुछ कहना होता उनको बताया जाता और वह पीछे-पीछे उसे दुहराते जाते। लोगों का मनोरंजन इस वार्तालाप में अधिक नहीं होता, क्योंकि भीड़ बड़ी लगती और सब कारबार प्रायः सौ-दो-सौ गज में फैला रहता। मनोरंजन तो पात्रों की दौड़धूप और विशेषकर लड़ाई इत्यादि के नाट्य में ही होता। उत्तर में रामजी का गढ़ और दक्खिन में रावण का गढ़ बनता अथवा अयोध्या और जनकपुर बनता। जिस दिन जो कथा पड़ती, उसका कुछ-न-कुछ स्वांग तो होती ही। सबसे बड़ी तैयारी राम-विवाह, लंकाकाण्ड के युद्ध और रामजी के अभिषेक--गद्दी पर बैठने के दिन होती। विवाह में तो हाथी-घोड़े मंगाये जाते और बरात की पूरी सजावट होती, लंकादहन के लिए छोटे-मोटे मकान भी बना दिये जाते जो सचमुच जला दिये जाते। हनुमान-वानर और निशाचरों के अलग-अलग चेहरे होते, जो उनको समय पर पहनने पड़ते और हम बच्चों को वे सचमुच डरावने लगते। वानरों के कपड़े अक्सर लाल होते और निशाचरों के काले। राम-लक्ष्मण-जानकी

के विशेष कपड़े होते और उनके सिंगार में प्रायः डेढ़-दो घण्टे लग जाते । लीला संध्या समय चार बजे से छः बजे तक होती । राम-लक्ष्मण मामूली लोगों की तरह नहीं चलते । उनके कदम बहुत ऊंचे उठते और लड़ाई में पैंतरे देने की तो उनको खास तालीम दी जाती । जिस दिन राजगद्दी होती उसी दिन गांव-जवार के लोग पूजा चढ़ाते, जो नजर के रूप में रामजी के चरणों में चढ़ाई जाती । लीलावालों को भोजन के अलावा नकद जो-कुछ मिलना होता उसी दिन मिलता । दूसरे दिन फिर राम-लक्ष्मण-जानकी को श्रृंगार करके बड़े-बड़े लोगों के घरों में ले जाते, जहां की स्त्रियां परदे के कारण भीड़-भाड़ में लीला देखने नहीं जाया करतीं । वहां उनकी पूजा होती और उनपर रूपये चढ़ाये जाते ।

एक चीज, जिसका असर मुझपर बचपन से ही पड़ा है, रामायण-पाठ है । गांव में अक्षर-ज्ञान तो थोड़े ही लोगों को था । उन दिनों एक भी प्राइमरी या दूसरे प्रकार का स्कूल उस गांव अथवा कहीं जवार-भर में नहीं था । मौलवीसाहब हम लोगों को तीन-चार रूपये मासिक और भोजन पाकर पढ़ाते थे । गांव में एक दूसरे मुसलमान थे, जो जाति के जुलाहा थे, मगर कैथी लिखना जानते थे । मुड़कट्टी हिसाब भी जानते थे, जिसमें पहाड़ा, ड्योढ़ा इत्यादि मन-सेर की बिकरी और खेत की पैमाइश का हिसाब शामिल है । उन्होंने एक पाठशाला खोल रखी थी, जिसमें गांव के कुछ लड़के पढ़ते थे । अक्षर पहचानना तो बहुत थोड़े लोग जानते, पर प्रायः प्रतिदिन संध्या के समय कुछ लोग कहीं-न-कहीं, मठ में या किसी के दरवाजे पर जमा हो जाते और एक आदमी रामायण की पुस्तक से चौपाई बोलता और दूसरे सब उसे दुहराते । साथ में झाल और ढोलक भी बजाते थे । वन्दना का हिस्सा तो जब रामायण का पाठ आरम्भ होता तो जरूर दुहराया जाता । इस प्रकार अक्षर से अपरिचित रहकर भी गांव में बहुतेरे ऐसे लोग थे, जो रामायण की चौपाइयां जानते और दुहरा सकते और विशेष करके वन्दना के कुछ दोहों को तो सभी प्रायः बरजबान रखते थे ।

त्योहारों में सबसे प्रसिद्ध होली है । उसमें अमीर-गरीब सभी शरीक होते थे । वसन्त-पंचमी के दिन से ही होली गाना शुरू होता । उसे गांव की भाषा में 'ताल उठना' कहते थे । उस दिन से होली के दिन तक जहां-जहां झाल-ढोलक के साथ कुछ आदमी जमा होते और होली गाते । कभी-कभी जीरादेई और जमापुर के लोगों

में मुकाबला हो जाता और एक गीत एक गांव के लोग जैसे खतम करते, दूसरे गांव के लोग दूसरा शुरू करते। कभी-कभी गांव के आस-पास के दूसरे गांवों के लोग भी गोल बांधकर आ जाते और इस प्रकार का मीठा प्रतियोग बड़े उत्साह से हुआ करता। मुझे याद है कि एक बार दो गांवों में बाजी-सी लग गई और रात-भर गाते-गाते सवेरे सूर्योदय के बाद तक लोग गाते ही रह गये, और तब उनको कहकर हटाया गया। इस गाने में जो आदमी ढोलक बजाता है उसे काफी मेहनत पड़ती है और वह पसीने-पसीने हो जाता है। एक गांव में ढोलक बजानेवाला एक ही आदमी था। वह सारी रात बजाता रह गया। उसके हाथों में छाले पड़ गये, पर वह कहां रूकनेवाला था, गांव की इज्जत चली जाती ! छाले उठे और फूट गये और इस प्रकार रात-भर में कई बार छाले उठे और फूटे, पर उसने गांव की इज्जत नहीं जाने दी। यह बात दूसरे दिन प्रतियोगिता खतम होने पर सवेरे मालूम हुई और सब लोगों ने उसकी हिम्मत की सराहना की।

होली के दिन बहुत गन्दा गाली-गलौज हुआ करता। उसमें बूढ़े और जवान और लड़के भी एक साथ शामिल होते। गांव के एक कोने से एक जमात चलती, जो प्रायः हर दरवाजे पर खड़ी होकर नाम ले-लेकर गालियां गाती और गन्दी मिट्टी, धूल और कीचड़ एक-दूसरे पर डालती गांव के दूसरे सिरे तक चली जाती। यही एक अवसर था जब बड़े-छोटे का लिहाज एकबारगी उठ जाता था। बड़े-छोटे केवल उम्र में ही नहीं, जाति और वर्ग की बड़ाई-छोटाई भी उठ जाती थी। चमार, ब्राह्मण और राजपूत एक-दूसरे को गालियां सुनाते और एक दूसरे पर कीचड़ फेंकते। जब कोई नया आदमी साफ-सुथरा मिल जाता तो उसकी जान नहीं बचती, मानो उसे भी कीचड़ लगाकर जाति में मिला लेना सभी अपना फर्ज समझते थे। वह धुरखेल दोपहर तक जारी रहता। उसके बाद सभी स्नान करते और घर-घर में पूजा होती। उस दिन का विशेष भोजन पूरी-मालपुआ है। गरीब लोग भी किसी-न-किसी प्रकार कुछ प्रबन्ध कर ही लेते। भोजन के बाद दोपहर को गुलाल और अबीर से रंग खेला जाता। सब लोग सफेद कपड़े पहनते। उसपर लाल-पीले रंग डाले जाते, अबीर और अबरख का चूर्ण छिड़का जाता। गरी-छुहारा, पान-कसैली बांटी जाती और खूब होली गाई जाती।

मैंने सुना है कि और जगहों में लोग उस दिन खूब शराब-कबाब का भी व्यवहार किया करते हैं। पर सौभाग्य से मैंने यह अपने गांव में कभी नहीं देखा। राजपूत, ब्राह्मण, भूमिहार तो हमारे यहां शराब पीना पाप मानते हैं। कहीं-कहीं कायस्थ लोग पीते हैं। पर मेरे घर में एक बहुत पुरानी प्रथा चली आ रही है। लोगों का विश्वास है कि हमारे वंश में जो कोई शराब पियेगा वह कोढ़ी हो जायगा। इसलिए वहां कायस्थों के घरों में भी कभी शराब नहीं आई। बड़ों को देखकर छोटे भी इससे परहेज करते हैं और यह बात आज तक जारी है।

जन्माष्टमी-रामनौमी का जिक्र कर ही दिया है; दीवाली भी अच्छी मनाई जाती थी। कुछ पहले से ही सब लोग अपने-अपने घरों को साफ करते। दीवारों को लीपते और काठ के खम्भों और दरवाजों में तेल लगाते। उन दिनों किरासन का तेल नहीं जलाया जाता था--शायद मिलता ही नहीं था। सरसों, तीसी, दाना अथवा रेंड़ी का तेल की जलाया जाता। दीवाली में मिट्टी के छोटे-छोटे दिये जलाकर प्रायः अमीर-गरीब सब कुछ-न-कुछ रोशनी जरूर करते। बड़े लोगों के मकान पर बहुत दिये जलाये जाते, केले के खम्भे गाड़े जाते, बांस की मेहराबें बनाई जातीं, रंग-बिरंग की तसवीरें दियों से बनाई जातीं, जो देखने में बहुत सुन्दर मालूम पड़तीं। बड़े लोग तो ये नक्शे बनाते और हम छोटे उनके बताये हुए स्थानों पर दिये रखते, तेल डालते, बत्ती जलाते। बत्ती जल जाने के पहले लक्ष्मी-पूजा होती। लक्ष्मीजी तथा तुलसी के पास बत्ती जलाने के बाद ही और सब जगहों में दिये जलाये जाते। दिये जल जाने के बाद कौड़ी खेलने की चाल थी। हम लोग तो नाममात्र के लिए कुछ कर लेते; पर मैंने देखा है कि कुछ लोग पैसे हारते-जीतते भी थे। दीवाली के दिन विशेष दीप की तैयारी होती, पर यों तो कार्तिक-भर कुछ लोग तुलसी-चौतरे पर और आकाश में कंदील लटकाकर दिये जलाया करते।

दशहरा तो खास करके जमींदारों का त्योहार माना जाता था। पर नवरात्र में कभी-कभी कालीजी की पूजा हुआ करती थी। उसके लिए मूर्त्ति लाई जाती और बड़े धूमधाम से पूजा होती। मैंने अपने गांव में तो कालीपूजा नहीं देखी, पर जवार में कालीपूजा हुई, इसकी शोहरत सुनने पर हम बच्चे वहां दर्शन के लिए भेजे गये थे। वहां जाकर हमने काली का, जो सचमुच काली थी और हाथ में लाल खप्पर और

खड्ग लिये हुए थी, दर्शन किया था। रामलीला में राजगद्दी भी प्रायः दशहरे के दिन, या एक-दो दिन उसके आगे-पीछे हुआ करती थी। खास दशहरे के दिन हमारे दादासाहब अपने साथ सब लोगों को लेकर छोटा-सा जलूस बनाकर निकलते और नीलकण्ठ का दर्शन करते।

इनके अलावा एक और त्योहार था, जिसमें सभी लोग शरीक होते थे। वह था अनन्तचतुर्दशी का व्रत। यह भादों सुदी चतुर्दशी को हुआ करता था। दोपहर तक का ही व्रत था। दोपहर को कथा सुनने के बाद पूरी-खीर खाने की प्रथा थी और संध्या को कुछ नहीं खाना होता था। सूर्यास्त के बाद पानी भी नहीं पिया जाता था। इस व्रत में हम सब बच्चे भी शरीक होते। कथा समाप्त होने पर एक क्रिया होती, जो बच्चों के लिए बहुत मजाक की चीज होती। एक बड़े थाल में एक या दो खीरे रख दिये जाते और थोड़ा जल उसमें पंडित डाल देते। सभी कथा सुननेवाले इस थाल में हाथ डालते और पंडित पूछते--क्या ढूंढ़ते हो और लोग जवाब देते--अनन्त फल। तब फिर पंडित पूछते--पाया और उत्तर मिलता--पाया। पंडित कहते, सिर पर चढ़ाओ और सब लोग जल अपने सिर पर छिड़कते। यह क्रिया समाप्त होने पर सभी लोगों को अनन्त, जो सूत में चौदह गांठ देकर बनाया जाता था, दिया जाता और वे उसे अपनी बांह पर बांध लेते। हम बच्चों के लिए सुन्दर रंगीन, कभी-कभी रेशम का, अनन्त पटहेरे के यहां से खरीद करके आता। कोई-कोई साल-भर बांह पर अनन्त बांधे रहते थे; इसलिए वे अपना अनन्त अपने हाथों मजबूत और काफी लम्बा बनाते, जिसमें वह सुभीते से बांधा जा सके। इस प्रकार जो अनन्त बांधता वह मांस-मछली नहीं खाता था। इसी प्रकार जो तुलसी की लकड़ी का माला या कंठी पहनता, वह भी मांस-मछली नहीं खाता।

कथा, रामलीला, रामायण-पाठ और इन व्रत-त्योहारों द्वारा गांव में धार्मिक जीवन हमेशा जगा रहता था। इनके अलावा मुहर्रम में ताजिया रखने का भी रिवाज था। इसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों शामिल होते थे। जीरादेई और जमापुर में कुछ हिन्दू ही कुछ सम्पन्न थे, इसलिए उनका ताजिया गरीब मुसलमानों के ताजिया से अधिक बड़ा और शानदार हुआ करता था। मुहर्रम-भर प्रायः रोज गदका, लाठी, फरी वगैरह के खेल लोग करते और पहलाम के दिन तो बहुत बड़ी भीड़ होती। गांव-गांव के ताजिया कर्बला तक पहुंचाये जाते। तमाम रास्ते में 'या अली, या इमाम' के नारे

लगाये जाते और गदका इत्यादि के खेल होते । बड़ा उत्साह रहता और इसमें हिन्दू-मुसलमान का कोई भेद नहीं रहता । शीरनी और तिचौरी (भिगोया हुआ चावल और गुड़) बांटी जाती । सभी उसे लेते और खाते; पर हिन्दू लोग मुसलमानों से पानी या शर्बत छुलाकर नहीं पाते । मुसलमान भी इसे बुरा नहीं मानते । वे समझते थे कि यह हिन्दुओं का धरम है, इसलिए वे स्वयं हट जाते ।

जिस तरह हिन्दू मुहर्रम में शरीक होते, उसी तरह मुसलमान भी होली के शोरगुल में शरीक होते । हम बच्चे दशहरा, दीवाली और होली के दिन मौलवीसाहब की बनाई 'ईदी' अपने बड़ों को पढ़कर सुनाते और उनसे रूपये मांगकर मौलवीसाहब को देते । ईदी कई दिन पहले से ही हम याद करते । कागज पर, मौलवीसाहब की मदद से, सुन्दर फूल बनाकर उसे लाल, हरे, नीले और बैंगनी रंगों से रंगते । उसीपर मौलवीसाहब सुन्दर अक्षरों में ईदी लिख देते, जिसे हम लोग पढ़कर सुनाते । उसमें जो लिखा जाता वह भी कुछ अजीब संमिश्रण होता । जैसे, दीवाली की ईदी में लिखा होता--'दीवाले आमदे हंगाम जूआ, इत्यादि; दशहरे की ईदी में लिखा जाता--दशहरे को चले थे रामचन्दर, बनाकर रूप जोगी वो कलन्दर' इत्यादि । मुशाहरे के अलावा मौलवीसाहब को, प्रत्येक वृहस्पतिवार को कुछ पैसे जुमराती के रूप में और त्योहारों पर ईदी के बदले में, कुछ मिल जाया करता था ।

उन दिनों गांव में मामला-मुकदमा कम हुआ करता था । जो झगड़े हुआ करते थे, गांव के पंच लोग उन्हें तय कर देते थे । अगर कोई बात पंचों के मान की न हुई, तो वह मेरे बाबा या चचासाहब के सामने पेश होती । वे लोग भी पंचायत में शरीक होकर तय करा देते । हां, कभी-कभी चोरी हो जाया करती थी । बनिया कुछ सम्पन्न थे । उनके घरों में रात को सेंध फोड़कर चोर कुछ पैसे उठा ले जाया करते । एक बार का मुझे स्मरण है कि दूसरे गांव के बाजार से लौटते वक्त संध्या को रास्ते में डाकू ने पैसे और कपड़े लूट लिये थे । जब कभी ऐसा वकूआ होता, थाने से दारोगा और सिपाही पहुंचते और गांव में एक-दो दिन ठहर जाते । उनका गांव में आना एक बड़ा हंगामा था । सारे गांव में सनसनी फैल जाती । जिन लोगों पर शुबहा होता उनके घर की तलाशी ली जाती । दो-तीन आदमी थे, जिनके बारे में मशहूर था कि वे चोर हैं; दारोगा पहुंचते ही उनको पकड़कर मुश्कें कसकर बांधकर गिरा देते

और खूब पीटते । आसपास के गांव के भी ऐसे लोग, जो गलत या सही चोर समझे जाते थे, इस प्रकार पकड़कर मंगाये जाते और गिरा दिये जाते । मैंने देखा है कि इस तरह एक साथ पांच-सात आदमी बांधकर गिराये जाते थे और घंटों तक पड़े रहते थे ।

हम लोगों की छोटी-सी जमींदारी थी । रैयतों के साथ मुकदमे तो कम होते, शायद ही कभी कचहरी में जाने की जरूरत होती । मगर एक दूसरे जमींदार के साथ, जिनका भी हिस्सा एक गांव में था, बहुत दिनों तक कुछ जमीन के लिए मुकदमा चलता रहा । बाबा के समय से शुरू होकर पिताजी के जमाने भर चलता रहा और उनकी मृत्यु के बाद भाई ने उसे सुलह करके तय किया । नूनू छपरे जाया करते और भाई जो छपरे पढ़ने के लिए भेज दिये गये थे, उनको देखते और मुकदमे की भी पैरवी करते ।

: ५ :

अंगरेजी-शिक्षा का श्रीगणेश

मैं पहले कह चुका हूं कि भाई के कारण मेरे लिए सब बातों में रास्ता साफ हो जाता था। मेरे बहुत छुटपन में ही भाई को पढ़ने के लिए पहले 'सीवान' भेजा गया। वहां कुछ दिनों तक वह रहे, मगर वहां कोई ठीक सुविधा नहीं जमी। एक तो उन दिनों सीवान में कोई हाईस्कूल नहीं था। दूसरा कोई स्कूल था कि नहीं, मुझे मालूम नहीं। मगर एक कारण यह भी हुआ कि जिनके साथ उनको रखा गया था, वह उनको संभाल नहीं सके। एक अग्रवाल सज्जन सीवान में रहा करते, जिनसे बाबा की बड़ी मित्रता थी। उनके पास भाई भेजे गये और कुछ दिनों तक वहां रहे। उनके मकान के पास एक नया कुआं खोदा जा रहा था। उसमें पानी आ चुका था, पर ऊपर की जगत तक अभी बंधाई नहीं हुई थी। एक दिन पानी देखने या खेलने के लिए भाई वहां गये और कुएं में गिर गये--डूबते-डूबते मुश्किल से बचाये गये। उस सज्जन ने लिख भेजा कि ऐसे चुल्ला लड़के की देख-रेख उनसे नहीं हो सकेगी। उसके बाद ही भाई छपरे भेज दिये गये और वहां जिला-स्कूल में नाम लिखाकर पढ़ने लगे। जब छुट्टियों में वह घर आते तो हम लोगों से छपरे और स्कूल की बातें कहते। हम बच्चे बहुत उत्सुकता से उन्हें सुनते। शायद उस समय तक मैं अपने होश में जवार के कुछ गांवों के सिवा, जहां कभी-कभी रामलीला या दूसरा कोई मेला देखने गया होऊं, और कहीं नहीं गया था। हां, सुनता हूं कि बहुत बचपन में मां के साथ ननिहाल गया था, जो बलिया जिले में हमारे गांव से प्रायः अठारह-बीस कोस की दूरी पर है; पर उसका मुझे कुछ भी स्मरण नहीं है।

छपरे में मेरे पढ़ने की बात तय हो जाने के बाद नूनू ने एक बार मुझे वहां ले जाकर सबकुछ दिखला देना अच्छा समझा, और साथ ले गये। मैं छपरे में कुछ दिनों तक भाई के साथ ठहरा और फिर घर वापस चला आया। मुझे जहांतक स्मरण है, यही पहला अवसर था जब मैं रेल पर चढ़ा था। पर इस यात्रा में मैं स्कूल में दाखिल नहीं हुआ। जीरादेई लौटकर मौलवीसाहब के पास फिर पढ़ने लगा। इसी बीच एक दुर्घटना हो गई--नूनू की मृत्यु हो गई! हमारे खानदान से घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाला

एक खानदान था, जिसमें आजकल बाबू फूलनप्रसाद वर्मा हैं । उनके पिता ननिहाल में आकर अपने नाना के साथ रहते थे । उनके नाना से हम लोगों का कुछ पुराना सम्बन्ध भी था, पर उससे भी अधिक आपस की घनिष्ठता थी, जो दोनों खानदानों के हथुआ-राज में नौकरी करने के कारण बहुत जमाने से चली आती थी । फूलनबाबू के पिता की शादी में नूनू बरात गये और लौटते समय रास्ते में हैजा हो गया । वहां तो अच्छे हो गये और घर पर आ गये, पर गांव में भी बहुत जोरों से हैजा फैला हुआ था । अच्छे हो जाने के प्रायः दो-तीन हफ्तों के बाद उनको दोबारा हैजा हो गया । वह दिन मुझे आज भी याद है । दोपहर ग्यारह बजे के करीब बीमारी शुरू हुई और रात को ही वह चल बसे । बाबूजी ने जो कुछ दवा हो सकी की । दरौली से डाक्टर बुलाये गये जो प्रायः छः कोस की दूरी पर है । पहली बीमारी में इसी डाक्टर ने आराम किया था । पर उन दिनों तेज सवारी तो मिलती न थी । हाथी पर रात को बारह बजे डाक्टर पहुंचे, पर उनके पहुंचने के पहले ही मृत्यु हो चुकी थी । उनकी मृत्यु से घर में बड़ा कोलाहल मचा । बाबा के वह एक ही पुत्र थे । घर का प्रायः सब कारबार बाहर-भीतर वही संभालते थे । बाबा की अवस्था प्रायः सत्तर बरस की थी; पर वह अभी पैंतालीस से अधिक के नहीं रहे होंगे । बाबूजी घर के कारबार में कम ही दिलचस्पी लिया करते थे । इसलिए और भी सब-कुछ अव्यवस्थित हो चला । फलतः कुछ दिनों के लिए मेरा छपरा भेजा जाना रूक गया ।

प्रायः एक-डेढ़ साल के बाद मैं छपरे भेजा गया । छपरे में एक छोटा-सा मकान, तीन या चार रूपये मासिक भाड़े पर, ले लिया गया था । वहीं भाई एक नौकर और रसोई बनानेवाले एक कायस्थ के साथ रहते थे । कुछ दिनों तक शुरू में उनको पढ़ाने के लिए एक मास्टर भी रखे गये थे, पर जब मैं पहुंचा तब दूसरा कोई नहीं था । मैं भी उनके साथ रहने लगा । मेरे छपरा पहुंचने के कुछ ही दिनों बाद जिला-स्कूल के आठवें दर्जे में, जो उन दिनों सबसे आरम्भिक दर्जा था, मेरा नाम लिखा दिया गया । मैंने वहीं ए बी सी और नागरी अ आ इ ई की एक साथ शिक्षा आरम्भ की । भाई उस समय दूसरे दर्जे से तरक्की पाकर अव्वल दर्जे अर्थात् एण्ट्रेन्स क्लास में पहुंचे थे । मेरे लिए कोई मास्टर नहीं रखा गया । स्कूल की पढ़ाई के अलावा अगर मुझे कुछ पूछना होता तो, मैं भाई से पूछ लेता । घर पर मुझे पढ़ाने के लिए मास्टर का न रखना बहुत अच्छा हुआ । स्कूल की पढ़ाई पर खूब ध्यान देने की आदत पड़

गई । आरम्भिक काल से ही अपने ऊपर कुछ भरोसा करना भी आ गया । साल के अन्त में भाई एण्ट्रेन्स-परीक्षा की तैयारी कर रहे थे और मैं अपना सालाना इम्तहान दे रहा था । इम्तहान में मेरा बहुत अच्छा नम्बर आया । मैं अपने दर्जे में अव्वल हुआ और नम्बर भी इतना ज्यादा आया कि हेडमास्टर ने मुझे डबल तरक्की देने की बात सोची ।

उन दिनों स्कूल के हेडमास्टर थे श्री क्षीरोचन्द्र राय चौधुरी । वह बड़े नामी और विद्वान हेडमास्टर समझे जाते थे । स्कूल में उनका रोब भी बहुत था । केवल लड़के ही नहीं, मास्टर लोग भी डर के मारे कांपते थे । परीक्षा-फल सुनाया गया । मुझे आठवें से सातवें में तरक्की मिली । हम सब लड़के खुशियां मना रहे थे कि चपरासी ने आकर क्लास-मास्टर से कहा कि हेडमास्टर मुझे बुलाते हैं । हेडमास्टर उन लड़कों को ही बुलाया करते, जिनके खिलाफ कोई शिक़ायत पहुंची रहती थी । मैं बहुत डर गया और डरते-डरते वहां गया । पर वहां जाकर डर दूर हो गया । उन्होंने पूछा, ''डबल तरक्की लेकर सातवें के बदले छठे क्लास में जाओगे ?'' मैं उस समय कुछ घबरा-सा गया--कुछ खुशी, कुछ विस्मय और कुछ इस बात का भय कि एक बरस की पढ़ाई कैसे लांघी जा सकेगी--मैंने उत्तर दिया कि भाई से पूछकर बताऊंगा । उन्होंने पूछा कि भाई कौन हैं ? मेरे नाम बताने पर वह हँस पड़े । भाई को वह जानते थे, क्योंकि भाई को भी तो उन्होंने ही पढ़ाकर एण्ट्रेंस-परीक्षा देने की अनुमति दी थी, जिसके लिए वह डेरे पर तैयारी कर रहे थे । उन्होंने कहा कि वह क्या मुझसे इस बात को अधिक समझ सकता है कि जो तू उससे पूछना चाहता है--खैर, जाकर पूछ आ । मैं वहां से दौड़ता हुआ भाई के पास पहुंचा । वह, बाबू बांकेबिहारीलाल (स्वर्गीय) और मौलवी शफी दाऊदी, तीनों एक साथ इम्तहान की तैयारी कर रहे थे मैं वही गया और तीनों ने यह खबर बहुत खुश होकर सुनी । आपस में कुछ सलाह भी हुई । भाई का विचार हुआ कि एक क्लास लांघ जाने से मैं पीछे कमजोर पड़ जाऊंगा और आगे की पढ़ाई ठीक नहीं होगी । वह मेरे साथ हेडमास्टर के पास पहुंचे और उनसे अपनी राय कही । हेडमास्टर ने हँसकर फिर वही बात कही--क्या तू मुझसे इस बात को ज्यादा समझता है । फलतः सातवां लांघकर मुझे छठे क्लास में उन्होंने भेज दिया ।

थोड़े ही दिनों के बाद भाई परीक्षा देने पटने गये और परीक्षा देकर जीरादेई चले गये । मैं उस समय से छपरा डेरे पर अकेला, नौकर और रसोइया के साथ,

रहता । हां, मेरे मतलब के साथी जमुनाभाई और गंगाभाई भी छपरे आ गये थे और स्कूल में उन्होंने नाम लिखा लिये थे । हम तीनों वहां भी साथ ही रहते और पढ़ते थे । उस समय मेरी अवस्था शायद दस-ग्यारह के बीच की होगी ।

भाई एण्ट्रेन्स पास हो गये । पटने में कालेज में उनके पढ़ने की बात हुई और वह पटने जाने लगे । राय ठहरी कि मैं भी उनके साथ ही चला जाऊं और ऐसा ही हुआ । हम तीनों सहपाठी, भाई के साथ, पटने गये और भाई ने पटना-कालेज में नाम लिखाया और हम लोगों के नाम टी० के० घोष एकेडेमी में, जो उन दिनों बड़ा अच्छा स्कूल समझा जाता था और जिसमें बहुत लड़के पढ़ते थे, लिखा दिये गये । उस स्कूल में जाकर मैंने महसूस किया कि डबल तरक्की के बारे में भाई की राय हेडमास्टर से अधिक ठीक थी । मैं प्रतिदिन महसूस करता कि दूसरे लड़के कई विषय मुझसे अधिक जानते हैं । मैं इस कोशिश में लग गया कि इस कमी को पूरा कर दूं । वहां भी घर पर पढ़ाने के लिए कोई मास्टर नहीं था । जो कुछ पूछना होता, भाई या उनके दूसरे साथी लोगों से--जो वहां रहा करते--पूछ लिया करता ।

छपरे में ही मेरी आदत पड़ गई थी कि रोज संध्या को, स्कूल से छुट्टी होने पर, डेरे पर आकर कुछ-खा पीकर फुटबॉल या दूसरा खेल खेलने फिर स्कूल में चला जाता । फुटबॉल और क्रिकेट दो खेल विशेषकर खेले जाते । ऊंचे दर्जे के कुछ लड़के, और मास्टरों में कुछ लोग--विशेष करके हेडमास्टर, टेनिस भी खेला करते । पटने में स्कूल में खेल का प्रबन्ध नहीं था । हम लोग इस कमी को बहुत महसूस करते । उसका अहाता भी बड़ा नहीं था । पर जो जगह थी, उसमें अपने लोग गेंद लेकर जाते और कुछ दौड़-धूप करके चले आते । भाई खेल में बड़े पटु थे । फुटबॉल, क्रिकेट और दूसरे खेलों में वह बहुत आगे रहते थे । पटना-कालेज में भी उनका नाम था । हम लोग कभी-कभी खेल देखने पटने का लॉन में जाया करते ।

पटने में सोमवारी मेला, सावन महीने के प्रति सोमवार को, धूमधाम से हुआ करता था । उस मेले में हम लोग बड़ी खुशी से जाते और छोटी-मोटी चीजें खरीदने के लिए भाई से जिद करते । मुझे याद है कि एक बार एक मूर्त्ति, जो बहुत सुन्दर थी, खरीदने के लिए मैंने बहुत जिद की थी और भाई को खरीद देनी पड़ी । एक बार उसी सोमवारी मेले में बाबू बांकेबिहारी के पाकेट से चोर ने कुछ पैसे निकाल लिये । भाई भी साथ थे । चोर पकड़ा गया । उसपर मुकदमा चला, जिसमें बांकेजी

को और भाई को बयान देने पड़े । उसी मुकदमे को देखने के लिए, जहांतक मुझे स्मरण है, मैं पहले-पहले कचहरी में गया था ।

पटने में मेरे गांव के एक सज्जन, भाई से जिनकी मित्रता थी, नौकरी की खोज में हम लोगों के साथ डेरे पर ठहरे थे । वहां भी एक मकान भाड़े पर लेकर बाबू बांकेजी और हम लोग साथ ही रहा करते थे । वह सज्जन छोटे-मोटे पहलवान थे । कुछ कसरत वगैरह जानते थे । उन्होंने आंगन में एक छोटा अखाड़ा बनवाया और वहां सब लोगों से कुछ कसरत कराना और कुश्ती सिखाना आरम्भ किया । एक दिन बाबू बांकेजी को कुश्ती सीखने में कुछ चोट लग गई और उनका पैर कई दिनों तक तकलीफ देता रहा । उसके बाद से कुश्ती और अखाड़े में दिलचस्पी कम हो गई ।

जब हम लोग पटने में थे उसी समय हम लोगों ने 'प्लेग' बीमारी का नाम पहले-पहल सुना । उस समय बम्बई से ही इस भयंकर बीमारी की खबर सुनी गई थी, पर थोड़े ही दिनों के बाद छपरा-जिले में भी इसने अड्डा जमा लिया और कम-बेश अभी तक कुछ-न-कुछ रहता ही है । उन्हीं दिनों बड़ा अकाल भी पड़ा था । छुट्टी में गांव जाकर हम लोगों ने देखा था कि गवर्नमेण्ट के अफसर, लोगों की मदद करने के लिए, आये थे और हमारे घर पर ठहरे थे ।

पटने में प्रायः दो बरस बीत गये । भाई ने एफ० ए० की परीक्षा दी और मैं छठे से पांचवें और पांचवें से चौथे दर्जे में पहुंच गया । इम्तहान देकर भाई घर चले गये । मैं, जमुनाभाई और गंगाभाई, पटने में नौकर के साथ अकेले ही दो-तीन महीने तक रहे । जब गर्मी की छुट्टी हुई, हम लोग घर आये ।

: ६ :

विवाह

मुझे ठीक याद नहीं है कि मैं पांचवें दर्जे मैं पढ़ता था या चौथे में आ चुका था जब मेरी शादी हुई--शायद मैं पांचवें में ही पढ़ता था। गर्मी की छुट्टी में ही शादी हुई थी। जब हम लोग छपरे में पढ़ते थे तभी बाबा की मृत्यु और हमारी दादी की भी मृत्यु हो चुकी थी। उन लोगों की बीमारी का हाल पाकर हम सब छपरे से जीरादेई आ गये थे और हम सबके सामने ही दोनों--थोड़े ही दिनों के अन्तर से--चल बसे थे। इसलिए अब मेरे पिताजी ही घर के मालिक थे। मेरी शादी का इन्तजाम उनको ही करना पड़ा था।

मेरे ससुर आरा में मुख्तार थे और उनके एक छोटे भाई बलिया में वकालत करते थे। दोनों भाई जीरादेई आये थे। मुझे बाबूजी ने अन्दर मां के पास से बुलवाया। उन लोगों ने देखा--कुछ सवाल भी किये और पसंद करके चले गये। कुछ दिनों के बाद तिलक आया, जिसमें प्रथा के अनुसार कपड़े, बर्तन इत्यादि के अलावा रूपये भी आये। जहांतक मुझे स्मरण है, रूपये के लिए बाबूजी ने कुछ ज्यादा जोर नहीं दिया था। उन लोगों ने प्रायः दो हजार नगद और सामान मिलाकर, भेजा था। मेरी अवस्था बारह बरस से कुछ अधिक की थी।

उन दिनों दो हजार रूपये का तिलक अच्छा तिलक समझा जाता था। आजकल तो पांच हजार सात हजार भी हम लोगों की औकात के लोग कम मानते हैं। जितना ज्यादा तिलक हो उतनी ही अधिक बरात की तैयारी होनी चाहिए और लड़की के लिए उतना ही ज्यादा जेवर जाना चाहिए। मेरी शादी के समय पिताजी की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। एक तो तीन-चार बरसों में एक-पर-एक तीन मौतें हो चुकी थीं और उनमें प्रत्येक के श्राद्ध में काफी खर्च हो चुका था। दूसरे, अकाल के कारण, जमींदारी से वसूली कम हो गई थी। खर्च बढ़ गया था। हम लोगों के पढ़ने के लिए छपरे और पटने में प्रतिमास कुछ-न-कुछ नगद भेजना ही पड़ता था। एक मुकदमा जो बहुत दिनों से चला आता था, उसकी पेशी बहुत दिनों तक चली थी और उसमें भी बहुत खर्च पड़ा था। इन सब तरद्दुदों के रहते हुए भी शादी में खर्च करना ही था, क्योंकि इसीमें घर की प्रतिष्ठा थी।

जहांतक जेवर वगैरह का खर्च था, वह तो उन्होंने खूब किया। दूसरी तैयारी में भी वह कमी नहीं करना चाहते थे, क्योंकि उनके जमाने में यही पहली शादी थी। और, अगर पुरानी मिकदार से खर्च न हुआ, शान-शौकत न हुई, तो लोग कहेंगे कि भैयाजी (मेरे बाबा को सब लोग इसी नाम से पुकारा करते थे) के मरने के बाद ही घर की शान में कमी आ गई। इसलिए बाबूजी का विचार था कि किसी तरह से यह शादी शान में कम न हो।

हमारे यहां शादी में जलूस के लिए बहुत हाथी-घोड़े मंगनी मांगकर लाये जाते हैं। और भी जलूस की चीजें मंगनी लाई जाती हैं। शादी का दिन ऐसा पड़ा जिस दिन बहुत कड़ा लगन था। गांव की भाषा में 'कड़ा लगन' उसे कहते हैं जिसमें ग्रह अच्छे पड़ने के कारण मुहूर्त्त बहुत अच्छा पड़ता है और बहुत लोग उस दिन को शादी करना शुभ समझते हैं। जिस दिन कड़ा लगन पड़ता है, उस दिन मंगनी के सामान मिलने में कठिनाई होती है, क्योंकि बहुत लोग मंगनी मांगते हैं। मेरी बरात के लिए बहुत हाथी-घोड़े मांगे गये; मगर कड़ा लगन के कारण पहुंच नहीं सके। एक ही हाथी और दो-चार घोड़े पहुंच सके।

मेरी शादी बलिया जिले के दलन-छपरा में, जीरादेई से अठारह-बीस कोस की दूरी पर, होनेवाली थी। दो दिनों का रास्ता था। बीच में सरजू (गोगरा) नदी थी, जिसे नावों पर पार करना था। बरात जीरादेई की रस्मों को समाप्त करके रवाना हुई। हाथी-घोड़े कम होने के कारण पालकी की सवारी अधिक लेनी पड़ी और बैलगाड़ियों पर सामान चला। मैं एक खास किस्म की पालकी पर, जिसपर वर जाया करते हैं, चला। घर में एक बड़ा घोड़ा था, भाई उसीपर चले। वह सबको रवाना करके सबसे पीछे चले, और जहां दोपहर को खाने का स्थान मुकर्रर था, वहां सबसे पहले पहुंच गये। इन्तजाम में वह बहुत भाग ले रहे थे। बाबूजी पालकी पर थे। कुटुम्ब और सम्बन्ध के दूसरे लोग पालकी या दूसरी सवारियों पर थे।

वर की पालकी बहुत बेढंगी हुआ करती है। उसमें ऊपर से साये के लिए छत नहीं होती, पर कपड़े की छंहियां बांध दी जाती है। जेठ के महीने में शादी थी। गर्मी खूब पड़ रही थी। गर्म हवा भी खूब चल रही थी और मुझे उस पालकी पर जाना था। हवा से वह छंहियां भी उड़ जाती। पालकी चांदी की थी, इसलिए वजन काफी थी। कहारों को वजन संभालना ही कठिन था और उसपर हवा के मारे छंहियां बैलून

का काम करती; बेचारे बहुत मुश्किल में थे। मैं धूप और हवा दोनों का शिकार था।

किसी तरह दिन कटा और रात को सरजूजी के किनारे के गांव में डेरा पड़ा। कच्ची-पक्की रसोई बनी। सब लोगों ने भोजन किया। सवेरे सरजू पार करने का काम शुरू हुआ। सामान, पालकी, बैलगाड़ी, बैल, घोड़े इत्यादि तो नावों पर लादे गये और हाथी को यों ही तैराकर पार कराने का प्रयत्न होने लगा। वह हाथी भी कुछ वैसा ही था; वह नदी नहीं पार करना चाहता था। कुछ दूर जाता और फिर वापस आ जाता। फिर कई नावों के बीच में करके पार कराने का प्रयत्न हुआ, पर सब बेकार गया। अन्त में राय ठहरी कि उसे छोड़ ही देना चाहिए और बरात बिना हाथी के चली बाबूजी को इसका बड़ा अफसोस था कि बरात में एक भी हाथी नहीं गया। जहां मेरी शादी हो रही थी, उससे थोड़ी ही दूर पर बाबूजी की भी शादी हुई थी। उस समय बाबा हथुआ के दीवान थे और उस बरात में पचासों हाथी गये थे। बाबूजी को यह बात बहुत अखरती कि जहां उनकी शादी में पचासों हाथी गये, वहां उनके लड़के की शादी में एक भी हाथी न पहुंच सका। मगर करना क्या था। बरात वापस तो हो नहीं सकती। हाथी के झमेले में इतना समय लग गया कि उस गांव में पहुंचने में रात हो जायगी, ऐसा भय मालूम होने लगा।

बरात बहुत तेजी से चली और जहां दोपहर को पहुंचना था, वहां पहुंचते-पहुंचते तीन-चार बज गये। वहां भोजन वगैरह करके बरात आगे बढ़ी। रात हो गई। इस बीच में एक घटना हो गई। बरात जब गांव से एक-दो मील पर थी कि दो-तीन हाथी आते हुए नज़र आये। वे किसी दूसरी बरात में गये थे और उसकी रसम पूरी करके कहीं जा रहे थे। पीलवानों से बात हुई। उनको कुछ रूपये दिये गये और वे बरात में शामिल होने को राजी हो गये। इस तरह हाथी का हौसला तो एक प्रकार से पूरा हो गया, पर बरात पहुंचते-पहुंचते रात के दस-ग्यारह बज गये।

वहां लोग घबरा रहे थे--कुढ़ रहे थे। अन्त में बरात पहुंची। मेरी आदत सही-शाम को ही सोने की थी, जो शादी के कारण कुछ छूटनेवाली थी नहीं। मैं बरात पहुंचने के पहले ही पालकी में खूब सो गया था। पहुंचने के समय किसी तरह मैं जगाया गया और परिछावन की रसम अदा हुई। शादी की दूसरी रस्में भी एक-एक करके पूरी की गई। गरमी में दो दिनों का सफर और वह भी पालकी में। सांझ ही

सोने की आदत और उसपर इतनी थकावट । मेरे लिए जागते रहना कठिन समस्या थी । सब रस्में हो गईं और मेरा शुभ विवाह भी उसी रात को हो गया । मुझे आज वे रस्में भी पूरी तरह याद नहीं है और न यह याद है कि उनमें मेरा क्या हिस्सा रहा । लड़कपन में मेरी बहन गुड़ियों के विवाह का खेल किया करती और उसमें मैं भी शरीक हुआ करता था । यह विवाह मेरे लिए कुछ वैसा ही था । मैंने न तो विवाह के महत्त्व को समझा और न यह महसूस किया कि मेरे ऊपर कोई जिम्मेदारी आई । मेरा हाथ न विवाह का निश्चय करने में रहा था और न इन रसमों में । जो कुछ पंडित या हजाम या अपने घर की अथवा ससुराल की स्त्रियां बताती गईं, वह करता गया और अन्त में लोगों ने समझ लिया कि मेरा विवाह हो गया ! मुझे तो इतना भी ज्ञान नहीं हुआ कि क्या हुआ । हां, इतना समझ गया था कि मेरी भौजाई जिस तरह घर में आ गई थीं, उसी तरह एक दिन कोई मेरी बहू भी आ जायगी ।

हमारे यहां यह भी चाल है कि कहीं-कहीं शादी के बाद ही लड़की को नहीं लाते हैं । कुछ दिनों के बाद एक छोटी-मोटी दूसरी बरात जाती है और तब लड़की लाई जाती है । इसे 'दुरागमन' कहते हैं । मेरी शादी के बाद भी बहू साथ नहीं लाई गई । एक बरस के बाद दुरागमन की बरात गई और नबलाई गई ।बरात दो दिनों तक ठहरकर वापस आई । ससुराल के लोग, देर करके बरात पहुंचने और उनकी आशा के अनुकूल पूरी शान-शौकत की न होने के कारण, कुछ रंज थे । पर जब उन्होंने जेवर, कपड़े, मिठाई वगैरह--जो लड़की के लिए और दूसरों के लिए बर की ओर से दिये जाते हैं--देखा, तब उनका रंज दूर हो गया और सब लोग बहुत खुश हो गये । मैं समझता हूं कि वर को देखकर भी घर की स्त्रियां और दूसरे आये हुए लोग खुश होंगे, यद्यपि मेरे पास इसका कोई सबूत नहीं है !

एक साल के बाद दुरागमन हुआ और बहू घर में आई । दुरागमन की बरात शादी की बरात से छोटी हुआ करती है । इस बार एक या दो हाथी मिल गये थे और बरात में गये भी थे । हमारे यहां पर्दा बहुत सख्त होता है । मैंने देखा था कि जब मेरी भौजाई आईं तो उनके साथ दो दाइयां आई थीं और वह केवल उन दोनों से ही बातें कर सकती थी ! जीरादेई में एक कमरे में रहती थीं । कभी ओसारे में भी निकलने की इजाजत नहीं थी ! उन दिनों ऐसे ही पुरूष नौकर घर के अन्दर जा सकते थे जो उम्र में बहुत कम होते थे और जिनका जन्म हमारी मां-चाची के सामने गांव

में हुआ था और जो बहुत बचपन से अपनी मां के साथ आंगन में आया-जाया करते थे। जो सयाने नौकर थे, वे भीतर नहीं जाते थे। एक रसोईदार था, जो रसोई बनाने के लिए आंगन में जाता था। मगर वह भी जाने के पहले पुकार लेता और हमारी मां-चाची कमरों में चली जातीं, तब वह जाता और रसोईघर में घुस जाता। वहां से अगर किसी चीज की जरूरत होती तो वह किसी लौंड़ी को पुकारकर मांग लेता और बाहर जाने के समय फिर उसी तरह पुकारकर सबको हटा देने के बाद ही वह बाहर जाता।

मेरी भौजाई तो कमरे से बाहर निकलती ही न थीं। हां, नित्य-क्रिया के लिए जाने के समय पहले सब लोग हटा दिये जाते। लोगों में दूसरा कोई आंगन में रहता ही नहीं था। अगर कोई छोटा लड़का होता तो वह भी हटा दिया जाता। इतने से भी काफी पर्दा नहीं होता और उनके नैहर की दाइयां कपड़े का पर्दा लगाकर उनको ले जातीं। मैं बहुत छोटा था। इसलिए मैं कभी खेलता-कूदता उनके कमरे में चला जाता और शायद दो-एक बार उनका मुंह भी मैंने देख लिया था। मेरी मां, चाची और बहन भी जब उनके कमरे में जाती तो वह घूंघट तान के बैठ जातीं। जीरादेई की कोई दाई भी वाहं जाने नहीं पाती थी।

जब मेरी स्त्री दुरागमन के बाद आई तो उनके साथ भी यही सब बखेड़ा रहा। यह बहुत दिनों तक चला और आहिस्ता-आहिस्ता कम हुआ। नैहर की दाइयां चली गयीं। जीरादेई की एक दाई आने-जाने लगी। उससे कुछ-कुछ बातें करने की इजाजत हुई। जबतक मेरी मां जीती रहीं तबतक न तो मेरी भौजाई और न मेरी स्त्री ही कभी अपने कमरे से निकलकर आजादी के साथ आंगन में घूम-फिर सकीं या बैठ सकीं। मेरी हालत यह थी कि मैं जब कभी गांव पर छुट्टियों में आता, बाहर ही सोता। रात के समय जब सब लोग सो जाते तो मां दाई को भेजती कि जगा लाओ और वह जगाकर मुझे ले जाती और उस कमरे में छोड़ देती, जिसमें मेरी पत्नी रहतीं। नींद के मारे मुझे उस वक्त रात को जागना कठिन हो जाता। अक्सर मैं, कितनी भी कोशिश होती, जागता ही नहीं। दूसरे दिन मां या चाची डांटती कि रात को जागते नहीं और बुलाने पर भी आते नहीं। सवेरे जब सब लोग सोये ही रहते उठकर चला आना होता और बाहर की चारपाई पर सो जाता, जिसमें किसी को यह पता न चले कि रात को कहीं दूसरी जगह गया था! यहां तक कि साथ के नौकर

को भी इसका पता कम ही लगता ।

पर्दा के कारण इस तरह स्त्री-पुरूष की मुलाकात होती । मैं तो लड़कपन से ही अधिक घर के बाहर ही रहा । जब कभी घर पर छुट्टियों में जाता तभी मुलाकात का मौका होता और वह भी इस प्रकार से ! इसलिए अगरचे आज विवाह हुए प्राय: चवालीस-पैंतालीस बरस हो गये होंगे, पर शायद ही सब दिनों के गिनने के बाद भी हम दोनों इतने महीने भी एक साथ रहे हों । पढ़ने का समय पटना, छपरा, कलकत्ता में कटा । वकालत के जमाने में भी मैं कलकत्ते में बराबर अकेला ही रहा और पटने आने पर भी दो ही एक बार घर के लोग साथ थोड़े दिनों के लिए रहे । असहयोग आरम्भ होने के बाद तो घर जाने का समय और भी कम मिला है और घर के लोगों को साथ रखने का न तो सुभीता रहा और न काम की झंझटों में फुरसत रही ।

: ७ :

हथुआ-स्कूल में दाखिल : छपरा-स्कूल में वापस

भाई एफ० ए० की परीक्षा पास कर गये । उनकी इच्छा हुई कि वह कलकत्ते में जाकर मेडिकल कालेज में पढ़ें । उन दिनों बिहारी लोगों में शायद ही कोई मेडिकल कालेज में पढ़ता था । एक तो कलकत्ता जाना और वहां का खर्च जुटाना ही मुश्किल । दूसरे, वहां बिहारियों के लिए जगह मिलनी भी मुश्किल ! जब उनके कलकत्ते जाने की बात तय हो गई तो सवाल हुआ कि मैं कहां पढूं । मेरे लिए कलकत्ता जाना उचित नहीं समझा गया । भाई कलकत्ते गये, मैं पटने से नाम कटाकर हथुआ-स्कूल में नाम लिखाने के लिए भेजा गया । वहां की हालत कुछ विचित्र थी । पढ़ाने-लिखाने का तरीका छपरा-जिला-स्कूल और पटना टी० के० घोष एकेडेमी से कुछ जुदा था । पहले तो नाम लिखाने में ही थोड़ी दिक्कत हुई । मास्टर ने कहा कि वह परीक्षा लेकर नाम लिखेंगे ।

खैर, किसी तरह नाम लिखा गया । पढ़ाई का तरीका यह था कि जो कुछ सबक दिया जाता था, खास करके इतिहास में, उसे दूसरे दिन कण्ठस्थ करके आना चाहिए और मास्टरसाहब कहते, सबक सुनाओ, और सब शुरू से अखीर तक किताब बन्द करके जबानी सुनाना पड़ता । मेरी आदत इस प्रकार बिना समझे-बूझे किसी चीज को जबानी रटने या सुनाने की नहीं थी और शाब्दिक स्मरणशक्ति भी कमजोर थी । मैं प्रायः छः महीने तक उस स्कूल में रहा, पर शायद एक दिन भी सबक पूरा याद नहीं कर सका । कोशिश का कमी मुझमें नहीं थी, पर मैं कर ही नहीं सकता था । किसी ने मुझसे कह दिया था कि अगर किसी चीज को एक सौ बीस बार दुहरा दिया जाय तो वह जरूर कण्ठस्थ हो जाती है । मैं बहुत मेहनत करके एक सौ बीस बार दुहराने का भी प्रयत्न करता, पर तो भी पन्ने-का-पन्ना कण्ठस्थ नहीं कर सकता । मेरी आदत सही शाम सो जाने और सवेरे चार बजे के करीब उठ जाने की थी । हथुआ में एक सौ बीस बार दुहराने के लिए मैं कभी-कभी डेढ़-दो बजे रात में ही उठ जाता । तो भी सबक पूरा न कर पाता । स्कूल में मास्टर हालत देखकर कभी-कभी कुढ़ते और कहते कि यह चौथे दर्जे में भरती करने लायक था ही नहीं और धमकी देते कि पांचवें क्लास में तुमको वापस कर दिया जायगा । यह सब मेरे लिए मार्मिक

दर्द का कारण होता और जैसे दुःख के दिन मेरे वहां कटे और कहीं पढ़ने के दिनों में नही कटे । कभी-कभी मैं सोचता कि शायद अगर क्लास न लांघे होता तो यह दशा नहीं होती ।

अन्त में मैं बहुत बीमार पड़ गया और सालाना इम्तहान के समय तक बीमार ही रहा । सालाना इम्तहान दे देता तो किसी प्रकार पास भी कर जाता और तरक्की भी हो जाती । छुट्टियों में भाई घर आये और सब हाल उन्होंने देखा-सुना तो उनकी राय हुई कि सालाना इम्तहान देकर तरक्की लेने की जरूरत नहीं है, इस स्कूल को छोड़कर छपरा-जिला-स्कूल में फिर वापस जाना ही अच्छा होगा । ऐसा ही निश्चय हुआ और मैं वहां से फिर छपरा-स्कूल में चौथे क्लास में ही दाखिल हुआ ।

उधर भाईसाहब की भी अजीब हालत रही । मेडिकल कॉलेज में किसी कारण से उनका नाम नहीं लिखा गया और वह फिर पटने में वापस आकर बी० ए० क्लास में पढ़ने लगे । चूंकि मेरा नाम हथुआ-स्कूल में लिखा जा चुका था, वहां से तुरन्त फिर पटने ले जाना उचित नहीं समझा गया और छः महीनों तक मैं हथुआ में ही रहा ।

स्कूल की पढ़ाई पर ही मैं भरोसा रखता था । घर पर पढ़ाने के लिए कभी कोई मास्टर नहीं रखा गया था । हथुआ की पढ़ाई की परेशानी के कारण हैरान होकर मैं एक मास्टर के घर पर जाया करता, जो एक प्रकार के सम्बन्धी भी होते थे । वह पढ़ा भी दिया करते, पर सबक एक दिन भी मैं पूरा नहीं कर सका । उस स्कूल से चला आना मेरे लिए एक बड़ी बात हुई । छपरा पहुंचते ही मानो खोई हुई बुद्धि फिर लौट आई । चौथे दर्जे में छपरा-स्कूल में बहुत लड़के थे, इसलिए उसके तीन भाग हो गये थे । वहां एक बंगाली मास्टर श्री रसिकलाल राय थे । वह एक सेक्शन के, जिसमें मैं था, क्लास-मास्टर थे । बड़े सज्जन थे । पढ़ाने का तरीका भी बहुत अच्छा था । लड़कों के साथ बहुत प्रेम रखते और लड़के भी उनको बहुत मानते थे । यद्यपि वह मेरे क्लास के मास्टर थे, पर दूसरे सेक्शन में भी पढ़ाया करते और चौथे दर्जे के प्रायः सभी छात्रों को जानते थे । उनकी मेरे ऊपर बड़ी कृपा हो गई । चौथे क्लास में छात्रों की संख्या केवल अधिक ही नहीं थी, अच्छे-अच्छे छात्र भी थे, जिनमें कई तो मिडिल स्कूल के पास करके छात्रवृत्ति लेकर आये थे । उनका गणित, भूगोल और इतिहास का ज्ञान अच्छा था--चूंकि यह विषय वे हिन्दी में पढ़ चुके थे और यहां पढ़े

हुए विषयों को ही अंगरेजी के माध्यम द्वारा दुहाना था। थोड़े ही दिनों में मास्टर ने महसूस किया और मेरे साथियों ने समझा कि मैं भी तेज लड़कों में एक हूं।

रसिकबाबू मुझे विशेष प्यार करने लगे। मैं इतने लड़कों के बीच किसी भी परीक्षा में अभी अव्वल स्थान नहीं पा सकता था, पर रसिकबाबू ने मुझसे उन्हीं दिनों कहा कि देखो, मेहनत करो--अन्त में तुम्हारा और रामानुग्रह का ही मुकाबला रहेगा और दूसरे साथी तेज होने पर भी तुमसे नीचे हो जायेंगे। न मालूम उन्होंने क्यों ऐसा कहा। पर बात ऐसी ही हुई--केवल उनकी भविष्यवाणी पूरी होने में दो-तीन साल लग गये। सालाना इम्तहान में मेरा स्थान चौथा हुआ। कुछ इनाम मिला, मगर दूसरों को अधिक मिला। तीसरे दर्जे में भी उन्होंने पढ़ाया और एक दूसरे मास्टर ने भी, जिनकी स्मृति आज भी वैसी ही बनी रहती है और जो आज भी जीवित हैं। उनका नाम बाबू राजेन्द्रप्रसाद है। वह इतिहास पढ़ाया करते थे और उनका ऐसा सुन्दर तरीका था कि सब बातें कथा की तरह याद हो जातीं। हथुआ के तरीके के ठीक उलटा तरीका उनका था। अपनी भाषा में जो सब बात अच्छी तरह अदा कर देता, वही अच्छा समझा जाता। मैं यह आसानी से कर सकता था। हथुआ में मेहनत करके बरजबान करने की जो कोशिश की थी, उससे बीच-बीच में अच्छे लच्छेदार शब्द और वाक्य भी आ जाते। अपनी समझदारी और बरजबान करने के प्रयत्न दोनों मिलकर अच्छा रंग बांधते और मास्टरसाहब उसे बहुत पसन्द करते।

तीसरे से दूसरे दर्जे में तरक्की हुई और सालाना इम्तहान में मैंने तीसरा स्थान पाया। इसी प्रकार दूसरे से अव्वल दर्जे में जाने से पहले जो परीक्षा हुई, उसमें मैं अव्वल और रामानुग्रह दूसरे स्थान में आये। रसिकबाबू की बात पूरी हुई। मेरे साथ-ही-साथ मानो रसिकबाबू की भी तरक्की होती गई और चौथे से तीसरे, तीसरे से दूसरे और दूसरे से पहले दर्जे में वह पढ़ाने लगे। हां, इस बीच में बाबू राजेन्द्रप्रसाद की बदली हो गई और रसिकबाबू भी कुछ दिनों के लिए दूसरे स्कूल में चले गये थे। राजेन्द्रबाबू तो वापस नहीं आये, पर रसिकबाबू वापस आ गये। हम लोगों की, खास करके, मेरी खुशी का ठिकाना न रहा।

रसिकबाबू केवल पढ़ाने में ही पटु न थे, लड़कों के चरित्र पर भी ध्यान रखते थे। स्कूल के मास्टरों में से मेरे ऊपर सबसे अधिक और गहरी छाप उनकी ही पड़ी। यों तो बाबू राजेन्द्रप्रसाद की भी और मौलवीसाहब का, जो फारसी पढ़ाते थे,

काफी असर रहा, मगर रसिकबाबू तो मानो घर के आदमी थे । उनसे डर भी लगता और प्रेम भी था । वह पढ़ाते भी और अच्छी बातें बताकर विचार भी सुधारते । यद्यपि मैं पटने में दो बरस तक रह आया था, तथापि इतनी कम अवस्था में रहा कि मुझे कोई विशेष ज्ञान नहीं हुआ था । रसिकबाबू कुछ देश की बातें भी बताते थे । कैसे पढ़कर आदमी ऊंचे दर्जे पर पहुंच सकता है, इस ओर भी ध्यान दिलाते । जब मैं एण्ट्रेन्स क्लास में पहुंचा, उन्होंने साफ कह दिया कि मेहनत करो--तुम यूनिवर्सिटी में ऊंचा स्थान पा सकते हो । मैंने इसका अर्थ ही नहीं समझा । मैंने इतना ही समझा कि शायद छात्रवृत्ति मिल जाय ।

जिस समय मैं दूसरे दर्जे का सालाना इम्तहान दे रहा था, छपरे में बहुत जोरों से प्लेग की बीमारी जारी थी । दो दिन परीक्षा देने के बाद मेरे गले में सूजन आ गया और बहुत ज्वर चढ़ आया । मैं तीसरे दिन से परीक्षा में नहीं बैठा सका । घर पर खबर गई । बाबूजी घबराकर आ गये और मुझे जीरादेई ले गये । वहां उन्होंने खुद दवा की और मैं नीरोग हो गया । मालूम नहीं कि मुझे प्लेग हुआ था या केवल गलसुआ, पर शुबहा प्लेग का ही था । काफी घबराहट रही । इसी घबराहट में ठीक समय पर स्कूल की फीस नहीं दी गई । नाम कट गया । परीक्षा का फल देखा गया तो दोनों विषयों में मैं अव्वल आया था । नम्बर भी इतना अधिक आया था कि बाकी दो विषयों में परीक्षा दिये ही बिना पास करने के लिए वह काफी समझा गया । उन्हीं दिनों नये हेडमास्टर बदलकर आ गये थे । उन्होंने मेरी गैरहाजिरी में ही तरक्की दे दी थी । पर तरक्की होने पर भी फीस न देने के कारण, नाम तो कट ही गया । जब मैं अच्छा हुआ तो कुछ दिनों बाद गया और फिर से नाम लिखाकर पढ़ने लगा ।

एक दिन रसिकबाबू ने मुझसे कहा, तुम्हारा नाम कट जाना अच्छा नहीं हुआ । कायदे के मुताबिक एण्ट्रेंस पास करने पर उसी लड़के को छात्रवृत्ति मिल सकती है, जो कम-से-कम पूरा एक साल एक स्कूल में पढ़ता रहा हो । अब तुम नम्बर पाने पर भी छात्रवृत्ति नहीं पा सकोगे । मगर एक उपाय करो । एक दर्खास्त डाइरेक्टर के पास अपने पिताजी से भिजवाओ कि वह तुमको इस कायदे से बरी करा दे । एक दर्खास्त मैंने लिखवाकर दी । उसमें यह बात लिखी गई कि प्लेग हो जाने के कारण मैं घर पर रह गया और फीस नहीं दी जा सकी, जिस वजह से नाम कट गया । इसके

अलावा परीक्षा का फल इत्यादि दिखलाकर यह कहा गया था कि आशा की जाती है कि छात्रवृत्ति मिल सकेगी, पर यह नियम बाधक होता है। हेडमास्टर ने दर्खास्त देखकर कहा कि यह फजूल है, नियम बदलने का अख्तियार डाइरेक्टर को भी नहीं है, इसलिए मैं कैसे दर्खास्त पर सिफारिश कर सकता हूं, मुझे क्या मालूम कि तुमको प्लेग हुआ था या नहीं। इलाज तो डाक्टर का हुआ नहीं था, इसलिए डाक्टर का सर्टिफिकेट भी मैं नहीं दे सकता था। खैर, उन्होंने बिना किसी सिफारिश के ही दर्खास्त ऊपर भेज दी।

रसिकबाबू को इसका अफसोस रहा कि हेडमास्टर ने सिफारिश नहीं की। वह समझते थे कि शायद ऐसी हालत में डाइरेक्टर मंजूर न करे। उन्होंने मुझे सान्त्वना दी कि खैर, दर्खास्त देने से कोई नुकसान तो होता ही नहीं। कायदा था कि दर्खास्त डाइरेक्टर के पास इंस्पेक्टर के मार्फत ही जा सकती थी। इसलिए, यद्यापि वह डाइरेक्टर के लिए थी, तथापि पहले इंस्पेक्टर के पास गई। इंस्पेक्टर ने दर्खास्त पढ़कर उसे डाइरेक्टर के पास भी भेजना जरूरी नहीं समझा और उसे मंजूर करके पत्र लिख भेजा। हेडमास्टर ने मुझसे क्लास में ही कहा कि तुम्हारी दर्खास्त इंस्पेक्टर ने ही मंजूर करके वापस की है। साथ ही, यह भी कहा कि मैं नहीं जानता, इंस्पेक्टर को इसे मंजूर करने का कोई अधिकार है; पर तुमको अब चिन्ता नहीं करनी है।

रसिकबाबू सुनकर बहुत खुश हुए और मुझे अधिक प्रोत्साहन देने लगे, यहां तक कि वह बिना कुछ लिये अपने घर पर भी बुलाकर सब विषयों में, जहां-कहीं मुझे दिक्कत मालूम होती, बता देते और रोज-रोज ताकीद करते कि इस तरह पढ़ो, यह पढ़ो, वह पढ़ो। उनके दिल में यह बात बैठ गई थी कि मैं यूनिवर्सिटी में भी ऊंचा दर्जा पा सकूंगा। मुझे इसका पता तक नहीं था कि यूनिवर्सिटी में भी मुझ जैसा आदमी ऊंचा दर्जा पा सकता है।

उन दिनों तीन प्रकार की छात्रवृत्तियां मिला करती थीं। दो या तीन, दस रूपयों की, जो जिले-भर में अव्वल दो या तीन लड़कों को--दूसरी दो या तीन, पन्द्रह रूपये मासिक की, जो डिवीजन भर में, जिसमें उन दिनों आजकल के पटना और तिरहुत डिवीजनों के सात जिले शामिल थे, अव्वल दो या तीन लड़कों को--और तीसरी बीस रूपये मासिक की, जो सारी यूनिवर्सिटी-भर में अव्वल दस लड़कों को मिलती थी। बिहार सूबा बंगाल का हिस्सा था और कलकत्ता यूनिवर्सिटी का अधिकार बंगाल,

बिहार, उड़ीसा, आसाम और बर्मा पर था । एक ही परीक्षा होती थी और इन सब सूबों के लड़कों में जो सबसे ऊपर आते उन दस लड़कों को ही बीस रूपयों की छात्र-वृत्ति मिलती । मेरी उच्चभिलाषा हद-से-हद दस रूपया या पन्द्रह रूपयों की छात्र-वृत्ति पाने तक जा सकती थी । इससे ऊपर कभी गई ही नहीं । पर इसके लिए भी मैं समझता था कि काफी परिश्रम की जरूरत है, इसलिए मैं काफी मेहनत करता था ।

यूनिवर्सिटी की परीक्षा के पहले स्कूल में परीक्षा हुआ करती । इसमें जो लोग पास होते उनको ही यूनिवर्सिटी की परीक्षा में शामिल होने की इजाजत मिलती । मैं इस परीक्षा में बहुत नम्बर पाकर सबसे ऊपर आया । यूनिवर्सिटी में परीक्षा देने की आज्ञा तो मिली । पर एक अड़चन का भी सामना करना पड़ा । एक विषय था ड्राइंग, जो ऐच्छिक था । पर छात्रवृत्ति के लिए फल जांचने में उसका भी नम्बर जोड़ा जाता था । यद्यपि ड्राइंग के मास्टर ने ड्राइंग में यूनिवर्सिटी में परीक्षा देने की इजाजत देने से इनकार कर दिया । ड्राइंग में बीस या पच्चीस नम्बर मिल सकते थे । यदि उसमें परीक्षा ही न दूं तो ये बीस या पच्चीस नम्बर मिलेंगे ही नहीं और छात्रवृत्ति मिलना कठिन हो जायगा । बहुत कहने-सुनने पर मास्टर ने इस शर्त पर इजाजत दी कि उस दिन से परीक्षा के समय तक कम-से-कम एक घंटा रोज ड्राइंग बनाया करूं । मैंने शर्त मान ली और पूरी भी की । अच्छा ही हुआ, क्योंकि शायद ऐसा न करता तो ड्राइंग में पच्चीस नम्बर नहीं आते और जो स्थान मुझे मिला वह नहीं मिलता । अन्त में परीक्षा के दिन निकट आये और मैं कुछ रोज पहले ही परीक्षा देने पटने चला आया ।

परीक्षा हुई और पटने से मैं घर आया । भाई भी छुट्टियों में घर आये । उन्होंने कलकत्ते से वापस आकर पटने में नाम लिखाया, पर बहुत बीमार पड़ गये । डाक्टर की राय से वह पढ़ने के लिए इलाहाबाद चले गये । वहां के म्योर सेण्ट्रल कालेज से उसी साल वह बी० ए० पास कर चुके थे । एम० ए० और बी० एल० पढ़ने के लिए वह फिर कलकत्ते चले गये थे । इलाहाबाद और कलकत्ते में रहने के कारण वहां से छुट्टियों में आकर वह बहुत बातें कहा करते । मैं उन बातों को बड़ी श्रद्धा से सुना करता और जहांतक हो सकता उनको माना भी करता । शायद १८९९ में वह इलाहाबाद से घर आये थे और उन्होंने स्वदेशी की बात कही थी । स्वदेशी कपड़े भी

वहां से साथ लाये थे। मैंने उसी समय से स्वदेशी कपड़ा पहनना शुरू किया। जब तक गांधीजी के खद्दर की बात नहीं उठाई, स्वदेशी कपड़े ही बराबर पहनता रहा। केवल एक बार कुछ विलायती कपड़े खरीदे थे, जिनका जिक्र आगे आवेगा, नहीं तो उसी समय से भाई ने स्वदेशी कपड़े का इस्तेमाल खुद शुरू किया और मुझसे भी शुरू कराया। उन्होंने तो फिर कभी विदेशी कोई कपड़ा खरीदा ही नहीं। खद्दर के चल जाने पर खद्दर के सिवा दूसरे प्रकार का स्वदेशी भी कभी नहीं खरीदा।

स्वदेशी का विचार केवल कपड़ों तक ही सीमित नहीं रहा। जहांतक हो सकता था, और चीजों के खरीदने में भी इसका ख्याल रखा जाता था। यूनिवर्सिटी के इम्तहान देने के लिए खास करके देशी कलम और निब भी मैंने ली थी और ऐसी-ऐसी चीजें भाई बराबर इलाहाबाद और कलकत्ते से ला दिया करते। मुझे अब शक होता है, कि बहुत चीजें जिनको हम अपने भोलेपन से स्वदेशी जानकर खरीद लेते थे, शायद स्वदेशी नहीं थीं और दुकानदार हमको ठग लिया करते थे। पर हमारी श्रद्धा अटल थी और हम अपने जानते उनको स्वदेशी समझकर ही लेते थे।

गर्मी की छुट्टियों में हम सब संध्या के समय टहलने जा रहे थे कि किसी ने आकर कहा कि परीक्षा-फल गजट में निकल गया। हम लोग सीवान गये तो केवल इतना ही मालूम हुआ कि हमने पहले दर्जे (फर्स्ट डिविजन) में पास किया है। अभी छात्रवृत्ति की घोषणा नहीं हुई थी। कुछ दिनों के बाद उसी प्रकार एक दिन संध्या को टहलने के समय एक आदमी ने आकर एक तार दिया, जिसमें लिखा था कि मैं यूनिवर्सिटी में अव्वल आया हूं। भाई ने तार पढ़ा और बहुत खुश हुए। हम लोग दौड़ते-दौड़ते घर आये और बाबूजी से कहा। भाई ने उनको समझाया कि यूनिवर्सिटी में अव्वल आने का क्या अर्थ है। बाबूजी की तथा घर में मां और सब लोगों की खुशी का ठिकाना न रहा। मैंने, भाई की राय से, पहले से ही ठीक कर रखा था कि पास करने पर मैं कलकत्ते के प्रेसिडेन्सी कालेज में ही पढ़ूंगा। एण्ट्रेन्स की परीक्षा की दर्खास्त भेजने के समय उसमें भी लिख दिया था कि छात्रवृत्ति अगर मिलेगी तो में उसे प्रसिडेन्सी कालेज में ही, पढ़कर भोगूंगा। उसी निश्चय के मुताबिक मेरा कलकत्ते जाना जल्दी ही तय पा गया।

छपरा-स्कूल में पढ़ने के समय मैं वहां एक पंडितजी के साथ रहा करता था, जो बड़े नामी ज्योतिषी थे और आज भी हैं। उनका नाम है पंडित विक्रमादित्य मिश्र।

वही मेरे अभिभावक के स्थान पर थे। वह स्वयं विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे। प्रतिदिन सरजू-स्नान किया करते--किसी दूसरे का छुआ हुआ जल तक भी ग्रहण नहीं करते। पूजा-पाठ खूब हुआ करता। वहीं पर एक छोटी ठाकुरबारी भी हथुआ-राज की थी। इन सबका असर हम छोटे लड़कों के दिल पर वैसा ही पड़ा जैसा पड़ना चाहिए। हम लोग अपने को कट्टर सनातनी समझते और अगर कोई आर्यसमाजी आ जाता तो उससे बहस भी छेड़ देते। स्कूल में महामहोपाध्याय रघुनन्दन त्रिपाठी हेडपंडित थे। स्कूल में मैं फारसी पढ़ता था, पर उनके द्वारा घर पर कुछ संस्कृत पढ़ना भी आरम्भ किया। लघुकौमुदी के कुछ सूत्र घोख भी लिये; पर इसको जारी नहीं रख सका। छपरा-स्कूल के संस्मरण आज भी दिल पर असर रखते हैं, जो सुन्दर और सुखमय हैं।

मुझे याद है कि छुट्टियों के अलावा मैं कभी घर नहीं जाता था। छुट्टियों में घर जाने पर मां अक्सर कुछ अधिक दिनों तक वहां रोक लेना चाहतीं। पर मैं इसपर जल्दी राजी न होता। छुट्टियों में तो जीरादेई में खूब खेलना ही एक काम रहता और सारा समय प्रायः चिक्का में लगता। भाई भी घर आ जाते और हम लोगों के साथ खेल में शरीक होते।

छपरे का जीवन बहुत सादा था। पास में रूपये शायद ही कभी रहते। वहां एक मोदी से तय था कि वह सब चीजें हमें दिया करेगा। यह प्रथा छपरे में भाई के पढ़ने के समय से चली आती थी। रोजाना पुर्जा लिखकर उसी मोदी के यहां से चावल, दाल, घी, लकड़ी और जलपान के लिए कचौरी-मिठाई भी आ जाती। वह जाति का हलवाई था। इसलिए वह सब चीजें दे सकता था। इसी प्रकार एक कुंजड़िन थी, जो तरकारी पहुंचा देती। मोदी जीरादेई आता और पुर्जों को पेश करता, हिसाब होता और उसे रूपये वहीं मिल जाते। कुंजड़िन को जीरादेई नहीं आना पड़ता। उसका हिसाब करके वहीं एक कारपरदाज दे देते थे, जो मामला-मुकदमा देखने के लिए छपरे जाया-आया करते। स्कूल की फीस के लिए रूपये भी वही देते। अगर कपड़े की जरूरत होती तो वही खरीद देते। इस प्रकार छपरे में पढ़ने के समय मेरे हाथों में रूपये शायद ही कभी आते।

घर की अवस्था कुछ अच्छी नहीं थी। जमींदारी तो उतनी ही थी जितनी बाबा और नूनू के समय में। मगर उन लोगों के मरने के बाद से बाबूजी कुछ तरद्दुद में पड़ गये थे। हम लोगों के खर्च के लिए नगद रूपये जुटाने में उन्हें कष्ट होता। मोदी

को भी हमेशा नगद जीरादेई में नहीं मिलता। कभी-कभी किसी गांव के तहसीलदार के नाम चिट्ठी मिलती और वह जीरादेई से उस गांव पर जाता और वहां से रूपये लेता। छपरे का खर्च कम था और इस तरह किसी प्रकार चल जाता। मुझे कभी रूपये की कमी का अनुभव नहीं हुआ। एक और कारण यह था कि भाई इसपर ध्यान रखते और जब छुट्टियों में आते तो कुछ-न-कुछ प्रबन्ध करा जाते। पर भाई का खर्च महीने-के-महीने इलाहाबाद भेजना पड़ता। इसमें बाबूजी को प्रायः कष्ट हुआ करता। पर उन्होंने निश्चय कर लिया था कि चाहे जो हो, लड़कों को पढ़ाने का खर्च किसी तरह से जुटाना ही होगा।

एक दीवान थे, जो जमींदारी का इन्तजाम किया करते थे। वह बाबा के समय से ही थे और जमींदारी का पूरा हाल जानते थे। बाबूजी ने बाबा के रहते जमींदारी देखी नहीं थी, इसलिए उन्हें दीवानजी पर भरोसा करना पड़ता। मुझे याद है, भाई को परीक्षा का फीस देनी थी; उनका पत्र आया कि किसी निश्चित तिथि के पहले पचास या साठ रूपये फीस दाखिल कर देनी होगी, नहीं तो एक साल के लिए इम्तहान से वंचित रहना होगा। रूपये बाबूजी के पास थे नहीं। दीवानजी देहात से रूपये दे नहीं सके। बाबूजी बहुत तरद्दुद में पड़े। मां का सोने का कंठा बन्धक रख कहीं से रूपये मंगाकर समय पर भेजे। सबकुछ रहते हुए ऐसी अवस्था पहुंच गई थी कि कभी-कभी रसोई बनने में भी देर हो जाती थी। भाई समझते थे कि यह सबकुछ दीवानजी की बदइन्तजामी से है और बहुत कुढ़ते थे, पर कुछ कर नहीं सकते थे। छुट्टियों में एक बार आकर उन्होंने कुछ कारबार संभालना शुरू किया ; पर जबतक इलाहाबाद पढ़ते रहे, कुछ विशेष कर नहीं सके।

जमींदारी की आमदनी सालाना प्रायः सात-आठ हजार की थी, जिसमें सरकारी मालगुजारी देकर पांच से छः हजार की बचत थी। सैकड़ों बीघे जीरात के खेत थे, जिनमें काफी धान, गेहूं, मकई, अरहर, जव इत्यादि होते और ऊख से गुड़ बनाकर कुछ नगद रूपये भी आ जाते। यही खेत थे जो हमारे बचपन में हमेशा इतना अन्न दिया करते कि घर भरा रहता। गाय-भैंस दूध काफी दे देती और कई जोड़े बैल भी रहते। पर इस समय न मालूम क्या हो गया था कि घर-खर्च के लिए भी पूरा धान नहीं होता और अन्न भी खरीदना पड़ता। बाबूजी ने नुकसान-ही-नुकसान देखकर कुछ दिनों के लिए खेती का काम बन्द भी कर दिया था। वे दिन कुछ दुःख के थे,

पर बाबूजी धीरज से रहते और लोगों से बातों में कहा करते कि हमारे दोनों लड़के ही हमारे धन हैं ।

इस सम्बन्ध में एक और घटना यहां कह देने योग्य है । नूनू के मरने के बाद बाबा और बाबूजी रह गये । हम लोग बच्चे थे । हम ऊपर कह चुके हैं कि बाबा ने ही सारी जमींदारी खरीदी थी और सबकुछ उनका ही उपार्जन किया हुआ था । नूनू के केवल एक लड़की थी । नूनू के मरने के बाद किसी ने बाबा को समझाया कि उनके (बाबा के) मरने के बाद उस लड़की को और हमारी चाची को कष्ट हो सकता है, इसलिए कुछ-न-कुछ प्रबन्ध कर देना चाहिए । बाबा ने एक वसीयतनामा लिखने का निश्चय किया और वह सीवान से तैयार होकर आया । उसके अनुसार चाची के खर्च के लिए प्रायः एक हजार रूपये सालाना की आमदनीवाले दो गांव उनकी जिन्दगी तक के लिए दिये गये थे और बहन को सारी जमींदारी में से सात आने का हिस्सा दिया गया था, और हम लोगों को बाकी नौ आने ।

खानदान बराबर इजमाल रहा था, इसलिए यह निश्चित नहीं था कि बाबा इस प्रकार की वसीयत करने के अधिकारी थे या नहीं । बगैर वसीयत के उनके मरने पर सारी सम्पत्ति के मालिक बाबूजी हो जाते, चाची केवल खोरिश की हकदार होतीं और लड़की को कोई हिस्सा न मिलता । इसलिए कुछ लोगों ने सलाह देकर वसीयत करने की बात बाबा को सुझाई । बाबूजी को इसकी खबर नहीं दी गई । सबकुछ तैयार हो जाने पर एक दिन रजिस्ट्रार रजिस्ट्री करने के लिए जीरादेई आये । लोगों ने राय दे दी कि बाबूजी अगर वसीयतनामे पर हस्ताक्षर कर देंगे तो फिर उनको उसके खिलाफ आवाज उठाने का हक नहीं होगा और सब बात पक्की हो जायगी । रजिस्ट्रार के जीरादेई पहुंचने पर ही बाबूजी को सब बातें मालूम हुईं । बाबा ने उनसे हस्ताक्षर कर देने को कहा । बाबा के दिल में कुछ सन्देह पैदा कर दिया गया था कि बाबूजी इसमें शायद उज्र करेंगे । बाबूजी ने बाबा से साफ-साफ कहा कि आप जो हुकुम दें, मुझे मंजूर है, आप ही ने हमको पाला-पोसा है, आप ही ने सबकुछ पैदा किया है, आप अगर सोलह आने भी चन्द्रमुखी को दे दें तो मुझे कुछ उज्र नहीं है, मेरे लिए धन तो दोनों लड़के हैं, उनको आप आशीर्वाद दे दें । हम लोग भी वहां बुलाये गये । बाबा फूट-फूटकर रोने लगे और उन लोगों को गालियां देने लगे जिन लोगों ने बातें बनाकर उनके मन में तरह-तरह के सन्देह पैदा करने का प्रयत्न किया था । बाबूजी ने गवाही

बना दी और वसीयतनामा को रजिस्ट्री करके रजिस्ट्रार चले गये ।

दुर्भाग्यवश, जिस समय मैं हथुआ-स्कूल में पढ़ता था, उसी समय, कुछ दिनों तक बीमार रहकर, हजार कोशिश के बाद भी, चन्द्रमुखी अविवाहित मर गई । चाची बहुत दिनों तक जीती रहीं और मिली हुई आमदनी को तीर्थ-व्रत में खर्च करती रहीं । उनके मरने के बाद सारी जमींदारी हम दोनों भाइयों को पूरी-पूरी मिल गई । वह प्रायः सभी तीर्थों में गई थी । इसमें उनका साथ देनेवाली मेरी विधवा बहन थीं, जो विधवा होने के बाद से बराबर मेरे ही घर में रही हैं और अभी तक हैं । इन दोनों में तीर्थ-व्रत में मानो होड़ होती थी और शायद ही कोई स्नान या समैया होता हो, जिसमें ये शरीक न होती हों । दोनों ने चारों धाम अर्थात् जगन्नाथ, रामेश्वर, द्वारका और बदरीनाथ के दर्शन किये । बहन तो बदरीनाथ दो-तीन बार गई हैं । मेरी मां घर पर ही रहतीं, कभी-कभी तीर्थ में जातीं । मुझे याद है कि स्कूल में पढ़ने के जमाने में ही एक बार मां-चाची और बहन के साथ मैं अयोध्याजी और दूसरी बार मथुरा-वृन्दावन दर्शनार्थ गया था । इन यात्राओं में खर्च काफी पड़ता था और तकलीफ भी काफी होती थी । उस समय मैंने अनुभव किया कि तीर्थों में पंडा लोग बड़ा काम किया करते हैं । उनके ही घर में हम लोग ठहरे थे । वहांपर वे लोग बराबर साथ घूम-घूमकर सब स्थानों में दर्शन कराते और किसी प्रकार की तकलीफ नहीं होने देते । किसी जमाने में, जिसका मुझे स्मरण नहीं है, बाबा, बाबूजी, नूनू वगैरह भी इन तीर्थों में गये थे और वहां के पंडों की बहियों में उनके नाम लिखे हैं । पंडों के लिए कुछ-कुछ सालाना की तरह पर भी मुकर्रर था, जो वे हर साल जीरादेई आकर ले जाते थे । इन कारणों से वे हम लोगों की विशेष खातिरदारी करते और हमारी यात्रा में भी उनको दान तो मिलता ही था । दान-पुन्न, पूजा-पाठ, तीर्थ-यात्रा, स्नान आदि में घर-भर की 'लीडर' बहन थीं और आज भी हैं । घर में एक-न-एक प्रकार की पूजा बराबर लगी ही रहती थी । कुछ-न-कुछ आज भी वही बात है ।

इस प्रकार स्कूल में पढ़ने का समय बीता था । घर के साथ मेरा सम्बन्ध कम ही रहता था । केवल छुट्टियों में आना-जाना होता । शादी हो गई थी, पर स्त्री से मुलाकात कम ही होती । छुट्टियों में आने पर रात के समय भेंट हो जाती । एक बार मेरी स्त्री को हैजा हो गया । मैं उस समय घर पर ही था । बाबूजी के दवा-इलाज

करने से वह अच्छी हो गई। पर बाबूजी बहुत चिन्तित हो गये थे। मेरी हालत भी कुछ अच्छी नहीं थी। किसी का अपनी स्त्री के सम्बन्ध में फिक्र रखना उन दिनों की प्रथा के अनुसार बदसलीकापन समझा जाता था। मैं चिन्तिन था। जानना और देखना भी चाहता था, पर किसी से न तो पूछ सकता था और न देखने की ख्वाहिश जाहिर कर सकता था। घर के लोगों का ध्यान शायद इस ओर गया ही नहीं था कि मुझे भी उस बीमारी में दिलचस्पी है। खैर, उसके अच्छी हो जाने पर फिर कोई बात नहीं रही और मुझे शान्ति मिल गई। अगर कुछ हालत खराब होती तो न मालूम बदसलीकापन का बन्धन कबतक मुझे बांध रखता।

इस प्रकार घर में बराबर बन्द रहते-रहते मेरी भौजाई और मेरी स्त्री दोनों का स्वास्थ्य खराब हो जाना स्वाभाविक था। ऐसा ही हुआ भी। दोनों ही कुछ दिनों तक, एक के बाद दूसरी, गठिया से तकलीफ पाती रहीं, जो, बहुत दिनों के बाद, जब वे आंगन में खूब घूमने-फिरने लगीं तभी छूटी।

: ८ :

कालेज में दाखिला

इम्तहान का नतीजा मालूम हो जाने के बाद मैं छपरे आया और वहां यह पता लगा कि केवल मेरा ही नतीजा अच्छा नहीं हुअ है, बल्कि स्कूलभर का नतीजा बहुत अच्छा हुआ । मेरे साथी रामानुग्रह को भी बीस रूपये की छात्रवृत्ति मिली है और दो लड़कों को पन्द्रह रूपये की और दो को दस रूपये की । इनके अलावा अव्वल दर्जा हासिल करनेवालों की संख्या भी काफी है और एकबारगी फेल भी शायद एक-दो ही हुए हैं । इस प्रकार का नतीजा छपरा-जिला-स्कूल का कभी नहीं हुआ था । बिहार-भर में किसी भी स्कूल का ऐसा अच्छा नतीजा कभी नहीं हुआ था । बिहार-भर में किसी भी स्कूल का ऐसा अच्छा नतीआ कभी नहीं हुआ था । इसलिए स्कूल के लोग बहुत खुश थे और छपरे के वकीलों में भी बड़ी खुशी थी । बाबू व्रजकिशोर प्रसाद छपरे में वकालत शुरू कर चुके थे । अभी नये थे, बहुत उत्साह था । थोड़े ही दिनों में लोगों पर, विशेष करके वकालतखाने में, उनका कुछ प्रभाव भी हो गया था । यद्यपि वह मेरे गांव से तीन कोस पर के ही रहनेवाले थे, पर मैं उनको जानता नहीं था । जब मैं छपरे आया तो उन्होंने भाई से राय करके एक छोटा-मोटा तवाजा (पार्टी) का प्रबन्ध किया, जिसमें मैं ठीक समय बीमार पड़ गया, शरीक नहीं हो सका ।

छपरे में पहुंचकर मैं सबसे पहले रसिकबाबू से मिला । वह बहुत ही प्रसन्न थे । उन्होंने तुरत आम और मिठाई खिलाई । मुझे बहुत देर तक समझाते रहे कि इस नतीजे से मेरी जवाबदेही बहुत बढ़ गई । यह पहला अवसर था कि कोई बिहारी यूनिवर्सिटी में अव्वल हुआ है । बंगाल के लड़के इस बात को बरदाश्त नहीं कर सकेंगे । वह बहुत परिश्रम करके मुझे एफ० ए० की परीक्षा में हराने का प्रयत्न करेंगे । कुछ बुरे लड़के मुझे दूसरे प्रकार से भी बिगाड़कर गिरा देने से बाज नहीं आवेंगे । इसलिए मुझे कलकत्ते में बड़ी सावधानी और चौकसी से रहना होगा, और परिश्रम करके जो स्थान मैंने पाया है, उसे कायम रखना चाहिए । मुझे सब बातों की सूचना उनको देते रहना चाहिए और किसी तरह से सुस्ती या गफलत नहीं करनी

चाहिए । कलकत्ता बहुत बड़ा शहर है । उसमें खेल-तमाशे भी बहुत हैं, बुरी चीजें भी बहुत हैं । सबसे बचना चाहिए और कालेज में जहांतक हो सके मेहनत करके, अपना स्थान बनाये रखना चाहिए । उनके दिल में यह बात बैठी थी कि मेरे लिए अब किसी-न-किसी तरह एफ० ए० में भी फिर फर्स्ट होना जरूरी है और अगर मैं इसमें चूका तो बहुत खराब होगा । इसीलिए इस बात पर उन्होंने तरह-तरह से जोर दिया और मुझे बहुत समझा-बुझकर कलकत्ते जाने के लिए रवाना किया । अपने डेरे पर पहुंचते मुझे बुखार हो गया और यात्रा रूक गई । कुछ दिनों के बाद जब अच्छा हुआ तो भाई के साथ कलकत्ते पहुंचा ।

कलकत्ते में भाई पहले से ही ईडन-हिन्दू-होस्टल में रहा करते थे और डफ कालेज में एम० ए० क्लास में हिस्ट्री और रिपन कालेज में बी० एल० के लिए कानून पढ़ा करते थे । मैं भी उनके साथ ही वहां गया । यह पहला ही मौका था कि मैं कलकत्ते गया । वहां के मकानों, सड़कों, ट्रामगाड़ी इत्यादि को देखकर चकित रहा और जब होस्टल में पहुंचा तो वह मेरे छपरे के डेरे के मुकाबले में महल-जैसा लगा । मैं इतनी देर करके पहुंचा था कि होस्टल में विद्यार्थी खचाखच भर गये थे, एक भी जगह नहीं थी । मैं तबतक भाई के साथ ही उनके ही कमरे में ठहरा । जब प्रेसिडेन्सी कालेज में पहुंचा तो मालूम हुआ कि वहां भी काफी लड़के आ चुके हैं और नये लोगों की भरती बन्द हो गई है । डाक्टर पी० के० राय प्रिंसिपल थे । भाई ने उनसे मुलाकात की और उन्होंने मुझे भरती कर लेने का हुक्म दिया । कालेज में तो मैं दाखिल हो गया, पर होस्टल में तो जगह थी ही नहीं । उसके लिए भी कोशिश की गई और जिस कमरें में भाई रहते थे, उसी में चार की जगह पांच चौकियां रख दी गईं और मैं रहने लगा ।

जब मैं क्लास में गया तो वहां कुछ दूसरा ही समा था । मैंने इतने सिर-खुले बंगाली लड़के एक साथ कभी देखे ही नहीं थे । उनमें कुछ कटेपतलून-हैट पहननेवाले भी थे । वे ऐसे लोगों के ही लड़के थे, जिनके पिता विलायत से लौटकर बैरिस्टरी या डाक्टरी वगैरह कर रहे थे । मैंने किसी हिन्दुस्तानी लड़के को उस दिन तक हैट-कोट पहनते देखा ही नहीं था । इससे मेरे दिल में शक हुआ कि ये लोग एंग्लो-इंडियन या क्रिस्तान होंगे । पर जब नाम पुकारा गया तो मालूम हुआ कि ये हिन्दू ही हैं । उन दिनों यह प्रथा थी कि मुसलमान लड़के नाम के लिए तो मदरसा के छात्र समझे

जाते थे, पर एफ० ए० क्लास में पढ़ते थे प्रेसिडेन्सी कालेज में ही। उनको फीस बारह रूपये के बदले चार रूपये मासिक देनी पड़ती और उनका नाम अलग रजिस्टर में लिखा रहता। और सब बातों में वे प्रेसिडेन्सी कालेज के लड़कों से किसी बात में अलग नहीं थे। उनका होस्टल अलग था। टोपी-वाले वहीं देखने में आये और दो-एक मारवाड़ी लड़के भी। कालेज में भी सब लड़के एक क्लास में नहीं समाविष्ट हो सके थे, इसलिए तीन विभाग कर दिये गये थे। पढ़ाई एक ही थी।

मैं उन दिनों चपकन, पाजामा और टोपी पहनकर कॉलेज-क्लास में जाया करता। एफ० ए० में अंगरेजी एक दूसरी भाषा और हिस्ट्री, लौजिक (तर्कशास्त्र), गणित के अतिरिक्त सब लड़कों को फिजिक्स (पदार्थ-विज्ञान) और केमिस्ट्री (रसायन-शास्त्र) भी पढ़नी पड़ती थी। एफ० ए० में डाक्टर जे० सी० बोस फिजिक्स और डाक्टर पी० सी० राय केमिस्ट्री पढ़ाया करते थे। मैं जब पहले दिन कालेज में नाम लिखाकर पहुंचा तो पहला घंटा केमिस्ट्री का था। वहां डाक्टर पी० सी० राय आये। उन्होंने हाजिरी लेनी शुरू की। मैं सबसे पीछे की एक बेंच पर बैठा था। प्रेसिडेन्सी कालेज के सब लड़कों के नम्बर पुकारे गये और सबने उत्तर दिये। मुझे अपना नम्बर मालूम ही नहीं था। अन्त तक मैं इन्तजार करता रहा। जब आखिरी नम्बरवाले लड़कों ने भी जवाब दे दिया और वह रजिस्टर बन्द करने लगे तो मैंने खड़े होकर कहा कि मैं अपना नम्बर नहीं जानता हूं। उन्होंने मेरी ओर आंख उठाकर देखा और कहा, ठहरो, अभी मैंने मदरसा के लड़कों की हाजिरी नहीं ली है, और यह कहकर झट दूसरा रजिस्टर उठाया। मैं समझ गया कि पाजामा-टोपी के कारण उन्होंने मुझे मुसलमान मान लिया है। मैंने कहा कि मैं मदरसा में नहीं पढ़ता हूं, प्रेसिडेन्सी कालेज में आज ही नाम लिखवाया है, इसलिए नम्बर नहीं जानता। उन्होंने नाम पूछा और जब मैंने नाम बताया तब सब लड़के मुड़कर मेरी ओर देखने लगे; क्योंकि वे तो जानते थे कि मेरे नाम का कोई लड़का उस साल यूनिवर्सिटी में फर्स्ट हुआ है। डाक्टर राय ने कहा कि अभी नाम दर्ज नहीं है, जब दर्ज हो जायगा तो आज की भी हाजिरी वह पीछे लिख देंगे। फिर उन्होंने इतनी देर से नाम लिखाने का कारण पूछा और इस प्रकार मेरी उनसे पहली मुलाकात हुई और दूसरे साथियों ने भी पहले-पहल मुझे देखा।

हिन्दी जाननेवाले लड़के तो क्लास में बहुत कम ही थे और स्वभावतः मेरी

घनिष्ठता मारवाड़ी देवीप्रसाद खेतान से दो ही एक दिन के भीतर हो गई । इसका एक विशेष कारण यह भी था कि वह भी मेरी तरह बिहार से ही, जहां उनके पिताजी जेलर थे, पास करके आये थे । बंगाली लड़कों से भी जान-पहचान शुरू हो गई । उनमें से कुछ ऐसे निकले, जिनके साथ जल्द घनिष्ठता हो गई और आजतक जारी है । केवल दो-तीन के नाम यहां देता हूं । योगेन्द्रनारायण मजुमदार, जो इस समय बंगाल के स्टैडिंग कौन्सल हैं, गिरीशचन्द्र सेन, जो डिप्टी-कलक्टर हुए और इस समय गवर्नमेन्ट के सेक्रेटरी हैं, और अविनाशचन्द्र मजुमदार जो गवर्नमेन्ट के ट्रांसलेटर रहे हैं । जे० एम० सेन गुप्त, जो दुर्भाग्यवश अब नहीं रहे, मेरे साथ ही पढ़ते थे और उसी होस्टल में रहा करते थे ।

मैं एक हफ्ते से कम ही कालेज में हाजिरी दे सका कि फिर से जाड़ा-बुखार शुरू हो गया । छपरे में ही जो मलेरिया का आक्रमण हो गया था, वह फिर और जोरों से आया । मैं महीनों तक वहां बीमार रहा । होस्टल के डाक्टर ने हजार कोशिश की, पर रोजाना जाड़ा-बुखार हो जाता । कभी एक-दो दिन अच्छा भी हो जाता तो फिर तीसरे-चौथे दिन जोरों से जाड़ा हो जाता । भाई बहुत परेशान रहे । एक दिन का जिक्र है कि वहां टाउन हाल में बड़ी सभा होनेवाली थी । लार्ड कर्जन की किसी कार्रवाई पर लोकमत प्रकट करने के लिए बंगाल के बड़े-बड़े नेता और व्याख्याता बोलनेवाले थे । सुरेन्द्रनाथ बनर्जी इत्यादि के भाषण होनेवाले थे । दो-तीन दिनों से मैं ज्वर-मुक्त था । सबने समझा कि अब मैं अच्छा हो गया हूं । भाई भी होस्टल के सब लड़कों के साथ सभा में चले गये । मेरे कमरे में या आस-पास के कमरे में भी कोई नहीं था । मैं पड़ा-पड़ा थर्मामीटर लगा-लगाकर देखता रहा । ज्वर चढ़ते-चढ़ते एक सौ छः डिग्री से भी अधिक हो गया । मैं घबराता । मगर करूं तो क्या करूं । कोई पास था नहीं । कभी-कभी ऐसा मालूम होता कि अब भाई से मुलाकात नहीं होगी । आहिस्ता-आहिस्ता बुखार उतरने लगा । भाई के वापस आने तक बुखार बिलकुल उतर गया । जैसा भाई छोड़कर गये थे वैसा ही हो गया । लौटने पर उनसे सब हाल कहा । उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब अच्छे रहने पर भी छोड़कर कहीं नहीं जायेंगे । इस प्रकार बहुत दिन बीत गये और दशहरे की छुट्टी के दिन आ गये । मैं इतने दिनों में केवल चार-पांच ही दिन कालेज में जा सका था ।

छुट्टियों में किसी प्रकार घर आया । वहां अच्छा हो गया । छुट्टी प्रायः एक महीने

की थी । इसमें चंगा होकर कलकत्ते गया और वहां पहुंचते ही फिर ज्वर आ गया । जी बहुत घबराया । भाई भी बहुत चिन्तित हुए । उन दिनों यह नियम था कि कालेज में जितने लेक्चर हों, उनमें एक निश्चित अनुपात में जरूर हाजिर रहना चाहिए, नहीं तो परीक्षा देने की इजाज़त यूनिवर्सिटी नहीं देगी । भय होने लगा कि इतनी गैरहाजिरी के बाद शायद मैं हाजिरी पूरी नहीं कर सकूंगा और परीक्षा देने की इजाज़त ही नहीं मिलेगी । इसके अलावा पढ़ाई तो छूट ही गई थी । कभी-कभी विचार होता कि कलकत्ता छोड़कर इलाहाबाद चला जाऊं । उसमें भी दिक्कत थी कि बीच साल में एक यूनिवर्सिटी से दूसरी में जाने की इजाज़त दो यूनिवर्सिटीयों में मिलेगी या नहीं, और फिर वहां जाकर भी वहां की हाजिरी पूरी नहीं होगी तो एक बरस तो यों ही चला जायगा । रसिकबाबू ने अपने स्थान को बचा रखने की जो बात कही थी, वह भी याद आ जाती और मन बहुत दुखी होता । मगर लाचारी थी । कुछ बस नहीं चलता । अन्त में डाक्टर नीलरतन सरकार के पास भाई ले गये । उन्होंने नुस्खा दिया । ज्वर आना बन्द हुआ और मैं चंगा हो गया । यह नुस्खा प्रायः एक बरस तक चलता रहा । न मालूम इस साल-भर में कितना कुनैन खा लिया होगा । होमियोपैथिक डाक्टर ने पच्चीस-छब्बीस बरसों के बाद कहा कि आज का दमा उसी कुनैन का नतीजा है । मालूम नहीं, क्या सत्य है !

अच्छा हो जाने पर मैं बहुत परिश्रम से पढ़ने लगा । तीन-चार महीना पढ़ाई में पिछड़ गया था । उसको पूरा करना था और साथ ही यह भी चिन्ता थी कि यूनिवर्सिटी में अपनी जगह नहीं खोनी चाहिए । प्रत्येक विषय को मैं इस ख्याल से पढ़ने लगा कि मैं इसमें फर्स्ट होऊं । मैं प्रत्येक विषय की एक पुस्तक के अलावा, जो क्लास में पढ़ाई जाती, प्रायः तीन-चार और पुस्तकें पढ़ गया । मैं अपने को हिसाब में कमजोर समझता था, इसलिए उसपर विशेष ध्यान दिया और अलजबरा, ट्रिगोनोमिट्री, कौनिकसेक्शन की जितनी पुस्तकें मिल सकीं और उनमें जितने उदाहरण दिये गये थे, एक-एक करके सबको बना लिया । यूनिवर्सिटी में जितने प्रश्न उस समय तक पूछे गये थे, एक-एक को उसी तरह से लगा दिया ।

मेरी इच्छा थी कि एफ० ए० पास करके मैं साइन्स पढ़ूंगा । डाक्टर जे० सी० बोस और डाक्टर पी० सी० राय के पढ़ाने का तरीका इतना अच्छा था कि उस ओर रूचि बहुत हो गई और उन विषयों के अधिक जानने का शौक हो गया । यों तो हिस्ट्री

पढ़ानेवाले प्रोफेसर विनयेन्द्रनाथ सेन भी बहुत अच्छे शिक्षक ही नहीं, बल्कि बहुत उच्च कोटि के सज्जन पुरूष भी थे, जिनकी कृपा मुझपर बहुत रहती थी, और जो बीमारी की हालत में होस्टल में आकर मुझे देख भी गये थे । पर अधिक झुकाव विज्ञान की ओर ही था । उन विषयों में जी लगने लगा और जहांतक पुस्तकें मैं पा सका, पढ़ गया । उन दिनों क्रियात्मक रूप से लैब्रेटरी में एफ० ए० के लड़कों को कुछ नहीं करना पड़ता था; पुस्तकीय ज्ञान ही पर्याप्त समझा जाता था । मैंने प्रायः बी० एस-सी० क्लास तक का पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त कर लेने की चेष्टा की थी । एक ही दिक्कत मालूम होती थी । ऊपर जाकर अधिक गणित की जरूरत होगी और इतने परिश्रम के बाद भी गणित में मेरा दिमाग नहीं चलता था । इसलिए उसपर अधिक परिश्रम करता ।

इस प्रकार दो बरस बीते । परीक्षा के दिन निकट आये । कुछ बंगाली साथियों से मित्रता हो गई । रसिकबाबू ने जो मुझे डरा दिया था, उसका मुझे कहीं कुछ भी आभास नहीं हुआ । साथियों के साथ दिन बहुत खुशी और प्रेम के साथ बीते । न तो कहीं किसी की बुरी दृष्टि पड़ी और न मुझे किसी की भावनाओं का शिकार ही बनना पड़ा । सबके साथ सहृदयता बढ़ती गई और कुछ के साथ तो बड़ी घनिष्ठता हो गई, जो आज भी मुलाकात होने पर याद आ जाती है, जैसे वह कल की बात हो ।

यूनिवर्सिटी की परीक्षा के पहले क्लास में कालेज की ओर से परीक्षा होती है । वह हुई और मेरा नम्बर प्रायः प्रत्येक विषय में सबसे ऊपर आया । एक-दो विषय में लेक्चर की हाजिरी जितनी होनी चाहिए थी, नहीं थी । प्रोफेसर ने मेहरबानी करके कुछ अधिक लेक्चर दिये, जिसमें यूनिवर्सिटी के नियम मेरे परीक्षा देने में बाधक न हों और अनुपात के अनुसार हाजिरी हो जाय । परीक्षा देने की इजाजत के पहले एक दिलचस्प घटना हुई । मैंने प्रायः प्रत्येक विषय में सबसे अधिक नम्बर पाया था, पर जब कालेज-परीक्षा का फल बताया जाता था तो कहा गया कि मुझे यूनिवर्सिटी की परीक्षा में शरीक होने की इजाजत नहीं दी गई ! उस समय एक अंगरेज प्रिन्सिपल आ गये थे । परीक्षा-फल वह स्वयं सुनाने के लिए आये । सब लड़के वहां जमा थे । उन्होंने एक-एक करके नाम बताना शुरू किया । मेरा नाम ही नहीं कहा । जो फिहरिस्त तैयार की गई थी, उसमें गलती से मेरा नाम ही छूट गया था--लिखा नहीं

गया था । जब नाम नहीं कहा गया, सब लोगों को आश्चर्य हुआ । मैं तो घबरा गया । मैंने कहा कि मेरा नाम नहीं पढ़ा गया । प्रिन्सिपल ने तो एफ० ए० में पढ़ाया नहीं था; किसी लड़के को जानते नहीं थे । पूछने पर झट उत्तर दिया, "तुमने पास नहीं किया, इसलिए तुम्हारा नाम नहीं कहा गया ।" मैंने फिर कहा, "ऐसा हो नहीं सकता; मैंने जरूर पास किया होगा ।" उत्तर मिला, "ऐसा हो नहीं सकता, अगर पास किया होता तो जरूर नाम रहता ।" मैंने फिर कहना चाहा । वह बिगड़ गये और बोले, "चुप रहो, नहीं तो जुर्माना करूंगा ।" मैंने फिर हिम्मत करके कुछ कहना चाहा । उत्तर मिला, "तुमको पांच रूपये जुर्माना करता हूं ।" मैं फिर बोला । उत्तर दिया, "दस रूपये जुर्माना ।" इस प्रकार पांच-पांच रूपये बढ़कर, जिस तरह नीलाम में डाक बढ़ती है, वह बीस या पच्चीस तक पहुंचे । एक तमाशा था ! मेरी समझ में न आया कि क्या करूं । इतने में कालेज के हेडक्लर्क ने, जो मुझे जानता था, उनके पीछे से मुझे इशारा किया कि चुप रहो, सब ठीक हो जायगा । मैं चुप हो गया ।

दूसरे दिन फार्म वगैरह जो भरना होता है, उसे भरकर दे दिया और फीस दाखिल कर दी । किसी ने कुछ पूछा ही नहीं । उस क्लर्क ने गलती सुधार दी और प्रिन्सिपल से उनकी या अपनी गलती बताई या नहीं, इसका मुझे पता नहीं । जुर्माना तो किसी ने मांगा ही नहीं और न मैंने ही अपनी ओर से दाखिल करने की कोशिश की । हां, इस घटना से छपरे में ड्राइंगमास्टर ने एण्ट्रेन्स-परीक्षा देने की इजाजत में जो बाधा डाली थी, वह बात फिर याद हो गई ।

एफ० ए० की परीक्षा के लिए मैंने खूब तैयारी की । परीक्षा का नतीजा भी एक प्रकार से ठीक निकला । मैं उसे एक प्रकार से ठीक निकलना इसलिए कहता हूं कि यद्यपि मैं सबसे ऊपर आया, तथापि मेरी यह इच्छा पूरी नहीं हुई कि मैं साइंस में और गणित में सबसे ऊपर आऊं । इन विषयों में अधिक परिश्रम किया था । अंगरेजी, फारसी, लौजिक इत्यादि में उनके मुकाबले बहुत कम परिश्रम किया था । पर जब परीक्षाफल निकला तो मालूम हुआ कि अंग्रेजी, फारसी और लौजिक में मैंने सबसे अधिक नम्बर पाये हैं, और दूसरे विषयों में औरों से थोड़े-थोड़े नम्बरों से पीछे पड़ गया हूं--यद्यपि सब मिलाकर औरों से ऊपर हूं । एण्ट्रेन्स-परीक्षा के फलस्वरूप सबसे अधिक नम्बर पाने के लिए बीस रूपये मासिक की छात्रवृत्ति के अलावा अंगरेजी में भी अव्वल होने से दस रूपये मासिक की अलग छात्रवृत्ति एक बरस के लिए मिली

थी। एफ० ए० में सबसे ऊपर होने के लिए पच्चीस रूपये मासिक की दो बरस तक के लिए छात्रवृत्ति मिली। इसके अलावा अंगरेजी में अव्वल होने के लिए दस रूपये मासिक की एक छात्रवृत्ति और भाषाओं में फर्स्ट होने के लिए पन्द्रह रूपये मासिक की छात्रवत्ति जिसे डफ-स्कालरशिप कहते थे--मिली, और लौजिक में फर्स्ट होने के लिए पुस्तकों का इनाम मिला। इसका नतीजा हुआ कि मैंने समझ लिया, मैं गणित में सफल नहीं हो सकूंगा और इसलिए विज्ञान भी मेरे लिए कठिन होगा।

परीक्षाफल के बाद मैंने पूर्व निश्चय को बदल दिया और विज्ञान की ओर न जाकर बी० ए० क्लास में नाम लिखाया। उन दिनों एफ० ए० तक की पढ़ाई सबके लिए एक होती थी। सब विषय पढ़ने पड़ते और तब कोई बी० एस-सी० में नाम लिखाकर साइन्स पढ़ता और कोई बी० ए० में नाम लिखाकर अंगरेजी और फिलासफी पढ़ता। बी० ए० में नाम लिखा लेने के बाद डाक्टर पी० सी० राय से मुलाकात हुई। उन्होंने पूछा कि तुमने साइन्स में क्यों नहीं नाम लिखाया ? (**Why have you deserted our standard ?**) मैंने उत्तर दिया कि मैं गणित में कमजोर हूं। उन्होंने उत्तर दिया कि तुमने मुझसे राय क्यों नहीं ली। मैं भी गणित कम जानता हूं, पर इसलिए मैं विज्ञान से भागता नहीं हूं। उनको अफसोस रहा, पर अब बहुत देर हो चुकी थी और बदलना कठिन था।

दो बरस तक पूरे ध्यान से मैंने रसिकबाबू की बात याद करके फिर फर्स्ट होने के लिए कोशिश की और उसमें सफल रहा। रसिकबाबू इस बीच में बदलकर कलकत्ते चले आये थे। मुलाकात करने पर बहुत खुश हुए। कभी-कभी जाकर उनसे मिलता। कुछ दिनों के बाद उनकी मृत्यु हो गई।

: ६ :

परीक्षा के प्रति अश्रद्धा

बी० ए० क्लास में पहुंचकर मेरी हालत बदल गई । परीक्षा की ओर से रूचि कुछ हट गई । ध्यान और चीजों की ओर कुछ बंट गया । बचपन से ही आदत थी, मैं भरसक जो कुछ क्लास में पढ़ाया जाता, उसे बहुत ध्यानपूर्वक सुनता और क्लास का समय किसी तरह बरबाद नहीं होने देता । इसका शुरू में तो एक कारण यह था कि घर पर कोई पढ़ानेवाले मास्टर नहीं था, इसलिए सबकुछ स्कूल के मास्टर के बताने पर ही निर्भर रहता । पीछे आदत ही ऐसी पड़ गई । कालेज में भी यही बात रही । नाम लिखाते ही यह प्रश्न हुआ कि किस विषय में ऑनर्स लिया जाय । उन दिनों बी० ए० में तीन विषय ऐसा था, जिसको चुन लेने का अधिकार विद्यार्थी को था; पर चुन लेने के बाद उसे भी अन्य दो अनिवार्य विषयों की तरह ही पढ़ना होता और उसमें भी परीक्षा पास करनी होती । मैंने हिस्ट्री और एकनॉमिक्स (अर्थशास्त्र) चुन लिया । उन दिनों ऑनर्स के लिए 'पास' के अलावा कुछ और पुस्तकें पढ़नी होतीं और इन पुस्तकों में परीक्षा भी अलग होती । इस तरह से ऑनर्स के विषय की परीक्षा अधिक कड़ी होती और क्लास-लेक्चर भी अधिक हुआ करते । यह भी नियम था कि विद्यार्थी चाहे तो एक से अधिक विषयों में भी ऑनर्स ले सकता है । मेरे सामने यह प्रश्न था कि मैं किस विषय में ऑनर्स लूं--दो विषयों में या तीनों में । मैंने पहले कुछ निश्चय नहीं किया और तीनों विषयों में ऑनर्स-क्लास में शरीक होने लगा ।

मेरे साथी रामानुग्रह जो एफ० ए० में छपरे से दूसरे कालेज में चले गये थे, बी० ए० के लिए प्रेसिडेन्सी कालेज में आ गये थे । उनकी राय हुई कि हम दोनों को तीनों विषयों में ऑनर्स लेना चाहिए । उन्होंने स्वयं तीनों विषयों में ऑनर्स ले भी लिया । बी० ए० परीक्षा के फलस्वरूप दो स्कालरशिप एक पचास रूपये मासिक और दूसरा चालीस रूपये मासिक के मिला करते थे । केवल ऑनर्स के नम्बर जोड़कर ही स्कालरशिप मिला करता था । इसलिए उनका विचार था कि तीनों विषयों में ऑनर्स लेना चाहिए । पर ऐसा हुआ करता था कि एक या दो विषयों में ऑनर्स में इतना नम्बर आ जाता कि तीन विषयों के नम्बर से भी अधिक हो जाता । ऐसी अवस्था

में दो ही विषय वाले विद्यार्थी को वह छात्रवृत्तियां मिल जातीं। मुझे डर लगता था कि तीन विषयों में ऑनर्स लेने पर परिश्रम बहुत करना पड़ेगा। चन्द दिनों तक पसोपेश में रहा। तीनों विषयों के क्लास में जाता रहा। इत्तफाक से उन दिनों फिलासफी के प्रोफेसर कुछ ऐसे नीरस तरीके से पढ़ाते थे कि उसमें मेरा जी नहीं लगा। इसके बदले में अंगरेजी और हिस्ट्री के प्रोफेसर मिस्टर पर्सिवल और विनयबाबू अपने-अपने विषयों को बहुत सुन्दर रीति से पढ़ाते थे। इसलिए उनके क्लास में जी बहुत लगता।

मैंने निश्चय कर लिया कि अंगरेजी, हिस्ट्री और एकनॉमिक्स में ही ऑनर्स पढ़ूंगा। रामानुग्रह और एक दूसरा विद्यार्थी, केवल दो ही विद्यार्थी तीनों विषयों में ऑनर्स पढ़ते रहे। कुछ दिनों के बाद डाक्टर पी० के० राय फिलासफी पढ़ाने लगे। उनका तरीका इतना सुन्दर और मनग्राही था कि मैंने देखा, सबसे सहज विषय फिलासफी था। उनके लेक्चर इतने अच्छे होते कि अगर उन्हें ध्यानपूर्वक सुना जाय तो पुस्तक पढ़ने की जरूरत ही कम हो जाती थी। परीक्षा में सब विषयों में पास करना तो जरूरी था, पर जैसा पहले कह चुका हूं, छात्रवृत्ति के लिए ऑनर्स के ही नम्बर जोड़े जाते और उनपर स्वभावतः अधिक ध्यान दिया जाता। इसलिए मैंने फिलासफी पर डाक्टर राय के लेक्चर सुनने के अलावा बहुत ही कम ध्यान दिया। पर उनका पढ़ाना इतना अच्छा था कि बिना पुस्तक पढ़े ही मैंने उस विषय का इतना ज्ञान पा लिया था कि परीक्षा पास कर सकूं। पीछे अफसोस भी हुआ कि अगर इस विषय को लिये होता तो शायद कम परिश्रम से ही तीसरे विषय में भी ऑनर्स हो जाता।

इस प्रकार कुछ दिनों तक तो कालेज में खूब जी लगाकर पढ़ता रहा, पर कुछ ऐसे संयोग घटे कि परीक्षाफल से मन उचट गया और ध्यान दूसरी ओर जाने लग गया। उन्हीं दिनों श्रीसतीशचन्द्र मुखर्जी ने एक संस्था कायम की थी, जिसका नाम 'डॉन सोसाइटी' (**Dawn Society**)। विद्यार्थी उसके मेम्बर होते। उनको कुछ देना नहीं पड़ता था। उसका उद्देश्य था कि पढ़ाई में भी छात्रों को मदद दी जाय और उनके चरित्र सुधारने में और उन्हें देश की बातों की जानकारी हासिल कराने में भी सहायता दी जाय। उनसे कुछ सेवा का काम भी लिया जाता था और यह वहां की शिक्षा का एक अंग समझा जाता था। तरीका यह था कि प्रत्येक सप्ताह संध्या समय दो क्लास किये जाते और उनमें दो लेक्चर दिये जाते। एक लेक्चर तो विविध विषयों

पर होता और दूसरा गीता पर । गीता-क्लास तो एक पंडित लेते और बहुत सहज रीति से वह गीता समझाते । दूसरे क्लास में सतीशबाबू स्वयं लेक्चर दिया करते और दूसरे लोगों को भी बुलाकर लेक्चर दिलवाया करते । उस क्लास में कभी-कभी एक कालेज के प्रिंसिपल एन० एन० घोष, कभी मिस्टर निवेदिता, कभी और दूसरे लोग लेक्चर दिया करते । ठीक समय से जाना पड़ता । हाजिरी लिखी जाती । लेक्चर के पहले ही पेंसिल-कागज सब लड़कों को दिया जाता कि वे लेक्चर का नोट ले लिया करें । दो जिल्द-बंधी बहियां मिली थीं, जिनमें दोनों लेक्चरों का सारांश लिखकर दाखिल करना पड़ता । सतीशबाबू इन बहियों को घर पर ले जाते और पढ़कर जो भूल-चूक होती, उसे सुधार देते और अलग-अलग हर आदमी को बुलाकर गलतियां बता देते । लेक्चर के विषय बहुत अच्छे हुआ करते, जिनसे देश और दुनिया की जानकारी बढ़ती और चरित्र पर भी असर पड़ता । सुने हुए लेक्चर को नोटों की मदद से फिर अपनी भाषा में अदा करने का अभ्यास हर तरह से अच्छा था । इससे यूनिवर्सिटी की परीक्षा में भी मदद मिलती । साल के अन्त में सब बहियां किसी बड़े आदमी के पास सतीशबाबू भेजते और वह महाशय उन्हें देखकर, जिसका काम सबसे अच्छा हुआ रहता, उसको छात्रवृत्ति और इनाम देते । क्रियात्मक रूप से सेवा का तरीका यह था कि एक छोटी-सी दुकान स्वदेशी कपड़ों और दूसरी चीजों की खोली गई थी, जिसकी देख-रेख मेम्बरों के ही जिम्मे थी । वह दुकान शाम को दो घंटों के लिए खुलती और बेचने, हिसाब रखने का काम मेम्बरों के जिम्मे था ।

मैं किसी प्रकार इस सोसाइटी के एक लेक्चर में पहुंच गया । सब बातें बहुत अच्छी लगीं । मैं इसमें शरीक हो गया । सतीशबाबू की कृपा रहती, और आजतक बनी हुई है । सतीशबाबू यूनिवर्सिटी के अच्छे छात्रों में थे । उन्होंने उसी साल बी० ए० परीक्षा पास की थी, जिस साल सर आशुतोष मुखर्जी ने पास की थी । पढ़ने के समय वह स्वामी विवेकानन्द के साथी थे । उन्होंने वकालत शुरू की थी, पर थोड़े ही दिनों के बाद उसे छोड़ दिया था और इसी प्रकार के सार्वजनिक काम में लग गये थे । उन्होंने कभी शादी नहीं की । उनका विचार हुआ कि विद्यार्थियों का जीवन सुधारना चाहिए और इसलिए उन्होंने 'डॉन सोसाइटी' की स्थापना की थी । इसमें मिस्टर एन० एन० घोष, सिस्टर निवेदिता, सर गुरूदास बनर्जी प्रभृति जैसे महान् पुरूषों की सहायता और सहानुभूति मिलती थी । सोसाइटी में जाने पर मेरी बहुत ऐसे विद्यार्थियों से भी घनिष्ठता हो गई, जो मेरे क्लास के साथी नहीं थे, पर जो यूनिवर्सिटी

के नामी विद्यार्थियों में थे-- जैसे विनय कुमार सरकार, जो विख्यात विद्धान और लेखक हैं, रवीन्द्रनारायण घोष जो रिपन-कालेज के प्रिंसिपल थे और जिनका कुछ ही वर्ष पहले स्वर्गवास हो गया ।

मुझे स्मरण है कि साल के अन्त में 'डॉन सोसाइटी' की छात्रवृत्ति और इनाम भी मुझे मिले, जिनको सभा में सर गुरूदास बनर्जी ने कुछ उत्साहवर्धक शब्दों के साथ मुझे दिया था । सोसाइटी में जाने से विचारों का मंथन खूब हुआ । परीक्षा से श्रद्धा हट गई और ध्यान सार्वजनिक बातों में अधिक लगने लगा । यों तो मैं बचपन से ही कुछ इस तरह की बातों की ओर अधिक ध्यान दिया करता था । जब स्कूल में पढ़ता था तो वहांपर एक डिबेटिंग सोसाइटी कायम की थी, जिसमें रविवार को हम मिलते, अपने-अपने लेख पढ़ते अथवा भाषण करते । इनमें कभी-कभी स्कूल के मास्टर भी निमंत्रण देकर बुलाये जाते, पर यह संस्था स्कूल की नहीं थी, स्वतन्त्र थी । उसी प्रकार कलकत्ते में भी हम लोगों ने बिहारियों की सभा 'बिहारी क्लब' कायम कर ली थी, जिसमें हम सब प्रति रविवार को मिलते और लेख पढ़ते, भाषण करते । इसके अलावा कालेज के युनियन में भी मैं भाग लिया करता और एक साल तो उसका मन्त्री भी चुना गया था । कालेज युनियन की ओर से एक मासिक पत्र भी निकाला गया था, जिसके संचालन में मेरा हाथ रहता ।

पर इन सब प्रवृत्तियों के रहने पर भी 'डॉन सोसाइटी' में शरीक होने के पहले ये सब एक प्रकार से बिना किसी उद्देश्य की थीं । इनका कुछ भी निर्दिष्ट अभिप्राय नहीं था और न हमारे सामने कोई नियमित कार्यक्रम ही था । मैं अखबारों को पढ़ा करता था । कांग्रेस का नाम जानता था । जब उसका सालाना जल्सा होता तो उसके भाषणों को ध्यानपूर्वक पढ़ता । यों तो जब कभी कोई सार्वजनिक सभा होती और बड़े लोगों के भाषण होते--जैसे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के--तो मैं उनमें जाकर भाषणों को सुनता । पर डॉन सोसाइटी में अधिक दिलचस्पी थी । स्वदेशी का प्रेम तो भाई ने स्कूल के समय में ही पैदा कर दिया था, पर वह भी अभी पूरी तरह प्रस्फुटित नहीं हुआ था । यह डॉन सोसाइटी और सतीशबाबू के सत्संग का ही प्रसाद था कि यह जो विचार और प्रवृत्तियां अंकुर-रूप में पहले मौजूद थीं और जो बिना किसी उद्देश्य या समझ के अंधकार में काम कर रही थीं, कुछ परिष्कृत हो गईं । मैं कुछ आगे की भी सोचने लगा ।

: १० :

बंगभंग का आन्दोलन

१६०४ में मैंने एफ० ए० परीक्षा पास की । १६०५ में बंगभंग का आन्दोलन शुरू हुआ । मैं सभी सार्वजनिक सभाओं में पहले से ही जाया करता था । बंगभंग-विरोधी सभाओं में भी खूब जाता । उन दिनों इस बात में रोक-टोक अभी नहीं थी । ७ अगस्त १६०५ की बड़ी सभा में, जिसमें विदेशी वस्तुओं का वायकाट और स्वदेशी के प्रचार का निश्चय हुआ, मैं शरीक था । उसमें बहुत उत्साह था । लोगों ने व्रत लिया कि वे स्वदेशी का ही व्यवहार करेंगे । मेरे लिए इसमें कोई कठिनाई थी नहीं ; क्योंकि मैं बहुत पहले ही से केवल स्वदेशी वस्तुओं का ही व्यवहार किया करता था । आन्दोलन खूब जोरों से चला । प्रायः प्रतिदिन कहीं-न-कहीं सार्वजनिक सभाएं होतीं । हम सब जाते । कहीं सुरेन्द्रबाबू, कहीं विपिनचन्द्र पाल, कहीं ए० चौधरी, कहीं अरविन्द घोष के भाषण होते । होस्टल के लड़कों में बड़ी हलचल थी । जो लोग कभी स्वदेशी नहीं बर्तते थे, उन्होंने भी स्वदेशी बर्तना आरम्भ किया । बड़ों की तो मुझे खबर नहीं, पर विद्यार्थियों में नया जोश और नया उत्साह पैदा हो गया ।

एक छोटी घटना का जिक्र करना अच्छा होगा । यों तो मैं स्वदेशी का ही व्यवहार करता था; पर क्लास में एक दिक्कत महसूस करता था । जो लेक्चर होते उनके नोट रोज लेता । पेंसिल के नोट मिट जाने का भय रहता । इसलिए कलम-दवात ले जाता और लिखता । एक दिन देखा कि स्टाइलोपेन् (Stylopen) निकला है, जिसमें रोशनाई भर दी जाती है और आदमी को दवात ले जाने की जरूरत नहीं पड़ती । यह विदेशी था और 'ह्वइटवे लैडलॉ' की दुकान में उन दिनों आधे दाम पर ही बिक रहा था । मैंने एक खरीद लिया । होस्टल के साथियों को यह मालूम हुआ । वे बहुत बिगड़े और मुझसे झगड़ने लगे । उनमें एक आदमी ऐसा भी था, जिसके बारे में मैं जानता था कि उसके पास चिट्ठी लिखने के लिए बहुत विदेशी कागज था । दूसरा ऐसा था, जिसके पास थोड़े ही दिन पहले का बना हुआ विदेशी कपड़े का नया कीमती कोट था । विद्यार्थियों ने निश्चय किया था, एक दिन विदेशी कपड़ों की होली जलाई

जायगी और उसी दिन होस्टल के आंगन में उन चीजों को जलाया जायगा। सबके दिल में था कि कुछ कपड़े जला दिये जायं। पर शायद ही किसी के दिल में हो कि सब विदेशी कपड़े जला दिये जायं; क्योंकि प्रायः सबके पास अधिक-से-अधिक विदेशी कपड़े ही थे।

जब लोगों ने मुझे बहुत दिक किया तो मैंने कहा, "सब अपने-अपने ट्रंक खोलो। जिनके पास जितना विदेशी कपड़ा हो, होली में आज ही जला दो। मैं भी अपना ट्रंक खोलता हूं और जो कुछ विदेशी मेरे पास निकलेगा, मैं सब अभी यहीं जला दूंगा।" सब चौकन्ने हो गये। वे यह तो जानते नहीं थे कि उसके सिवा मेरे पास कुछ भी दूसरी चीज विदेशी नहीं थी। मैंने ट्रंक खोल दिया और एक-एक करके सब चीजें कमरे में बिखेर दीं। उसके बाद भीड़ हट गई और किसी ने इस प्रकार का आक्षेप मुझपर नहीं किया। उस साथी ने अपने विदेशी कागज तो जला दिये, पर जहांतक मुझे स्मरण है, दूसरे साथी ने नये कोट को जल्दी में जलाना उचित नहीं समझा। हां, उसे उन दिनों फिर पहनने के लिए निकाला नहीं। ऐसा ही दूसरों ने भी किया।

१६०५ का साल इस प्रकार एक बड़े आन्दोलन और जागृति का साल था। विशेष करके विद्यार्थियों में एक नये जीवन का संचार हो गया था और बहुतेरों ने पढ़ना भी छोड़ दिया था। उसी समय कलकत्ते में राष्ट्रीय शिक्षा की एक बड़ी संस्था खुली। श्रीसतीशबाबू उसमें चले गये और डॉन सोसाइटी का काम कुछ दिनों के बाद ढीला पड़ गया। सोसाइटी के साथियों में से कई उस संस्था में शरीक हो गये। मैं इन सब सभाओं में बराबर आया-जाया करता और भाषणों को सुनता, पर मेरे दिल में किसी समय कालेज छोड़कर इस राष्ट्रीय संस्था में जाने की इच्छा नहीं हुई। मेरे सामने उसका उद्देश्य साफ नहीं था और न अपना दिल ही इसके लिए तैयार था कि कालेज छोड़ दूं और भविष्य को इस तरह से एकबारगी बदल दूं। मैं एक भीरू आदमी लड़कपन से ही रहा हूं और किसी विषय में जल्दी करके कोई बड़ा कदम उठाना मेरे लिए हमेशा एक कठिन समस्या रहा करती है। उस समय तो कदम उठाने का सवाल भी जोरों से सामने नहीं आया। जहां तक मुझे याद है, स्वदेशी आन्दोलन और बंग-विच्छेद के विरूद्ध आन्दोलन में कभी विद्यालयों के छोड़ने का कार्यक्रम उसी तरीके से सम्मिलित नहीं था, जिस तरीके से १६२०-२१ के आन्दोलन में था। मैं

इस तरह उन चीजों के साथ एक प्रकार से बाहर से ही सहानुभूति रखता रहा, कभी उसके अन्दर नहीं घुसा ।

पर इन सब आन्दोलनों का नतीजा यह तो अवश्य हुआ कि पुस्तकों के पढ़ने में समय कम लगा और परीक्षाफल की ओर से एक प्रकार की उदासीनता-सी हो गई । परीक्षा मार्च के महीने में हुआ करती थी । सितम्बर अक्टूबर में दुर्गापूजा और दशहरे के लिए छुट्टियां हुआ करतीं, जो प्रायः एक महीने या उससे भी अधिक लम्बी होतीं । मैं इस बार की छुट्टी में कलकत्ते में ही रह गया; क्योंकि मैंने समझ लिया था कि अब कुछ पढ़ना चाहिए, नहीं तो परीक्षा पास करने में कठिनाई हो जायगी ।

कालेज की परीक्षा हुई । मेरे दिल में इसका तो भय था नहीं कि इस परीक्षा में पास ही नहीं करूंगा । हां, यह हो सकता था कि औरों से नम्बर कम आवें । कुछ साथियों ने मिलकर सलाह की, परीक्षा के पहले के प्रायः पांच-सात सप्ताह कहीं बाहर जाकर बिताये जायं, जहां शान्ति से हम पढ़ सकें और परीक्षा के लिए तैयार हो सकें । हम लोगों ने बिहार के संथालपरगना जिले के 'जामतारा' स्थान में जाकर रहना निश्चित किया । वहां एक मित्र ने छोटा-सा मकान भाड़े पर ठीक कर दिया । कालेज की परीक्षा देकर उसके फल का इन्तजार न करके हम लोग वहां चले गये ।

मैं कह चुका हूं कि अंगरेजी और हिस्ट्री में, जिसमें एकनॉमिक्स और पॉलिटिक्स भी शामिल था, मैंने ऑनर्स लिया था । हिस्ट्री ऑनर्स के परीक्षक थे मि० पर्सिवल । उन्होंने जल्दी ही परीक्षा करके नम्बर हम लोगों को बता दिये । मेरा स्थान सबसे ऊपर था और नम्बर भी बहुत अच्छे मिले थे । और विषयों का पता नहीं था । उस समय के प्रिन्सिपल साइन्स पढ़ाया करते थे, इसलिए हम लोगों से उनकी पढ़ाई का वास्ता नहीं था । वह हम लोगों को जानते ही नहीं थे । उन्होंने नोटिस निकाल दिया कि कोई प्रोफेसर किसी विद्यार्थी को परीक्षाफल न बतावे । पर मिस्टर पर्सिवल इसके पहले हमको फल बता चुके थे ।

हम लोगों के जामतारा चले जाने के बाद परीक्षाफल सुनाया गया । प्रिंसिपलसाहब ने फल सुनाते समय मेरे नाम पर कहा कि मैं अंगरेजी ऑनर्स में परीक्षा दे सकूंगा, पर हिस्ट्री ऑनर्स में नहीं । मेरे साथी, जो वहां मौजूद थे, अचम्भे में आ गये । एक ने हिम्मत करके कहा कि वह जरूर पास ही होगा । उत्तर मिला कि अगर पास हो गये होते तो परीक्षा देने की इजाज़त जरूर मिलती । उसने फिर कहा कि उन्होंने सब

परीक्षाओं में अव्वल स्थान पाया है और छात्रवृत्ति भी पाई है, ऐसा हो नहीं सकता कि इसमें पास न हों। प्रिंसिपल ने फिर उसी के शब्दों को दुहराते हुए कहा कि सबमें अव्वल पास किया तो अव्वल स्थान मिला और छात्रवृत्ति मिली, इसमें नहीं पास किया, इसलिए इस बार परीक्षा देने की इजाज़त नहीं मिलेगी। उसने एक बार और जोर लगाकर कहा कि हम लोगों को पता लग गया है और नम्बर भी मालूम हो गया है--उन्होंने उस विषय में बहुत नम्बर और अव्वल स्थान पाया है। इसपर वह चिढ़ गया और बोला, ऐसा हो नहीं सकता, मैंने नोटिस निकाल दिया है कि किसी को नम्बर न बताये जायं और ऐसा कहकर जोर से डांट दिया कि मुझे ऑनर्स परीक्षा में बैठने की इजाज़त नहीं मिलेगी। उसने बार-बार यही कहा कि बड़ी सावधानी से उसने सब नम्बर देख लिये हैं--कोई भूल नहीं है।

मेरा साथी घबरा गया। उसने तुरन्त जामतारा मेरे पास तार दिया। तार पाकर मैं और भी चक्कर में पड़ गया। आपस में सलाह करके कलकत्ते आना ही ठीक जंचा। मैं कलकत्ते पहुंचकर सीधे मिस्टर पर्सिवल के घर पर गया। वह बड़े विद्वान समझे जाते थे। उनके पढ़ाने का ढंग भी बहुत अच्छा था। उनकी विद्वत्ता और पढ़ाई से लड़के मुग्ध रहा करते थे। वह अविवाहित थे। घर पर अकेले रहते थे। केवल पुस्तकों का ही साथ था। बड़े सूखे मिजाज के थे। किसी से न मिलना, न जुलना। ठीक समय पर कालेज में आना, क्लासों में जाकर पढ़ाना और फिर सीधे घर चले जाना। केवल यूनिवर्सिटी के सिनेट इत्यादि में, जिनके मेम्बर थे, जाना और घर में पढ़ते रहना। अपने काम में बड़े पक्के। वह प्रेसिडेन्सी कालेज में प्रायः पच्चीस-तीस बरसों तक रहे। पीछे, कुछ दिनों के लिए प्रिंसिपल भी हुए थे। कर्त्तव्यपरायणता इतनी थी कि कभी एक मिनट का समय न क्लास में न और कहीं बरबाद करते। सादे कपड़े पहनते और जो कोई ठाठबाट से रहते उनको पसन्द नहीं करते। केवल पढ़ाने से ही सम्बन्ध रखते। पर उनकी सादगी, कर्त्तव्यपरायणता, ऊपरी शुष्कता और कड़ाई का असर हम सबपर बहुत पड़ता। हम डरते भी खूब थे। शायद ही कोई उनके घर पर गया हो। उनका एक तरीका था कि जितना परीक्षाओं में वह परीक्षक होते, चाहे वह कालेज की हों अथवा यूनिवर्सिटी की, परीक्षार्थियों की नामावली बनाकर जो नम्बर देते, लिखकर अपने पास रख लेते। जब कभी कोई विद्यार्थी उनसे सर्टिफिकेट, नौकरी वगैरह के लिए, मांगता तो उससे उन

सब परीक्षाओं का समय पूछ लेते, जिनमें उन्होंने उसकी परीक्षा ली थी। अपने रजिस्टर देखकर, परीक्षाफल के आधार पर, दूसरे दिन सर्टिफिकेट लिखकर ला देते। उनके सर्टिफिकेट की बड़ी कद्र होती।

मैं हिम्मत करके उनके घर पर पहुंचा। डरता तो था, पर कोई चारा नहीं था। उन्होंने प्रायः दो बरसों तक पढ़ाया था। इसलिए मुझे जानते थे। देखते ही पूछा कि क्यों आये हो। मैंने अभिप्राय बतलाया। अभी परीक्षा लिये चन्द दिन ही बीते थे, उनको फल याद था। उन्होंने कहा कि मुझे याद है, तुम सबसे ऊपर आये हो और नम्बर भी अच्छे मिले हैं, तो भी ऐसा क्योंकर हुआ ? मैंने तार दिखलाया। उन्होंने अपना रजिस्टर निकाला। देखकर फिर कहा कि मेरा ख्याल ठीक है, तुम्हारे अच्छे नम्बर आये हैं और तुम अव्वल हुए हो, मैंने खुद अपने हाथों से लिखकर परीक्षाफल प्रिंसिपल को दिया है, उसमें कोई भूल नहीं थी, वहां आफिस में कोई भूल हुई है, मुझसे कालेज में मिलो।

मेरी जान-में-जान आई। मैं पहले से ही जाकर कालेज की सीढ़ी पर खड़ा हो गया। वह समय से एक-दो मिनट पहले ही पहुंचे और सीधे प्रिन्सिपल के कमरे में चले गये। वहां देखा कि मेरे नम्बर दूसरे साथी के नाम के सामने लिख गये हैं, जिसने ऑनर्स में पूरे नम्बर नहीं पाये हैं और इसलिए फेल हो गया है। उसके नम्बर मेरे नाम के सामने लिखे गये हैं ! प्रिन्सिपल ने अपनी भूल मान ली, खेद प्रकट किया और कहा कि उस लड़के से कह दीजिये कि भूल हो गई थी, अब उसको परीक्षा देने की इजाज़त है।

मैं तो इन्तजार में खड़ा था ही। वहां से निकलते ही उन्होंने मुझसे सब बातें कहीं और कहकर क्लास में पढ़ाने चले गये। इस गोलमाल का नतीजा यह हुआ कि मेरे दो दिन बेकार गये। जामतारा से कलकत्ते आने-जाने में खर्च पड़ा और कुछ देर तक बड़ी चिन्ता रही। दूसरा नतीजा यह भी हुआ कि मेरे दूसरे साथी, जिनके नाम के सामने मेरे नम्बर लिखे गये थे, ऑनर्स में परीक्षा देने पाये। भूल सुधारने के पहले ही उनकी दर्खास्त, फार्म भरकर प्रिन्सिपल के हस्ताक्षर के साथ, यूनिवर्सिटी में भेजी जा चुकी थी। वह इजाजत वापस लेना अब सम्भव नहीं था। उन्होंने परिश्रम से पढ़ा और यूनिवर्सिटी की परीक्षा में वह भी ऑनर्स के साथ पास कर गये। जैसा मैं ऊपर कह चुका हूं, एण्ट्रेंस, एफ० ए० और बी० ए० तीनों की परीक्षाओं में मुझे इजाज़त

मिलने में कुछ दिक्कत हुई, यद्यपि मैं तीनों में पहले भी और यूनिवर्सिटी की परीक्षा में भी बराबर अव्वल रहा ।

जब परीक्षा के दिन नजदीक आये तो मैं कुछ घबराया । कुछ ख्याल पैदा हुआ कि इस बार भी अगर अव्वल न हुआ तो शिकायत होगी । पर इस बार इच्छा कुछ तीव्र नहीं थी और अब समय भी नहीं रह गया था कि एफ० ए० परीक्षा की तरह तैयारी की जाय । परीक्षाफल में स्थान केवल ऑनर्स के नम्बर से ही मिलता था । इसलिए मैंने ऑनर्स के विषयों पर ही ध्यान दिया । फिलासफी, जिसमें केवल पास ही करना था, एक तरह से छोड़ ही दिया । पहले भी डाक्टर पी० के० राय के लेक्चरों को ही ध्यान से सुना करता था । किताबें कम पढ़ी थीं । इसमें एक बार एक घटना से प्रोत्साहन ही मिला था । एक दिन डाक्टर राय बीमार पड़ गये । उन्होंने उस दिन पढ़ाया नहीं । कुछ सवाल दे दिये और सबको उन सवालों का उत्तर लिखकर देने को कहा । सबने उत्तर लिखे । मैंने किताबें तो पढ़ी नहीं थीं । केवल लेक्चर में जो उन्होंने कहा था, उसे ही, जहांतक हो सका, लिख दिया । डाक्टर ने सब उत्तरों को घर ले जाकर पढ़ा और दूसरे दिन उस तात्कालिक परीक्षा का फल यह सुनाया कि मैं ही सबसे ऊपर हूं और जिन लोगों ने उस विषय में ऑनर्स किया है, उनसे भी अधिक नम्बर मुझे मिले हैं । इसके बाद से मुझे और भी विश्वास हो गया कि फिलासफी के लिए बहुत पढ़ने की जरूरत नहीं है ।

यूनिवर्सिटी परीक्षा के पहले कालेज की परीक्षा में भी मुझे उन परचों में ऑनर्स के लड़कों के मुकाबले ज्यादा नम्बर मिले । इसलिए जामतारा में भी इसपर ध्यान नहीं दिया । परीक्षा का दिन निकट आ गया । अंगरेजी की परीक्षा हो गई । उसके बाद फिलासफी की परीक्षा थी । प्रायः दो महीनों से मैंने शायद ही फिलासफी की कोई पुस्तक देखी थी । उस दिन संध्या को अचानक एक भय पैदा हो गया कि फिलासफी में मैं दूसरे दिन कुछ भी उत्तर नहीं दे सकूंगा । इस प्रकार जब सोचने लगा तो मालूम पड़ने लगा कि कुछ भी याद नहीं हैं । मैंने सोचा कि पुस्तक पढ़ने का तो समय है नहीं । रात-भर में जो कुछ नोट वगैरह थे, उनको एक बार दुहरा जाऊं तो शायद पास करने लायक लिख सकूं । फिलासफी में साइकलॉजी (मनोविज्ञान), एथिक्स (आचारशात्र) और लॉजिक तीन विषय पढ़ने थे । साइकलॉजी पढ़ना शुरू किया । आदत के मुताबिक सही शाम ही नींद आ गई । कुछ देर के बाद फिर घबराकर उठा

तो सोचा कि अच्छा होगा कि अभी सो जाऊं और रात में दो-तीन बजे से उठकर सबकुछ एक बार दुहरा लूंगा । एक बूढ़ा नौकर था । उसको कह दिया कि ठीक दो बजे जगा देना । दो-तीन दिनों से परीक्षा में बहुत मेहनत पड़ी थी । बहुत थक गया था । नींद खूब जोर से आ गई । नौकर बेचारा रातभर बैठा रहा । जैसे दो का घंटा बजा, जगाना शुरू किया । पर उसके हजार कोशिश करने पर भी मेरी नींद नहीं टुटी ! करीब साढ़े चार बजे के नींद खुली और घड़ी देखी । बहुत घबराया । नौकर पर गुस्सा हुआ, पर उसने कहा कि वह तो बराबर जगाता ही रहा, मैं न उठा तो उसका क्या दोष । जल्दी-जल्दी नोट उलटने लगा । साइकलॉजी और एथिक्स तो उलटकर देख गया । इन विषयों को डाक्टर राय ने पढ़ाया भी था । पर लॉजिक देखने का समय नहीं मिला । घबराकर एक साथी के पास गया । सब हाल कहा । उसने लॉजिक के सभी अध्यायों के शीर्षक कह दिये और प्रत्येक शीर्षक के सम्बन्ध में कुछ बातें कह दीं । उस समय मालूम होता था कि मैं एक नई चीज पहले-पहल पढ़ रहा हूं । इतने में जाने का समय हो गया । दौड़कर दस-पन्द्रह मिनटों में मुंह धोकर स्नान करके कुछ भात निगलकर दौड़ता हुआ यूनिवर्सिटी में पहुंचा । पहुंचने के पहले ही पहली घंटी बज चुकी थी । दौड़कर स्थान पर बैठ गया और परचा हाथ में आ गया । इतना घबराया था कि कुछ पता नहीं चलता था कि एक प्रश्न का भी उत्तर लिख सकूंगा या नहीं । डर यह होता था कि और विषयों में ऑनर्स पाकर ही क्या होगा--अगर इस विषय में फेल कर गया । किसी एक भी विषय में फेल करने पर सारी परीक्षा में आदमी फेल हो जाता था ।

परचा मिलने पर कुछ शान्ति लाने की कोशिश की । आहिस्ता-आहिस्ता प्रश्नों को पढ़ा । कुछ ऐसा मालूम हुआ कि पहले प्रश्न का उत्तर दे सकूंगा । लिखना शुरू किया । जब खतम किया तो ऐसा समझा कि उत्तर कुछ बुरा नहीं हुआ । इसी प्रकार दूसरे प्रश्न और उसके बाद तीसरे प्रश्न इत्यादि सबका उत्तर लिख गया । उधर समय भी पूरा हो गया । अब मन में विश्वास हो गया कि फेल नहीं करूंगा । सारी घबराहट कम हो गई । आध घंटे की छुट्टी के बाद दूसरा परचा मिला । उसमें भी वैसा ही हुआ । प्रायः सभी प्रश्नों का उत्तर लिख दिया, केवल एक बाकी रह गया था । उसका भी उत्तर कुछ तो दे सकता था, पर पूरा नहीं; क्योंकि उसका सम्बन्ध उस अध्याय के साथ था, जिसका शीर्षक तो मैंने देखा था और साथी ने संक्षेप में कुछ कहना भी शुरू

किया था। पर उसे वह पूरा नहीं कर पाया था, और मैं घड़ी देखकर जल्दी में होस्टल से चला आया था। मैंने उसका उत्तर नहीं दिया और समय से पहले ही चला आया। मुझे विश्वास हो गया था कि अब फेल होने का तो कोई डर ही नहीं है। जब नतीजा निकला तो हिस्ट्री ऑनर्स में मैं अव्वल आया। अंगरेजी में भी ऑनर्स तो मिला, पर अव्वल स्थान नहीं मिला। फिलासफी में बहुत अच्छे नम्बर आये थे। सब विषयों को मिलाकर मैं ही सबसे ऊपर था और वह दोनों छात्रवृत्तियां, एक पचास की और दूसरी चालीस मासिक की, मुझे फिर मिल गई। इस बार का फल किसी प्रयत्न का नतीजा नहीं था, क्योंकि मैंने कोई प्रयत्न किया ही नहीं था।

: ११ :

समुद्रयात्रा-सम्बन्धी आन्दोलन

जब मैं एफ० ए० की परीक्षा देकर, सन् १६०४ की गर्मी की छुट्टियों में, जीरादेई आया था, भाई भी घर पर ही थे। परीक्षा-फल की प्रतीक्षा थी। अखबारों में हम लोगों ने देखा कि विदेश से शिक्षा पाकर डाक्टर गणेशप्रसाद वापस आ रहे हैं। वह बलिया के, जो हमारे जिले छपरा (सारन) से लगा हुआ है, रहनेवाले थे। उनकी ननिहाल छपरे में थी। जाति के वह भी कायस्थ थे। इलाहाबाद से डी० एस-सी० की उपाधि पाकर वह पढ़ने के लिए इंगलैंड गये और वहां से फिर जर्मनी गये। गणित-शास्त्र में उन्होंने बड़ा नाम किया था। देश में उनके पहुंचने के पहले से ही एक आन्दोलन उठ खड़ा हो गया था कि उनको जाति में ले लेना चाहिए। छपरे में दो दल हो गये थे। सुधारक दल के नेता बाबू ब्रजकिशोरप्रसाद थे, जो अभी नये उठते हुए वकील थे और विरोधी दल के नेता दो सबसे प्रतिष्ठित और नामी बूढ़े वकील थे। ब्रजकिशोरप्रसाद हमारे घर पर आये। भाई से सलाह करके उन्होंने बाबूजी से कहा कि डाक्टर गणेश को जाति में ले लेना चाहिए और उनके यहां जो बिरादरी का भोज हो, उसमें बाबूजी को चलना चाहिए।

उस समय तक बिहारभर में केवल मि० सच्चिदानन्द सिन्हा ही विलायत से लौटे कायस्थ थे। उनको लौटे ग्यारह-बारह बरस बीत चुके थे। उनके लौटने के समय भी कुछ आन्दोलन हुआ था, पर उन्होंने प्रायश्चित्त करके फिर पुराने तरीके से जाति के बन्धन को मानना स्वीकार नहीं किया था। इसलिए बाजाब्ता वह जाति में नहीं लिये गये थे। डाक्टर गणेशप्रसाद से, पहुंचने के पहले ही लिखा-पढ़ी करके तय हो चुका था कि वह जाति-बन्धन को मानेंगे। उन्होंने विदेश में भी बहुत सादा जीवन बिताया था और कभी मांस-मछली-मद्य का व्यवहार नहीं किया था। उनका और सुधारकों का विचार था कि इस तरह से ही उस समय समुद्र-यात्रा का रास्ता खुल सकेगा। मि० सिन्हा के लौटने के बाद दस बरसों तक किसी की हिम्मत उस बन्धन को तोड़कर विदेश जाने की नहीं हुई थी। इसलिए अब इस शर्त को मानकर भी रास्ता खोलना चाहिए।

बाबू ब्रजकिशोर ने कुछ लोगों को तैयार किया था कि डाक्टर गणेश के घर चलकर भोज में शरीक होना चाहिए। बाबूजी से उन्होंने बहुत आग्रह किया कि वह भी चलें। बाबूजी ने खुद तो जाना मंजूर नहीं किया, मगर यह कह दिया कि वह हम दोनों भाइयों को भेज देंगे।

डाक्टर गणेश लौटे। बलिया में भोज का दिन मुकर्रर हुआ। बाहर से बाबू ब्रजकिशोर की प्रेरणा से हम बीस-इक्कीस आदमी छपरे से बलिया गये। इनमें दो भाई हम और हमारे दोनों साथी जमुनाभाई और गंगाभाई भी थे। गांव के पटवारी भी थे। डाक्टर गणेश से भेंट हुई। बलिया के कायस्थों में बड़ी हलचल थी।

मैं लिख चुका हूं कि हम लोगों का घर पहले बलिया में ही था। वहां हमारे गोतिया लोग रहते थे। हमारे ब्राह्मण-पुरोहित आज तक बलिया से ही शादी और श्राद्ध में आया करते हैं। मेरी ससुराल के लोग भी बलिया में रहते थे। उस घर के कई आदमी वहां वकालत करते थे। कुछ लोग दूसरे कामों में भी थे। हम लोगों के पहुंचने की खबर वहां फैल गई। इसको छिपाना भी तो मंजूर नहीं था। हमारे एक गोतिया भी वकील थे। वह रिश्ते में हम लोगों के भाई लगते थे। उन्होंने हम लोगों से भेंट की और हम लोगों का उस भोज में शरीक होना पसन्द नहीं किया। उनका ख्याल था कि हम लोग बाबूजी की आज्ञा के बिना ही चुपचाप चले आये हैं। जब हम लोगों ने विश्वास दिलाया कि ऐसी बात नहीं है तो उनको और भी दुःख हुआ। उन्होंने कहा कि चचासाहब को हमसे पूछ लेना चाहिए था, जब हम सब यहीं रहते हैं।

इसी प्रकार मेरी ससुराल के लोगों को भी यह बात बहुत पसन्द नहीं थी; पर उनकी ओर से कुछ अधिक जोर नहीं डाला गया। रात को भोज हुआ। भात खाकर हम सब अपने स्थान के लिए वापस हुए। डाक्टर गणेश पहले इलाहाबाद में और फिर हिन्दू-यूनिवर्सिटी में गणित-विभाग के सर्वोच्च स्थान पर रहकर कई बरसों के बाद गुजर गये। हम लोगों से उस पहली मुलाकात को वह कभी भूले नहीं और मुझसे बहुत प्रेम रखते रहे।

बलिया से लौटकर मैं अपनी दूसरी बहन के घर, जो छपरे से कुछ दूर पर ब्याही थी, बाहर-ही-बाहर चला गया। वहां जाने का कोई खास विचार नहीं था। पहले से ही उसकी इच्छा थी कि मैं दो-चार दिन उसके साथ रहूं। छपरे से ही वहां जाने

में सुविधा थी। इसलिए घर वापस न जाकर वहां चला गया।

जिन लोगों ने भोज में शिरकत की थी, उनके नाम अखबारों में छपे और छपरे में बड़ा हल्ला हुआ। वहां तैयारियां होने लगीं कि वे लोग जातिच्युत कर दिये जायं। काशी से महामहोपाध्याय शिवकुमार शास्त्री की, समुद्र-यात्रा के विरूद्ध, व्यवस्था मंगाई गई। जिला-भर के कायस्थों की एक बड़ी सभा करने का आयोजन होने लगा। मुझे इसकी कुछ भी खबर न थी। मैं तो बहन के गांव में था। इसी बीच परीक्षा-फल भी निकल गया। बाबू ब्रजकिशोर ने गजट देखकर जीरादेई खबर दे दी। भाई को बात मालूम हो गई। बाबूजी को बड़ी खुशी हुई। उन्होंने तुरन्त सत्यनारायण की कथा सुनी; ब्राह्मण-भोजन और बिरादरी-भोज का प्रबन्ध कराया। यह सब मेरी गैरहाजिरी में ही हुआ।

मैं अपने बहनोई के घर से जीरादेई के लिए रवाना होकर छपरे पहुंचा। बहनोई भी साथ छपरे आये। छपरे में जो आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था, उसकी उनको खबर ही नहीं थी। हम लोग रात को छपरे पहुंचे और वहां पहुंचकर सो गये। इसलिए, उस रात को कुछ पता न मिला। मेरे परीक्षाफल की भी खबर न मिली। खूब सवेरे रेल जाती थी, जिससे हम जीरादेई जा सकते थे। सवेरे ही मैं स्टेशन पहुंच गया। बाबू ब्रजकिशोर का डेरा स्टेशन के नजदीक ही था। मैंने नौकर को भेजा कि जाकर पूछ आओ--परीक्षाफल अभी निकला कि नहीं। उन्होंने खबर दिलवाई कि परीक्षाफल निकल चुका है और मुझको उनसे मुलाकात किये बिना उस गाड़ी से नहीं जाना चाहिए। मैं उनके डेरे पर गया, क्योंकि परीक्षाफल जानने की उत्सुकता थी। वहां उन्होंने रोक लिया। कचहरी सवेरे सात बजे से हुआ करती थी। उनके साथ मैं भी कचहरी गया। इसकी खबर मेरे बहनोई को नहीं मिली कि मैं वहां रूक गया हूं। मैं जब बाबू ब्रजकिशोर के साथ लाईब्रेरी में पहुंचा तो बहुतेरे वकीलों ने मुझे घेर लिया। कुछ तो परीक्षाफल से खुश होकर बधाई देने लगे और कुछ डाक्टर गणेश के भोज का हाल पूछने लगे। वे यह जानना चाहते थे कि भोज में कौन-कौन शरीक थे और मैं कहां से आया हूं। मैंने सब बातें कह दीं। यह भी कह दिया कि कई दिनों से मैं 'पैगा' में अपने बहनोई के साथ था और वहां से ही लौटा हूं। मुझे इसका पता नहीं था कि मैंने जो इस तरह सच्ची बातें बता दीं उसका कुछ बुरा परिणाम होनेवाला है।

बात यह थी कि कुछ लोगों ने, जो भोज में शरीक थे, आन्दोलन को देख

सहमकर, अपने घरवालों के जोर देने से, शरीक होना इनकार कर दिया था और अखबार में छपी खबर को गलत बता दिया था । मेरे बहनोई से भी, ज्योंही वह बार-लाइब्रेरी में पहुंचे, सवाल हुए । उनको यह मालूम नहीं था कि मैं डाक्टर गणेश के भोज में शरीक हुआ था । उनको यह भी नहीं मालूम था कि मैं जीरादेई न जाकर छपरे में रूक गया था और उसी जगह बार-लाइब्रेरी में कहीं औरों से बातें कर रहा था । बड़े प्रतिष्ठित वकीलों की बात सुनकर वह भी कुछ सहम गये । उन्होंने मेरी ओर से इनकार कर दिया और कह दिया कि मैं अगर भोज में गया होता तो उनको जरूर मालूम हो गया होता । तब लोगों ने उनसे कहा कि मैं वहीं हूं और मैंने ही भोज का हाल खुद कहा है । अब नौबत आई कि मुकाबला कराया जाय, पर मैं वहां से बाबू ब्रजकिशोर के डेरे पर चला आया । जब मैं गांव पहुंचा तो मैंने सुना, एक दिन पहले पूजा वगैरह होकर ब्राह्मण-भोजन और बिरादरी का भोज भी हो चुका है, जिसमें केवल गांव के ही नहीं, बल्कि आसपास के गांवों के कायस्थ भी--जो बराबर बिरादरी-भोज में शरीक हुआ करते थे--शरीक हो चुके थे । गांव में तो कोई दिक्कत थी ही नहीं, क्योंकि हम तीन ही घर कायस्थ थे, और तीनों घरों के लोगों ने बलिया के भोज में शिरकत की थी । मैंने छपरे का हाल भाई से कहा । बाबू ब्रजकिशोर का सन्देश भी कहा कि छपरे में होनेवाली सभा में अपने मतवाले लोगों को पहुंचाना चाहिए और उस सभा में समुद्र-यात्रा के पक्ष में प्रस्ताव भी पास कराना चाहिए ।

छपरे में सभा की बड़ी तैयारियां हुईं । सारे जिले से कायस्थ बुलाये गये । काशी से महामहोपाध्याय शिवकुमार शास्त्री व्यवस्था देने आये । साथ ही, इस बात की कोशिश होने लगी कि उन लोगों से, जिन्होंने भोज में खाना खाया था, या तो इनकार कराया जाय या प्रायश्चित्त । हम लोग सभा के दिन छपरे नहीं गये । पर सुना कि बहुत कायस्थ जमा हुए । जिला दो भागों में बंट गया था । पूरब छपरा दोनों विरोधी बड़े वकील साहबों के साथ में था, और पच्छिम छपरा का--जहां के हम लोग रहनेवाले थे--यह दावा था कि हम पक्ष में हैं । बात यह है कि अधिक बिरादरी के लोग विरोधी थे । कुछ थोड़े लोग जो पक्ष में थे, अधिकांश पच्छिम छपरा के थे, जिनमें हमारा घर प्रतिष्ठित समझा जाता था । छपरे में, पंचमन्दिर में, जो एक कायस्थ का ही बनवाया हुआ सबसे बड़ा और बहुत सुन्दर मन्दिर उस शहर में है, सभा हुई । वयोवृद्ध और प्रसिद्ध वकील साहब सभापति होने वाले थे । जब लोग पहुंचे तो हमारे दल के एक आदमी ने उठकर प्रस्ताव कर दिया कि सभापति बाबू सरस्वतीप्रसाद

वकील बनाये जायं। यह सज्जन भोज में शरीक हो चुके थे, पच्छिम छपरा के रहनेवाले थे; पर गोरखपुर में वकालत किया करते थे। कुछ लोगों ने प्रस्ताव का समर्थन कर दिया। जिन्होंने सभा बुलाई थी, वे कुछ भौंचक-से हो गये। उन्होंने तो बड़े वकीलसाहब का नाम सभापति होने के लिए नोटिस में छाप दिया था। सुधारक दल के जो लोग मौजूद थे, उन्होंने शोर किया कि बाबू सरस्वतीप्रसाद सभापति बनाये जायं। दूसरे लोगों को इस विरोध की आशा नहीं थी। वह समझते थे कि सब लोग उनके साथ हैं। वास्तविक अधिकांश क्या, बहुमत जोरों से उस सभा में भी उनके साथ था। पर वह बहुत-कुछ डर गये। इधर से जोर होने लगा कि सभापति के चुनाव के बारे में मत लिया जाय। इससे वह और भी घबराये। उन्होंने मत लेने से इनकार कर दिया और कहा कि जिनका नाम प्रकाशित किया गया है, वही सभापति होंगे। वह सभापति के स्थान पर बैठने के लिए चले। इधर से बाबू सरस्वतीप्रसाद भी चले और उन्होंने कहा--वकीलसाहब, सभा ने तो मेरा नाम सभापति के लिए प्रस्तावित किया है, मैं सभापति हूं, आप कैसे यहां बैठ सकते हैं। इससे और घबराहट फैली। उन्होंने कह दिया कि ये लोग सभा नहीं होने देंगे, इसलिए सभा बर्खास्त की जाती है।

सुधारक दल तुरन्त उठ खड़ा हुआ और खुशियां मनाता और यह घोषित करता हुआ कि उसकी जीत हो गई, वहां से चल पड़ा। सुधारकों को तो यही कराना था, क्योंकि वे जानते थे कि सचमुच अगर मत लिया जाता तो वे जरूर हार जाते। उस दिन की सभा बर्खास्त हुई। दूसरे दिन फिर सभा की गई। वहां प्रस्ताव पास किया गया कि जितने लोगों ने भोज खाया था, वे जातिच्युत किये गये। उनके साथ खान-पान, शादी-विवाह, सब बन्द कर दिया गया। उनके नाम भी प्रस्ताव में दे दिये गये। उस प्रस्ताव को छपवाकर जिला-भर में बांटने का प्रबन्ध किया गया। सुधारकों की ओर से कहा गया कि यह सभा तो पूरी बिरादरी की थी नहीं और हमारे (सुधारकों के) चले जाने के बाद दूसरे दिन की गई थी; इसलिए इस प्रस्ताव को हम नहीं मानते और जिला-भर की बिरादरी उसे स्वीकार नहीं करती। अगर सब लोग सचमुच इस प्रस्ताव को मानते हैं तो फिर सभा करके जिला-भर की बिरादरी बुलाई जाय और प्रस्ताव पास कराया जाय। इस प्रकार की गड़बड़ी मच गई और अखबारों में दोनों पक्षों के बयान भी शायद निकले। फलतः जाति-बहिष्कार बहुत बलवान न हो सका।

जहांतक हम लोगों का सरोकार था, जाति-बाहिष्कार का कोई प्रश्न उठा ही नहीं; क्योंकि हमारे आस-पास के सब लोग हमारे साथ खाते-पीते रहे और ब्राह्मण-पुरोहित ने कभी कोई दिक्कत न होने दी। हां, बाबूजी को एक बार कुछ दुःख हुआ। मैं कह चुका हूं कि हमारे बहनोई छपरे के नजदीक के रहनेवाले थे। उनके यहां इस बहिष्कार-आन्दोलन का कुछ जोर रहा। छपरे के लोगों ने उनपर बहुत जोर डालकर एक मरतबा एक बहुत बुरा पत्र बाबूजी के पास उनसे लिखवाया। एक आदमी पत्र लेकर आया, हम लोगों से मुलाकात हुई। उसने कहा कि बाबूजी को ही पत्र देने का हुक्म है, हम लोगों को नहीं। हम लोग समझ गये कि उस पत्र में कुछ इसी सम्बन्ध की बातें होंगी। बाबूजी ने पत्र पढ़ा, और कुछ सहम गये। हमारे वही एक बहनोई जीते थे। दूसरी बहन तो बहुत पहले ही विधवा हो चुकी थीं। इनके भी कोई सन्तान नहीं थी, अपने घर में अकेले थे। न कोई दूसरा भाई, न सगा-सम्बन्धी। जो कुछ सम्बन्ध था, हम लोगों के साथ ही था। इन्होंने पत्र में लिखा था कि इनका कोई दूसरा सम्बन्धी तो था ही नहीं, अब हम लोगों से भी सम्बन्ध टूट जायगा! अगर हम सम्बन्ध कायम रखना चाहते हैं तो या तो भोज में शरीक होना इनकार करके घोषणा कर दें या प्रायश्चित्त करें।

बाबूजी घबराये, पर उनका यह विचार नहीं हुआ कि हम लोगों ने कोई गलती की है। उन्होंने इतना ही कहा कि हम लोग अगर खुद भोज में शरीक होकर इस झगड़े में न पड़े होते तो वह शायद दूसरों पर असर डालकर इस काम में अधिक मदद कर सकते। मां ने जब खबर सुनी कि ऐसा पत्र आया है तो उन्होंने साफ-साफ कहा--"इनकार की बात तो हो ही नहीं सकती है--वह तो बिलकुल झूठी बात होगी और ऐसा करने से भला नहीं होगा। हां, प्रायश्चित्त की बात होगी तो समय आने पर देखा जायगा।"

इसी मजमून का उत्तर भेज दिया गया। उन दिनों मेरी बहन के आने की भी कोई बात नहीं थी, इसलिए यह बात आगे नहीं बढ़ी। बाबूजी छपरे गये। एक मुकदमा चल रहा था। उसमें हमारे वकील वही वयोवृद्ध वकील थे, जो इस आन्दोलन के नेता थे। उन्होंने प्रायश्चित्त पर बहुत जोर दिया। बाबूजी ने यह कहकर बात टाल दी कि हम लोग कलकत्ते में हैं, जब आवेंगे तो सलाह करेंगे।

उन लोगों ने इस तरह, जहांतक हो सका, परोक्ष रीति से जोर डाला।

सार्वजनिक सभा करने का प्रयत्न भी किया। सीवान में, जो हम लोगों के नजदीक का शहर है, एक सभा की गई, जिसमें छपरे की सभा को निश्चय को घोषित करना था। एक सज्जन छपरे से भेजे गये कि सीवान के जिन लोगों ने भोज खाया था, उनके जाति बहिष्कार का फैसला बाजाब्ता सभा में सुना दें। इस सभा में हम लोग भी गये। परन्तु सीवान की बिरादरी में बहुत लोग हम लोगों के साथ थे ; क्योंकि बाबू ब्रजकिशोर, बाबू सरस्वतीप्रसाद और हम लोग--सब इसी (सीवान) सब-डिवीजन के रहनेवाले थे। उस सभा में हम लोगों ने प्रस्ताव कर दिया कि छपरे की सभा को हम लोग नहीं मानते--सीवान की बिरादरी हम लोगों के साथ है।

हमारे गांव के दो आदमी, जमुनाप्रसाद और गंगाप्रसाद, जो हम लोगों के साथ बलिया भोज में शरीक हुए थे, छपरे में पढ़ते थे। वे लोग, कुछ और लड़कों के साथ, एक मकान में रहते थे। उनको कुछ कष्ट उठाना पड़ा। उस 'मेस' के लड़के उनका छुआ नहीं लेते थे--उनके साथ खान-पान भी नहीं करते थे। ब्राह्मण रसोई बनाकर उनके बर्तन में अलग से भोजन दे देता। उन्होंने इस अपमान को खुशी-खुशी बर्दाश्त किया। कुछ महीनों तक यही सिलसिला चला। पर आहिस्ता-आहिस्ता जोर कम पड़ गया। सब एक साथ हो गये। छपरे में विरोधियों के मुखिया लोगों का भी सम्बन्ध ऐसे घरों में हो गया, जो समुद्रयात्रा के पक्ष में थे। उनके अपने घर के भी कुछ लोग उनके विरूद्ध हो गये। उन लोगों ने अपने जीवन में तो इस बात को निबाह दिया, पर बंधन जो टूटा वह फिर जुटा नहीं। समुद्रयात्रा के लिए कायस्थों का रास्ता खुल गया।

: १२ :

छात्र-सम्मेलन और कांग्रेस

बी० ए० पास करके मैं कलकत्ते में एम० ए० और बी० एल० पढ़ने लगा। स्वदेशी आन्दोलन उन दिनों बहुत जोरों से चल रहा था। हम कुछ बिहारी छात्रों पर भी, जो कलकत्ते में पढ़ते थे, उसका असर पड़ता ही था। हम लोग बिहारी क्लब में अक्सर बैठते, मिलते-जुलते और विचार-विनिमय किया करते थे। हम लोगों के दिल में जोश आया कि बंगाल के विद्यार्थी इस प्रकार स्वदेशी का प्रचार कर रहे हैं, अगर हमारे बिहार में भी छात्रों का कोई संगठन होता तो उसके द्वारा स्वदेशी का प्रचार हो सकता। हमने एक गीत भी बनवाया, जिसकी कुछ प्रतियां छपवाकर जहां-तहां बंटवाई। इसीके बंटवाने में संगठन का अभाव और भी मालूम हुआ।

हम लोगों ने सोचा कि बिहार के छात्रों का एक सम्मेलन किया जाय। बिहारी क्लब के सामने इस प्रकार का प्रस्ताव रखा गया। उसे केवल छात्रों ने ही नहीं, बड़ों ने भी बहुत उत्साहपूर्वक स्वीकार किया। मैं पटने भेजा गया। वहां पहले छात्रों से और फिर बड़े लोगों से मैं मिला। उनमें प्रमुख थे मिस्टर सच्चिदानन्द सिन्हा और (स्वर्गीय) बाबू महेशनारायण, जो उन दिनों 'बिहार-टाइम्स' का सम्पादन करते थे। इन सब लोगों ने सहानुभूति दिखलाई। निश्चय हुआ कि पटने में ही पहला सम्मेलन किया जाय और नामी बैरिस्टर मिस्टर शर्फुद्दीन सभापति बनाये जायं। पटने के छात्रों ने एक स्वागत-समिति बनाकर सब प्रबन्ध भी किया।

पहला सम्मेलन पटना-कालेज के बड़े हाल में हुआ। बिहार के सभी कालेजों और अनेक स्कूलों के छात्र उस सम्मेलन में बड़े उत्साह के साथ शरीक हुए। सम्मेलन के उद्देश्य बतलाने का भार मेरे ऊपर दिया गया। मैंने एक लम्बा भाषण अंगरेजी में लिखकर तैयार किया था, उसे पढ़ सुनाया। औरों के भाषण भी अंगरेजी में ही हुए। सम्मेलन में निश्चय हुआ कि पहले उन शहरों में, जहां कालेज हैं, और फिर जहां-जहां स्कूल हैं, छात्र-समितियां कायम की जायं, जो सम्मेलन से सम्बद्ध रहें। एक बड़ी नियमावली तैयार की गई। उसके अनुसार सारे बिहार के छात्रों की प्रतिनिधि-स्वरूप एक स्थायी समिति पटने में कायम हुई। इसमें सभी जगहों के छात्रों

के प्रतिनिधि लिये गये। यही सब छात्र-समितियों पर नियन्त्रण और सम्मेलन का काम साल-भर जारी रखती थी।

मुझे याद है कि नियम बनने के समय दो प्रश्नों पर आपस में बहुत बहस हुई। एक प्रश्न था कि सम्मेलन राजनीति में भाग लेगा या नहीं। इसपर छात्रों में ही बहुत मतभेद था। बड़े लोगों में तो सभी इसके विरोधी थे। अन्त में यह तय हो गया कि सम्मेलन किसी प्रकार के राजनैतिक आन्दोलन में भाग नहीं लेगा, चाहे वह राष्ट्रवादी हो अथवा राजभक्ति-प्रचारक या और किसी प्रकार का। हमने यह निश्चय करके, अब मालूम होता है, बुद्धिमानी दिखलाई। बिहार कभी बंगाल का ही हिस्सा था। सूबा अलग नहीं हुआ था। बिहार शिक्षा में बहुत पिछड़ा हुआ था। सार्वजनिक जीवन तो प्रायः नहीं के बराबर था। विशेषकर छात्र तो बाहर का कुछ जानते ही नहीं थे। कांग्रेस के पक्षपाती थोड़े ही लोग थे। अभी तक बिहार का कोई राजनैतिक संगठन भी अलग नहीं था, न बिहार की अलग कांग्रेस कमिटी थी और न बिहार-राजनैतिक-सम्मेलन की स्थापना हुई थी। यह पहला ही संगठन था, जिसमें सारे बिहार के लोग, चाहे वे नववयस्क छात्र ही क्यों न हों, अलग एकत्र होकर अपने प्रश्नों पर विचार करने बैठे थे। ऐसी अवस्था में अगर हम संभलकर न चलते तो शायद यह संगठन होने ही नहीं पाता।

उस समय तक भारतवर्ष में कहीं भी दूसरा छात्र-सम्मेलन नहीं हुआ था। एक प्रकार से हम लोगों को एक नया संगठन, जिसका कोई नमूना सामने नहीं था, बनाना था। और, दूसरा प्रश्न, जिसपर मतभेद था, यह था कि इस सम्मेलन में केवल बिहारी छात्रों का ही संगठन रहे या इसमें बंगाली छात्र भी शामिल किये जायं। इस सम्बन्ध में भी बहुत मतभेद रहा। मुझे याद है कि कई बरसों तक वार्षिक सम्मेलन में प्रस्ताव आता रहा कि बिहारी छात्र-सम्मेलन में बंगाली भी लिये जायं, पर वह कभी स्वीकार नहीं हुआ। सम्मेलन का नाम तो शुरू से ही बिहारी-छात्र-सम्मेलन था। कई बरसों के बाद नियमावली में जोड़ दिया गया कि 'बिहारी-छात्र' से बिहार में शिक्षा पानेवाले सभी छात्र समझे जायं। हम जो कलकत्ते के विद्यार्थी थे, शुरू से ही इसके पक्ष में थे; पर दूसरे इसका विरोध करते थे।

छात्रों का संगठन बहुत अच्छा हो गया। प्रायः सभी शहरों में इसकी शाखाएं हो गईं। कलकत्ते में तो बिहारी-क्लब इसकी शाखा बन ही गया, हिन्दू-यूनिवर्सिटी की

स्थापना के बाद वहां के बिहारी छात्रों ने भी एक शाखा बना ली। सभी शाखाओं में प्रायः प्रति सप्ताह सभा होती, जिसमें छात्र विविध विषयों पर लेख पढ़ते, भाषण करते और खेल-कूद में भाग लेते। इसके लिए जहां-तहां क्लब कायम किये गये। सालाना जल्से में निबन्धों और भाषणों की प्रतियोगिता होती। सबसे अच्छे लेखों, भाषणों और खेल-कूद के लिए इनाम दिये जाते। कालेज के लड़कों की अलग प्रतियोगिता होती, स्कूल के छात्रों की और लड़कियों की अलग। लड़कियों को लेख और भाषण के अलावा सीना-पिरोना इत्यादि में प्रोत्साहन देने के लिए अलग इनाम दिये जाते। इस प्रकार साल-भर काम चलता। सम्मेलन, दशहरे की हरेक छुट्टी में, कहीं-न-कहीं बिहार के किसी शहर में होता। इस सालाना सम्मेलन के सभापति-पद को बिहार और बाहर के बहुत बड़े-बड़े लोगों ने सुशोभित किया है। जैसे बिहार के मिस्टर शर्फुद्दीन, मिस्टर हसन इमाम, डाक्टर सच्चिदानन्द सिन्हा, बाबू परमेश्वरलाल, बाबू दीपनारायण सिंह, बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद प्रभृति। बाहर के लोगों में श्रीमती एनी बेसेण्ट, श्रीमती सरोजिनी नायडू, महात्मा गांधी, मिस्टर एण्ड्रूज प्रभृति।

यह सम्मेलन १९०६ में कायम हुआ और प्रतिवर्ष अपना सालाना जलसा १९२० तक, जब असहयोग-आन्दोलन शुरू हुआ, करता रहा। उसके बाद यह कुछ शिथिल पड़ गया; क्योंकि इसके सभी उत्साही काम करनेवाले उस महान आन्दोलन में लग गये। फिर भी इसे पुनर्जीवित करने के प्रयत्न किये गये। पर इसमें वह पुराना जीवन और तेज फिर नहीं आ सका। अब जो संगठन है, वह एक प्रकार से नया संगठन है, जिसके कार्यकर्त्ता शायद संगठन का हाल जानते भी न होंगे। जितने दिनों तक यह काम करता रहा, बड़े उत्साह और लगन के साथ सारे सूबे के छात्र इसमें शरीक होते रहे। इसीके द्वारा छात्रों ने संगठन को क्रियात्मक रूप से सीखा, बहुतों ने भाषण करना सीखा। उन पन्द्रह बरसों में जितने भी जानदार और उत्साही युवक बिहार में हुए, सब इससे ही अनुप्राणित हुए। सबने अपने निजी स्वार्थ के अलावा देश-विदेश की कुछ बातें सीखीं और उनके लिए कुछ थोड़ी-बहुत त्याग की प्रवृत्ति भी पाई। जो कुछ उन्होंने सीखा या पाया उससे देश को लाभ भी पहुंचा। जब महात्मा गांधी बिहार में आये, इस छात्र-सम्मेलन के भूतपूर्व कार्यकर्त्ता ही उनके साथ हुए और असहयोग-आन्दोलन में जितने आगे बढ़े, इसी के उत्पादित फल थे। आज प्रायः वे ही लोग सूबे के नेतृत्व का भार वहन कर रहे हैं, जिन्होंने छात्र-सम्मेलन में ही दीक्षा

पाई थी ।

असहयोग-आन्दोलन ने छात्रों से बहुत बड़े त्याग की मांग की । छात्र-सम्मेलन इसके लिए तैयार नहीं था । प्रस्ताव तो पास हो गया, पर थोड़े ही छात्र अन्त तक उस आन्दोलन में ठहर सके । जो ठहरे वे अधिकतर सम्मेलन के ही कार्यकर्त्ता थे । दूसरे जो वकील-वर्ग में से आये, उनमें भी अधिक सम्मेलन के ही कार्यकर्त्ताओं में से थे । १६२० तक अपना काम इस प्रकार से पूरा करके सम्मेलन मरता-जीता जीवन बिताने लगा । इसने एक प्रकार से अपना काम पूरा कर लिया था । नई जागृति, नया जीवन सारे सूबे में पैदा कर दिया था और भविष्य के लिए खेत तैयार करके बीज भी बो दिया था, जिसका फल असहयोग-आन्दोलन को मिला और आज तक सूबे को मिल रहा है ।

१६०६ के दिसम्बर में कांग्रेस कलकत्ते में होनेवाली थी । मैं कांग्रेस की खबर तो कुछ पहले से ही पढ़ा करता था, पर अभी तक कांग्रेस देखने का सौभाग्य और सुअवसर मुझे नहीं मिला था । जब १६०५ के दिसम्बर में कांग्रेस बनारस में हुई, मैं बी० ए० परीक्षा के फेर में था और नजदीक होने पर भी वहां नहीं जा सका था । १६०६ की कांग्रेस में पहले-पहल स्वयंसेवक (वालंटियर) की हैसियत से मैं शरीक हुआ । कांग्रेस का अधिवेशन बड़े जोश का हुआ । गरमदल और नरमदल का आविर्भाव हो चुका था । गरमदल के नेता समझे जाते थे लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय, विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष प्रभृति । नरमदल के नेता थे सर फीरोजशाह मेहता, गोखले प्रभृति । जहांतक मैं समझ सकता था सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और पंडित मदनमोहन मालवीय बीच का स्थान रखते थे । आपस के झगड़े को मिटाने या कम करने के लिए दादाभाई नौरोजी विलायत से बुलाकर सभापति बनाये गये थे । सौभाग्य से मुझे कांग्रेस-पंडाल की ड्यूटी मिली थी । इसलिए मैं विषय निर्धारिणी समिति में सब बहसें सुन सका था । कांग्रेस-पंडाल में अधिवेशन के समय पहले दिन मैं कुछ दूर पर रखा गया था, जिससे सभापति का भाषण नहीं सुन सका । मैंने देखा कि अधिकांश स्वयंसेवक अपने स्थान को छोड़कर भीतर चले गये । मैंने ऐसा करना उचित नहीं समझा और अपने नियुक्त स्थान पर ही डटा रहा । सरोजिनीदेवी, मालवीयजी और मिस्टर जिन्ना के भाषण पहले-पहल इसी कांग्रेस में सुने । कांग्रेस के साथ प्रदर्शनी भी बहुत जबरदस्त हुई थी । अधिवेशन देख

करके कांग्रेस के बारे में श्रद्धा अधिक बढ़ गई, पर अभी कई बरसों तक मुझे इसमें बाजाब्ता शरीक होने का अवसर नहीं मिला। यह अवसर मिला पहले-पहल १६११ में, जब कांग्रेस फिर कलकत्ते में हुई, उसी समय से आज तक मैं अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी को मेम्बर रहा हूं और थोड़ा-बहुत कांग्रेस का काम करता आया हूं।

उन दिनों कांग्रेस का संगठन कुछ ढीला ही था। बिहार में तो बहुत थोड़े ही लोग इससे सम्बन्ध रखते थे। वह भी अधिकतर वकील लोग ही हुआ करते थे। एक प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी १६०७ या १६०८ में ही अलग बन गई थी, जो बंगाल की प्रान्तीय कमिटी से जुदा थी। सूबा तो १६१२ में अलग हुआ। पर यह प्रान्तीय कमिटी कुछ बहुत नियमित रूप से नहीं बनती थी जो प्रतिनिधि होते थे, वे भी कोई नियमित रूप से चुने नहीं जाते थे। एक सभा होती थी, जिसमें कुछ लोग चुन लिये जाते थे। अधिवेशन में पहुंच जाते तो ठीक, अगर नहीं पहुंच पाते, तो जो लोग पहुंच जाते, उनको ही मन्त्री प्रतिनिधि मान लेते और उनके नाम से प्रमाणपत्र दे देते! इस तरह से बिहार कभी खाली नहीं जाता। हर साल कुछ लोग अधिवेशन में शरीक जरूर हो जाते। जो प्रतिनिधि जाते वही उन दिनों के नियमानुकूल अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के मेम्बर चुन लेते। मैं १६११ में अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी का मेम्बर इसी तरह से चुना गया; कांग्रेस की कोई खास सेवा नहीं की थी। उसी साल मैं पहले-पहल प्रतिनिधि बना था। पर छात्र-सम्मेलन के कारण और यूनिवर्सिटी की परीक्षाओं में अच्छा फल होने के कारण बिहार के सभी लोग मुझे जानते थे। सबने एक छलांग में ही मुझे अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी में पहुंचा दिया। यह सब बातें १६२० के बाद बहुत-कुछ बदल गई। पर इसका जिक्र आगे आवेगा।

: १३ :

विदेश-यात्रा का निष्फल प्रयत्न

डॉन सोसाइटी और स्वदेशी आन्दोलन का असर मेरे ऊपर यह पड़ा कि मेरे मन में आया, देश के लिए किसी तरह कुछ करना चाहिए। भाई के साथ का भी असर कुछ वैसा ही पड़ता रहता था। पर अभी तक यह स्पष्ट नहीं हुआ था कि यह इच्छा किस प्रकार पूरी होगी और न यही साफ सूझता था कि कौन-सी सेवा की जाय और इसके लिए क्या करना चाहिए। यह एक इच्छा मांत्र थी, जो कभी-कभी उठा करती और फिर इधर-उधर की झंझटों में विलीन हो जाती। छात्र-सम्मेलन का संगठन का रास्ता मिला था, पर वह भी स्थायी होगा या उसमें भी परिवर्तन आ जायगा, कुछ समझता न था और न कह सकता था। हां, एक बात जी में आ गई थी, वह यह थी--सरकारी नौकरी नहीं करनी चाहिए। इसलिए बी० ए० पास करने के बाद डिप्टी-मजिस्ट्रेटी के लिए दर्खास्त नहीं दी। भाई भी नहीं चाहते थे कि यह मैं करूं। बाबूजी की इच्छा थी, कि मैं वकालत करूं। भाई दुर्भाग्यवश एम० ए० नहीं दे सके। घर से अधिक खर्च लाकर कलकत्ते में या और कहीं अब रहना नहीं चाहते थे। वह डुमरांव-राज-स्कूल में शिक्षक का काम करने लगे। मैं डिप्टीगरी का ख्याल छोड़कर कलकत्ते में एम० ए०, बी० एल० पढ़ने लगा था।

छात्र-सम्मेलन हो जाने के बाद मुझपर यह एक धुन सवार हो गई। यह नहीं कह सकता कि यह विचार कैसे उठा और किसके प्रोत्साहन से; पर यह ख्याल हुआ कि अब किसी प्रकार विलायत जाकर आई० सी० एस० की परीक्षा पास करनी चाहिए। सरकारी नौकरी की इच्छा नहीं थी, तो भी न मालूम मन को कैसे सन्तोष हो गया कि यह करने योग्य है। इसमें भाई ने भी प्रोत्साहन दिया। घर से इतने रूपये मिल नहीं सकते थे कि विलायत का खर्च जुट सके, इसलिए कोई दूसरा ही प्रबन्ध होना चाहिए। मि० सच्चिदानन्द सिन्हा ने जब यह सुना कि मेरी ऐसी इच्छा है तो खुश हुए और बाबू ब्रजकिशोर तो इसके लिए, हमेशा तैयार ही रहते थे। डाक्टर गणेश के भोज के बाद बाबू अम्बिकाचरण को उन्होंने जापान जाने में बहुत प्रोत्साहन दिया था। मेरे लिए विलायत जाना उन्होंने एक प्रकार से अनिवार्य समझा और लग गये रूपये जुटाने की धुन में। मुंशी ईश्वरशरण भी इसमें दिलचस्पी लेने लगे। आरा

के रायबहादुर हरिहरप्रसाद ने कुछ रूपये दिये । सोचा गया कि मेरे चले जाने के बाद और रूपये भाई इन लोगों की मदद से अथवा घर से किसी प्रकार भिजवाते रहेंगे । इस बात का डर हम लोगों को था कि बाबूजी और मां इस बात को पसन्द नहीं करेंगी और घर में बहुत बावेला मचेगा । मैं इस सिलसिले में पटने और इलाहाबाद भी गया । भाई भी साथ थे । बाबूजी से यह बात गुप्त रखी गई; क्योंकि उनकी आज्ञा मिलने का कोई आशा नहीं थी । हमने जाने के लिए दिन भी मुकर्रर कर लिया । कलकत्ते में कपड़े भी बनवा लिये ।

उस समय तक अंगरेजी ढंग का कोई कपड़ा मैंने कभी नहीं पहना था । पर विलायत में दूसरे कपड़े तो पहने नहीं जा सकते, यही धारणा थी । इसलिए अंगरेजी ढंग के कपड़े एक अंगरेजी दुकान में ही बनवाये गये । यही एक अवसर था जब मैंने विदेशी कपड़े, १८६८ के बाद से आजतक, खरीदे हैं । पासपोर्ट के लिए दर्खास्त दी गई । कार्रवाई हो रही थी । हम लोग समझते थे कि यह बात पूरी हो जायगी, जाने के पहले बाबूजी को खबर नहीं मिलेगी और घर की ओर से कोई बाधा नहीं आवेगी । इस षड्यंत्र में कालेज के साथियों में से तीन-चार और थे, जिनमें एक मेरे बिहारी मित्र शुकदेवप्रसाद वर्मा थे और बाकी बंगाली लोग थे । मेरे अपने लोगों में भाई, बाबू व्रजकिशोर, मिस्टर सिन्हा, मुंशी ईश्वरशरण और रायबहादुर हरिहरप्रसाद सिंह थे ।

भाई और बाबू व्रजकिशोर के साथ मैं इलाहाबाद गया । मुंशी ईश्वरशरण के साथ ठहरा । वहां मेरी ससुराल के लड़के कालेज में पढ़ रहे थे । उनमें किसी से मुलाकात तो नहीं हुई, पर उनको किसी-न-किसी तरह खबर लग गई । वे खोजते-ढूंढ़ते मुंशी ईश्वरशरण के यहां पहुंच गये । वहांपर लोगों ने कह दिया कि मैं नहीं हूं । उन्होंने घर पर तार दे दिया कि मैं छुपकर विदेश जा रहा हूं और उस दिन प्रयाग में हूं ! तार पाते ही बाबूजी और घर के सब लोग बहुत घबराये । बाबूजी अस्वस्थ थे, इसलिए वह नहीं निकल सकते थे, पर मेरी मां और बहन सीधे इलाहाबाद चली गई । उन लोगों की यह गलत धारणा थी कि मैं इलाहाबाद से ही चला जानेवाला था । मैं तो अभी सलाह-बात करने और रूपये के जुगाड़ में गया था । वहां एक दिन रहकर वहां से सीधे फिर कलकत्ते चला आया था ।

जब मां इलाहाबाद पहुंची तो मैं वहां नहीं था । मुंशी ईश्वरशरण के यहां तलाश

करने पर उनको खबर मिल गई कि मैं कलकत्ते वापस चला गया। मुझे कलकत्ते में इन बातों की खबर नहीं था। वहां तार पहुंचा कि बाबूजी बीमार हैं। मैं वहां से उनसे मिलने घर आया तो सब बातें मालूम हो गई। वह सचमुच बीमार थे, पर अभी बीमारी कुछ कड़ी नहीं थी; दुःखित जरूर थे। घर में तो रोना-पिटना हो रहा था। भाई भी आये। बाबूजी उनसे बहुत दुःखी थे कि मुझे विदेश भेजने का षड्यंत्र वही कर रहे थे। मेरे पहुंचते ही सबकी करूणा उमड़ पड़ी। खूब जोरों से रोना-पीटना होने लगा। उन्होंने मुझे जाने से साफ-साफ मना कर दिया। कह दिया कि मैं अगर विलायत गया तो वह नहीं बचेंगे। जो बातें हुई थीं, मैंने सब साफ-साफ कह दीं। वादा भी कर दिया कि नहीं जाऊंगा। जब बाबूजी को मेरी बात पर विश्वास हो गया तब फिर उन्होंने कलकत्ते जाने की इजाज़त दे दी।

कलकत्ते में, जब एक प्रकार से सब तैयारियां हो गई थीं, एक छोटी घटना घटी जिसका उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। इस विलायत-यात्रा के जनून में हमारे वे सब साथी शरीक थे, जिनको यह खबर मालूम थी। सबकी इच्छा थी कि वे भी जायं, पर उनका सुयोग अभी जुटा नहीं था। हम सब यही सोचते थे कि मेरे जाने के बाद वे भी किसी-न-किसी उपाय से कुछ दिनों बाद वहां पहुंचने का प्रयत्न करेंगे। एक दिन लॉ-कालेज से निकलने पर एक साथी ने राय दी कि चलो एक ज्योतिषी से इस विषय में परामर्श कर लें। वह एक ज्योतिषी को जानता भी था। वहां हम लोग चले गये। वह एक बूढ़े ब्राह्मण थे। हम लोगों के जाते ही थोड़ी देर के बाद उन्होंने कहा, "मैं समझ गया, तुम लोग किस काम के लिए आये हो।" तब हममें से किसी ने प्रश्न पूछना शुरू किया। प्रश्न तो एक ही था--विलायत-यात्रा सफल होगी ? प्रश्न हमने कहा नहीं, अपने मन में ही रखा। मुझको उन्होंने उत्तर दिया कि अभी नहीं, बहुत दिनों के बाद तुम्हारी इच्छा अभी बहुत जल्दी पूरी होगी। तीसरे भाई से कहा कि तुम्हारी इच्छा पूरी होगी। शुक्रदेव को उन्होंने उत्तर दिया, तुम्हारी इच्छा भी कुछ देर बाद पूरी होगी। चौथे साथी से कहा कि तुम्हारी यह इच्छा पूरी नहीं होगी।

हम लोगों ने एक रूपया दिया। प्रणाम करके वापस चले। रास्ता-भर इसी का मजाक उड़ाते आये कि यह बूढ़ा बिलकुल कुछ जानता नहीं। मेरी तो सब तैयारी हो चुकी है और मैं नहीं जाऊंगा, और शुकदेव जिनके सम्बन्ध में अभी कोई बात नहीं हुई है, बहुत जल्द चन्द दिनों के अन्दर ही चले जायेंगे-- यह कैसे हो सकता है !

हम लोग हँसते-हँसते मजाक उड़ाते वापस आये। उसके बाद ही घर से तार आ गया। मेरा जाना एकबारगी रूक गया। जब मैं घर से वापस आया और यह बात तय हो गई कि मैं नहीं जाऊंगा तब शुकदेव के जाने की बात उठी। मेरे कपड़े और मेरे रूपये लेकर एक दिन वह चले ही गये ! कपड़े और रूपये इतने गुप्त तरीके से होस्टल में रखे गये थे कि हम लोगों के किसी साथी को भी इसकी खबर तक न थी। शुकदेव के बारे में भी डर था कि कहीं उनके पिताजी भी इसी तरह रोक न दें। इसलिए वह भी गुप्त रखा गया। उनको कहीं जाना नहीं था। इसलिए उनकी बात एकबारगी गुप्त रही। जाने के दिन साथियों से कह दिया कि घर जा रहे हैं। हम दो-तीन साथी स्टेशन पर आ गये। उन्हें रेल पर चढ़ाकर बम्बई के लिए रवाना कर दिया। जबतक बम्बई से जहाज रवाना हो जाने की खबर नहीं आई तबतक हम लोगों के दिल में शक बना ही रहा कि शायद वह भी कहीं पकड़कर वापस न बुला लिये जायं। पर जहाज खुल जाने के बाद ही उनके घर के लोगों को खबर मिली। यहां तक कि कलकत्ते में निकट सम्बन्धी लोगों को भी, जिनसे बहुत घनिष्ठता थी, पता नहीं चला।

: १४ :

विद्यार्थी-जीवन की समाप्ति

शुकदेव को रवाना करके मैं तो कांग्रेस की वालंटियरी में बझ गया और कांग्रेस के बाद फिर पढ़ने में लग गया। बाबूजी की बीमारी बढ़ती गई। कुछ दिनों में उनकी हालत खराब होने लगी। खबर मिलने पर मैं कलकत्ते से और भाई डुमरांव से जीरादेई पहुंचे। कुछ दिनों में वह जाते रहे। मरने के पहले हम सबसे भेंट हो गई। उस वक्त तक भाई के दो लड़कियों और एक लड़का जनार्दन के जन्म हो चुके थे। मेरे भी मृत्युन्जय का जन्म उसी साल हुआ था। पोता देखकर वह बहुत सन्तुष्ट रहते थे। जब बीमारी बढ़ गई तब सबको इकट्ठा करके आशीर्वाद दिया।

बाबूजी की मृत्यु से घर में गड़बड़ी तो मची, हम सब दुःखी हुए; पर मुझे एक बात की खुशी भी रही। वह यह कि अच्छा ही हुआ, मैं विलायत नहीं गया। अगर गया होता और उनकी इस प्रकार मृत्यु हो जाती तो मैं न मालूम कितना दुःखी होता। मैं फिर कलकत्ते चला गया। भाई डुमरांव चले गये। घर का इन्तजाम तो भाई कुछ पहले से ही देखा करते थे। अब सारा भार उनपर ही आ गया और वह डुमरांव से आकर जब-तब घर देख जाया करते। मेरे लिए खर्च वगैरह का भी इन्तजाम वही करते। उनको पढ़ने के समय जब-तब खर्चे के लिए कुछ कष्ट भी उठाना पड़ा। घर से रूपये जाने में देर हो जाया करती। पर मुझे उन्होंने बाबूजी के रहने के समय, और उनकी मृत्यु के बाद भी, खर्च की चिन्ता में कभी पड़ने नहीं दिया। उनकी अभिलाषा थी कि जब मैं पढ़ने में तेज हूं और सब परीक्षाएं इस प्रकार सफलतापूर्वक पास करता हूं, तो मुझे केवल पढ़ने में ही मन लगाने का पूरा मौका देना चाहिए। और किसी तरह की दूसरी चिन्ता नहीं होने देनी चाहिए।

छात्रवृत्ति मुझे बराबर काफी मिलती गई। उसको बाबूजी या भाई खर्चे में कभी नहीं जोड़ते थे। खर्च के रूपये तो हमेशा अलग से ही भेजते रहे। उन रूपयों में से मैं कालेज का फीस दिया करता। बाकी रूपया किताब खरीदने में ही लगता। बी० ए० पास करने पर दो छात्रवृत्तियां मिलीं, एक पचास रूपया मासिक की, जो हर महीने

मिला करती । यह तो मैं खर्च करता गया । दूसरी चालीस रूपया मासिक की, जिसकी शर्त थी कि एम० ए० पास करने पर एक साथ जोड़कर मिलेगा । जब एम० ए० पास करने के बाद एक साथ चार सौ अस्सी रूपये मिले, तो विलायत-यात्रा के जनून में जो-कुछ कर्ज लिया था, उसको अदा कर दिया ।

पहले कह चुका हूं कि एफ० ए० पास करने के बाद ही परीक्षा की ओर से कुछ उदासीनता-सी हो गई । बी० ए० में न मालूम कैसे फिर अव्वल हो गया । एम० ए० के समय यह उदासीनता और भी बढ़ गई । इस बरस विलायत-यात्रा के जनून और बाबूजी की मृत्यु के कारण समय दूसरे कामों में लगा । मन भी विचलित रहा । बाबूजी की मृत्यु १६०७ के फरवरी या मार्च महीने में हुई थी । परीक्षा अगले नवम्बर या दिसम्बर में होनेवाली थी । गर्मी की छुट्टियों में कुछ दिनों के लिए मैं साथियों के साथ खरसान (करसियांग **Kurseong**) चला गया । वहीं परीक्षा के लिए तैयारी की । एम० ए० की परीक्षा में मेरा स्थान अव्वल नहीं हुआ । मेरे ऊपर कई साथी आ गये । मुझे इसका कुछ अफसोस नहीं रहा; क्योंकि मैंने कोई आशा भी नहीं की थी और न कोई विशेष प्रयत्न ही किया था ।

इसके बाद प्रश्न हुआ कि क्या किया जाय । परीक्षा देकर मैं भाई के पास डुमरांव चला गया । कुछ दिनों तक वहीं रहा । सोचता रहा कि वकालत की परीक्षा दूं या नहीं । उस ओर जी नहीं जाता था । यह भी महसूस होने लगा कि मैं वकालत कर भी नहीं सकूंगा । कुछ अपनी शक्ति में अविश्वास सा हो गया था । सरकारी नौकरी न करने की तो पहले ही ठान ली थी ।

इसी बीच में एक मित्र बाबू वैद्यनाथ नारायण सिंह ने लिखा कि मैं मुजफ्फरपुर कालेज में प्रोफेसर हो जाऊं तो बहुत अच्छा होगा । वह उस कालेज में प्रोफेसरी कर रहे थे । उनके कहने से मैंने दर्खास्त भेज दी । मेरी नियुक्ति हो गई । १६०८ की जुलाई में कालेज खुलने पर, मैं वहां चला गया । इस काम में जी भी लगता था । वहां के लोगों से जान-पहचान भी हो गई । पर भाई इससे सन्तुष्ट नहीं थे । आहिस्ता-आहिस्ता कालेज की आर्थिक स्थिति खराब होती जाती थी । अन्त में निश्चय हुआ कि मैं फिर वकालत की तैयारी करूं । लॉ कालेज की पढ़ाई तो मैंने खतम कर ली थी; पर परीक्षा नहीं दी थी । भाई की राय हुई कि मैं फिर कलकत्ते जाऊं और वहां परीक्षा देकर वकालत शुरू करूं ।

इस प्रकार विद्यार्थी-जीवन समाप्त हुआ। संसार में प्रविष्ट होने का समय आ गया। जब उन दिनों का स्मरण आता है तो मालूम होता है, मानो वह सुख का युग था। कभी-कभी अफसोस होता है तो इसी का कि उसका जितना अच्छा उपयोग हो सकता था, नहीं किया गया। मुझे इस बात की सुविधा तो मिली थी कि भाई पथप्रदर्शक रहे। जितने अच्छे विचार या अच्छी प्रवृत्तियां दिल में उठीं, सबके बीज उन्होंने ही बोये थे। पढ़ने के समय किसी प्रकार का कष्ट मैं अनुभव न करूं, इसका प्रबन्ध वह बराबर करते रहते। उन्होंने कभी यह नहीं महसूस करने दिया कि घर में कोई आर्थिक कठिनाई है। कलकत्ते में और उसके पहले छपरे में अपने साथियों के साथ मेरा बराबर प्रेम रहा। जहांतक मुझे स्मरण है, किसी के साथ कभी किसी प्रकार की खटपट तक नहीं हुई, झगड़े का तो कोई सवाल ही नहीं है; बल्कि सबके साथ प्रेम का ही व्यवहार रहा। थोड़े लोगों से तो बड़ी घनिष्ठता हो गई, जो बराबर कायम रही। यद्यपि पढ़ने में स्पर्धा और प्रतियोगिता काफी रही, तथापि कभी किसी ने मेरे साथ न तो चालाकी की, न धूर्तता ही की, न कभी किसी के साथ अन्यमनस्कता ही हुई। जहां-कहीं किसी को कोई दिक्कत या कठिनाई होती, हम बराबर एक-दूसरे की मदद करते; बल्कि जो मेरे प्रतिस्पर्धी साथी थे, उनके साथ मिलकर परीक्षा की तैयारी की गई। जब मैं एफ० ए० की परीक्षा के लिए तैयारी कर रहा था तो वह मित्र (जिसे मेरे साथ एण्ट्रेन्स में दूसरा स्थान मिला था) और मैं, दोनों एक साथ ही, परीक्षा की तैयारी करते रहे। इसी प्रकार और परीक्षाओं में भी सब मिलजुलकर पढ़ते रहे।

कलकत्ते जाना और इडेन-हिन्दू-होस्टल का जीवन मेरे लिए बहुत लाभदायक हुआ। कलकत्ते जाने से ही आंखे खुलीं। यह सोचना बेकार है कि वहां अगर नहीं गया होता तो क्या होता। पर मेरा विश्वास है कि अन्यत्र कहीं मुझे इतना लाभ नहीं पहुंचता। इडेन-हिन्दू-होस्टल में रहने से बंगाली साथियों में हिल-मिल जाने का जैसा सुअवसर मिला शायद दूसरी जगह रहने से नहीं मिलता। बंगाली साथियों की स्मृति अत्यन्त सुखकर है। मुझे किसी के भी खिलाफ कोई भावना हुई ही नहीं और न उनमें से किसी ने मेरे साथ कभी कोई बुरा बर्ताव किया। कभी किसी ने कटु शब्द भी नहीं कहे। मैं मानता हूं कि उनके साथ जो दिन बीते, वे अत्यन्त सुखद और लाभप्रद हुए। उनके साथ रहते-रहते, बिना प्रयास के ही, मैंने बंगला बोलना सीख लिया।

आज भी मेरे बहुतेरे मित्र सारे बंगाल मे भरे पड़े हैं । बहुत दिनों के बाद जब मैं असहयोग के दिनों में बंगाल का दौरा करने गया तो जहां जाता वहीं कुछ पुराने जाने-पहचाने मित्र मिल जाते और पुरानी स्मृतियां जाग उठतीं ।

जब मैं कांग्रेस-प्रेसीडेंट हुआ, बिहार में फिर १६३८ में बंगाली-बिहारी प्रश्न उठा । उसके बाद कांग्रेस में मुझे कुछ ऐसे काम करने पड़े, जो बंगाल के कुछ लोगों को नापासन्द आये । मेरे ऊपर बहुत बौछारें हुईं । कटु लेख लिखे गये । गाली-गलौज भी काफी मात्रा में हुई । पर मैं अभी तक यह नहीं महसूस करता हूं कि उनके साथ मेरा कोई द्वेष है या उनके प्रति कभी किसी दूसरे प्रकार की भावना दिल में उठी भी हो । यह हो भी कैसे सकता है ? इतने दिनों का सुन्दर सुहावना साथ, प्रेम का आदान-प्रदान, पुरानी सुखकर स्मृतियां, क्या यह सब मनुष्य भूल सकता है ? कर्तव्य के वश अगर कभी किसी के साथ कोई ऐसा काम करना भी पड़ा, जो उसको पसन्द न हुआ, तो मैं अपने दिल से जब पूछता हूं, हमेशा यही उत्तर मिलता है कि मैंने कभी किसी का अनिष्ट, जान-बूझकर अनिष्ट करने की नीयत से, नहीं किया । जो हो, यह सब बातें तो भूल जायेंगी, पर मेरे हृदय-पट से वे चित्र, जो लड़कपन में ही वहां खिंचे थे, कभी न मिटेंगे । वे सारी स्मृतियां कभी विलीन नहीं हो सकतीं और न मैं उस देन को भूल सकता हूं, जो बंगाल में पन्द्रह बरसों के जीवन ने मुझे दी है ।

कलकत्ते में मेरी घनिष्ठता बहुत बिहारियों से भी हुई । जब मैं कलकत्ते पढ़ने के लिए गया तो थोड़े ही बिहारी छात्र वहां थे । आहिस्ता-आहिस्ता उनकी संख्या बढ़ने लगी । पीछे तो वे खासी तादाद में वहां पहुंच गये । हम लोगों ने अपना बिहारी-क्लब बना लिया था, जिसमें हर सप्ताह सब मिला करते थे । जाति-पांति का झगड़ा इतना साथ लेते गये थे कि हिन्दू-होस्टल में हमने अपने लिए अलग चौका रखा था, जिसमें बिहारी ब्राह्मण रसोई बनाता था । यद्यपि मैं डाक्टर गणेशप्रसाद के साथ भोज में शरीक हुआ था, तथापि जाति का बन्धन बहुत मानता था । वह तो मेरी अपनी जाति के आदमी (कायस्थ) थे; किसी भी दूसरी जाति के आदमी का छुआ हुआ कोई अन्न, जो अपने देश (बिहार) में नहीं खाया जाता है, वहां नहीं खाया । इतने दिनों तक वहां रहा, मगर बंगाली 'मेस' में कच्ची रसोई एक दिन भी नहीं खाई ।

बिहारी साथियों में बहुतेरों से मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया, जो आज कई जिलों

में बिखरे हुए अपने-अपने स्थान पर कुछ-न-कुछ कर रहे हैं । इसलिए जहां जाता हूं, कोई-न-कोई कलकत्ते का साथी मिल ही जाता है । घनिष्ठ मित्रों में चम्पारन जिले के शिकारपुर के श्री अवधेशप्रसाद और जगन्नाथप्रसाद; शाहाबाद के श्री शुकदेवप्रसाद वर्मा ; भागलपुर के श्री कृष्णप्रसाद; रांची के बदरीनाथ वर्मा, बलभद्रप्रसाद ज्योतिषी, डाक्टर साधुसिंह, डाक्टर राजेश्वरप्रसाद, बटुकदेवप्रसाद वर्मा, विन्ध्यवासिनीप्रसाद वर्मा प्रभृति थे । इनमें कितने चले गये और कितने आज भी मौजूद हैं । अवधेशबाबू की मित्रता बहुत फलदायक हुई और उससे लाभ हुआ । पीछे उनके साथ शादी का सम्बन्ध भी हो गया ।

: १५ :

वकालत की तैयारी

मुजफ्फरपुर-कालेज में नौ-दस महीनों तक काम करके १६०६ के मार्च में मैं कलकत्ते फिर वापस चला गया। उन दिनों बी० एल० की दो परीक्षाएं होती थी। एक परीक्षा मैंने तुरंत पास कर ली और दूसरी की तैयारी करनी थीं। हाईकोर्ट में वकालत करने के लिए किसी वकील के साथ दो बरसों तक काम करना चाहिए था। एक छोटी-सी परीक्षा भी पास करनी पड़ती थी, जिसमें जज लोग स्वयं कुछ पूछताछ कर लिया करते थे। अगर मैं चाहता, तो बी० ए० पास करने के बाद, किसी वकील के दफ्तर में नाम लिखाकर, १६०८ में ही ये दो साल पूरे कर सकता था। पर उस समय इस ओर ध्यान नहीं गया। इसलिए अब मैं १६०६ में कलकत्ते गया तो उस समय से दो बरस की उम्मीदवारी करनी थी। इच्छा हुई कि किसी अच्छे वकील के साथ काम सीखूं। खांबहादुर सैयद शमसुलहुदा के पास मैं एक मित्र द्वारा पहुंचाया गया। उस समय उनके साथ दो उम्मीदवार थे और नियम के अनुसार दो ही हो सकते थे। उन्होंने कहा कि जगह खाली होते ही तुमको अपने साथ उम्मीदवार आर्टिकल क्लर्क रख लूगा, तब तक दूसरे मित्र के साथ तुम्हें रखा देता हूं। उन्होंने मुझे जहादुर रहीम जाहिद के साथ रखा दिया। ये सज्जन भी अच्छे वकील थे। कुछ दिनों के बाद विलायत गये और बैरिस्टर होकर आये। पीछे हाइकोर्ट के जज भी हुए। बाद में अपने नाम में उन्होंने 'साहोवर्दी' जोड़ दिया था, इसलिए जस्टिस साहोवर्दी के नाम से ही मशहूर हुए।

मेरा विचार था कि जब दो बरसों तक और कुछ काम नहीं है तो खूब परिश्रम करके कानून अच्छी तरह पढ़ लूंगा, जिससे मैं पहले बहुत डरता था, और वकील के यहां काम भी सीख लूंगा। मैं भाई पर खर्च का भार नहीं डालना चाहता था। इसलिए शुरू में कुछ दिनों के लिए वहां सिटी-कालेज में प्रोफेसरी भी की; पर वह भी थोड़े ही दिनों के लिए। बाद में कुछ विद्यार्थियों को घर पर पढ़ाया करता और उससे वहां का खर्च निकाल लेता। वह लड़का, जिसको मैं पढ़ाता था, जस्टिम दिगम्बर चटर्जी का पुत्र था। इस तरीके से, वकालत शुरू करने के पहले ही, एक जज से भी परिचय

हो गया ।

जब शमसुलहुदा साहब के यहां जगह खाली हुई, मैं उनके साथ काम करने लगा । मैंने उस समय का अच्छा उपयोग किया । मामूली तौर से जो लोग इस प्रकार काम सिखा देते थे, बहुत थोड़ा ही काम किया करते थे और अन्त में दो साल बिताकर नाम-निहादी परीक्षा पास करके वकील हो जाते थे । मैंने ऐसा नहीं किया । मैं रोज सवेरे शमसुलहुदा साहब के घर पहुंच जाता । वहां दस बजे तक उनके हाथ के मुकदमों के कागजों को पढ़ता । उनपर अपना नोट, जैसा उन्होंने बता दिया था, तैयार करता । कानून की नजीरें वगैरह पढ़कर उनके लिए सबकुछ तैयार कर देता । थोड़े ही दिनों में उन्होंने देख लिया कि मैं उनके लिए अच्छा नोट तैयार कर देता हूं, जिससे उनको पूरी मदद मिल जाती है, और 'जूनियर' वकील की बहुत जरूरत नहीं होती है ।

मैं एक 'मेस' में रहा करता था, जो उनके घर से बहुत दूर था । वहां कुछ दूर तक ट्राम पर जाना होता । ट्राम से उतरकर प्रायः एक मील पैदल जाना होता । वह स्वयं बहुत सवेरे उठकर कागज वगैरह पढ़ा करते थे । मैं सात बजे पहुंच जाता और दस बजे तक उनके साथ काम करता । फिर उसी तरह अपने 'मेस' में आता । भोजन करके एक बजे हाइकोर्ट जाता । वहां मुकदमों की बहस सुनता । खासकर के उन मुकदमों में बहत जी लगता जिनके लिए में उनको नोट तैयार कर के देता । संध्या को हाइकोर्ट से लौटकर फिर भवानीपुर, जो हमारे 'मेस' से प्रायः चार मील पर था, जाकर रात में लड़के को पढ़ाता और नौ-दस बजे लौटकर सोता । इस तरह काफी परिश्रम करता । काम भी मैं अच्छी तरह सीख गया । पीछे शमसुलहुदा साहब ने कहा कि तुमको आने-जाने में बहुत तकलीफ होती है और समय भी लगता है, तुम मेरे ही मकान में आ जाओ, तुम्हारे लिए--जो बन्दोबस्त कहो--कर दूंगा । उन्होंने एक कमरा रहने के लिए और एक अलग रसोई के लिए मुझे दे दिया । मैं वहां रहने लगा । तब रात को भी और सवेरे भी, जब चार-पांच बजे उठते और जरूरत समझते तो, मुझे पुकार लेते । अपने साथ ही मुझे रोज अपनी गाड़ी में कचहरी ले जाते । उनसे घनिष्ठता इतनी बढ़ गई कि घर के लड़के की तरह मुझे मानने लगे ।

आज-कल, जब हिन्दू -मुस्लिम-प्रश्न बहुत जोरों से खड़े होते हैं, एक छोटी

घटना का उल्लेख कर देना अच्छा होगा । शमसुलहुदा साहब नामी वकील थे । मुसलमानों के एक नेता समझे जाते थे, मुस्लिम लीग के प्रेसिडेण्ट भी हुए थे । यूनिवर्सिटी-सिनेट के और लेजिसलेटिव-कौंसिल के मेम्बर भी थे । पीछे तो बंगाल के गवर्नर की एग्जिक्युटिव (कार्यकारिणी) कौंसिल के मेम्बर हो गये । हाइकोर्ट के जज तक हो गये । लेजिसलेटिव कौंसिल के प्रेसिडेण्ट भी हो गये थे । 'सर' का खिताब भी मिला था । उस समय वह अभी खां बहादुर मात्र थे, पर हाइकोर्ट में मवक्किल और जज दोनों ही उनकी बड़ी प्रतिष्ठा करते थे । उनके हाथ में मुकदमे भी बहुत रहा करते थे । मिजाज भी उनका बहुत अच्छा था । धार्मिक प्रवृत्ति के आदमी थे । मुसलमान छात्रों को कुछ छात्र-वृत्तियां भी दिया करते थे । कुछ विद्यार्थी केवल खाने के समय आकर वहां भोजन कर जाया करते थे ।

मैं उनके मकान में ठहरा था । बकरीद का दिन आ गया । मुहल्ला भी मुसलमानी मुहल्ला था, जिसमें बहुत बड़ी आबादी मुसलमानों की ही थी । मैंने सोचा कि शायद इस मौके पर गाय की कुर्बानी उनके घर में या आस-पास के घरों में हो । मैं एक सनातनी हिन्दू था । मैंने सोचा, अच्छा होगा कि इस मौके पर दो-चार दिनों के लिए कहीं हट जाऊं । मैं चुपचाप, उनको बगैर कुछ कहे ही, वहां से चला गया । 'मेस' में जाकर मित्रों के साथ ठहर गया । तीन-चार दिनों के बाद लौटकर आया । उन्होंने पूछा कि कहां चले गये थे । मैंने सब बातें साफ नहीं कहीं । इतना ही कहा कि कुछ मित्रों के पास दो-तीन दिनों के लिए चला गया था ।

उन्होंने कहा--"मैं समझ गया, तुम बकरीद के कारण चले गए थे । तुमने सोचा होगा कि यहां गाय की कुर्बानी होगी, इसलिए यहां रहना नहीं चाहिए । क्या तुमने मेरे साथ बेइन्साफी नहीं की ? तुमने समझ लिया कि तुम्हारी भावना का मैं कुछ भी ख्याल नहीं करूंगा ? तुम तो तुम हो, मेरे घर में कई नौकर हिन्दू हैं । फुलवारी का माली हिन्दू है गायों को खिलाने के लिए नौकर हिन्दू है, क्या उनकी भावना का मैं ख्याल नहीं रखता हूं ? उनका दिल क्या नहीं दुखता ? तुमको मुझसे पूछ लेना चाहिए था । मेरे घर में अपने घर के हिन्दू नौकरों के ख्याल से गाय की कुर्बानी नहीं होती है ।"

मुझे बहुत शर्मिन्दा होना पड़ा । मैं समझ गया कि मैंने उनके साथ बेइन्साफी की थी । उस समय बंगभंग का आन्दोलन चल ही रहा था । बंगाली मुसलमान इस

आन्दोलन का विरोध कर रहे थे । पूरब बंगाल में, जहां के रहनेवाले शमसुलहुदा साहब थे, हिन्दू-मुस्लिम दंगे भी बहुत हुए थे । वह स्वयं बंगभंग के पक्ष में थे । यह सब होते हुए भी उनकी ऐसी भावनाएं थीं, इस प्रकार का हमारे साथ व्यवहार था !

इसी बीच मैंने बी० एल० की परीक्षा भी पास कर ली थी । उसपर मैंने कभी ध्यान ही नहीं दिया, किसी तरह केवल पास कर गया । जब मेरे दो बरस उम्मीदवारी के खतम होने पर आये, उसी समय उनके बंगाल के गवर्नर की एग्जिक्युटिव कौंसिल के मेम्बर होने की खबर आने लगी । उनको इसका पता चल गया । उन्होंने मुझसे कहा कि अब तो वह बहुत दिनों तक वकालत नहीं कर सकेंगे और इस तरह मुझको वकालत शुरू करने के बाद उनसे मदद नहीं मिलेगी । मगर मैंने सोचा, काफी काम सीख लिया है और मैं खुद सब कर लूंगा ।

१६११ के अगस्त महीने में मैंने वकालत शुरू की । जिस दिन नाम लिखा गया उस दिन एक मुकदमा इन्होंने मुझे दिलवाया । स्वयं मेरे साथ जाकर जजों के सामने बैठे और मुझे बहस करने दी । हाइकोर्ट में वकालत शुरू करने के बाद केवल चन्द दिनों के लिए हाइकोर्ट खुला रहा । उसके बाद दुर्गापूजा की लम्बी छुट्टी हो गई । छुट्टी के पहले ही मैं बिहार चला गया । वहां पूज्य मालवीयजी हिन्दू-विश्वविद्यालय के लिए चन्दा जमा करने के सिलसिले में बिहार का दौरा कर रहे थे । चन्द दिनों तक उसी काम में लगा रहा । जिस समय हाइकोर्ट खुला और मैं कलकत्ते पहुंचा, उस समय शमसुलहुदा साहब की नियुक्ति की खबर बहुत गर्म थी । मवक्किल भी समझने लगे थे कि अब यह वकालत नहीं करेंगे । हाइकोर्ट ढाई-तीन महीने बन्द रहने के बाद जब खुलता है तो इन तीन महीनों में जमा हुए बहुत मुकदमे नये दायर होते हैं । शमसुलहुदा साबह के पास जो मुकदमे आये, उनमें से कई उन्होंने मुझे मुकर्रर करा दिया । रूपये तो कम मिले या नहीं भी मिले; पर उन्होंने कहा कि अब तो मैं नहीं रहूंगा, ये मुकदमे तुम्हारे ही हाथ में रहेंगे, अगर ठीक काम करोगे तो मवक्किल तुमसे ही काम लेते रह जायेंगे । इस बात का जिक्र केवल उनकी मुहब्बत दिखाने के लिए ही नहीं, पर एक दूसरे उद्देश्य से भी जरूरी था ।

कुछ दिनों के बाद इन्हीं मुकदमों में से एक पेश हुआ । मवक्किल ने मुझे बाजाब्ता फीस देकर तो रखा नहीं था, पर चूंकि वकालतनामा पर मेरा भी दस्तखत था, फिहरिस्त में मेरा नाम भी आया । एक दूसरे वकील को उसने पीछे मुकर्रर कर

लिया। पर ऐसे जितने मुकदमे थे, जिनमें शमसुलहुदा साहब ने मेरा नाम भी लिखवा दिया था, जब पेश होते, मैं उनके कागजों को खूब पढ़ लेता और कानून वगैरह देखकर तैयार हो जाता। उस दिन भी उसी तरह तैयार होकर गया। कानूनी सवाल उसमें बहुत उठते थे। मेरे सीनियर वकील साहब उतनी गहराई तक नहीं उतरे थे। मुकदमा जस्टिस सर आशुतोष के इजलास में था। मैं वकीलसाहब को मदद दे रहा था और नजीर पर नजीर पेश करने के लिए उनके हाथ में देता जा रहा था। सर आशुतोष सब देख रहे थे। कुछ देर के बाद उन्होंने मुझसे ही पूछा कि और कौन नजीर वहां है, बता दो तो किताबें मंगा लूं।

पीछे एक अच्छा फैसला लिखवाया जो रिपोर्टों में प्रकाशित हुआ।

यह बात तो हो गई। मैं उन मुकदमे की बात भूलना ही चाहता था कि दो दिनों के बाद एक दूसरे वकील ने, जिनके साथ मैं अक्सर काम किया करता था और जो यूनिवर्सिटी-सिण्डिकेट के मेम्बर थे, मुझसे पूछा कि तुमको अगर लॉ-कालेज में प्रोफेसर की जगह मिले तो मंजूर करोगे ? मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि मैंने इसके लिए किसी से कहा नहीं था। सर आशुतोष से भी, जो वाइस-चान्सलर थे और जिनके यहां वकीलों का दरबार-सा लगा रहता था, मैंने न मुलाकात की थी और न कुछ कहा ही था। मैं यह भी नहीं जानता था कि मेरे ऐसे अभी दो बरस के वकील को भी यह जगह मिल सकती है। मैंने आश्चर्य से उनसे पूछा कि यह जगह मुझे कैसे मिल सकती हैं, मैंने न तो किसी से मुलाकात की है और न दर्खास्त ही दी है। उसपर उन्होंने कहा कि किसी मुकदमे में तुमने सर आशुतोष के इजलास में काम किया है और वह बहुत खुश हुए हैं, तुम उनसे जाकर मिलो। मैं गया और चन्द दिनों के बाद लॉ-कालेज में जगह मिल गई। केस में रूपये तो ज्यादा नहीं मिलते थे; पर पढ़ाने के लिए कानून घर पर खूब पढ़ना पड़ता था, जिससे पूरा लाभ हुआ। इस प्रकार एक अनजान और बिना रूपये के मुकदमे ने मुझे यह इज्जत दी।

वकालत शुरू करने के पहले की बात और लिख दूं। ऊपर कह चुका हूं कि मैं जस्टिस दिगम्बर चटर्जी के लड़के को घर पर कुछ पढ़ाया करता था। उनसे जान-पहचान हो गई थी, पर कोई घनिष्ठता नहीं थी। वह जानते थे कि मैंने यूनिवर्सिटी की परीक्षाएं अच्छी तरह पास की हैं और इसीलिए उन्होंने अपने लड़के को पढ़ाने के लिए मुझे रखा भी था। जब उनको मालूम हुआ कि मैं अब वकालत

शुरू करनेवाला हूं तो एक दिन वह मुझसे कुछ बात करने लगे । उन्होंने पुछा, "तुम्हारा सम्बन्धी कोई वकील है ?" मैंने कहा, "कोई नहीं है ।" वास्तव में मेरी ससुराल के लोगों में तो कई वकील थे, पर वे लोग बलिया में--यो युक्तप्रान्त में है--वकालत करते थे । बिहार में मेरा कोई भी सम्बन्धी इस पेशे में नहीं था । यह सुनकर उन्होंने कहा कि यह बहुत अच्छी बात है । मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि मेरी धारणा थी कि अगर कोई सगा-सम्बन्धी वकील होता तो शुरू में वह मदद करता और उससे मुकदमे मिलते; इस तरह मुकदमे हाथ में आते ।

मैंने अपना अभिप्राय बतलाया । तब वह कहने लगे, "तुम अपना सौभाग्य समझो कि तुम्हारा कोई सम्बन्धी वकील नहीं है और खास करके बहुत नामी वकील नहीं है । अगर कोई वकील होता तो शायद कुछ मुकदमे उसके सम्बन्ध से तुमको मिलते; पर मवक्किल तुमको वकील नहीं रखता । वह तो यह समझता कि बड़े वकीलसाहब की खातिर से किसी एक निकम्मे आदमी को भी रख लेता हूं । उसका तुमपर न कभी विश्वास होता और न तुम्हारे लिए उसके दिल में कोई प्रतिष्ठा होती । इसलिए वह भी वकील जरूर रखता । तुम भी यह समझकर कि दूसरे को बहस करना है, अपनी ओर से विशेष कोई तैयारी नहीं करते । इस तरह तुम काम में ढिलाई करते । तुमको बहस करने का भी कम मौका मिलता । जब तुम आगे चलकर अपने परिश्रम से अगर अच्छे वकील भी हो जाते और वह मवक्किल आता तो वह तुमको याद दिलाता कि शुरू में उसने ही तुमको वकील रखा था । इसलिए तुमको भी लिहाज होता और तुम उससे रूपये नहीं ले सकते । धनी मवक्किल तो इस तरह के होते हैं । गरीब तुम्हारे पास शायद कोई आ जाता तो तुम अपनी आदत से उसपर अधिक ध्यान नहीं देते; क्योंकि तुम्हारे पास तो धनी मवक्किल--चाहे वे रूपये देते हों या नहीं और चाहे तुम्हें उनके मुकदमे में स्वयं जवाबदेही लेकर काम करने का मौका मिलता हो या नहीं--आ ही चुके होते और तुमको इसका गर्व भी होता । जब कोई मदद करनेवाले सम्बन्धी वकील नहीं हैं तो इस प्रकार का कोई मवक्किल तुमको नहीं मिलेगा । गरीब मवक्किल यह जानकर कि तुम अच्छे पढ़े लिखे हो, आवेगा, रूपये कम देगा, पर अपना सर्वस्व तुमको ही समझेगा, उसका दूसरा कोई वकील नहीं होगा; तुमको ही उसके मुकदमे में सबकुछ करना होगा । इसलिए जहांतक हो सकेगा तुम अपने को अच्छी तरह तैयार करोगे । इस तरह काम करने का सुयोग

मिलेगा । जब मुकदमे जीत जाओगे, वह दस और-और गरीबों से तुम्हारी तारीफ करेगा । वह विज्ञापन का काम करेगा । दूसरे गरीब मुवक्किल आवेंगे । इस तरह तुम्हारा नाम होगा । इसमें न किसी की मदद रहेगी, न एहसान । जब इस प्रकार वकालत चल निकलेगी, बड़े मवक्किल खुद आवेंगे । वे तुम्हारी खुशामद करेंगे, पुराना एहसान नहीं जता सकेंगे और तुम उनसे इज्जत के साथ रूपये ले सकोगे । इसलिए मेहनत करके काम करना सीखो । वकालत अच्छी चल निकलेगी ।"

उनकी बातों से मेरे दिल में बहुत हिम्मत बंधी । उन्होंने जितनी बातें कही थीं, अक्षरशः सत्य निकलीं । शुरू में केवल गरीब मवक्किल मिले । मुझे शुरू से ही, बिना किसी वकील की मदद के, काम करने का सुअवसर मिला । इससे मेहनत भी करनी पड़ती और अपनी बुद्धि भी खुलती । एक ही दो ऐसे मुवक्किल मिले, जो धनी कहे जा सकते हैं । उनसे पुराना सम्बन्ध था । इसलिए वे मेरे पास आये; नहीं तो और सब गरीब ही थे ।

जिस समय मैं वकालत की तैयारी कर रहा था, एक और घटना घटी, जिसका उल्लेख जरूरी है । अगर उस घटना की बात पूरी हो जाती जो जीवन का प्रवाह आज दूसरा ही हो गया होता, पर वह नहीं हुई । शायद अच्छा ही हुआ कि उस समय अधपका सपना न छेड़ा गया । यह घटना थी माननीय श्री गोखले से मुलाकात ।

: १६ :

माननीय गोखले से मुलाकात

१६१० ई० में वकालत की परीक्षा के लिए मैं पढ़ रहा था। कलकत्ते में एक 'मेस' में रहता था। वहां दो-चार बिहारी साथी भी थे। मेरे भाई भी वहां गये हुए थे। एक दिन हाइकोर्ट में, जहां मैं प्रायः प्रतिदिन जाया करता था, मिस्टर परमेश्वरलाल बैरिस्टर ने मुझसे कहा कि तुम और श्रीकृष्ण जाकर माननीय गोखले से मिलो, उन्होंने तुम दोनों को बुलाया है। मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ, क्योंकि मुझे माननीय गोखले से मिलने का सौभाग्य पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ था। उनको भी मुझे जानने का कोई कारण नहीं था। मिस्टर परमेश्वरलाल ने कहा कि वह बिहार के दो-चार अच्छे होनहार विद्यार्थियों से मिलना चाहते हैं और मैंने तुम लोगों का नाम उनको बता दिया है। बात यह थी कि श्रीकृष्णप्रसाद--जो दुर्भाग्यवश, कम अवस्था में ही, कुछ दिन हुए, इस लोक से चले गये--और मैं, दोनों ही, छात्र-सम्मेलन में प्रमुख भाग लिया करते थे। इसलिए हम दोनों को बहुत लोग जानते थे। मिस्टर परमेश्वरलाल ने भी इसी कारण हम दोनों के नाम बता दिये थे।

हम दोनों, माननीय गोखले से, जहां वह ठहरे थे, जाकर मिले। उन्होंने थोड़े दिन पहले 'सर्वेण्ट्स आफ इंडिया सोसाइटी' की स्थापना की थी। वह चाहते थे कि बिहार के कुछ अच्छे नवयुवक उसमें शरीक हो जायं। उन्होंने देश की सेवा पर जोर देकर हम लोगों से उसमें शरीक होने को कहा। वह जानते थे कि हम दोनों ने यूनिवर्सिटी--परीक्षाएं अच्छी तरह पास की हैं और अब वकालत की तैयारी कर रहे हैं। उन्होंने कहा--"हो सकता है कि तुम्हारी वकालत खूब चले, बहुत रूपये तुम पैदा कर सको, बहुत आराम और ऐश-इशरत में दिन बिताओ। बड़ी कोठी, घोड़ा-गाड़ी, नौकर इत्यादि दिखावट के सामान, जो अमीरों को हुआ करते हैं, और चूंकि तुम पढ़ने में अच्छे हो, इसलिए तुमपर वह दावा और भी अधिक है।" अपने बारे में उन्होंने कहा, "मेरे सामने भी यही प्रश्न आया था। मैं गरीब घर का आदमी था। मेरे घर के लोग बहुत आशा रखते थे कि जब मैं पढ़कर तैयार हो जाऊंगा तो रूपये कमाऊंगा और सबको सुखी बना सकूंगा। जब मैंने उनकी सब आशाओं पर पानी फेरकर देशसेवा का व्रत लिया तो मेरे भाई इतने दुखी हुए कि कुछ दिनों तक वह मुझसे बोले

तक नहीं; पर कुछ दिनों के बाद वह सब बातें समझ गये और फिर मेरे साथ खूब प्रेम करने लगे। हो सकता है कि यह सब तुम्हारे साथ भी हो, पर इसका विश्वास रखो, सब लोग अन्त में तुम्हारी पूजा करने लगेंगे। लोगों की सब उम्मीदें तुम पर बंधी हैं, पर कौन जानता है, अगर तुम्हारी मृत्यु हो गई, तो उसे तो वे लोग बर्दाश्त कर ही लेंगे।"

इसी प्रकार उन्होंने प्रायः डेढ-दो घंटे तक हम लोगों से बातें कीं। बातें करने की तरीका भी ऐसा था कि हम लोगों के दिल पर उसका बहुत गहरा असर हुआ। अन्त में उन्होंने कहा, "ठीक इसी समय उत्तर देना जरूरी नहीं है, क्योंकि सवाल गहन है, विचार करने हमसे एक दिन फिर मिलो और तब अपनी राय दो।" हम लोग वहां से एक प्रकार से खोये-हुए-से होकर निकले। अपने 'मेस' में वापस आये। उनकी बातों का इतना असर पड़ा था कि कोई दूसरी बात सूझती ही न थी।

हम दोनों उनकी बातों पर विचार करने लगे। मुझे तो कई दिनों तक नींद नहीं आई। खाना-पीना सबकुछ बरायनाम रह गया। स्वदेशी के दिनों में देश की बातें सामने आती थीं। देशसेवा की भावना भी जब-तब जाग्रत होती थी। पर इसके पहले कभी इस तरह से यह प्रश्न सामने नहीं आया था और न कभी ऐसे बड़े आदमी से मिलकर इस प्रकार के मार्मिक शब्दों के सुनने का ही सौभाग्य हुआ था। एक ओर उनकी बताई देश के लिए हम जैसे लोगों की सेवा की जरूरत; दूसरी ओर भाई पर घर का सारा बोझ लादना! मेरे भी दो पुत्र हो चुके थे और उनके भी तीन पुत्रियां थीं और एक लड़का। मां अबतक जीवित थीं। वह क्या कहेंगी, घर के दूसरे लोगों को कैसा दुःख होगा, इत्यादि भावनाएं इतनी सताती रहीं कि जैसा ऊपर कहा है--खाना-पीना तक प्रायः छूट गया। हम दोनों के सिवा इन बातों को दूसरा कोई जानता नहीं था। भाई साथ में ही थे, पर उनसे भी नहीं कहा। किसी दूसरे साथी से भी नहीं कहा। हाइकोर्ट जाना भी बन्द रहा। टहलना-घूमना छूट गया। कहीं-न-कहीं एकान्त ढूंढ़कर बैठना और चिन्ता करना, यही एक काम रह गया। प्रायः दस-बारह दिनों तक यही सिलसिला चला। भाई को कुछ शक हुआ कि तबीयत ठीक नहीं है। उनको कुछ कहकर टाल दिया। अभी अपना जी नहीं भरता था तो उनसे क्या कहूं।

कई दिनों की इस प्रकार की चिन्ता के बाद मैंने एक दिन निश्चय किया कि मुझे माननीय गोखले की बात मानकर उनकी सोसाइटी में शरीक हो जाना चाहिए। मेरी हिम्मत नहीं होती थी कि भाई से मैं खुलकर कहूं, क्योंकि मुझे डर था कि उनको इससे बहुत दुःख होगा। मैंने एक लम्बा पत्र लिखा, जिसमें सब बातें खोलकर लिख दीं और उनसे आज्ञा मांगी कि मुझे जाने दें। एक दिन संध्या को वह पत्र उनके बिस्तर पर, जब वह कहीं टहलने गये थे, मैंने रख दिया। मैं खुद कालेज-स्क्वायर में, जो नजदीक ही था, जाकर बैठ गया। उन्होंने पत्र पढ़ा, और मेरी तलाश करने लगे। मुलाकात नहीं हुई। जब मैं लौटा तो उनका हाल बेहाल देखा। वह उस रात तो कुछ बोल न सके। मैंने देखा कि जो विचार मुझे सता रहे थे, वही उनको भी सता रहे हैं। उनका जी चाहता है कि मुझे न रोकें, पर अपने को परिवार का इतना बड़ा बोझ उठाने में असमर्थ पाते हैं। वह मुझसे मिलकर फूट-फूटकर रोने लगे। मैं भी अपने को रोक न सका। मैं भी रोने लगा।

मैं तो उनके उस रोने से ही उनके मन का भाव ताड़ गया। अधिक कुछ कहने की मेरी हिम्मत ही न हुई। राय हुई कि घर चलकर मां-चाची और बहन से भी सलाह करनी चाहिए। मैंने माननीय गोखले से जाकर यह हाल कह दिया। मैं समझ गया था कि अब मुझसे इन सबके प्रेम के बन्धन को काटना नहीं हो सकेगा। ऐसा ही उनसे कह भी दिया। उन्होंने भी आशा छोड़ दी। मेरे साथी श्रीकृष्ण ने अन्तिम निश्चय करने के पहले कुछ दिनों तक पूना जाकर वहां का सब हालचाल देखना चाहा। माननीय गोखले ने इस बात को पसन्द किया। पूना जाकर श्रीकृष्ण कुछ दिनों तक रहे भी। पर अन्त में उनका भी निश्चय हुआ कि वह सोसाइटी में शरीक न हो सकेंगे।

हम दोनों भाई जीरादेई पहुंचे। वहां जब घर की औरतों ने सब बातें सुनीं तो सब परेशान हो गईं। मां का तो प्रेम इतना रहता था कि वह कभी कुछ बोलती ही नहीं थीं। पर मेरी बहन, जो हमेशा से कुछ तेज बोलनेवाली हैं, कहने लगीं कि तुमने विलायत जाने की बात उठाकर बाबूजी को रूलाया और अब इस उम्र में साधू बनना चाहकर भाई को रूलाते हो। बस इतना कह वह स्वयं भी रोने लगीं। घर-भर में कोलाहल मच गया। उस कोलाहल में मेरी बची-खुची हिम्मत, जो कलकत्ते में ही कमजोर पड़ गई थी, अब बिलकुल टूट गई।

घर पर कुछ दिनों तक ठहरकर मैं फिर कलकत्ते चला गया । घर के लोगों को विश्वास हो गया कि मैं उन सबकी मर्जी के खिलाफ ऐसा काम नहीं करूंगा । इसी पसोपेश में प्रायः चार-पांच सप्ताह बीत गये । मैंने विचार तो छोड़ दिया, पर दिल में व्यथा बनी रही । कई हफ्तों तक कुछ परेशान-सा ही रहा । आहिस्ता-आहिस्ता वह परेशानी दूर हुई । एक नतीजा इसका यह हुआ कि बी० एल० की परीक्षा, जो उसके थोड़े ही दिनों के बाद होनेवाली थी, मेरे लिए कठिन समस्या हो गई । पढ़ने में जी नहीं लगता । परीक्षा के दिन निकट आ गये । किसी प्रकार परीक्षा पास कर ली । ऊंचा स्थान मिलने का तो सवाल ही नहीं था, क्योंकि पढ़ा ही नहीं था । पास करने में भी जी में डर लगता था, पर किसी तरह पास कर गया । उसके एक बरस के बाद वकालत शुरू की; क्योंकि उम्मीदवारी का समय अभी पूरा नहीं हुआ था । शुरू वकालत का हाल ऊपर लिख चुका हूं ।

: १७ :

तिलक-दहेज की प्रथा

उपरोक्त घटना के थोड़े ही दिनों के बाद मां की मृत्यु हो गई। दशहरे की लम्बी छुट्टी में मैं घर आया था। कार्तिक के महीने में उनकी आदत थी कि संध्या के समय भी स्नान करके तुलसीपूजन करतीं और दिया जलातीं। इसी में एक दिन ठंड लग गई। ज्वर और कफ की बीमारी हो गई। हम दोनों भाई घर पर ही थे। बहुत दवा-इलाज किया गया, पर वह बच न सकीं। चार-पांच दिनों की बीमारी के बाद ही जाती रहीं। उस समय भाई के पैरों में कुछ दर्द हुआ था। कुछ ऐसी भावना लोगों में थी कि पिता का श्राद्ध बड़े लड़के को और माता का श्राद्ध छोटे लड़के को करना चाहिए। इसलिए सब क्रिया मैंने ही की।

भाई की बड़ी लड़की अब इतनी बड़ी हो चुकी थी कि उसका विवाह कर देना जरूरी था। मां के जीवन-काल से ही बातचीत चल रही थी। हमारे समाज में लड़की का विवाह एक भारी हंगामा है। पहले तो पसन्द के लायक लड़का मिलना कठिन होता है। इसमें जाति-पांति का बखेड़ा तो रहती ही है। इसके अलावा यह भी देखना पड़ता है कि उसके घर में कुछ सम्पत्ति भी होनी चाहिए ताकि लड़की को वहां जाकर कष्ट न हो। छुटपन में शादी होने के कारण लड़का अभी स्वावलम्बी हुआ नहीं रहता। इसलिए घरवालों पर ही लड़की के पालन-पोषण का भार पड़ जाता है और यह देखना जरूरी हो जाता है कि घरवाले इस योग्य हैं या नहीं। मेरी अपनी शादी शायद ग्यारह बरस की उम्र में हुई थी। मैं पचीस-छब्बीस बरसों का हो चुका था। अभी तक पढ़ता ही रहा। उन चन्द महीनों के सिवा, जब मुजफ्फरपुर-कालेज में प्रोफेसरी करता रहा, अभी तक कुछ कमाया नहीं था। भाई ने भी कुछ उपार्जन नहीं किया था। स्कूल की मास्टरी में उन्हें जो थोड़ा मिलता था, वह वहीं पर खर्च हो जाता था। इसलिए घर में जो जमींदारी थी, उसीसे सब काम चलता था। भाई ने इन्तजाम अच्छा कर लिया था। इसलिए अब वैसा कष्ट नहीं अनुभव होता था जैसा बाबूजी के मरने के समय हुआ था। तो भी लड़की की शादी में तो बहुत खर्च होता ही।

लड़की की शादी के लिए अगर अच्छा घर और लड़का मिल भी गया तो लड़के

के घरवालों को राजी करना कुछ आसान काम नहीं होता। उन दिनों लड़के को राजी करने की बात नहीं होती थी, क्योंकि लड़का प्रायः कम उम्र का ही होता था और मां-बाप की रज़ामंदी ही उनकी रज़ामंदी समझी जाती थी। तबसे आज तक बहुत अन्तर पड़ गया है। अब लड़कों की शादी कुछ उम्र बढ़ जाने पर ही होती है, विशेष करके उन कायस्थों में, जो कुछ शिक्षित हैं। लड़के के पिता-माता की रज़ामंदी हासिल करना आसान नहीं होता था। उनको भी लड़कीवालों के घर और खानदान के बारे में पता लगाकर अपने को सन्तुष्ट करना पड़ता था कि उनकी प्रतिष्ठा के योग्य कन्या-पक्ष के लोग हैं या नहीं। यह सब ठीक जंच जाने पर तिलक-दहेज की बात उठती थी।

लड़की वाले को वर-पूजा के समय--जिसे हमारे समाज में 'तिलक' कहते हैं--रूपये, बर्त्तन कपड़े इत्यादि देने पड़ते हैं। फिर शादी के समय बरात आने पर भी सब चीजें और नकद रूपये देने पड़ते हैं। लड़की को रूपये देना पिता का धर्म हो सकता है। पर हमारे समाज में पिता के--अपने दिल से और प्रेम से--देने की बात नहीं रहती है। शादी के पहले ही बातचीत करके तय कर लिया जाता है कि तिलक के समय इतना देना होगा और शादी के समय बरात जाने पर इतना दहेज देना होगा। यह प्रथा हजार कोशिश करने पर अभी तक जारी है! सभी जातीय सभाओं में प्रस्ताव पास होते हैं कि इसे उठा देना चाहिए, पर घटने की जगह यह प्रथा बढ़ ही रही है। जिन जातियों में यह प्रथा नहीं थी, उनमें भी प्रचलित होती जा रही है। जिनमें पहले से चलती थी, उनमें तिलक-दहेज की रकम अब बहुत बढ़ती जा रही है।

अगर आज मेरी शादी होने को होती और मैं उस प्रथा से तिलक-दहेज लेकर शादी करना चाहता, तो मुझ-जैसे यूनिवर्सिटी-परीक्षा में सफल विद्यार्थी के लिए, जहां मेरी शादी में डेढ़-दो हजार के लगभग मिले थे, आज की दर से दस-पन्द्रह हजार की रकम भी बड़ी रकम नहीं समझी जाती। इस समय की दर तो इतनी बढ़ गई है, और बढ़ती जा रही है कि कुछ ठिकाना ही नहीं मालूम होता। जिसके घर में कुछ नहीं है, पर जो कुछ पढ़ने में तेज है, वह मामूली तौर से तीन-चार हजार की फरमाइश तो कर ही देता है।

हां, एक फर्क हुआ है। मेरी शादी के समय लड़के को खुश करने की बात नहीं

होती थी, क्योंकि दस-बारह बरसों का लड़का तो खिलौनों से भी खुश किया जा सकता था, और लड़के से शादी की बातें करना या लड़के का खुद अपने विवाह-सम्बन्ध की बातें करना बहुत बुरा माना जाता था। इसलिए अगर माता-पिता राजी हो गये तो वही काफी होता था। पर आजकल के पढ़े-लिखे लड़कों को अलग से राजी करना पड़ता है। वे अपनी फरमाइश अलग कर देते हैं और इस तरह मांग, या कीमत बहुत बढ़ जाती है।

भाई की लड़की की शादी जाने हुए घर में होने की बात थी, क्योंकि वर के बड़ भाई लोग हम लोगों के साथ कलकत्ते में पढ़ते थे और लड़का भी वहां पढ़ा करता था। इसलिए आशा थी कि सब बातें आसानी से तय हो जायेंगी। पर पुरानी रूढ़ि जल्दी छूटती नहीं, इसलिए हम लोगों को भी दिक्कत तो उठानी ही पड़ी। ईश्वर की दया से सम्बन्ध बहुत अच्छा हो गया, और दोनों पक्ष बहुत सन्तुष्ट हैं। सब-कुछ होने पर भी घर में रूपये तो थे नहीं। अन्न तो खेतों में पैदा होता था, इसलिए उसकी बहुत चिन्ता नहीं थी; पर नकद खर्च के लिए हम दोनों भाइयों को कर्ज लेना पड़ा।

: १८ :

वकालत का आरंभ : एम० एल० की परीक्षा

भतीजी की शादी के थोड़े दिनों के बाद मैंने कलकत्ते में वकालत शुरू कर दी। शुरू का कुछ हाल तो पहले लिख चुका हूं। काम शुरू करते ही मुझे मुकदमे मिलने लगे। मैंने जिस दिन से वकालत शुरू की, घर से अपने खर्च के लिए कभी कुछ नहीं लिया। मुझे इस बात की चिन्ता थी कि घर से कुछ मंगाना पड़ेगा तो भाई पर बड़ा बोझ पड़ेगा और विशेषकर लड़की की शादी के खर्चे के बाद उनकी कठिनाई अब और भी अधिक हो जायगी। पर कुछ इत्तफाक ऐसा हुआ कि हर महीने थोड़ी-बहुत आय हो जाती और वह खर्च के लिए काफी होती। कलकत्ते में खर्च तो छोटे शहरों के मुकाबले अधिक पड़ता ही है तो भी काम चल निकला। जैसा जस्टिस चटर्जी ने कहा था, मेरे पास धनी मवक्किल नहीं आये। केवल एक आदमी--रायबहादुर हरिहरप्रसाद सिंह ने, मैंने जिस दिन से वकालत शुरू की उसी दिन से, अपनी जमींदारी के सब छोटे-बड़े मुकदमे मेरे सुपुर्द किये। वह मुझे जानते थे और विलायत जाने के समय उन्होंने कुछ रूपये भी दिये थे। ऐसा इत्तफाक हुआ कि उनका ही मुकदमा मेरी वकालत का आखिरी मुकदमा भी हुआ, क्योंकि वकालत छोड़ने के समय उनके ही बहुत बड़े मुकदमे में मैं काम कर रहा था।

गरीब मवक्किलों के मुकदमों में कोई दूसरा वकील भी नहीं होता था और अक्सर मुझे ही बहस करनी पड़ती थी। परिश्रम करके काम करता; इसलिए बहुत जल्द जज लोग भी मुझे पहचानने लगे। बहुत लोगों की आदत होती है कि जजों से बहुत मिला करते हैं; मैंने ऐसा कभी नहीं किया। उनसे मेरी मुलाकात इजलास की ही रही। उनमें बहुतेरे, जिनके सामने मुझे काम करने का मौका मिला, मुझसे खुश रहे। सर लौरेन्स जेन्किन्स चीफ जस्टिस थे। मेरे वकालत शुरू करने के एक-डेढ़ साल बाद ही वह चले गये, पर इतने थोड़े दिनों की वकालत से ही मुझसे इतने प्रसन्न थे कि जाने के समय अपने हस्ताक्षर के साथ अपनी एक तस्वीर मुझे दे गये। सर आशुतोष की बात ऊपर लिख ही चुका हूं कि उन्होंने एक मुकदमें में जूनियर वकील की हैसियत से मुझे काम करते हुए देखकर लॉ-कालेज की प्रोफेसरी मुझे दे दी। इस तरह मैं अपनी कामयाबी से खूब खुश था।

मुजफ्फपुर-कालेज के मेरे पुराने साथी बाबू वैद्यनाथ नारायण सिंह ने भी कलकत्ते में आकर हाइकोर्ट में मेरे साथ वकालत शुरू का दी थी। हम दोनों में घनिष्ठ मित्रता हो गई थी। इसी बीच में बिहार सूबे के भी, १६११ के दिसम्बर में शाही दरबार के वक्त, बंगाल से अलग होने की घोषणा हुई और १६१२ के एप्रिल से बिहार एक नया सूबा हो गया। अभी तक हाइकोर्ट और यूनिवर्सिटी अलग कायम नहीं हुई थी। बिहार के मुकदमे कलकत्ते में ही हुआ करते थे और बिहार के विद्यार्थी कलकत्ता-यूनिवर्सिटी की ही परीक्षाओं में बैठते थे। पर सूबा अलग होने के थोड़े ही दिनों बाद हाइकोर्ट अलग करने की बात होने लगी। जर्मनी के साथ लड़ाई शुरू हो जाने से कुछ विलम्ब होने की सम्भावना हो गई, पर ऐसा हुआ नहीं, और मालूम हुआ कि मकान वगैरह तैयार हो जाने पर हाइकोर्ट भी खुल जायगा।

वैद्यनाथबाबू ने मुझसे कहा कि एम० एल० की परीक्षा देनी चाहिए। मैं उस समय वकालत में बहुत दिलोजान से लग गया था और खूब कामयाब भी होना चाहता था। मैंने उनकी बात मान ली। हम दोनों एक साथ एम० एल० की परीक्षा के लिए तैयारी करने लगे। कलकत्ता युनिवर्सिटी की परीक्षाओं में यह सबसे कठिन परीक्षा समझी जाती थी। हम दोनों की परीक्षाओं को कचहरी में काम भी काफी रहता था, इसलिए पढ़ने का समय कम मिलता था। फिर लॉ-कालेज में प्रोफेसरी हो जाने के बाद तो मैं और भी अधिक समय का अभाव अनुभव करने लगा। कभी-कभी इस परीक्षा की झंझट से बच जाने का भी जी चाहता था; पर वैद्यनाथबाबू छोड़ना नहीं चाहते थे। वह बार-बार जोर देकर मुझको पढ़ने के लिए कहते रहते। कभी-कभी तो जिस तरह मास्टर लड़कों को पढ़ाते हैं उस तरह मुझे पढ़ाते। वह मुझसे बार-बार कहते--"आपने एण्ट्रेन्स से बी० ए० तक सब परीक्षाओं में अव्वल स्थान पाया, एम० ए० में कुछ नीचे हुए और बी० एल० तो किसी प्रकार पास किया। इन अन्तिम परीक्षाओं का फल आपके विद्यार्थी-जीवन का कलंक है। उसको धो देना चाहिए और वह एम० एल० पास करके ही आप धो सकते हैं।" इन सब दलीलों का और उनकी मास्टरी का नतीजा यह हुआ कि हम दोनों खूब परिश्रम करने लगे। विचार हुआ कि १६१५ के दिसम्बर में होनेवाली परीक्षा में हम दोनों बैठेंगे और ऐसा सोचकर इसकी तैयारी की गई।

जितना परिश्रम मैंने इस परीक्षा के लिए किया उतना परिश्रम कभी किसी परीक्षा के लिए नहीं किया था। एण्ट्रेन्स में तो मानो बिना जाने मैं सफल हो गया। एफ०

ए० में अव्वल होने के लिए जान-बूझकर प्रयत्न किया, पर तो भी उसमें इतना परिश्रम तो कभी किया ही नहीं । बी० ए० में तो कुछ भी परिश्रम नहीं किया था । एम० ए० और बी० एल० के समय दूसरे विचारों में फंस गया था । किन्तु एम० एल० की परीक्षा के समय मैं अन्तिम दो-तीन महीनों में पन्द्रह-सोलह घंटों तक पढ़ा करता था । कचहरी, लॉ-कालेज तथा परीक्षा की तैयारी मिलाकर इतनी मेहनत पड़ी कि एक बार सख्त बीमार पड़ गया और भय हुआ कि सब मामला अब खतम हो जायगा ।

१९१६ के मार्च के पटने में हाइकोर्ट खुलनेवाला था । हम दोनों समझ गये थे कि कलकत्ते में रहते हुए अगर हमने पास नहीं किया तो पटना जाकर हमसे यह काम नहीं होगा; १९१५ की परीक्षा ही हम लोगों के लिए प्रथम और अन्तिम परीक्षा होगी, इसलिए हमको जरूर पास करना चाहिए । परीक्षा के समय जजों से कहकर कुछ दिनों के लिए छुट्टी ले ली; अपने मुकदमों को मुलतवी करा दिया । हम लोगों के मुकदमे प्रायः बिहार के ही होते थे; इसलिए कुछ दिनों से वे वहां भी उन्हीं जजों के यहां पेश होते थे जिनके पटना आने की खबर थी । कहने से उन्होंने खुशी से मुकदमे मुलतवी कर दिये ।

परीक्षा देकर हम लोग हाइकोर्ट के साथ पटने चले आये । परीक्षा का फल पटने आने के बाद मालूम हुआ । हम ही दोनों पास हुए । मैं फर्स्ट क्लास में पास हुआ और वैद्यनाथबाबू सेकेण्ड क्लास में । हम ही दो बिहारी थे, जिन्होंने पहले-पहल यह परीक्षा पास की । पीछे मालूम हुआ कि मुझे बहुत अधिक नम्बर मिले थे । यूनिवर्सिटी के नियम के अनुसार एम० एल० परीक्षा पास करने के बाद मौलिक निबन्ध लिखकर देने पर डी० एल० की उपाधि मिल सकती है और इस तरह आदमी कानून का डाक्टर हो सकता है । हम दोनों पटने में विचार करने लगे कि किसी अच्छे विषय पर निबन्ध लिखा जाय । इस संबंध में सर गुरूदास बनर्जी से भी हम मिले थे और राय ली थी ।

कलकत्ते की वकालत के कुछ चुटकुले मनोरंजक हैं । वकालत शुरू करने के थोड़े ही दिनों के बाद एक मवक्किल के मुख्तार मेरे पास एक अपील दायर करने के लिए आये । उनकी राय थी कि एक सीनियर वकील भी रखें । एक सीनियर वकील का नाम, जिनकी वकालत बहुत जोरों से चली थी और जिनके हाथ में बिहार के बहुत

मुकदमे रहा करते थे, उन्होंने मुझसे कहा। मुझे खुशी हुई कि बड़े वकील के साथ काम करने का मौका मिलेगा। उनसे मेरी मुलाकात नहीं थी।

हम दोनों उनके घर पर गये। मैंने कागज पढ़कर बुद्धि के अनुसार अपील की दर्खास्त लिख ली थी। संध्या के समय हम दोनों पहुंचे। वह काम कर रहे थे। उनकी आदत थी कि रात को काम नहीं करते थे। संध्या होते ही काम बन्द कर देते और फिर दूसरे दिन सवेरे काम करते। वह कागज-पत्र समेट ही रहे थे कि हम लोग पहुंचे। मुख्तार को वह पहले से जानते थे--उनसे पूछा कि क्या काम है। मुख्तार ने कहा कि एक दोयम अपील दायर करनी है। उन्होंने दूसरे दिन मुख्तार को बुलाया और पूछा कि किसी जूनियर से दर्खास्त वगैरह लिखवाई है या नहीं। मुख्तार ने कहा कि सबकुछ तैयार है। इसपर उन्होंने जूनियर का नाम पूछा। मेरा नाम मुख्तार ने बता दिया। मैं तो वहीं चुप बैठा था। उन्होंने मुझे देखा भी या नहीं, मैं नहीं कह सकता। वह बिगड़कर बोले--"न मालूम कैसा उजबक वकील तुमने रखा है, जिसको मैं जानता भी नहीं हूं। सब काम मुझे ही करने होंगे। वह न कुछ जानता होगा और न कुछ समझेगा।" मवक्किल ने कहा--वह नये हैं, मगर बहुत तेज हैं। इसपर उन्होंने फिर उजबक वगैरह कह दिया। मैं चुप बैठा रहा। मवक्किल ने तब मेरी तरफ इशारा करके कहा कि यही तो हैं। यह सुनते ही उनके वदन पर मानो उस सर्दी के जमाने में हजारों घड़े पानी पड़ गया और बहुत घबराकर मुझसे कहने लगे--"तुमको आते ही मुझसे जान-पहचान कर लेनी चाहिए थी। मैं तुमको जानता नहीं हूं। मेरा मतलब कुछ तुम्हारी शिकायत करने का नहीं था। मैं तो तुमको जानता नहीं हूं, इसलिए कहा कि कोई नया वकील काम ठीक नहीं जानता होगा।" और, इस प्रकार की बातें कहते-कहते वह माफी मांगने लगे।

मैंने कहा कि आपका कहना स्वाभाविक था; आप मुझे जानते नहीं हैं, और मैं तो अभी बिलकुल नया हूं। तब वह सब हालचाल पूछने लगे, और दूसरे दिन कचहरी में ही कागज दिखलाने को कहकर हम दोनों को विदा किया। दूसरे दिन जब कचहरी में ही मैंने अपनी लिखी दर्खास्त उन्हें दिखलाई, तब बहुत खुश हुए और मवक्किल तथा दूसरे वकीलों के सामने मेरी तारीफ का पुल बांध दिया। उसके बाद मुझे उनके साथ बहुत काम करने का मौका मिला और मुझे वह बहुत मानते रहे। मेरे साथ उनकी शिकायत एक बात की रहती। कपड़े पहनने में मैं लड़कपन से ही कुछ

उलूल-जलूल रहा हूं। वह इसे नापसन्द करते थे और कपड़े के बारे में शौकीन होने की शिक्षा जब-तब दिया करते थे।

इसके विपरीत एक दूसरी घटना घटी। मैं अपनी आदत से मजबूर हूं। जिससे कोई काम नहीं पड़ता, उससे कभी आगे बढ़कर जान-पहचान करने की शक्ति मुझ में नहीं थी और न आज भी है। यद्यपि डेढ़-दो बरसों से मैं वकालत करता था; फिर भी डाक्टर रासबिहारी घोष से मेरी मुलाकात नहीं थी। उनके खिलाफ में बहस करके एक बड़ा मुकदमा तो मैंने जीत लिया था; पर उनके साथ काम करने का मौका नहीं मिला था। एक मुकदमे में वह मौका आया। दूसरी ओर से 'सर' एस० पी० सिन्हा थे। हमारी ओर से सर रासबिहारी घोष और बाबू कुलवंतसहाय थे, जो पीछे पटना-हाइकोर्ट के जज हुए। गया का मुकदमा था और गया के एक वकील भी आये थे।

बड़े वकीलों और बैरिस्टरों की चाल थी कि जब दूसरे पक्ष की बहस होती, तब वे किसी दूसरे इजलास से बहस करते और जवाब देने के वक्त आ जाते। बहुत मुकदमे हाथ में ले लेने का यही नतीजा होता था। कभी-कभी वे नहीं भी पहुंच पाते थे। वैसी हालत में जुनियर को ही काम कर देना पड़ता था। जो मुकदमा मैंने सर रासबिहारी घोष के खिलाफ बहस करके जीत लिया था, उसमें ऐसा ही हुआ था। मेरे सीनियर साहब दूसरे इजलास में फंसे थे, मुझे ही बहस करनी पड़ी। जब दूसरे पक्ष की बहस होती और सीनियर गैरहाजिर रहते तो जूनियर को बहस के नोट लेकर सीनियर को दिखलाना पड़ता। उसी नोट को पढ़कर दूसरी ओर की बहस को वह समझते और जवाब देते। यह कुछ बड़ा मुकदमा था, जिसमें तीन-चार दिनों तक बहस होती रही। सर सिन्हा की बहस के नोट करने का काम मेरा था; क्योंकि सबसे जूनियर मैं ही था। सर सिन्हा आहिस्ता-आहिस्ता और बहुत अच्छी तरह से बहस किया करते थे। इसलिए नोट लिखने में मुझे कोई विशेष तकलीफ नहीं हुई। मैं कुछ तेज लिखने का आदी शुरू से ही रहा हूं। कालेज में मिस्टर पर्सिवल बहुत तेज पढ़ाया करते थे और मैं प्रायः सबकुछ नोट कर लिया करता था। इस तरह यह आदत और भी बढ़ गई थी। इसमें काफी प्रोत्साहन 'डॉन सोसाइटी' के क्लासों में भी मिला था।

मैंने सर सिन्हा की बहस का अच्छा नोट लिख लिया। दिन-भर की बहस खतम हुई। संध्या को हम सब सर रासबिहारी घोष के घर गये। उन्होंने बहस का सारा

नोट बहुत ध्यान से पढ़ लिया। मैं कुछ डरता भी था, कुछ उत्सुक भी था कि देखें क्या कहते हैं। वह गुस्सेवर (क्रोधी) थे और जूनियर से गलती होती तो बहुत बिगड़ जाते थे। जज लोग भी यह खूब जानते थे। कभी-कभी इजलास पर ही कागज और किताब पटक दिया करते थे। इससे जूनियर बहुत डरा करते थे। मेरा तो यह पहला ही मौका था। पढ़कर उन्होंने सिर उठाया और पूछा कि नोट किसने तैयार किया है। मैंने समझा, अब शायद बिगड़ेंगे; उनके मन के मुताबिक नोट तैयार नहीं हुआ है। बाबू कुलवंतसहाय के मन में भी शायद कुछ ऐसा ही शक हुआ। उन्होंने मेरी तरफ इशारा कर दिया। इसपर सर रासबिहारी ने मुझसे पूछा--"कितने दिनों से काम करते हो ? मैं तो तुमको जानता नहीं हूं।" यह सब बातें होती जातीं और मन-ही-मन मैं कांपता जाता था कि अब कुछ होगा। बाबू कुलवंतसहाय ने कहा--"थोड़े ही दिनों से।" गुस्सा करने के बदले उन्होंने मेरी पीठ ठोकना शुरू कर दिया और कहा कि नोट बहुत अच्छा तैयार हुआ है। बाबू कुलवंतसहाय की हिम्मत बढ़ी और उन्होंने मेरी यूनिवर्सिटी-परीक्षाओं का हाल कह दिया। वह बहुत खुश हुए और मुझसे कहा--"ऐसे ही परिश्रम से काम करो, तुम बहुत अच्छे हो जाओगे।"

मुझे बड़ा सन्तोष हुआ। उसके बाद जब कभी उनके साथ काम करने का मौका होता, तब वह मेरे नोट पर बहुत विश्वास करते और उसको ठीक समझकर उसका पूरा उपयोग कर लेते। उसी मुकदमे में एक दूसरा दृश्य भी मैंने देखा। उन्होंने एक बात पूछी और जानना चाहा कि इस बात पर कोई सबूत हैं या नहीं। मैं तो चुप रहा, पर गया के वकील ने कहा कि कोई सबूत नहीं है। इसपर उन्होंने कहा कि जब सिन्हा ने कहा है कि सबूत है, जब जरूर कुछ होगा--ध्यान से आज रात को सब कागज देख लो, और तब कल सवेरे मुझे उत्तर देना। दूसरे दिन सवेरे उन्होंने फिर सवाल किया और वकिल ने वही उत्तर दिया। रात को कागज उन्होंने पढ़ा था और निशान लगाकर रखा था। वकील के जवाब पर बिगड़ गये--कागज और उनका बनाया नोट फेंक दिया--"मैं तुम्हारे नोट पर भरोसा करके बहस करता हूं। अब मैं कैसे भरोसा कर सकता हूं ?" और अपना निशान लगाया हुआ हिस्सा दिखलाकर बहुत भला-बुरा कह दिया। मैंने एक ही मुक़दमों में दोनों चीजें देख लीं, और अपना भाग्य सराहा कि मुझसे गलती नहीं हुई थी।

एम० एल० की परीक्षा दे चुका था। फल मालूम नहीं हुआ था। पटने आने

के चन्द दिन ही बाकी रह गये थे। एक छोटा, मगर पेचीदा मुकदमा मेरे हाथ में था। उसकी बहस दो जजों के सामने करनी पड़ी, जो दोनों पटने आनेवाले थे। एक अभी मुस्तकिल जज नहीं हुए थे--थोड़े दिनों के लिए ही हाइकोर्ट में गये थे और फिर चन्द दिनों के लिए पटने चले आये। यह बहस दो-तीन दिनों तक चली थी। हम जीत गये थे, और उनपर मेरी बहस का अच्छा प्रभाव पड़ा था। उनको मालूम हो गया था कि मैंने एम० एल० की परीक्षा भी दी है। पटने हाइकोर्ट खुलने के पहले ही उन्होंने आकर दूसरों से मेरी तारीफ की कि कलकत्ता हाइकोर्ट से आनेवाले वकील अच्छे हैं और यहां के बड़ों का मुकाबला कर सकेंगे। जब हाइकोर्ट खुला तब मुझे इसका अनुभव भी हुआ।

दोयम अपील में केवल कानूनी बहस हो सकती है। वाकयाती बातों पर नीचे की अदालत का फैसला मान लिया जाता है। दोयम अपील छोटे-छोटे मुकदमों में ही होती है। मेरे मवक्किल गरीब हुआ करते थे। कलकत्ते में ज्यादातर दोयम अपीलें ही मेरे हाथ में आई थीं। इसलिए उनकी बहस में कानूनी बहस ही करने के लिए मुझे अधिक कानून पढ़ना पड़ता था। मैंने नियम कर लिया था कि ऐसा मुकदमा मैं दायर ही नहीं करूंगा, जिसमें अच्छी तरह मैं खुद यह न समझ लूं कि फैसला कानूनी तौर पर गलत है और मैं उसे बहस में जीत सकूंगा। इसलिए दोयम अपील के मुकदमे मैं अक्सर जीता करता था। पटने में आकर मैंने यही नियम रखा।

दोयम अपील में मंजूरी के लिए बहस होती है। जब जज समझते हैं कि कुछ गलती है या कम-से-कम बहस की गुंजाइश है, तभी मंजूर करते हैं और दूसरे पक्ष को हाजिर होने की नोटिस देते हैं। पटने के रजिस्ट्रार, जो कुछ कम कानून जानते थे, सभी दोयम अपीलों को नामंजूर कर देते थे। मेरी अपील भी नामंजूर कर देते। पर नियमानुसार उनका अधिकार इतना ही था कि अगर वह किसी अपील को मंजूर करने योग्य न समझें तो उसे जजों के सामने भेज दें। मेरी बहुतेरी अपीलें इस प्रकार जजों के सामने उन्होंने भेजीं और प्रायः सब-की-सब वहां मंजूर हो गईं। वह जज तो, जिसका मैंने जिक्र किया है, शायद कागज भी नहीं पढ़ता; मेरे खड़े होते ही मंजूर कर लेता। जब रजिस्ट्रार को भी विश्वास हो गया कि मैं रूपये लेने के लिए अण्टसण्ट मुकदमे नहीं दायर करता, तब उन्होंने भी वैसा करना शुरू कर दिया। मेरा यह भी अनुभव हुआ कि जिस मुकदमे को मैं यह समझकर कि उसमें कुछ जान नहीं है, नहीं दाखिल करता, मवक्किल दूसरे वकील की मार्फत दाखिल कराता और अन्त में हार जाता।

: १६ :

पटना आना और पटना-यूनिवर्सिटी बिल

सन् १६१६ के मार्च में पटने में हाइकोर्ट खुला । सभी बिहारी वकील, जो कलकत्ता-हाइकोर्ट में काम करते थे, और बहुतेरे बंगाली वकील भी--जिनको बिहार के मुकदमे मिला करते थे--पटने चले आये । मैं भी पटने चला आया । उन दिनों पटने में मकान मिलना कठिन हो गया । भाड़े का एक मकान लेकर मैं रहने लगा । कलकत्ते में ही मेरे हाथ में मुकदमे बहुत रहा करते थे । पटने में आने पर वकालत और भी चल निकली । मैं भी बहुत जी लगाकर काम करने लगा । पर यह हाल थोड़े ही दिनों तक रहा ।

उसी समय, कुछ महीनों के बाद, पटने में यूनिवर्सिटी कायम करने के लिए दिल्ली की कौन्सिल में एक बिल पेश हुआ । हम लोगों ने उस बिल को बहुत खराब समझा । इसलिए उसके विरूद्ध आन्दोलन खड़ा किया गया । इसके पहले ही एक कमिटी बनी थी, जिसने एक रिपोर्ट पेश की थी । उसकी मुख्य सिफरिशों में एक यह भी थी कि शहर से तीन-चार मील की दूरी पर, फुलवारी शरीफ के नजदीक, यूनिवर्सिटी कायम की जाय । उसकी इमारतों का खर्च भी प्रायः एक करोड़ के लगभग बताया गया । कलकत्ते से ही मैंने उसका विरोध किया था । फिर जब मैं बिहारी छात्र-सम्मेलन का सभापति हुआ तो उस हैसियत से भी उसका जबरदस्त खण्डन किया । हम लोग समझते थे कि ऐसा होने से गरीब लड़कों के लिए यूनिवर्सिटी-शिक्षा असंभव नहीं तो कठिन जरूर हो जायगी । वहां खर्च भी अधिक पड़ेगा और शहर से दूर होने के कारण सभी लड़कों को अधिक खर्च देकर होस्टल में रहना होगा । वहां उनको कोई आजादी भी नहीं रहेगी । इत्यादि ।

उस विरोध को साधारण जनता से बहुंत मदद मिली थी । वह योजना एक प्रकार से स्थगित हो गई । नये बिल के सम्बन्ध में दूसरे प्रकार की बाधा थी । हम समझते थे कि सिनेट और सिण्डिकेट जैसा बनने जा रहे हैं वैसा बनने से तो उनमें जनता के सेवकों को स्थान ही नहीं मिल सकेगा--सब सरकारी आदमी ही, सारी यूनिवर्सिटी

को अपने हाथों में रखकर, सरकारी आज्ञा के अनुसार, मनमाने ढंग से चलावेंगे।

हमारे सामने कलकत्ता-यूनिवर्सिटी थी। वहां के वाइस-चान्सलर लोगों ने शिक्षा के प्रचार में बड़ी निर्भीकता से काम किया था। विशेष करके सर आशुतोष हमारी आंखों के सामने थे। पर वहां के सिण्डिकेट और सिनेट सर आशुतोष का साथ न देते तो वह बहुत-कुछ न कर पाते। हम समझते थे कि हमारे यहां पहले तो उनके ऐसा आदमी जल्दी नहीं मिलेगा और अगर मिला भी तो वह सिनेट और सिण्डिकेट के विरोध के सामने कुछ कर न सकेगा। इसलिए हम चाहते थे कि सिनेट और सिण्डिकेट में शिक्षकों के अलावा दूसरे लोगों को, जनता के प्रतिनिधि के रूप में, काफी जगहें दी जायं।

यूनिवर्सिटी-बिल के विरूद्ध बहुत बड़ा आन्दोलन हमने खड़ा किया। इस आन्दोलन में मेरे मित्र बाबू वैद्यनाथनारायणसिंह और मैंने बहुत बड़ा भाग लिया। एक प्रकार से इसके संगठनकर्त्ता हम ही दोनों थे। प्रत्येक जिले में सभा की गई। हम दोनों ने अखबारों में कई लेख लिखे। चूंकि बिल दिल्ली की कौन्सिल में पेश हुआ था, इसलिए हमने जरूरी समझा कि और-और सूबों के मेम्बरों को भी बिहार के लोकमत से अवगत कर दें। सभी राष्ट्रवादी समाचारपत्रों ने विरोध किया। हमने पांच या छः छोटी-छोटी पुस्तिकाएं इस सम्बन्ध में लिखीं और छपवाई। अन्त में बिहार प्रान्तीय कान्फ्रेन्स का विशेष अधिवेशन करके इसपर विचार किया गया और सख्त विरोध हुआ। इस अधिवेशन के सभापति हुए थे पटने के नामी वकील रायबहादुर पूर्णेन्दुनारायणसिंह। उन्होंने बड़ी समालोचनात्मक वक्तृता दी और उसी के अनुरूप प्रस्ताव भी स्वीकृत हुआ।

इसी बीच लखनऊ में, १६१६ के दिसम्बर में, कांग्रेस हुई। वहां हम सब बड़ी संख्या में गये। यद्यपि यह बिल एक खास प्रान्त (बिहार) से सम्बन्ध रखता था, और कांग्रेस ऐसे ही विषयों पर विचार किया करती थी, जिनका सार्वदेशिक प्रभाव होता था, तथापि मैंने श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, श्री परांजपे प्रभृति नेताओं से कहकर इस बिल के विरूद्ध प्रस्ताव उपस्थित करने का आयोजन किया। श्री परांजपे ने प्रस्ताव पेश किया और वह सर्व-सम्मति से पास हुआ। इस तरह बिल के विरूद्ध एक प्रकार का सार्वदेशिक आन्दोलन हो गया।

बिल के उपस्थित करनेवाले मेम्बर सर शंकर नायर थे। उन्होंने बिहार के

मेम्बरों से सलाह की । बिल में काफी संशोधन किया गया । जिन-जिन बातों का अधिक विरोध हुआ था, उनमें परिवर्तन कर दिया गया । मजहरूलहक साहब बिहार के प्रतिनिधि थे । वह लोगों से बराबर राय लेते गये । अन्त में हमारी सम्मति लेकर बहुत परिवर्तित रूप में बिल स्वीकृत हुआ ।

यह पहला ही मौका था जब मैंने बिहार में सरकार के विरूद्ध एक इतना बड़ा आन्दोलन खड़ा कर दिया था और इसमें सफलता भी मिली थी । इसी समय से मैं कांग्रेस के काम में अधिक भाग लेने लगा । यों तो मैं १६११ से ही बराबर अखिल भारतीय कांग्रेस-कमेटी का मेम्बर होता रहता; पर जबतक कलकत्ते में था, कुछ विशेष काम न कर सका । जब बिहार आया तो लोगों का ध्यान भी मेरी तरफ गया और मैंने भी महसूस किया कि सार्वजनिक कामों में कुछ अधिक दिलचस्पी लेना जरूरी है । थोड़े ही दिनों में मैं बिहार प्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी का सहकारी मन्त्री भी बना दिया गया । इस पद पर मैं कई वर्षों तक रहा । जब असहयोग-आन्दोलन शुरू हुआ और पुराने कांग्रेसी लोग अलग हो गये तब मैं मन्त्री हो गया । जब यूनिवर्सिटी बनी तो गवर्नर ने मुझे सिनेट का मेम्बर बना दिया ।

१६१६ की कांग्रेस में बिहार-सम्बन्धी एक दूसरा प्रस्ताव भी पास हुआ था, चम्पारन के निलहे गोरों के विरूद्ध । इसका विस्तृत वर्णन अन्यत्र दिया जायगा ।

: २० :

हिन्दी तथा सेवा-कार्य

कलकत्ते से पटने आने के पहले एक-दो बातें और हुईं, जिनका जिक्र कर देना उचित जान पड़ता है । छात्र-सम्मेलन का जिक्र तो आ ही चुका है । छात्रावस्था समाप्त हो जाने के बाद भी, जब मैं वकालत करता था, छात्र-सम्मेलन के साथ मेरा सम्बन्ध कायम रहा । छात्र लोग भी मेरा बहुत विश्वास करते और मैं भी अपने को उनमें से ही एक समझता ।

छात्र-सम्मेलन के मुंगेरवाले अधिवेशन का मैं सभापति बनाया गया । उसी में यूनिवर्सिटी-सम्बन्धी नेथन-कमिटी की रिपोर्ट का विरोध किया गया था । इसके अलावा जहां-जहां अधिवेशन होता, मैं जाता और दूसरे प्रकार से भी संगठन को सहायता देता ।

उन्हीं दिनों हिन्दी के साथ भी प्रेम बढ़ा । स्कूल में, एक या दो वर्षों तक, नीचे के वर्ग में, मैंने संस्कृत पढ़ी । उसके बाद फारसी पढ़ने लगा । संस्कृत छोड़ने का मुख्य कारण यह था कि बाबूजी चाहते थे, मैं वकील बनूं । उनका ख्याल था कि मुकदमे के कागज-पत्र फारसी में लिखे मिलते हैं, इसलिए फारसी पढ़ने से वकालत में मदद मिलेगी । पीछे मैंने घर पर कुछ संस्कृत पढ़ने की कोशिश भी की थी, पर वह बहुत दिन न चल सकी । इसलिए स्कूल और कालेज में मैंने बराबर फारसी ही पढ़ी । फारसी में नम्बर भी खूब आता था । अगर फारसी का नम्बर न होता तो मैं एण्ट्रेन्स में अव्वल नहीं होता; क्योंकि गणित में मुझे कम नम्बर आये थे । हिन्दी पढ़ने का तो कभी मौका ही नहीं आया । हिन्दी का अक्षर मात्र जानता था । घर में मां आदि रामायण पढ़ा करती थीं । इसलिए मुझे भी रामायण पढ़ने की चाह हो गई थी । बहुत दिनों तक तो सवेरे रामायण का पाठ करके कुछ खाता-पिता । यह नियम कुछ दिनों तक चला था । हिन्दी के दूसरे ग्रंथों को देखने का कभी मौका नहीं मिला था ।

परीक्षा में एक पर्चा आता था, जिसमें अंगरेजी से किसी देशी भाषा में और देशी भाषा से अंगरेजी में उलथा करने को कुछ दिया जाता था । एण्ट्रेन्स और एफ० ए० की परीक्षा में मैंने देशी भाषा के रूप में उर्दू ही ली थी । बी० ए० में पहुंचकर इच्छा

हुई कि हिन्दी ले लूं। बी० ए० में एक निबंध भी लिखना पड़ता था। मैंने हिन्दी ले ली। हिन्दी में पास भी कर गया। हिन्दी से सम्बन्ध इसी प्रकार आरम्भ हुआ।

कलकत्ते में हिन्दी के लेखक, विद्वान्, साहित्यिक और सेवक कई सज्जन रहते थे। उनमें से पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी बिहार के रहनेवाले थे। बिहारी-क्लब में वह अक्सर आया-जाया करते थे। विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय के प्रिंसिपल पंडित उमापतिदत्त शर्मा भी बिहारी थे। उनसे भी क्लब में मुलाकात हो गई। इन लोगों के जरिये दूसरे लोगों से भी परिचय हो गया। कलकत्ते में हिन्दी-साहित्य-परिषद् की स्थापना हुई। उसमें मैं काफी दिलचस्पी लेने लगा। उसके जन्म का साल तो याद नहीं है, पर इतना याद है कि उसके अधिवेशनों में मैंने भी कभी-कभी लेख पढ़े थे, जिनको विद्वानों ने पसन्द किया था। हममें से कुछ के दिल में ख्याल उठा कि अखिल-भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन भी होना चाहिए; और इस विषय के लेख लिखे गये। हिन्दी-साहित्य-सेवियों ने इस प्रस्ताव का स्वागत किया और काशी में पहला अधिवेशन हुआ। मैं भी उसी में उपस्थित था और पूज्य मालवीयजी सभापति हुए थे। इस प्रकार सम्मेलन के साथ मेरा संबंध उसके आरम्भ से ही हुआ।

जब तीसरा सम्मेलन कलकत्ते में होनेवाला था तो मैं स्वागतकारिणी समिति का प्रधान मन्त्री बनाया गया। अभी एक साल भी पूरा नहीं हुआ था कि मैंने वकालत शुरू की थी। बहुत लोगों से जान-पहचान भी नहीं थी। तथापि लोगों की ऐसा इच्छा हुई और मुझे यह भार उठाना पड़ा। इस सिलसिले में सम्मेलन के प्रमुख नेताओं से परिचय हो गया। कलकत्ते के बड़ाबाजार के लोगों से तो विशेष परिचय हुआ। १९१२ के दिसम्बर में, कलकत्ते में सम्मेलन बड़ी सफलता से, पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की अध्यक्षता में, हो गया। यह पहला अवसर था कि मुझे किसी अखिल भारतीय संस्था के अधिवेशन के प्रबंध का भार उठाना पड़ा। कड़ा परिश्रम करना पड़ा, पर ईश्वर की दया से सब ठीक हो गया।

ठीक उसी समय पटने में कांग्रेस होनेवाली थी। बिहारी होने की हैसियत से मुझे उसमें शरीक होना जरूरी मालूम पड़ता था और मैं चाहता भी था। सम्मेलन की तिथियां भी ऐसी रखी गई थीं कि कोई चाहे तो सम्मेलन का काम समाप्त करके पटने की कांग्रेस में शरीक हो सकता था। पर स्वागत-समिति का प्रधान मंत्री होने के कारण मुझपर इतनी जवाबदेही थी कि मैं कलकत्ते से न हट सका। इसलिए पटने की कांग्रेस में शरीक न हो सका।

पटने में पहुंचकर हम चन्द मित्रों ने गरीब विद्यार्थियों के सहायतार्थ एक कोष जमा किया, जिससे कुछ छात्रों को मदद दी जाती थी। यह काम छात्र-सम्मेलन ने ही आरम्भ किया था। पर पीछे मैंने इसको अपने हाथ में ले लिया था।

१६१४ में बंगाल और बिहार में बड़ी भयंकर बाढ़ आई। पहली बाढ़ बर्दबान जिले में थी। कलकत्ते में बाढ़-पीड़ितों की सहायता के लिए रूपये जमा किये गये। बहुत-से स्वयंसेवक वहां गये। इसकी खबरें अखबारों में खूब छपीं। थोड़े ही दिनों के बाद वैसी ही भयंकर बाढ़ 'पुनपुन' नदी में पटने में भी आ गई। हमने सोचा कि बाढ़ पीड़ितों की कुछ मदद करनी चाहिए। कलकत्ते में ही कुछ रूपये जमा किये। साथियों के साथ पटने पहुंचा। छात्र-सम्मेलन का दफ्तर तो पटने में था ही। वहां से उत्साही छात्रों की मदद लेकर एक स्वयंसेवक-दल कायम किया। बाढ़ पीड़ित जगहों में अन्न लेकर लोगों के सहायतार्थ पहुंचा। दशा भयंकर थी। कई गांव ऐसे थे, जिनके भीतर घरों में भी पानी पहुंच गया था। जब हम लोग पहुंचे तो घरों में जो अन्न था वह सड़ रहा था। इसलिए हम लोग तैयार भोजन--जैसे सत्तू, चिउरा, भूने हुए चने--अधिक बांटते थे। नाव पर चढ़कर दूर तक निकल जाते थे। संध्या तक गांव-गांव में घूमकर, नजदीक पड़नेवाले रेलवे स्टेशन के प्लेटफार्म पर जाकर सो रहते। मुझे याद है कि कई रात हमने प्लेटफार्म पर सोकर बिताई होंगी। बिहार में सेवा-समिति का पहला संगठन शायद यही था। यह कोई बाजाब्ता संगठन नहीं था। वक्ती तौर पर लोकसेवा के लिए यह संगठन कर लिया गया था। पर सेवा-समिति का जन्म तो इसी प्रकार से हो ही गया। जब हम लोग पटने आये तो सोनपुर के मेले में यात्रियों की मदद करने के लिए उसका बाजाब्ता संगठन कर लिया गया। सेवा-समिति में मेरे भाई बहुत दिलचस्पी लेते थे। हर साल सोनपुर के मेले में वह स्वयं बहुत सेवा करते थे। मरने के समय तक कई बरसों से उसके अध्यक्ष वही थे।

बाढ़-पीड़ितों की सेवा करते समय स्टेशन के प्लेटफार्म पर की एक स्मृति बहुत ही सुखद है। मैं दिन-भर काम करके सो गया था। कुछ देर के बाद नींद टूटी। अनुभव हुआ कि कोई आदमी बड़े प्रेम से मेरे पैर और बदन दबा रहा है और मेरी थकावट दूर करने का प्रयत्न कर रहा है। देखा तो मेरे मित्र शम्भूशरण थे। वह भी दिन-भर मेरे साथ ही काम करके थके थे। पर उन्होंने अपनी थकावट की परवा न करके मुझे आराम पहुंचाया।

: २१ :

गांधीजी से भेंट

१६१६ में लखनऊ की कांग्रेस बड़े समारोह के साथ हुई थी । १६०७ से जब कांग्रेस में दो दल हो गये, और गरम पार्टी कांग्रेस से अलग हो गई, तबसे कांग्रेस की लोकप्रियता कम हो गई थी । उसके सालाना जल्सों में भी कम लोग आया करते थे । यहां तक कि १६१२ में जब पटने में कांग्रेस हुई, प्रतिनिधियों की संख्या बहुत कम थी । देश-हितैषियों की कोशिश थी कि दोनों दल मिला दिये जायं, जिससे कांग्रेस में फिर से जान आ जाय । यह प्रयत्न चलता रहा, पर यह सफल हुआ १६१६ की कांग्रेस में ही । इसमें सभी विचार के लोग उपस्थित थे । एक तरफ लोकमान्य तिलक दल-बल के साथ आये थे । दूसरी ओर नरम दल के प्रायः सभी नेता उपस्थित थे । मिसेज बेसेण्ट भी आई थीं । उसी साल मुस्लिम लीग के साथ समझौता भी हुआ । मुसलमान भी बड़ी संख्या में उपस्थित थे । महात्मा गांधी भी इस कांग्रेस में आये थे । वह १६१५ में ही दक्खिन अफ्रिका से लौटकर सारे देश में भ्रमण करते रहे । पर इस कांग्रेस में वह किसी प्रस्ताव पर बोले नहीं ।

बिहार के भी प्रतिनिधि अच्छी संख्या में लखनऊ पहुंचे थे । उनमें कुछ लोग चम्पारन के थे, जिनमें एक देहाती किसान राजकुमार शुक्ल थे । वह थोड़ी हिन्दी जानते थे, पर और कोई भाषा नहीं । वह उन लोगों में थे जिन्होंने खुद नीलवरों (निलहे गोरों) के हाथ से दुःख पाया था । चम्पारन जिले की सताई हुई प्रजा की ओर से वह कांग्रेस में पहुंचे थे । उनसे मेरी मुलाकात कुछ पहले से ही थी, क्योंकि जब कभी कोई मुकदमा हाइकोर्ट तक पहुंच पाता था तो मैं फीस का ख्याल न करके उन लोगों के वकील की हैसियत से काम कर दिया करता था । पर इस काम में बाबू ब्रजकिशोरप्रसाद उन लोगों की बहुत मदद किया करते थे । इसलिए उन लोगों का विशेष परिचय उन्हीं से था । चम्पारन जिले की परिस्थिति से वह बहुत ज्यादा परिचित थे ।

उस समय बिहार के प्रतिनिधि दो विषयों में विशेष दिलचस्पी रखते और कांग्रेस में उनपर प्रस्ताव पास कराना चाहते थे--एक पटना यूनिवर्सिटी बिल और दूसरा

चम्पारन का नीलवर-प्रश्न । राजकुमार शुक्ल, बाबू ब्रजकिशोर प्रभृति बहुत चाहते थे कि कांग्रेस इस सवाल पर भी प्रस्ताव करे । बिहार-प्रान्तीय कान्फ्रेंस के सभापति की हैसियत से बाबू ब्रजकिशोर इस प्रश्न पर कड़ी आलोचना कर चुके थे । उस कान्फ्रेंस में एक प्रस्ताव भी पास हो चुका था । कौन्सिल के वह मेम्बर थे । उन्होंने वहां भी इस समस्या पर प्रश्न पूछे थे और एक प्रस्ताव भी रखा था । कौन्सिल में और बाहर भी, एक प्रकार से इस विषय को अपना लक्ष्य बनाकर, विधान के अन्दर इसपर जो काम हो सकता था, वह कर रहे थे । जहांतक हो सकता था, मुकदमों में भी वहां की रियाया की मदद किया करते थे ।

यह बात बिहार के लोगों को मालूम थी कि कर्मवीर गांधी दक्षिण अफ्रिका में बहुत-कुछ करके हिन्दुस्तान आये हैं, इसलिए उनसे इस काम में मदद लेनी चाहिए । राजकुमार शुक्ल आदि उनसे मिले और चम्पारन का कुछ हाल कह सुनाया । उन्होंने कुछ दिलचस्पी जाहिर की । इधर से कहा गया कि कांग्रेस में वह एक प्रस्ताव उपस्थित करें । उन्होंने इनकार कर दिया; कहा कि जबतक वहा की स्थिति वह स्वयं देखकर और जांचकर अपने को संतुष्ट नहीं कर लेंगे, प्रस्ताव उपस्थित नहीं कर सकते । जोर देने पर उन्होंने कहा कि वहां जाकर स्थिति देखने के लिए वह तैयार हैं और कुछ दिनों के बाद वहां जायेंगे भी । कांग्रेस में प्रस्ताव बाबू ब्रजकिशोर ने उपस्थित किया । राजकुमार शुक्ल भी उसपर कुछ बोले । यह शायद पहला ही मौका था जब एक निरा देहाती किसान कांग्रेस के मंच से किसी प्रस्ताव पर बोला हो । कांग्रेस ने प्रस्ताव स्वीकृत किया ।

जब बिहार के प्रतिनिधि, बाबू ब्रजकिशोर के साथ, गांधीजी के पास गये थे तब मैं उनके साथ नहीं था । यह किस्सा मैंने पीछे सुना । मैं गांधीजी के बारे में बहुत जानकारी नहीं रखता था । दक्षिण अफ्रिका में उन्होंने जो कुछ किया था, उसकी जानकारी भी बहुत थोड़ी रखता था । केवल इतना ही जानता था कि उन्होंने दक्षिण अफ्रिका में कोई बड़ा और अच्छा काम किया है । यह नहीं जानता था कि वह देश के नामी नेताओं की तरह एक बड़े नेता हैं । राजकुमार शुक्ल ने न मालूम क्यों उनपर इतना विश्वास किया और उनके पास पहुंचकर उनको चम्पारन आने के लिए राजी किया ।

लखनऊ-कांग्रेस के कुछ दिनों बाद गांधीजी कलकत्ते आये । उन्होंने राजकुमार

शुक्ल को पत्र लिखा कि कलकत्ते में मुझसे मिलो--वहां से हम दोनों साथ ही चम्पारन चलेंगे । देहात में पत्र देर करके पहुंचा । राजकुमार शुक्ल के पास पत्र पहुंचने के पहले ही गांधीजी कलकत्ते से वापस चले गये थे । राजकुमार शुक्ल ने फिर पत्र लिखा । गांधीजी ने उत्तर दिया कि अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी की बैठक कलकत्ते में होगी, वह उस बैठक में उपस्थित होंगे, राजकुमार शुक्ल को वहीं उनसे भेंट करनी चाहिए । मैं भी उस बैठक में उपस्थित था । इत्तफाक से मैं गांधीजी की बगल में ही एक कुर्सी पर बैठा था । पर मुझे यह मालूम नहीं था कि राजकुमार शुक्ल से उनका पत्र-व्यवहार हुआ है और वह वहां से बिहार आनेवाले हैं । अपनी आदत से मजबूर मैं किसी से जबरदस्ती या आगे बढ़कर जानपहचान करना नहीं जानता । मैंने गांधीजी से न कुछ पूछा, और न एक शब्द भी मैं बोला । उस कमिटी में लोगों ने, और विशेष करके प्रेसिडेण्ट श्रीअम्बिकाचरण मजुमदार ने, बहुत जोर दिया कि गांधीजी कांग्रेस-मन्त्री हो जायं । पर गांधीजी ने इनकार कर दिया । मैं बैठे-बैठे सब देखता रहा । कभी-कभी मैं यह सोचता था कि जब लोगों का इतना आग्रह है तो उनका इनकार करना मुनासिब नहीं है । पर मैं कुछ बोल नहीं सकता था ।

कमिटी का काम खतम होने पर गांधीजी बाहर निकले । राजकुमार शुक्ल उनका इन्तजार कर रहे थे । उसी रात को वह राजकुमार शुक्ल के साथ सीधे पटने चले आये । मैं कुछ देर करके बाहर आया । इसलिए उन लोगों से मुलाकात नहीं हुई । गांधीजी भी नहीं जानते थे कि मैं बिहार का ही रहनेवाला हूं और राजकुमार शुक्ल पटने में मेरे ही घर पर उनको ले जानेवाले हैं । इसलिए वह भी मुझसे कुछ नहीं बोले ।

यह बैठक ईस्टर की छुट्टियों में हुई थी । मैं कलकत्ते से जगन्नाथपुरी चला गया । गांधीजी पटने आ गये । राजकुमार शुक्ल उनको मेरे घर पर ले गये । पर वहां एक नौकर के सिवा और कोई था ही नहीं । नौकर ने समझा कि ये कोई देहाती मवक्किल आये हैं । इसलिए उसने उनको किसी बाहर के कमरे में ठहरा दिया और किसी किस्म का आदर-सत्कार करने के बदले कुछ तिरस्कार का ही भाव दिखलाया । गांधीजी कुछ देर ठहरे । इतने में मजहरूलहक साहब को खबर हुई । वह खुद आकर उनको अपने घर पर ले गये । संध्या को गांधीजी मुजफ्फरपुर पहुंचे । वहां आचार्य कृपलानी के पास ठहरे । वहां कुछ लोगों से भेंट-मुलाकात करके

उनका इरादा था कि चम्पारन जायं। बाबू व्रजकिशोर, जो दरभंगा में वकालत किया करते थे, तार देकर बुला लिये गये थे।

गांधीजी का इरादा था कि वह चम्पारन में जाकर वहां के रैयतों से मिलें और उनका दुःख उन्हीं के मुंह से सुनें। पर वहां की ग्रामीण बोली वह समझ नहीं सकते थे। इसलिए वह चाहते थे कि कोई दु-भाषिया का काम करने के लिए उनके साथ जाय। उनका विचार था कि दो-चार दिनों में सब बातें मालूम हो जायेंगी। राजकुमार शुक्ल ने भी ऐसा ही कहा था। इसलिए वह दो-चार दिनों के लिए ही तैयार होकर आये थे। बाबू व्रजकिशोर को ठीक उसी वक्त कलकत्ते में कुछ काम था। वह खुद गांधीजी के साथ न जा सके। पर उन्होंने यह भी सोच लिया कि कलकत्ते से लौटने पर वह खुद चम्पारन जायेंगे और जरूरत होगी तो मुझे भी साथ ले जायंगे।

चम्पारन जिले का सदर शहर मोतीहारी है। गांधीजी वहां पहुंचे। पहुंचने के बाद उन्होंने देहात में जाने का इरादा कर लिया। एक गांव से एक प्रतिष्ठित रैयत आये, जिनका घर दो-चार ही दिन पहले नीलवर की ओर से लूट लिया गया था। उस लूट-खसोट के निशान अभी तक मौजूद थे। उन्होंने आकर सारा किस्सा कहा। गांधीजी वहीं जाना चाहते थे। रास्ते में ही कलक्टर का हुक्म पहुंचा कि आप जिला छोड़कर चले जाइये। उन्होंने जिला छोड़ने से इनकार कर दिया। वह उदूल-हुक्मी के मुकदमे का इन्तजार करने लगे। उसी दिन यह भी मालूम हो गया कि मुकदमा चलेगा। मैं उसी दिन पुरी से पटना लौटा था। कचहरी में मेरे पास यह सारी बातें उन्होंने तार द्वारा लिख भेजीं।

यह पहला ही अवसर था जब गांधीजी से मेरा किसी प्रकार का सम्पर्क हुआ। मैंने कलकत्ते तार देकर बाबू ब्रजकिशोर को बुला लिया। दूसरे दिन सवेरे की गाड़ी से मिस्टर मजहरूलहक और मिस्टर पोलक--जो उस समय हिन्दुस्तान में ही थे--उसी रात को, गांधीजी का तार पाकर पटने पहुंच गये थे। बाबू व्रजकिशोर, अनुग्रहनारायण और शम्भूशरण के साथ मैं मोतीहारी के लिए रवाना हो गया। हम लोग दिन में तीन बजे के करीब वहां पहुंचे। उस समय तक मामला अदालत में पेश हो चुका था, बल्कि सुनवाई के बाद हुक्म के लिए तीन-चार दिनों के वास्ते मुलतवी कर दिया गया था।

बाबू गोरखप्रसाद के मकान पर गांधीजी ठहरे थे। हम लोग जब वहां पहुंचे तो

गांधीजी एक कुर्ता पहने हुए बैठे थे। हम लोगों से उनका परिचय पहले से नहीं था। जब परिचय कराया गया तो मुझसे हँसते हुए उन्होंने कहा--"आप आ गये ? आपके घर पर तो मैं गया था।" मैंने कुछ किस्सा तो सुन लिया था, इसलिए कुछ शर्मिंदा भी हुआ, उन्होंने, जो-कुछ कचहरी में हुआ था, सब कह सुनाया।

'चम्पारन में महात्मा गांधी' नामक पुस्तक में, जो उस आन्दोलन के सफलतापूर्वक समाप्त होने के थोड़े ही दिनों बाद लिखी और प्रकाशित की गई थी, मैंने चम्पारन का सारा किस्सा विस्तारपूर्वक दे दिया है। यहां केवल अपने सम्बन्ध का ही जिक्र करना चाहता हूं।

गांधीजी को पहले-पहल देखकर मेरे ऊपर कोई खास असर नहीं पड़ा। मैं चम्पारन का हाल थोड़ा-बहुत जानता था। पर अधिकतर बाबू व्रजकिशोर की आज्ञा मानने के लिए ही शुरू में वहां गया था। सोचा था, जो-कुछ काम होगा वह कर दिया जायगा। स्वप्न में भी यह मन में नहीं आया था कि वहां पहुंचते ही जेल जाने का जटिल प्रश्न हमारे सामने आयगा।

गांधीजी ने सब बातें कहकर हमसे कहा कि अपने साथी बाबू धरनीधर और बाबू रामनौमी से और सब बातें सुन लीजिये। इतना कह वह मि० पोलक से बातें करने लगे। हम लोगों ने उन दोनों भाइयों से विस्तारपूर्वक सारा हाल सुना। मालूम हुआ कि गांधीजी प्रायः रात-भर जागकर वायसराय तथा नेताओं के पास भेजने के लिए पत्र लिखते रहे हैं और कचहरी के लिए अपना बयान ही उन्होंने रात में ही तैयार कर लिया था। उन दोनों से, जो दुभाषिया का काम करने के लिए ही आये थे, गांधीजी ने पूछा था। कि मेरे कैद हो जाने के बाद आप लोग क्या करेंगे। वे लोग प्रश्न की गूढ़ता को शायद पूरा समझ न सके थे। बाबू धरनीधर ने मजाक में कह दिया था कि आपके (गांधीजी के) कैद हो जाने के बाद दुभाषिया का काम नहीं रह जायगा--हम लोग अपने-अपने घर चले जायेंगे। यह सुनकर गांधीजी ने प्रश्न किया--और इस काम को ऐसे ही छोड़ देंगे ? इसपर उन लोगों को कुछ सोचना पड़ा। बाबू धरनीधर ने, जो बड़े थे, उत्तर दिया कि वह जांच का काम जारी रखेंगे, और जब उनपर भी सरकार की ओर से नोटिस हो जायगी, तो वह चूंकि जाने के लिए तैयार नहीं हैं, खुद तो चले जायेंगे और दूसरे वकील को भेंजेंगे, जो जांच का काम करेंगे, और अगर उनपर भी नोटिस हुई, तो वह भी चले जायेंगे और पीछे तीसरा टोली

आयगी--इस प्रकार काम जारी रखा जायगा ।

यह सुनकर गांधीजी को कुछ सन्तोष हुआ, पर पूरा नहीं । उन लोगों को भी सन्तोष न हुआ । वे लोग रात को सोचते रहे कि यह आदमी न मालूम कहां से आकर यहां के रैयतों के कष्ट दूर करने के लिए जेल जा रहा है और हम लोग--जो यहां के रहनेवाले होकर रैयतों की मदद का दम भरा करते हैं--इस तरह घर चले जायं, यह अच्छा नहीं मालूम होता ।

पर जेल की बात अभी हममें से किसी ने कभी सोची ही न थी । जेल तो एक भयंकर जगह समझी जाती थी, जहां से गिरफ्तारी के बाद भी बचने के लिए लोग हजारों खर्च करके जमानत पर छुट्टी लिया करते थे । अगर कोई मजबूरी से जेल गया भी तो वहां रूपये खर्च करके आराम पाने का प्रबन्ध करता था । और, यहां यह आदमी, जो दक्षिण अफ्रिका में इतना काम कर आया है, इन अनजान किसानों की खातिर सब कष्ट सहने के लिए तैयार है । ऐसी दशा में भी हम घर चले जायं, यह कैसे हो सकता है ? इधर बाल-बच्चों की भी फिक्र थी !

रात-भर सोच-विचार करने के बाद, दूसरे दिन सवेरे, जब गांधीजी के साथ ये लोग कचहरी जा रहे थे, इनकी भावनाएं उमड़ पड़ीं । इन्होंने साफ-साफ कह दिया, आपके जेल जाने के बाद अगर जरूरत पड़ी तो हम लोग भी जेल जायेंगे ।

यह सुनते ही गांधीजी का चेहरा खिल उठा । वह बहुत ही खुश होकर बोल उठ--अब मामला फतह हो जायगा ।

वहां पहुंचते ही ये सारी बातें हम लोगों ने उन दिनों भाइयों से सुनीं । अब तो हमारे सामने भी जेल जाने का प्रश्न आ गया । हम लोगों ने तय कर लिया कि जरूरत पड़ने पर हम भी जेल जायेंगे । यह निश्चय गांधीजी को हमने सुना दिया । उन्होंने कागज-कलम लेकर सबके नाम लिख लिये । हम लोगों को कई टोलियों में उन्होंने वांट दिया । यह भी तय कर दिया कि ये टोलियां किस क्रम से जेल जायेंगी । पहली टोली के सरदार मजहरूलहक साहब थे, दूसरी के बाबू व्रजकिशोर । एक टोली का सरदार मैं भी बनाया गया । ये सारी बातें, वहां पहुंचने के तीन-चार घंटों के अन्दर ही तय हो गई ।

मुकदमे में, तीन या चार दिनों के बाद हुकुम सुनाया जाने को था । उस दिन गांधीजी जेल जानेवाले थे । मजहरूलहक साहब के हाथ में कोई मुकदमा गोरखपुर में

था । वह वहां चले गये, ताकि मामला खतम करके उस दिन के पहले ही वापस आकर नेतृत्व करेंगे ।

बाबू व्रजकिशोर भी अपने घर का प्रबन्ध करने के लिए दरभंगा चले गये । हम लोग मोतीहारी में ही ठहरकर किसानों के बयान सुनने और लिखने लगे । विचार था कि जब ये दोनों सज्जन वापस आ जायेंगे तब हम लोग भी एक-एक करके घर जायेंगे और घर के लोगों से मिल-जुलकर जेल-यात्रा की तैयारी करके लौट आयेंगे ।

गांधीजी ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है कि इससे वह सन्तुष्ट हुए थे, और उसी दिन से बिहार के प्रति उनका बहुत प्रेम हो गया और हम लोग उनके विश्वासपात्र बन गये ।

चम्पारन की जांच शुरू हो गई । हजारों की तादाद में किसानों ने बयान लिखवाये । शायद बीस-पच्चीस हजार बयान हम लोगों ने लिखे होंगे । तारीख के पहले ही मजिस्ट्रेट ने लिख भेजा कि सरकार के हुकुम से गांधीजी पर से मुकदमा उठा लिया गया और उनको जिले में जांच करने की इजाज़त दे दी गई । जांच से पता चला कि जो कुछ जुल्म हमने सुना था, वहां की परिस्थिति उससे कहीं अधिक बुरी थी । अगले अध्याय में इसका हाल संक्षेप में बताऊंगा । यहांपर इतना ही कह देना काफी है कि पहली मुलाकात में ही हम लोग अपनी इच्छा से गांधीजी के फांस में फंस गये । ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, उनके साथ केवल प्रेम ही नहीं बढ़ा उनकी कार्य-पद्धति पर विश्वास भी बढ़ता गया । चम्पारन का काण्ड समाप्त होते-होते हम सब-के-सब उनके अनन्य भक्त और उनकी कार्यप्रणाली के पक्के हामी बन चुके थे ।

: २२ :

चम्पारन

चम्पारन-जिले में अंगरेज प्राय: एक सौ बरसों से नील की खेती करते और कराते थे। प्राय: सारे जिले-भर में जहां-जहां नील हो सकती थी, उन्होंने अपने नील बनाने के कारखाने खोल दिये थे और बहुत जमीन भी अपने कब्जे में कर ली थी, जिसमें वह खुद अपने हल-बैल से नील की खेती कराते थे। जिले का बहुत बड़ा हिस्सा बेतिया-राज की जमींदारी में है। उन्होंने बहुत-से गांवों की जमींदारी मालगुजारी वसूल करने का ठेका राज से ले लिया था और इस जरिये से उन गांवों पर उनका कब्जा हो गया था। उन गांवों में रहनेवाली रैयत को भी वे मजबूर करते कि वह अपनी जमीन में भी इन नीलवरों के लिए नील बोया करें। आहिस्ता-आहिस्ता उन्होंने इसको एक कानूनी जामा भी पहना दिया, और यह दावा भी करने लगे कि उनको इस बात का हक है कि रैयत को वे मजबूर कर सकते हैं कि अपने खेत की फी बीघे में पांच कट्ठे या तीन कट्ठे जमीन में वह जरूर नील बोवे। इस प्रथा को वे पंच-कठिया या तीन-कठिया कहते थे। किसी रैयत की हिम्मत नही पड़ती थी कि वह नील बोने से इनकार करे। अगर कोई हिम्मत करता तो उसपर हजार तरह के जुल्म करके उसको मजबूर कर दिया जाता घर और खेत लूट लिये जाते। खेत मवेशियों से दिया जाता। झूठे मुकदमे लगा दिये जाते। जुर्माना वसूल किया जाता। पीटा भी जाता। इस डर के मारे प्राय: सभी रैयत तीन कठिया मानकर बीघा पीछे तीन इट्ठा नील बो दिया करते। उनके खेतों में जो सबसे बेहतर खेत होते, नीलवर उन्हीं को चुनकर नील बोने के लिए कहते। नील बोने का काम काश्तकारी के और सब कामों से पहले पूरा करना होता। जब नील तैयार हो जाती तब उसे काटकर कोठी पर पहुंचा देना होता। इसके लिए रैयत को वे कुछ बीघा पीछे दिया करते थे, जो कभी खर्चे के लिए भी पूरा नहीं होता। गवर्नमेण्ट के अफसर उन लोगों की ही मदद करते। अगर कोई अफसर हिम्मत करके इंसाफ करना चाहता तो नीलवरों का असर ऊपर के अफसरों पर इतना होता कि उस मातहत अफसर की

आफत आ जाती । जो अफसर सच्चे होते, नीलवरों के जुल्म और तीन कठिया के खिलाफ गवर्नमेण्ट के पास रिपोर्ट भेजा करते; पर इससे कुछ होता-जाता नहीं । कभी-कभी घबराकर रैयत बलवा कर देती, किसी नीलवर को मार देती या ऐसा आपस में मिलकर कुछ दूसरे प्रकार का तहलका मचा देती । पर तब भी वे नीलवरों का मुकाबला कैसे कर सकते थे ! नतीजा यह होता कि गांव-के-गांव लूट लिये जाते । पुलिस और कचहरी के अमलों की मदद से बेचारी रैयत हर तरह से जेर कर दी जाती ।

गवर्नमेण्ट पर निलहे गोरों का इतना असर था कि लगान-कानून में (**Tenancy Act**) उन्होंने एक दफा बनवा दी कि जमींदार की मर्जी के मुताबिक जहां रैयत कोई खास फसल बोने के लिए मजबूर की जा सकती है, वहां अगर वह इस शर्त से अपनी रिहाई चाहे, तो जमींदार को हक है कि इस रिहाई के बदले में जितना चाहे उतना लगान बढ़ा दे सकता है । मामूली तौर से जमींदार को यह हक नहीं था कि मनमाना लगान बढ़ा सके । वह बाजाब्ता रजिस्ट्री पट्टे से रूपये में दो आने से ज्यादा लगान नहीं बढ़ा सकता था और एक बार बढ़ा देने पर एक लम्बी मुद्दत तक लगान में फिर इजाफा नहीं किया जा सकता था । नीलवरों के फायदे के लिए यह हद हटा दी गई थी ।

बेतिया-राज को रूपये की जरूरत पड़ी । उसने कुछ कर्ज लिया । यह कर्ज नीलवरों की मदद से इंगलैंड से मिला । सूद और असल की वसूली के लिए नीलवरों को गांवों पर कब्जा दिया गया और बहुतेरे गांवों में उन्हें मुकर्री हक मिल गया । मुकर्री हक का मतलब यह कि वे एक तरह से गांवों के जमींदार हो गये । केवल एक मुकर्रर (निश्चित) रकम उनको हर साल मालगुजारी के रूप में राज को देनी पड़ती । उस गांव से वे जो चाहें और जितना चाहें, पैदा कर सकते थे; राज का उसपर कोई हक नहीं था । उसे केवल वह मुक़र्रर रकम ही मिल सकती थी । ऐसे मुकर्री गांवों में लगान बढ़ाया जाय, और एक के बदले दो की आमदनी हो जाय, तो मुकर्रीदार की आमदनी बढ़ेगी--राज को जो पहले मिलता था, वही मिलेगा । जिन गांवों में उन निलहों का मुकर्री हक नहीं था, उन गांवों का उनको केवल नियत मीयाद के लिए ठेका मिला था । वहां भी नियत रकम राज को देनी पड़ती; पर मीयाद पूरी

हो जाने पर राज को अख्तियार था कि फिर ठेका दे या न दे और अगर दे तो नई शर्तों पर दे, और ठेकेदार जो मालगुजारी राज को देता था, उसे राज चाहे तो बढ़ा दे । यद्यपि ऐसा शायद ही कभी होता था कि कोई ठेके का गांव नीलवर के हाथ से मीयाद पुरने पर निकाला जाता हो या उसकी मालगुजारी बढ़ाई जाती हो, तथापि राज को अधिकार तो ऐसा करने का था ही ।

बेतिया के महाराजा मर गये । महारानी को पागल करार देकर सारा राज कोर्ट आफ वार्ड्स में आ गया । कोर्ट का एक मैनेजर उन्हीं नीलवरों में से मुकर्रर किया गया । इस प्रकार प्रायः बीस बरसों तक नीलवरों के कब्जे में ही राज रहा । जिस समय गांधीजी चम्पारन पहुंचे थे, उस समय एक सिविलियन मैनेजर था । उसके बाद कोई नीलवर फिर मैनेजर नहीं हुआ । इस तरह अपने खेत में और रैयतों के खेतों में तीन-कठिया के जरिये नील आबाद कराकर पौधे से नील तैयार कराई जाती थी । यह नील बोने की प्रथा बिहार के दूसरे जिलों में भी फैली थी । पर इसका जितना जोर चम्पारन में था उतना और कहीं नहीं । अगर नील की खेती वे खुद करते और रैयतों से जबरदस्ती इस तरह नील न बुवाते तो उनको इसमें कोई लाभ न होता । इसलिए यह जबरदस्ती की प्रथा कायम रखना जरूरी हो गया और वह चलती रही ।

इस बीच में जर्मनी में दूसरे प्रकार के रंग बनाने के तरीके का आविष्कार किया गया, जो नील के रंग से सस्ता पड़ता था । नील की कीमत घट गई । जुल्म और जबरदस्ती से नील पैदा कराये जाने के बावजूद नील में नफा नहीं रह गया । नीलवरों ने अपने इस नुकसान को गरीब रैयत के सिर पर डालकर अपना नफा कायम रखना चाहा । इसलिए उन्होंने कानून के उस दफे की शरण ली, जिसमें रैयत को नील की खेती से रिहाई देकर उनको लगान में मनमाना इजाफा करने का हक दिया गया था । रैयत से उन्होंने कहा कि वे नील बोने से उसे रिहाई दे देंगे, अगर वह इजाफा के पट्टे तामील कर दे । रैयत यह जानती थी कि नील से नीलवरों को अब नफा नहीं रहा, इसलिए अब वे इस कारोबार को खुद छोड़ देंगे; इसलिए उनको लगान में बढ़ती कबूल करके यह रिहाई लेने की जरूरत नहीं है । जबतक नील में मुनाफा था तबतक तो नीलवरों ने उनकी हजार कोशिश पर भी रिहाई दी नहीं; अब अपने मतलब से

जबरदस्ती रिहाई देना उन्होंने शुरू कर दिया। हजारों हजार की तादाद में उन्होंने अपने मुकर्री गांवों के रैयतों से, जहां लगान की बढ़ती का नफा उनको मिलता था और बेतिया-राज का उसपर हक नहीं पहुंचता था, इजाफा के पट्टे तामील करा लिये। ये पट्टे मार-पीट, झूठ-फरेब और जबरदस्ती के तामील कराये गये थे। इस प्रकार उन्होंने उन गांवों में लाखों की आमदनी बढ़ा ली। जहां उनका हक केवल ठेकेदार का था और मीयाद पूरी होने पर इजाफे का नफा बेतिया-राज को मिलता था, वहां पर लगान में बढ़ती न कराकर उन्होंने नगद रूपये वसूल किये। जिस रैयत के पास रूपये नहीं थे उससे हैंडनोट लिखवाया और दूसरे तरीकों से भी रूपये लिये। इस प्रकार प्रायः बीस-पच्चीस लाख नगद वसूल किया।

चम्पारन का कुछ हिस्सा ऐसा भी है, जहां नील की खेती हो ही नहीं सकती। वहां के गांवों में नीलवर नील की खेती न कराकर किसी दूसरे तरीके से ही रूपये लिया करते थे। उन गांवों में पचासों प्रकार के अबवाब (टैक्स), जो कानूनन मना थे, वसूल किया करते थे। जब जिले के नीलवाले हिस्से में इजाफा या नगद सलामी वसूल होने लगी तब गैर-नील हिस्से से भी उन्होंने कुछ वसूल करना चाहा और वहां भी एक-न-एक बहाना लगाकर या तो लगान बढ़ा दिया या नगद वसूल किया। एक तरीका लगान बढ़ाने का यह था कि किसी रैयत को पट्टा दे दिया जाता, जिसमें ऐसी जमीन उसके साथ बंदोबस्त की जाती थी जो वास्तव में थी ही नहीं--यों ही फरजी नाम-निहादी चौहद्दी जमीन की दे दी जाती और उसके लिए वे जितना इजाफा करना चाहते थे उतना लगान रख दिया जाता था। कानून के अनुसार लगान बढ़ाने की हद रूपये में दो आने की मुकर्री थी, पर नई जमीन की मालगुजारी जमींदार जो चाहे, ले सकता था। इसलिए इजाफा की हदबन्दी से नाम-निहादी नई जमीन बन्दोबस्त करके वे अपने को बचाना चाहते थे और उन्हें उम्मीद थी कि कुछ दिनों में पुरानी जमीन और नाम-निहादी जमीन दोनों के लगान इकट्ठा कर दिये जायेंगे। इस तरह, नील चाहे कोई बोता हो या न बोता हो, गांव मुकर्री हो या केवल मियादी ठेके में, सब गांवों से उन्होंने या तो लगान लगाकर अपनी आदमनी बढ़ा ली या नगद रूपये वसूल कर लिये। गवर्नमेण्ट ने उनकी पूरी मदद की। जब इजाफा के पट्टे लिखवाये जा रहे थे, गवर्नमेण्ट ने उन पट्टों को रजिस्ट्री करने के लिए खास रजिस्ट्रार मुकर्रर

कर दिये, ताकि रजिस्ट्री में सहूलियत हो जाय ।

यह सब अभी पूरा हुआ ही था कि १६१४-१८ का जर्मन-युद्ध छिड़ गया । विदेश से रंग आना बंद हो गया । नील की खेती में फिर मुनाफे की उम्मीद मालूम हुई । नीलवरों ने, अपनी दी हुई रिहाई की परवा न करके, फिर जबरदस्ती तीनकठिया नील बोने पर रैयतों को मजबूर किया । बहुत जगहों पर इसमें वे कामयाब भी होने लगे । इसी समय गवर्नमेण्ट ने उस जिले का दोबारा सर्वे (पैमाइश) कराना शुरू किया । यह काम प्रायः पूरा होने पर था, जब गांधीजी चम्पारन में पहुंचे । सर्वे में रैयतों ने शरहबेशी के पट्टों के बारे में बयान किया कि जबरदस्ती उनसे पट्टे लिखवाये गये हैं । सर्वे-सेटेलमेण्ट-अफसर ने फैसला दिया कि पट्टे जबरदस्ती नहीं लिखाये गये हैं इसलिए सब इजाफे कानूनन जायज हैं । रैयत में बड़ी खलबली थी । उधर जर्मन लड़ाई चल रही थी । रैयत की सुनवाई यों भी नहीं हुआ करती, उस समय जब लड़ाई में नीलवर शरीक हो रहे थे, सुनवाई का और भी कम मौका था । रैयत ऊबी हुई थी । उसको कहीं कोई उपाय नहीं नजर आता था । तब वे लोग गांधीजी के पास पहुंचे थे । इसी मौके पर गांधीजी वहां आ गये ।

गांधीजी से जब राजकुमार शुक्ल ने चम्पारन में रैयत पर हो रहे जुल्मों का बयान किया तो गांधीजी को विश्वास नहीं हुआ कि यह सब सच है । इसलिए वह जांच करने के लिए चम्पारन आये । उनके चम्पारन पहुंचने के पहले ही लोगों में एक अजीब जागृति पैदा हो गई । वहां की रैयत इस प्रकार दबाई गई थी कि उसकी यह भी हिम्मत नहीं होती थी कि वह कचहरी में जाकर नालिश करे । अगर कोई बहुत हिम्मत करके ऐसा करता भी तो कोठी का सिपाही इजलास पर से उसको पकड़कर खींच लाता और खूब पीटता । जब गांधीजी चम्पारन के रास्ते में मुजफ्फरपुर पहुंचे, बहुतेरे लोग मुजफ्फपुर तक आ गये । उन लोगों ने अपना दुखड़ा कह सुनाया । वहां नीलवरों की संस्था (प्लाण्टर्स एसोसिएशन) के मंत्री तथा तिरहुत-डिवीजन के कमिश्नर ने गांधीजी को चम्पारन जाने से मना किया । कहा कि गवर्नमेण्ट खुद रैयतों की शिकायत पर विचार कर रही है--वह सर्वेसेटलमेण्ट की रिपोर्ट की प्रतीक्षा कर रही है । उन्होंने इसपर भी जोर दिया कि इस लड़ाई के जमाने में आप वहां जाकर हलचल शुरू करेंगे तो अच्छा न होगा--बलवा-फसाद होगा । हमारे अपने देशी लोगों ने भी

तो बताया कि लड़ाई का नाजुक समय है, फसाद पैदा होना किसी तरह अच्छा नहीं है। पर जो कुछ गांधीजी ने सुना, उससे उनकी इच्छा और भी प्रबल हो गई। उन्होंने निश्चय कर लिया कि चम्पारन जाना ही चाहिए।

गांधीजी के चम्पारन पहुंचते ही रैयतों के दिल से डर न मालूम कहां भाग गया। जो अदालत में भी जाने से डरते थे वे गांधीजी के पास बहुत बड़ी संख्या में आकर अपना दुःख बताने लगे। उन लोगों के सीधे-सादे हृदय पर न मालूम कहां से यह अमिट छाप पड़ गई कि उनका उद्धारक आ गया, अब उनका दुःख दूर हो जायगा।

जिस दिन गांधीजी पर मुकदमा चला और वह अदालत में गये, गांवों से हजारों की तायदाद में रैयत वहां आये थे। इतनी भीड़ हो गई कि अदालत के दरवाजे टूट गये। अदालत में गांधीजी ने बयान दे दिया। मुकदमा खतम हो गया। तीन-चार दिनों के बाद गांधीजी की रिहाई हो गई। उनको यह इजाजत हो गई कि वह जांच कर सकते हैं। अब हजारों की तायदाद में रैयत आये। सबने अपना-अपना बयान लिखाया हम लोग बयान लिखने में लग गये। गांधीजी ने हम लोगों को हियादत की थी कि तुम लोग वकील हो, खूब जांच-बूझकर और जिरह करके बयान लिखना जो बातें लिखी जायं, वे सच्ची हों।

हम लोग सवेरे छः बजे स्नानादि से निवृत्त होकर बयान लिखने लगते। दिन के ग्यारह बजे तक लिखते। फिर भोजन और कुछ आराम के बाद एक या डेढ़ बजे से पांच बजे शाम तक। फिर संध्या का भोजन करते और गांधीजी के साथ टहलने जाते। बीच में जब कोई ऐसा बयान आता, जिसे गांधीजी को तुरन्त बतला देना जरूरी समझा जाता तो उनसे वह तुरन्त कह दिया जाता। नहीं तो बयान लिख-लिखकर उनको देते जाते और वह पढ़ते जाते। इस प्रकार हम लोग कई दलों में बंटकर बहुत दिनों तक बयान लिखते रहे। प्रायः बाईस या पच्चीस हजार रैयतों के बयान लिखे गये। इससे सारे जिले में हलचल मच गई। हम लोग कभी बेतिया में रहते और कभी मोतीहारी में। कुछ दिनों के बाद दो दलों में विभक्त होकर मोतीहारी और बेतिया दोनों जगहों में बयान लिखे जाने लगे। कभी-कभी महात्माजी गांवों में भी जाते या हम लोगों में से किसी को कोई विशेष बात दरियाफ्त करने के

लिए गांवों में भेजते । हम सबको गांधीजी का हुकुम था कि कहीं कोई सभा करके व्याख्यान न दें । हम लोगों में से किसी ने उन दिनों चम्पारन में एक भी सभा में व्याख्यान नहीं दिया और न गांधीजी ने स्वयं ऐसा किया ।

उन दिनों देश में होमरूल (स्वराज्य) का आन्दोलन खूब चल रहा था । गांधीजी हम लोगों से कहा करते, तुम लोग होमरूल का सबसे बड़ा काम कर रहे हो । अगर तुम लोग उस आन्दोलन में शरीक न होगे तो कोई हर्ज नहीं है ।

हम लोगों की जांच का नतीजा यह हुआ कि चम्पारन के मुकामी अफसर बहुत घबराने लगे । उनमें से कितनों के दिल पर यह असर हुआ कि चम्पारन से अंगरेजी राज उठा जा रहा है--लोग यह समझने लगे हैं कि गांधीजी ही सबसे बड़े अफसर हैं, जिसके सामने जिला-कलक्टर और मजिस्ट्रेट के खिलाफ भी शिकायत की जा सकती है--नीलवरों का रोब तो उठ ही गया, हम अफसरों का रोब भी उठा जा रहा है । इसलिए घबराकर उन लोगों ने प्रान्तीय सरकार के पास रिपोर्ट भेजी । प्रान्तीय सरकार ने गांधीजी को अपने एक मेम्बर से भेंट करने के लिए लिखा । वह पटने में आकर उनसे मिले । उस वक्त तक जितनी शिकायतें आ गई थीं, सबका एक खुलासा ब्योरा बनाकर उनको दिया । सरकारी मेम्बर ने उसे गवर्नमेण्ट के पास पेश किया । उसपर विचार होने लगा । इधर हमारा जांच का काम चलता रहा । अबतक बयान बहुत लिखे जा चुके थे । इसलिए बयान लिखना कुछ मुख्तसर कर दिया गया । मगर देहातों में जाकर देखना-सुनना ज्यादा हो गया । गांधीजी से नीलवरों की भी कुछ राय-बात हो गई थी । वे भी उनको कहीं-कहीं ले जाते, अपनी बातें कहते, या जो कुछ दिखलाना होता, दिखलाते थे ।

हम लोगों के लिए गांधीजी का तरीका एक बिलकुल नया तरीका था । उस तरह का काम हमने पहले कभी किया ही न था । हम समझते थे कि कांग्रेस में अथवा किसी सभा में किसी विषय पर व्याख्यान दे देना, अदालत में जाने लायक बात को वहां पेश कर देना, या जो कौन्सिल में प्रश्न कर सकता हो उसका किसी बात पर वहां प्रश्न कर देना या प्रस्ताव उपस्थित कर देना ही काफी है । इससे अधिक हो ही क्या सकता है ! गांधीजी ने इनमें से एक बात भी न की । उन्होंने रैयतों के बयान लिये । इस तरह उन्होंने पहले सब बातों की ठीक-ठीक जानकारी हासिल कर ली ।

इस तरह बयान लेने से ही रैयतों का डर छूटता गया। हम लोगों को भी ऐसी-ऐसी बातें मालूम होने लगीं, जिनका होना हमने स्वप्न में भी मुमकिन नहीं समझा था। हम लोग भी निडर होते गये। एक-दो विशेष घटनाएं यहां बता देने से ही यह साफ हो जायगा।

ऊपर कहा गया है कि हम लोग कई दलों में बंटकर बयान लिखा करते थे। पुलिस के आदमी आस-पास में लगे रहते थे। वे रैयत के नाम इत्यादि नोट कर लिया करते थे। इसी तरह नीलवरों के आदमी भी रैयत के नाम इत्यादि जानकर अपने मालिक के पास सब बातों की रिपोर्ट पहुंचा देते। काम शुरू करने के दो-तीन दिनों के अन्दर ही एक घटना हो गई। जहां हममें से एक आदमी बयान लिख रहे थे, पुलिस का सब-इन्सपेक्टर आकर बैठ गया। तब वह उस जगह से उठकर, रैयत को साथ लेकर, कुछ दूर पर दूसरी जगह जाकर, बयान लिखने लगे। पुलिस सब-इन्सपेक्टर वहां भी पहुंच गया। उनको कुछ गुस्सा आ गया। उन्होंने डांटकर सब-इन्सपेक्टर को कहा--आपको जो कुछ देखना-सुनना हो, दूर से ही देखें-सुनें, इतना नजदीक न आवें। सब-इन्सपेक्टर ने महात्माजी से इस बात की शिकायत की। कहा--"हम लोगों को ऊपर का हुकुम है कि जो कुछ हो रहा है उसकी हम खबर रखें। जब आपके आदमी नजदीक आने ही नहीं देंगे तब हम कैसे इस हुकुम को बजा लावें।"

गांधीजी ने बयान लिखनेवाले सज्जन को बुलाया और पूछा कि क्या बात है। उन्होंने जो कुछ सब-इन्सपेक्टर ने कहा था, उसे कबूल किया। तब गांधीजी ने पूछा--आप अकेले थे या आपके साथ और लोग भी थे? उन्होंने कहा कि बहुतेरे लोग घेरे बैठे थे और एक-एक करके बयान लिखा रहे थे। गांधीजी ने फिर पूछा कि आप कोई गुप्त काम तो नहीं कर रहे थे। उन्होंने कहा कि नहीं। गांधीजी ने फिर पूछा, "तब सब-इन्सपेक्टर से क्यों छिपाने की कोशिश कर रहे थे?" उन्होंने कहा, "छिपाने की कोई बात नहीं थी; मगर यह आकर पास में ही बैठ जाते थे। मैंने इनको कुछ दूर रहकर देखने-सुनने को कहा।" गांधीजी ने कहा, "रैयत के इतने लोग जब आपको घेरे हुए थे और उनसे आपके काम में कोई बाधा नहीं पड़ती थी, तब एक आदमी और भी अगर वहां आ बैठा तो आपने क्यों बाधा महसूस की। आपने इनको भी उन रैयतों-जैसा ही क्यों नही समझा?

यह सुनते ही सब-इन्सपेक्टर पर मानो घड़ों पानी पड़ गया। पर वह कुछ कह भी नहीं सकता था। वह तो अपना रोब बढ़ाने के लिए आया था। यहां गांधीजी ने कह दिया कि उसका दर्जा किसी रैयत से ज्यादा नहीं है और उसके साथ भी रैयतों जैसा ही व्यवहार होना चाहिए। इसके बाद हममें से कोई किसी पुलिस-अफसर के पास आने से न घबराता और न कोई पुलिस-अफसर अधिक नजदीक आने की कोशिश करता।

जिस समय गांधीजी पर मुकदमा चलकर फैसले के लिए मुलतबी हो चुका था, उसी समय दीबन्धु एण्डरूज आये। वह स्टेशन से एक एक्के पर आये। उनको एक्के पर चढ़ने का तरीका मालूम नहीं था, इससे उनके जूते पहिये में लगकर घिस गये। इस तरह का अंगरेज, जो ऊल-जुलूल कपड़े पहने हो, जो एक्के पर चढ़ता हो और जो हिन्दुस्तानियों से खुलकर मिलता-जुलता हो, हमने अपने होश में नहीं देखा था। यह भी सुना कि वह एक बहुत प्रतिष्ठित आदमी हैं, जिनकी पहुंच वायसराय तक है और जो दुनिया भर में चक्कर लगाया करते हैं। उस समय जो उनसे मुलाकात हुई, उनकी सादगी और सचाई की जो छाप पड़ी, वह दिन-दिन गहरी होती गई। मेरे साथ तो उनका मानो एक प्रकार का बन्धुत्व स्थापित हो गया, जो उनके मरने के समय तक बना रहा। उनके फीजीद्वीप जाने की बात थी। वहां से उनकी बुलाहट आई थी। वह महात्माजी से भेंट करके वहां जानेवाले थे। इसी बीच में चम्पारन में महात्माजी पर मुकदमा चल गया। उन्हींसे मिलने वह चले आये। हम लोगों से उनकी बातें हुई। हम लोग चाहते थे कि वह वहां ठहर जायं। अभी गांधीजी के मुकदमे का फैसला नहीं हुआ था। पता भी न था कि क्या होगा। हम लोग समझते थे कि सजा हो जायगी। इसलिए अगर एण्डरूज जैसा एक अनुभवी आदमी रह जाय तो आगे के काम में मदद मिलेगी। ये सब बातें हम लोगों ने उनसे कहीं और जोर दिया कि वह रह जायं। वह कुछ राजी भी हुए कि फीजी कुछ दिनों के बाद जायेंगे। मगर इसके लिए गांधीजी की अनुमति चाहिए थी। उनकी अनुमति के बिना वह नहीं ठहर सकते थे। इसलिए यह बात गांधीजी से की गई, उनपर बहुत जोर डाला गया।

सब बातें सुनकर गांधीजी ने कहा, "आप लोग जितना जोर डाल रहे हैं कि एण्डरूज को रहना चाहिए उतना ही मेरा निश्चय दृढ़ होता जा रहा है कि उनको नहीं

रहना चाहिए, उन्हें जरूर चला जाना चाहिए। आप लोगों के दिल में गवर्नमेण्ट और अंगरेज नीलवरों का डर है। आप समझते हैं कि एक अंगरेज रहेगा तो आपका सहारा होगा। आप इसी कारण से एण्डरूज को रोकना चाहते हैं। मैं चाहता हूं कि यह डर आपके दिल से निकल जाय और यह भाव भी निकल जाय कि अंगरेज में और आप लोगों में कोई फर्क है। आपको अपने ऊपर भरोसा करना होगा। इसलिए एण्डरूज को कल ही यहां से जाना चाहिए।"

एण्डरूज से भी उन्होंने कहा कि फीजी का काम भी जरूरी है, वह किसी तरह रोका नहीं जा सकता। इसलिए एण्डरूज दूसरे दिन सुबह जाने के लिए तैयार हो गये। हम लोगों ने भी समझ लिया कि महात्माजी बात ठीक कह रहे हैं हमारे दिल की जो बात है, उन्होंने ठीक पकड़ ली है।

दूसरे दिन एण्डरूज, जाने के पहले डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट से मिलने गये। उसने कहा, "गवर्नमेण्ट का हुकुम आ गया है कि मुकदमा उठा लिया जाय, मैं कुछ देर के बाद बाजाब्ता सूचना भेज दूंगा।" एण्डरूज ने रवाना होने के पहले यह खबर हम लोगों को सुना दी। हम लोगों का उत्साह और भी बढ़ गया।

एक बार एक नीलवर ने महात्माजी से अपनी तारीफ की। कहने लगा कि उसके इलाके में रैयत खुश हैं, उनको कोई शिकायत नहीं है। उसने महात्माजी को वहां खुद जाकर देखने के लिए निमंत्रित किया। महात्माजी के साथ मैं भी गया। उसने इन्तजाम किया था कि कुछ लोग आकर ऐसा ही कहेंगे। हम लोग पैदल ही जा रहे थे। कुछ चार-पांच मील की दूरी पर वह गांव था, जहां उसने बुलाया था। रास्ते में ही बहुतेरे लोग मिले। उन्होंने कहा कि साहब ने कुछ लोगों को जमा कर रखा है, जो उसकी तारीफ करेंगे। महात्माजी ने कहा, "अगर तुम लोगों को तकलीफ या शिकायत हो तो तुम भी वहां साहब के मुकाबले में ही कहना।" हम लोगों ने उस इलाके की रैयत के बयानों को देख लिया था और महात्माजी को बता दिया था कि शिकायतें क्या हैं। वहां दो-तीन सौ आदमियों की एक सभा हो गई। उस नीलवर के अलावा वहां के सब-डिवीजन का मजिस्ट्रेट भी हाजिर था। दो-चार लोगों ने कहा कि उनको बहुत सुख है, उन्हें कोई शिकायत नहीं है। उनके बोलते ही दूसरे शोर करने लगे कि ये सिखाकर लाये गये हैं, झूठ कह रहे हैं। महात्माजी ने उनको रोका

और अपनी बातें पीछे कहने को कहा । जब उनकी बारी आई तो उन्होंने वही शिकायतें कीं, जो हम लोगों के पास बयान में लिखाई थीं । मजिस्ट्रेट की भी शिकायत एक आदमी करने लगा । कहने लगा कि ये सब लोग मिले हुए हैं, इनके पास कोई इन्साफ नहीं हो सकता । उसने एक खास घटना का जिक्र करके मजिस्ट्रेट से ही सवाल कर दिया । मजिस्ट्रेट तुरंत उठकर चला गया । दूसरे ही दिन साहब ने अपने एक छोटे बंगले में आग लगवा दी । चाहा कि सब रैयतों को आग लगी के मुकदमे में फंसावें और गांव लुटवा दें । यह आग रात को लगाई गई । वह खुद इन्तजार में बैठा रहा कि जब खबर मिले, पुलिस की मदद लेकर लूट-पाट किया जाय । पर जिस आदमी के जिम्मे खबर देने का काम सौंपा था, उसने जान-बूझकर खबर नहीं दी, बहाना करके दूसरे दिन खबर देने गया । इस बीच में हम लोगों को खबर मिल गई । महात्माजी ने सब बातें गवर्नमेण्ट के पास लिख भेजीं । उधर मजिस्ट्रेट ने भी एक लम्बी रिपोर्ट भेजी । उसमें लिखा कि अराजकता फैल रही है--जान पड़ता है, ब्रिटिश राज मानो उठ गया । इस तरह की घटनाएं प्रायः होती रहीं ।

गवर्नमेण्ट ने इस रिपोर्ट पर कार्रवाई की । बिहार के गवर्नर ने गांधीजी को रांची बुलाया । उसके पत्र का आशय यह था कि चम्पारन में गांधीजी के रहने से बहुत अराजकता फैल रही है, इसलिए गवर्नमेण्ट उनको वहां से हटा देना चाहती है; मगर कोई हुकुम देने के पहले गवर्नर एक बार उनसे मिल लेना चाहते हैं । गांधीजी के रांची जाने के पहले हम लोगों ने सोच लिया कि अब या तो वह गिरफ्तार कर लिये जायेंगे या सूबे से बाहर निकाल दिये जायेंगे और शायद हम लोग भी अब बाहर रहने न पावेंगे । महात्माजी ने हम लोगों को बेतिया और मोतीहारी में दो टोलियों में रख छोड़ा । गिरफ्तारी होने पर किस तरही से क्या करना होगा, इसके सम्बन्ध में उन्होंने पूरी व्यवस्था दे दी । हम लोगों के पास इतने रैयतों के बयान आ गये थे, इतने कागज-पत्र जमा हो गये थे कि रैयतों की शिकायतों के लिए पूरा सबूत हाथ में आ गया था । उसको सुरक्षित रखना था । हम लोगों ने पहले से ही सबकी नकल करा ली थी । नकलों को सुरक्षित रखने का प्रबंध कर दिया गया । अपने-अपने स्थान पर हम लोग खबर का इन्तजार करने लगे । बेतिया-आफिस मेरे चार्ज में रखा गया था । बहुत इन्तजारी के बाद रांची से तार आया कि गवर्नर से बातें अभी चल रही

हैं। दो-तीन दिनों तक बातें होती रहीं। अन्त में गवर्नर ने एक कमीशन मुकर्रर किया। गांधीजी को भी उसका मेम्बर बनाया। रैयत की शिकायतों की जांच करने का काम उसीके सुपुर्द किया। कमीशन ने सरकारी अफसरों, नीलवरों और रैयत के इजहार लिये। दूसरे जो कागज-पत्र देखे। रैयतों से भी मिला।

कमीशन की नियुक्ति हो जाने पर, महात्माजी की आज्ञानुसार, रैयतों की तरफ से जो कागज पेश हुए थे, उनको खूब देखकर और दूसरे सबूत इकट्ठे करके, हम लोगों ने कमीशन के लिए एक बयान तैयार किया। कमीशन में सरकारी अफसर थे। नीलवरों का प्रतिनिधि था। जमींदारों का प्रतिनिधि था। रैयत की तरफ से प्रतिनिधि-स्वरूप गांधीजी थे। जब रिपोर्ट लिखने का समय आया, तब एक भारी अड़चन आ पड़ी। गांधीजी की और कमीशन के अध्यक्ष सर फ्रैंक स्लाई की बहुत इच्छा थी कि सर्वसम्मति से रिपोर्ट दी जाय। गवर्नर ने भी कहा था। जब सर्वमान्य रिपोर्ट होगी तभी उसपर वह कुछ कर सकेगा, नहीं तो कुछ करने में कठिनाई होगी।

किसानों की शिकायतों का कुछ वर्णन ऊपर दिया गया है। अन्त में महात्माजी और नीलवरों के दरमियान बहुत बातचीत के बाद यह तय हुआ कि जो लगान बढ़ा दिया गया है, उसका थोड़ा-सा हिस्सा छोड़ दिया जाय, जो एक-चौथाई से कुछ कम था, बाकी तीन-चौथाई इजाफा ज्यों-का-त्यों रह जाय। जो नगद रूपये वसूल किये गये थे, उनमें से भी फी सैकड़ा पच्चीस रूपये वापस किये जायं और बाकी को रैयत छोड़ दें। मुख्य शिकायतें यही दो और तीनकठिया प्रथा थीं। दूसरी शिकायतें ऐसी थीं, जिनका दूर करना अफसरों के ठीक काम और इन्साफ करने ही पर निर्भर था। ये सिफारिशें रिपोर्ट में सर्व-सम्मति से मान ली गई। पिछली शिकायतों के सम्बन्ध में रिपोर्ट में विशेष नहीं लिखा गया। केवल शिकायतों का उल्लेख करके उनके दूर करने का उपाय बतलाया गया। शरह-बेशी कम करने और नगद तावान के रूपये पच्चीस फी सैकड़ा वापस करने के अलावा तीनकठिया प्रथा-कानून बन्द कर देने की भी सिफारिश हुई।

हम लोग आपस में इसपर बहस किया करते कि शरह-बेशी और तावान अगर नाजायज हैं तो पूरे इजाफे से रैयतों को छुटकारा मिलना चाहिए और तावान का सब रूपया वापस होना चाहिए। नीलवरों ने कानूनी अड़चनें भी पैदा कर रखी थीं।

जिसने तावान के रूपये वसूल किये उसने कोठी किसी दूसरे के हाथ बेच डाली थी और खुद रूपये लेकर चलता बना था ! अब तावान के रूपये नये मालिक से, जिसने रूपये लिये नहीं और जिसने दाम देकर कोठी नई खरीदी थी, किस तरह वसूल किये जायं ! इसी तरह, इजाफे का छुड़ाना कोई आसान काम नहीं था । अगर कानून बनाकर उसे न हटाया जाय तो वह शायद हट नहीं सकता था । कानून के अनुसार प्रत्येक रैयत को दीवानी मुकदमा दायर करना होगा । साथ ही, यह साबित भी करना होगा कि उससे शरह-बेशी की कबूलियत जबरदस्ती लिखाई गई है, उसपर नील बोने की पाबन्दी नहीं थी, इत्यादि । इन बातों का सबूत गरीब सीधे-सादे निरीह रैयत कहां से देते ?

महात्माजी के चम्पारन जाने के पहले एक जगह के ग्यारह रैयतों ने मुकदमे भी दायर किये थे । नीलवरों ने अपनी ओर से बहुत बड़ा बैरिस्टर रखा था । मुकदमा महीनों पेशी में रहा था । अन्त में पाँच में रैयत जीते थे और छः में नीलवर । अपील में थोड़ा-बहुत हेर-फेर भी हुआ था । वहां लाखों नहीं तो हजारों पट्टों के बारे में इस प्रकार के मुकदमे करने होते । यह असम्भव था । इन दिक्कतों को ध्यान में रखकर सुलह से ही कुछ तय करना मुनासिब समझा गया । इसलिए सर्वसम्मति से रिपोर्ट तैयार हुई । गवर्नमेण्ट ने रिपोर्ट की सिफरिशों को मंजूर कर लिया । एक कानून बनाकर तीनकठिया उठा दिया । सब रैयतों का इजाफा भी घटा दिया । बेतिया-राज्य (कोर्ट आफ वार्ड्स) ने नीलवरों से रूपये वसूल करके, निश्चय के अनुसार, रैयतों को तावान के रूपये लौटा दिये ।

: २३ :

चम्पारन की विजय का व्यापक प्रभाव

चम्पारन के इस काण्ड में हमने गांधीजी के काम के तर्ज को पहले-पहल देखा। हम लोगों को सार्वजनिक जीवन का एक प्रकार से एक अद्भुत पाठ पढ़ने का मौका मिला। होमरूल के आन्दोलन में भाग न लेना कभी-कभी हममें से कुछ को बहुत अखरता था; पर हमने बड़ी सावधानी और संयम के साथ गांधीजी के आदेश का पालन किया--जिस काम में लगे थे, लगे रहे। हमने यह भी देखा कि गांधीजी किस तरह नीलवरों को बहुत बड़ी हानि पहुंचाकर भी उनके मित्र बने रहे। उनमें से कितनों ही के साथ गांधीजी का व्यवहार बहुत अच्छा रहा। वे लोग उनको अपने बंगले पर बुलाया भी करते थे। हां, कुछ ऐसे अवश्य थे, जिन्होंने उनका जबरदस्त विरोध किया। पर यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि अन्त में गांधीजी से उनका सम्बन्ध कड़वा नहीं हुआ। जब कमीशन का काम पूरा हो गया, गांधीजी ने जगह-जगह स्कूल खोलने का विचार किया, नीलवरों से मदद भी मांगी। नीलवरों ने, एक के सिवा, किसी प्रकार की बाधा नहीं डाली।

कमीशन में जो बाते सुलह से तय हुई वह रैयतों की मांग से बहुत कम थीं। मगर इस सारे आन्दोलन का यह नतीजा हुआ कि चम्पारन से नीलवरों का रोब उठ गया। अब उनमें वह शक्ति नहीं रह गई कि जुल्म कर सकें। रैयतों में हिम्मत और जान आ गई। अब वे चुपचाप जुल्म बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं थे। और, जुल्म के बिना चम्पारन का कारबार मुनाफा नहीं दे सकता था। वह जुल्म अब बन्द हो गया। नीलवरों ने यह बात जल्द समझ ली। तीन-चार बरसों के अन्दर सबने अपनी जमीन और कोठी बेच डाली जो कुछ मिला, लेकर चले गये उनकी जमीन रैयतों के हाथ आ गई। अब वे उसको आबाद कर रहे हैं। जहां नीलवरों के सुन्दर बगीचे और बंगले थे, वहां आज रैयतों के मवेशी बांधे जा रहे हैं। उन सत्तर-पचहत्तर कोठियों में से इक्की-दुक्की आज भी खड़ी हैं। वहां अब जुल्म नहीं हो सकता। वे उस सांप की तरह अपने दिन बिता रही हैं, जिसके दांत तोड़ दिये गए हैं, जो अब भी कुछ फुफकार तो सकता है, पर किसी को काट नहीं सकता!

चम्पारन में सत्याग्रह का हमने वही रूप देखा, जो गांधीजी ने, थोड़े ही दिनों के बाद, देशव्यापी रूप में, बहुत बड़े पैमाने पर, जारी किया। एक जिले के दुःख दूर करने में प्रायः एक बरस लग गया था। सारे हिन्दुस्तान को स्वतन्त्रता प्राप्त करने में उसी अनुपात से जो समय लगना चाहिए, वह शायद अभी तक पूरा नहीं हुआ है।

चम्पारन के आन्दोलन में कोई मतभेद नहीं था। गांधीजी की बातें सबने मानीं। उनके विरूद्ध किसी ने, चाहे वह रैयत हो या हमारे-जैसा कार्यकर्त्ता, कोई आचरण नहीं किया। गांधीजी नीलवरों का जुल्म रोकना चाहते थे; पर उनसे किसी प्रकार का द्वेष-भाव नहीं रखते थे। हम लोगों के मन में कोई ऐसा भाव नहीं था। एक प्रकार से सत्याग्रह का एक अच्छा नमूना वहां पेश हुआ। इसीलिए नतीजा भी बहुत ही संतोषप्रद हुआ। मेरा विश्वास है कि भारतवर्ष के स्वराज्य का मामला भी इसी तरह हल हो जायगा। बहुत-कुछ छोड़कर सुलह करने पर भी हम सोलह आने जल्द ही ले सकेंगे। कुछ हद तक ऐसा ही हुआ भी है। देर की कई वजहें हैं। क्षेत्र बहुत विस्तृत है। सारी जनता में वह अटल विश्वास नहीं है, जो चम्पारन के रैयतों में था। निःसंकोच वफादार काम करनेवाले भी काफी नहीं हैं। देश ने अहिंसा को, उस हदतक नहीं पाला है, जिस हदतक चम्पारन में उसका पालन किया गया था, तथापि जो पिछले पच्चीस बरसों में हुआ है वह कुछ कम नहीं है। गांधीजी का चमत्कार भारतवर्ष में लोग तब समझेंगे जब हमारा काम पूरा हो जायगा। चम्पारन में भी हम पूरे सन्तुष्ट नहीं थे। पर जब तीन-चार बरसों के भीतर ही नीलवर चले गये तब उस चमत्कार का पूरा फल हम देख सके। भारत में काम तो हुआ है। ब्रिटिश का सेब तो बहुत अंशों में खतम हो गया है। पर अभी पूरा फल हम नहीं देख सके हैं। इसलिए उस चमत्कारकी महिमा का अनुभव नहीं कर सके हैं।

चम्पारन में हमारे जीवन पर भी बहुत बड़ा असर पड़ा। वहीं हम लोगों ने जाति-पांति का भेद छोड़ा। उस समय तक मैं जाति-भेद को बहुत मानता और बर्तता था। ब्राह्मण को छोड़कर किसी दूसरी जाति के आदमी का छुआ हुआ दाल-भात इत्यादि, जिसे यहां कच्ची रसोई कहते हैं, कभी नहीं खाया था। गांधीजी ने कहा कि यहां अलग-अलग चौका करते रहोगे तो कैसे काम चलेगा--जो लोग एक काम में लगे हैं मान लो कि वे सब एक जाति के हैं। बस हम सब लोग एक-दूसरे की बनाई रसोई खाने लगे--यद्यपि हममें कई जातियों के लोग थे। जिन्दगी में सादगी भी बहुत आ

गई। हम लोगों के साथ नौकर थे। वे सब एक-एक करके हटा दिये गये। केवल बर्तन साफ करने के लिए एक नौकर रह गया। अपने हाथों कुएं से पानी भर लेना, नहाना, कपड़े साफ कर लेना, अपने जूठे बर्तन धो लेना, रसोई-घर में तरकारी बनाना, चावल धोना इत्यादि सब काम खुद किया करते। कहीं जाना हो तो रेल के तीसरे दर्जे में सफर करना और जहांतक हो सके, पैदल ही चलना--सब कुछ वहां हमने गांधीजी से सीखा। आराम का जीवन छोड़ देना पड़ा। जबतक हम चम्पारन में रहे, इसी तरह से रहे।

यह काम पूरा हो जाने पर गांधीजी ने चम्पारन के तीन हिस्सों में तीन स्कूल खोले। मैं उन स्कूलों में से किसी में न रह सका। पटने वापस आकर मैं फिर अपनी वकालत में लग गया। बराबर उन स्कूलों को देखने के लिए साल में एक या दो बार जाया करता था।

चम्पारन में अन्य प्रान्तों के कुछ अच्छे त्यागी कार्यकर्त्ताओं से भी हम लोगों का परिचय हो गया। कुछ तो ऐसे आये, जो आज तक देश के काम में उत्साहपूर्वक लगे हुए हैं। उस समय की मुलाकातें और सब अनुभव बहुत कीमती निकले, जिनसे आज भी हम बहुत-कुछ सीख सकते हैं।

चम्पारन में जो विजय मिली, उसका असर बिहार पर बहुत पड़ा। बिहार एक पिछड़ा हुआ सूबा था, जहां सार्वजनिक जीवन का स्रोत बहुत पतला बहा करता था। शिक्षा का भी पूरा अभाव था। सभी बातों में बिहार के लोग अन्य सूबों के लोगों की अपेक्षा बहुत पिछड़े समझे जाते थे। बिहार, अंग्रेजी शासन में, आरम्भ से ही, बंगाल के साथ था। वह बरसों बंगाल का एक हिस्सा बना रहा। यहांतक कि बिहार का अलग नाम तक लोग भूल गये थे। बंगाल उन्नत सूबा था, पर उस उन्नति का प्रभाव बिहार तक नहीं पहुंच पाया था। अंगरेजी शिक्षा में भी बिहार इतना पिछड़ा था कि बिहारी लोग सरकारी दफ्तरों तक नहीं पहुंच पाते थे, ऊंचे ओहदों की कौन कहे।

बीसवीं शताब्दी के शुरू से ही कुछ बिहारियों के हृदय में बिहार की शोचनीय दशा देखकर ग्लानि पैदा हुई। फलतः बिहार को बंगाल से अलग करने का आन्दोलन आरम्भ हुआ। इस आन्दोलन के प्रमुख नेता बाबू महेश नारायण (स्वर्गीय) और डाक्टर सच्चिदानन्द सिनहा थे। डाक्टर सिनहा के प्रयत्न से ही बिहार कांग्रेस का

एक अलग सूबा माना गया। सन् १६११ में जब सम्राट् पंचम जार्ज दिल्ली दरबार के लिए आये तो बिहार को एक अलग सूबा बनने की घोषणा कर गये। यह घोषणा बंग-विच्छेद के फलस्वरूप हुई थी। पूरब और पच्छिम का बंगाल फिर एक कर दिया गया। बिहार और उड़ीसा को मिलाकर एक अलग सूबा कायम कर दिया गया। अलग सूबे की बात उठते ही कुछ नवजीवन का संचार हुआ था। उसके चिहन देखने में आ रहे थे। बिहारी छात्र-सम्मेलन का जिक्र ऊपर आ चुका है। बिहार-प्रान्तीय राजनैतिक कान्फ्रेंस भी हर साल होने लगी थी। बिहार के कालेजों और स्कूलों में विद्यार्थियों की संख्या बढ़ने लगी थी। उच्च शिक्षा के अभिलाषी छात्र अधिकाधिक संख्या में कलकत्ते में जाने लगे थे। नया सूबा हो जाने के बाद सब प्रकार से सूबा (बिहार) आगे बढ़ने लगा था। पर इतना होते हुए भी १६१७ तक देश-सेवा का कोई संगठित काम नियमित रूप से नहीं चलता था। उन दिनों की कांग्रेस-कमिटी, आज की कमिटी के मुकाबले में, एक खेल-तमाशे की चीज थी। मैं उन दिनों प्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी का मंत्री था। जो प्रतिनिधि चुने जाते थे--वे ही कुछ चन्दा देते थे, जिससे प्रान्तीय कमिटी का काम चला करता था। वह सालाना चन्दा हमेशा बाकी पड़ा रहता था। मुझे स्मरण है कि उन दिनों के कांग्रेस-मंत्री श्रीयुत सुब्बाराव पटने कभी-कभी आया करते। उनके आने पर प्रमुख लोग आपस में मिलकर कुछ जमा करके दे दिया करते। नवाब सरफराज हुसेन खां बहुत दिनों तक प्रान्तीय कमिटी के सेक्रेटरी थे। मैं भी उनके साथ सेक्रेटरी था। आफिस का खर्च बहुत करके हम दोनों अपने पास से ही चला लेते थे। इससे यह न समझना चाहिए कि आफिस का खर्च कुछ बड़ी रकम का था। केवल डाक और तार में ही खर्च पड़ता था, जो हम लोग आसानी से कर सकते थे।

ऐसा ही सार्वजनिक संगठन बिहार में उस समय था, जब महात्मा गांधी चम्पारन में पहुंचे। उन दिनों शायद एक भी ऐसा आदमी न था, जो अपना सारा समय देकर देश का काम करता हो। जो लोग कांग्रेस के सदस्य थे, अथवा दूसरे प्रकार से सार्वजनिक जीवन के नेता थे, वे अपने-अपने काम करते हुए देशसेवा का काम भी करते थे। बहुत करके ऐसी ही अवस्था दूसरे सूबों की भी रही होगी। पर दूसरे सूबों में कुछ कार्यकर्ता तो ऐसे जरूर थे, जो देशसेवा में अपना सारा समय देते रहे।

महात्माजी के साथ जितने लोग यहां पहुंचे, प्रायः सभी वकालत-पेशे के लोग थे। इनमें से एक ने भी पेशा छोड़ने का इरादा करके उनके साथ काम शुरू नहीं किया था। हम तो यह सोचकर गये थे कि चन्द दिनों में फुर्सत हो जायगी। पर वहां पहुंचने पर देखा कि काम बढ़ता ही जाता है। उसको पूरा किये बिना वहां से हटना भी कठिन था। इसलिए दस-पाँच दिनों के इरादा से गये हुए लोग प्रायः दस महीनों तक चम्पारन में रह गये। काम पूरा होने पर जब हम अपने-अपने स्थान को वापस गये, तो अपने साथ नये विचार, नई स्फूर्ति और नये कार्यक्रम लेते गये। सारे सूबे में एक नया जीवन आ गया, जिसका प्रभाव थोड़े ही दिनों में देखने में आया। हम लोगों की आंखें बहुत करके खुल गईं। अब हम समझने लगे कि जबतक हममें से कुछ लोग ऐसे न निकलेंगे, जो अपना सारा समय देश के काम में लगावें, तबतक बिहार का सार्वजनिक जीवन ढीला ही रहेगा।

एक दिन गांधीजी के साथ मैं एक गांव से वापस आ रहा था। रास्ते में बातें होने लगी। मैंने पूछा कि आप सारे देश में घूमते-फिरते रहते हैं--किस जगह को देशसेवा की दृष्टि से आप सबसे ऊपर स्थान देते हैं। उन्होंने प्रायः सभी सूबों की बातें कहीं। अन्त में कहा कि देश-सेवक के लिए 'पूना' तीर्थ-स्थान है। वहां एक शहर के अन्दर इतने त्यागी लोग हैं जितने और किसी स्थान मैं नहीं वहां, की संस्थाएं, त्याग की दृष्टि से, देश के लिए आदर्श उपस्थित करती हैं--नई संस्थाएं भी बराबर कायम होती जा रही हैं।

हमने पहले भी फर्गुसन-कालेज का नाम सुना था। महात्माजी से बातें करने के बाद कौतूहल और भी बढ़ गया कि एक बार पूना जाना चाहिए। हम लोग चम्पारन में ही बैठकर विचार करने लगे कि वहां का काम खतम करके एक ऐसी संस्था कायम करनी चाहिए, जिसमें त्यागी लोग केवल निर्वाह-व्यय लेकर देश-सेवा में लगे रहें। विचार हुआ कि फर्गुसन-कालेज के ढंग का एक़ कालेज स्थापित किया जाय। बाबू ब्रजकिशोर ही हम सबके नेता और उत्साह दिलानेवाले थे। उन्होंने इस बात को इतनी दूर तक बढ़ाया कि हम लोगों ने अपने-अपने नाम भी लिखा दिये कि जब यह संस्था स्थापित होगी तो हम भी इसी में निर्वाह-व्ययमात्र लेकर शरीक होंगे। कालेज के लिए रूपये जमा करने की भी बात हुई। कुछ लोगों से वादा भी लिया गया।

महात्माजी से बातें करने पर उन्होंने संस्था की बात तो पसन्द की, पर उसको कालेज का रूप देना उतना पसन्द नहीं किया । हम लोग इस विषय पर विचार करते रहे । जब १६१८ में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन बम्बई में हुआ, मैं वहां गया । वहां से मैं पूना भी चला गया । वहां की सब संस्थाओं को अच्छी तरह देखा । उनके संबंध में काफी जानकारी भी हासिल की ।

: २४ :

१९१७ की कलकत्ता-कांग्रेस से दिल्ली-कांग्रेस तक

१९१७ में, जब हम लोग चम्पारन में काम कर रहे थे, देश में होमरूल का आन्दोलन जोरों से चल रहा था। मैं ऊपर कह चुका हूं कि महात्माजी ने हम लोगों को किसी भी आन्दोलन में भाग लेने से रोक रखा था और कहा था कि चम्पारन का काम ही होमरूल का सबसे बड़ा काम है। इसी बीच में श्रीमती एनी बेसेण्ट नजरबंद की गई। इससे आन्दोलन में अधिक जोर पहुंचा। हम लोग ये सब बातें अखबारों में पढ़ते, पर मन चम्पारन में ही था। किसी और चीज की ओर हम ध्यान ही नहीं बंटाते थे। चम्पारन छोड़कर बिहार के और जिलों में होमरूल का आन्दोलन चला। मैं समझता हूं कि बिहार में यह पहला ही अवसर था जब पढ़े-लिखे लोग गांवों में जाकर सभाएं करने लगे; जनसाधारण से राजनीति की बातें कहने लगे। इसका असर अच्छा पड़ा था।

इसी साल बिहार के शाहाबाद-जिले में एक बहुत बड़ी दुर्घटना हो गई। बकरीद के अवसर पर, गाय की कुर्बानी के कारण, हिन्दुओं और मुसलमानों में झगड़ा हुआ। बात बहुत बढ़ गई। जिले के बहुत बड़े हिस्से में, आसपास के गया और पलामू जिलों में भी, बहुत बड़ा फसाद हो गया। कुछ दिनों तक तो ऐसा मालूम होता रहा कि मानो अंगरेजी राज है ही नहीं। कुछ हिन्दू पिटे; पर मुसलमानों के साथ बड़ी क्रूरता हुई। बहुतेरे मारे गये। बहुतेरों के घर लूटे गये। अन्त में जब मिलिटरी (फौज) पहुंची जो हजारों हिन्दू गिरफ्तार हुए। उन लोगों पर मुकदमे चलाये गये, जो बहुत दिनों तक चलते रहे। हजारों को कड़ी सजाएं हुईं। नतीजा यह निकला कि पहले तो मुसलमान तबाह हुए और पीछे हिन्दू भी तबाह हुए। उस समय की दुर्घटनाओं की याद आजतक दोनों सम्प्रदायों को है। उन दिनों सार्वजनिक जीवन इतना उन्नत नहीं था कि दोनों के बीच मेल कराने का या फसाद रोकने का कोई प्रयत्न किया जाय। जब मुकदमे चलने लगे तब वकीलों ने मुजरिमों की थोड़ी-बहुत सहायता की। पर इससे अधिक कुछ नहीं हुआ। मेरा इस दुर्घटना से कोई सीधा संबंध न रहा। पर वहां की बातों का दिल पर असर जरूर पड़ा।

कलकत्ते की कांग्रेस में बिहार से--विशेष करके चम्पारन से--प्रतिनिधियों की बड़ी टोली गई । मैं एक बड़ी टोली के साथ वहां पहुंचा । सेठ जमनालाल बजाज ने महात्मा गांधी के ठहरने का प्रबंध किया था । चम्पारन की टोली भी वहीं जा जुटी । सेठजी से पहली मुलाकात शायद वहीं हुई । जहांतक मुझे याद है, महात्माजी ने इस कांग्रेस में कोई विशेष भाग नहीं लिया ।

जब हम चम्पारन में थे तभी भारत-सचिव मिस्टर माण्टेग्यू का वह वक्तव्य निकला, जिसमें ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की ओर से उन्होंने भारत में आहिस्ता-आहिस्ता करके प्रजातंत्र स्थापित करने का वादा किया था । उसके बाद वह भारत में आये । कुछ दिनों के बाद उनकी और लार्ड चेम्सफोर्ड की भारत में राजनैतिक सुधार-सम्बन्धी रिपोर्ट निकली । इस रिपोर्ट के निकलने पर सारे देश में इसपर विचार होने लगा । सभी राजनैतिक व्यक्ति और दल अपना-अपना मत प्रकाशित करने लगे । बिहार में भी इसकी चर्चा होने लगी । हम लोग चम्पारन के काम से मुक्त हो चुके थे । इसलिए इसपर ध्यान देने का अवसर था । मेरा अपना स्वभाव शुरू से ही नरम है । उग्र विचार जल्दी हृदय में उठते ही नहीं हैं । इस विषय पर विचार करने में मैं नरम-दल के पक्ष का ही समर्थक था । विहार में इस पर विचार करने के लिए प्रान्तीय कान्फ्रेंस की बैठक हुई । उसमें मैंने भाग लिया; पर हमेशा उग्र विचारों के विरोध में ही मैं रहा । मैं समझता था कि इसमें अभी इतनी शक्ति नहीं आई है कि गवर्नमेण्ट पर जोर देकर हम कुछ भी करा सकते हैं । इस बात का भी मुझे पूरा विश्वास न था कि देश के शासन का सब भार अगर हमारे ऊपर आ जाय तो हम उसका सुचारू रूप से वहन कर सकेंगे । इसलिए मैं उस रिपोर्ट को ठीक मानता था । उसके आधार पर जो कुछ भी हो सकता था, मैं उसे स्वीकार करने के लिए तैयार था । मैं यह पसन्द नहीं करता था कि उसकी टीका-टिप्पणी ऐसी हो कि जिससे हमारी अनिच्छा या नामंजूरी समझी जाय । प्रान्तीय कान्फ्रेंस में मतभेद रहा । जहांतक मुझे स्मरण है, यही विचार स्वीकृत भी हुए । हां, जहां-तहां कुछ सुधार सुझाये गए ।

इसी रिपोर्ट पर विचार करने के लिए बम्बई में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ । मैं वहां भी गया । अपनी आदत और स्वभाव के अनुसार मैंने बहस में कोई

भाग नहीं लिया। पर विषयनिर्धारिणी समिति और कांग्रेस की बहसों को खूब गौर से सुनता रहा। पटना के नामी बैरिस्टर सैयद हसन इमाम ही सभापति थे। उनका भाषण बहुत जबरदस्त हुआ था। कांग्रेस की कार्रवाई बड़ी योग्यता से चलाई। बम्बई में उनका स्वागत भी बड़ी शान के साथ हुआ। मैंने विषय-निर्धारिणी समिति में देखा कि कई बार ऐसा मौका आया जब दो दलों के बीच झगड़ा होता दीख पड़ा। एक ओर से लोकमान्य तिलक गर्म विचारों के समर्थक थे, दूसरी ओर से अन्य नेता बहस किया करते थे। इन बड़ों के झगड़े का निपटारा बीच-बीच में अपने दो-चार शब्दों से अथवा भाव-भंगी से सभापति करते रहे।

१६१८ में एक और महत्त्व की घटना हुई। जब महात्माजी चम्पारन में थे तभी गुजरात के 'खेड़ा' जिला के किसानों में लगान के सम्बन्ध में आन्दोलन खड़ा हुआ। महात्माजी चम्पारन जाने के पहले ही साबरमती में, झोपड़ों में, सत्याग्रह-आश्रम एक प्रकार से स्थापित कर चुके थे। उनका विचार था कि चम्पारन से दस-पांच दिनों में लौटकर उसका बाजाब्ता उद्घाटन करेंगे। पर जब चम्पारन में रूक जाना पड़ा तो उन्होंने खबर दे दी कि आश्रमी लोग वहां का काम आरम्भ कर दें। मेरी बहुत लालसा थी कि मैं भी जाकर आश्रम देखूं।

१६१८ के अप्रैल में अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन इन्दौर में हुआ। महात्मा गांधी उसके सभापति हुए। हम लोग बिहार से कुछ प्रतिनिधि गये। चम्पारन के बाद हम यह समझ बैठे थे कि महात्माजी पर हमारा विशेष अधिकार हो गया है। इस ख्याल से इन्दौर में हम लोग सभापति के साथ ही ठहरे। उस सम्मेलन में बड़े मार्के की बात यह हुई कि दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार का काम आरम्भ करने का निश्चय हुआ। महात्माजी के लिए यह कोई नई बात नहीं थी। उन्होंने चम्पारन से ही उस काम को शुरू कर दिया था। एक बार स्वामी सत्यदेवजी वहां उनसे मिलने आये। महात्माजी ने उनको राय दी कि कुछ दिनों तक साबरमती-आश्रम में ठहरने के बाद वह दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार करने का काम अपने हाथ में लें। इन्दौर-सम्मेलन के कुछ पहले से ही दक्षिण में यह काम शुरू हो गया था। स्वामी सत्यदेव के साथ उन्होंने अपने कनिष्ठ पुत्र देवदास गांधी को इस काम के लिए भेज दिया। इन्दौर-सम्मेलन में जो काम आरम्भ हुआ, उसका विस्तार

आज सारे दक्षिण भारत में हो गया है। वहां लाखों स्त्रियों और पुरूषों ने हिन्दी सीख ली है।

सम्मेलन से महात्माजी के साथ मैं सीधे साबरमती चला गया। अभी आश्रम के मकान नहीं बने थे। बांस की चटाइयों की झोपड़ीयां थीं। उन्हीं में आश्रमवासी रहा करते थे। मुझे आश्रम में अधिक ठहरने का मौका नहीं मिला। महात्माजी तुरन्त 'खेड़ा' के गावों में चले गये। वहां लगानबन्दी का काम शुरू हो गया था। सरदार वल्लभभाई, श्री शंकरलाल बैंकर, श्रीमती अनुसूयाबाई, साराभाई और दूसरे कार्यकर्त्ता गांधीजी के नेतृत्व में वहां प्रचार-कार्य कर रहे थे। मुझे महात्माजी के साथ दो-तीन दिनों तक वहां के गांवों में सफर करने का सुअवसर मिला। गुजरात के लोगों के साथ वह घनिष्ठ सम्बन्ध आरम्भ हुआ, जिसका सूत्रपात चम्पारन में गांधीजी के साथ गये हुए और उनके भेजे हुए लोगों से मुलाकात हाने ही पर हो गया था। महात्माजी पैदल ही सफर करते थे। मुझे भी वैसा ही करना पड़ा। उन दिनों वह जूते नहीं पहनते थे। अप्रैल के अन्त में गर्मी काफी पड़ रही थी। एक दिन, प्रायः दोपहर हो चुके थे, हम लोगों को रेतीले रास्ते से जाना था। बालू गर्म हो गई थी। पैर जल रहे थे। पर गांधीजी ने परवा नहीं की। जहां जाना था, हम लोग चले ही गये। खेड़ा का सत्याग्रह सफल हुआ। चम्पारन और खेड़ा, दोनों का काम प्रायः एक बरस के भीतर ही खतम हो गया।

मैं फिर अपनी वकालत में लग गया। बीच-बीच में कान्फ्रेन्सों और कांग्रेस में शरीक होना इन दिनों वकील अपना फर्ज समझते थे। मैं भी उन्हीं में एक था। चम्पारन के बाद विचारों में बहुत परिवर्तन आ गया था। इस प्रकार के काम को छुट्टियों के दिनों में केवल मनोरंजन का विषय न मानकर इसमें अधिक समय देने की जरूरत महसूस करने लगा था। पर अभी कोई रास्ता निर्धारित नहीं था। इसलिए अभी पुराने ढर्रे पर ही काम होता रहा। इन्दौर के हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, बम्बई में कांग्रेस के विशेष अधिवेशन और फिर दिल्ली में उसके दिसम्बरवाले साधारण अधिवेशन में शरीक हुआ। बस इतने ही से अपना कर्त्तव्य पूरा समझा।

गांधीजी के चम्पारन जाने के बाद बिहार का नाम जहां-तहां सुना जाने लगा था; पर अभी उसको कोई विशेष स्थान नहीं मिला था। इसीलिए कलकत्ते की कांग्रेस में

कोई अलग स्थान न रहने के कारण हम लोगों को अधिकतर गांधीजी की ही छावनी में ठहरना पड़ा ।

दिल्ली-कांग्रेस में एक बड़ी पुर-मजाक घटना हुई । हम लोग वहां पहुंचे । स्टेशन पर वालण्टियर मिले । पर उनमें से कोई यह न बता सका कि बिहार के प्रतिनिधियों के ठहरने का स्थान कहां है । नायक ने कहा कि आप लोग पटौदी-हाउस में चले जाइये । वहां भी हम लोग पहुंचे । अभी प्रायः सवेरे के पांच बजे थे । कुछ रात थी । सर्दी काफी थी । एक छोटे कमरे में जाकर हम पन्द्रह बीस आदमी बैठे रहे । जब सवेरा हो गया और दरियाफ्त किया तो वहां भी कोई हम लोगों के लिए स्थान नहीं बता सका । हम लोगों ने सोचा कि बस अब यहीं ठहरना चाहिए । दो-मंजिले पर एक अच्छा कमरा था । उसे भी हम लोगों ने दखल कर लिया । कुछ देर के बाद स्वागत-समिति के कोई साहब आये । उन्होंने हुकुम दिया कि हम लोगों को मकान खाली कर देना चाहिए । यह पूछने पर कि आखिर हम लोग कहां ठहरें, उन्होंने इतना ही उत्तर देना काफी समझा कि वह मकान बंगाल के डेलिगेटों के लिए है--ऊपर का कमरा श्रीयुत बी० चक्रवर्ती और श्रीयुत सी० आर० दास के लिए है, इसलिए हम कहीं दूसरी जगह जाकर ठहरें । बहुत कहने पर भी उन्होंने हमारे लिए कोई दूसरी जगह ठीक कर देने का भार अपने ऊपर लेना या किसी दूसरे को सुपुर्द करना जरूरी नहीं समझा । हम लोगों ने भी निश्चय कर लिया कि जबतक दूसरी जगह ठीक न हो जाय, हम भी हटेंगे नहीं । कुछ देर के बाद हम लोगों को फिर हुकुम मिला कि यहां से चले जाइये । हमने साफ इनकार कर दिया । गुस्से में आकर उस सज्जन ने हुकुम दिया कि हम अगर उनकी बात नहीं मानेंगे, तो हम लोगों के लिए स्वागत-समिति के चौके में भोजन का प्रबन्ध नहीं किया जायगा । यह धमकी हम लोगों को पसन्द आई । स्वागत-समिति में प्रायः दो रूपये रोजाना देना होता । हमने तुरन्त कुछ हाड़ियां मंगा लीं और ईंटों के चूल्हे बनाकर खिचड़ी पका ली, जिसमें खर्च शायद चार-छः आने से अधिक न पड़ा । बस वहीं हम लोग जम गये । बहुत जोर लगाया गया, पर जब अपना खास चूल्हा जल चुका था, तो हटता कौन है । अन्त में लोग आजिज आकर हम लोगों को छोड़कर चले गये ।

श्री सी० आर० दास मुझे कलकत्ते की वकालत के जमाने से ही जानते थे । कुछ

मुकदमों में हमें एक साथ काम करने का मौका मिला था। उनसे कांग्रेस में भेंट हुई। हँसते-हँसते उन्होंने कहा--"सुना है कि मेरे लिए जो कमरा था, उसे तुम लोगों ने जबरदस्ती अपने कब्जे में कर लिया है।" मुझे बहुत शर्म मालूम हुई। मैंने सब बातें कहीं। यह भी कहा कि आप अगर चाहें तो हम लोग तुरन्त कमरा खाली कर दें। उन्होंने कहा कि तुमने ठीक ही किया। जब तुम्हारे लिए कोई जगह नहीं थी तो तुम दूसरा कर ही क्या सकते थे। अपने बारे में उन्होंने कहा कि मेरे लिए चिन्ता मत करो, मैं बहुत आराम से होटल में ठहर गया हूं।

इस प्रकार १६१८ समाप्त हुआ। फिर हम पटने वापस आकर वकालत करने लगे।

: २५ :

प्रिय मित्र की मृत्यु

रायबहादुर हरिहरप्रसादसिंह पढ़ने के समय से ही मुझे जानते थे । जब मैं विलायत जाने की बात सोच रहा था, तब उन्होंने कुछ सहायता भी की थी । मैंने जब वकालत शुरू की तो उन्होंने मुझे अपना वकील बना लिया । हाइकोर्ट में उनके जितने मुकदमे जाते थे, उनमें मैं ही वकील हुआ करता था । उनकी एक बहुत बड़ी सम्पत्ति बरमा में थी । उस सम्पत्ति के सम्बन्ध में डुमरांव के महाराजा बहादुर ने अदालत में दावा कर दिया । उनकी जो-कुछ सम्पत्ति बिहार में थी, उसे भी उस दावे में शामिल कर लिया । दोनों ओर से कई बड़े-बड़े और नामी वकील रखे गये । मुझे भी बाबू हरिजी ने काम करने के लिए कहा । १९१८ की दुर्गापूजा की छुट्टियों में प्रयाग में, जहां वह उन दिनों रहा करते थे, कागजों को पढ़ने के लिए मुझे बुलाया । मैं छुट्टियों में प्रयाग में ही कागज पढ़ता रहा । मेरे मित्र बाबू वैद्यनाथनारायणसिंह भी छुट्टियों में प्रयाग में ही, दारागंज में किराये पर एक मकान लेकर, अपने कुटुम्ब के साथ दिन बिता रहे थे । हम दोनों अक्सर सुबह-शाम टहलने के समय मिला करते थे ।

एक दिन दोपहर को ही वह मेरे यहां चले आये । बहुत तरह की बातें करने लगे । प्रायः सन्ध्या तक मैं मुकदमे का कुछ काम न कर सका । चलने के समय फिर दूसरे दिन आने को कह गये । दूसरे दिन पहले दिन से भी पहले ही चले आये । फिर बहुत-सी बेतुकी बातें करते रहे । मुझे सन्देह हुआ कि इनका मिजाज ठीक नहीं है । मैंने एक मित्र के उन्माद-रोग का आरम्भ देखा था । वैसे ही लक्षण इनमें भी दिखाई देने लगे । जाते समय मैं भी उनके साथ हो लिया । उनके घर तक साथ गया । वहां पूछने से मालूम हुआ कि कई दिनों से रात को वह सोते बहुत कम हैं और इसी प्रकार दिन-रात कुछ बोलते रहते हैं । मेरा भय और भी अधिक बढ़ गया । तीसरे दिन तो यह देखा कि वह एकदम पागल हो गये हैं । मैं उनके ही साथ रहने लगा ।

एक दिन उन्होंने बक्स खोलकर वकालत का 'गाउन' निकाला । उसे टुकड़े-टुकड़े करके फाड़ डाला । यूनिवर्सिटी की किसी परीक्षा में उनको सोने का एक पदक मिला था । उसे उन्होंने इसी तरह निकालकर फेंक दिया । अपनी छोटी बच्ची को, जो

उनकी सबसे छोटी सन्तान थी, एक दिन मार डालने पर उतारू हो गये ।

हम लोग बहुत घबराये । वहां जो कुछ चिकित्सा हो सकी, की गई; पर राय ठहरी कि इन्हें पटने ले चलना ही अच्छा होगा । दो-चार दिनों में कुछ अच्छे होते मालूम हुए । एक दिन यह निश्चय हुआ कि मैं उनके साथ पटने चला जाऊं और उनके छोटे भाई जगन्नाथजी परिवार को लेकर पटने पहुंचे । हाइकोर्ट की छुट्टियां समाप्त हो गई थीं । पटने पहुंचना हम दोनों के लिए आवश्यक हो गया था । छुट्टियों में बराबर प्रयाग में ही रहने के कारण घर के लोगों से मैं मिला भी न था; क्योंकि मेरे परिवार के लोग छपरे में या मेरे गांव जीरादेई में ही रहा करते थे, मेरे साथ पटने में नहीं । मैं सोचता था कि दो-चार दिनों के लिए, छुट्टी के अन्त में, घर जाकर उनसे मिल आऊंगा; पर वैद्यनाथबाबू की अस्वस्थता के कारण यह विचार छोड़ देना पड़ा था ।

जब हम दोनों प्रयाग से पटने के लिए रवाना हुए तब वैद्यनाथबाबू बिल्कुल स्वस्थ-से मालूम पड़ते थे । कपड़े इत्यादि ठीक तरह से पहनकर होश की बातें करते-करते मेरे साथ रेल पर सवार हुए । रास्ते में उन्होंने मुझसे पूछा कि मैं घर जाना चाहता था, तो उस विचार को क्यों छोड़ दिया और कहा कि अब उनकी तबीयत बिलकुल ठीक हो गई है, कोई चिन्ता की बात नहीं है । जो कुछ हुआ था, उसका स्मरण करके उन्होंने अफसोस और लज्जा का भाव जाहिर किया तथा मुझसे कहा कि मैं सीधा घर चला जाऊं और वह पटने चले जायेंगे, इसमें कोई हर्ज नहीं है ।

मैं उनकी बातें सुनकर बहुत खुश हुआ । मुझे विश्वास हो गया कि उनकी तबीयत ठीक हो गई । मैं उस समय तक lucid moment (पागलपन के बीच कुछ चेतन क्षण[1]) का अर्थ नहीं जानता था । काशी स्टेशन पर उनको पटने की गाड़ी में सवार कराकर मैं छपरे की गाड़ी से छपरे चला गया । वह दूसरे दिन सवेरे जब पटने पहुंचे तो उनकी हालत पहले की तरह बिलकुल पागल-जैसी हो गई थी । स्टेशन के कर्मचारियों ने उन्हें पहचाना । ऐसी अवस्था में उनको अकेला देखकर कुछ मित्रों को खबर दी । वे लोग आये और उनको किसी तरह घर ले गये । दूसरे दिन जब मैं पटने वापस आया तो मैंने उनको बुरी दशा में पाया । मुझे बहुत अफसोस हुआ कि

---

१ वे क्षण जब पागलपन के बीच-बीच में पागल की दशा कभी-कभी बिलकुल अच्छे आदमी की-सी हो जाती है ।

मैंने बड़ी गलती की थी। उनसे मुलाकात हुई तो उन्होंने बड़ी हँसी उड़ाई। कहा कि आप अपने को बड़ा होशियार समझते हैं, मुझे पहरे में रखने के लिए--जगन्नाथजी के साथ षड्यंत्र करके--मेरे साथ आये थे; कैसा चकमा देकर बेवकूफ बनाया! इतना कहकर हँसने लगे। फिर वही बेतुकी बक-झक आरम्भ कर दी।

पटने में भी हम लोग बराबर देख-रेख करते रहे; पर वह कभी पूरी तरह स्वस्थ नहीं हुए। कभी-कभी अच्छे हो जाते, यहां तक कि वह हाइकोर्ट जाने लगते। 'पटना-लॉ-वीकली', जिसको मैं और वह साथ मिलकर निकाला करते थे, निकालने भी लगते। पर बीमारी ज्यों-की-त्यों बनी रहती। कुछ दिनों के बाद उनकी आकस्मिक मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु का सदमा मेरे दिल पर बहुत पड़ा। पर वह जिस अवस्था में थे, उसमें रहने से कहीं अच्छा देहान्त हो जाना था। उनके लिए यह मृत्यु एक प्रकार की मुक्ति ही थी। उनका जितना मेरे साथ प्रेम था और जितना उपकार उन्होंने मेरे साथ किया था, वह जब स्मरण हो आता है तो आज भी दुःख होती है; और इस बात का पश्चात्ताप होता रहता है कि उनके लिए अथवा उनके कुटुम्ब के लिए मैं कुछ भी न कर सका।

: २६ :

प्रथम महायुद्ध के बाद

सन् १९१८ के नवम्बर में यूरोप का महायुद्ध समाप्त हो गया। १९१७ से ही भारतवर्ष में राजनैतिक जागृत की लहर उठने लगी थी। चम्पारन में गांधीजी के पध ारने और रैयत की सेवा करने का असर चारों ओर पड़ रहा था--यद्यपि समाचार-पत्रों में बहुत कम खबरें छपने के लिए दी जाती थीं और कहीं भी सभाओं में व्याख्यान देने की हम लोगों को मनाही थी। श्रीमती एनी बेसेण्ट ने 'होमरूल-लीग' कायम करके सारे देश में १९१७ में ही बड़ी हलचल मचा दी थी। प्रायः सभी प्रान्तों में उसकी शाखाएं कायम हो गई थीं। लोग खूब जोरों से प्रचार के काम में लग गये थे। सरकार इससे कुछ घबरा-सी गई। उसने श्रीमती एनी बेसेण्ट को, उनके दो साथियों के साथ नजरबन्द कर दिया था। इसपर आन्दोलन ने और जोर पकड़ा। ब्रिटिश सरकार अपनी दु-धारी नीति को १९१७ में भी चला रही था। एक ओर उसने इस तरह आन्दोलन की मुख्य अधिष्ठात्री को नजरबन्द किया, दूसरी ओर पार्लामेण्ट में नये नियुक्त भारत-मंत्री श्री मांटेग्यू ने एलान किया, जिसमें वादा किया गया कि भारत को आहिस्ता-आहिस्ता करके शासन का अधिकार दिया जायगा ; पर कब और कितना अधिकार भारतीयों के हाथ में आवेगा, इसका निर्णय पार्लामेण्ट ही कर सकेगी ! इसके बाद श्री मांटेग्यू भारतवर्ष में आये। यहां के वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड के साथ भारतीय नेताओं से मिले। दोनों ने मिलकर एक रिपोर्ट तैयार की, जिसके आधार पर पार्लामेण्ट ने १९२० में एक कानून पास किया। श्रीमती एनी बेसेण्ट भी कुछ दिनों बाद छोड़ दी गई। वह १९१७ में कलकत्ते में होनेवाले कांग्रेस-अधिवेशन की सभानेत्री चुनी गई। उत्साह बहुत था। हम लोग भी चम्पारन से गांधीजी के साथ ही कांग्रेस में गये थे। सेठ जमनालालजी से वहीं प्रथम परिचय हुआ। उन्होंने ही गांधीजी के रहने इत्यादि का प्रबन्ध किया था। उसी मकान में गांधीजी के साथ काम करनेवाले हम बहुतेरे बिहार-निवासी सेठजी के ही मेहमान बने। बहुतेरे दूसरे बिहारी भी हम लोगों के साथ ही आकर ठहरे और वे हम मेहमानों के भी मेहमान हो

गये । जमनालालजी के आतिथ्य को ग्रहण करने का पहला अवसर वहीं मिला ।

जर्मन-युद्ध के समय भारतवर्ष ने गवर्नमेण्ट की सहायता की थी । इसकी प्रशंसा सभी सरकार कर्मचारी बहुत जोरों से किया करते थे । पर जो कुछ सहायता लोगों ने अथवा उन दिनों की कौन्सिल ने अपनी खुशी से की थी, उसके अलावा जोर-जबरदस्ती से भी बहुत सहायता ली गई थी, जिसके कारण देश में बहुत असन्तोष भी फैला था । पंजाब में उन दिनों लेफ्टेनेण्ट गवर्नर थे सर माइकेल ओडायर । वह एक बड़े जबरदस्त सिविलियन थे । उन्होंने रंगरूट भरती कराने में और चन्दा जमा करने में बड़ी सख्ती से काम लिया था । इसका असर पंजाब पर बहुत बुरा पड़ा था । वहां के लोग--हिन्दू, मुसलमान और सिख--बहुत ही दुःखी थे । सरकार भी जानती थी कि पंजाब के अतिरिक्त और जगहों में भी असन्तोष काफी है । लड़ाई शुरू होते ही, कुछ भारतीय, जो विदेशों में थे, इस प्रयत्न में लग गये कि हिन्दुस्तान में इस मौके से फायदा उठाकर क्रान्ति की जाय । उन्होंने इस दिशा में कुछ काम किया भी था । मुसलमानों में इस बात से बहुत खलबली मची थी कि उनके खलीफा--तुर्की के बादशाह--लड़ाई में जर्मनी की तरफ हो गये थे और तुर्क सेना से मुकाबला करने के लिए हिन्दुस्तानी फौज भेजी गई थी, जिसमें मुसलमान भी अच्छी संख्या में थे । ब्रिटिश गवर्नमेण्ट इन सब कारणों से प्रभावित होकर अपनी दुहरी नीति चलाती रही । मुसलमानों को सन्तुष्ट करने के लिए उन्होंने कई वादे किये, जिनमें उनके धार्मिक स्थानों को सुरक्षित रखने और तुर्की की ताकत और उनके राज्य को अधिक नुकसान न पहुंचाने की बातें भी थीं । दूसरी ओर सरकार यह भी सोच रही थी कि भारत-रक्षा कानून की (जो लड़ाई का अन्त होने के छः महीने बाद तक ही जारी रह सकता था) जरूरत बाद में भी पड़ेगी, क्योंकि वह अगर नरहा तो जितने लोग नजरबंद हैं उनको छोड़ना पड़ेगा और अगर, असन्तोष ने कुछ विकट रूप धारण किया तो उसे संभालने के लिए कुछ ऐसी व्यवस्था करनी होगी, जिससे अदालत में मुकदमे की पेशी होने पर गवाही जुटाने की झंझट से वह बची रहे । इसलिए एक कमिटी मुकर्रर की गई थी, जिसके प्रधान थे सर सिडनी रौलट, जो लन्दन के हाइकोर्ट के एक जज थे । इस कमिटी ने एक रिपोर्ट तैयार की, जिसमें भारतीय षड्यन्त्रों का

इतिहास होते हुए भी इस बात की सिफरिश की गई कि एक ऐसे कानून की जरूरत है, जिसके द्वारा सरकार के हाथ में, षड्यंत्रकारियों को उपद्रव करने से रोकने और क्रान्ति से हिन्दुस्तान की रक्षा करने के लिए, पूरा कानूनी अख्तियार रहे--अर्थात् प्रायः वे सब अधिकार रहें, जो लड़ाई की नाजुक स्थिति संभालने के लिए भारत-रक्षा कानून के द्वारा दिये गये थे । इस प्रकार एक तरफ मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड-रिफार्मस्कीम १९१८ के बीच में और दूसरी ओर रौलट-रिपोर्ट भी १९१८ के अन्त में निकली ।

: २७ :

रौलट-बिल-विरोधी आन्दोलन

रौलट-रिपोर्ट के निकलते ही सारे देश में बड़ा असन्तोष उत्पन्न हुआ, जिसने पहले ही सुलगती हुई असन्तोष की आग में घी का काम करके उसे जोरों से प्रज्वलित कर दिया । चम्पारन से लौटने के बाद मैं अपनी वकालत में लग गया था । छः-आठ महीनों की गैरहाजिरी के बाद भी उसमें किसी तरह की कमी नहीं आई थी । १६१८ और १६१६ में जोरों से हाइकोर्ट में काम करता रहा । मुकदमे और रूपये भी खूब मिलते रहे । गांधीजी ने चम्पारन में ही हम लोगों से एक बार कहा था कि हम लोग अगर चम्पारन में सचाई के साथ काम करेंगे तो एक प्रकार की पूंजी कमा लेंगे, जिससे आगे बहुत लाभ उठा सकेंगे । वहांपर पूरी सचाई के साथ काम हुआ । आज भी जब मैं पिछले पच्चीस बरसों के अपने जीवन पर विचार करता हूं तो मुझे जान पड़ता है कि वहां की कमाई पूंजी दिन-दिन बढ़ती गई है । कभी-कभी यह जानकर बड़ा सन्तोष होता है कि जो सबक सचाई का गांधीजी ने वहां सिखाया था उसी का यह एक फल है कि अपने जीवन में जिसका मैं कर्तव्यवश घोर से भी घोर विरोध करता हूं, वह भी मेरे कहने पर विश्वास रखता है । पर इस प्रकार सार्वजनिक जीवन में सचाई से जो लाभ हुआ है, उसके अलावा वकालत के काम में भी उससे हमेशा लाभ ही हुआ है--कुछ लाभ अपने पेशे में सफलता के रूप में और उसके फलस्वरूप पैसे कमाने के रूप में हुआ । मुझे इस बात का गर्व रहता है कि वकालत के जमाने में जजों ने मुझपर विश्वास किया । एक अंगरेज जज तो कभी-कभी ऐसा मजाक किया करता था कि प्रतिपक्षी नकील अगर कमजोर जान पड़ता तो वह मुझसे हो कहता कि तुम ही अपने विरूद्ध जो सबसे खराब नजीर हो, उसे बता दो । मैं इसके लिए तैयार भी रहा करता था । उस नजीर को पेश करके उसके काट में जो नजीर पेश करनी होती थी, वह भी पेश कर देता था । मैं कभी भी लचर दलील नहीं पेश करता था । जिस मुकदमे में बहस की गुंजाइश न रहती उसे कभी लेता ही न था । मवक्किल को साफ-साफ कह देता कि इसमें कुछ होने-जाने की नहीं, इसलिए इसे दाखिल करके पैसे बरबाद मत करो । कोई-कोई मवक्किल दूसरे के पास जाकर अपील दायर कराता

और पैसे खर्च करके हार जाता। मैंने ऐसे लोगों को, जिनको मैंने अपील दायर करने से मना करके उनके कागज और पैसे लौटा दिये थे, दूसरों की मार्फत अपील दायर करते और हारते भी देखा है। एक ऐसा भी मुकदमा मैंने देखा, जिसे वापस कर दिया था, पर दूसरे वकील ने उसे दायर किया और हाइकोर्ट में जीत भी लिया। ऐसा होना आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि मुकदमेबाजी एक प्रकार का जुआ तो है ही। हो सकता है कि मैं उस मुकदमे की बारीक बातें न समझ सका होऊं, अथवा जज किसी धोखे में आ गया हो और उसने गलत फैसला दे दिया हो। अस्तु।

मैं वकालत तो जोरों से करता रहा; पर अब गांधीजी का सम्पर्क भी छूटनेवाला नहीं था। रौलट-रिपोर्ट के निकलने के बाद देश में बड़ा आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। गांधीजी ने उसका नेतृत्व अपने हाथों में लिया। बिहार से लौटने के बाद गांधीजी ने 'खेड़ा' के किसानों का, जिनपर मालगुजारी का इजाफा हो रहा था, नेतृत्व करके इजाफा छुड़वाया। इसके लिए वहां सत्याग्रह का प्रबन्ध करना पड़ा था। पर अन्त में बात तय हो गई। जब गांधीजी 'खेड़ा' में दौरा कर रहे थे, मैं भी उनके साथ गुजरात के किसानों के उस जिले में (सन् १६१८) में दो-तीन दिनों तक घूमा था। अप्रैल का महीना था। गर्मी काफी पड़ रही थी। धूप खूब कड़ी हुआ करती थी। उन गर्मी में भी गांधीजी गांवों में घुमते रहते। उन दिनों वह जूता नहीं पहना करते थे। इसलिए बालू तप जाने पर खाली पैरों से चलने में उन्हें तकलीफ बहुत होती थी। एक दिन ऐसा दृश्य मुझे देखने को मिला। गर्मी के मारे पैर जले जाते थे। बालू कुछ दूर तक थी। मैं तो जूता पहने हुए था। मुझे कोई कष्ट नहीं हुआ। पर गांधीजी को बहुत कष्ट हुआ। एक स्थान पर मैंने चादर बिछा देनी चाही जिसमें उनको थोड़ा आराम मिल जाय। पर उन्होंने ऐसा नहीं करने दिया। उसी यात्रा में सरदार वल्लभभाई के गांव 'करमसद' में भी जाने का सुअवसर मिला था। मैंने उनका पैतृक मकान देखा था। उस सत्याग्रह के नेता एक प्रकार से सरदार वल्लभभाई ही थे। उसी सत्याग्रह के क़ारण उनका गांधीजी के साथ वह सम्बन्ध स्थापित हुआ, जो आज तक अटूट बना हुआ है और जो दिन-दिन इन दोनों शक्तियों के संगम का अच्छा फल देश को देता आ रहा है।

खेड़ा-सत्याग्रह के बाद गांधीजी, सरकार की मदद के लिए, खेड़ा जिले के लोगों को फौज में भरती होने के लिए सलाह देते हुए, दौरा करने लगे। उस समय तक

ब्रिटिश गवर्नमेण्ट पर उनका पूरा विश्वास था । वह मानते थे कि सरकार अक्सर भूल कर दिया करती है और कहीं-कहीं उसने जुल्म भी किया है । परन्तु सभी बातों पर विचार के बाद वह इस नतीजे पर पहुंचते थे कि ब्रिटिश-नीति न्याय-संगत है, उससे न्याय की आशा रखी जानी चाहिए । इसीलिए वह सरकार की मदद करने के लिए लोगों को फौज में भरती होने का मशविरा देने लगे । अपनी आदत के मुताबिक इस काम में भी वह बहुत जोरों से लग गये । खेड़ा के दौरे के कारण उनके स्वास्थ्य को बहुत बड़ा धक्का पहुंचा । वह बहुत जोरों से बीमार पड़ गये । उसी नीति के अनुसार मैं भी बिहार में बने उस सरकारी बोर्ड का मेम्बर हो गया, जो फौजी रंगरूटी की भरती में मदद करने के लिए बना था । उसके मंत्री उन दिनों श्री रसल थे, जो आज बिहार के गवर्नर के सलाहकार (**adviser**) हैं । जहांतक मैं जानता हूँ, गांधीजी के जी-तोड़ परिश्रम के बाद भी भरती में बहुत सफलता नहीं हुई । बिहार में भी कुछ विशेष न कर सका ।

गांधीजी की बीमारी इतनी बढ़ गई कि वह बम्बई में कांग्रेस के उस विशेष अधिवेशन में, जो माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड-रिपोर्ट पर विचार करने के लिए श्री सैयद हसन इमाम के सभापतित्व में हुआ था, शरीक न हो सके थे । पर मैं उसमें शरीक हुआ था । वहां से लौटते समय मैं अहमदाबाद और साबरमती में कई दिनों तक गांधीजी के साथ ठहरा भी । जहांतक मैं उनके विचारों को समझ सका था, मैं कह सकता हूं कि वह यदि कांग्रेस में रहते तो नरम दल के लोगों का ही साथ देते । कांग्रेस का काम समाप्त तो हो गया पर दोनों दलों का मतभेद बहुत स्पष्ट हो गया । कुछ लोगों के कांग्रेस से हटने और लिबरल दल के अलग संगठन करने का सूत्रपात वहीं हो गया । तीन महिनों के बाद, दिल्ली के अपने सालाना अधिवेशन में, प्रायः बम्बई के फैसलों को ही कांग्रेस ने कायम रखा ।

जब मैं बम्बई से अहमदाबाद पहुंचा तो देखा कि गांधीजी अहमदाबाद शहर के मिर्जापुर मुहल्ले में सेठ अम्बालाल साराभाई के बहुत बड़े महल में ठहरे हुए हैं । सेठजी उन दिनों अपने एक दूसरे नये मकान में रहा करते थे और यह मकान खाली था । गांधीजी की तबीयत बहुत खराब थी । डाक्टर लोग देखा तो करते थे, पर वह कोई दवा नहीं खाते थे । मल का प्रकोप था । ज्वर का भी जोर था । साबरमती में आश्रम स्थापित हो चुका था, पर अभी तक मकान कम बने थे । किन्तु वहां रहनेवालों

की संख्या बढ़ती जा रही थी। एक दिन गांधीजी का ज्वर बहुत बढ़ गया, पर उसका विचार न करके उन्होंने कहा कि अब यहां नहीं ठहरना चाहिए, तुरन्त साबरमती आश्रम में चले चलो। साथियों ने बहुत रोका; पर उन्होंने किसी की एक न सुनी। उसी हालत में आश्रम में चले गये। जिस समय ऐसा हुआ, मैं अहमदाबाद शहर की मशहूर चीजों को देखने गया था ! जब मैं लौटा तो मैंने सुना कि सब लोग आश्रम चले गये। फिर मैं भी संध्या को वहां चला गया।

दूसरे दिन सवेरे जब मैं गांधीजी के पास बैठा हुआ था, मुझे वह दृश्य देखने को मिला और वह बात सुनने में आई, जिसको मैं कभी भी भूल नहीं सकता। गांधीजी का ज्वर कुछ कम हो गया था; पर वह बहुत कमजोर थे। एक छोटे-से कमरे में चारपाई पर पड़े हुए थे। मैं नीचे पड़ी हुई चटाई पर बैठा था। वह श्री छगनलाल गांधी को बुलवाकर उनसे बातें करने लगे। उन्होंने इतने आवेश में बातें कीं कि उसका असर पड़े बिना रह नहीं सकता था। यद्यपि मैं गुजराती कम समझ पाता था फिर भी मैंने सारांश तो पा ही लिया। उन्होंने कहा, "कल जब ज्वर का बहुत वेग था, मैंने जिद्द करके यहां चले आने को कहा। मैं समझता था कि यहां पहुंचने पर ही ज्वर का वेग कम होगा। यह ज्वर तो शरीर में था, पर वहां उस बड़े महल में पड़े-पड़े मेरे हृदय के भीतर बड़ी ज्वाला जल रही थी। मैं सोच रहा था--'गांधी ! तुझे इतने बड़े महल से क्या काम ? तू यहां क्यों ठहरा हुआ है ? तेरी जगह तो गरीबों के झोपड़ों में है--आश्रम में है। यहां से तुरत चला जा। तू जबतक ऐसा नहीं करता, तुझे चैन नहीं मिल सकता।' इसी कारण मैंने इतनी जिद्द की, जो तुममें से कुछ को बुरी भी लगी होगी। वहां से यहां आने पर भी मैं रात को सोया नहीं हूं। बराबर सोचता ही रहा हूं। मैं अपने से पूछता रहा हूं कि क्या तेरी जिन्दगी इसी तरह बिना कुछ सफलता पाये ही बीत जायगी। जबसे दक्षिण अफ्रिका से हिन्दुस्तान आया, एक-पर-एक काम मैंने हाथ में लिये; पर किसी को भी पूरा न कर सका। सबको अधूरा ही छोड़ता गया। मिल-मजदूरों में हड़ताल का काम हुआ। हड़ताल इस मानी में तो सफलतापूर्वक समाप्त हुई कि उनकी मांगें मंजूर हो गई; पर मजदूरों में अभी बहुत-सी ऐसी त्रुटियां हैं, जिनको दूर करना चाहिए। मेरी इच्छा थी कि उनके बीच काम करके उन त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न करूंगा। पर वह न कर सका, चम्पारन चला गया। चम्पारन में भी, जहांतक नीलवरों का प्रश्न है वह तो एक

प्रकार से समाप्त हुआ; पर वहां के किसानों के बीच बहुत काम करने की जरूरत है। इसलिए वहांपर कुछ पाठशालाएं खोली गईं। मेरी इच्छा थी कि मैं इस प्रकार के काम में योगदान करता रहूंगा और उस जिले में इस प्रकार के काम का सूत्रपात करके उसे खूब जोरों से चलाऊंगा। इस काम के लिए सच्ची लगनवाले त्यागी लोग भी मिले थे और दूसरे मिलनेवाले थे; पर उसको भी अधूरा ही छोड़कर मुझे खेड़े के सत्याग्रह में लग जाना पड़ा। फिर खेड़े के किसानों का काम पूरा होते ही फौज की भरती के काम में लग गया। खेड़े में भी जनता में काम करने की जरूरत है; पर वह भी पूरा न हो सका। इतने में मैं बीमार पड़ गया। मालूम नहीं, इस बीमारी से बचकर फिर खड़ा होऊंगा या नहीं। अगर हो भी सकूंगा तो कुछ ठीक नहीं कि कबतक। तुम लोग, जो दक्षिण अफ्रिका से ही मेरे साथ काम करते आ रहे हो, मेरी इस दशा के कारण किसी काम को जमकर नहीं कर पाते। तुम्हारा स्वास्थ्य भी खराब ही है। इस आश्रम को ही मैंने बहुत आशा और मनसूबा लेकर स्थापित किया था। पर इसको भी मैं अबतक समय नहीं दे सका हूं। चम्पारन से ही मुझे इसके उद्घाटन का संदेश भेजना पड़ा, स्वयं उस समय आ भी न सका था। तबसे अबतक मैं किसी-न-किसी काम में बझकर बाहर रहा। अब मेरी यह हालत है। न मालूम ईश्वर को क्या मंजूर है।"

इस प्रकार बातें करते-करते वह फूट-फूटकर रोने लगे। कुछ देर तक रोते रहे। हम ही दोनों वहां थे। उनको कोई चुप करावे तो कैसे करावे। हम जानते थे कि उनके हृदय की ज्वाला अब आंसुओं के रूप में भाप का पानी बनकर निकल रही है। कुछ देर के बाद वह खुद चुप हुए। उन्होंने कहा, "यह ज्वाला बहुत जला रही थी, रात-भर सोया नहीं, कुछ आंसू बह जाने के बाद वह कुछ शान्त हुई है।" इसके बाद कुछ देर तक चुप रहे। मैं भी चुप बैठा रहा और सोचता रहा कि ईश्वर ने हमारे लिए बड़ा सैभाग्य प्रदान किया कि ऐसे महापुरूष का सम्पर्क मुझे मिला। छुट्टी लेकर दो-एक दिन के बाद मैं अपने काम पर वापस आया।

इस बीमारी से उठने के बाद, जिसमें वह शायद कभी-कभी मृत्यु का भी दर्शन करते थे, उन्होंने रौलट-रिपोर्ट के विरूद्ध आन्दोलन का नेतृत्व ग्रहण किया। रिपोर्ट निकलने के कुछ दिनों बाद, गवर्नमेण्ट ने उसकी सिफारिश के मुताबिक दो बिल दिल्ली की इम्पीरियल कौन्सिल में पेश किये, जिनके द्वारा सरकार को बहुत व्यापक और

जुल्मी अख्तियार मिलते थे । वह जिसको चाहे, बिना अदालत में गये ही, नजर बन्दकर दे सकती थी । जनता ने यह देखा कि लड़ाई के दिनों में जो स्वराज्य-सम्बन्धी वादे ब्रिटिश सरकार की ओर से किये गये थे, उनके पूरा होने का तो कुछ करीना नजर नहीं आता; पर ये 'काले कानून' हमारे सिर पर लादे जा रहे हैं । सारे देश में बड़ा क्षोम पैदा हुआ । सभी जगहों में विरोधी सभाएं होने लगीं । कौन्सिल में गैर-सरकारी मेम्बरों ने इन बिलों का प्रबल विरोध किया ; पर उनकी सुनता कौन था । अन्त में एक बिल पास हो गया । सभी चुने हुए हिन्दुस्तानियों ने उनका विरोध किया था । पर सरकरी कर्मचारियों और सरकार द्वारा नियुक्त कुछ मेम्बरों की सम्मति से वह बहुमत के पास हो गया । गांधीजी ने पहले ही घोषणा कर दी थी कि ये कानूनयदि पास हुए तो हम लोग इन्हें नहीं मानेंगे--सत्याग्रह करेंगे ।

उस समय की वे विरोधी सभाएं, जो देश के कोने-कोने में हुईं, एक नई जागृति और नवजीवन की द्योतक थीं । इतनी बड़ी-बड़ी सभाएं, जिनमें सब वर्ग, जाति तथा धर्म के लोग इतनी अधिक संख्या में शामिल होते हों, शायद ही पहले कभी देखी गई थीं । गांधीजी ने एक बिल के पास होते ही, अपने वादे के मुताबिक, सत्याग्रह का प्रश्न उठाया । देश की हवा का रूख देखकर सरकार ने दूसरे बिल को आगे नहीं बढ़ाया । उसे वापस भी नहीं लिया । इस प्रकार वह लटकता पड़ा रहा । न पास हुआ, न मंजूर । शायद, कायदे के मुताबिक, कुछ दिनों के बाद, गिर गया होगा । पर जो बिल पास हो चुका था, वह भी कुछ कम न था । उससे सरकार का काम निकल आता था । जो आन्दोलन उठ खड़ा हुआ, उसका यह फल हुआ कि वह कानून पास तो हो गया; पर काम में नहीं लाया गया । कुछ बरसों के बाद वह रद्द भी कर दिया गया ।

: २८ :

छः अप्रैल और जंगी कानून

गांधीजी ने उसी समय 'यंग इंडिया' का सम्पादन अपने हाथ में लिया। प्रति सप्ताह उसमें लेख निकलने लगे, जो सारे देश में सनसनी पैदा करनेवाले होते थे। उन्होंने अहिंसात्मक सत्याग्रह की घोषणा कर दी। एक दिन भी निश्चित कर दिया कि उस दिन सारे देश में लोग, उपवास करें, अपने-अपने धार्मिक मन्दिरों और मसजिदों में प्रार्थना करें, जलूस निकालकर संध्या समय सभा करें, जिसमें सब लोग 'काले कानून' का विरोध करें। विरोधी सभाएं तो बराबर हो ही रही थीं। किन्तु इस दिन का बहुत बड़ा महत्त्व था। पहले के आन्दोलन से जमीन खूब तैयार हो गई थी। उस दिन की हड़ताल इतनी जबरदस्त हुई कि शायद ही कभी पहले वैसी हड़ताल देखी गई हो। शहरों से सभी दूकानें बन्द थीं, सवारियों का चलना बन्द हो गया था। गांवों में लोगों ने उस दिन बैलगाड़ी और हल जोतना तक बन्द कर दिया था। न मालूम यह सन्देश किस प्रकार सभी जगहों में पहुंच गया। अभी कांग्रेस का संगठन इतना न तो फैला था और न इतना मजबूत ही था कि वह उस सन्देश को सभी सुदूरवर्ती गांवों तक पहुंचा सकता; पर तब भी यह अद्भुत घटना हुई!

पटने में विरोधी सभाओं के संगठन इत्यादि का काम मैं तत्परता से करता रहा। गांधीजी के पत्र भी जब-तब मिल जाया करते थे। पर विशेष सभी बातें 'यंग इंडिया' से मिलती थी। श्री मजहरूल हक साहब और श्री सैयद हसन इमाम काफी दिलचस्पी लेते थे। मजहरूल हक साहब तो उन दिनों दिल्ली-कौन्सिल में गये थे; पर हसन इमाम साहब सभाओं में जाते थे। उस दिन की हड़ताल के सम्बन्ध में पहले से सभी दुकानदारों से कहा गया था। सभी राजी हो गये थे; पर एक बड़ी दुकानवाले राजी नहीं होते थे। यह बात हसन इमाम साहब तक पहुंचाई गई। मेरे साथ ही वह उस दुकानदार की दुकान तक गये। वहां पहुंचते ही बूढ़े दुकानदार के पैरों पर उन्होंने अपनी टोपी उतारकर रख दी। वह तो भौंचक-सा हो गया। कहने लगा, आपने यह क्या किया, आपका हुकुम ही हमारे लिए काफी होता। नतीजा यह हुआ कि सारे शहर में एक भी दुकान न खुली, चाहे वह हिन्दू की हो या मुसलमान की। शहर की तमाम

दूकानें, चाहे वह सोने-चांदी की हों या साग-सब्जी की, बन्द रहीं। उस दिन जो जलूस निकला, वह भी अद्‌भुत था। गुलजार बाग से लेकर प्रायः शहर के किले तक, जहां सभा होनेवाली थी, लम्बा जलूस फैला हुआ था, जिसमें सबसे आगे नंगे पैर हसन इमाम साहब थे और पीछे-पीछे हम सब लोग। जो सभा किले के छोटे मैदान में होनेवाली थी वह वहां न हो सकी; क्योंकि जगह कम थी। गंगा के किनारे रेत में सभा करनी पड़ी। हम सब डरते थे कि कहीं इतने बड़े मजमे की पुलिस से मुठभेड़ न हो जाय; पर कुछ भी न हुआ। बड़ी शान्ति और उत्साह के साथ उस दिन का काम समाप्त हुआ।

गांधीजी ने कुछ दिन पहले ही लिख भेजा था कि ऐसे सत्याग्रहियों से एक प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर लिये जायं, जो इस बात के लिए तैयार हों कि वे अहिंसा का पालन करते हुए सरकार के ऐसे कानून को न मानेंगे, जिन्हें तोड़ने की आज्ञा एक मनोनीत कमिटी देगी, और इसके लिए जो सजा होगी, उसे खुशी के साथ भोगने को तैयार होंगे। अभी तक कमिटी ने कानूनों को नहीं बताया था। इसपर देश में कुछ नरम दल के लोगों और अखबारों की ओर से बड़ी टीका-टिप्पणी भी हुई। पर गांधीजी विचलित न हुए। बिहार में वह प्रतिज्ञा-पत्र मेरे पास ही आया। उसपर हसन इमाम साहब ने हस्ताक्षर किये। मैंने तथा कुछ और लोगों ने भी।

छः अप्रैल की हड़ताल और सभाएं सारे देश में बड़ी सफलता और समारोह के साथ हुईं। दिल्ली में जो सभा हुई थी, वह बड़े मार्के की थी। हिन्दू-मुस्लिम एकता इतनी बढ़ गई कि दोनों ने साथ-ही-साथ सरकारी गोली खाई। जलूस के नेता स्वामी श्रद्धानन्दजी ने अपना सीना खोल दिया था कि सरकार अगर चाहे तो उन्हें गोली मार दे। मुसलमानों पर इतना असर पड़ा कि उन्होंने स्वामी श्रद्धानन्द को ले जाकर जुमा मसजिद में उनका भाषण करवाया। वहांपर जो छोटा-मोटा बलवा हो गया, उसे शान्त करने के लिए गांधीजी दिल्ली के लिए रवाना हुए। मगर रास्ते में ही, दिल्ली के नजदीक 'पलवल' स्टेशन पर, सरकारी हुक्म से, रेल से उतार दिये गये और एक अनजान स्थान को भेज दिये गये। श्री महादेवभाई देसाई उनके साथ थे, जो वहां से अकेले बम्बई की ओर वापस हुए। रास्ते से उन्होंने मेरे पास तार भेजा कि गांधीजी गिरफ्तार होकर अनजान स्थान को भेज दिये गये हैं और मुझे तुरत बम्बई पहुंचकर उनसे (महादेवभाई से) मिलना चाहिए। तार पाते ही मैं बम्बई के लिए रवाना हो

गया। रास्ते ही में जो अखबार मिले, उनसे मालूम हुआ कि कई स्थानों में इस खबर के पहुंचते ही बलवा शुरू हो गया है, जिनमें पजांब के कई शहर, अहमदाबाद और बम्बई थे। मैं जब दो दिनों के बाद बम्बई पहुंचा तो वहां उस समय तक शान्ति हो गई थी। गांधीजी पलवल से बम्बई ले जाये गये। वहां ले जाकर छोड़ दिये गये। गांधीजी के बम्बई पहुंच जाने से बलवा जोर न पकड़ सका, शीघ्र ही शान्त हो गया। पर अहमदाबाद में खराब खबर मिली थी। गांधीजी वहां के लिए रवाना हो चुके थे। महादेवभाई भी बम्बई पहुंचकर उनके साथ हो लिये थे। जब मैं पहुंचा तो मैंने सुना कि वे दोनों अहमदाबाद चले गये हैं। मैं भी उसी दिन संध्या की गाड़ी से अहमदाबाद के लिए रवाना हुआ। जब दूसरे दिन सवेरे स्टेशन से बाहर निकला तो देखा कि गोरे सिपाहियों का पहरा पड़ रहा है और शहर में जंगी कानून जारी है। किसी तरह साबरमती-आश्रम में एक टांगे पर पहुंचा। वहां भी गांधीजी के पहुंचने से लोगों में शान्ति हो गई थी। बलवा-फसाद कम हो गया था। जंगी कानून भी मेरे पहुंचने के कुछ ही घंटों के अन्दर उठा लिया गया, या शायद पहले ही उठा लिया जा चुका था। वहां शान्ति कायम रखने का प्रबन्ध करके गांधीजी उसी दिन या दूसरे दिन रात की गाड़ी से बम्बई के लिए रवाना हुए। मैं भी साथ था।

इसी बीच पंजाब से बलवा हो जाने की खबरें आती रहीं, जिससे गांधीजी बहुत सोच में पड़ गये। जलियांवाला बाग का हत्याकांड इसी बीच में हो चुका था। कुछ थोड़ी खबर मिली थी, पर पूरा हाल कुछ महीनों तक ठीक-ठीक न मिला। इतना अवश्य मालूम हो गया कि पंजाब की स्थिति बहुत भयंकर हो गई है। गांधीजी सोचने लगे कि ऐसी अवस्था में सत्याग्रह चलाना ठीक न होगा। उन्होंने उस रात को अहमदाबाद और बम्बई के रास्ते में रेलगाड़ी में ही अपना वह वक्तव्य लिखा, जिसमें उन्होंने लोगों में अहिंसा के अभाव के कारण सत्याग्रह स्थगित करने का विचार प्रकट किया। हम लोगों ने उसे रेल में ही पढ़ लिया। बम्बई पहुंचने पर वह अखबारों में प्रकाशन के लिए दे दिया गया।

बम्बई में कुछ देर तक मैं ठहर गया। वहां अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन में, जो उन्हीं दिनों वहां हो रहा था, शामिल हुआ। उसके बाद मैं पटने चला आया। सत्याग्रह स्थगित हो जाने पर फिर मैं अपनी वकालत में लग गया।

: २६ :

पंजाब-हत्याकांड, खिलाफत और असहयोग

सत्याग्रह बन्द तो हो गया, पर देश में असन्तोष बढ़ता ही गया। उधर पंजाब में जंगी कानून के नाम पर जुल्म-ज्यादतियां हुईं। जनता की बेइज्जतियां की गईं। हजारों आदमियों को कड़ी-कड़ी सजाएं मिलीं। सबकी खबर कुछ-कुछ बाहर आती गई; पर पूरी खबर किसी को न मिलती थी। आपस का मेल इतना था कि हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख सब बातों में पूरी तरह शरीक होते थे। साथ ही गोलियां खाते, लाठियां सहते, पानी पीते, जमीन पर रेंगते अथवा हवाई जहाज के गोलों के शिकार बनते। इस हत्याकांड का पूरा वर्णन यहां नहीं दिया जा सकता। उसको तो कांग्रेस द्वारा नियुक्त कमिटी की रिपोर्ट में ही पढ़ना चाहिए। बहादुर पंजाबियों पर होनेवाले जुल्मों की खबरें पंजाब से बाहर नहीं आ पानी थीं। न कोई पंजाब जाने पाना था, न कोई वहां से बाहन आने पाता था, और न वहां तार या चिट्ठियां ही जा पाती थीं। जब जंगी कानून उठा लिया गया तब सब बातें मालूम हुईं। देश में भयंकर रोषाग्नि पैदा हुई।

उस साल कांग्रेस का अधिवेश अमृतसर में होनेवाले था, जहां जलियांवाला बाग में हत्याकांड हो चुका था। सारा पंजाब जंगी कानून से बहुत ही परेशान किया जा चुका था। भय होने लगा कि शायद वहां की जनता कांग्रेस का आयोजन न कर सके। पर निश्चय हुआ कि चाहे जिस तरह हो, कांग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में ही होना चाहिए। वैसा ही हुआ भी। पंडित मोतीलाल नेहरू सभापति चुने गये। मैं इस कांग्रेस में शरीक नहीं हुआ। कांग्रेस दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में हुआ करती थी और दूसरी जनवरी से ही बाबू हरिजी का मुकदमा खुलनेवाला था। उन्होंने मुझे रोक लिया। पंडितजी भी उस मुकदमें में काम करनेवाले थे; पर वह कुछ देर करके--कई दिनों के बाद--पहुंचे। तबतक श्री नृपेन्द्रनाथ सरकार (सर एन० एन० सरकार) ने ही कई दूसरे वकीलों और बैरिस्टरों के साथ काम शुरू कर दिया था। १६२० की जनवरी से अक्तूबर तक मैं आरा में उसी मुकदमे के लिए रहा। कभी-कभी एक-दो दिनों के लिए छुट्टी मिलने पर पटने आ जाया करता था--विशेष

करके अपने बड़े लड़के मृत्युन्जय को देखने के लिए, क्योंकि उसको उस समय काला आजार की बीमारी हो गई थी और उसकी चिकित्सा पटने में हो रही थी। कभी-कभी किसी मवक्किल के काम से भी आ जाता। पर प्रायः इन दस महीनों का समय बरमा के मुकदमे में ही लगा।

गवर्नमेण्ट ने पंजाब में जंगी कानून उठ जाने के बाद, एक कमिटी मुकर्रर कर दी थी, जिसके जिम्मे वहां की घटनाओं के सम्बन्ध में जांच करने का काम दिया गया था। लार्ड हण्टर, जो विलायत के एक जज थे, इसके सभापति बनाये गये थे। कांग्रेस की ओर से पहले इस कमिटी के सामने अत्याचार-सम्बन्धी गवाही पेश करने का निश्चय हुआ था। कुछ दिनों तक यह काम हुआ भी। पर कुछ मतभेद हो जाने पर कांग्रेस इस जांच से हट गई। उसने अपनी एक अलग कमिटी बना दी, जिसको वही काम सौंप दिया, जो गवर्नमेण्ट की ओर से हण्टर-कमिटी कर रही थी। हण्टर-कमिटी के सामने जब बातें आने लगीं और सब अखबारों में छपने लगीं तब पहले-पहल इसका पता चला कि पंजाब में कितना जुल्म हुआ है। पंजाब में हुए अत्याचारों की खबरें बाहर जिस अनुपात में फैलीं, देश में उसी मात्रा में रोष भी बढ़ता गया। कांग्रेस कमिटी की जांच भी प्रायः उसी समय हुई। इसके लिए गांधीजी, देशबन्धु दास, श्री जयकर, श्री अब्बास तैयबजी प्रभृति पंजाब के गांवों और जिलों में खूब चक्कर लगाते फिरे। दोनों कमिटियों की रिपोर्टें १९२० में प्रकाशित हुईं।

उधर तुर्की के साथ अंगरेजी के व्यवहार से मुसलमानों में खास खलबली मची हुई थी। अमृतसर-कांग्रेस के समय ही मौलाना शौकतअली, मौलाना मुहम्मदअली, मौलाना अबुलकलाम आजाद प्रभृति मुसलमान नेता--जो लड़ाई के कारण नजरबन्द थे--छोड़ दिये गये थे। इन लोगों ने खिलाफत-सम्बन्धी संगठन और आन्दोलन के लिए खिलाफत-कमिटियां सारे देश में स्थापित कीं। मुसलमान इतने रूष्ट थे कि वे चाहते थे, सरकार के खिलाफ कुछ किया जाय; पर यह निश्चय नहीं कर पाते थे क्या और किस तरह किया जाय। इधर पंजाब के हत्याकांड से दूसरों में भी रोष था। रौलट कानून को भी लोग भूले नहीं थे। इन सभी के मिल जाने से देश में एक भयंकर स्थिति उत्पन्न हो गई थी। खिलाफत-कमिटियां और कांग्रेस-कमिटियां एक दूसरे के निकटतर आती जा रही थीं। बहुतेरे हिन्दुओं ने भी खिलाफत-कमिटियों की मेम्बरी स्वीकार की और पैसे से भी उनकी मदद की। उधर मुसलमान भी बड़ी संख्या-

में कांग्रेस में शरीक होने लगे । जब हण्टर-कमिटी और कांग्रेस-कमिटी की रिपोर्टें निकलीं तब अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी की एक बैठक बनारस में उन पर विचार करने के लिए हुई । मैं भी मेम्बर की हैसियत से उसमें शरीक हुआ ।

गांधीजी का अली-बन्धुओं से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया । खिलाफत-कमिटी में वह शरीक हुआ करते थे । बनारस की सभा के थोड़े ही पहले, प्रयाग में खिलाफत-कमिटी की बैठक में, उन्होंने अहिंसात्मक असहयोग का कार्य-क्रम पहले-पहल १९२० के अप्रैल में पेश किया । खिलाफत-कमिटी ने उसे मंजूर किया और निश्चय किया कि उसे वह काम में लायेगी । साथ ही, मौलाना लोगों ने भी धार्मिक रीति से इसका जोरों से समर्थन किया और एक फतवा निकाला, जिसके द्वारा सरकार के साथ किसी प्रकार के सहयोग को हराम करार दिया । बनारस में कांग्रेस-कमिटी ने निश्चय किया कि सारी बातों पर विचार करके देश को क्या करना चाहिए, इसका निर्णय करने के लिए कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन किया जाय । उस अधिवेशन का कलकत्ते में होना तय हुआ । लाला लाजपतरायजी, जो बहुत दिनों के बाद हाल ही विदेश से वापस आये थे, सभापति चुने गये । सारे देश में असहयोग की चर्चा होने लगी । गांधीजी कुछ दौरा भी करते और कुछ लिखते भी । यह तैयारी हो ही रही थी कि १ अगस्त (१९२०) को लोकमान्य तिलक का देहावसान हो गया ।

मौलाना शौकतअली अप्रैल १९२० में ही पटने आये थे, जब एक बड़ी सभा हुई । उस दिन पटने में रहने के कारण मैं भी इस सभा में शरीक हो गया । गांधीजी की राय और कार्रवाइयों से मैं परिचित था ही । आरा में पंडित मोतीलाला नेहरू और देशबन्धु दास दोनों ही डुमरांव-राज्य और हरिजी और 'बरमावाले' मुकदमे में दोनों ओर से काम कर रहे थे । मैं पंडितजी के साथ काम तो कर ही रहा था, उनसे राजनैतिक स्थिति के सम्बन्ध में भी बातें हुआ करतीं । वह कभी-कभी देशबन्धु से भी बातें करते । इसलिए मैं सब बातों से अवगत था । जब पटने में मौलाना शौकतअली ने असहयोग का कार्यक्रम बताया, लोगों से पूछा कि लोग इसके लिए कहांतक तैयार हैं और मुझे इस सम्बन्ध में कुछ कहने के लिए कहा गया, तो मैंने उसी सभा में पहले-पहल असहयोग में शरीक होने का वचन दे दिया । अभी तक कांग्रेस ने कुछ फैसला नहीं किया था और न ही कार्यक्रम ही पूरी तरह से निश्चित था; पर मैंने कह दिया कि देश अगर असहयोग करने का निश्चिय करेगा और इस

निश्चय के अनुसार जब असहयोग आरम्भ किया जायगा, तो मैं भी पीछे नहीं रहूंगा। उस समय तक यह जाहिर हो चुका था कि असहयोग में वकालत छोड़नी पड़ेगी और कौन्सिलों में नहीं जाना होगा। मैं वकील तो था ही। मेरी इच्छा यह भी थी कि १९२० के नवम्बर में, नये माण्टेगूचेम्सफोर्ड विधान के अनुसार होनेवाले चुनाव में, चम्पारन से प्रान्तीय कौन्सिल के लिए उम्मीदवार खड़ा होऊं। इस विचार के अनुसार मैं चम्पारन में एक-दो बार कुछ जगहों का दौरा भी कर चुका था। एक जगह तो मजहरूल हक साहब मेरी उम्मीदवारी के समर्थन में जा भी चुके थे। असहयोग आरम्भ होने पर दोनों ही छोड़ना पड़ेगा! मैंने उस सभा में यह घोषणा करके बता दिया कि मैं दोनों ही छोडूंगा। मौलाना शौकतअली से मेरी पहले की मुलाकात नहीं थी; पर शायद गांधीजी ने उनसे मेरे सम्बन्ध में कुछ कहा था। सभा समाप्त होते ही मैं चला आया। वहां उनसे मुलाकात नहीं हुई। पर उन्होंने मेरी तलाश की थी। जब वह रवाना होनेवाले थे, मैं स्टेशन पर गया। वहीं उनसे पहले-पहल बातें हुईं। सभा की बात और गांधीजी की कही हुई बातें उनको याद थीं। इसलिए उन्होंने बहुत प्रेम-पूर्वक बातें कीं। मेरा उत्साह भी बढ़ाया। इस तरह मेरे लिए असहयोग का सूत्रपात अचानक इस सभा में हुआ, जहां मैं उस दिन पटने में इत्तफाक से आने के कारण जा सका था।

कांग्रेस का विशेष अधिवेशन सितम्बर में होनेवाला था। बिहार-प्रान्तीय राजनैतिक सम्मेलन भी अगस्त में होनेवाला था। असहयोग की बातें जोरों से चल रही थीं। बिहार में यह प्रश्न उठा कि प्रान्तीय सम्मेलन का सभापति कौन बनाया जाय। लोगों ने मुझे ही चुना। मैं असहयोग का पक्षपाती था; पर यह नहीं कह सकता था कि प्रान्त के लोग इसे मंजूर करेंगे या नहीं। अगर मंजूर करेंगे भी, तो समय आने पर कितने इसमें शरीक होंगे। इसलिए मैंने श्री सच्चिदानन्द सिनहा से पूछा कि ऐसी स्थिति में क्या यह मेरे लिए उचित होगा कि मैं अपनी राय सभापति के भाषण में खोलकर कहूं और यदि सम्मेलन मेरी बात स्वीकार न करे तो एक संकट उपस्थित कर दूं। उन्होंने कहा कि मुझे पूरा अधिकार है कि मैं अपनी राय दे दूं और सम्मेलन को भी अधिकार है कि उसे वह स्वीकार करे या न करे; इसलिए मेरे सभापतित्व स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है।

मैं आरा में मुकदमे में फंसा हुआ था। वहां मैंने अपना भाषण हिन्दी में लिखना

शुरू किया। प्रान्तीय सम्मेलन-जैसी सभा या संस्था में उन दिनों हिन्दी में भाषण नहीं हुआ करते थे; प्रायः अंगरेजी में ही सब कार्रवाई हुआ करती थी। एक ओर मुकदमे की भीड़, दूसरी ओर सम्मेलन का भाषण लिखना और स्थिति की चिन्ता, सब मिल-मिलाकर मैं ज्वर-ग्रस्त हो गया। भय होने लगा कि प्रान्तीय सम्मेलन के लिए मैं भागलपुर न जा सकूंगा। पर समय आते-आते इतना अच्छा हो गया कि किसी तरह अपने लिखे भाषण के साथ यथासमय भागलपुर पहुंच गया। वहां सम्मेलन में भाग ले सका। पर सम्मेलन के सम्मुख उपस्थित कठिन समस्या ऐसी थी कि वह किसी भी काम करनेवाले को डरा सकती थी। मेरा अपना विचार साफ और दृढ़ था कि असहयोग आवश्यक हो गया है। पर मैं यह जानता था कि सूबे के सभी पुराने और अनुभवी राजनीतिज्ञ नेता उसके विरोधी थे। यद्यपि रौलट-बिल-विरोधी आन्दोलन के समय से ही सभाओं में जनता बहुत बड़ी संख्या में आया करती थी, पर यह कहना कठिन था कि वह असहयोग में कहांतक साथ देगी। सम्मेलन में बड़े-बड़े नेताओं में से बहुतेरे गये भी नहीं। इसलिए यदि सम्मेलन मेरे कहने से असहयोग की नीति स्वीकर कर ले, तो इसका अर्थ यह होगा कि उसको कार्यन्वित करने का भार अधिकतर हम लोगों के ही ऊपर पड़ेगा--हम कहांतक इसे निबाह सकेंगे ? इस तरह के अनेकानेक प्रश्न दिल को दहला देते थे। पर मैं जानता था कि नये लोग अधिकांश में मेरे साथ थे।

बाबू व्रजकिशोरप्रसाद, बाबू धरणीधर प्रभृति जोरों से असहयोग का समर्थन कर रहे थे। इनके अतिरिक्त मुसलमान तो प्रायः बड़ी उमंग से इसमें आनेवाले थे। मजहरूल हक साहब के अलावा शाह मुहम्मद जुबैर मौलवी मुहम्मद शफी, मौलाना नूरूलहसन प्रभृति भी साथ देनेवाले थे ही। पर मुसलमानों में भी हसन इमाम साहब, नवाब सर फराज हुसेन खां प्रभृति--जो बराबर सार्वजनिक कामों में भाग लिया करते थे--विरोधियों में ही थे। एक ओर अधिक अनुभव तथा बहुत दिनों की सार्वजनिक सेवा थी तो दूसरी ओर उत्साह, देश की परिस्थिति से उत्पन्न असह्य बेचैनी और आग में कूदने की तत्परता थी। ईश्वर का नाम लेकर मैंने इस सेवा को उठाया और खुलकर असहयोग का समर्थन किया।

सम्मेलन ने मेरी बात मान ली, बहुत बड़े बहुमत से असहयोग के सिद्धान्त का समर्थन किया और बिहार की स्थिति पर ध्यान रखते हुए कार्यक्रम बनाने के लिए एक

कमिटी बना दी। वहां पर बाबू ब्रजकिशोरप्रसादजी ही नेता थे। उनकी यह जबरदस्त राय थी कि यह असहयोग, खिलाफत-सम्बन्धी अन्याय को दूर और पंजाब-हत्याकांड-सम्बन्धी कांग्रेस की मांगों को पूरा कराने के अलावा स्वराज्य के लिए भी किया जाय। उस समय तक जितनी सभाएं होती थीं अथवा जो लेख पत्रों में लिखे जाते थे उनमें खिलाफत और पंजाब-हत्याकांड ही असहयोग के कारण बताये जाते थे। बाबू ब्रजकिशोर उसमें 'स्वराज' को जोड़ करके (जबतक स्वराज प्राप्त न हो) उसे एक प्रकार से स्थायित्व देना चाहते थे। ऐसा ही हुआ भी। गुजरात में प्रान्तीय (राजनैतिक) सम्मेलन हुआ और वहां भागलपुर-सम्मेलन के दो-चार दिन पहले ही असहयोग का समर्थन हुआ। जहांतक मुझे याद है, बिहार और गुजरात ही दो प्रान्त थे, जिनके प्रान्तीय सम्मेलनों में कलकत्ते के कांग्रेस से विशेष अधिवेशन के पहले असहयोग का समर्थन किया था। भागलपुर-सम्मेलन के अवसर पर गांधीजी ने तार दिया था कि सम्मेलन असहयोग का समर्थन करे।

कलकत्ता-कांग्रेस में मैं नहीं जा सका था। देशबन्धु दास और पंडित मोतीलालजी गये थे। पर ठीक उसी समय श्री एन० एन० सरकार हम लोगों की ओर से बहस कर रहे थे और उनकी सहायता के लिए मेरा आरा में रहना आवश्यक था। कांग्रेस बड़े समारोह से हुई। पंडितजी ने अन्त में असहयोग का समर्थन किया था और वह बहुत बड़े बहुमत से स्वीकृत हुआ था। वहां खिलाफत और पंजाब-हत्याकाण्ड के अलावा स्वराज्य को भी असहयोग का कारण बताया गया था।

इन्हीं दिनों बेतिया में बिहार-प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। सुरूजपुरा (सूर्यपुरा) के राजा राधिकारमणप्रसाद सिंहजी, जो उन दिनों हिन्दी के एक होनहार प्रभावशाली गद्य-लेखक थे, सभापति हुए। उन्होंने जो भाषण वहां किया था, वह इतना मनोहर और सुन्दर था तथा उसमें भाषा और भाव दोनों का ऐसा अच्छा सम्मिश्रण था कि उसका असर मेरे दिल पर आज तक है। बेतिया में ही मुझे मलेरिया ने पकड़ लिया। छपरे में पहुंचकर मैं बहुत बीमार पड़ गया।

कलकत्ता-कांग्रेस के कुछ ही दिनों के बाद बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी की एक बैठक हुई, जिसमें असहयोग-सम्बन्धी प्रस्ताव को कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में विचार हुआ। असहयोग-सम्बन्धी प्रस्ताव के पास हो जाने पर मेरे सामने अब वकालत छोड़ देने का प्रश्न वास्तविक रूप से उठ खड़ा हुआ। मैं तथा पंडितजी

जिस मुकदमे में काम कर रहे थे, वह भी प्रायः समाप्त हो रहा था--थोड़े ही दिनों के बाद समाप्त हो गया। उससे उस समय तो फुरसत मिल गई, पर वह मुकदमा वहीं तक रहनेवाला नहीं था। उसकी अपील हाइकोर्ट और प्रिवी कौंसिल तक जरूर जानेवाली थी, चाहे जो भी हारे। बाबू हरिजी चाहते थे कि मैं कम-से-कम उनके इस मुकदमे में, जब जरूरत पड़े, उनका काम कर दिया करूं। उसमें मैंने काफी दिनों तक काम किया था और उनसे रूपये भी मिले थे, अतः मैं उनके अनुरोध को टाल न सका। पर उसी समय यह निश्चय कर लिया कि इसके अलावा नये मुकदमे हाथ में न लूंगा। हां, जो पुराने मुकदमे हाथ में थे--विशेष करके जिनके लिए कुछ रूपये ले लिये थे--उनके सम्बन्ध में अभी कुछ निश्चय नहीं कर पाया था।

भाई से मैंने कोई राय नहीं ली। पर वह समझ गये थे कि अब मैं वकालत छोड़ दूंगा। उनको आशा थी कि मैं कुछ पैसे पैदा करके घर की स्थिति, जो बहुत अच्छी नहीं थी, कुछ उन्नत करूंगा। पर उन्होंने मेरे निश्चय के सम्बन्ध में उस समय कुछ भी नहीं कहा। बहुतेरे दूसरे लोगों ने भी वकालत छोड़ी। साधारणतः लोग समझते थे कि एक बरस के बाद सब अपने-अपने काम पर वापस आ सकेंगे। इस विचार से लोगों को और भी एक प्रकार का ढाढ़स बना रहा। जबसे भागलपुर-क्राफ्रेंस में, और उसके बाद कलकत्ता-कांग्रेस में, असहयोग के कारणों में स्वराज्य की बात भी जोड़ दी गई थी, तबसे मैंने समझ लिया था कि अब असहयोग लम्बा चलेगा; क्योंकि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट स्वराज्य पर जल्दी राजी होनेवाली नहीं है। महात्माजी कहा करते थे कि यदि खिलाफत और पंजाब के सम्बन्ध में गवर्नमेण्ट हमारी मांगें मान लेने पर मजबूर की जा सकेगी, तो वही स्वराज्य का सूचक हो जायगा, और इसलिए उन्होंने पहले स्वराज्य की बात प्रस्ताव में नहीं रखी थी। इसलिए उनकी नजर में आन्दोलन की अवधि या विकटता 'स्वराज्य' जोड़ देने से बढ़ी नहीं।

बम्बई से लौटने के बाद, मेरे ही घर पर पटने में, कुछ ऐसे मित्रों की सभा हुई, जो असहयोग कर रहे थे। वहांपर वकालत छोड़ने की बात हुई। मैंने कहा कि जो मुकदमे हाथ में हैं, उनके सम्बन्ध में दिक्कत हो सकती है; क्योंकि हम मवक्किल से वचन-बद्ध हो चुके हैं, और विशेषकर जहां पैसे ले चुके हैं वहां तो हम छोड़ ही नहीं सकते। कुछ भाइयों ने इसे एक प्रकार से वकालत जारी रखने के लिए बहाना समझा। मैंने यह केवल अपने लिए नहीं कहा था; पर उन्होंने समझा कि मैं अपने

ही बारे में यह सुविधा दूसरों के नाम पर लेना चाहता हूं। बात तो यह थी कि एक बरस आरा चले जाने के कारण हाइकोर्ट से मैं प्रायः गैर-हाजिर रहा था। इसलिए इतने दिनों में बहुत-से पहले के मुकदमे खतम हो चुके थे और नये तो हाथ में आये ही नहीं थे। इसी तरह मेरे हाथ में जितने मुकदमे रहा करते थे, उनकी संख्या बहुत कम हो गई थी, तो भी चूंकि उनकी संख्या बहुत रहा करती थी, इसलिए घटने पर भी वह काफी थी। मैं अपनी बात पर अड़ा रहा; पर वास्तव में उस बरमा (**Burma**) के मुकदमे के सिवा और किसी मुकदमे में मेरे हाईकोर्ट जाने की नौबत नहीं आई। या तो मवक्किल ने मुझे छोड़ दिया, या मैंने अगर रूपये ले लिये थे तो वापस करके छुट्टी ले ली, या किसी दूसरे मित्र को अपनी जगह पर काम करने को कह दिया, जिसपर मवक्किल भी राजी हो गया।

दूसरी बात सरकारी और सरकार से सम्बद्ध स्कूलों और कालेजों के बहिष्कार की थी। मेरा अनुभव बताता था कि इसमें बहुत सफलता नहीं मिलेगी। मैंने बंगाल-विच्छेद के समय कलकत्ते में उस आन्दोलन को अच्छी तरह देखा था, जो सरकारी स्कूलों के विरूद्ध चला था। वहां भी यह प्रयत्न हुआ था कि राष्ट्रीय विद्यालय खोला जाय। उस 'नैशनल कौन्सिल आफ एजुकेशन' को ऐसे-ऐसे व्यक्तियों की सहायता तथा सहानुभूति मिली थी, जो केवल राजनैतिक पुरूष ही नहीं थे। सर गुरूदास बनर्जी, जो हाइकार्ट की जजी से पेन्शन पा चुके थे और जो पहले कलकत्ता-यूनिवर्सिटी के वाइस-चान्सलर रह चुके थे, इसके बड़े पक्षपाती और सहायक थे। इसलिए उसे गवर्नमेण्ट के विरोध का भी विशेष भय नहीं था। कांग्रेस तथा आन्दोलन के प्रोग्राम में भी बाहिष्कार की बात नहीं थी। उसमें अच्छे-अच्छे कुछ उत्साही युवक, जिन्होंने यूनिवर्सिटी में बड़ा नाम पाया था, शरीक हुए थे। उनमें से विख्यात लेखक श्री विनयकुमार सरकार हैं, जिन्होंने एम० ए० की परीक्षा में स्वर्णपदक और सर्वप्रथम स्थान पाया था। इतने पर भी उनमें उतना उत्साह नहीं देखा गया; क्योंकि वहां से शिक्षा पाये हुए विद्यार्थियों को किसी प्रकार जीविका-निर्वाह का रास्ता नहीं मिलता था। इससे मैं डरता था कि यहां भी यदि हम इसपर जोर देंगे तो विद्यार्थियों में, और विशेष करके उनके अभिभावकों में, बहुत उत्साह नहीं आवेगा, और तब यह कार्यक्रम जोरों से चल नहीं सकेगा। मैंने बैठक में अपने इस विचार

को रखा था; पर कुछ भाइयों को मेरी बात नहीं जंची; क्योंकि वे समझते थे कि मैं बहुत डरपोक हूं और यों ही अपने सामने अनावश्यक भय खड़ा कर लेता हूं।

बात यह है कि हमारे देश में विद्या अर्थकारी है। जो पढ़ता है, उसे कुछ कमाना चाहिए। उसकी जिन्दगी ऐसी बन जाती है कि वह पुराने तरीके से रह नहीं सकता। उसके अपने रहन-सहन में भी अधिक खर्च पड़ने लगता है। घरवाले आधुनिक शिक्षा दिलाने में खर्च काफी करते हैं और आशा रखते हैं कि उस शिक्षा से वह उस पूंजी को अगर बढ़ा न सकेगा तो कम-से-कम कायम रख सकेगा। वह शिक्षा भी ऐसी हुआ करती है कि शिक्षा समाप्त होने के बाद सरकारी नौकरी या वकालत की तरह के पेशे को छोड़कर दूसरा कोई काम भी नहीं मिलता। आरम्भ में, जब ऐसी विद्याप्राप्ति किये हुए लोगों की संख्या कम थी, लोगों ने पैसे भी खूब कमाये थे। पर जैसे-जैसे अंगरेजी-शिक्षा का प्रचार बढ़ता गया, शिक्षितों की संख्या बढ़ती गई, पैसे कमाने का मौका कम होने लगा; क्योंकि इन नौकरियों और पेशों में जानेवालों की संख्या बढ़ने लगी, फलतः आपस की होड़ से कठिनाई भी बढ़ने लगी। इसलिए, यद्यपि सरकारी अंगरेजी-शिक्षा से भी उतनी आशा नहीं की जा सकती थी, तथपि राष्ट्रीय शिक्षा के मुकाबले अर्थकरी होने में वह अब भी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। इसलिए मेरा विचार था कि हम पहले कार्यक्रम के अनुसार लड़कों को स्कूल-कालेज छोड़ने के लिए कहें, और जब देखें कि उनकी संख्या काफी होती जा रही है तब अपनी ओर से विद्यालय इत्यादि का प्रबन्ध करें। मैं यह भी सोचता था कि विद्यालय खोल देने के बाद उसको चलाते रहना चाहिए। यदि हम ऐसा न कर सकेंगे तो इसका असर अच्छा न होगा। इसलिए मैं विद्यालय खोलने अथवा परीक्षा लेने के पक्ष में शुरू में नहीं था।

मैंने जो कुछ ऊपर कहा है, उसका यह अर्थ नहीं है कि मैं आधुनिक शिक्षा की त्रुटियों को नहीं समझता था। मैं समझ गया था कि आधुनिक शिक्षा बिलकुल निकम्मी है। विदेशी भाषा द्वारा दी जाने के कारण इसमें समय और शक्ति की बहुत बरबादी है। इससे वह स्वाभाविक मानसिक विकास नहीं हो पाता, जो अपनी भाषा द्वारा दी गई शिक्षा से होता है। स्पष्ट है कि जहां शब्दों के अर्थ स्मरण रखने में ही सारा समय लग जाता है, वहां उसके समझने और चिन्तन के लिए कैसे समय मिल सकता है। इसलिए, यदि और कुछ नहीं तो केवल इस एक ही दोष के कारण वह शिक्षा

सर्वथा अनिष्टकर है । विदेशी भाषा सीखने और जानने में दोष नहीं है । जानना अच्छा है । आज की दुनिया में, कम-से-कम किसी एक यूरोपीय भाषा का परिचय एक प्रकार से अनिवार्य-सा हो गया है । तो भी भाषा जान लेना और उससे अपना काम निकालना एक बात है, और विदेशी भाषा को सारी शिक्षा का माध्यम बनाना बिलकुल दूसरी बात है । हम उसे माध्यम बनाने के विरोधी हैं, सीखने के नहीं । मैं यह भी समझता था कि इस शिक्षा की नींव पड़ी थी अंगरेज हाकिमों की आवश्यकता की पूर्ति के कारण । वह आवश्यकता थी अंगरेजी पढ़े-लिखे देशी लोगों की, जिनका सहयोग वे अपना कारबार चलाने में अनिवार्य समझते थे । वे कुछ ऐसे हिन्दुस्तानियों को चाहते थे, जो रूप-रेखा में तो हिन्दुस्तानी हों, पर विचार और मानसिक वृत्ति में अंगरेज ही हों । उन्होंने यह भी चाहा था कि उनके दफ्तरों के काम चलाने के लिए ऐसे सस्ते हिन्दुस्तानी पैदा किये जायं, जो अंगरेजी सीखकर उनका सब काम अंगरेजी में ही कर दें । इस तरह, अंगरेजों को हिन्दुस्तान में भ्रमण करने तथा हिन्दुस्तानियों पर राज करने के लिए भी हिन्दुस्तानी भाषा से परिचित होने की आवश्यकता नहीं होगी । इसलिए शिक्षा की पद्धति भी कुछ ऐसी बनी थी कि विशेषतः उसी जरूरत के मुताबिक लोग तैयार किये जा सकें । हां, ऐसे तैयार होनेवालों में कुछ तो ऐसे जरूर निकल आवेंगे जो स्वतन्त्र रूप से कुछ विचार करने की शक्ति भी प्राप्त कर लेंगे और जो बिलकुल सरकार पर ही भरोसा न रखेंगे । ऐसे अगर कुछ निकलें तो निकलें; पर शिक्षा-पद्धति का मुख्य उद्देश्य दफ्तरी लोगों को तैयार करना ही था । ऐसा ही उसका फल भी हुआ । इसलिए मैं इस शिक्षा का पक्षपाती तो किसी तरह भी न था; पर राष्ट्रीय शिक्षा में जो दिक्कतें मैं देखता था, उनसे कुछ डरकर आहिस्ता-आहिस्ता कदम बढ़ाना चाहता था । सबसे ज्यादा मुझे इस बात की चिन्ता थी कि शुरू होकर किसी काम का शीघ्र ही बन्द हो जाना और किसी नतीजे तक न पहुंचना लोगों को हतोत्साह करेगा । इसलिए, यदि हम काम थोड़ा भी करें तो हर्ज नहीं, पर जो करें वह ठोस होना चाहिए ।

पहले कह चुका हूं कि हम लोग बिहार में पूना के फरगुसन-कालेज के ढंग का एक कालेज खोलने का विचार चम्पारन में ही कर रहे थे । कुछ रूपये भी जमा कर लिये थे । पर वह विचार स्थगित कर दिया गया था; क्योंकि गांधीजी ने कहा था कि सरकार से सम्बद्ध शिक्षालय खोलने से कोई फायदा नहीं है--यदि ऐसा करना ही

चाहते हो तो बिलकुल नई पद्धति से पढ़ानेवाली राष्ट्रीय संस्था खोलो । उनकी वह बात भी हम लोग भूले नहीं थे । इसलिए हृदय के अन्दर एक तरफ राष्ट्रीय शिक्षा के पक्ष में विचारों की धारा वह रही थी, दूसरी ओर कठिनाइयों की चट्टानों को देखकर मन में सन्देह हो रहा था । इसीलिए मैं कुछ ठहरकर यह देख लेना मुनासिब समझता था कि देश और विशेषकर विद्यार्थी-समुदाय असहयोग के मैदान में किस तरह आता है । कुछ भाइयों का विचार था कि असहयोग को सफल बनाने के लिए जबतक हम विद्यार्थियों के सामने कोई दूसरी शिक्षा-संस्था नहीं प्रस्तुत कर देंगे तबतक वे सरकारी विद्यालयों से हटाने--असहयोग कराने--के लिए राष्ट्रीय विद्यालय का होना आवश्यक है । मैं इस प्रकार प्रलोभन देकर असहयोग कराना पसन्द नहीं करता था । मैं चाहता था कि विद्यार्थियों को देश के नाम पर और सरकारी शिक्षा की त्रुटियों को बताकर हटाना अच्छा होगा । जब वे इस तरह सबकुछ समझ-बूझकर असहयोग करेंगे तभी उनका असहयोग टिकाऊ हो सकेगा । अगर वे यह समझकर असहयोग करेंगे कि वहां भी उनको नौकरी दिलानेवाली शिक्षा मिलेगी और इस तरह उन्हें कोई नुकसान नहीं उठाना पड़ेगा, तो उनका निश्चय टिकाऊ न होगा । हमारे विद्यालय में आकर जब वे यह देखेंगे कि उनको उतनी सुविधा नहीं है जितनी सरकारी विद्यालयों में थी, तो वे हताश होकर फिर वापस चले जायेंगे । मैं चाहता था कि केवल ऐसे ही लोग आयें, जो यह समझ लें कि यह रास्ता कंटकाकीर्ण है--इसमें कष्ट है और उसे झेलने के ही लिए हम जा रहे हैं, न कि उन कुछ सुविधाओं के लिए जो सहयोग करनेवालों को प्राप्त हैं ।

यह सब बहस चल ही रही थी और हम लोग सोच ही रहे थे कि मजहरूल हक साहब ने एक राष्ट्रीय स्कूल खोल दिया, जिसके प्रधान अध्यापक हुए लाट बाबू (श्रीरामकिशोरलाल नन्दक्युलियार), जो हाल ही में विलायत से एम० ए० और बैरिस्ट्री पास करके लौटे थे । दिसम्बर के आरम्भ में गांधीजी, मौलाना मुहम्मद अली और मौलाना आजाद के साथ दौरे पर निकले । वह बिहार में भी आये । उन्होंने काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय और अलीगढ़-मुस्लिम-विश्वविद्यालय पर भी चढ़ाई की थी । थोड़ी सफलता भी मिली थी, पर पूरी नहीं । उसी चढ़ाई के फलस्वरूप काशी-विद्यापीठ और जामे-मिल्लिया (दिल्ली) का जन्म हुआ था । बिहार में उन लोगों के आने से बड़ा उत्साह उमड़ा । बिहार के विद्यार्थी भी उस लहर में बह चले ।

: ३० :

पटना-विश्वविद्यालय से असहयोग

सरकारी शिक्षा से असहयोग का अर्थ था किसी भी शिक्षा-सम्बन्धी संस्था से सम्बन्ध न रखना । मैं पटना-यूनिवर्सिटी के सिनेट और सिण्डिकेट का मेम्बर था । यूनिवर्सिटी के कामों में काफी दिलचस्पी भी लिया करता था । यूनिवर्सिटी ने एक कमिटी मुकर्रर की थी । कलकत्ता-यूनिवर्सिटी की स्थिति पर विचार करने के लिए नियुक्त सेडलर-कमिटी की रिपोर्ट पर विचार करके पटना-यूनिवर्सिटी में आवश्यक सुधार की सिफरिश करने का भार उस कमिटी को दिया गया था । मैं भी उस कमिटी का एक सदस्य था । उसमें मैंने काफी परिश्रम किया था । मेरा विशेष प्रयत्न यह था कि यूनिवर्सिटी कम-से-कम मैट्रिकुलेशन की परीक्षा तक के लिए मातृभाषा को ही शिक्षा का माध्यम मान ले । इसपर कमिटी के अन्दर काफी वाद-विवाद रहा । यह प्रश्न सिनेट के सामने आनेवाला था । सिनेट की बैठक नवम्बर के महीने में होनेवाली थी । मैंने यह सोचा कि इस प्रस्ताव को यदि मैं सिनेट में स्वीकार करा सकूंगा तो यह भी राष्ट्रीय शिक्षा का ही एक काम होगा । इसलिए मैंने मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि यद्यपि असहयोगी होने का निश्चय कर लिया है तथापि मैं सिनेट की बैठक तक सिनेट और सिण्डिकेट से नहीं हटूंगा । मैं जानता था कि सिनेट में इसके विरूद्ध प्रान्त के बड़े-बड़े लोग थे । अभी तक लोगों के मन में अंगरेजी भाषा के लिए यह मोह था कि बचपन से ही अगर वह नहीं पढ़ी जायगी तो इसका पूरा ज्ञान नहीं हो सकेगा और हमारे युवक संसार की होड़ में पीछे रह जायेंगे । यद्यपि सेडलर-कमिटी ने भी मातृभाषा द्वारा शिक्षा देने पर जोर दिया था तथापि हमारे अपने देश के लोग इसके विरोधी थे ।

सिनेट के सामने, प्रस्ताव के समर्थन में, मैंने एक बहुत जबरदस्त भाषण किया, जिसमें दलीलों के अतिरिक्त भावुकता की मात्रा भी काफी थी । जहांतक मैं समझ सका, उसका असर लोगों पर काफी पड़ा । हमारे विरोधियों में मिस्टर सुलतान अहमद, मिस्टर खाजा मुहम्मद नूर, जस्टिस ज्वालाप्रसाद, प्रोफेसर यदुनाथ सरकार प्रभृति थे । कुछ ने अपने भाषणों से विरोध किया, कुछ चुप रहे; पर सम्मति

विरोध में दी । हमारे समर्थक दो अंगरेज निकले प्रोफेसर हामिल्टन और प्रोफेसर ड्यूक । इनसे मैंने कुछ कहा नहीं था और न इनसे इस विषय में कभी विचार-विनियम ही हुआ था । पर दोनों ने, केवल शिक्षा की उपयोगिता की दृष्टि से, मेरे प्रस्ताव का जोरों से समर्थन किया । प्रस्ताव बहुमत से स्वीकृत हुआ । सिनेट की यह सिफारिश हुई कि यूनिवर्सिटी के नियमों में ऐसा परिवर्तन किया जाय, जिससे मैट्रिक-परिक्षा तक की शिक्षा मातृभाषा द्वारा दी जा सके । इस प्रस्ताव को पास कराकर मैं बहुत खुश हुआ । किन्तु सिनेट की बैठक समाप्त होते ही मैंने सिनेट और सिण्डीकेट से इस्तीफा दे दिया ।

उन दिनों 'सर हविलैंड लिमेजरर' गवर्नर की कौन्सिल के एक मेम्बर थे । वह सिनेट के भी मेम्बर थे । सुना कि उनको मेरे इस्तीफा देने से रंज हुआ; क्योंकि वह जानते थे कि मैं यूनिवर्सिटी में अच्छा काम कर रहा था । मुझे किसी तरह यूनिवर्सिटी से असहयोग ना करने देने के लिए ही, उन्हीं की अनुमति से, बहुत-से सरकारी लोगों ने मेरे उस प्रस्ताव के पक्ष में सम्मति देकर उसे पास कराया था । यह बात मुझे इस्तीफा भेजने के बाद मालूम हुई । मुझपर जोर भी डाला गया कि मैं इस्तीफा वापस ले लूं, पर मैंने वैसा नहीं किया । मैंने सोचा कि एक ओर राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार करना--सरकारी शिक्षा के दोष बताना और विद्यार्थियों को सरकारी विद्यालयों से निकल आने को प्रोत्साहित करना, और दूसरी ओर सरकारी शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले सर्वोच्च संस्था (यूनिवर्सिटी) में बने रहना परस्पर-विरोधी बातें हैं । यह बिलकुल गलत रास्ता होगा । इसलिए मैं इस्तीफा वापस लेने पर राजी नहीं हुआ ।

अगर मैं युनिवर्सिटी में रह गया होता तो जिस प्रस्ताव को इतने परिश्रम से मैंने सिनेट में पास कराया था, उसको कार्यान्वित करने में भी शायद सफल होता । निश्चित रूप से कुछ भी आज कहना सम्भव नहीं है; पर यह दुःख की बात है कि सिनेट के निश्चय के बाद भी उसके अनुसार काम नहीं किया गया । अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा प्रायः बीस बरसों तक बनी रही । हाल में मैट्रिक तक के लिए, अंगरेजी और हिसाब छोड़कर, और विषयों की शिक्षा और परीक्षा का माध्यम मातृभाषा बनी है । इन बीस बरसों में देश की स्थिति में कितना अन्तर हो गया है, यह वही जानता है जिसने बीस बरसों के पूर्व सार्वजनिक हित के कार्यों में भाग लिया हो और जो आज भी लेता हो । युनिवर्सिटी भी आखिर इस आवश्यक सुधार को ज्यादा दिन न रोक सकी । बीस बरसों के बाद उसने भी इसे स्वीकार कर ही लिया है ।

: ३१ :

बिहार विद्यापीठ और सदाकत आश्रम

कलकत्ते में असहयोग का प्रस्ताव पास होने के बाद ही मैं कौन्सिल की अपनी उम्मीदवारी से हट गया । चुनाव नवम्बर के महीने में ही होनेवाला था । इसलिए सबसे पहले इसी कार्यक्रम पर जोर देना जरूरी समझा गया । हम लोगों ने बिहार में बहुत परचे छपवाये । उसमें जनता से अपील की गई थी कि जो लोग इस चुनाव में खड़े हो रहे हैं, उनको कोई भी वोट न दे । कुछ लोग दौरे पर भी निकले । जगह-जगह सभाएं करके लोगों को वही बात बताई गई । मैंने भी कुछ दौरा किया । स्मरण है कि कार्तिक-पूर्णिमा के मेले के अवसर पर मैं 'दरौली' (जिला सारन) गया था । वहां सभा हुई थी, जिसमें मैंने भाषण किया था । हम लोगों की इच्छा और कोशिश थी कि कोई उम्मीदवार ही न खड़ा हो; पर इसमें हम सफल नहीं हुए । सभी स्थानों के लिए उम्मीदवार खड़े हो गये । कुछ तो बिना विरोध चुने गये; पर जहां वोट देने का मौका मिला, वहां जनता ने बहुत कम संख्या में वोट दिया । मेरा ख्याल है कि बिहार में शायद प्रतिशत बीस-पच्चीस से अधिक वोटरों ने वोट नहीं दिया था ।

जब महात्माजी दिसम्बर में बिहार के दौरे पर आये, प्रायः उसके थोड़े ही दिन पहले, एक घटना बिहार में हुई थी, जिसका जिक्र जरूरी है । ऊपर कहा जा चुका है कि चम्पारन में नील-सम्बन्धी जांच समाप्त हो जाने पर गांधीजी ने कई जगहों पर पाठशालाएं खोली थीं । इसके अलावा उस जागृति का नतीजा सूबे की कई जगहों में किसी-न-किसी रूप में देखने में आया । इस जागृति में होमरूल-आन्दोलन ने भी काफी मदद पहुंचाई थी । एक रूप इसका यह हुआ कि जहां-तहां किसान सभाएं कायम हुईं, जो जमींदारों के विरूद्ध किसानों की शिकायतों को जाहिर करने लगीं । चम्पारन में भी एक किसान-सभा बन गई, जो किसानों की मदद करना अपना कर्तव्य समझती थी । उधर नये विधान के कारण यह भी स्पष्ट होने लगा कि जनता को कुछ हद तक मताधिकार मिलेगा और कौन्सिल के चुनाव में किसानों को हिस्सा लेना पड़ेगा । किसान-सभाओं को इससे भी प्रोत्साहन मिला । जमींदार भी कुछ घबराये ।

वे सोचने लगे कि हम लोग ऐसा संगठन करें कि नये विधान के चुनाव में सफलतापूर्वक भाग ले सकें। उन्होंने नीलवरों के साथ एक समझौता किया और नीलवर-जमींदार-संस्था कायम की। इससे किसानों और शिक्षित-वर्ग में कुछ खलबली मची और रोष पैदा हुआ। उस समय के समाचार-पत्रों को देखने से पता चलेगा कि इस संगठन के विरोध में शिक्षित वर्ग ने भी आवाज उठाई। बिहार-प्रान्तीय राजनैतिक सम्मेलन में खुल्लम-खुल्ला मुकाबला करने की बात कही गई। इस संस्था का जन्म मुजफ्फरपुर में हुआ था। इसकी शाखाएं और-और जगहों में भी बनती गई। दरभंगा के महाराजाधिराज इसके सभापति थे।

इन्हीं दिनों श्री रामरक्ष ब्रह्मचारी ने चम्पारन जिले के बेतिया-सब-डिवीजन के 'मछरगांवा' गांव में जाकर काम शुरू किया। वह स्थायी रूप से ग्राम-संगठन का काम करना चाहते थे। वहां के लोगों ने भी उत्साहपूर्वक साथ दिया था। बहुतेरे स्वयंसेवक काम करने के लिए तैयार थे। वहां वह जो कुछ कर रहे थे, मेरे परामर्श से कर रहे थे। जब एक बार मैं वहां गया तो वहां का संगठन देखकर मुझे बहुत आनन्द हुआ। लोगों में ऐसी पंचायतें कायम करना जो आपस के झगड़े मिटा दें, बच्चों की शिक्षा के लिए पाठशालाएं खोलना, गांवों की सफाई, किसानों की शिकायतें दूर करने का प्रयत्न करना--यही मुख्य कार्यक्रम थे। वहां एक आश्रम बना, जिसका खर्च जनता 'मुठिया' (घर-घर से एक-एक मुट्ठी अन्न) द्वारा जुटाती थी। संगठन का काम अच्छा चल रहा था। लोगों में उत्साह भी काफी था। पुलिस और निलहे गोरे इस प्रकार के संगठन को पसन्द नहीं करते थे--विशेष करके पुलिसवाले; क्योंकि उनकी धांधली वहां नहीं चल सकती थी। उसी इलाके में पुलिस ने एक बड़ा काण्ड कर डाला।

एक आदमी ने किसी के विरूद्ध पुलिस-दारोगा के पास नालिश कर दी। जहां यह वाकया हुआ था, उसके पास के ही गांव में दारोगा किसी दूसरे मुकदमे की तहकीकात कर रहे थे। उन्होंने पुलिस के सिपाहियों और गांव के दफादार को भेजा कि जिसके विरूद्ध नालिश की गई थी, उसे और कुछ दूसरे लोगों को भी पकड़ लाओ। उन्होंने इस तरह जाने से इनकार कर दिया। जोर लगाने पर भी वे नहीं गये। दारोगाजी को गुस्सा आया। तफसील की सारी बातें यहां देना अनावश्यक है। दारोगा ने जिले के सदर मुकाम से मिलटरी-पुलिस बुलवा ली। कई गांवों को

पुरानी रीति से लुटवा लिया । लोगों के साथ बड़ी सख्तियां हुई । यहांतक कि स्त्रियां भी सुरक्षित न रहने पाईं । ब्रह्मचारी रामरक्ष के साथी सर्वश्री ध्वजाप्रसाद, रामविनोदसिंह और मनोरंजनप्रसाद ने वहां की धांधली की खबरें अखबारों में छापवा दीं । रामरक्ष गिरफ्तार कर लिये गये । बिहार प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी ने, जांच के लिए, श्री मजहरूल हक साहब की प्रधानता में, एक कमिटी बनाई । उस कमिटी ने जनता की शिकायतों को ही ठीक बताया और गवर्नमेण्ट की लीपा-पोती को गलत ठहराया ।

यह आन्दोलन जोरों से चल ही रहा था जब गांधीजी बिहार में पहुंचे वह चम्पारन जाने पर घटनास्थल पर भी गये । उन गांवों के लोगों से भी उनकी भेंट हुई । इसी यात्रा में गांधीजी ने अहिंसा की एक ऐसी व्याख्या दी, जो अभी तक जहां-तहां लोगों को समझानी पड़ती है । उन्होंने कहा था--"पुरूषों ने, स्त्रियों और घर-बार को छोड़, भागकर बड़ी कायरता दिखलाई थी । उनका धर्म था कि अपनी जान देकर उनकी रक्षा करते । पर यदि उनमें इस प्रकार बिना हाथ उठाये मरने की शक्ति नहीं थी तो उनको, चाहे जिस तरह हो सकता, मुकाबला करना चाहिए था । अपने धर्म में स्थित रहकर, बिना हाथ उठाये, मर जाना ही सच्ची अहिंसा है; पर डर से भाग जाना बड़ी हिंसा है । भागने से बेहतर है कि जो कुछ मिले उसे हाथ में लेकर मुकाबला किया जाय ।" मैंने यह महात्माजी के शब्दों में नहीं कहा है । यह सारांश मात्र है । ब्रह्मचारी रामरक्ष और दूसरों पर जो मुकदमे चले, वे कई महीनों तक पेशी में रहे । अन्त में सब झूठ साबित हुए । सब लोगों की रिहाई हो गई ।

महात्माजी की यात्रा से आन्दोलन ने अधिक जोर पकड़ा । कौन्सिल का चुनाव खतम हो चुका था । अब अधिक जोर स्कूल-कालेजों के खाली करने पर था । हम लोगों ने भी निश्चय किया कि एक राष्ट्रीय महाविद्यालय (कालेज) खोला जाय । पटना-गया-रोड पर भाड़े पर एक मकान लेकर कालेज खोला गया । मैं जिस मकान में रहा करता था, उसके पास ही यह मकान भी था । जब मैंने सोच लिया कि भाड़े पर अपने लिए मकान रखना, जब वकालत छोड़ ही दी है, अनावश्यक है--१५० मासिक का यह खर्च बन्द कर देना चाहिए । इसलिए मैंने अपना मकान छोड़ दिया । महाविद्यालय में ही जाकर रहने लगा । कानून की पुस्तकों को अपने मित्र श्री शम्भुशरण वर्मा के पास रख दिया । वे पुस्तकें उनके ही साथ उनके जीवन-भर रहीं । उनकी असामयिक मृत्यु के बाद फिर दूसरे मित्र के पास चली गई, जहां आज

तक उनके काम आ रही हैं ।

पटने के इंजीनियरिंग स्कूल के विद्यार्थियों का वहां के प्रिंसिपल से किसी विषय में मतभेद हो गया । विद्यार्थियों ने हड़ताल कर दी । एक साथ जलूस बनाकर श्री मजहरूल हक साहब के पास, जो उन दिनों सिकन्दर-मंजिल में फ्रेजर रोड़ पर रहा करते थे, गये । उनसे कहा कि हम लोगों ने स्कूल छोड़ दिया है, हमको स्थान दीजिये । मजहरूल हक साहब बड़े भावुक और निर्भीक व्यक्ति थे । उनके त्याग की शक्ति भी अपूर्व थी । उस समय वह बहुत ही ऐश-आराम से उस बड़ी कोठी में रहा करते थे । अपने लिए एक बड़ी कोठी और भी बनवा रहे थे । सबकुछ छोड़कर, उन लड़कों को साथ लेकर पटना-दानापुर-सड़क पर एक बगीचे में चले गये । वहां उनके एक परिचित सज्जन का छोटा-सा मकान था । वहीं रहने लगे । जाड़े के दिन थे । खूब सर्दी पड़ रही थी । वह स्थान गंगा के किनारे होने के कारण कुछ अधिक ठण्डा था । घने बगीचों से घिरे रहने के कारण वहां की जमीन में कुछ सील भी थी । तब भी मजहरूल हक साहब वहां कुछ दिनों तक उसी छोटे बंगले में रहे । आहिस्ता-आहिस्ता वहां ताड़ की चटाइयों के कुछ झोपड़े भी बन गये । लड़के भी बड़े उत्साही थे, कष्ट का ख्याल न करके उनके साथ आनन्द से रहने लगे । उसी स्थान का नाम उन्होंने 'सदाकत आश्रम' रखा । कुछ दिनों में वही बीहड़ स्थान, जहां से रात में नौ बजे के बाद किसी राही का गुजरना खतरनाक समझा जाता था, गुलजार हो गया । वहां चर्खों का एक कारखाना खोल दिया गया । सभी लड़के चर्खे बनाने में लग गये । आहिस्ता-आहिस्ता हक साहब ने अपने पैसों से ही मकान बनवाना शुरू कर दिया । कुछ दूसरे लड़के भी जाकर उनके साथ रहने लगे । वह स्वयं वहीं रहते, लड़कों को पढ़ाते और वही मोटा खाना खाते जो लड़के खाते । लड़के अधिकांश हिन्दू ही थे । हक साहब का ख्याल था कि कोई लड़का यह न समझे कि वह अपने हृदय में हिन्दू-मुसलमान का भेद, किसी प्रकार से भी रखते हैं । इसलिए वह सबको एक तरह से मानते थे । लड़के भी उनको पिता की तरह पूज्य समझते थे । वैसा ही उनपर विश्वास भी रखते थे ।

इस सम्बन्ध में यहां एक बात उल्लेख कर देना आवश्यक है । इसी बात से उस महान व्यक्ति के सच्चे व्यक्ति के सच्चे भावों का पता चलेगा । हक साहब के साथ एक बहुत गरीब घर का मुसलमान लड़का रहा करता था । उन्होंने देखा कि लड़का

पढ़ने में तेज है। उनके दिल पर इसका भी असर पड़ा था कि मुसलमान होकर भी उसने हिन्दी और संस्कृत पढ़ी थी। वह कालेज के फर्स्ट या सेकेण्ड इयर में पढ़ता था। नाम था मुहम्मद खलील। हक साहब उसे बहुत मानते थे। असहयोग का आरम्भ होने पर उसने भी कालेज छोड़ दिया। हक साहब के साथ ही उनकी कोठी छोड़कर सदाकत आश्रम में जाकर रहने लगा। एक-डेढ़ साल के बाद मैंने सुना कि हक साहब ने उसको आश्रम से निकाल दिया। मुहम्मद खलील ने भी आकर मुझसे कहा कि वह गुस्सा हो गये हैं, आप सिफारिश करके उनको शान्त कर दीजिये। हक साहब की मेहरबानी मेरे ऊपर बराबर रहा करती थी। वह दिल से मुझे प्यार किया करते थे। इसलिए मैंने मुहम्मद खलील के बारे में उनसे कहा। उस समय तक मुहम्मद खलील सारे बिहार में विख्यात हो गये थे। उन्होंने असहयोग का आरम्भ होते ही एक राष्ट्रीय भजन बनाया था, जो उन दिनों बहुत प्रचलित हो गया था। वह वास्तव में बहुत सुन्दर, हृदयग्राही और मर्मस्पर्शी गान था। उसका टेक था--'भारत जननि, तेरी जय तेरी जय हो।' उन दिनों शायद ही ऐसी कोई सभा होती, जिसमें यह गीत बड़े उत्साह से न गाया जाता।

जब मैंने हक साहब से कहा कि मुहम्मद खलील की कोई गलती हो तो माफ कीजिये, तो उन्होंने बहुत ही दुःख के साथ मुझसे कहा--"मैं तुम्हारी बात कभी नहीं टालता, पर इस समय मजबूर हूं। तुम नहीं जानते कि खलील ने कितना बुरा काम किया है। इसीलिए तुम सिफारिश कर रहे हो। मैंने जिस चीज को अपने सारे जीवन का मुख्य उद्देश्य बना लिया है, जिसके लिए आजतक सबकुछ करता आया हूं और आज फकीर बन गया हूं, उसपर इसने ठेस लगाई है। मैंने अबतक की सारी जिन्दगी में हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए काम किया है। उसी में आज भी लगा हुआ हूं। आश्रम में रहकर इसने हिन्दू लड़कों के साथ ऐसा बर्ताव किया है, जिससे वे लड़के, जो मुझपर विश्वास करके प्रेमवश मेरे पास आ गये हैं, हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव समझने लगे। इसने मेरे सारे जीवन के बने-बनाये काम को बिगाड़ने का प्रयत्न किया है। इसने इस बात की कोशिश की है कि लड़कों को मुसलमान बनावें। मैं सबकुछ माफ कर सकता हूं; पर इस तरह इसलाम के नाम पर विश्वासी लड़कों के साथ विश्वासघात करना बरदाश्त नहीं कर सकता। अब मैं जान गया हूं कि हिन्दी और संस्कृत भी इसने ढोंग के लिए पढ़ी है। एक दिन यह हिन्दू-मुस्लिम फसाद भी करा

देगा। मैं इसे आश्रम में हरगिज न रहने दूंगा।"

यह वही मुहम्मद खलील थे, जो कुछ दिनों बाद 'खलील दास' के नाम से विख्यात हुए। इनके सम्बन्ध में जनता समझती है कि इन्होंने कई स्थानों में हिन्दू-मुस्लिम नाइत्तफाकी का संगठन किया। इसके बहुत बुरे फल, दंगा-फसाद के रूप में देखने में आये। इन दंगों में बहुत-से हिन्दुओं और मुसलमानों ने अपनी जानें गंवाई। जब मैंने कई बरसों के बाद इनके सम्बन्ध में इस तरह की शिकायतें सुनीं तब मुझे हक साहब की भविष्यवाणी याद आई। उनके वे उद्गार--वे मर्मभरे शब्द--कानों में एक बाद फिर गूंज उठे।

राष्ट्रीय महाविद्यालय खोल दिया गया। मैं उसका प्रिंसिपल बनाया गया। उसके अध्यापकों में श्री बदरीनाथ वर्मा--जो उस समय बिहार--नेशनल (बी० एन०) कालेज (पटना) में अंगरेजी के प्रोफेसर थे, श्री जगन्नाथप्रसाद एम० ए० काव्यतीर्थ--जो पटना-कालेज में संस्कृत के प्रोफेसर थे, श्री प्रेमसुन्दर बोस--जो भागलपुर के टी० एन० जुबली-कालेज में फिलासफी के प्रोफेसर थे, अपने-अपने पदों से इस्तीफा देकर, आ जुटे। इसके अलावा श्री जगतनारायणलाल, श्री रामचरित्रसिंह, श्री अब्दुलवारी प्रभृति भी आ गये। हमने कालेजों के उन लड़कों को, जो पढ़ना चाहते थे, पढ़ाना शुरू कर दिया। अभी प्रायः वही विषय पढ़ाये जाते, जो सरकारी कालेजों में पढ़ाये जाते थे। जो रूपया चम्पारन-यात्रा के समय महाविद्यालय के लिए जमा किया गया, इसी में खर्च किया जाने लगा।

उधर यूनिवर्सिटी की परीक्षाओं का समय नजदीक आ रहा था। कुछ भाइयों का, विशेषकर मौलवी शफी दाऊदी का, विचार था कि हम लोगों को उन लड़कों की परीक्षा भी लेनी चाहिए, जो सरकारी परीक्षाओं में शरीक होना नहीं चाहते। इसलिए यह भी आवश्यक हो गया कि परीक्षाओं का संगठन किया जाय। महात्मा गांधी ने भी बिहार से जाने के समय कहा था किं बिहार में भी विद्यापीठ होना चाहिए। मेरे यह कहने पर कि हमारे पास रूपये नहीं हैं, उन्होंने कहा था कि चिन्ता न करो, अगर काम ठीक तरह से होगा तो रूपयों की कमी न होगी। जब नागपुर-कांग्रेस के बाद वह दुबारा बिहार के दौरे पर आये तो झरिया में पचास-साठ हजार रूपये जमा करके मेरे पास तार दिया कि पटने आ रहा हूं--विद्यापीठ के उद्घाटन का प्रबन्ध करो। उसी मकान

में, जहां हमने महाविद्यालय खोल रखा था, उन्होंने आकर विद्यापीठ का उद्घाटन किया। श्री मजहरूल हक साहब उसके चांसलर मुकर्रर किये गये। हमने बाजाब्ता सिनेट वगैरह भी बना लिया। हम लोग पाठ्यक्रम निर्धारित करने का काम में लग गये।

यह सब देखकर सरकारी कालेज में पढ़नेवाले लड़कों में भी बहुत उत्साह उमड़ा। एक दिन पचास-साठ लड़के जलूस बनाकर पटना-कालेज और साइंस-कालेज छोड़कर, सीधे पटना-गया-रोड पर हमारे महाविद्यालय में आ गये। इनमें पटना-यूनिवर्सिटी के अच्छे-से-अच्छे विद्यार्थी भी थे। कुछ तो रह गये, जो आज सारे प्रान्त में फैले हुए हैं और आज भी सूबे के प्रमुख लोगों में हैं। कुछने कुछ दिनों तक तो काम किया; पर जब आन्दोलन ढीला पड़ा तो फिर सरकारी कालेज में वापस चले गये। आज वे ऊंचे ओहदे तक पहुंचकर सरकारी काम कर रहे हैं। कुछ तो शीघ्र ही वापस चले गये और फिर अपनी पुरानी रीति से काम करने लगे।

: ३२ :

पूर्णतः असहयोग में

असहयोग के मुख्य अंग चार बहिष्कार थे--(१) सरकारी उपाधियों और खिताबों को छोड़ देना, (२) सरकारी शिक्षा-संस्थाओं से सम्बन्ध-विच्छेद, जिसका अर्थ था कि न उनमें खुद शिक्षा ग्रहण करना और न अपने बाल-बच्चों को वहां शिक्षा पाने देना, (३) कौन्सिल में न जाना और उनसे किसी प्रकार का लाभ न उठाना, (४) सरकारी अदालतों से संबंध छोड़ना, अर्थात् न उनमें मुकदमे दायर करना और न उनमें वकालत या मुखतारकारी या नौकरी करना। आशा की जाती थी कि हममें से प्रत्येक इन चारों बहिष्कारों को, जहांतक जो उससे सम्बन्ध रखता हो, पूरा करेगा। मुझे तो कोई खिताब या उपाधि नहीं मिली थी; पर मेरे भाईसाहब को को-आपरेटिव सोसाइटी कायम करने और उसमें दिलचस्पी लेने के लिए 'रायसाहब' का खिताब मिला था। मैंने उनसे कभी खिताब छोड़ने के लिए नहीं कहा, पर उन्होंने खुद ही नागपुर-कांग्रेस के कुछ बाद उसे वापस कर दिया। इसका संयोग इस तरह घटा। जब असहयोग-आन्दोलन जोर पकड़ने लगा तो बिहार-उड़ीसा की सरकार के मन्त्री मिस्टर हैलेट ने (जिन्होंने अभी युक्तप्रान्त के गवर्नर के पद से अवकाश ग्रहण किया है) एक गश्ती चिट्ठी निकाली, जिसमें उन्होंने कहा कि म्युनिसिपैलिटी और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड भी एक प्रकार से सरकार के अंग हैं, इसलिए उनके सदस्य और कर्मचारी किसी तरह असहयोग में भाग नहीं ले सकते। इससे लोगों में और भी रोष पैदा हुआ। और मेरे भाई उस समय छपरा-म्युनिसिपैलिटी के वाइस-चेयरमैन और ऑनररी-मजिस्ट्रेट थे। उन्होंने अपने खिताब को वापस कर दिया, मजिस्ट्रेटी से भी इस्तीफा दे दिया। साथ ही उन्होंने यह भी साफ कह दिया कि वह जनता द्वारा चुने गये हैं, इसलिए वह वाइस-चेयरमैनी से नहीं हटेंगे--अपना वह काम करते रहेंगे।

भाईसाहब के लड़के जनार्दन ने हाल ही में मैट्रिक पास करके हिन्दू-यूनिवर्सिटी के इंजीनियरिंग कालेज में नाम लिखाया था। मेरे दो लड़कों में मृत्युंजय, जो हाल ही काला आजार से बचकर अब अच्छा हो गया था, मैट्रिक में पढ़ता था; पर कम उमर होने के कारण यूनिवर्सिटी ने नियमानुसार परीक्षा में बैठने से रोक लिया गया था।

दूसरा लड़का धनन्जय स्कूल के किसी निचले दर्जे में पढ़ता था। तीनों लड़के कालेज और स्कूल से हटा लिये गये। तीनों में कोई भी फिर सरकारी स्कूल या कालेज में नहीं गया। जनार्दन कीर्त्यानन्द-आयरन-स्टील वर्क्स के लोहे के कारखाने में कुछ दिनों के बाद काम सीखने लगा। वहां एक-डेढ़ साल काम सीखने के बाद वह विलायत चला गया। उसको विदेश में लोहे का काम सीखने के लिए एक छात्रवृत्ति मिल गई। उसीसे वह अपना सब काम चला लेता, घर से भाईसाहब को थोड़ा-बहुत ही खर्च करना पड़ा। मृत्युंजय बिहार-विद्यापीठ में पढ़ने लगा और वहां का स्नातक हुआ। छपरे में राष्ट्रीय स्कूल जबतक चलता रहा, धन्नू पढ़ता रहा। उसके बाद उसने घर ही पर जो कुछ शिक्षा मिल सकी, प्राप्त की। मैं ऊपर कह चुका हूं कि मैंने किस तरह यूनिवर्सिटी से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था। वकालत मैंने छोड़ ही दी थी। इस तरह ईश्वर की दया से हम लोगों ने अपने शरीर से और व्यक्तिगत रूप से असहयोग का कार्यक्रम यथासाध्य पूरा किया।

उस समय तक बिहार में कांग्रेस का संगठन नहीं के बराबर था। प्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी थी। उनके मन्त्री नवाब सरफराज हुसेन खां थे। मैं भी उनका सहायक था। इसी तरह जिलों में भी कहीं-कहीं किसी जिला कमिटी का कोई मन्त्री था। पर उन दिनों बाजाब्ता मेम्बर बनने की प्रथा न थी। जो चाहता था अपने को मेम्बर समझ लेता था। प्रतिनिधियों का चुनाव भी बाजाब्ता नहीं हुआ करता था। जो कांग्रेस के जलसे के समय पहुंच जाते थे, प्रतिनिधि बन जाते थे। जिले या प्रान्त के नामधारी मंत्री उनको प्रमाण-पत्र दे देते थे। वे १०) फीस दाखिल करके प्रतिनिधि हो जाते थे। ऐसे ही प्रतिनिधि कांग्रेस के सालाना जलसे के समय अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी के मेम्बर चुन देते। उस चुनाव में अधिक होड़ नहीं होती थी। अक्सर प्रान्त के कुछ प्रमुख लोग, जो कांग्रेस में दिलचस्पी लिया करते थे, चुन दिये जाते थे। अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी के नियमानुसार बिहार-प्रान्त को उसे १५००) वार्षिक चन्दा देना पड़ता था। एक प्रकार से यह बात मान ली गई थी कि जो लोग १००) देंगे, वे ही अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी के मेम्बर चुने जायेंगे। इसलिए बहुतेरे ऐसे लोग, जो यह शर्त पूरी नहीं कर सकते थे, कभी उम्मीदवार होने की हिम्मत नहीं करते थे। इससे यह न समझना चाहिए कि सभी चुने गये सदस्य यह १००) अदा कर देते थे। उन दिनों अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के मंत्री थे

राजमहेन्द्री के सुविख्यात कांग्रेसकर्मी श्री सुब्बाराव पान्तलु । मुझे याद है कि वह अक्सर पटने में यह चन्दा जमा करते । तो भी यह हर साल अदा नहीं होता ! १६२० में कई हजार रूपये बिहार के नाम पर बाकी पड़े थे ।

नागपुर-कांग्रेस ने कांग्रेस की नियमावली बदल दी । उसने सभी जगहों में कांग्रेस का मेम्बर बनाना अनिवार्य कर दिया । प्रत्येक सूबे को उसकी आबादी के प्रतिलाख पर एक प्रतिनिधि चुनने का ही अधिकार दिया । इस प्रकार प्रतिनिधियों की संख्या परिमित हो गई । उसने यह भी अनिवार्य कर दिया कि प्रतिनिधियों का चुनाव केवल कांग्रेस के मेम्बर ही कर सकते हैं । वह भी किसी कांग्रेस-कमिटी की बाजाब्ता बैठक में ही । चुने हुए प्रतिनिधियों की सूची अधिवेशन के कई दिन पहले ही अखिल भारतीय कमिटी के दफतर में पहुंच जानी चाहिए । उस सूची में जिनके नाम दिये गये होते थे, उन्हें छोड़, बिना विशेष कारण के, कोई दूसरा प्रतिनिधि नहीं हो सकता था । सूची के नामों में हेरफेर तभी हो सकता था, जब कोई चुना हुआ प्रतिनिधि इस्तीफा दे देता और उसकी खाली जगह पर नया चुनाव हो जाता । इसका प्रणाम प्रान्तीय मंत्री को देना होता ।

इन नियमों के कारण अब कांग्रेस के चुनाव में काफी सख्ती आ जानेवाली थी, अब पुरानी नीति चलनेवाली न थी । इसलिए नये सिरे से संगठन करके बाजाब्ता चुनाव कर लेना आवश्यक हो गया था । कांग्रेस ने इसके लिए समय भी निधार्रित कर दिया था । प्रान्तीय कमिटी को नये नियमों के अनुसार अपने नियम भी बना लेने का अधिकार दिया गया था । इसलिए सोचा गया कि जबतक नया संगठन न हो जाय, एक छोटी कमिटी बना दी जाय, जो सब काम करेगी । पुराने बहुतेरे कांग्रेसी नेता अब कांग्रेस से अलग हो गये थे । कुछ तो कांग्रेस के सिद्धान्त बदलने के कारण और कुछ वे, जिनको सिद्धान्त (**Creed**) अगर मंजूर भी था तो असहयोग के कार्यक्रम से विरोध था । इसलिए भी पुनः संगठन आवश्यक था । इस कमिटी की मंत्री मैं बनाया गया । सभापति हुए मौलाना मजहरूल हक साहब । इसको पुनस्संघटन-समिति (**Reorganisation Committee**) का नाम दिया गया । कमिटी ने अपना काम बड़े उत्साह के साथ किया । हम जहां जाते, कांग्रेस के मेम्बर बनाने की बात करते और असहयोग का प्रचार तो करते ही ।

बहुतेरे वकील, मुखतार और विद्यार्थी--जिन्होंने अपने-अपने काम छोड़ दिये

थे--सारे प्रान्त में फैल गये । वे सभी जगहों में कांग्रेस का सन्देश पहुंचाने लगे । प्रायः सभी जिलों में राष्ट्रीय पाठशालाएं खुल गई; कुछ तो मैट्रिक कक्षा तक के लिए और कुछ नीचे के दर्जे तक । सबका सम्बन्ध बिहार-विद्यापीठ के साथ हो गया । मैं समझता हूं कि मैट्रिक पाठशालाओं की संख्या पचास के लगभग होगी और प्राइमरी शालाएं प्रायः दो-ढाई सौ । सब पाठशालाओं में, जो बिहार-विद्यापीठ से सम्बन्द्ध थीं, बीस से पच्चीस हजार तक विद्यार्थी शिक्षा पाने लगे । बहुतेरे लोग, जिन्होंने दूसरा काम छोड़ा था, इन पाठशालाओं में शिक्षक बन गये ।

उन दिनों प्रान्त-भर में अनगिनत सभाएं हुई होंगी । किसी भी जिले का शायद ही कोई हिस्सा बचा होगा, जहां कार्यकर्ता न पहुंचे हों और जहां सभा करके कांग्रेस का कार्यक्रम और संदेश लोगों को न बताया गया हो । मैंने सारे सूबे का चक्कर लगाया । १६२१ में ही पहले-पहल सारे सूबे का परिचय हुआ । असंख्य कार्यकर्ताओं से जान-पहचान भी हो गई ।

मैं वकालत तो किया करता था, पर बड़ी सभाओं में बहुत बोलने का अभ्यास नहीं था, यद्यपि मैं लड़कपन से ही सभाओं में भाग लिया करता था । असहयोग के प्रचार में असंख्य सभाओं में भाषण करने पड़े । नतीजा यह हुआ कि सभाओं में बोलते समय जो थोड़ा संकोच हुआ करता था, वह निकल गया । मैं अब धड़ल्ले से भाषण कर सकता था । जिन जिलों में लोग भोजपुरी बोला करते हैं, उनमें जाता तो भोजपुरी में ही भाषण करता । दूसरी जगहों में शुद्ध हिन्दी में । मुझे स्मरण नहीं है कि पुरूलिया में मैंने कभी बंगला में उस साल भाषण किया या नहीं, यद्यपि यह याद है कि पुरूलिया में मैंने कभी बंगला में भी भाषण किया है । सभाएं भी कुछ छोटी-मोटी नहीं होती थीं । पांच-दस हजार का जमाव होना तो कोई बड़ी बात नहीं थी । दस हजार लोगों की सभा में आसानी से मैं सब लोगों तक अपनी आवाज पहुंचा सकता था । उससे अधिक संख्या होने पर परिश्रम पड़ता था । मेरा अनुमान है कि पन्द्रह हजार तक की सभा में यदि लोग शान्त रहते तो मैं अपनी आवाज पहुंचा सकता, पर बहुत अधिक परिश्रम पड़ता और पेट में दर्द हो जाता । मुझे यह भी याद है कि बीस-पच्चीस हजार के मजमे में भी मैंने उस साल में भाषण किये थे । एक सभा छपरा जिले में हथुआ में हुई थी । वहां न मालूम किस तरह खबर उड़ गई थी कि सभा में महात्मा गांधी आनेवाले हैं । इसलिए वहां प्रायः पचास हजार का जमाव

हो गया । हजार कोशिश करने पर भी सभा ठीक नहीं जम सकी । यद्यपि मैंने अपनी पूरी शक्ति-भर जोर लगाकर एक छोटा-सा भाषण किया तथापि मुझे शक है कि थोड़े ही लोगों ने उसे सुना या समझा ।

मैं भाषण करते समय देखा करता था कि सभा में उपस्थित लोगों पर उसका कैसा प्रभाव पड़ रहा है । जहां अच्छा प्रभाव पड़ता नजर आता और जनता सुनने के लिए उत्सुक और समझदार मालूम पड़ती वहां का भाषण भी मैं खुद समझ सकता था कि अच्छा हो जाया करता था । जहां ये बातें नहीं होतीं वहां भाषण भी ऐसा-वैसा ही होता । भाषण भी कुछ छोटे नहीं होते । कांग्रेस का इतिहास, खिलाफत-आन्दोलन और पंजाब-सम्बन्धी जुल्म तथा स्वराज्य की आवश्यकता के अलावा असहयोग का कार्यक्रम मैं सभी सभाओं में बहुत विस्तार के साथ बताता । इसमें प्रायः एक-डेढ़ घंटे लग जाते । जहां दस हजार तक का जमाव होता वहां तो पूरे विस्तार के साथ डेढ़ घंटे या इससे अधिक देर तक भी बोल लेता । जहां इससे अधिक जनता एकत्र होती वहां कुछ संक्षेप करना पड़ता । बीस हजार से अधिक लोगों की सभा में आध घंटे से ज्यादा नहीं बोल सकता था । इस तरह मैं सारे सूबे में दौरा करता रहा । दूसरे साथी भी यही कर रहे थे ।

: ३३ :

'देश' और 'सर्चलाइट' का प्रकाशन

असहयोग-आन्दोलन में सभी नेता शरीक नहीं हुए। कांग्रेस के पुराने और वयोवृद्ध नेताओं ने, जो असहयोग में शरीक नहीं हुए, एक दूसरी संस्था 'बिहार-प्रान्तीय लीग' के नाम से कायम की। देश के नरमदल के समाचार-पत्रों में इसकी चर्चा बहुत चली; पर यह संस्था कुछ कर न सकी। इसके सम्बन्ध में पीछे कुछ सुनने में नहीं आया। हमारे सूबे में एक बात की खूबी थी। मतभेद होते हुए भी आपस में संघर्ष नहीं हुआ। हम लोगों का आपस का व्यवहार भी ज्यों-का-त्यों बना रहा। पर इतने लोगों के अलग हो जाने के कारण, विशेष करके नागपुर में कांग्रेस की नियमावली और उसके विधान में बहुत अदल-बदल हो जाने के कारण, कांग्रेस कमिटियों का पुनः संगठन आवश्यक हो गया। यह संगठन कई महीनों में जाकर पूरा हुआ। जून के अन्त तक जिला-कमिटियां बाजाब्ता बनकर प्रान्तीय कमिटी का चुनाव कर सकीं। तब फिर अखिल भारतीय कमिटी के नये सदस्य चुने गये।

कांग्रेस के पुनः संगठन के प्रश्न के साथ-साथ कुछ और भी प्रश्न उपस्थित हो गये। समाचार-पत्रों के लिए बिहार अच्छा सूबा नहीं है। पहले बहुत परिश्रम और त्याग से 'बिहार-टाइम्स' और 'बिहारी' निकाले गये थे; पर आर्थिक कठिनाइयों के कारण दोनों बन्द हो चुके थे। 'बिहार-टाइम्स' के जन्मदाता और मुख्य कार्यकर्ता बाबू महेशनारायण (अब स्वर्गीय) थे। उन्होंने उसे अपनी जिन्दगी में चलाया था। श्री सच्चिदानन्दसिंह (अब डाक्टर) की भी अखबार-नवीसी में बहुत दिलचस्पी रही है। इन्होंने अपने निजी हिन्दुस्तान 'रिव्यू' के अलावा इन अखबारों को भी धन और कलम से पूरी सहायता की थी। 'बिहारी' को बनैली-राज से बहुत मदद मिली थी। एक प्रकार से वही उसके बन्द होने का कारण भी हुआ। दूसरा अखबार हथुआ के महाराजा की ओर से 'एक्सप्रेस' नाम से निकलता था। घाटे पर बहुत दिनों तक चलकर वह भी बन्द हो गया। १९१८ में पटने के सभी नेताओं ने, विशेष करके श्री सच्चिदानन्दसिंह और श्री हसन इमाम ने, एक अखबार की जरूरत बहुत महसूस

करके निश्चय किया कि एक पत्र निकाला जाय। उसका नाम श्री सिंह के कहने के अनुसार 'सर्चलाइट' रख दिया गया। वह सप्ताह में दो बार निकला करता था। उसके डाइरेक्टरों में श्री सिंह, श्री हसन इमाम प्रभृति थे। लोगों में श्री व्रजकिशोरप्रसाद थे और मैं भी था। आन्दोलन आरम्भ होने पर 'सर्चलाइट' के सामने यह प्रश्न आया कि वह असहयोग का समर्थन करे या नहीं। पैसा खर्च करनेवालों में मुख्य श्री हसन इमाम और श्री सिंह थे। वे असहयोग के पक्षपाती नहीं थे। इधर सारे सूबे में असहयोग की लहर इस तरह उमड़ रही थी कि उसके खिलाफ जाने का अर्थ था 'सर्चलाइट' का हमेशा के लिए लोकप्रियता खो देना। इसके अलावा डाइरेक्टरों में भी हम लोग थे, जो असहयोग में शरीक थे। उसके सम्पादक श्री मुरलीमनोहर प्रसाद भी असहयोग के पूरे पक्षपाती थे। ऐसी अवस्था में, आपस के इस मतभेद के कारण, नीति निर्धारित कर देना आवश्यक हो गया।

१६२० से, सर्चलाइट प्रेस से ही, हिन्दी-साप्ताहिक 'देश' भी निकला करता था, जिसका नाम-निहादी सम्पादक मैं समझा जाता था। असहयोग ने राजनीति को, अंगरेजी पढ़े कुछ वकील-बैरिस्टरों और बड़े-बड़े व्यापारियों के अंगरेजी तरीके से सजे कमरों से बाहर निकालकर, गांवों के बरगदों के साये के नीचे और गांवों के खेत-खलिहानों तक पहुंचा दिया था। वहां अंगरेजी का गुजर नहीं था। जो जनता तक पहुंचना चाहता था, उसे देशी भाषा की शरण लेनी पड़ती थी। इसलिए हम लोगों ने सोचा कि 'सर्चलाइट' से ज्यादा उपयोगी 'देश' होगा। हमने श्री हसन इमाम और श्री सिंह से 'सर्चलाइट' और 'देश' के सम्बन्ध में यह समझौता कर लिया कि 'सर्चलाइट' अपने सम्पादकीय लेखों में असहयोग का न तो विरोध करेगा और न समर्थन। पर दूसरों के लेख, लेखक के नाम के साथ, चाहे वे पक्ष में हों अथवा विपक्ष में, छाप सकेगा। 'देश' हम लोगों का पत्र हो जायगा। अब से उसका घाटा और नफा हम लोगों का होगा। उसकी नीति हम जैसी चाहेंगे वैसी ही होगी; पर वह सर्चलाइट प्रेस में छपाई देकर छपा करेगा।

इस तरह एक हिन्दी-साप्ताहिक हमारे हाथ में आ गया। अंगरेजी 'सर्चलाइट' भी अगर सहायक नहीं तो विरोधी भी न रहा। हम यह भी समझते थे कि हम लोग उसमें लेख लिखा करेंगे पर यह आशा पूरी नहीं हुई; क्योंकि आन्दोलन में इतना काम

बढ़ गया कि लेख लिखने का समय ही न मिला। 'देश' ने प्रचार-कार्य में बहुत सहायता पहुंचाई। ग्राहकों की संख्या भी बहुत बढ़ गई। विज्ञापन भी बहुत मिलने लगे। हम लोग तो आन्दोलन में लगे थे। 'देश' के प्रबन्ध पर ध्यान नहीं दे सके। जैसे-जैसे ग्राहकों की संख्या बढ़ती गई, प्रबन्धक की गलती से घाटे की मात्रा भी वैसे ही बढ़ती गई। कुछ दिनों के बाद जब हमने हिसाब देखा तो मालूम हुआ कि विज्ञापन की दर इतनी कम कर दी गई थी कि उसमें जितना खर्च पड़ता था उतना भी विज्ञापनों से नहीं मिलता था। इसलिए जैसे-जैसे बिकनेवाली प्रतियों की संख्या बढ़ी, घाटा भी बढ़ता गया। हमने यह देखा कि बहुतेरों के माल का प्रचार हम अपने खर्च से सारे प्रान्त में जोरों से कर रहे थे; पर यह ज्ञान बहुत नुकसान उठा लेने के बाद हुआ। इस प्रकार उस समय 'देश' पर जो बोझ पड़ा, वह उसके गले में हमेशा के लिए एक भारी पत्थर-सा बंध गया।

जन-आन्दोलन कुछ दिनों बाद ढीला पड़ा। 'देश' की बिक्री भी कुछ कम हो गई। अन्त में अर्थिक कठिनाइयों के कारण उसे बन्द करना पड़ा। जितने दिनों तक आन्दोलन का जोर रहा, वह खूब काम करता रहा और बहुत लोकप्रिय भी हो गया था।

'सर्चलाइट' निर्धारित नीति पर चल रहा था। कुछ दिनों के बाद श्री हसन इमाम और श्री सिंह उससे अलग हो गये। वह हम लोगों के अधिकार में पूरी तरह से आ गया। यहां हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि उन दोनों ने यद्यपि पैसे और परिश्रम से इसे शुरू में बहुत सहायता पहुंचाई थी तथापि उसे बड़ी उदारता से हम लोगों के हाथों में आने दिया। जबसे यह स्थिति हो गई, 'सर्चलाइट' पूरा-पूरा कांग्रेसी पत्र हो गया। उसके सम्पादक श्री मुरलीमनोहरप्रसाद के मिजाज के अनुकूल यही था। जब १६३०-३४ का सत्याग्रह चला और कांग्रेस की आज्ञा निकली कि जो समाचार-पत्र स्वतन्त्रता-पूर्वक सच्ची घटनाएं न छाप सकें और अपने स्वतन्त्र विचार न प्रकट कर सकें, वे सरकारी हुक्म मानने के बजाय अपना प्रकाशन ही बंद कर दें, तो 'सर्चलाइट' उन बहुत ही अल्प-संख्यक पत्रों में से एक था, जिसने कांग्रेस की आज्ञा का पूरी तरह से पालन किया। यह सब होते हुए भी 'सर्चलाइट' कभी अर्थिक कठिनाइयों से मुक्त नहीं हुआ। अन्त में हम लोगों को उसका स्वत्व श्री बिड़ला-ब्रदर्स

को इस शर्त पर दे देना पड़ा कि उसकी आर्थिक व्यवस्था वह करेंगे; पर उसकी सम्पादकीय-नीति में हम लोगों का ही अधिकार रहेगा। यह निश्चय १९४१ के अन्त में हुआ। तबसे बिड़ला-बन्धु बहुत-कुछ खर्च कर चुके हैं। अभी वह अर्थ-संकट से बाहर हो ही रहा था कि १९४२ के आन्दोलन में सरकार ने उसे बन्द कर देने का हुक्म निकाल दिया। सम्पादक भी हम लोगों के साथ नजरबन्द कर दिये गये। जहां आज मैं इन पंक्तियों को लिख रहा हूं, वह भी साथ हैं।

: ३४ :

आन्दोलन का जोर और सरकारी दमन

ऊपर कहा जा चुका है कि कांग्रेस का सालाना जलसा १६२० के दिसम्बर में नागपुर में हुआ था। मैं इस अधिवेशन में भी अपनी अस्वस्थता के कारण शरीक न हो सका था; पर सुना कि अधिवेशन में इतने प्रतिनिधि आये थे जितने शायद कभी किसी अधिवेशन में नहीं आये थे। इसका एक कारण भी था। कुछ लोग समझते थे कि असहयोग-सम्बन्धी प्रस्ताव पर नागपुर में फिर विचार किया जायगा। अतः दोनों पक्षों के लोग अपने-अपने पक्ष को बल पहुंचाने के लिए अधिक-से-अधिक संख्या में वहां आये थे। पर दोनों पक्षों में समझौता हो गया। अन्त में कुछ हेर-फेर के साथ असहयोग का निश्चय कायम रह गया। इस प्रस्ताव के द्वारा देश को क्रमशः असहयोग का आदेश दिया गया। सरकारी खिताबों को छोड़ना, कौन्सिल से अलग रहना, जो कांग्रेस के निश्चय के विरूद्ध कौन्सिल में गये हैं उनसे किसी प्रकार की सेवा न लेना, गवर्नमेण्ट से सम्बद्ध शिक्षालयों से अलग रहना और अदालतों का बहिष्कार--आरम्भ में यही मुख्य कार्यक्रम था। फिर क्रमशः सरकारी नौकरी छोड़ना और कर-बन्दी का आदेश मिलने पर उसे भी करने का निश्चय हुआ। साथ ही, शिक्षा के लिए गैर-सरकारी राष्ट्रीय शिक्षालयों की स्थापना, आपस के झगड़ों को सुलझाने के लिए पंचायत की स्थापना, चर्खा-प्रचार और विदेशी वस्त्र-बहिष्कार, ये आवश्यक बतलाये गये थे। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य और अहिंसा पर भी जोर दिया गया था।

नागपुर के निश्चय के बाद वे सभी लोग, जो पहले कुछ दुविधा में थे, अब दृढ़ होकर असहयोग में लग गये। महात्माजी ने यह भी कह दिया कि कांग्रेस के कार्यक्रम को यदि लोग पूरा कर दें, तो स्वराज्य एक बरस के भीतर ही हो जायगा। लोगों ने एक बरस की बात मन में धर ली। शर्तों को पूरा करने के प्रयत्न में जी-जान से सब लग गये। ऊपर कही हुई सभाओं में प्रचार का यही मुख्य उद्देश्य था।

ऊपर कहा जा चुका है कि सारे सूबे (बिहार) में असंख्य कार्यकर्ता काम करने लगे और स्वराज्य तथा असहयोग का सन्देश गांव-गांव में पहुंचाने लगे। थोड़े ही

दिनों में अद्भुत जागृति देखने में आने लगी। सरकार भी अपनी ओर से चुप न रही। वह देखती थी कि इस प्रचार का फल यह हो रहा है कि जनता में उसका रोब एकबारगी उठता जा रहा है, लोग निर्भीक होते जा रहे हैं। हम भी कांग्रेस की ओर से इस बात का पूरा ख्याल रखते थे कि उत्साह में जनता की ओर से कहीं ज्यादती न हो जाय। इसलिए नागपुर के बाद प्रान्तीय कमिटी ने जो आदेश निकाला, उसमें शांति और अहिंसा पर पूरा जोर दिया गया--साफ-साफ कहा गया कि किसी के साथ किसी प्रकार की जबरदस्ती न की जाय। हम समझते थे, और कार्यकर्ताओं को भी यही समझाने का प्रयत्न किया गया, कि हम बल-प्रयोग में सरकार से हार जायेंगे; क्योंकि उसके पास इसके साधन हैं, हमारे पास नहीं। इसके अलावा असहयोग की मुख्य शर्त अहिंसा है। उसके द्वारा जनता को भी हम अपनी ओर खींच सकते हैं। यदि हमारी ओर से जोर-जबरदस्ती हुई तो इसका नतीजा उलटा होगा, हमें एक दिन पछताना पड़ेगा। इसलिए जहां कहीं भाषण किया जाता, इसपर जोर दिया जाता। जो पर्चा निकाला जाता, उसमें भी इसीपर जोर दिया जाता। गवर्नमेण्ट इसकी खोज में रहती कि कहीं भी कुछ अशान्ति हो तो धर दबाया जाय उसे इसका मौका ही न मिलता!

मुजफ्फरपुर-जिले में महंगी के कारण कई जगहों में हाटों की लूट हो गई। दरभंगा-जिले और चम्पारन-जिले में भी ऐसा ही हुआ। सरकार को वह बहाना मिल गया जो वह खोज रही थी। हम लोग शराबबन्दी का भी प्रचार किया करते थे। इसका असर भी काफी पड़ रहा था। आबकारी की दुकानों का ठेका मार्च के महीने में दिया जाता है। बिक्री कम होती जा रही थी। सरकार को डर हो गया कि यह एक आमदनी का बड़ा जरिया खतरे में पड़ गया। इन दोनों बातों को लेकर दमन जारी हो गया। दमन मुजफ़्फ़रपुर-ज़िले से ही आरम्भ हुआ। और जिलों में भी जल्द ही फैल गया। चम्पारन में लौरिया-काण्ड के समय से ही कुछ दमन चल रहा था। वहां अब और भी जोर लगाया जाने लगा। दमन का आरम्भिक रूप यह हुआ कि कार्यकर्ताओं पर दफा १०७ जाब्ता फौजदारी के अनुसार, मुचलका देने के मुकदमे चलाये गये। दफा १४४ जाब्ता फौजदारी के अनुसार कार्यकर्ताओं को सभा में भाषण करने और जलूस वगैरह में शरीक होने से मना किया गया। इतने दिनों के बाद यह कहना तो मुश्किल है कि कितने आदमियों पर इस तरह के मुकदमे चलाये गये; पर

इतना निश्चय ही कहा जा सकता है कि लोगों ने जमानत नहीं दी। जिनपर मुकदमा चलाया जाता वे जेल चले जाते। हां, मुकदमे में जहां-तहां लोगों ने पैरवी की। कहीं-कहीं मुकदमा अन्त में खारिज करना पड़ा; क्योंकि कोई सबूत न मिला। बात तो यह थी कि सभा करने के सिवा, जिसमें असहयोग का कार्यक्रम समझाया जाता, हमारे आदमी दूसरा कोई काम कर भी नहीं रहे थे। जो हाट-लूट की लहर चली थी उसके रोकने में हमारे आदमियों ने बहुत मदद की थी। जहां कहीं से खबर आ गई, वहां दौड़कर पहुंच जाते और जनता को समझा-बुझाकर संभाल लेते। लुटेरों से मुकाबला करने के लिए जनता को तैयार भी कर देते। पर सरकार तो आन्दोलन को रोकना चाहती थी। इसलिए उसने लुटरों के बदले कांग्रेसी कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी को ही अधिक जरूरी और मुनासिब समझा।

थोड़े ही दिनों में सैकड़ों कार्यकर्ता इस प्रकार के मुकदमों के शिकार हो गये। प्रान्तीय सरकार के प्रधान सेक्रेटरी मिस्टर रेनी ने एक सर्कुलर निकाला, जिसमें जिले के अधिकारियों को प्रोत्साहन दिया गया कि वे आन्दोलन को दबावें। स्वायत्तशासन-विभाग के मन्त्री मिस्टर हैलेट ने दूसरा सर्कुलर निकाला, जिसमें बताया गया कि म्युनिसिपैलिटियां और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड सरकार के अंग हैं, अतः उनके सदस्यों और कर्मचारियों को असहयोग में भाग नहीं लेना चाहिए। 'हांके भीम होहिं चौगूना'--जिले के अधिकारी तो यह चाहते ही थे। उन्होंने १०७ और १४४ की नोटिसों की झड़ी लगा दी। सैकड़ों आदमी गिरफ्तार कर जेल भेज दिये गये।

मैं मजहरूल हक साहब के साथ आरा जानेवाला था। हक साहब किसी कारण से वहां न जा सके। मैं अकेला ही गया। आरा-स्टेशन पर उतरते ही मुझे १४४ की नोटिस मिली कि ६ बजे से ५ बजे तक किसी जलूस और सभा में शहर के अन्दर मैं शरीक नहीं हो सकता। मेरे सामने एक संकट आकर उपस्थित हो गया। नोटिस भी पुरमजाक थी। उन दिनों मैट्रिक-परीक्षा हो रही थी। आरा भी उसका केन्द्र था। नोटिस में मनाही का कारण बतलाया गया था कि जलूस और सभा से परीक्षार्थियों के काम में हर्ज होगा और वे रूष्ट होंगे।

नागपुर-कांग्रेस ने निश्चय किया था कि अखिल भारतीय कमिटी की आज्ञा जबतक न हो, सत्याग्रह न किया जाय। जब इस प्रकार की कार्रवाई सरकार की ओर से होने लगी अथवा इसकी सम्भावना मालूम हुई, तो हमने प्रान्तीय कमिटी की ओर

से आदेश निकाल दिया था कि इस तरह के हुक्मों को मान लेना चाहिए; क्योंकि कांग्रेस ने अभी सत्याग्रह का आदेश नहीं दिया है। हां, जहां कहीं आत्म-प्रतिष्ठा की बात आ जाय, वहां दूसरी बात है।

मैंने नोटिस पाकर निश्चय किया कि मुझे इसे मान लेना चाहिए। इसलिए स्टेशन से मैं शहर के अन्दर नहीं गया। मैं प्रायः दोपहर को पहुंचा था। स्टेशन से म्युनिसिपैलिटी के बाहर, नजदीक के ही एक गांव में चला गया। वहां दोपहर के समय ठहर गया। वहीं एक बड़ी सभा हो गई, जिसमें देहात के अलावा शहर के भी काफी लोग आ गये। फिर शाम को ५ बजे के बाद शहर में गया। वहां भी एक बड़ी सभा हो गई, जहां मैंने अपने कार्यक्रम को पूरा किया। इस तरह इस नोटिस का नतीजा यह हुआ कि एक सभा के बदले दो सभाएं हो गईं। जनता का उत्साह भी बहुत बढ़ गया। मैं भभुआ जानेवाला था। वहां भी हमारे जाने के पहले ही कुछ मनाही की नोटिस निकल गई। मैं वहां गया तो जरूर था; पर याद नहीं है कि नोटिस का क्या हुआ।

उस समय प्रान्तीय कौंसिल की बैठक हो रही थी। जो लोग कौंसिल में शरीक हुए थे, वे कांग्रेस के आदेश के विरूद्ध वहां गये थे। पर सरकारी सरकुलरों को लेकर और मुझपर जो नोटिस निकाली थी, उसे लेकर उन्होंने वहां बहस छेड़ दी। साथ ही, जो आमतौर पर दमन चल रहा था, उसकी भी कड़ी समालोचना हुई। अखबारों में इनसब बातों के छपने पर सूबे के बाहर के पत्रों ने भी बिहार-सरकार की कार्रवाइयों--विशेष करके उसके सरकुलरों और दमन-नीति--की कड़ी समालोचना की। बात बहुत बढ़ गई। मुजफ्फरपुर-जिले के सीतामढ़ी-सबडिवीजन के सबडिवीजनल अफसर मिस्टर ली, जिन्होंने इस तरह की कार्रवाइयों से बहुत ख्याति पाई थी, कुछ दिनों के बाद वहां से बदल दिये गये। मालूम नहीं कि इस देशव्यापी आन्दोलन के कारण उनकी बदली हुई अथवा और किसी कारण से; पर लोगों में यह धारणा हुई कि आन्दोलन ही उनकी बदली का कारण था।

शराब-बन्दी के कारण कहीं-कहीं सरकारी अफसरों ने धांधली मचाई। हजारीबाग-जिले के 'चतरा' में खेतों में शराब बिकने लगी। जनता में शराब का प्रचार तो बहुतेरे अफसर कर ही रहे थे। कहीं-कहीं कार्यकर्ता और स्वयं सेवकों पर शराबबन्दी में भाग लेने के कारण मुकदमे भी चलाये गये।

हमारे कार्यक्रम में पंचायत कायम करना भी एक मुख्य कार्य था। बहुत जगहों में पंचायतें कायम हुईं। बहुतेरे मुकदमे फैसले होने लगे। कहीं-कहीं लोगों ने पंचायती फैसले को मनवाने के लिए जातीय बहिष्कार का सहारा लिया। हमने इसे प्रान्तीय कमिटी की ओर से रोका, तो भी जहां-तहां कुछ हो ही गया। एक जगह तो पंचायत का इतना रोब हो गया था कि वह सरकारी अदालतों की तरह काम कर रही थी। लोग बाजाब्ता मुकदमे दायर करने और उन्हें फैसले कराने के लिए फीस देते थे। अधिकांश फैसले लोग मान लेते; पर कहीं-कहीं दिक्कत पैदा होती। एक कमजोरी यह हुई कि पुराने-पुराने सड़े-गले मुकदमे भी कुछ लोग पंचायत में लाने लगे, जिसका नतीजा यह होता कि पंचायत अगर बहुत पुराना कहकर उसे न सुने तो उसकी शिकायत हो कि यह भी सरकारी अदालत की तरह इन्साफ न देखकर तमादी की बात करती है और यदि फैसला करना चाहे तो उसके फैसले को मनवाने का साधन नहीं था।

पंचायत को ही लेकर गिरिडीह में एक बड़ा वाकया हो गया। वहां पंचायत का फैसला न मानने के कारण एक आदमी का बहिष्कार किया गया। बहिष्कृत आदमी को कुएं से पानी नहीं भरने दिया गया। उसका घड़ा तोड़ दिया गया। पुलिस ने घड़ा तोड़नेवाले को गिरफ्तार किया। उसके साथ बहुत लोग थाने तक आये। वहां तथा जेल के सामने वाकया हो गया। पुलिस का कहना था कि जनता ने ढेले फेंके और पुलिस पर हमला किया। दारोगा ने अपनी पिस्तौल से गोली मारी। बहुत लोग घायल हुए। जेल और थाने का कुछ नुकसान हुआ। कुछ लोगों पर मुकदमे चलाये गये। इसकी खबर पाते ही डाक्टर महमूद के साथ मैं वहां गया। लोग शान्त किये गये। मुकदमे में शहर के बहुतेरे धनी लोग फांस लिये गये थे। ऐसे लोगों में से कुछने तो माफी मांग ली; पर दूसरों पर मुकदमे चले। अन्त में क्या हुआ, मुझे याद नहीं।

: ३५ :

एक मनोरंजक घटना

थोड़े ही दिनों बाद, मार्च १६२१ में, बेजवाड़ा में अखिल-भारतीय कांग्रेस कमिटी की बैठक हुई। वहां निश्चय हुआ कि लोकमान्य तिलक के स्मारक-रूप में एक करोड़ रूपये स्वराज्य के काम के लिए, तिलक-स्वराज्य-फण्ड के नाम से, ३० जून तक जमा कर लिये जायं--बीस लाख चर्खे जारी हो जायं और कांग्रेस के एक करोड़ मेम्बर बना लिये जायं। बेजवाड़ा पहुंचने के पहले महात्माजी दौरा कर रहे थे। मैं कलकत्ते से ही महात्माजी के साथ उड़ीसा गया। वहां उन दिनों अकाल था। महात्माजी को इसकी खबर पहले से थी। उन्होंने कुछ मदद भी कराई थी। अकाल-पीड़ितों को महात्माजी के आगमन की खबर मिली थी। बहुतेरे दूर-दूर से आये थे। महात्माजी ने उनके अस्थि-पंजरों को देखा। वह बहुत ही दुःखी हुए। उन्होंने एक लेख में उड़ीसा के नंगे-भूखे कंकालों का जबरदस्त जिक्र किया। मैंने कई बार उन गरीबों की याद करके उन्हें आहभरते भी देखा है। एक बड़े मकान में वह ठहराये गये थे। एक ओर श्री जगन्नाथजी का विशाल मन्दिर, पंडों और धनी-मानी लोगों का सुखमय जीवन, महात्माजी के स्वागत के लिए धूमधाम, और दूसरी ओर ये नंगे-भूखे कंकाल !

उड़ीसा की ही किसी सभा में महात्माजी ने बहुत मार्के का भाषण किया था, जिसका असर आज तक मेरे दिल पर है। सभा में किसी ने महात्माजी से प्रश्न किया कि आप अंगरेजी-शिक्षा के विरूद्ध क्यों हैं--अंगरेजी-शिक्षा ने ही तो राजा राममोहन राय, लोकमान्य तिलक और आपको पैदा किया है ? महात्माजी ने उत्तर में कहा--"मैं तो कुछ नहीं हूं; पर लोकमान्य तिलक भी जो हैं, उससे कहीं अधिक बड़े हुए होते यदि उनको अंगरेजी द्वारा शिक्षा का बोझ ढोना न पड़ा होता। राजा राममोहन राय और लोकमान्य तिलक, श्री शंकराचार्य, गुरू नानक, गुरू गोविन्दसिंह और कबीरदास के मुकाबले में क्या हैं ? आज तो सफर के और प्रचार के इतने साधन मौजूद हैं। उन लोगों के समय में तो कुछ नहीं था, तो भी उन्होंने विचार की दुनिया में कितनी बड़ी क्रान्ति मचाई थी।" अंगरेजी राज्य के सम्बन्ध में भी उन्होंने कहा कि मुगलराज्य

में अकबर के समय मे राणा प्रताप और औरंगजेब के दिनों में शिवाजी-जैसे वीरों के लिए सुअवसर था, आज वह कहां हैं ? इस प्रकार एक बड़े प्रभावशाली भाषण में उन्होंने यह दिखला दिया कि यह हम लोगों का मोह है, जो अंगरेजी शिक्षा को ही देशोन्नति का कारण बताते हैं। हां, अंगरेजी जानना बुरा नहीं है। उसे हममें से बहुतेरों को जानना होगा। हम उसे सीखेंगे भी; पर आज की तरह वह शिक्षा का माध्यम और साधन नहीं रह सकती।

उड़ीसा से महात्माजी के साथ मैं बेजवाड़ा गया। रास्ते के दृश्य अवर्णनीय हैं। जैसा उत्साह अपने सूबे में देखा था वैसा ही आन्ध्र देश में भी देखने में आया। वहीं जनता की भीड़, वही दसों दिशाओं को गुंजानेवाले नारे ! स्टेशनों पर वही जन-समूह, चलती रेलगाड़ी के किनारे लाइन पर लोगों का वही जमघट और वही विराट सभाएं। मुझे याद है कि विजय-नगर में हम लोग रात को प्रायः तीन बजे रेल से उतरे। सारे शहर में लोगों ने दीवाली मनाई थी।

हम बिहार के प्रतिनिधि बेजवाड़ा से लौटते समय रेल में कार्यक्रम पूरा करने के सम्बन्ध में परस्पर बातें करने लगे। एक प्रकार से पटना पहुंचते-पहुंचते यह निश्चय कर लिया गया कि यह काम कैसे पूरा किया जायगा। रूपये जमा करने और चर्खा चलवाने की ओर लोगों का विशेष ध्यान गया। मैं भी दिन-रात सारे सूबे में दौड़ता और रूपये जमा करने में लगा रहा। सब जिलों में कार्यकर्ता इस काम में दिलोजान से लग गये। रूपये जैसे-जैसे जमा होते, बैंक में जमा होते। हम लोगों ने कई प्रकार की रसीदें छपवा ली थीं, जिनसे यह सुविधा होती कि प्रत्येक आदमी को रसीद लिखकर देने की जरूरत नहीं होती। कम-से-कम चार आने की रसीद थी। बड़ी रकमों के लिए लिखकर रसीद दे दी जाती। इसके पहले बिहार में सार्वजनिक काम के लिए जन-साधारण से इस प्रकार कभी रूपये नहीं मांगे गये थे। हम भी नहीं जानते थे कि हम कहांतक सफल होंगे। पर लोगों में उत्साह देखकर आशा बढ़ती जाती थी। हमको बहुत बड़े और धनी लोगों से बहुत ज्यादा नहीं मिला। पर हर जिले में मझोले दर्जे के लोगों ने बहुत उत्साहपूर्वक चन्दा दिया। अन्त में ३० जून तक हमने सात-आठ लाख के लगभग जमा कर लिया। ३० जून को गांधीजी को तार द्वारा इसकी सूचना दे दी गई। इस काम में सबसे ज्यादा उत्साह तिरहुत डिवीजन के जिलों ने दिखाया यद्यपि और जिले भी कुछ बहुत पीछे नहीं थे।

बिहार के कई जिलों में घूमते-घूमते काफी अनुभव हुआ। कहीं-कहीं कुछ

दिलचस्प घटनाएं भी हुईं। मनोविनोद के लिए एक घटना का वर्णन कर देता हूं।

जून का महीना था। मैं रांची जिले में तिलक-स्वराज्य-कोष के लिए रूपया जमा करने गया। वहां के कार्यकर्ताओं ने मेरे लिए दो दोनों का कार्यक्रम, जिले के विभिन्न स्थानों में जाने के लिए, बना लिया। पहले दिन रांची से मोटर पर चलकर दस बजे तक 'बुण्डू' पहुंच वहां का काम समाप्त करना था। दोपहर का भोजन रांची ही वापस आकर करना था। दोपहर को 'खूंटी' जाना था। रात तक फिर रांची वापस आना था। दूसरे दिन सवेरे लोहरदग्गा जाना था। वहां से दोपहर तक वापस आकर तीसरे पहर की गाड़ी से पटने के लिए रवाना होना था।

हम लोग रांची में सवेरे ही नहा-धोकर तैयार हो गये। टैक्सी के आने में कुछ देर हो गई। हम सात आदमी, जिनमें एक ड्राइवर और दूसरा क्लीनर था, उसपर सवार होकर रवाना हुए। यह सोचा गया था कि दोपहर को रांची में ही आकर भोजन करना होगा। इसलिए हमने साथ में कुछ भी न लिया। जो कुर्ते पहने और चादर लिये हुए थे वही सारा सामान था। डाक्टर पूर्ण मित्र ने, जो वहां के नेता थे, साथ में एक छोटा-सा बैग रख लिया था, जिसकी खबर हम लोगों को उस समय नहीं थी। कुछ दूर जाने पर, एक जंगल में पहुंचने पर, मोटर में कुछ टूट गया। ड्राइवर ने मरम्मत शुरू की और कहा कि बस दस-पांच मिनट में तैयार कर लूंगा। मरम्मत में देर होने लगी। ज्यों-ज्यों हम घबराते, वह आश्वासन देता जाता। दो-तीन घंटों के बाद उसने कहा कि लोहार की जरूरत होगी। तलाश करने पर एक गांव मिला, जहां लोहार के घर जाकर उसने कुछ पीट-पाटकर दुरूस्त कराया। जंगल में कुछ भी खाने-पीने का सामान नजर नहीं आता था। इमली के वृक्ष थे। उनमें इमली के फल के गुच्छे लटक रहे थे। हम लोग उन्हें तोड़-तोड़कर जबान और दांत खट्टे करते रहे। दोपहर के बाद प्यास ने जोर किया। फिर गांव तलाश करके लोटा-बाल्टी मंगनी मांगी गई। बहुत दूर से पानी लाकर प्यास बुझाई गई।

जब मरम्मत का काम जारी था, एक दूसरी मोटर पर सवार पुलिसवाले जाते हुए नजर आये। हम लोगों को देखकर उन्होंने अपनी गाड़ी रोक ली। हमने उनसे कहा कि हम 'बुण्डू' शीघ्र ही पहंचते हैं, आप वहां कह देंगे कि मोटर बिगड़ने के कारण हम लोगों के आने में कुछ विलम्ब हो रहा है। उन्होंने मोटर रोककर हम लोगों का हाल जान लेने की शिष्टता तो की थी; पर यह संवाद वहां पहुंचाने की भद्रता नहीं की! वहां जो जनता कुछ दूर-दूर के गांवों से भी आई थी, हम लोगों का तीन-चार

बजे तक इन्तजार करके जहां-तहां चली गई ।

अन्त में मोटर की मरम्मत हो गई । हम लोग पांच-छः बजे शाम तक 'बुण्डू' पहुंचे । जो लोग गांवों से आये थे, वे तो चले गये थे । पर खास 'बुण्डू' के लोगों में हमारे पहुंचने की खबर बात-की-बात में पहुंच गई । सभा जुट गई । हस्ब-मामूल वहां भी भाषण हुआ । रूपये जमा किये गये । जहांतक मुझे याद है, वहां सात-आठ सौ रूपये के लगभग धन एकत्र हुआ ।

काम खत्म करके हम लोग तुरत चलने के लिए तैयार हुए । पर दिन-भर केवल इमलियों पर ही बीता था, इसलिए वहां के लोगों ने भोजन कर लेने का आग्रह किया । हमने भी उसे मान लिया । रसोई होते-हवाते नौ-दस बज गये । अन्त में भोजन करके यह विचार होने लगा कि अब क्या किया जाय । उस दिन 'खूटी' का प्रोग्राम छूट चुका था । दूसरे दिन लोहर-दग्गा का प्रोग्राम किसी तरह छूटना न चाहिए । तीसरे पहर की गाड़ी से पटने के लिए रवाना होना भी अत्यन्त आवश्यक था । कुछ लोगों का विचार हुआ--विशेषकर मोटरवाला इसपर जोर देने लगा--कि रात को चलना ठीक नहीं है, रास्ते में जंगल है, खतरा है, मोटर भी न मालूम कहीं बिगड़ गई तो रात का समय बड़ा भयानक होगा । मैं समझता था कि वह बहाना कर रहा है--इतनी देर तक मोटर की मरमम्त की गई थी, और वह ठीक चली भी थी, अब क्या बिगड़ेगी । विशेषकर दूसरे दिन के कार्यक्रम की मुझे चिन्ता थी । मैंने बहुत जोर लगाया कि नहीं, जरूर चला ही जाय ।

अन्त में प्रायः ग्यारह-बारह बजे रात में उसी टूटी मोटर पर हम सात आदमी सवार होकर रवाना हुए । बीच में, थोड़ी ही दूर पर, एक घाट है, जहां कुछ ऊंची चढ़ाई है । उस चढ़ाई पर चढ़ते समय मोटर फिर टूट गई । जहां मोटर टूटी, वहां से प्रायः दो-ढाई सौ गज और ऊपर चढ़ना था । उसके बाद उतार था । उतार में यदि इंजिन न भी काम करे, तो मोटर आसानी से चली जायगी, ऐसा ड्राइवर ने कहा । हम लोगों ने भी ऐसा ही अनुमान किया । घाट से उतरकर ही एक डाक-बंगला था । हमने सोचा कि डाक-बंगले तक अगर हम किसी तरह पहुंच जायं तो वहां रात आराम से कटेगी, हम सो सकेंगे । अपनी बेवकूफी से और उत्साह में हमने यह निश्चय किया कि जो थोड़ी चढ़ाई है, उसे हम लोग मोटर ढकेल करके ही पार कर लेंगे । इसलिए हमने मोटर को आगे ढकेलना शुरू किया । बीस-तीस गज

तक मोटर ढकेल ले गये। वहां ढाल बहुत कम थी और ऊंचाई अधिक। मोटर का ऊपर चढ़ना कठिन था; पर हम लोगों ने जोर लगाया। नतीजा यह हुआ कि चन्द गज ऊपर ढकेलने के बाद मोटर उलटे पीछे की ओर झुकी। हम अपनी सारी शक्ति लगाकर उसे रोकने लगें। किसी तरह उसे एक खड्ड में गिरने से हम बचा सके। इसके बाद अब फिर हिम्मत न हुई कि मोटर ढकेलने की कोशिश की जाय।

रात के शायद बारह-एक बजे होंगे। मध्य जंगल में हम सात आदमी किसी तरह मोटर में बैठकर आये थे। दिन-भर की थकान के बाद रात को सोना भी आवश्यक था। ड्राइवर, उस निर्जन स्थान की भयानक बातें कहकर, हम लोगों को डराता भी जाता था। उसने कहा कि यहां हिंसक जानवरों और चोर-डाकुओं दोनों का डर था। हमने कहा कि चोर-डाकू हमसे लेंगे ही क्या, हमारे पास तो कुछ नहीं है। हां, यदि जंगली जानवर आ जाय तो उसका भय अवश्य है। मैंने यह कह तो दिया; पर मुझे यह नहीं मालूम था कि डाक्टर ने बुण्डू में मिले रूपयों को अपने बेग में रख लिया था। वह बेग साथ ही था। उस समय मेरी बात सुनकर डाक्टर भी कुछ न बोले। मैं भी दूसरे दिन सुबह तक इसी भूल में था कि हमारे हाथ बिलकुल खाली हैं।

हम सलाह कर ही रहे थे कि जंगल के भीतर से गरगराहट सुन पड़ी। ड्राइवर तो बहुत डर गया। कहने लगा, यह भयानक आवाज बनैले जानवर की है। कुछ ही देर में आवाज बन्द हो गई। हम सब शान्त होकर किसी तरह मोटर में बैठ गये। कुछ देर बाद जब फिर कुछ चित्त शान्त हुआ तो हमने सोचा कि मोटर वहीं छोड़ दी जाय और हम लोग डाक-बंगले तक पैदल चलकर वहां सोवें, फिर सवेरे मोटर का कुछ प्रबन्ध किया जायगा। मगर ड्राइवर इसपर राजी न हुआ। जब हम लोगों ने कहा कि हम लोग चले जाते हैं, तुम मोटर के साथ यहीं ठहरो, तो वह रोने-चिल्लाने लगा।

अन्त में यह निश्चय हुआ कि तीन आदमी मोटर के साथ ठहर जायं, बाकी चार आदमी डाक-बंगले पर चले जायं। रात चांदनी थी, यही एक चीज थी, जिससे कुछ हिम्मत बनी रहती थी। डाक-बंगले में कोई था नहीं; दरवाजे बन्द थे। हमने सोचा कि दरवाजा किसी तरह खोला जाय। इसमें हम सफल भी हो गये। अन्दर से टटोलकर एक बाल्टी निकाली गई। दो चारपाइयां और दो मेजें थीं। वे भी बाहर

निकाली गईं। पर बाल्टी से तो प्यास बुझती न थी, कुएं और डोरी की आवश्यकता रह ही गई। हम लोग एक बार फिर डाक-बंगले के आसपास चौकीदार की खोज में निकले। कुछ दूर पर देखा कि एक आदमी एक बच्चे को बगल में लेकर गाढ़ी नींद में सोया हुआ है। उस घोर जंगल में बच्चे के साथ उस आदमी को इस प्रकार निश्चिन्त सोते देखकर हम अचम्भे में आ गये। वह बहुत पुकारने पर जगा। ऊंघते-ऊंघते ही उसने कहा कि डोरी तो नहीं है, पर कुआं जंगल में थोड़ी ही दूर घुसने पर मिलेगा।

प्यासा से हम लोग परेशान थे। इसलिए फिर कुएं की तलाश में निकले। वह मिला भी। अपनी चादरों को जोड़कर डोरी बनाई गई। उसी से बाल्टी में पानी निकाला गया। पानी पीकर हम लोगों में से कुछ तो चारपाई पर और कुछ टेबुल पर सो रहे। सोने का समय थोड़ा ही मिला। सवेरे उठकर, मुंह-हाथ धोकर, हम लोगों ने सोचा कि यहां तो कोई सवारी मिलनेवाली नहीं है, इसलिए रांची की ओर हम लोग पैदल ही बढ़े; कोई गांव मिल जायगा तो वहां कुछ खाने-पीने का भी प्रबन्ध हो सकेगा।

सब लोग चलने पर राजी नहीं थे। इसलिए मैं तथा एक आदमी और, दोनों चल पड़े। यहां से तीन-चार मील जाने पर एक गांव मिला, जहां कुछ चने मिले। प्रायः नौ बजे चले। चने चबाकर हम लोग कुछ विश्राम करने लगे। धूप कड़ी हो गई थी। शीतल हवा चल रही थी। तुरन्त नींद आ गई। प्रायः एक-डेढ़ घंटे के बाद किसी ने आकर जगाया। मालूम हुआ कि रांची के भाइयों ने कल दोपहर तक हमारी बाट जोही। जब हम नहीं पहुंचे तो दूसरी टैक्सी करके हमारी खोज में कुछ लोगों को भेजा। उन्होंने भूल यह की कि इस टैक्सी पर भी प्रायः पूरा बोझ लेकर तीन-चार आदमी आये। हम लोग पांच आदमी तो, मोटरवालों को छोड़कर, एक गाड़ी का बोझ पहले से थे ही। हमने कहा कि हममें से जो लोग अभी पीछे छूटे थे, उनको पहले रांची पहुंचाओ, फिर दुबारा मोटर ले आओ तो हम दोनों चलेंगे। उन्होंने भी इसे पसन्द किया। हम लोग प्रायः डेढ़-दो घंटे और आराम से सोये। फिर जब मोटर प्रायः एक बजे के करीब आई तो रांची गये। वहां कुछ भोजन करके, दोपहर की गाड़ी से, सीधे पटने के लिए रवाना हो गये।

इतनी दिलचस्प तो नहीं, पर इस प्रकार की कई घटनाएं उन दिनों के सफर में होती रहीं।

: ३६ :

हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य और खादी-प्रचार

जुलाई १६२१ में बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी का अधिवेशन हुआ। वहां बिहार के और लोगों के साथ मैं भी गया। अधिवेशन में काफी उत्साह था, क्योंकि तुरन्त एक करोड़ रूपये जमा करने का कार्यक्रम सफलतापूर्वक देश ने पूरा कर लिया था। चर्खे के सम्बन्ध में भी काफी प्रचार हुआ था। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य तो मानो पूर्णरूपेण स्थापित जान पड़ता था। हम लोग यह नहीं समझ सकते थे कि यह कभी फिर टूटेगा। इन कारणों से उस अधिवेशन में कुछ लोगों ने इस बात पर बहुत जोर दिया कि सत्याग्रह शुरू करना चाहिए।

उधर गवर्नमेण्ट की ओर से भी कुछ कार्रवाइयां हो रही थीं, जिनसे बहुत लोग क्षुब्ध थे। यद्यपि बहुत बड़ा आन्दोलन सारे देश में चला था, तथापि वह वैध था। कानून तोड़ा नहीं गया था--तथापि भाषणों में काफी आजादी बरती जाती थी। कांग्रसी लोगों के रहन-सहन और चाल-ढाल से साहस, उत्साह और सबसे अधिक निडरपन टपका करता था। गवर्नमेण्ट जहां-तहां कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर लिया करती थी। देश में इस प्रकार कई सौ आदमी जेलखानों में थे। बिहार में हुई गिरफ्तारियों और दमन का जिक्र ऊपर किया गया है। इन कारणों से भी लोगों ने बहुत जोर दिया कि सत्याग्रह शुरू कर देना चाहिए।

महात्मा गांधी ने अभी सब्र करने का सलाह दी। चर्खा-प्रचार और उसके द्वारा विदेशी वस्त्र-बहिष्कार ३० सितम्बर तक पूरा करने का निश्चय हुआ। उन्होंने कहा कि जो कार्यक्रम कांग्रेस ने निर्धारित कर दिया है, उसको पूरा करना चाहिए। तभी सत्याग्रह में सफलता की आशा की जा सकेगी। इसलिए अभी तैयारी पर जोर देते हुए सत्याग्रह का निश्चय स्थगित रहा। पर एक दूसरी चीज ऐसी आ गई जिसने सत्याग्रह का बीज बो दिया।

गवर्नमेण्ट की ओर से घोषणा की गई कि जाड़ों में प्रिंस आफ वेल्स (इंगलैंड के युवराज) हिन्दुस्तान की यात्रा करेंगे। उसने शायद सोचा था कि जनता में ब्रिटिश

सरकार के विरूद्ध इतना प्रचार हो रहा है, लोगों में इतना उत्साह और जोश बढ़ रहा है, इसके रोकने में यह यात्रा सहायक होगी। वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड ने एक बार आन्दोलन के सम्बन्ध में कहा था कि इससे मैं घबरा गया हूं, चक्कर में पड़ गया हूं (**Puzzled and perplexed**)। अब लार्ड रीडिंग यहां वायसराय बनकर आ गये थे। वह इंगलैंड के चतुर-से-चतुर नीतिज्ञों में समझे जाते थे। उन्होंने कुछ ही दिन पहले अमेरिका में राजदूत के पद पर रहकर अमेरिका को लड़ाई में इंगलैंड के पक्ष में ले आने का कौशल दिखलाया था और अब इंगलैंड के चीफ जस्टिस के पद पर नियुक्त थे। हो सकता है, नीतिज्ञों ने समझा हो कि जैसे बंगविच्छेद के बाद बंगाल में बहुत असन्तोष फैल गया था और जब वह किसी प्रकार दमन-नीति से दबाया नहीं जा सका तब सम्राट् पंचम जार्ज हिन्दुस्तान में अपना अभिषेक कराने आये और यहां कि जनता तथा सभी लोगों ने बड़े उत्साह के साथ उनका स्वागत किया, वैसे ही इस बार भी युवराज के आगमन से हिन्दुस्तान की जनता में राजभक्ति उमड़ पड़ेगी और आन्दोलन खुद-ब-खुद कमजोर पड़ जायगा। युवराज के इस समय हिन्दुस्तान में आने का कोई भी दूसरा कारण देखने में नहीं आता था।

अखिल भारतीय कांग्रेस ने एक प्रस्ताव स्वीकार किया, जिसमें यह अनुरोध किया गया कि गवर्नमेण्ट यहां युवराज के लाने का निश्चय छोड़ दे। उसमें साफ-साफ कहा गया कि गवर्नमेण्ट के लिए, अपनी गिरती हुई लोकप्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने के हेतु, सम्राट् के पुत्र और भावी सम्राट् का इस प्रकार इस्तेमाल करना मुनासिब नहीं है। यह भी बतला दिया गया कि देश की यह बात यदि गवर्नमेण्ट स्वीकार नहीं करेगी तो मजबूरन हमको इस यात्रा का बहिष्कार करना पड़ेगा--यधापि युवराज के साथ हमारा कोई व्यक्तिगत झगड़ा नहीं है, वरन् उनके लिए हम लोगों के हृदय में आदर ही है, तथापि उनका बहिष्कार भी अनिवार्य हो जायगा। इस प्रस्ताव द्वारा साफ-साफ चेतावनी दे दी गई कि गवर्नमेण्ट की इस चालबाजी का नतीजा अच्छा न होगा और देश को सत्याग्रह के लिए तैयारी करने का आदेश दिया जायगा।

बकरीद का समय भी निकट आ गया था। बिहार और संयुक्त प्रान्त में यह समय हमेशा नाजुक समझा जाता हैं; क्योंकि जहां-तहां गाय की कुरबानी के लिए हिन्दू-मुस्लिम दंगा-फसाद हो जाया करते हैं। इस बार सोचा गया कि इस हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के जमाने में भी यदि बलवा-फसाद हुआ तो इसका बहुत बुरा

असर पड़ेगा। सोचा गया कि इस अवसर का उपयोग हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के बढ़ाने में करना चाहिए। इस सम्बन्ध में बहुत प्रचार हुआ। महात्माजी का रास्ता यह था कि हम मुसलमानों के खिलाफ लड़कर उनसे गाय की रक्षा नहीं करा सकते और उनको मारकर हम गोरक्षा का फल भी अच्छा नहीं पा सकते। इसलिए यह उनपर ही छोड़ना चाहिए कि वे, अपने हिन्दू-भाइयों की भावना को ठेस न लगाकर, भाई-चारे के व्यवहार से खुद गोवध बन्द करें--हिन्दुओं को जोर-जबरदस्ती से नहीं, बल्कि अपने प्रेम-भाव और उदार विचार से।

इस सिलसिले में अली-बन्धुओं के साथ महात्माजी ने कुछ स्थानों का दौरा भी किया। इसी दौरे के सिलसिले में वह बिहार में भी आये। इस दौरे में महात्माजी शाहाबाद, गया और पटना जिलों में ही गये, जहां बकरीद के अवसर पर कुछ गड़बड़ी का भय था। मौलाना मुहम्मदअली और मौलाना आजाद सुभानी उनके साथ थे। महात्माजी का कार्यक्रम बहुत ही संगीन था--एक दिन में कई जगहों से सभाएं और बहुत दूर तक मोटर से सफर। मुझे याद है कि एक दिन वह सन्ध्या को भोजन भी नहीं कर पाये, क्योंकि सूर्यास्त के बाद वह भोजन नहीं करते और सूर्यास्त के पहले इसके लिए समय नहीं मिला। मैं सफर में साथ रहा। सभी जगहों में आपस के मेल-जोल की बातें ही कहीं गईं। साथ-ही-साथ, खादी-चर्खा के प्रचार की बातें भी की गईं। बड़े सन्तोष और गौरव की बात है कि मुसलमान नेताओं ने--यद्यपि वे कुर्बानी करने के अपने स्वत्व को नहीं छोड़ना चाहते थे तथापि--जनता में प्रचार किया कि आदमी स्वत्व रखकर भी उसके व्यवहार करने या न करने का फैसला खुद कर सकता है; इसलिए मुसलमानों को चाहिए कि भाई-चारा और रवादारी के ख्याल से, जहांतक हो सके कुछ ऐसा न करें जिससे हिन्दुओं का दिल दुखे।

इसी वक्त हकीम अजमलखाँ तथा दूसरे नेताओं ने भी बड़ी करामात दिखलाई। फलस्वरूप उस साल की बकरीद केवल शान्ति के साथ ही नहीं बीती, बल्कि गायों की कुर्बानी भी इतनी कम हुई जितनी शायद कभी पहले भी न हुई थी। इसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों ने एक-दूसरे की भावनाओं की प्रतिष्ठा की। किसी तरफ जोर-आजमायिश की कोशिश नहीं हुई। दोनों ने एक-दूसरे की रवादारी और भाई-चारे पर भरोसा किया। उनका यह भरोसा निष्फल नहीं गया।

बिहार के कुछ भागों में, विशेष करके उत्तर बिहार के जिलों में, चर्खे का चलना कभी एकबारगी बन्द नहीं हुआ था--यद्यपि वह बहुत कम हो गया था। इस आन्दोलन से उसको नवजीवन मिला। चर्खा-प्रचार के लिए तिलक-स्वराज्य-कोष से, रूपये भी मिले। हमारे प्रान्त में भी काम शुरू किया गया। काम तो हमने शुरू किया; पर शास्त्रीय ज्ञान हमको कुछ भी न था। उत्साह था, पर व्यापार-बुद्धि नहीं थी। इसलिए जो काम उस समय हुआ उसका केवल यह फल हुआ कि खादी का प्रचार तो हुआ, पर पैसा भी काफी नुकसान हुआ। जब मैं गांधीजी के उस कथन पर अब विचार करता हूं, जिसको उन्होंने आन्दोलन के आरम्भ में ही कहा था, तो मुझे उनकी दूरदर्शिता और कार्य-कौशल का एक और भी ज्वलन्त दृष्टान्त मिल जाता है। उन्होंने कहा था कि हमारे राष्ट्रीय स्कूल चर्खा-शाला होने चाहिए और इसी के ज्ञान को प्राप्त करने और बढ़ाने में राष्ट्रीय शालाओं को लग जाना चाहिए--चर्खा द्वारा ही हम युवकों को सहस्रों की संख्या में काम दे सकेंगे और जनता की धनवृद्धि में सहायक हो सकेंगे। उन्होंने साबरमती-आश्रम में उद्योग-शाला खोलकर चर्खा-सम्बन्धी खोज का काम भी जारी करा दिया। पर राष्ट्रीय शिक्षा के अधिकारी इस मर्म को पूरी तरह नहीं समझ सके; उन्होंने विद्यापीठों और उनके अधीन पाठशालाओं को चर्खा-शाला नहीं बनाया--यद्यपि सभी जगहों में चर्खा चलाना एक अनिवार्य विषय बना दिया गया था।

चर्खे चलने लगे; पर शास्त्र का ज्ञान शिक्षकों को तो था ही नहीं, बच्चों को वे कहां से देते। इस तरह अन्धों का नेतृत्व अन्धे करने लगे ! अतः चर्खा ठीक रास्ते पर कुछ दिनों तक नहीं आ सका। आज हम इस अदूरदर्शिता के लिए किसी को दोष नहीं दे सकते; क्योंकि ऐसा होना स्वाभाविक-सा था। सब लोगों की आंखे भावी स्वराज्य की ओर, जो एक राजनैतिक परिवर्तन की सीमित चीज समझी जाती थी, लगी हुई थीं। कांग्रेस के अन्दर भी कुछ लोग, विशेष करके महाराष्ट्रवाले, खादी-चर्खे का विरोध करते ही रहे। पर इन त्रुटियों के रहते हुए भी खादी का प्रचार खूब हुआ। अभी शुद्ध और अशुद्ध खादी का भेद लोग इतना नहीं समझते थे। जो मोटा कपड़ा हाथ कर्घे पर का बुना हुआ होता उसे ही खादी समझकर खरीदते। महात्माजी ने कहा था कि सत्याग्रह के लिए खादी का प्रचार अत्यन्त आवश्यक है और प्रचार

का सबूत आंखों को ही मिलना चाहिए । अर्थात् जब चारों ओर लोगों को खादी पहने हम देखेंगे तो हम समझ लेंगे कि इसका प्रचार हो गया--इसके लिए पुस्तकों और लेखों तथा अखबारों में छपे आंकड़ों में, अथवा किसी से पूछ करके, सबूत ढूंढ़ने की जरूरत नहीं होगी ।

बिहार के इस दौरे में गांधीजी ने खादी पर काफी जोर दिया । कोकटी का कपड़ा, जो दरभंगा-जिले के मधुवनी इलाके में बनता था, काफी महीन और सुन्दर तथा मुलायम होता है । उसको देखकर लोग चकित हो जाते थे । इसका व्यापार अभी तक मरा नहीं था । इसका विशेष कारण यह था कि इस कपड़े का खर्च नेपाल-दरबार में और वहाँ की संभ्रात जनता में काफी था । वहां के लिए ही यह कपड़ा, विशेष करके उस इलाके में जो नेपाल की सरहद पर ही है, बहुत बना करता था । उस इलाके की बनी हुई कुछ धोतियां भी पेश की गईं, जिनको देखकर, विशेषकर, मुझे याद है कि मौलाना मुहम्मदअली, बहुत ही सन्तुष्ट हुए थे । बिहार-शरीफ-जैसे मोमिनों के एक बड़े मुख्य स्थान पर गांधीजी गये और उन लोगों ने मदद करने का वचन भी दिया ।

बिहार-यात्रा समाप्त करने के पहले गांधीजी अपने साथियों के साथ पटने आये । सदाकत-आश्रम में ठहरे । अखिल भारतीय कांग्रेस की नई बनी हुई कार्यकारिणी की बैठक वहीं हुई । बम्बई की अखिल भारतीय कमिटी में बर्किंग कमिटी का चुनाव हुआ था । मैं भी सदस्य चुना गया था । इसलिए मैं भी इस बैठक में शरीक हुआ । इस बैठक में विशेषकर इसी बात पर जोर दिया गया कि विदेशी वस्त्र-बहिष्कार का कार्यक्रम पूरा होना चाहिए और इसके लिए चर्खा-प्रचार आवश्यक है ।

बिहार से गांधीजी कलकत्ते होते हुए आसाम चले गये । मैं बिहार में खादी-संगठन और चर्खा-प्रचार के लिए घूमने लगा । प्रान्तीय कमिटी ने इस काम के लिए कुछ लोगों की एक समिति बना दी । सभी जिलों में इस काम के लिए कुछ लोग नियुक्त कर दिये गये । काम खूब जोरों से चलने लगा । सरकार अपनी ओर से चुप नहीं रही । उसको भय हो गया कि विदेशी कपड़ों की दुकान पर पहरा बैठाया जायगा । कांग्रेस ने कपड़े के व्यापारियों से अनुरोध किया था कि वे विदेशी कपड़े का व्यापार

छोड़ दें और जो विदेशी माल उनके पास मौजूद हैं, उसे विदेशों में ही बेचने का प्रबन्ध करें--भारतवर्ष में यहीं के बने कपड़े ही बेचें । इसी निश्चय से डरकर बिहार-सरकार के नये प्रधान मंत्री (चीफ सेक्रेटरी) मिस्टर सिफ्टन ने एक दूसरी विज्ञप्ति निकाली, जिसमें जिला-अफसरों को प्रोत्साहन दिया गया कि वे विदेशी वस्त्र-सम्बन्धी प्रचार करें और जनता को यह बतावें कि विदेशी वस्त्र के बिना लोगों को बहुत कष्ट होगा--कपड़ा बहुत मंहगा हो जायगा । और, जहां हीं कांग्रेसी लोग जोर लगावें, गिरफ्तार किये जायं । पहले इस प्रकार की एक विज्ञप्ति चीफ सेक्रेटरी रेनी ने असहयोग के सम्बन्ध में निकाली ही थी । अब विदेशी वस्त्र को लेकर और भी जोरदार नीति की घोषणा सरकार ने कर दी । मालूम होने लगा कि एक-न-एक दिन मुठभेड़ हो ही जायगी । पर हम अपना काम दृढ़ता--किन्तु सहिष्णुता--के साथ करते गये । काम खूब जोरों से आगे बढ़ता गया ।

गांधीजी आसाम का दौरा समाप्त करके कलकत्ता वापस आये । वहां फिर वर्किंग कमिटी की बैठक हुई, जिसमें शरीक होने के लिए मैं वहां गया ।

: ३७ :

मोपला-विद्रोह और हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न

गाँधीजी कलकत्ते में मद्रास की ओर चले गये। इसी यात्रा में उन्होंने कहीं पर लंगोटी पहनने की घोषणा कर दी। मौलाना मुहम्मदअली, जो यात्रा में साथ थे, वाल्टेयर स्टेशन पर गिरफ्तार कर लिये गये। वह दूसरे कई नेताओं के साथ--जिनमें मौलाना शौकतअली, डाक्टर किचलू, मौलाना हुसैन अहमद, मौलाना निसार अहमद, पीर गुलाम मजुद्दिद और श्री भारती कृष्ण तीर्थ शंकराचार्य भी थे--कराची में, खिलाफत-कान्फ्रेंस के भाषण तथा एक फतवे के प्रचार के लिए, कचहरी में पेश किये गये। इस मुकदमे ने भी देश में खलबली पैदा कर दी। मौलाना मुहम्मदअली न अपने बचाव में जो बयान दिया, उसके कारण, तथा उन व्यक्तियों के व्यक्तित्व के कारण, जो इसमें मुजरिम थे, यह एक बड़ा महत्त्वपूर्ण मुकदमा हो गया। अन्त में श्री शंकराचार्य को छोड़कर सबको सजा हुई।

इसपर वर्किंग कमिटी की बैठक बम्बई में हुई और उसने आज्ञा दे दी कि जिस फतवे के लिए इन नेताओं को सजा मिली है, वह सभी जगहों पर बड़ी-बड़ी सभाओं में दुहराया जाय। बम्बई में एकत्र वर्किंग कमिटी के मेम्बरों और दूसरे नेताओं ने अपने हस्ताक्षर से एक एलान निकाला, जिसमें वही बातें दुहराई गई थीं, जिनके लिए कराची का मुकदमा चला था। इस एलान पर मैंने भी दस्तखत किया था। सारे देश में अनगिनत सभाएं हुईं। उनमें अनगिनत लोगों ने उक्त फतवे को दुहराया। सरकार ने कुछ नहीं किया, हक्का-बक्का होकर रह गई! जिस फतवे को केवल मुसलमान जानते थे, वही फतवा इस प्रकार न मालूम कितने हिन्दुओं ने भी दुहराया और यह दिखला दिया कि वही काम, जिसे अगर थोड़े लोग करें तो कानूनी जुर्म हो जाता है और यदि सारा देश संगठित रूप से करे तो कानूनी जुर्म हो जाता है और यदि सारा देश संगठित रूप से करे तो जुर्म नहीं रह जाता। सत्याग्रह का यह एक सुन्दर नमूना देश के सामने पेश हो गया!

ठीक इसी समय बिहार-प्रान्तीय राजनैतिक कान्फ्रेंस की बैठक, बहुत धूमधाम से आरा में, मौलवी महम्मद शफी के सभपितत्व में हुई। मैं उसमें एक ही दिन शामिल

हो सका; क्योंकि मुझे वर्किंग कमिटी में भाग लेने के लिए बम्बई चला जाना पड़ा। फिर भी आरा में बहुत उत्साह रहा। साथ ही वहां प्रान्तीय खिलाफत-कान्फ्रेंस भी हुई, जिसमें बहुतेरे हिन्दुओं ने खिलाफत-फंड और सुमिरना-फंड के लिए रूपये जमा करने का वचन दिया और रूपये जमा भी हुए।

जब महात्माजी इसी सफर में थे, खबर मिली कि मालावार में मोपलों ने सरकार के खिलाफ बगावत कर दी है। शुरू में इस तरफ पूरी खबर नहीं पहुंच पाई, पर आहिस्ता-आहिस्ता खबर मिलने लगी। मौलाना मुहम्मदअली का वहां जाने का इरादा था जब वह गिरफ्तार कर लिये गये। महात्माजी जाना चाहते थे, पर उन्हें भी इजाजत नहीं मिली और वह रोक दिये गये। यदि वे लोग वहां जा पाते तो शायद इस आन्दोलन का वह रूप नहीं होता, जो हो गया अथवा जिसका इतना प्रचार किया गया। शुरू में मोपलों ने सरकारी कर्मचारियों और रेल तथा कचहरियों इत्यादि पर ही हमला किया; पर कुछ बाद खबर फैलने लगी कि उन्होंने हिन्दुओं पर भी आक्रमण करना शुरू कर दिया--उनको मारने तथा जबरदस्ती मुसलमान बनाने लगे! इस खबर से हिन्दुओं में काफी खलबली फैली। एक प्रकार से आपस के मनमुटाव का बीज-वपन भी हो गया। जो हिन्दू-मुस्लिम एकता एक प्रकार से स्थापित दीखती थी, वह इस एक घटना से ही हिलती हुई नजर आने लगी। कुछ हिन्दुओं के, और विशेष करके सरकार के, प्रचार से इसका काफी असर पड़ने लगा। अभी तक बात बहुत बिगड़ी नहीं थी। यदि कुछ महीनों के बाद दूसरी घटनाएं, जिन्होंने हिन्दू-मुस्लिम दंगे का रूप धारण कर लिया, न हुई होतीं तो १६२१ के ऐक्य का दृश्य हमारे सामने आता ही रहता। पर होना कुछ और ही था!

गांधीजी का विचार है कि उन्होंने खिलाफत के सम्बन्ध में मुसलमानों की जो-कुछ मदद की, वह ठीक ही किया। इसके लिए उनको आज तक तनिक भी पश्चात्ताप नहीं है। उन्होंने जो कुछ किया अथवा हिन्दुओं ने जो कुछ उनकी प्रेरणा से किया, वह उचित और न्याय था। जब एक घर में दो भाई रहते हों तो एक पर यदि किसी प्रकार की आपत्ति-विपत्ति आवे तो दूसरे का धर्म है कि उसकी सहायता करे। इसमें यह विचार करना नहीं चाहिए कि इस सहायता के बदले विपद्ग्रस्त भाई सहायता देनेवाले के साथ क्या बर्ताव करेगा या इस उपकार को भूल जायगा। अपना कर्तव्य करना ही मनुष्य के लिए काफी होना चाहिए। उसकी जज़ा या बदले की आशा बेकार है

। इसके अतिरिक्त मैं समझता हूं कि उन्होंने मुसलमानों की मदद कुछ देश के लिए स्वार्थबुद्धि से भी की थी; क्योंकि वह मानते थे कि हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य देशोद्धार के लिए आवश्यक है और इस सेवा द्वारा वह हिन्दुओं के लिए मुसलमानों से गोरक्षा की भी आशा रखते थे ।

दूसरी ओर, कुछ लोगों का विचार है कि खिलाफत के आन्दोलन को, जो एक धार्मिक आन्दोलन था, इस प्रकार मदद देकर धार्मिक कट्टरपन को ही सहायता पहुंचाई गई, जिसका नतीजा यह हुआ कि आम मुसलमान जनता में कट्टरता बढ़ी, जो समय पाकर इतनी भयंकर हो गई कि सारे देश में--जैसे ही यह आन्दोलन कुछ कमजोर पड़ा--हिन्दू-मुस्लिम दंगे और फसाद शुरू हो गये । इतना ही नहीं, मुसलमानों में इतनी और जागृति आ गई कि वह धार्मिक विषयों के अलावा राजनीति में भी अपना कट्टरपन दिखाने लगे । और, जब कुछ दिनों के बाद तुर्कों ने ही खलीफा को निकाल दिया, और इस प्रकार खिलाफत की जड़ ही कट गई, तो यह जागृति पूरी तरह से भारतीय राजनीति में मुसलमानों को कट्टरपंथी बनाने में समर्थ हुई । यदि इतना ही होता तो कोई हर्ज नहीं था, पर यह कट्टरपन धार्मिक होने के कारण मुसलमानों में अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करने की भावना पैदा करने लगा ।

कोई भी क्रिया अपनी प्रतिक्रिया के बिना नहीं रहती । कट्टरपन हिन्दुओं में भी आने लगा । एक ओर से मुसलमानों ने तबलीग--धर्म-परिवर्तन--के लिए जनता में प्रचार करना शुरू किया, तो दूसरी ओर हिन्दुओं ने शुद्धि और संगठन का बिगुल बजाया । सबका नतीजा यह हुआ कि आहिस्ता-आहिस्ता मनमुटाव बढ़ता गया । आज दोनों के बीच में एक बहुत चौड़ी और गहरी खाई-सी पैदा हो गई है, जिसका इस समय किसी तरह पाटना या पार करना बहुत मुश्किल हो रहा है । ब्रिटिश सरकारी इस मौके पर कैसे चूक सकती थी । वह समय-समय पर अपनी कूटनीति से काम लेने से बाज नहीं आई । वह छोटी चिनगारी को चतुरता से बराबर फूंकती गई । अब भी, जब वह एक ज्वाला का रूप धारण कर चुकी है, वह उसमें घी डालने से बाज नहीं आती !

यहांपर मैंने थोड़े में एक लम्बी कहानी कह डाली । ऐसा न समझा जाय कि मैंने जो कुछ लिखा है वह सब कुछ १६२१ में ही हो गया । उस समय किसी तरह जमीन पर बीज गिर गया, जिसको शायद बहुतेरों ने गिरते देखा भी नहीं, अगर देखा भी तो

उसने इतना महत्त्व नहीं दिया, क्योंकि बावजूद मोपला-विद्रोह के सारे देश में अभी तक ऐक्य-ही-ऐक्य देखने में आता था, जिसका सबसे उज्ज्वल प्रमाण उन सभाओं में मिला, जो फतवा दुहराने के लिए सारे देश में की गई तथा जिसकी पुष्टि युवराज के आने पर देश ने सर्वव्यापी बहिष्कार द्वारा की।

यहां इन दो विचार-धाराओं के सम्बन्ध में इतना ही कह देना चाहता हूं कि दोनों के दृष्टिकोण में बड़ा अन्तर है। मुसलमान चाहे जिस तरह से भारत में आये हों और चाहे जिस तरह उनकी संख्या बढ़ी हो, आज वे हिन्दुस्तान के वैसे ही निवासी हैं जैसे हिन्दू। उनके लिए भी कोई दूसरा देश नहीं है। उनकी सहानुभूति दूसरे देशों के मुसलमानों के साथ भले ही हो, और बहस के लिए यह भी मान लिया जाय कि उनको यदि इस बात के चुनने का मौका मिले कि वे किसी विपत्ति-काल में अपने पड़ोसी गैर-मुस्लिमों को छोड़कर दूरवर्ती विदेशी मुसलमानों के साथ ही अपनी सहानुभूति रखेंगे और अधिक करके दिखलायेंगे, तो भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि इसी देश के अन्दर उनको भी मरना-जीना, सुख-दुःख पाना और जिन्दगी के सभी अरमान पूरे करना तथा मुसीबतें झेलना है। मरने के बाद भी वे देश के कुछ हिस्से पर कब्जा जमाये रखते हैं। हिन्दू मरने के बाद जला दिया जाता है और उसके पांच भौतिक शरीर का निशान कहीं नहीं रह जाता, जो थोड़ी-बहुत राख के रूप में रह जाता है उसे भी वायु उड़ा ले जाती है अथवा पानी बहा ले जाता है! पर मुसलमान तीन-चार हाथ जमीन लेकर स्थायी रूप से यहां की धरती पर पड़ा रहता है। यह बात कौन नहीं जानता कि इन कब्रों के कारण कितने झगड़े हुआ करते हैं। इसलिए हमको यह मान लेना ही पड़ेगा कि हम मुसलमानों को देश में गैर नहीं समझ सकते।

अब प्रश्न यह होता है कि मुसलमान यदि गैर नहीं हैं तो उनका भी इस देश के साथ ही वही सम्बन्ध है जो और किसीका; इसलिए उनको भी यहां की सभी चीजों में हिस्सा मिलना चाहिए। राजनैतिक अधिकार के बंटवारे में भी उनका हिस्सा न्याय है। उससे इनकार करने का एक ही अर्थ है, और हो सकता है, वह अर्थ यह है कि उनको दबाकर उन अधिकारों से वंचित रखा जाय।

जो बातें मुसलमानों के सम्बन्ध में कही गई हैं, वही बातें सभी मत, धर्म और विचारवालों के लिए लागू हैं। जिस देश में इतनी जातियां, इतने धर्मवाले, इतनी

भाषाओं के बोलनेवाले, इतने मत-मतान्तर के माननेवाले बसते हों, वहां आपस की एकता में यदि स्थायित्व न हो, तो पारस्परिक विश्वास और प्रेम की नींव पर शान्ति कभी स्थायी नहीं हो सकती। जो जब चाहेगा, दूसरों को दबा सकेगा, अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेगा; पर दबे हुए लोग फिर उठ खड़े होने के प्रयत्न में ही लगे रहेंगे--न खुद शान्त रहेंगे और न दूसरों को शान्त रहने देंगे। आज जो दृश्य कुछ छोटे पैमाने पर हिन्दुस्तान में बराबर ही बना रहेगा। यह कोई बुद्धिमत्ता अथवा दूरदर्शिता का परिचायक नहीं है। हम आज के इस भयंकर संहार को देखते हुए भी यदि इस रहस्य को न समझें, और इस देश को उसी प्रकार के संहार के बचाने के उपाय न सोचें, तो यह हमारे लिए लज्जा और दुःख तथा हँसी की बात होगी। गांधीजी ने इसी विचार-धारा के अनुसार शुरू से ही अहिंसा पर जोर दिया है, जिसकी आवश्यकता भारत-जैसे देश के लिए सबसे ज्यादा है।

: ३८ :

अहिंसा का तत्त्व

अहिंसा का तत्त्व बहुत गहन है। इसको जीवन में उतारना बड़ा ही कठिन है। इसको ठीक न समझने के कारण ही कुछ लोग इसकी शक्ति और मर्यादा की हँसी उड़ाते हैं। वे कहते हैं कि इसके द्वारा आदमी कायर हो जाता है--आज तक संसार में किसी देश ने इसे अपने राष्ट्रीय कार्यक्रम में स्वीकार नहीं किया है। लोग कहते हैं कि इसके द्वारा देश की स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं हो सकती। मामूली जन-साधारण की कौन कहे, बड़े-बड़े समझदार और संयमी पुरूष भी क्रोध को नहीं रोक सकते। क्रोध ही तो हिंसा का जन्मदाता अथवा दूसरा स्वरूप है। इसलिए यह नीति कभी प्रचलित नहीं हो सकती। यह अव्यवहार्य है। इत्यादि।

इस विषय पर विचार करते समय पहली बात मान लेनी चाहिए कि हिंसा में कायरता है, अहिंसा में नहीं। जहां कायरता आ गई वहां अहिंसा रह नहीं सकती। हम यदि अपने प्रतिपक्षी से डरते हैं और उस डर से उसका नुकसान नहीं करना चाहते हैं तो इसमें अहिंसा कैसे हो सकती है? प्रतिपक्षी को क्षति न पहुंचाने की प्रवृत्ति डर के कारण है न कि इसलिए कि नुकसान पहुंचाना बुरा है। जो मनुष्य इस तरह डर के मारे नुकसान नहीं पहुंचाता, उसको यदि आज मौका मिल जाय, किसी तरह दूसरे के बल का सहारा भी मिल जाय और उसका भय दूर हो जाय, तो वह निःसंकोच और अविलम्ब प्रतिपक्षी पर वार कर देगा; उससे जहांतक हो सकेगा उसकी क्षति करेगा। यह अहिंसा कदापि नहीं है। अहिंसा उसी में रह सकती है जो यह महसूस करता है कि क्षति पहुंचाना ही बुरा है, दूसरे को दुःख देना अन्याय है और इसी विश्वास से वह दुःख पहुंचाने से हिचकता है। उसकी यह प्रवृत्ति उसकी क्षति पहुंचाने की शक्ति पर निर्भर नहीं रहती। उसकी यदि शक्ति न भी हो और वह इस भावना से प्रेरित होकर क्षति पहुंचाने का विचार तक न करे, तो भी उसकी प्रवृत्ति अहिंसात्मक होगी। और, यदि शक्ति होते हुए भी वह क्षति पहुंचाने में प्रवृत्ति नहीं होता, तो उसके अहिंसात्मक होने में किसी को सन्देह ही नहीं हो सकता। जब मनुष्य

इस प्रकार और इस भावना से प्ररित होकर दूसरे को कष्ट नहीं देना चाहता, तो इसके साथ-साथ उसपर यदि प्रतिपक्षी कुछ ज्यादती और जुल्म भी करता हो, तो उसे सहने की शक्ति उसमें होनी ही चाहिए। यदि कोई किसी अन्याय को इसलिए सह लेता है कि ऐसा यदि न किया जाया तो अन्यायी और भी अधिक कष्ट पहुंचा सकता है और इसलिए मन मारकर उसे सह लेना ही ठीक है, तो यह अहिंसात्मक प्रवृत्ति नहीं है, यह कायरता है। अहिंसात्मक प्रवत्ति वह है कि हम जो ठीक और न्याय-संगत समझते हैं उसको करते ही जायेंगे-निर्भय होकर अपने कर्तव्य पर डटे रहेंगे और अन्यायी चाहे जितना भी जुल्म करना चाहे, कर ले, पर हम कर्तव्य-च्युत नहीं होंगे और अन्यायी से बदला लेने की भावना से उत्तेजित होकर उसके साथ कोई बलप्रयोग न करेंगे। जहां इस प्रकार अपने निर्धारित पथ से हम नहीं हटते, अपने पथ पर डटे रहने के कारण जो भी जुल्म अन्यायी करता है, उसे सह लेते हैं और साथ ही उसे कष्ट नहीं पहुंचाते, तो सच्चे अहिंसात्मक मनुष्य का-सा हमारा बर्ताव होता है। इससे स्पष्ट है कि अहिंसात्मक क्रिया में कायरता नहीं है। उसमें कष्ट सहने से डर नहीं है। यह तभी हो सकता है जब अपने पक्ष के न्याययुक्त होने में पूरा विश्वास हो, उसके समर्थन के लिए दृढ़ संकल्प हो और विपक्षी को कष्ट न पहुंचाने का पक्का विचार हो। अन्त में अहिंसात्मक व्यक्ति की ही विजय होती है।

यदि यह कहा जाय कि इस प्रकार की सहनशक्ति मनुष्य में, विशेष करके जन-साधारण में पैदा करना मुशिकल है तो इतना ही कहना काफी होगा कि जो लोग लड़ाई में अस्त्र-शस्त्र से लड़ते हैं, उनमें भी तो साधारण श्रेणी के ही लोग रहते हैं, जिनको अगर यों ही छोड़ दिया जाय तो उतनी बहादुरी नहीं दिखला सकते, जो वे रणभूमि में दिखलाते हैं। केवल अभ्यास और अध्यवसाय की जरूरत है। फौज के सिपाही की बहादुरी भी अभ्यास द्वारा ही पैदा की जाती है। पर वह बहादुरी भय पर अवलम्बित है--प्रतिपक्षी को मारना ही चाहिए, नहीं तो वह मार डालेगा! प्रतिपक्षी द्वारा मारे जाने का भय ही एक अत्यन्त जबरदस्त कारण बहादुरी का होता है। और इनके अलावा, सभी संगठित सेनाओं में अनुशासन का भी भय तो रहता ही है। जो बात तुलसीदासजी ने मारीच के सम्बन्ध में कही है वह यहां भी लागू होती है--"उभय भांति देखा निज मरना!" तब मनुष्य एक प्रकार से स्वभावतः बहादुरी करने लगता है। यह बहादुरी बहुत अभ्यास से आती है। अहिंसात्मक बहादुरी भी इसी तरह

अभ्यास चाहती है ।

अहिंसात्मक अभ्यास दूसरे प्रकार का होता है । फौज में दिन-प्रतिदिन कवायद, कसरत, क्रूरतापूर्ण शिकार इत्यादि कराये जाते हैं । अहिंसात्मक अभ्यास इससे बिलकुल भिन्न है । उसका साधन यदि एक शब्द में कहना चाहें तो बस संयम है । यहां संयम व्यापक अर्थ में उन तमाम नियमों के लिए व्यवहृत किया गया है जिनका जिक्र हिन्दुओं के तथा दूसरे धर्मों के धर्मग्रन्थों में पाया जाता है । वे साधारण सदाचार के नियम सख्ती से पालन करके सीखे जाते हैं । इन नियामों का झुकाव अहिंसा और सत्य की ओर ही होता है । गांधीजी ने बार-बार लिखा है कि ईश्वर पर विश्वास इसका एक बहुत बड़ा सहायक होता है । यदि इस अहिंसात्मक प्रवृत्ति का जाग्रत और पुष्ट करने में समय लगाया जाय, बचपन से ही अभ्यास कराया जाय और इसपर पूरा ध्यान दिया जाय, तो निर्भयता इत्यादि जो इसके मुख्य बाह्य रूप देखने में आते हैं, अवश्य ही प्रप्ति किये जा सकते हैं । यह कहना कि यह मनुष्य के लिए सम्भव नहीं, बे-बुनियाद बात है ।

एक समय था जब सभी देशों में जनता में से थोड़े ही लोग लड़ने का पेशा किया करते थे अथवा अपना धर्म समझा करते थे और साधारण जन-समूह फौज और लड़ाई से अलग रहा करता था । भारत में युद्ध क्षत्रियों का ही धर्म समझा जाता था । ब्रिटिश गवर्नमेण्ट भी भारतवर्ष में कुछ विशेष जाति व प्रदेश के लोगों को ही लड़ाकुओं में गिना करती थी और उनमें से ही फौज में लोग भर्ती हुआ करते थे । पर आजकल के विध्वंसकारी महायुद्ध ने यह साबित कर दिया, कि युद्ध के लिए सभी लोग तैयार किये जा सकते हैं और जिस देश ने इस मर्म को जितना जल्द समझा और लोगों को युद्ध-शिक्षा देने का जितना अच्छा सुप्रबन्ध किया, वह उतना ही शीघ्र और अधिक तैयार हो गया । हिन्दुस्तान में भी इस महायुद्ध में वह बन्धन नहीं रहे जो पहले रहा करते थे और उन जातियों तथा प्रदेशों में भी काफी भर्ती हुई है, जो पहले लड़ाकू नहीं समझे जाते थे । यह स्पष्ट है कि जिस तरह आज की सेना सभी श्रेणियों और विभागों के लोगों से बनी है और बहादुरी के साथ लड़ी है उसी तरह अहिंसात्मक सेना भी जन-साधारण से तैयार की जा सकती है, बल्कि इस अहिंसात्मक सेना की भर्ती के लिए क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत हो सकता है । सशस्त्र सेना में शारीरिक ताकत आवश्यक होती है और इसलिए बूढ़े, कम उम्र के बच्चे और बहुत अंश में

स्त्रियां उसके योग्य नहीं समझी जातीं। अहिंसात्मक सेना में बूढ़े, बच्चे, स्त्रियां और यहांतक कि अन्धे, लूले, लंगड़े भी शरीक हो सकते हैं; क्योंकि इसमें शारीरिक शक्ति इतनी आवश्यक नहीं है--मानसिक दृढ़ता और आत्मबल ही काफी है।

अहिंसात्मक क्रिया का एक बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण फल यह है कि इसमें जो शरीक होता है, वही अपने ऊपर आपत्ति बुलाता है। दूसरे कष्ट और मुसीबत के भागी नहीं होते, क्योंकि दूसरों को कष्ट पहुंचाना प्रतिपक्षी को भी इष्ट नहीं होता और कष्ट द्वारा यह अपना कार्य-साधन ही करना चाहता है। इसका उद्देश्य तो प्रतिपक्षी को भी अपने वश में कर लेना होता है, और वह भी बल-प्रयोग से नहीं, अपने प्रेम के प्रयोग से और प्रतिपक्षी में भी उसी प्रकार की भावनाओं को जाग्रत करके। इसलिए अहिंसात्मक क्रिया में कम-से-कम कष्ट होता है। जहां बल-प्रयोग है, वहां दोनों पक्षों पर मुसीबत होती है। इसमें केवल एक पक्ष अपने ऊपर मुसीबत लेता है। कष्ट की मात्रा इस तरह यों ही आधी हो जाती है। पर यह मात्रा आधी से भी कहीं अधिक कम होती है; क्योंकि जहां विपक्षी बल-प्रयोग के कष्ट नहीं पहुंचाता वहां दूसरे के भी हाथ कमजोर पड़ जाते हैं और हथियार मोथरे हो जाते हैं। बाहु में बल-प्रयोग की शक्ति आन्तरिक क्रोध से बढ़ती है और वह क्रोध बल-प्रयोग द्वारा प्रतिकार से जितना जाग्रत होता है, उतना अहिंसात्मक प्रतिकार से नहीं होता है। इसलिए यदि दोनों पक्षों के कष्टों और मुसीबतों को लेखा लिया जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि अहिंसात्मक क्रिया में कष्ट की मात्रा बहुत ही कम हो जाती है।

अहिंसात्मक क्रिया में किसी विशेष साधन की आवश्यकता नहीं होती। आज के युद्ध में नित्य नये अस्त्र-शस्त्रों का आविष्कार और प्रयोग होता रहता है। आज जितना धन खर्च हो रहा है उसके आंकड़े बुद्धि को चकरा देते हैं। अमेरिका ने इस युद्ध में प्रायः पचपन करोड़ रूपये प्रतिदिन खर्च किये हैं और इंगलैंड ने प्रायः पन्द्रह-सोलह करोड़ रूवये। गरीब भारतवर्ष ने भी एक करोड़ प्रतिदिन खर्च किया है। दूसरे देशों का पता नहीं। पर रूस और चीन के खर्च का भी कुछ इन्हीं आंकड़ों से अन्दाज लगाया जा सकता है। इन राष्ट्रों के प्रतिद्वन्द्वी जर्मनी, इटली और जापान कितना रोजाना खर्च करते रहे, उसका भी हम इसीसे अनुमान कर सकते हैं। इन आंकड़ों में जो खर्च हुआ है वही बताया गया है। दुश्मन की कार्रवाई से जो प्रतिदिन नुकसान पहुंचाया गया है, उसका हिसाब शायद इसमें नहीं है। इसी प्रकार मनुष्यों

की हत्या भी बेहिसाब हुई है । और, युद्ध से पैदा हुई उन मुसीबतों और कष्टों का तो कोई हिसाब ही आकड़ों के रूप में नहीं कहा जा सकता जो उन देशों की जनता को सहने पड़े हैं, जो लड़ाई में शरीक थे, और कुछ हद तक उन देशों को भी, जो लड़ाई में शरीक नहीं थे । इसके विपरीत अहिंसात्मक क्रिया में बाह्य पदार्थों की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है और जन-साधारण के जीवन-क्रम में कोई विशेष-रक्त का खर्च और जन-समूह की मुसीबतें--सभी बातें अहिंसात्मक क्रिया में बहुत ही कम, नहीं के बराबर, हो जाती हैं, जहां बल-प्रयोग में वे इतना ज्यादा होती हैं कि उनका हिसाब ही नहीं लगाया जा सकता है । इसलिए गरीब देश भी इसका प्रयोग आसानी से कर सकता है और बड़े-से-बड़े शक्तिशाली देश का मुकाबला कर सकता है ।

यह तो हुआ अन्तर्राष्ट्रीय कामों में अहिंसा का महत्त्व । जहां एक ही देश में विभिन्न धर्मों के माननेवाले, विभिन्न भाषाएं बोलनेवाले और विभिन्न विचार रखनेवाले बसते हैं, वहां तो यदि हिंसा की शरणली गई तो वहां की जनता एक दिन भी चैन से नहीं रह सकती । अगर भारतवर्ष के लोग आपस में भाई-चारे का बर्ताव न करें, एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता न बरतें और अपने स्वत्वों को ही मुख्य समझकर दूसरों से उनको मनवाने में संलग्न रहें तथा दूसरों के प्रति अपने कर्तव्यों को गौण समझकर उनके पालन के सतत प्रयत्न में न लगे रहें, तो इसका नतीजा दिन-दिन खून-खराबी बढ़ने के सिवा दूसरा हो ही नहीं सकता । जहांतक एक व्यक्ति की हिंसात्मक प्रवृत्ति का सम्बन्ध दूसरे एक व्यक्ति से होता है वहांतक तो देश की स्थापित राष्ट्र-शक्ति अपनी पुलिस और अदालतों द्वारा उसका नियंत्रण कर सकती है । पर जब वह प्रवृत्ति जन-समूह तक पहुंच जाती है और देश के विभिन्न विभाग एक-दूसरे से टकराने लगते हैं, तो पुलिस और कचहरियां बेकार हो जाती हैं । और इस झगड़े का रूप गृहयुद्ध का हो जाता है । इससे बचने के लिए अहिंसात्मक क्रिया पर भरोसा करने के सिवा दूसरा कोई रास्ता भारतवर्ष-जैसे देश के लिए नहीं हो सकता ।

इस सम्बन्ध में एक और बात स्मरण रखने योग्य है । जब हिंसा-अहिंसा की बात हम करने लगते हैं और यह कह बैठते हैं कि हिंसा तो हमारी नस-नस में भरी है, हम कैसे आशा करें कि उत्तेजन के समय साधारण मनुष्य और विशेष करके साधारण जन-समूह अहिंसात्मक रह सकेंगे, तो ऐसा कहते समय हम भूल जाते हैं कि यदि किसी व्यक्ति या समूह के जीवन की रोजाना कार्रवाईयों को देखा जाय, तो हम

पावेंगे कि इन सबमें शायद ही एक-दो ऐसे काम होते होंगे, जिनमें हिंसा का प्रयोग किया जाता होगा। सौ में प्रायः निन्यानवे काम ऐसे ही बिना बल-प्रयोग और बिना हिंसात्मक क्रिया के होते हैं, और उन एक या दो प्रतिशत परिस्थितियों पर भी काबू कर लेना तथा हमेशा अहिंसात्मक क्रिया को ही बर्तना कुछ असम्भव नहीं होना चाहिए। हां, प्रयत्न के बिना हमारी जिन्दगी जंगली जानवरों से भी बुरी हो सकती है।

चम्पारन में गांधीजी ने कहा था कि नीलवरों का मैं बुरा नहीं चाहता हूं; पर साथ ही उनके द्वारा जो जुल्म, ज्यादती और अन्याय रैयतों पर होते हैं, उनको बन्द कराऊंगा और दोनों का मित्र बना रहूंगा। कुछ ऐसा ही हुआ भी। कारण, सबकुछ हो जाने के बाद उन्हीं नीलवरों ने गांधीजी को पाठशाला खोलने और दूसरे प्रकार से रैयतों की उन्नति के कामों में सहायता देने का बचन भी दिया था। थोड़े दिनों तक तीन पाठशालाएं चलीं। एक के सिवा दो पाठशालाओं का नीलवरों के साथ अच्छा और मीठा अनुभव रहा।

यही बात अंगरेजी सल्तनत के साथ भी बड़े पैमाने पर हो सकती है, यदि देश ने अहिंसा के रास्ते को मजबूती से पकड़े रखा। पर आज संसार में प्रलयंकर युद्ध के बाद भी, जिसने बल-प्रयोग को पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया है और यह साबित कर दिया है कि मनुष्यमात्र को यदि जीवित रहना है और सभ्यता को कायम रहना है, तो कोई-न-कोई ऐसा रास्ता निकालना चाहिए, जिसमें राष्ट्रों को हर बीस-तीस वर्ष पर अपने युवकों को कटवाना न पड़े, माताओं को केवल मारे जाने के लिए ही बच्चे न जनने पड़ें और धन-राशि केवल अग्नि द्वारा जलाये जाने अथवा समुद्र के पेट में डुबाये जाने के लिए ही पैदा न की जाय। मैं देखता हूं कि हमारे देश का कांग्रेसियों का और उन कार्यकर्ताओं को भी--जिन्होंने अहिंसा के सहारे से ही आज तक काम किया है और राष्ट्रीय काम में सफलता भी पाई है--उस अहिंसा पर विश्वास कम होता जा रहा है।

हिन्दू-मुस्लिम एकता के विषय में भी बहुतेरे कह बैठते हैं कि यह केवल शक्ति से ही स्थापित हो सकती है, भाई-चारे से नहीं--अर्थात् जोर-आज़माई करके एक को दबा रखना जरूरी है। कुछ मुसलमान सोचते हैं कि आज से कहीं कम संख्या में रहते हुए भी हमने प्रायः सारे हिन्दुस्तान पर सैकड़ों बरसों तक राज किया है, तो फिर आज

भी कर सकते हैं। उसी तरह हिन्दू भी कुछ ऐसे जरूर हैं जो कहते हैं कि हमारी संख्या इतना अधिक है; हम विद्या, धन और बल में किसी तरह मुसलमानों से कम नहीं है, बल्कि बढ़े हुए हैं, और अब वे दिन लद गये जब थोड़े-से मुसलमानों ने--हिन्दुओं में जागृति न होने के कारण--राज किया था; अब हिन्दू-जाति जाग्रत है और संगठित होती जा रही है, देश हिन्दुओं का था, दूसरे लोग तो केवल एक अल्प-संख्यक जाति-मात्र है; इसलिए यहां अधिकार हिन्दुओं का ही होना चाहिए--हां, मुसलमान तथा सभी दूसरे अल्प-संख्यक लोगों के साथ पूरा-पूरा न्याय होना चाहिए।

ये दोनों दल अपने बल पर ही भरोसा रखते हैं। अहिंसा की बात, जो एक-मात्र इस कठिन समस्या के सुलझाने का साधन है, ये बिलकुल भूल जाते हैं। क्रिया और उसकी प्रतिक्रिया साधारण नैसर्गिक नियम है। हिंसात्मक क्रिया की प्रतिक्रिया हिंसात्मक होती है और अहिंसात्मक क्रिया की प्रतिक्रिया अहिंसात्मक। इसलिए इस हिन्दू-मुस्लिम-समस्या के सुलझाने में यदि हम हिंसात्मक भावना से काम लेकर हिंसात्मक क्रिया पर उतरे, तो सुलझाने के बदले यह अधिक उलझती जायगी। हां, हमारी क्रिया सच्चे अर्थ में अहिंसात्मक होनी चाहिए। उसमें न क्रोध होना चाहिए, न बल-प्रयोग--न डर होने चाहिए, न कायरता। सत्य और न्याय पर भरोसा और निष्ठा तथा सच्ची अहिंसात्मक-क्रिया का ही प्रयोग। हो सकता है कि इस प्रकार की अहिंसात्मक-क्रिया का फल शीघ्र और सभी स्थानों पर देखने में न आवे; पर यदि हमारी क्रिया आत्मविश्वास और संचाई और बहादुरी पर अवलम्बित होगी--आत्मलाघव और डर तथा कायरता पर नहीं, तो इसकी विजय अवश्यम्भावी है।

मैं हिन्दू-मुस्लिम समस्या की बात लेकर अहिंसा-सम्बन्धी बातें बहुत-कुछ लिख गया। यह विवेचन कहीं-न-कहीं आनेवाला था ही। यदि यहीं आ गया, तो ठीक ही हुआ।

: ३९ :

छपरे की भयंकर बाढ़

उस साल आश्विन के महीने में छपरा-जिले में एक दिन बहुत पानी बरसा। चौबीस घंटों में प्रायः छत्तीस इंच वर्षा हुई। इसका नतीजा यह हुआ कि सारा जिला जलप्लावित हो गया और भयंकर बाढ़ आ गई। मेरे भाईसाहब जन-सेवा में बराबर लगे रहते थे। इस मौके पर उन्होंने लोगों के सहायतार्थ बहुत परिश्रम से काम किया।

छपरा नगर में इस बाढ़ से लोगों को बहुत कष्ट उठाना पड़ा। पर इसके साथ-ही-साथ एक बात और देखने में आई, जिसका उल्लेख अनुचित न होगा। स्थानीय सरकारी कर्मचारियों ने जनता की मुसीबत में बड़ी उदासीनता और अपेक्षा से काम लिया, जिससे लोगों में बड़ा रोष पैदा हुआ। अखबारों में खबर छपी कि जिस समय लोग पानी के मारे त्राहि-त्राहि कर रहे थे, कुछ अफसर नावों पर चढ़कर झिरझिरी खेल रहे थे। डूबते और परेशान लोगों की, यहांतक कि स्त्रियों और बच्चों को भी बचाने में, उनमें से बहुतेरों ने कुछ भी सहायता नहीं की; बल्कि वहां के अंगरेज जज और बंगाली सबजज ने मदद की, पर कलक्टर और पुलिस के अफसर तथा डिप्टी मजिस्ट्रेट टस-से-मस नहीं हुए। इस बात को लेकर छपरे में सार्वजनिक सभा हुई, जिसमें खुलेआम उनकी निन्दा की गई और मदद करनेवालों की--विशेष करके बाबू महेन्द्रप्रसाद और कांग्रेस कार्यकर्ताओं की--बड़ी प्रशंसा की गई तथा उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की गई।

देहातों का भी हाल यही था। एक जगह एक बात मजाक की भी हो गई। छपरे में मशरक से जो रेल की लाइन आती है, उसे काटने के लिए लोगों ने कलक्टर से बहुत कहा; पर उन्होंने एक न सुनी। पीछे वह लाइन टूट गई। अथवा, जैसा मैं पीछे सुना, किसी ने उसे थोड़ा-सा काट डाला और पीछे पानी के जोर ने ज्यादा काटकर एक बहुत लम्बा-चौड़ा खंदक बना दिया। इसी सिलसिले में दो घटनाएं उल्लेखनीय हैं। सीवान से पच्छिम एक जगह पानी बहुत जमा हो गया था। गांव वालों ने रेलवे-लाइन को काट डालना चाहा; पर सशस्त्र पुलिस का पहरा था। पहले उनकी

हिम्मत नहीं पड़ी, कष्ट सहते ही गये। पर जब वह बर्दाश्त के बाहर हो गया तो एक गांव के दो-चार आदमी कंधे पर कुदाल रखकर पानी में तैरते हुए लाइन की ओर आये। पुलिसवालों ने देखा और उनको धमकाया। उन्होंने जवाब दिया--"पानी में डूबकर हम मर रहे हैं और तुम लाइन नहीं काटते देते। अबतक हमने बर्दाश्त किया, अब नहीं बर्दाश्त कर सकते। मरना दोनों हालत में है, डूब करके मरें या गोली खाकर मरें। हमने निश्चय कर लिया है कि गोली खाकर मरना बेहतर है। इसलिए हम लाइन काटेंगे, तुम गोली मारो।"

यह कहकर वे लाइन काटने लगे। पुलिस की हिम्मत नहीं पड़ी कि वह गोली चलावे। लाइन कट गई। पानी बह निकला और कितने ही गांव बच गये। सुना कि पुलिसवालों ने रिपोर्ट कर दी कि पानी से लाइन बह गई, किसी ने काटा नहीं। वहां अब एक बड़ा पुल बन गया है। तबसे लाइन के उत्तर के गांवों में पानी रूक जाने के कारण अब बाढ़ नहीं आती।

दूसरी घटना दरौली थाने के अन्दर के किसी गांव की है। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की सड़क ऊंची है। इसलिए सड़क पानी को रोक देती है, जैसे रेलवे-लाइन रोक देती है। गांववालों ने थाने के दारोगा से जाकर कहा कि सड़क कटवा दीजिये तो बहुतेरे गांव बच जायं। उन दिनों गांव-गांव में कांग्रेस-कमिटियां बन गई थीं। थाना-भर के सब गांवों को मिलाकर थाना-कमिटी बनी थी। थाना-कमिटी के मुख्य कार्यकर्ता, चाहे वे थाना-कमिटी के सभापति हों अथवा मंत्री, 'स्वराजी दारोगा' कहलाया करते थे। लोगों ने यह नाम न मालूम कैसे दे दिया था; पर यह बहुत जगहों में प्रचलित हो गया था। सरकारी दारोगा ने मजाक में कहा--"मेरे पास क्यों आये हो, 'स्वराजी दारोगा' के पास क्यों नहीं जाते।" छपरे में भी किसी उच्चपदाधिकारी ने ऐसा ही कहा था कि मदद के लिए मेरे पास क्यों आते हो, गांधीजी के पास जाओ। छपरावालों ने भी गांधी--अर्थात् कांग्रेसवालों--से मदद पाई थी। दरौली थाने के देहाती लोग भी थाना-मंत्री के पास गये और दारोगा के साथ हुई बात कह-सुनाई। उन्होंने सुनकर कहा--"अच्छा, अगर दारोगा ने ऐसा कहा है और मेरे पास भेजा है, तो मैं कहता हूं, जहां तुम जरूरी समझो, सड़क काट डालो, जिसमें पानी बह जाय; पर इसका ध्यान रखना कि बिना जरूरत सड़क न बिगाड़ना।" लोगों ने वैसा ही किया। सड़क काटकर पानी बहा दिया।

मैं भी सहायता के काम में जुट गया। पर मैं जब पहुंचा, छपरा शहर से पानी हट गया था। गोलेदारों के गोलों में जो अन्न पानी में पड़कर सड़ गया था, उसकी दुर्गन्ध से उन मुहल्लों में चलना मुश्किल हो रहा था। मैंने पैसे जमा करने में और दूसरी तरह से सहायता के काम में कुछ भाग लिया। वह प्रवृत्ति पहले से ही थी। १६१४ की बाढ़ में मैंने कलकत्ते से ही सहायता देने का काम संगठित रूप से आरम्भ किया था। यह प्रवृत्ति गांधीजी के संसर्ग से और भी कुछ दृढ़ हो गई थी। जब कभी अपने प्रान्त में कहीं भी बाढ़ आई, तो मैं कुछ-न-कुछ सहायता का प्रबन्ध करने का प्रयत्न करता था। १६२३ में शाहाबाद में सोन की भयंकर बाढ़ आई मैं उस समय झण्डा-सत्याग्रह के काम से नागपुर गया था। खबर पाते ही वहां से चला आया। इसी तरह दरभंगा जिले के मधुवनी-सबडिवीजन में भयंकर बाढ़ आई। वहां भी सहायता के लिए जाना पड़ा था। आरे में बहुत मुश्किल से पहुंच पाया था, क्योंकि कोइलवर और आरे के बीच में रेल की लाइन--जो बहुत ऊंची बनी है--एकदम टूट गई थी, उसके बांध में एक-एक जगह डेढ़ सौ-दो सौ फुट चौड़ी कई खाइयां बन गई थीं। नीचे का रास्ता तो बिलकुल जलमग्न था ही। रेल की पटरी के नीचे का बांध तो कट गया था; पर ऊपर लोहे की पटरी और कहीं-कहीं काठ की पटरियां भी, जिनपर लोहे की रेल जड़ी रहती है, लटकती थीं। नीचे कहीं जोरों से पानी बह रहा था, तो कहीं कुण्ड बन गया था, जिसमें बहुत गहरा पानी जमा था। इन खाइयों को पार करने का एक ही साधन था--उन पटरियों पर किसी तरह चलकर या लटककर पार करना। मेरे साथ प्रोफेसर अब्दुलवारी थे। हम दोनों इन पटरियों पर कहीं लम्बे होकर चौपाये की तरह कही हाथों से इन्हें पकड़कर नीचे लटकने हुए बन्दरों की तरह खाइयों को पार करके आरा पहुंचे। वहां जाकर सहायता का काम संगठित किया। इन अवसरों पर रूपयों की कमी नहीं होती थी। अपील करने से लोग पैसे भेज देते। विशेष करके गांधीजी के सम्पर्क के कारण गुजराती भाइयों की कृपा रहती थी। बम्बई और गुजरात से पैसे आजाया करते थे। सेठ जमनालालजी बजाज का भी हमेशा ख्याल रहा करता था। प्रायः सभी जगहों में नावों पर चढ़कर दूर-दूर तक जाना पड़ता था; क्योंकि दूसरी कोई सवारी जा नहीं सकती थी। मधुवनी के इलाके में एक जगह 'कमला' नदी को नाव पर पार करना पड़ता था। धारा का वेग बहुत तेज था। बहुत मुश्किल से नाव उस पार पहुंच सकी थी।

सभी जगहों में, चाहे छपरा में, चाहे शाहाबाद में, चाहे दरभंगा में एक ही दृश्य हमेशा देखने को मिलता था। देहातों में घर विशेषकर मिट्टी के ही होते हैं, जो गिरे हुए नजर आते। घरों में जो कुछ अनाज होता सब सड़ता हुआ मिलता। माल-मवेशी बहकर मरे हुए और लोग भूख से परेशान दीख पड़ते। गांव के कुत्ते भूखों परेशान झूंकते हुए! मवेशी भी उसी तरह भूखों मूक खड़े हुए! बाढ़ के हट जाने के बाद बीमारी--विशेषकर मलेरिया का प्रकोप! कुछ दिनों बाद, रबी (बैसाखी) बोने के समय बीज की कमी और चारों ओर से उसकी मांग! मुझे याद है कि छपरे में बाढ़ के बाद जब मलेरिया का प्रकोप बढ़ा तो हमरे छपरे के डाक्टरों को इकट्ठा किया। सबने मिलकर एक नुस्खा तैयार किया, जिसमें मलेरिया के अलावा कुछ पेट साफ रखने और मामूली खांसी रोकने की भी दवा थी। इसी को हमने बहुत बड़े पैमाने पर इकट्ठे तैयार कराया और बोतलों में भर-भरकर सारे जिले में बंटवाया। इसका फल बहुत अच्छा हुआ। बिना डाक्टर के ही हमने अपने कांग्रेसी कार्यकर्ताओं द्वारा दवा बांट करके बहुतेरे रोगियों को आराम किया। दवा बहुत कामयाब साबित हुई। पीछे जहां-कहीं मलेरिया का प्रकोप होता, उसी नुस्खे को हम लोग बहुत दिनों तक काम में लाते रहे।

शाहाबाद में, गंगा के दियारे के इलाके में जहां बाढ़ का बहुत प्रकोप था, रबी (बैसाखी) की फसल ही होती है। वहां बीज की बहुत आवश्यकता थी। मुझे याद है कि मैं हफ्तों तक गांवों में घूम-घूमकर बीज के लिए रूपये बांटता रहा। कार्यकर्ता पहले से ऐसे लोगों की फिहरिस्त बना रखते थे, जो बीज चाहते थे। हम दो-तीन आदमी रूपये लेकर एक दिन गांव में पहुंचते थे। सब लोग वहां जमा रहते थे। फिहरिस्त की जांच खुली सभा में करके रूपये बांट देते थे। जिस समय आरा में बाढ़ आई थी, उसका असर छपरा जिले पर भी पड़ा था; क्योंकि गंगा में भी बाढ़ थी और सोन का पानी गंगा खींच नहीं सकती थी। नतीजा यह हुआ कि संगम के नजदीक कई कोसों तक दोनों नदियों का पानी इकट्ठा हो गया और गंगा-पार में भी भयंकर स्थिति पैदा हो गई। वहां पर भी सहायता का प्रबन्ध किया गया। जो रूपये जमा हुए उनका एक हिस्सा छपरा में भी खर्च हुआ; पर मैं वहां खुद जाकर आरा में कार्यव्यस्त रहने के कारण काम नहीं कर सका। वहां के स्थानीय लोगों ने ही, जिनमें मुख्य मेरे भाईसाहब थे, काम संभाल लिया।

ऊपर कहा जा चुका है कि रेलवे-लाइनों के कारण बाढ़ों की भयंकरता बढ़ जाती है। अपने सूबे में पिछले तीस बारसों में, जितनी बड़ी और भयंकर बाढ़ें आई हैं, सबका मुझे काफी अनुभव है। मेरा यह दृढ़ विचार है कि रेलवे-लाइन और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की तथा दूसरी ऊंची सड़कें बाढ़ के कारणों में प्रमुख कारण हैं। यदि इनमें जगह-जगह काफी और चौड़े पुल बने रहते तो ऐसी हालत न होती। मैंने अपनी आंखों देखा है कि लाइन के एक ओर सात-आठ फुट गहरा पानी है और दूसरी ओर एक-दो फुट भी मुश्किल से है। पानी को यदि मौका मिले और दूर तक फैल जाय तो स्वभावतः उसकी गहराई कम हो जाती है और बहाव भी कमजोर पड़ जाता है। पर जब उसी पानी को तंग रास्ते से निकलना पड़ता है और वह सामने के बांध को तोड़कर नहीं निकल सकता, तो स्वभावतः वह जमा हो जाता है और जब कहीं निकल पाता है तो वहां बहुत जोर का होता है इसलिए यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिसपर गवर्नमेण्ट को ध्यान देना उचित है। पर यहां तो रेल की कम्पनियों के मुनाफे पर ही अधिक ध्यान रखा जाता है, उनको पुल बनवाने के लिए मजबूर नहीं किया जाता, लाइन काटना तो दूर की बात है। कई बार बाढ़ से जनता को भयंकर कष्ट सहने पड़े हैं। ईस्ट-इण्डियन रेलवे ने तो शाहाबाद की बड़ी बाढ़ के बाद कोइलवर से आरा के बीच में बहुतेरे बड़े पुल बनवा दिये। इस तरह यहां के लोगों का भय बहुत हद तक दूर हो गया। सरकारी सड़क में भी, जो अब बन गई है, उसी तरह पानी बहने के लिए कई पुल और लचक बना दिये गये हैं। पर बी० एन० डब्लू० रेलवे ने इस मामले में बहुत कंजूसपन दिखलाया है। यद्यपि अब उसमें कई जगह पुल बने हैं, तथापि अब भी बहुत ऐसे स्थान हैं, जहां पुल की जरूरत है। उसने जो पुल बनवाये हैं, वे जनता के कष्ट दूर करने के ख्याल से नहीं--अपने मुनाफे के ख्याल से; क्योंकि जबतक केवल जनता के कष्ट की बात रही, एक न सुनी गई; पर जब प्रकृति ने लाइन को इस तरह तोड़ा कि महीनों रेल चलना बन्द हो गया तो उसने मजबूरन कई पुल बनवा दिये। अब, जब वह लाइन गवर्नमेण्ट की हो गई है, आशा की जा सकती है कि शायद इसपर अधिक ध्यान दिया जाय। हमने सुना है कि सरकारी कर्मचारी भी कहा करते थे कि इस लाइन के मालिक जबरदस्त हैं--उनकी एक नहीं सुनते। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और पी० डब्लू० डी० को भी इस बात पर ध्यान देने की जरूरत है।

इन सब घटनाओं का मैंने एक ही स्थान पर जिक्र कर दिया, यद्यपि ये कई बरसों में घटी थीं।

: ४० :

सत्याग्रह की तैयारी

एक ओर देश में जोरों से असहयोग का आन्दोलन चल रहा था। दूसरी ओर गवर्नमेण्ट और उसके अनुयायी युवराज के स्वागत की तैयारियां कर रहे थे। ऐसा जान पड़ता था कि इस मौके पर मुठभेड़ हुए बिना न रहेगी।

बम्बई में, शुरू अक्तूबर में, वर्किंग कमिटी की बैठक हुई। उसी में निश्चय हुआ कि नवम्बर के शुरू में दिल्ली में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक की जायगी। यह बैठक विशेष करके सत्याग्रह शुरू करने के प्रश्न पर विचार करने के लिए होनेवाली थी। कांग्रेस के सभापति श्री विजय राघवाचारी तथा मंत्री पंडित मोतीलालजी में कुछ मतभेद हो गया। सभापति ने घोषणा निकाल दी कि दिल्ली में होनेवाली बैठक नहीं होगी। मंत्री ने घोषणा की कि वर्किंग कमिटी के निश्चय को रद करने का अधिकार सभापति को नहीं है; और चूंकि महत्त्वपूर्ण विषय पर विचार करने के लिए यह बैठक होनेवाली है, इसलिए यह स्थगित नहीं की जा सकती। महात्माजी भी पंडितजी से सहमत थे। आखिर बैठक दिल्ली में हुई। श्री विजय राघवाचारीजी नहीं आये। उनकी गैरहाजिरी में लाला लाजपतराय ने सभापति की जगह ली। मैं छपरे में बीमार पड़ गया था, इसलिए नहीं जा सका।

बम्बई में जमा हुए लोगों ने, एक प्रकार से फतवे के सम्बन्ध में घोषणा निकालकर, व्यक्तिगत रूप से सत्याग्रह कर ही दिया था। वह बहुत जगहों पर बड़ी-बड़ी सभाओं में, जैसा कहा जा चुका है, दुहराया गया था। वर्किंग कमिटी ने यह भी निश्चय कर दिया था कि जहां कहीं विदेशी वस्त्र-बहिष्कार और खादी-प्रचार के काम में सरकार की ओर से रूकावट डाली जाय, कांग्रेसी कार्यकर्ता--यदि वह चर्खा चलाते हों और खादी पहनते हों--अपने प्रान्त की प्रान्तीय कमिटी की आज्ञा से सरकारी प्रतिबन्ध की अवहेलना कर सकते हैं। दिल्ली की अखिल भारतीय कमिटी ने निश्चय किया कि सूबा-कमिटियां अपने-अपने सूबे में, जहां और जिसको वह मुनासिब समझें, सत्याग्रह की--जिसमें करबन्दी भी शामिल है--अनुमति दे सकती हैं। अनुमति की शर्तें व्यक्ति के लिए थीं--असहयोग की सभी बातों का उस व्यक्ति

के द्वारा पूरा होना--अर्थात् उसे खादी पहनना चाहिए, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य मानना चाहिए, अछूतपन छोड़ना चाहिए, इत्यादि । इसी तरह किसी इलाके को अनुमति मिलने की शर्त थी--उस इलाके में विदेशी वस्त्रं का पूरा बहिष्कार, वहां की जनता द्वारा स्वदेशी वस्त्र और खादी का धारण करना, अछूतपन का दूर होना, राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार, इत्यादि । इन शर्तों में किसी को छोड़ देने का अधिकार वर्किंग कमिटी को दिया गया । यह घोषणा कर दी गई कि किसी सत्याग्रही के परिवार के भरण-पोषण का भार कांग्रेस पर नही होगा और अहिंसा में विश्वास सबके लिए अनिवार्य है तथा जबतक इस बात का पूरा प्रबन्ध न हो जाय कि सत्याग्रह होने पर बलवा-फसाद न होगा तबतक सत्याग्रह की इजाजत न दी जाय । इस तरह प्रान्तीय कमिटियों को अधिकार तो मिला; पर सत्याग्रह की शर्तें इतनी कही थी । कि किसी भी व्यक्ति था इलाकें के लिए उनको पूरा करना बहुत कठिन था । साथ ही यह समझा गया था कि सत्याग्रह आरम्भ करने में जल्दी नहीं की जायगी, और यद्यपि सभी सूबे तैयारी में लग जायेंगे तथापि वे गुजरात का इन्तजार करेंगे, जहां बहुत तैयारी हो रही थी । इसके अनुसार बिहार में भी तैयारियां हो रही थीं । छपरा-जिले के लोग चाहते थे कि वसन्तपुर-थाना को सत्याग्रह की अनुमति मिले । खादी-प्रचार द्वारा और दूसरे साध ानों द्वारा लोगों की तैयारी भी बताई जाती थी । कांग्रेस-कमिटी ने कुछ लोगों को, जिनमें मुख्य मौलवी मुहम्मद शफी साहब थे, जांच के लिए भेजा भी । उन्होंने इलाके को तैयार पाया ।

इस तरह की बातें चली रही थीं कि नवम्बर महीने के मध्य में युवराज बम्बई पहुंच गये । सरकार की ओर से स्वागत की तैयारी थी, जनता की ओर से बहिष्कार की । हिन्दू और मुसलमान तो एक राय थे । वे मिलकर बहिष्कार में लगे थे । पर कुछ पारसी में शरीक हुए । बहिष्कार काफी कामयाब रहा । पर जब कुछ पारसी स्वागत स्वागत से लौट रहे थे, कांग्रेसियों से से उनका झगड़ा हो गया । कांग्रेसियों में विशेष भाग मुसलमानों ने ही लिया था । बड़ा बलवा आरम्भ हो गया । आरम्भ तो किया हिन्दू-मुसलमानों ने, पीछे पारसियों और क्रिस्तानों ने इसे जारी रखा । भाग्यवश गांधीजी उन दिनों बम्बई में ही थे । उन्होंने पहले श्रीमती सरोजिनी नायडू, सेठ उमर सुभानी, सेठ छोटानी तथा शंकरलाल बैंकर प्रभृति को दंगा शान्त करने के लिए भेजा । पीछे स्वयं जहां मारपीट हो रही थी, पहुंच गये । बलवा कोई दिनों के

बाद किसी तरह शान्त हुआ । इसके लिए गांधीजी को उपवास भी करना पड़ा था । इस बलवे में प्रायः पचास-साठ आदमी मारे गये और तीन सौ से अधिक घायल हुए । मरे हुओं और घायलों में तीन-चौथाई से अधिक कांग्रेसी थे । इस बलवे का असर उनके दिल पर पड़ा । वर्किंग-कमिटी की बैठक बम्बई में हुई । वहांपर उन्होंने जोर दिया कि सभी जगहों में सत्याग्रह करना खतरनाक होगा; क्योंकि अभी तक लोगों ने अहिंसात्मक लड़ाई के ढंग और नीति को पूरी तरह से नहीं समझा है । इसलिए वर्किंग-कमिटी ने निश्चय किया और प्रान्तीय कमिटियों को आदेश दिया कि शान्ति-रक्षा के लिए और जनता के जमाव को संभालने के लिए संगठित सेवकों की जरूरत है, इसलिए सभी कमिटियां सेवक-दल कायम करें--वे ही लोग सेवक हो सकेंगे जो शपथ करेंगे कि वे मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसक रहेंगे और कांग्रेस के अनुशासन को मानेंगे । विचार था कि यदि ऐसे संगठित सेवक-दल तैयार रहेंगे तो बम्बई-जैसी दुर्घटनाएं नहीं होगी । बम्बई में गांधीजी के उपवास का फल केवल यही नहीं हुआ कि बलवा शान्त हो गया, वहां के सभी जातियों के लोगों ने आपस में मेल बढ़ाने की एक प्रकार से प्रतिज्ञा भी की । इस तरह देश-भर में शान्ति के पक्ष के भावना फैली ।

श्रीमती एनी बेसेण्ट शुरू से ही असहयोग-आन्दोलन का बहुत जोरों से विरोध कर रही थीं । उन्होंने एक बार यहांतक लिख दिया था कि गांधीजी अंधकार की शक्तियों के प्रतिनिधि हैं (**Represents the forces of darkness**) ! बम्बई के दंगे के बाद उन्होंने बहुत कड़े लेख लिखे । किसी बलवे के सम्बन्ध में उन्होंने तो यह भी लिखा था कि गवर्नमेण्ट ईंट-पत्थरों के ढेलों का जवाब गोलियों से ही दे सकती है । वर्किंग कमिटी के समय भी उनका एक लेख कुछ ऐसा ही निकला । मुझे याद है कि देशबन्धु दास अखबार की उस संख्या को अपने हाथ में लेते आये । महात्माजी से वह बोले, "हम आशा करते हैं कि 'यंग इण्डिया' के अगले अंक में इसकी गूंजती हुई तीव्र आलोचना हमको पढ़ने को मिलेगी ।" महात्माजी ने उत्तर दिया, "ऐसी आशा आप न रखें । हमने देखा है कि गांधीजी इस तरह के 'तू-तू-मैं-मैं' में नहीं पड़ते । इस प्रकार के लेखों को शायद वह पढ़ते भी नहीं । इससे उनके लेखों में कटुता नहीं आती । कड़ी-से-कड़ी बात भी वह चुस्त--पर संयत--भाषा में कह डालते हैं ।" उनके सम्पर्क की ही कृपा है कि मैं भी अपने उस स्वभाव को, जो बचपन से ही झगड़े से बचने का है, अधिक दृढ़ कर सका हूं--अपने लेखों और भाषणों में यथासाध्य कटुता न आने देने का प्रयत्न करता हूं ।

: ४१ :

गिरफ्तारियां और समझौते का प्रयत्न

बम्बई में युवराज के उतरने के समय की घटनाओं से सारे देश में खलबली मच गई। गवर्नमेण्ट ने भी निश्चय कर लिया कि दमन-नीति से काम लेना चाहिए। इसलिए अब जहां-तहां गिरफ्तारियां होने लगीं। चन्द दिनों के अन्दर ही, दिसम्बर में, प्रायः सभी जगहों में, एक साथ ही बहुत-से कांग्रेसी लोगों की--विशेषकर बड़े-बड़े नेताओं की--गिरफ्तारियां शुरू हो गईं। इन गिरफ्तारियों का विशेष कारण यह हुआ कि गवर्नमेण्ट ने सेवक-दलों को गैरकानूनी बना दिया।

१६०८ में दो कानून बने थे। उस समय कई जगहों में, विशेषकर बंगाल में, क्रान्तिकारी दल काम कर रहे थे, जिनके सम्बन्ध में गवर्नमेण्ट कहा करती थी कि वे बम बनाया करते हैं--सरकारी कर्मचारियों को बम तथा गोली से मारा करते हैं, इत्यादि, उन्हीं को दबाने के लिए 'क्रिमिनल लॉ अमेंडमेंट ऐक्ट' (**Criminal law Amendment Act**) पास हुआ था। एक दूसरा कानून 'सेडीशस मीटिंग ऐक्ट' (**Seditious meetings Act**), विद्रोही सभाओं के नियंत्रण और रोकथाम के लिए बना हुआ था। दोनों कानूनों का कारण, गवर्नमेण्ट के कहने के अनुसार, हिंसात्मक दलों की प्रवृत्तियां था। पर इस समय यद्यपि कांग्रेस पूर्णरूपेण अहिंसात्मक दल था, तथापि गवर्नमेण्ट ने उन पुराने कानूनों को सभी सूबों में--जहां वे पहले से जारी नहीं थे--जारी कर दिया। एक-एक करके पंजाब, दिल्ली, बिहार, बंगाल, युक्तप्रदेश प्रभृति सूबों की सरकारों ने सेवक-दलों को--जो विभिन्न नाम से सूबे-सूबे में कायम हो रहे थे--गैरकानूनी करार दे दिया। इस तरह खिलाफत-सेवक-दल और कांग्रेस-सेवक-दल में शरीक होना जुर्म हो गया। सभाएं करना भी कठिन हो गया।

कांग्रेस कमिटियों ने निश्चय किया कि हम इन जुल्मी कानूनों को नहीं मानेंगे। वह सेवक-दल संगठित करने के लिए विशेष जोर लगाकर काम करने लगीं। इसलिए, जो भी सेवक-दलों में शरीक होता अथवा उसे संगठित करने का काम करता, वह गिरफ्तार कर लिया जाता। देश के सामने सरकार ने एक नया प्रश्न खड़ा कर दिया। अब हमारे इस समय खिलाफत-सम्बन्धी, पंजाब-सम्बन्धी तथा स्वराज्य-प्राप्ति

की भी बात न रही। अब प्रश्न यह हो गया कि हमें अपने देश में संगठन करने का--आपस में मिल-जुलकर काम करने का--भी हक रहेगा या नहीं। सरकार ने इस स्वत्व का भी कानूनों के द्वारा हरण कर लिया। अब कांग्रेस को सबसे पहले इनके लिए लड़ना आवश्यक हो गया। गांधीजी ने कहा था कि इस लड़ाई में हम सत्याग्रह जो करना चाहते थे, वह नहीं कर रहे हैं--इस समय हम केवल भाषण-स्वतंत्रता और सम्मेलन-स्वतंत्रता के लिए ही लड़ रहे हैं--यह स्वतंत्रता हम केवल कांग्रेस-कमिटियों के लिए नहीं चाहते हैं--हम सभी संस्थाओं और व्यक्तियों के लिए ये स्वत्व चाहते हैं और इसलिए यह लड़ाई सबके लिए और सबकी ओर से है। पर सरकार कब सुननेवाली थी! उसने दबाने का इरादा कर लिया था।

अली-बन्धु प्रभृत्ति कराची के मुकदमे के समय से ही गिरफ्तार होकर सजा पा चुके थे। चन्द दिनों में ही देशबन्धु दास, पंडित मोतीलाल नेहरू, पंडित जवाहरलाल, लाला लाजपतराय, मौलाना आजाद, श्री राजगोपालाचारी इत्यादि सार्वदेशिक नेता गिरफ्तार हो गये। हजारों की संख्या में दूसरे कांग्रेसी लोग भी गिरफ्तार कर लिये गये। पर जहां-जहां युवराज गये, बहिष्कार और भी अधिक संगठित होता गया। उनके कलकत्ते जाने के दिन नजदीक आ रहे थे। लार्ड रीडिंग चिन्तित तो थे ही, उनके लॉ-मेम्बर थे सर तेज बहादुर सप्रू। इस बात का प्रयत्न होने लगा कि किसी तरह से समझौता हो जाय, जिससें कलकत्ते में युवराज का ठीक स्वागत हो सके। इस प्रयत्न में मुख्य भाग लेनेवाले थे पंडित मदनमोहन मालवीय। उन्होंने कलकत्ते में जाकर वहां के गवर्नर लार्ड रोनल्डशे से भेंट की; देशबन्धुदास से भी मिले; देश के कतिपय कांग्रेसी और खिलाफती नेताओं से भी--जो बाहर थे--बातचीत की। वाइसराय लार्ड रीडिंग के पास एक डेपुटेशन ले जाने की बात हुई। देशबन्धु दास कलकत्ता-जेल में थे। उनसे बातचीत शुरू हुई। कुछ ऐसा मालूम होने लगा कि बात तय हो जायगी।

बिहार में भी गिरफ्तारियां होने लगीं। प्रान्तीय कमिटी की बैठक छपरे में हुई। बैठक के समय ही पुलिस ने वहां की कमिटी के दफ्तर की तलाशी ली। जब हम लोग एक सार्वजनिक सभा में भाग ले रहे थे, तो पुलिस की तैयारियों से मालूम होता था कि हम लोग वहीं गिरफ्तार कर लिये जायेंगे। पर ऐसा हुआ नहीं। एक आदमी ने सभा में, पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट की ओर हाथों से इशारा कर-करके,

तुलसीदास की एक चौपाई को जोरों से बार-बार दुहराना शुरू किया; तो भी पुलिस ने कुछ नहीं किया। चौपाई यह थी--"गाधि-सुवन मन चिन्ता व्यापी, कब मरिहहिं ये निसिचर पापी।" सब लोग बैठक और सभा के बाद अपने-अपने स्थान को गये। सभी जिलों में कांग्रेस-कमिटियों की तलाशी होने लगी। लोग गिरफ्तार किये जाने लगे। मैं भी पटने आया। हम सब गिरफ्तारी का इन्तजार कर रहे थे। सभी जिलों में अनेक प्रमुख कांग्रेसी गिरफ्तार कर लिये गये। पटने में मौलवी खुरशैद हसनैन, बाबू जगतनारायणलाल और कृष्णप्रकाश सेन सिंह गिरफ्तार हो गये। और जगहों में मौलवी मुहम्मद शफी, बाबू श्रीकृष्णसिंह, बाबू विन्ध्येश्वरीप्रसाद वर्मा, बाबू रामनारायण सिंह इत्यादि कई कांग्रेसी लोग जेल भेज दिये गये। मैं नहीं गिरफ्तार किया गया। हकसाहब, ब्रजकिशोरबाबू और मैंने कई साथियों के साथ एक बयान छपवाया, जिसमें हमने जनता को सेवक-दल में शरीक होने के लिए उत्साहित किया, गवर्नमेण्ट की नीति की निन्दा की और अपने को सेवक-दल का मेम्बर बतलाया। पर तो भी हम गिरफ्तार नहीं किये गये। इस तरह सभी जगहों में जिला-मजिस्ट्रेटों तथा दूसरे हाकिमों के पास लोग अपने-अपने हस्ताक्षर करके लम्बी-लम्बी फ़हरिस्तें भेजने लगे, जिनमें सेवकों के नाम रहते। पटने में मैं इसका इन्तजार कर ही रहा था कि मालूम हुआ, सुलह होने जा रही है।

गिरफ्तारियां बन्द हो गईं। लार्ड सिंह ने बिहार की गवर्नरी से इस्तीफा दे दिया था। उनकी जगह पर मिस्टर लीमेजरर गवर्नर हो गये थे। बिहार कौंसिल के कुछ प्रमुख व्यक्तियों ने--जिनमें मुख्य मिस्टर हसन इमाम, राय बहादुर द्वारकानाथ प्रभृति थे--गवर्नर के पास डेपुटेशन ले जाकर कहा कि बिहार में पूरी शान्ति है; यहां सेवक-दल को गैर-कानूनी करार देने से ही ज्यादा गड़बड़ी होने की सम्भावना है, इसलिए गिरफ्तारियां बन्द हो जानी चाहिए। गवर्नर ने उनसे कुछ ऐसी बातें कीं, जिनसे मालूम हुआ कि गवर्नमेण्ट की सारी कार्रवाई गलत बुनियाद पर हुई है। हम लोगों ने उसका प्रतिवाद प्रकाशित किया। पर उसके प्रकाशित होने से पहले ही गिरफ्तारियां बन्द करने का हुक्म उन्होंने निकाल दिया। यद्यपि सेवा-दल के विरूद्ध प्रचारित हुक्म रद नहीं किया गया तथापि जिला-मजिस्ट्रेटों को गिरफ्तारियां बन्द करने का हुक्म हो गया।

सर तेजबहादुर सप्रू, लार्ड रीडिंग के पास, वाइसराय की कौंसिल की बैठक के

लिए, कलकत्ते जा रहे थे। वह पटना होते हुए गुजरे। कुछ लोगों से उनकी मुलाकात हुई, जिससे यह बात फैल गई कि अब सुलह हो जायगी। बिहार में गिरफ्तारियों के रूक जाने से इसकी और भी पुष्टि हुई। उधर गवर्नमेण्ट ने भी जो बातें देशबन्धुदास से जेलखाने में कीं, उनसे मालूम पड़ा कि देशबन्धुदास उन शर्तों पर राजी हो गये थे, जो सरकार की ओर से पेश की गई थीं। महात्माजी से राय पूछी गई थी और उन्होंने कुछ शर्तें पेश कीं। इस सम्बन्ध की सब बातें उस समय जाहिर नहीं हुईं। इतना ही मालूम हुआ कि गांधीजी ने देशबन्धु दास कि यह सिफारिश कि शर्तें मान ली जायं, नामंजूर कर दी है। सब बातों को विस्तार से जानने के लिए श्री कृष्णादास की पुस्तक 'महात्मा गांधी के साथ सात मास' देखना चाहिए।

शर्तें कुछ इस तरह की थीं--कांग्रेस युवराज के बहिष्कार को बन्द कर दे। गवर्नमेण्ट एक कान्फ्रेंस करेगी, जिसमें सब बातों पर विचार किया जायगा। राजनैतिक कैदी छोड़ दिये जायेंगे। पर कराची के फतवावाले कैदी, जिनमें अलीबन्धु भी थे, नहीं छोड़े जायेंगे।

गांधीजी चाहते थे कि कान्फ्रेंस की तिथि और कार्यक्रम (**Terms of Reference**) निश्चित हो जाना चाहिए और कराचीवाले कैदियों को भी जरूर छूटना चाहिए। मुमकिन था किं दो-एक दिन का और समय यदि मिलता तो इन विषयों पर भी विचार करके कुछ तय हो जाता। पर उधर युवराज के कलकत्ते पहुंचने का दिन पहुंच गया और बात तय न हो सकी। गवर्नमेण्ट ने देखा कि जब स्वागत के काम में उसे सफलता नहीं मिली तो फिर ये सुलह की बातें भी बेकार थीं। उसने दमन-नीति को और जोरों से चलाने का निश्चय कर लिया। जो डेपुटेशन गया उसे भी कोरा उत्तर दे दिया। साथ ही, कुछ ऐसी गोलमटोल बातें कीं, जिनसे कुछ लोगों पर, विशेष करके पंडित मालवीयजी पर, यह असर पड़ा कि यद्यपि अभी कुछ नहीं हुआ तथापि राउण्ड टेबुल कान्फ्रेंस करने का प्रयत्न जारी रखना उचित होगा और जो शर्तं वाइसराय ने पेश की हैं, वे ऐसी हैं जो पूरी की जा सकती हैं।

देशबन्धु दास महात्माजी के इस निश्चय से बहुत क्षुब्ध हुए। उन्होंने सोचा था कि उस समय ब्रिटिश गवर्नमेण्ट का इतना झुकना ही बड़ी बात थी और इसको मान लेना चाहिए था। यदि कांग्रेस मान लेती तो कांग्रेस की शक्ति बढ़ती और काम अधिक जोरों से चलता। गवर्नमेण्ट उसे दबा नहीं सकती। महात्माजी ने सोचा कि

लार्ड रीडिंग की इच्छा थी कि किसी प्रकार कलकत्ते जैसे शहर में युवराज का अच्छा स्वागत हो जाय तो बम्बई आदि की घटनाएं कुछ महत्त्व नहीं रखेंगी और वह भारत की राजभक्ति की घोषणा कर सकेंगे । कान्फ्रेंस की नीति और तिथि दोनों ही अनिश्चित थीं । न मालूम वह कब होगी और क्या करेगी । उसपर भरोसा करना बेकार है और कांग्रेस की शक्ति बढ़ने के बदले घटेगी, जब देश यह देखेगा कि हम किस तरह से ठग लिये गये । इसके अलावा अली-बन्धुओं को हम जेल में कैसे छोड़ सकते हैं । जिन लोगों ने सब बातों में साथ दिया है, जिनका जनता पर इतना प्रभाव है और जो हमारे साथी हैं, उनको जेल में छोड़ देना उनके साथ अन्याय होगा । इसलिए लार्ड रिडिंग की शर्तें हमें केवल धोखा देंगी, कोई काम नहीं निकलेगा ।

इसमें कोई शक नहीं कि देशबन्धु दास बहुत क्षुब्ध हो गये । जब म्याद खतम हाने पर वह छूटे तो उन्होंने अपने एक भाषण में कहा कि महात्माजी ने बहुत भारी और भद्दी भूल की थी (**Bundled and blundered**) । इस विषय पर, तटस्थता के साथ, तो कोई भावी इतिहास-लेखक ही विचार कर सकेगा । मैं इतना ही कह सकता हूं कि उस समय से आज तक जो अनुभव ब्रिटिश-गवर्नमेण्ट के साथ समझौते के हमें हुए हैं, वे बहुत कड़वे हैं । शब्दाडम्बर में असली बातें अक्सर छिप जाती हैं । समझौते अंगरेजी भाषा में ही लिखे जाते हैं और उनके अर्थ में अनर्थ की काफी गुंजाइश रहती है । १६३१ के मार्च में लार्ड इर्विन के साथ जो समझौता हुआ, उसकी शर्तों के पूरा करने में लार्ड विलिंगडन की गवर्नमेण्ट ने और सिविल-सर्विस ने जो-जो दिक्कतें पेश कीं, उन्हें वही जान सकता है, जिसको उस सम्बन्ध में उनसे बातें अथवा पत्र-व्यवहार करने का मौका मिला हो । महात्माजी अपने अनुभव से जानते थे कि किसी शर्त को गोलमटोल छोड़ देना अथवा उसमें किसी प्रकार की अनिश्चितता रहने देना अन्त में घातक होगा । उनको ब्रिटिश सरकार की खुश नीयत पर भी विश्वास नहीं था । इसलिए उन्होंने ऐसी शर्तों को मानना ठीक नहीं समझा और कांग्रेस की निश्चित नीति को तथा अपने साथियों को इन निश्चित शर्तों के भरोसे जेलखाने में छोड़ने से इनकार कर दिया । किसी भी देश को स्वतंत्रता यदि सस्ती दर से मिल जाय तो उसकी उतनी कदर नहीं रह जाती । विशेषकर भारतवर्ष को तो इसे वाजिब मूल्य देकर ही लेना चाहिए; क्योंकि हम इतने दिनों की दासता के कारण इसका उचित मूल्य आंकना भी भूल-से गये हैं ।

: ४२ :

अहमदाबाद-कांग्रेस और सत्याग्रह

इधर ये बातें चल रही थीं, उधर कांग्रेस के सालाना जलसे के दिन भी आ गये। देशबन्धु दास ही सभापति मनोनीत हुए थे। वह थे जेलखाने में। कांग्रेस का अधिवेशन अहमदाबाद में होनेवाला था। वहां सरदार वल्लभभाई स्वागताध्यक्ष थे। बड़े पैमाने पर तैयारियां की गई थीं। जब बिहार में गिरफ्तारियां बन्द हुईं, हम लोग जो बाहर थे, अहमदाबाद के लिए रवाना हो गये।

अहमदाबाद की कांग्रेस बहुत बातों में अनूठी थी। पहले-पहल कांग्रेस से कुर्सियां उठा दी गईं। प्रतिनिधियों का फर्श पर बैठाने का प्रबन्ध किया गया था। इस तरह उतने ही स्थान में बहुत अधिक प्रतिनिधि और दर्शक बैठ सकते थे। प्रतिनिधियों का चुनाव पहली बार नागपुर के परिवर्तित नियमों के अनुसार हुआ था। अब हम कह सकते थे कि कांग्रेस चुने हुए प्रतिनिधियों की सभा है। बहुतेरे चुने हुए प्रतिनिधि जेलखानों में थे, जिनमें प्रमुख तो मनोनीत सभापति देशबन्धु चितरंजन दास थे ही। बहुतेरे नेता--जिन्होंने साल-भर बड़े परिश्रम, लगन और उत्साह से देश को जगाया और संगठित किया था--इस अधिवेशन में, गवर्नमेण्ट की नीति के कारण, आने से वंचित थे। जो लोग आये थे, उनमें और सारे देश में उत्साह उमड़ा पड़ रहा था, मानो भरी नदी के किनारों को पार करके जल-प्रवाह चारों ओर फैल रहा है। इतनी गिरफ्तारियों के कारण कहीं भी मुर्दनी नहीं थी। दमन-नीति ने दबाने के बदले लोगों को अधिक उभाड़ने की ही काम किया था। गांधीजी भी आशा और उत्साह से भरे थे। सब लोग सत्याग्रह का स्वप्न देख रहे थे। लोग इस आशा में थे कि कांग्रेस सत्याग्रह का आदेश देगी और आयोजन करेगी। कांग्रेस के साथ एक बड़े महत्त्व की प्रदर्शनी भी हुई थी, जिसमें नवजात--बल्कि पुनर्जीवित--खादी का बड़ा महत्त्व था। प्रतिनिधियों के रहने के लिए कांग्रेस-पंडाल के नजदीक ही एक छोटा-मोटा नगर 'खादी नगर' नाम का बस गया था, जिसमें सभी ठहराये गये थे। ये सब बातें कांग्रेस के लिए नई थीं। पास ही में उसी तरह खिलाफत-कान्फ्रेंस के लिए पंडाल इत्यादि बने थे।

कांग्रेस का अधिवेशन भी निराला ही था। पुरानी प्रथा के विरूद्ध स्वागताध्यक्ष का भाषण बहुत छोटा था। उसमें देश की परिस्थिति और कांग्रेस के कार्यक्रम पर विचार नहीं किया गया था। केवल उपस्थित प्रतिनिधियों का स्वागतमात्र था, और था गुजरात में हुए काम का छोटा-सा विवरण। मनोनीत सभापति गैरहाजिर थे, इसलिए उनके स्थान पर हकीम अजमल खां सभापति चुन लिये गये। स्वागताध्यक्ष और सभापति दोनों के ही भाषण राष्ट्रभाषा हिन्दी या उर्दू में ही हुए।

सबसे महत्त्व का प्रश्न सत्याग्रह का था। अधिवेशन में एक ही प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, जिसमें परिस्थिति का सिंहावलोकन करते हुए सत्याग्रह का निश्चय प्रकट किया गया। इस काम के लिए गांधीजी सर्वेसर्वा (**Dictator**) बनाये गये। इस बात का अन्देशा था कि जैसे और नेता गिरफ्तार किये जा चुके हैं, गांधीजी भी गिरफ्तार कर लिये जायेंगे; इसलिए प्रस्ताव में उनको उसी अधिकार के साथ अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करने का भी अधिकार दिया गया। पर यह साफ कह दिया गया कि कांग्रेस के ध्येय को बदलने का अधिकार उनको नहीं होगा। हां, यदि गवर्नमेण्ट से कुछ सुलह हो तो उसकी मंजूरी कांग्रेस से लेनी पड़ेगी। सेवक-दल के संगठन पर जोर दिया गया और जिस प्रतिज्ञा-पत्र पर उनके हस्ताक्षर होनेवाले थे, वह और भी कुछ सख्त बनाया गया।

इस अधिवेशन में एक विशेष बात यह हुई कि मौलाना हसरत मोहानी ने यह प्रस्ताव पेश किया कि कांग्रेस का ध्येय स्वराज्य के बदले स्वतंत्रता (**Independence**) बना दिया जाय। गांधीजी ने इसका विरोध किया। अतः प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हुआ। उसके बाद प्रायः हर अधिवेशन में इस प्रकार का प्रस्ताव आता रहा। पर गांधीजी के विरोध से तबतक नामंजूर होता रहा जबतक यह कई बरसों के बाद गांधीजी के विरोध हटा लेने पर स्वीकृत न हो गया। दूसरी बात यह हुई कि पंडित मालवीयजी का गोलमेज-कान्फ्रेंस-सम्बन्धी प्रस्ताव नामंजूर कर दिया गया। पंडितजी कलकत्ते से सीधे अहमदाबाद आये थे। वहां उनका प्रयत्न असफल हो गया था, पर वह बहुत बड़े आशावादी थे। उन्होंने कांग्रेस को सलाह दी और प्रस्ताव पेश किया कि यदि गोलमेज-कान्फ्रेंस गवर्नमेण्ट करे तो कांग्रेस उसमें शरीक हो। ऊपर कहा जा चुका है कि इस समय इसका कोई मौका ही नहीं था। इसलिए कांग्रेस ने उस बात को नहीं माना। पीछे यह मालूम हुआ कि पंडित मोतीलालजी भी किसी प्रकार के

समझौते के विरूद्ध थे ।

कांग्रेस के बाद सभी लोग अपने-अपने स्थान को रवाना हुए । वहीं पर मालूम हो गया कि महात्मा गांधी एक जगह सत्याग्रह करेंगे और वह स्थान होगा बारडोली । औरों को भी आदेश मिला कि अपने-अपने स्थान पर जनता में प्रचार और संगठन करें । सबसे अधिक कांग्रेस के कार्यक्रम की पूर्ति के लिए, विशेषकर सेवक-दल के संगठन के लिए, जी-तोड़ परिश्रम करके प्रयत्न करें ।

पंडित मालवीयजी और कुछ दूसरे नेताओं ने निश्चय किया कि एक ऐसी कान्फ्रेंस की जाय, जिसमें कांग्रेस और गवर्नमेण्ट के बीच का झगड़ा मिटाने का प्रयत्न किया जाय । उन्होंने अहमदाबाद-कांग्रेस समाप्त होते ही इसकी घोषणा की । देश के मुख्य-मुख्य लोग, जिनमें मुख्य कांग्रेसी और खिलाफती भी शामिल थे, बम्बई में आमंत्रित हुए । यह सभा जनवरी के मध्य में बम्बई में हुई । सर शंकर नायर इसके सभापति हुए । मैं भी, और कांग्रेसियों की तरह, वहां गया । गांधीजी ही हमारी ओर से बोलनेवाले थे । हम लोगों ने निश्चय कर लिया था कि सबकी ओर से जो कुछ कहना होगा, वही कहेंगे । महात्माजी ने साफ-साफ बता दिया कि हम कांग्रेसियों को इस गोलमेज-कान्फ्रेंस से, जिसके आयोजन का प्रस्ताव गवर्नमेण्ट से किया जा रहा था, कोई आशा नहीं है; तो भी अगर वह हो, और गांधीजी बुलाये जायं, तो वह बिना शर्त के उसमें शरीक होंगे; पर व्यक्तिगत हैसियत से । हां, यदि कांग्रेस को आमंत्रित किया जाय, तो वह तभी शरीक हो सकेंगे जब कान्फ्रेंस का कार्यक्रम और तिथि निश्चित कर ली जाय । साथ ही, वह घोषणा वापस कर ली जाय, जिसके द्वारा सेवक-दल गैर-कानूनी करार दिये गये हैं तथा जिसे न मानने के कारण जिन लोगों को सजा दी गई है, वे छोड़ दिये जायं । फतवावाले कैदियों को जरूर छोड़ना चाहिए । खिलाफत, पंजाब और स्वराजवाली कांग्रेस की मांगें जाहिर थीं; कांग्रेस उन्हीं को वहां पेश करके उन्हें मनवाने का प्रयत्न करेगी । अपनी ओर से हम सत्याग्रह स्थगित कर देंगे ।

कान्फ्रेंस करनेवालों की तरफ से एक प्रस्ताव पेश किया गया; पर गांधीजी को वह मंजूर न हुआ । इस कारण उसपर विचार करके उसे रद-बदल कर फिर उपस्थित करने के लिए एक उपसमिति बना दी गई । उस दिन जो लोग उपस्थित थे, उनके भाषण हुए । मेरे दिल पर एक भाषण का बहुत असर पड़ा था । वह था सर हरमुसजी वाडिया का भाषण । यह थे एक वयोवृद्ध बड़े व्यापारी--लिबरल-दल के विचार रखनेवाले पारसी । इन्होंने गवर्नमेण्ट की सारी नीति की तीव्र शब्दों में निन्दा की । वह यद्यपि सत्याग्रह के विरोधी थे, तथापि उन्होंने साफ-साफ बता दिया कि इस

अवस्था की सारी जवाबदेही सरकार पर है ।

दूसरे दिन उपसमिति की बैठक हुई । उसमें गांधीजी शरीक रहे । सबकी राय से एक प्रस्ताव तैयार हुआ । पर सर शंकर नायर बहुत बिगड़ गये । दोपहर को वह कान्फ्रेन्स से चले गये । उनके साथ कोई दूसरा नहीं गया । तब कान्फ्रेंस के सभापति सर विश्वेश्वरैया हुए । उन्होंने उस प्रस्ताव को मंजूर कर लिया । गांधीजी ने फिर अपनी वही बातें दुहरा दीं । उन्होंने यह भी कह दिया कि कांग्रेस की वर्किंग-कमिटी द्वारा वह ३१ जनवरी तक के लिए सत्याग्रह स्थगित करा देने का प्रयत्न करेंगे ।

बम्बई में वर्किंग-कमिटी के लोग प्रायः सभी थे ही । बैठक में तय हुआ कि ३१ जनवरी तक और यदि गोलमेज-कान्फ्रेंस की बात तथा प्रस्ताव की दूसरी शर्तें गवर्नमेण्ट ने मंजूर न कर लीं, तो जबतक उसका कुछ फैसला न हो जाय तबतक सामूहिक सत्याग्रह बन्द रहेगा और व्यक्तिगत सत्याग्रह केवल बचाव के लिए ही जहां मजबूरी होती, वहीं किया जायगा; पर सेवक-दल के संगठन का काम जारी रहेगा । कान्फ्रेंस के प्रस्ताव को तार द्वारा कान्फ्रेन्स-कमिटी ने वाइसराय के पास भेजा । एक लम्बे तार द्वारा यह सूचित किया गया कि कलकत्ते वाले डेपुटेशन के उत्तर में जो शर्तें लार्ड रीडिंग ने दी थीं, प्रायः वे सभी मंजूर कर ली गई हैं और अब गवर्नमेण्ट को गोलमेज-कान्फ्रेंस मंजूर कर लेनी चाहिए । उधर से नामंजूरी का जवाब आ गया ! इसपर फिर तार द्वारा लिखा-पढ़ी की जा रही थी कि ३१ जनवरी का दिन पहुंच गया । अब कांग्रेस के लिए कुछ निश्चय करना अनिवार्य हो गया ।

कांग्रेस से लौटने के बाद मैंने अपने सूबे में दौरा शुरू किया । यह ३१ जनवरी वाली अवधि बीतने के बाद, बारडोली की एक सभा में, जिसमें महात्माजी और हकीम अजमलखां शरीक थे, बारडोली में सत्याग्रह शुरू करने का निश्चय हुआ । यह बात घोषित भी कर दी गई । श्री बिट्ठलभाई पटेल और सरदार वल्लभभाई अब वहीं रहने लगे थे । महात्माजी भी पहुंच ही गये थे । वहां जनता की सभा में महात्माजी ने सत्याग्रह के अर्थ को और उसमें होनेवाले कष्टों को लोगों को बताया । उनसे शपथ ली कि वे सत्य और अहिंसा पर डटे रहकर देश के लिए स्वतंत्रता प्राप्त करने में अपने को भस्मीभूत कर देंगे । सूरत में वर्किंग-कमिटी की बैठक हुई । उसने वहां सत्याग्रह करने की मंजूरी दे दी । इसके बाद ही गांधीजी ने वाइसराय को पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने सत्याग्रह के निश्चय की सूचना देते हुए सत्याग्रह आरम्भ करने के लिए तिथि भी ठीक कर दी ।

: ४३ :

सत्याग्रह स्थगित और गांधीजी की गिरफ्तारी

मैं सूबे के दौरे में, मुजफ्फरपुर-जिले के गांवों में घूमता-घूमता, 'पुपरी' गांव की सभा में भाषण कर रहा था। उसी समय तार मिला कि वर्किंग-कमिटी की बैठक बारडोली में होनेवाली है और मुझे वहां तुरंत पहुंचना चाहिए। मैं वहां से तुरंत रवाना हुआ। पहली गाड़ी जो मिली उससे पटना होता हुआ वहां चला गया। इस बीच में एक बहुत दुःखद और महत्त्वपूर्ण घटना हो गई। गोरखपुर-जिले के 'चौरीचौरा' गांव में जनता और पुलिस में मुठभेड़ हो गई। जनता ने आवेश में आकर पुलिस-थाने को जला दिया। कितने ही पुलिस-कर्मचारियों को भी मार डाला।

महात्माजी के दिल पर इसका बहुत गहरा असर पड़ा। उन्होंने देख लिया कि देश ने अभी तक अहिंसा के तत्त्व और महत्त्व को नहीं समझा है; इसलिए यदि सत्याग्रह आरम्भ हुआ तो इस प्रकार की घटनाएं अनेक स्थानों में होने लगेंगी; इसके फलस्वरूप सरकार की ओर से भी दमननीति जोरों से बरती जायगी और जनता उसको बर्दाश्त नहीं कर सकेगी; इसलिए यद्यपि वाइसराय को सत्याग्रह आरम्भ करने की सूचना दे दी गई है तथापि सत्याग्रह को स्थगित ही कर देना चाहिए।

देश की नाड़ी पहचानकर महात्माजी इस निश्चय पर पहुंच गये। इसी पर विचार करने के लिए उन्होंने वर्किंग-कमिटी की बैठक की।

यद्यपि मैं जल्द-से-जल्द रवाना हुआ था तथापि जब मैं बारडोली स्टेशन पर पहुंचा तो उसी ट्रेन से वापसी के लिए रवाना होते हुए पंडित मदनमोहन मालवीयजी से वहीं भेंट हो गई। उन्होंने बता दिया कि वर्किंग-कमिटी का काम समाप्त हो चुका है और सत्याग्रह स्थगित करने का निश्चय कर लिया गया है। जब मैंने यह सुना तो मेरे दिल पर भी एक धक्का-सा लगा। मैं वहां पहुंचा जहां गांधीजी ठहरे थे। उन्होंने आते ही पूछा कि निश्चय सुन लिया है न ? मैंने कहा, हां ! इसपर पूछा कि इस विषय में तुम्हारी राय क्या है ? मैं अभी कुछ उत्तर नहीं दे सका था कि वह समझ गये, मेरे दिल में कुछ सन्देह मालूम हो रहा है ! उन्होंने उसी क्षण सब बातें समझा

दीं । मैं सुनता गया, पर अभी किसी निश्चय पर नहीं पहुंचा था कि अन्त में उन्होंने कहा, जो कुछ मैंने कहा है, उसपर विचार करो ।

संध्या हो गई थी । मैंने रात को सब बातों पर और सब पहलुओं पर, महात्माजी की बताई बातों की रोशनी में, विचार किया । मेरी भी दृढ़ राय हो गई कि निश्चय ठीक ही हुआ है । दूसरे दिन गांधीजी ने फिर पूछा, क्या विचार किया ? मैंने उत्तर दिया कि मैं सब बातें समझ गया और निश्चय ठीक ही हुआ है । इससे वह कुछ प्रसन्न मालूम हुए ।

इस निश्चय के प्रकाशित होते ही सारे देश में एक अजीब परिस्थिति उत्पन्न हो गई । मामूली कार्यकर्ताओं की बात कौन कहे, बड़े-बड़े धुरंधर नेता--पंडित मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय प्रभृति, जो सभी जेल में थे--इससे बहुत असन्तुष्ट हुए । अखबारों में भी विरोध की आवाज उठी । हां, हकीम अजमल खां और डाक्टर अन्सारी भी बारडोली की उस बैठक में नहीं पहुंच सके थे । इन लोगों ने सत्याग्रह स्थगित करने की राय वहां भेज दी थी । साधारण जनता में एक प्रकार की मुर्दनी-सी दिखाई देने लगी, मानो दौड़ता हुआ मनुष्य ठेस लग जाने से गिर पड़ा हो ।

बारडोली में ही गांधीजी ने पहले-पहल उस रचनात्मक कार्यक्रम को निश्चित और परिष्कृत रूप दिया, जो आज तक कांग्रेस का मुख्य कार्यक्रम है । वह प्रस्ताव इतने महत्त्व का है कि उसका उद्धरण आवश्यक है । नीचे उसका हिन्दी-रूपान्तर दिया जाता है--

"चूंकि गोरखपुर (चौरीचौरा) का भयानक काण्ड इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि देश की जनता अबतक यह अच्छी तरह नहीं समझ सकी है कि 'अहिंसा' भद्र अवज्ञा या सिविल नाफरमानी का एक जरूरी क्रियात्मक और प्रमुख अंश है; और चूंकि स्वयंसेवकों की भर्ती में बिना छानबीन किये ही--और कांग्रेस की बताई हुई हिदायतों के खिलाफ भी--लोग ले लिये गये हैं, जिससे लोगों में सत्याग्रह के मूल तत्त्व की समझ की कमी जाहिर होती है; और चूंकि इस कार्यकारिणी कमिटी की राय में राष्ट्रीयता तक पहुंचने में देरी होने का एक प्रधान कारण कांग्रेस के शासन को व्यवहार में लाने में अपूर्णता और दुर्बलता ही है, इसलिए कांग्रेस के सभी संगठित को सुदृढ़ बनाने के ख्याल से यह वर्किंग-कमिटी कांग्रेस के सभी संगठित अंगों को सलाह देती है कि वे नीचे लिखे कार्यक्रम को अंजाम देने में संलग्न हो जायं--

१. कम-से-कम एक करोड़ कांग्रेस के मेम्बरों की भर्ती। चूंकि शान्ति (अहिंसा और वैधता) और सत्य कांग्रेस की नीति के मूल तत्त्व या सार हैं, इसलिए ऐसे व्यक्ति की भर्ती न की जाय, जो स्वराज्य-प्राप्ति के लिए सत्य और अहिंसा को अनिवार्य न समझता हो। इस ख्याल से कांग्रेस की नीति को खूब अच्छी तरह हर ऐसे शख्स या व्यक्ति को समझा देना चाहिए जिससे कांग्रेस का मेम्बर बनने का अनुरोध किया जाय। मेम्बर बनानेवाले कार्यकर्ता को ख्याल रखना चाहिए कि सालाना चन्दा न अदा करनेवाला कांग्रेस का मेम्बर नहीं समझा जायगा। इसलिए पुराने मेम्बरों को फिर से नये साल के लिए अपना-अपना नाम दर्ज करा लेना चाहिए।

२. चर्खे को लोकप्रिय बनाना और हाथ के कते हुए सूत से हाथ की बुनी हुई खादी तैयारी करने का संगठन (यानी प्रबन्ध) करना। इस कार्य की सफलता के लिए कुल कार्यकर्ताओं तथा कांग्रेस के पदाधिकारियों को खद्दर की ही पोशाक पहननी चाहिए और यह भी अच्छा रहेगा कि दूसरों के हौसले बढ़ाने के लिए उन्हें खुद चर्खे पर सूत कातना सीखना चाहिए।

३. नेशनल स्कूल यानी राष्ट्रीय विद्यालय कायम करना। गवर्नमेण्ट स्कूलों पर धरना नहीं देना चाहिए। राष्ट्रीय स्कूलों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ाने में इन स्कूलों की अच्छी पढ़ाई पर ही भरोसा करना चाहिए।

४. गिरी हुई दलित जातियों के रहन-सहन को बेहतर बनाने के लिए तथा उनकी सामाजिक, मानसिक एवं नैतिक हालत को सुधारने के लिए उनका संगठन करना। उनको समझा-बुझाकर उनके बच्चों को स्कूलों में पढ़ने के लिए भेजना और जो सुविधाएं सबको मिलती हैं, वे इन लोगों को भी दिलवाना। जहां कहीं अछूत जातियों से लोग ज्यादातार अलग रहते हैं और छूत-छात का भाव जबरदस्त है, वहांपर इनके बालकों के लिए कांग्रेस के पैसे से अलग स्कूल-पाठशालाएं चलाई जानी चाहिए और लोगों को समझा-बुझाकर अछूतों को भी सार्वजनिक कुंओं से पानी भरने देने का प्रबन्ध कराना चाहिए।

५. मादकद्रव्य-निषेध के लिए शराबियों की बस्ती में घर-घर जाकर, उन लोगों को समझा-बुझाकर, नशाखोरी बन्द करने का संगठित कार्य करना। इस कार्य के लिए धरना (पिकेटिंग) से काम न लिया जाय, बल्कि समझाने-बुझाने से, आरजू-मिन्नत से ही काम निकालना चाहिए।

६. आपस के झगड़ों और मुकदमों को खानगी तौर पर ही तय-तसफ़िया करा देने की गरज से शहरों और गांवों में पंचायतें कायम करना। पंचायती फैसलों को लोगों से मनवाने की शक्ति पंचायत की सचाई और ईमानदारी, इन्साफ और लोकप्रियता से ही पैदा होनी चाहिए। किसी तरह की जोर-जबरदस्ती की परछाई भी न पड़ने पावे। इसलिए ऐसा न होना चाहिए कि जो कोई पंचायत-फैसला न माने वह समाज या जाति से खारिज किया जाय।

७. हर जाति या वर्ग के लोगों में मेलजोल बढ़ाने और आपस के ऐसे मेल-मिलाप की आवश्यकता पर सबका ध्यान खींचने की गरज से मेल-मुआफकत का बढ़ाना असहयोग-आन्दोलन का एक ध्येय है। ऐसे सामाजिक सेवा-विभाग का संगठन करना, जो बगैर किसी भेद-भाव के, सबकी सेवा, रोग-शोक या आपत्ति-विपत्ति-काल में, एक तरह से, एक भाव से करे। असहयोगी को, अपनी नीति पर दृढ़ता से कायम रहते हुए भी, बीमारी में या किसी विपद के समय, अंगरेजों या हिन्दुस्तानियों की, यानी सबकी, बराबर सेवा करना, अपनी बड़ाई या सौभाग्य की बात समझना चाहिए।

८. तिलक-स्वराज्य-फण्ड को इकट्ठा करने का काम जारी रखना और हरेक कांग्रेसी या कांग्रेस से सहानुभूति रखनेवालों से मांग पेश करना कि वे अपनी सन् १६२१ की आमदनी का एक प्रतिशत (सौ हिस्से में एक हिस्सा) तिलक-स्वराज्य-कोष में दान कर दें। हरेक सूबा-कांग्रेस-कमिटी अपने इस जमा किये हुए धन का चौथाई हिस्सा हर महीने अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी में पेश किया जायगा।

६. वर्किंग कमिटी का यह प्रस्ताव, अगर जरूरी समझा जायगा तो, संशोधन (तरमीम) के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी की अगली बैठक में पेश किया जायगा।

१०.वर्किंग कमिटी की राय में किसी ऐसे प्रबन्ध की जरूरत मालूम पड़ती है, जिसके जरिये सरकारी नौकरियां को छोड़कर आये हुए लोगों के लिए कुछ रोजगार-धन्धा दिया जा सके। इस गरज से यह कमिटी सर्वश्री मियां मुहम्मद हाजीजान, मुहम्मद छोट्टानी, सेठ जमनालाल बजाज तथा बी० जे० पटेल को मुकर्रर करती है कि ये लोग एक योजना उस तरह की तैयार करके आगामी अखिल भारतीय कमिटी की विशेष बैठक में विचारार्थ पेश करें।

बारडोली में ही यह निश्चय कर लिया गया कि अखिल भारतीय कमिटी की बैठक शीघ्र ही की जाय। तिथि निश्चित करके दिल्ली में बैठक की घोषणा कर दी गई। इसी बैठक में बारडोली के निश्चय पर विचार होने को था।

गांधीजी ने पांच दिनों का उपवास किया। वहां की जनता की सभा में उन्होंने अपने निश्चय को बतलाया। मैं भी उस सभा में उपस्थित था। लोगों ने बात तो मान ली, पर यहां भी निराशा मालूम होती थी।

दिल्ली में, वर्किंग कमिटी की बैठक में, जो अखिल भारतीय कमिटी की बैठक के पहले हुई, लालाजी और पंडित मोतीलालजी तथा औरों की रोषपूर्ण सम्मतियां मिलीं--'यह निश्चय देश के लिए बड़ा हानिकार हुआ है, इससे केवल जनता हतोत्साह ही नहीं होगी, बल्कि देश की प्रतिष्ठा को भी ठेस लगेगी।' कुछ नेताओं के पत्र भी, इसी आशय के गांधीजी के पास, जेल से आ गये थे। ऐसा मालूम होता था कि मानो सभी नेता, यदि वे बाहर होते तो, गांधीजी को पदच्युत कर देते और सत्याग्रह जारी करते। किन्तु गांधीजी टस-से-मस नहीं हुए। उन्होंने साफ-साफ बता दिया कि जो लोग जेल में बन्द हैं, उनको राय देने का कोई अधिकार नहीं है, और यदि वे राय देते हैं तो उसका बहुत वजन नहीं हो सकता। वर्किंग कमिटी में ही मैंने देखा कि गांधीजी जब निश्चय पर पहुंच जाते हैं तो किस प्रकार अटल रह सकते हैं--और अटल रह सकते हैं तीव्र-से-तीव्र विरोध के बावजूद !

हकीम अजमलखां कांग्रेस के सभापति थे। अखिल भारतीय कमिटी का जल्सा शुरू हुआ। गांधीजी ने बारडोली के निश्चय के समर्थन और मंजूरी का प्रस्ताव पेश किया। इसपर डाक्टर मुंजे ने उसके सुधार (संशोधन) के रूप में एक प्रस्ताव पेश किया, जिसमें कहा गया कि एक कमिटी बनाई जाय, जो असहयोग के कार्यक्रम और उसके अनुसार हर काम की जांच करे तथा देश को उचित परामर्श दे। इस प्रस्ताव ने, और इसके समर्थन में किये गये उनके भाषण ने, गांधीजी पर अविश्वास (**No Confidence** या **Censure**) का रूप धारण कर लिया। गरमागरम बहस चलने लगी। इसी समय हकीमसाहब की तबीयत अचानक खराब हो गई। वह सभा में बैठने से मजबूर हो गये। उन्होंने गांधीजी को अपने स्थान पर सभापति बना दिया। यह कहकर वह चले गये कि दर्द कम होते ही मैं हाजिर हो जाऊंगा, तबतक महात्माजी सभा का काम चलावेंगे। हम लोगों के देखने में यह ठीक नहीं मालूम होता

था कि जिसपर अविश्वास का प्रस्ताव पेश है और उसपर बहस हो रही है, वह सभापति के पद पर बैठा रहे। पर गांधीजी ने निःसंकोच भाव से काम आरम्भ कर दिया। उनके चेहरे-मोहरे से कुछ भी संकोच नहीं झलका। हमने सोच लिया कि वह मानते हैं कि सभापति का काम इतना ही है कि सभी सदस्यों का वह विश्वास-भाजन बना रहे और अपनी किसी कार्रवाई से प्रतिपक्षी के दिल में यह भाव न आने दे कि वह अपने सहायकों का पक्षपाती है। गांधीजी ने वहां नीति भी अजीब बरती। जब कोई बोलने उठता तो उससे पूछते कि आप डाक्टर मुंजे के पक्ष में बोलेंगे अथवा विरोध में। यदि वह कहता कि विरोध में तो कहते कि आप ठहरें। यदि वह कहता कि पक्ष में तो उसे कहते कि आपको जो कहना हो, आप कहें। इस प्रकार कितने ही भाषण डाक्टर मुंजे के पक्ष में हुए और एक भी भाषण उन्होंने अपने पक्ष में होने नहीं दिया। हम लोग कुछ शंकित भी होने लगे। सोचने लगे कि गांधीजी इस प्रकार क्यों अपने पक्ष को कुछ कहने का मौका ही नहीं दे रहे हैं ? अन्त में उन्होंने प्रस्ताव को सम्मति के लिए सभा के सामने पेश कर दिया। हाथ उठने पर मालूम हुआ कि प्रायः उतने ही हाथ डाक्टर मुंजे के पक्ष में उठे, जितने भाषण उनके पक्ष में हुए थे। अविश्वास का प्रस्ताव बड़े बहुमत से नामंजूर हो गया। बारडोली का निश्चय निम्नलिखित प्रकार से पेश किया गया :

१. अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी की यह बैठक बारडोली के-- ११ और १२ जनवरी १९२२ की वर्किंग कमिटी की बैठक में पास हुए-- रचनात्मक कार्यक्रम के प्रस्ताव को पूर्ण विचार के बाद मंजूर करती है और साथ-ही-साथ यह निश्चय करती है कि व्यक्तिगत या शख्सी भद्र अवज्ञा यानी सिविल नाफरमानी, चाहे वह रक्षार्थ हो, चाहे आक्रमणकारी या हमलेआवर, खास-खास जगहों में या खास-खास कानूनों के बाबत, मुकामी सूबा कांग्रेस-कमिटी से इजाजत लेकर, की जा सकती है। पर ख्याल यह रहे कि उसी हालत में की जा सकती है जबकि अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी या उनकी वर्किंग कमिटी की बताई हुई सिविल नाफरमानी जारी करने के पहले की, कुल शर्तें ठीक-ठीक पूरी हो चुकी हों।

२. कई जगहों से रिपोर्ट आई है कि शराब की दुकानों पर जिस तरह से धरना या पिकेटिंग की जाती है, उसी तरह कपड़े की दुकानों पर भी पिकेटिंग की जरूरत है। इसलिए यह अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी ऐसी पिकेटिंग की इजाजत कपड़े की

दुकानों के लिए भी देती है, जो नेकनीयती से और बारडोली के प्रस्ताव में बतलाये हुए तरीकों से तथा उन्हीं शर्तों के साथ की जायगी।

३. अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी अपनी यह राय जाहिर कर देना चाहती है कि वर्किंग कमिटी के प्रस्ताव के यह माने नहीं हैं कि वह अपने पहले के असहयोग या सामूहिक भद्र अवज्ञा के प्रोग्राम को छोड़ देती है। उसका मतलब सिर्फ यह है कि बारडोली-प्रस्ताव में बतलाये हुए रचनात्मक कार्यक्रम पर कार्यकर्ताओं के पूरे दिल से लग जाने से और उसे सफल बनाने से ही सामूहिक भद्र अवज्ञा के लिए आवश्यक या अनुकूल वायु-मण्डल तैयार किया जा सकता है। अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी की यह तजबीज है कि जनता को ऐसी हालत में सिविल नाफरमानी[1] वा भद्र अवज्ञा को काम में लाने का पूरा हक और कर्तव्य है जब कि शासनकर्ता व अधिकारीवर्ग जनता के निश्चय किये हुए विचारों का विरोध करने पर उतारू हो जायं।

यह कमिटी बारडोली के निश्चय को मंजूर करने के साथ-साथ केवल सामूहिक भद्र अवज्ञा को छोड़ लोगों को सभी जरूरी कार्यक्रम पूरा करने की हिदायत करती है, जो इस समय स्थागित हो गये हैं।

[1] शख्सी या व्यक्तिगत अवज्ञा या नाफरमानी उसे कहते हैं, जो एक शख्स या एक निश्चित संख्या के (महदूद) लोगों के दल या जमायत के जरिये कानून के खिलाफ या गवर्नमेण्ट के हुक्म को न मानकर किया जाय। इसलिए ऐसी मीटिंग या सभा को, जिसमें टिकट के जरिये ही लोग जाने पाते हों और जिसमें कोई अनधिकारी दर्शक नहीं जा सकती है, यदि सरकार ने करने से मना कर दिया हो, कर लेना व्यक्तिगत अवज्ञा या शख्सी नाफरमानी है। और अगर सभा आम जनता की है, जिसमें चाहे जो कोई बिना रोक-टोक शरीक हो, तो वैसी सभा यदि सरकार की आज्ञा के विरूद्ध की जाय, तो वह सामूहिक भद्र अवज्ञा (**Mass Civil Disobedience**) है। अवज्ञा या नाफरमानी को बचाव के लिए या रक्षार्थ उस हालत मे कहेंगे जब मीटिंग या सभा किसी कार्यक्रम को अंजाम देने के लिए की गई हो। आघातक या हमलावर उस हालत में कहेंगे जब सभा किसी काम के करने के लिए नहीं, बल्कि गवर्नमेण्ट की मनाही की आज्ञा को तोड़ने के लिए की जाय तथा गिरफ्तारी या जेल या दूसरे प्रकार के दमन को अपने ऊपर लाने के लिए करें।

गांधीजी ने प्रस्ताव पेश करने के समय ही ऐसा भाषण कर दिया था कि उसका असर लोग नहीं मिटा सके। सत्याग्रह स्थगित रह गया।

इस बैठक के सम्बन्ध में दो बातें यद्यपि वे छोटी हैं, कह देना बेजा न होगा। दिल्ली की बैठक का दिन निश्चित करने के समय पंचांग नहीं देखा गया था। इत्तिफाक से जो दिन मुकर्रर किया गया, उसी दिन फाल्गुन की शिवरात्रि का पर्व था। हिन्दुओं की ओर से तार पहुंचने लगे कि दिन बदल दिया जाय। पर गांधीजी इसपर राजी नहीं हुए। मैंने उनसे कहा कि शिवरात्रि बड़ा भारी पुर्व माना जाता है--बहुतेरे लोग उपवास और पूजा इत्यादि करते हैं; इसलिए दिन क्यों न बदल दिया जाय। इसपर उन्होंने कहा--"उपवास और बैठक में कोई विरोध नहीं हो सकता; क्योंकि लोग उपवास करके भी सभा में शरीक हो सकते हैं, और यह कहां, किस शास्त्र में लिखा है कि व्रत के दिन कोई अच्छा काम नहीं करना चाहिए ? देशसेवा का यह महत्त्वपूर्ण काम है। यदि हिन्दू उसमें उस धार्मिक प्रवृत्ति के साथ शरीक होंगे, जो ऐसे पवित्र दिन में उनसे अपेक्षित है, तो इससे बढ़कर दूसरी बात और क्या बेहतर हो सकती है ?" तिथि उन्होंने नहीं बदली।

एसोसिएटेड प्रेस के संस्थापकों में एक सज्जन श्री केशवचन्द्र राय (के० सी० राय) थे, जिनको मैं कलकत्ते में पढ़ने के समय से ही जानता था। वह उन दिनों कलकत्ते के एक अंगरेजी पत्र 'डेली न्यूज' के सम्पादकीय विभाग में काम किया करते थे। उन दिनों वह बहुत प्रसिद्ध व्यक्ति नहीं हुए थे। इसलिए मुझ-जैसे एक विद्यार्थी के साथ भी उनकी जान-पहचान हो गई थी। एसोसिएटेड प्रेस की स्थापना के बाद अखबारी दुनिया में उनका बड़ा नाम हो गया था। उच्च-से-उच्च कोटि के लोगों तक वह आसानी से पहुंच पाते थे। सरकारी हलकों में उनकी धाक और पंहुच तो थी ही। उनसे दिल्ली में मुलाकात हो गई। बहुत प्रेम से उन्होंने मुझसे एकान्त में कहा कि अब कमजोर हो गये हो--तुम लोगों में आपस में फूट आ गई है--एकमत नहीं रहा, इसलिए अब गांधीजी भी शीघ्र गिरफ्तार कर लिये जायेंगे। उनके कहने से मुझे कछ ऐसा नहीं मालूम हुआ कि ये बातें उन्होंने किसी मिली हुई खबर के आधार पर कही हैं। मैंने समझा कि परिस्थिति को देखते हुए यह उनका अनुमान-मात्र ही था। जो हो, दिल्ली की बैठक के बाद हम लोग अपने-अपने स्थान पर पहुंचे ही थे

कि खबर आ गई--गांधीजी गिरफ्तार करके साबरमती-जेल में ले जाये गये हैं । मैं तुरंत साबरमती के लिए रवाना हो गया । वहां जिस दिन मुकदमा दौरा-जज के यहां पेश होनेवाला था, मैं पहुंच गया ।

कोर्ट के दृश्यों को मैं कभी भूल नहीं सकता । गांधीजी का बयान तो एक तारीखी बयान है ही । जज का तौर-तरीका भी उस महत्त्वपूर्ण समय के अनुकूल ही था । गांधीजी पर 'यंग इण्डिया' में लिखे गये लेखों के सम्बन्ध में अभियोग था । गांधीजी ने अभियोग को तो अपने बयान में ही स्वीकार कर लिया था । यह भी कह दिया था कि यदि वह आजाद रहेंगे तो वैसे ही आग के साथ खेलते रहेंगे, जैसे अब तक खेलते रहे हैं । जज के लिए भी दो रास्तों में से एक को स्वीकार करने के सिवा तीसरा रास्ता नहीं हो सकता । यदि वह गांधीजी के विचारों से सहमत हों तो उनको इस्तीफा दे देना चाहिए, और यदि सहमत न हों तो जितनी सख्त सजा वह दे सकते हों, उनको देना चाहिए; क्योंकि जो कुछ गांधीजी ने किया है, वह जानबूझकर किया है और मौका मिलने पर फिर करेंगे ।

जज ने एक छोटे-से भाषण में, जिससे भी आवेश टपक रहा था, कहा कि अभियोग स्वीकार कर लेने से उनका काम एक प्रकार से तो हल्का हो गया है, पर दूसरे प्रकार से जो काम बाकी रह गया है अर्थात् सजा देने का, वह काम बहुत ही कठिन है । गांधीजी को उनके असंख्य देशवासी पूज्य मानते हैं । जज को किसी ऐसे पुरूष के मुकदमे के देखने-सुनने का मौका पहले कभी नहीं मिला है और शायद मिलेगा भी नहीं । जज को केवल कानून के अनुसार काम करने का ही अधिकार है । कानून एक मनुष्य और दूसरे मुनष्य में, व्यक्तित्व के कारण भेद नहीं करता । इसलिए उसे सजा तो देनी पड़ेगी ही । गांधीजी का स्थान लोकमान्य तिलक जैसा ही है । जो सजा उनको ऐसी ही परिस्थिति में मिली थी, वही अर्थात् छः साल कैद की सजा, गांधीजी को भी देना अनुचित न होगा ।

यही हुक्म जज ने सुना दिया । गांधीजी ने उनको इस बात के लिए धन्यवाद दिया कि उन्होंने उनको लोकमान्य तिलक के समकक्ष माना । जज के उठ जाने के बाद, हम जितने थे सब, एक-एक करके, गांधीजी से मिलकर, प्रणाम करके बिदा हुए । वह दृश्य अत्यंत कारूणिक था । मैं दिल का कमजोर हूं । बच्चों का रोना भी

मैं बर्दाश्त नहीं कर सकता । करूणा के मौके पर मैं अपने को रोक नहीं सकता । मैं फूट-फूटकर रोने लगा । श्री केलकर भी वहां उपस्थित थे । उन्होंने मुझे रोते हुए देखकर बहुत समझाया और कहा कि जब लोकमान्य को दण्ड मिला था, तो उन लोगों की भी वही दशा हुई थी । कुछ देर के बाद मैं भी संभल गया और गांधीजी से बिदा हुआ ।

उसी मुकदमे में श्री शंकरलाल बैंकर भी अभियुक्त थे । वही 'यंग-इण्डिया' के प्रिण्टर और प्रकाशक थे । उनको भी एक साल की सजा मिली । उनका सौभाग्य था कि वह गांधीजी के साथ ही सजा पाकर जेल गये और म्याद पूरी होने तक उनके साथ ही रहे ।

: ४४ :

रचनात्मक कार्य का प्रारंभ और भद्र अवज्ञा कमिटी की नियुक्ति

जेल जाते समय महात्मा गांधी ने आदेश दिया था कि कांग्रेस को रचनात्मक काम में लग जाना चाहिए; उसी के द्वारा देश सत्याग्रह के लिए तैयार हो सकेगा । इस रचनात्मक कार्यक्रम में खादी-प्रचार द्वारा विदेशी वस्त्र-बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा, अछूतोद्धार, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की स्थापना इत्यादि मुख्य थे । देश को सत्याग्रह के लिए तैयार न पाकर ही उन्होंने बारडोली में सत्याग्रह स्थगित कर दिया था । इससे स्पष्ट था कि अभी वह सत्याग्रह के लिए अनुमति देना नहीं चाहते थे । उनके जेल चले जाने के बाद देश में एक प्रकार की किंकर्तव्यविमूढ़ता आ गई । उत्साही और आवेश में आये हुए लोग चाहते थे कि सत्याग्रह आरम्भ कर ही दिया जाय । कुछ लोग यह कहने को भी तैयार हो गये थे कि गांधीजी ने सत्याग्रह रोककर देश का सत्यनाश कर दिया और अब यह सारा आन्दोलन खतम हो गया । कुछ लोग सोचने लगे कि जब सत्याग्रह नहीं करना है तो कौन्सिलों का बहिष्कार बेकार है--वहां जाने में जो प्रतिबन्ध है, उसे हटा देना चाहिए । कुछ लोग गांधीजी के बताये रचनात्मक कार्यक्रम पर जोर दे रहे थे और उसके लिए जोरों से काम करना चाहते थे ।

जो फूट का बीजवपन दिसम्बर के महीने में लार्ड रीडिंग के साथ समझौता न करने के कारण हुआ था, और जो बारडोली-निश्चय के समय काफी अंकुरित हो चुका था, वह तीव्र गति से पल्लवित होता गया । बड़े-बड़े नेता भी जेल में थे । बारडोली और दिल्ली के निश्चय ऊपर दिये गये है । उनसे स्पष्ट है कि सामूहिक सत्याग्रह तो स्थगित कर दिया गया था, आक्रमणकारी व्यक्तिगत सत्याग्रह भी बन्द ही था; पर बचाव के लिए सत्याग्रह की इजाजत थी ।

कुछ लोग, विशेष करके महाराष्ट्र के कुछ लोग, शुरू से ही असहयोग के और सत्याग्रह के कार्यक्रम से असन्तुष्ट थे । देश की परिस्थिति के प्रभाव से जो निश्चय कांग्रेस ने कर दिया, उसके अनुसार वे काम तो अवश्य करने लगे थे; पर उनका दिल कभी इस सारे कार्यक्रम में नहीं लगा । इसलिए जब-जब उनको मौका मिलता, वे

इसके किसी-न-किसी अंश के विरूद्ध आवाज उठाते। १९२१ की जुलाईवाली अखिल भारतीय कमिटी के बम्बई-अधिवेशन में ही उन्होंने आवाज उठाई थी। फिर वही बात अहमदाबाद-कांग्रेज के समय भी कही जाने लगी। जब बारडोली में वर्किंग कमिटी ने सत्याग्रह स्थगित करने का निश्चय किया, तो उनको और भी बहुत अच्छा मौका मिला। दिल्ली की अखिल भारतीय कमिटी में डाक्टर मुंजे ने उसी कारण से एक प्रस्ताव उपस्थित किया था, जिसका जिक्र ऊपर किया जा चुका है। वह चाहते थे कि सारे कार्यक्रम के सम्बन्ध में जांच करने के लिए एक कमिटी बनाई जाय। वहां तो वह प्रस्ताव नामंजूर हो गया। पर मराठी मध्यप्रादेशिक कांग्रेस-कमिटी में डाक्टर मुंजे की इच्छा पूरी हुई। वहां एक कमिटी बनी। उसने एक रिपोर्ट तैयार की, जिसमें प्रायः सारे कार्यक्रम को तोड़-मरोड़कर एक नया कार्यक्रम बनाया गया। वहां की प्रान्तीय कमिटी ने उसे अखिल भारतीय कमिटी के पास विचारार्थ भेजने का निश्चय किया। पर वहां की जनता इससे सन्तुष्ट नहीं थी। नागपुर में एक बड़ी सभा हुई। उसमें प्रान्तीय कमिटी पर अविश्वास प्रकट किया गया। उस सभा में आठ-नौ हजार लोग थे। श्री जमनालाल बजाज उसके सभापति थे। डाक्टर मुंजे के विचारवाले लोग भी उसमें सम्मिलित थे। रिपोर्ट के समर्थन में जो कुछ कहा जा सकता था, उन्होंने कहा भी। पर सात घंटों की बहस के बाद सभा ने रिपोर्ट की निन्दा की। चन्द हाथ ही उसके पक्ष में उठे। बाकी सबके-सब रिपोर्ट के विरोध में ही रहे।

इसके बरक्स (विपरीत) बिहार ने बारडोली और दिल्ली के निश्चयों का स्वागत किया। प्रान्तीय कमिटी ने रचनात्मक कार्यक्रम के सम्बन्ध में एक लम्बा प्रस्ताव पास किया। यद्यपि वहां भी सरकारी दमन चल ही रहा था, तथापि सत्याग्रह बन्द कर दिया गया और कांग्रेस-कमिटियों को आदेश दिया गया कि वे रचनात्मक कार्यक्रम जोरों से चलावें। गुजरात ने भी ऐसा ही किया। बिहार में इसका यह असर हुआ कि दूसरे विचार के लोग, जो असहयोग और सत्याग्रह के कारण कांग्रेस से अलग हो रहे थे, रचनात्मक काम में मदद देने के लिए तैयार हो गये। इनमे मुख्य थे बाबू गणेशदत्तसिंह। पटने में ऐसे लोगों की एक सार्वजनिक सभा हुई, जिसमें मैं भी दूसरे असहयोगियों के साथ शरीक हुआ था। वहांपर उन्होंने निश्चय किया कि वे भी इसमें पूरी दिलचस्पी लेंगे और यथासाध्य मदद करेंगे।

हमने खादी का काम जोरों से हाथ में लिया। साथ ही, राष्ट्रीय

शिक्षा-सम्बन्धी एक कान्फ्रेन्स की गई, जिसमें इसके नियम और पाठ्यक्रम इत्यादि पर विचार किया गया। उस समय जितनी पाठशालाएं चल रही थीं, उनकी आर्थिक सहायता इत्यादि का प्रबन्ध सोचा गया। हम लोग, सभी, इन्हीं विचारों को लेकर, जहां-तहां सफर भी करने लगे।

सरकार की दुहरी नीति चलती रही। कहीं-कहीं गिरफ्तारियों भी हो रही थीं। दूसरी ओर, जो जेल में गये थे, उसके मुकदमों के कागजों को गवर्नमेण्ट ने हाइकोर्ट के एक जज सर वसन्तकुमार मल्लिक के पास भेजा। उनसे कहा गया कि वह कागजों को देखकर अपनी सम्मति दें कि सज़ा ठीक और उचित है या नहीं। उनकी सिफारिश से कुछ लोग छोड़ दिये गये और कुछ की सजा कम हुई। पर अधिकांश ज्यों-के-त्यों जेलों में पड़े रहे।

श्री सच्चिदानन्दसिंह १६२१ में ही, राय कृष्णसहाय बहादुर की मृत्यु के बाद, बिहार के गवर्नर की कौन्सिल के मेम्बर नियुक्त हो चुके थे। जेल का महकमा उन्हीं के चार्ज में था। उन्होंने राजबन्दियों के सम्बन्ध में कुछ नियम बनाये, जिनसे जनता को कुछ सन्तोष हुआ। पर जेल के अधिकारी इससे बिलकुल सन्तुष्ट नहीं थे। कुछ दिनों के बाद, एक आदमी (सर हरमुसजी बनातवाला) जेलों का इन्सपेक्टर-जेनरल, बनकर, कहीं किसी दूसरे प्रान्त से, आया। वह बड़ी सख्ती बरतने लगा। नये कायदों के बावजूद, बिहार के जेलों में राजबन्दियों के साथ काफी सख्ती होती रही, जिसका जिक्र उन दिनों पत्रों में अक्सर हुआ करता था। उनसे चक्की चलवाना और कोल्हू पेरवाना तो मामूली बात थी। अगर हुक्म के मुताबिक पूरा काम न हो तो उसके लिए सजा होती। पैरों में बेड़ी, डंडाबेड़ी, खड़ी हथकड़ी, चट्टी कपड़ा, जो जेल की सख्त सजाएं हैं, बहुतेरों को भोगनी पड़ीं। कहीं-कहीं बेंत भी लगाये गये। मुसलमानों की संख्या काफी थी। इसलिए उनसे अजान के मामले को लेकर मुठभेड़ हो गई। अधिकारियों ने इसे बन्द करने का हुकुम दिया। उन्होंने नहीं माना। इसके लिए बहुतों को सजा हुई।

मौलाना मजहरूल हक साहब ने १६२१ के सितम्बर से ही एक साप्ताहिक पत्र, 'मदरलैंड' के नाम से, निकालना शुरू किया था। उसमें वह खुद अधिक लिखा करते थे। वह पटने से प्रकाशित हुआ करता था। उसमें जेल-सम्बन्धी एक लेख छापने के लिए उनपर सर हरमुसजी बनातवाला ने मुकदमा चलाया, जिसमें उनको भी सजा

हो गई। मुझे भी एक कड़ी टिप्पणी, श्री सच्चिदानन्दसिंह के जेल-सम्बन्धी शासन के विरूद्ध, लिखनी पड़ी थी।

महात्माजी के कैद हो जाने के बाद वर्किंग कमिटी की बैठक जहां-तहां होती रही। बैठकों में रचनात्मक काम पर जोर दिया जाता रहा। एक में खादी-प्रचार के काम को संगठित रूप से चलाने के लिए बोर्ड बनाने का निश्चय हुआ। इस काम के लिए तिलक-स्वराज्य-फण्ड से रूपये देने की भी अनुमति दी गई। श्री विट्ठलभाई पटेल, जो अखिल भारतीय कमिटी के मंत्री थे, भाषणों और समाचारपत्रों में लेखों द्वारा, जनता को और कांग्रेस-कार्यकर्ताओं को बराबर उत्साहित करते रहे कि वे कांग्रेस के अधिक-से-अधिक मेम्बर बनाने में, तिलक-स्वराज्य-फण्ड के लिए पैसे जमा करने में तथा खादी-प्रचार अछूतोद्धार और राष्ट्रीय शिक्षा के कामों में जोर लगाते रहें। तो भी सुस्ती आती गई। लखनऊ में अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी की बैठक की गई। श्री विट्ठलभाई पटेल उस समय की परिस्थिति से बहुत असन्तुष्ट थे। मैं लखनऊ पहुंचा तो सही, पर वहां पहुंचकर ज्वरग्रस्त हो गया। इसलिए वहां की बैठक में प्रायः दर्शक-सा ही भाग ले सका, बहस-मुबाहसे में बहुत भाग न ले सका। भाग्यवश पंडित मोतीलाल नेहरूजी उसी समय छूटे। दूसरे दिन वह उस बैठक में शरीक हुए। पंडितजी के पहुंचने के पहले ही उस बैठक में श्री विट्ठलभाई पटेल और कतिपय दूसरे नेताओं की प्रेरणा से एक कमिटी मुकर्रर करने की बात हुई, जिसके जिम्मे यह काम दिया गया कि वह देश की परिस्थिति पर विचार करके और जहां जाकर जांच करने की जरूरत समझी जाय वहां जाकर जांच करके इस बात की रिपोर्ट करे कि देश सत्याग्रह के लिए तैयार है या नहीं। पंडितजी ने भी आने के बाद इसे मंजूर कर लिया और सभापति से आग्रह किया गया कि वह एक कमिटी बनावें। गांधीजी, बगैर किसी कमिटी की जांच के ही, देश की नाड़ी पहचान लिया करते थे। जबसे वह भारत लौटे थे तथा सार्वजनिक कामों में खुले तौर पर भाग लेने लगे थे, उन्होंने अपनी इसी शक्ति से काम लिया था। उनके हटते ही कमिटी को इसकी जरूरत महसूस हुई। पर इसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ। जैसे भारत में ब्रिटिश गवर्नमेण्ट जब किसी विषय को टाल देना चाहती है तो एक जांच-कमिटी मुकर्रर कर देती है, वैसे ही हमने भी किया! इससे एक प्रकार से सत्याग्रह स्थगित हो गया। रचनात्मक काम में जो उत्तेजना मिलनी चाहिए थी और जिसपर गांधीजी

जोर दे गये थे, वह भी एक प्रकार से गौण बन गया ।

इसी बैठक में एक दूसरा काम भी किया गया, जिसका फल कुछ दिनों के बाद बहुत अच्छा निकला । देश-भर में बढ़ते हुए खादी के काम की देख-रेख के लिए वर्किंग कमिटी ने जो बोर्ड बनाया था, उसे कमिटी ने मंजूर किया । १९२१ में जब स्वराज्य-फण्ड जमा हो चुका था और खादी के काम पर जोर दिया गया तो उस फण्ड में से सभी प्रान्तों को खादी-प्रचार के लिए रूपये दिये गये । किसी को अभी खादी का न तो बहुत ज्ञान था और न अनुभव । इसलिए महसूस किया गया कि रूपये बहुत नुकसान होंगे, और काम ठीक तरह से आगे नहीं बढ़ेगा । इस बोर्ड के जिम्मे सभी सूबों में संगठित रूप से काम की देख-रेख करने का भार दिया गया । सेठ जमनालाल बजाज इसके सभापति नियुक्त हुए । सेठजी को रचनात्मक काम पर बहुत विश्वास था । उन्होंने खादी-प्रचार तथा अछूतोद्धार के काम को बहुत परिश्रम और दिलचस्पी से शुरू कर दिया ।

: ४५ :

बिहार में कांग्रेस को निमंत्रण और उसकी तैयारी

अहमदाबाद-कांग्रेस में बिहार के जो प्रतिनिधि उपस्थित हुए, उन सबकी राय हुई कि इस बार कांग्रेस का अधिवेशन बिहार में करने के लिए निमंत्रण दिया जाय। बिहार में इसके पहले केवल एक ही बार कांग्रेस हुई थी--१९११ में, जब आपस के मतभेद के कारण कांग्रेस बहुत क्षीण हो चुकी थी और उसमें हाजिरी बहुत कम हुआ करती थी। उस बार के अधिवेशन के प्रबन्धकों का अनुभव कुछ अच्छा नहीं, बल्कि कटु ही था, यहांतक कि कांग्रेस के समय में जो खर्च हुआ, उसके कुछ रूपये बाकी पड़ गये। स्वागत-समिति के अध्यक्ष मजहरूल हक साहब, मंत्री श्री सच्चिदानन्दसिंह तथा अन्य सदस्यों पर उन बाकी रूपयों के लिए अदालत में नालिश हुई। पर अब बिहार में, चम्पारन में महात्माजी के आगमन के बाद और विशेषकर १९२१ के आन्दोलन के कारण, काफी जागृति हो गई थी। हम लोगों ने महसूस किया कि इस बार वैसे कटु अनुभव नहीं होंगे। साहस करके हमने निमंत्रण तो दे दिया; पर वहां यह निश्चय न कर सके कि बिहार के किस नगर में अधिवेशन किया जाय। यह बिहार की प्रान्तीय कमिटी की बैठक में निश्चय करने के लिए छोड़ दिया गया। कांग्रेस ने भी अहमदाबाद में निश्चय कुछ दिनों के बाद वर्किंग कमिटी ने किया कि बिहार का निमंत्रण मंजूर किया जाय।

बिहार में, प्रान्तीय कमिटी की बैठक के पहले, मैंने कुछ जगहों को जाकर खुद देखा। तब कमिटी की बैठक की गई। वहांपर निश्चय हुआ कि गया में कांग्रेस का अधिवेशन किया जाय। उस जिले में, रूपये जमा करने के लिए, मैं श्री कृष्णप्रकाश सेन सिंह के साथ दौरा करने लगा। कुछ सफलता भी मिली। सारे जिले में, जहां मैं पहले कभी नहीं गया था, जाने का अच्छा मौका मिला। उस जिले में बरसात में घूमना बहुत मुश्किल है। मिट्टी केवाल (चेकनी-कड़ी) है। जहां पक्की सड़क नहीं है, वहां किसी भी सवारी का गुजर नहीं है। इसलिए, बरसात के पहले ही, मैंने बहुतेरी जगहों में, जहां कुछ जमा हो सकता था, वहां जाकर, काम कर लिया।

पटने में १६११ की कांग्रेस के स्वागत-मंत्री पर मुकदमे की बात मुझे याद थी। इसलिए निश्चय किया गया था कि अभी स्वागताध्यक्ष तथा अन्य पदाधिकारियों का पक्का चुनाव न किया जाय। जब काफी संख्या में स्वागत-समिति के सदस्य बन जायेंगे तभी पदाधिकारियों का चुनाव ठीक होगा। तबतक काम चलाने के लिए मैं ही अस्थायी मंत्री बना दिया गया। कुछ लोगों की, जिनमें अनुग्रहबाबू भी थे, मेरे सहायतार्थ, एक छोटी कार्यकारिणी बना दी गई। मैंने निश्चय कर लिया और कमिटी को कह भी दिया था कि मैं एक पैसा भी उधार या कर्ज ले करके खर्च नहीं करूगां--इतना ही नहीं, किसी काम को तबतक शुरू भी नहीं करूंगा जबतक उसके लिए पूरे रूपये पास में न आ जायेंगे। यही एकमात्र उपाय था, जिससे अपने ऊपर की आर्थिक जिम्मेदारी से मैं तथा कमिटी के मेम्बर अपने को बचा सकते थे। सभी जिलों में पत्र लिखे गये कि सभी स्वागत-समिति के सदस्य बनावें और चन्दा जमा करे। पर कार्यकर्ताओं में कुछ सुस्ती-सी दीखने लगी, धनसंग्रह में भी कमी होने लगी। अहमदाबाद के बाद कांग्रेस का रूप ही बदल गया था। हमको एक नया शहर-सा बसाना था, जो गया शहर से बाहर हो और जहां लोगों के ठहरने के लिए झोंपड़े तथा रोशनी और पानी का पूरा प्रबन्ध हो। इसके अतिरिक्त कांग्रेस का पंडाल तैयार कराना था। कुछ कठिनाई जमीन मिलने में हुई। पर स्थानीय लोगों की कृपा से, गया शहर से प्रायः डेढ़-दो मील दक्खिन, 'तेनुई' गांव में, पक्की सड़क के पूरब आम का बगीचा और पच्छिम में खाली खेत मिल गये। खाली खेत में पंडाल और बगीचे में रहने के लिए झोंपड़े बनाने का निश्चय हुआ। कुछ दूर पर एक दूसरी फुलवारी मिल गई, जिसमें एक छोटा बंगला भी था। उसी में खादी-प्रदर्शनी करने का निश्चय हुआ। कुछ समय तो नक्शा बनाने में और जहां-तहां रूपये तथा बांस-बल्ली जमा करने में लगा। बरसात में काम हो ही नहीं सकता था। इसलिए बरसात के बाद ही काम शुरू करने का निश्चय हुआ।

अधिवेशन दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में हुआ करता था। इसलिए बरसात के बाद प्रायः तीन महीने मिलते थे। यदि रूपये और सामान तैयार रहें तो सबकुछ कर लेना ज्यादा मुश्किल न था। पर दुर्भाग्यवश अभी रूपये काफी नहीं आये थे। मैंने पत्रों द्वारा और आदमी भेजकर सभी जिलों को ताकीद किया, पर रूपये काफी नहीं आये। मेरी चिन्ता बढ़ने लगी। मैंने तो निश्चय कर ही लिया था कि तबतक किसी

के साथ कोई काण्ट्रैक्ट (ठेका) नहीं करूंगा जबतक काण्ट्रैक्ट के लिए पूरे रूपये बैंक में जमा न हो चुके होंगे। ज्यों-ज्यों समय नजदीक आने लगा, चिन्ता बढ़ने लगी। हम उस समय के नजदीक पहुंचने लगे जब कोई काण्ट्रैक्टर (ठेकेदार) समय की कमी के कारण आवश्यक झोंपड़े, पंडाल इत्यादि तैयार कर देनेवाला न मिलता। कमिटी की बैठक हुई। सब बातों पर विचार किया गया। मैं अपने इस निश्चय पर डटा रहा कि जबतक किसी काम के लिए पूरे रूपये बैंक में जमा न हो जायंगे तबतक मैं मंत्री की हैसियत से किसी काण्ट्रैक्ट पर दस्तखत नहीं करूंगा। सब जिलों के कार्यकर्ताओं की सुस्ती से हम घबरा रहे थे। अन्त में यह निश्चय किया गया कि कमिटी के मेम्बरों की व्यक्तिगत जिम्मेदारी पर बैंक से रूपये कर्ज लिये जायं, ये रूपये बैंक में जमा कर दिये जायं और तब नगर-निर्माण इत्यादि का काण्ट्रैक्ट दिया जाय।

इस तरह पचास हजार रूपये कर्ज लेने की बात तय हुई। कुछ लोग चाहते थे कि यह बात गुप्त रखी जाय, क्योंकि इसका प्रकाशित होना सारे सूबे के लिए बेइज्जती की बात होगी और गवर्नमेण्ट के कर्मचारी तथा दूसरे लोग देखकर खुशियां मनायेंगे। मैंने कहा कि सूबे की जनता पर मेरा पूरा विश्वास है। लोगों को जब यह मालूम हो जायगा कि कांग्रेस को निमंत्रित करके हम इस असहाय अवस्था में हैं, तो वे जरूर आवश्यक रूपये दे देंगे। साथ ही, कांग्रेसी कार्यकर्ता भी परिस्थिति की विषमता समझेंगे और रूपये जमा करने में दिल से लग जायंगे।

प्रस्ताव अखबारों में छाप दिया गया। मैं रूपये जमा करने के लिए दौरे पर निकल गया। जैसे ही लोगों ने इस प्रस्ताव को अखबारों में पढ़ा, सारे सूबे के कांग्रेसी कार्यकर्ताओं के दिल में आग-सी लग गई। सभी खूब जोरों से स्वागतकारिणी के मेम्बर बनाने और रूपये जमा करने में लग गये। मैं जहां गया वहां काफी रूपये मिलने लगे। सभी लोग प्रान्त की बेइज्जती महसूस करने लगे। मैं प्रायः एक सप्ताह के दौरे के बाद कई हजार रूपये जमा करके लौटा। रूपये साथ में थे। हम लोग ठहरा करते थे उसी छोटे बंगले में, जो शहर से प्रायः डेढ़ मील दूर था और जिसमें खादी-प्रदर्शनी करने का निश्चय हुआ था। वहां इतने रूपये साथ में रखना ठीक नहीं था। रेल से मैं चार बजे के करीब दोपहर को उतरा। गया स्टेशन पर मुझे पुलिस का एक दारोगा मिला। उसने अखबारों में हमारे प्रस्ताव को पढ़ा था। वह यह स्वप्न देख रहा था कि शायद गया में कांग्रेस हो ही नहीं सकेगी। उसने ट्रेन से उतरते ही मुझसे प्रश्न किया, बैंक से रूपये कर्ज ले लिये गये ? शायद वह समझता था कि कोई

बैंक भी इतनी बड़ी रकम व्यक्तिगत जिम्मेदारी पर कर्ज न देगा । मैंने उत्तर दिया, कर्ज लेने की अब जरूरत नहीं रह गई । यह सुनकर वह बहुत आश्चर्य में पड़ गया । मैंने यह भी कह दिया कि अब काम के लिए काफी रूपये आ गये हैं और मैं खुद अपने साथ एक अच्छी रकम जमा करके ला रहा हूं । उसको मेरी बातों पर विश्वास नहीं हुआ । मैं तो रूपयों के बोझ को बैंक में डाल देना चाहता ही था । इसलिए गाड़ी-भाड़ा करके सीधे बैंक की ओर चला । वह साइकिल पर गाड़ी के पीछे-पीछे चला । जब उसने देखा कि बैंक में सचमुच मैं एक बड़ी रकम गिनवाकर जमा कर रहा हूं तब उसको मेरी बात पर विश्वास हुआ । वह हमारा साथ छोड़कर अपने दूसरे काम पर चला गया । मैं जो कुछ जमा करके लाया था, उसके अलावा सभी जिलों से रोजाना रूपये पहुंचने लगे । हम लोग भी इधर-उधर चक्कर लगाते ही रहे । इधर निर्माण का काम भी तेजी से चलने लगा ।

भला गरीब बिहार धनी अहमदाबाद के ठाट-बाट की कहांतक नकल या मुकाबला कर सकता था । पर मेरा ख्याल है कि हमने भी अच्छा ही प्रबन्ध कर लिया और खर्च भी गुजरात से बहुत कम ही किया ।

प्रदर्शनी के सम्बन्ध में हमने निश्चय कर लिया था कि खादी बनाने की सभी प्रक्रियाओं का प्रदर्शन किया जाय । खादी में हमने केवल कपास के कपड़े को ही नहीं, बल्कि रेशम, ऊन, पाट इत्यादि उन सभी चीजों को शामिल कर लिया था, जिनसे सूत या रस्सी बट करके कोई भी चीज बुनकर बनाई जाती है । इनमें से प्रत्येक की, आरम्भ से लेकर जबतक चीज तैयार होकर इस्तेमाल के योग्य न बन जाती थी तबतक की, सभी प्रक्रियाएं दिखाने का प्रबन्ध किया गया । उदाहरणार्थ, कपास को लीजिये । कपास के पौधे से लेकर, कपास की ओटाई, धुनाई, कताई, ताना करना, पाई करना, बुनना, कपड़े की धुलाई-छपाई इत्यादि तक, सभी प्रक्रियाएं दिखलाई जाती थीं । इसी प्रकार के ऊन, रेशम, पाट इत्यादि की भी । अभी चर्खा-संघ कायम नहीं हुआ था । उसका काम खद्दर-बोर्ड करता था, पर वह अभी एक बरस का भी नहीं हुआ था । इसलिए खादी-कार्य का संगठन और अनुभव तथा जानकारी नहीं के बराबर थी । इन सब चीजों को और सबके लिए कारीगरों को जुटाना कुछ आसान काम न था । पर यह सब प्रबन्ध हो गया । खादी-प्रदर्शनी अपने ढंग की अच्छी हुई । दर्शकों के टिकट से जो पैसे आये, वे प्रायः प्रदर्शनी के खर्च के लिए काफी साबित हुए ।

: ४६ :

आसाम और संथाल-परगना में दमन

कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन और कार्रवाई के सम्बन्ध में कुछ कहने के पहले १६२२ वाली कांग्रेस के सम्बन्ध में कुछ कह देना आवश्यक है ।

महात्मा गांधी की गिरफ्तारी के बाद भी सरकारी दमन किसी-किसी सूबे में जोरों से जारी रहा । बड़े नेताओं में पंडित मदनमोहन मालवीयजी और श्री विट्ठलभाई पटेल को छोड़ दूसरे सभी प्रायः जेल में थे । दमन के कारण जनता कुछ घबरा-सी रही थी । कांग्रेस को जीवित रखना आवश्यक था । जो थोड़े लोग बाहर रह गये थे उनकी जिम्मेदारी और भी बढ़ गई थी । पंडित मालवीयजी का विचार हुआ कि आसाम में, जहां से दमन की भयंकर खबरें आ रही थी, अवश्य जाना चाहिए । मैं भी उनके साथ गया । वहां प्रायः सभी जिलों में कांग्रेस-कमिटियां, केवल शहर में ही नहीं बल्कि बहुतेरे गांवों में भी, स्थापित हो गई थीं । आसाम में मकान बहुधा फूस के ही हुआ करते हैं । कांग्रेस के घर भी फूस के ही थे । सरकारी कर्मचारियों ने प्रायः सभी जगहों के कांग्रेस के दफ्तरों को जला दिया था । सभी अच्छे-अच्छे कार्यकर्ता गिरफ्तार हो चुके थे । कांग्रेस के सेवक-दल के सदस्य, जहां कहीं मिलते, गिरफ्तार कर लिये जाते थे ।

वहां की सरकार के क्रुद्ध होने का विशेष कारण यह था कि आसाम में अफीम की बिक्री से सरकार को अच्छी आमदनी होती है । वहां के लोग अफीम खाते हैं, जिसके फलस्वरूप उनके शारीरिक और मानसिक बल का ह्रास हो जाता है । कम उम्र में ही वे बूढ़े-जैसे जान पड़ते हैं । दिल और दिमाग की कमजोरी के कारण वे निकम्मे हो जाते हैं । यह हाल सुनकर गांधीजी ने वहां के कार्यकर्ताओं को आदेश दिया था कि अफीम-बन्दी का आन्दोलन करो । उस आन्दोलन के कारण अफीम की बिक्री बहुत घट गई थी और उसके साथ-साथ सरकारी आमदनी भी । इसलिए सरकारी कर्मचारियों का प्रयत्न था कि कांग्रेस को दबाना चाहिए । जैसा ऊपर कहा गया है, वे कड़ी दमन-नीति से काम ले रहे थे ।

वहां पहुंचकर हमने सब हाल देखा और निश्चय किया कि सूबे का दौरा किया जाय। मेरे लिए और पूज्य मालवीयजी के लिए भी आसाम-दर्शन का यह पहला अवसर था। अत्यन्त हरा-भरा, फूला-फला देश, जिसमें महानद ब्रह्मपुत्र और पहाड़ों की छटा अत्यन्त मनमोहक थी। घने विशाल वृक्षोंवाले तथा छोटी झाड़ियोंवाले जंगल जहां प्रदेश की शोभा बढ़ाते थे, वहां जंगली जानवरों के कारण--जिनमें हाथी और शेर मुख्य हैं--उसे खेती और सफर के लिए खतरनाक भी बना देते थे। हरियाली सुहावनी तो है; पर जमीन के हमेशा तर रहने के कारण प्रान्त का बहुत भाग मलेरिया-ग्रस्त भी है।

गोहाटी में पूज्य मालवीयजी ने बहुत ही जोशीला और उत्साहवर्धक भाषण किया। अफीमबन्दी के काम को जारी रखने के लिए सब लोगों से अपील भी की। मैंने भी कुछ कहा; पर पूज्य मालवीयजी के सभा में रहते दूसरा कोई क्या बोल सकता है! जितना समय आसाम-भ्रमण के लिए हम दे सकते थे, उतने में बहुत जगहों तक हम दोनों नहीं पहुंच सकते थे। इसलिए हम दोनों दो दलों में बंट गये। कुछ स्वयंसेवक पूज्य मालवीयजी के साथ उन स्थलों पर गये, जहां रेल या स्टीमर से जाया जा सकता था। कुछ स्वयंसेवकों के साथ मेरा कुछ ऐसे स्थानों में जाना निश्चित हुआ, जहां बैलगाड़ी पर जाना था। निश्चय ठीक और मेरे मन के अनुकूल था; क्योंकि इस प्रकार मैं गांवों की परिस्थिति अधिक देख सकता था। साथ ही, पूज्य मालवीयजी अपनी वृद्धावस्था में--उस समय वह साठ से अधिक के रहे होंगे--बैलगाड़ी के सफर से बच जाते थे। स्थान ऐसे ही चुने गये थे, जहां दमन का चक्र अधिक तीव्र गति से चला था।

मुझे एक बीहड़ स्थान पर जाना था, जहां कुछ दूर तक घोर जंगल में से होकर जाना पड़ता था। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि आसाम के गांवों में बिहारी मजदूर काम करते हैं। बिहार की बैलगाड़ियां बोझ ढोने का काम करती हैं। गोहाटी में, ब्रह्मपुत्र में, मैं स्नान करने गया। वहां इत्तिफाक से दो नावें लगी हुई थीं। उनके मल्लाहों को आपस में बातचीत करते सुना तो समझ गया कि वे छपरे की बोली बोल रहे हैं। पूछने से मालूम हुआ कि वे छपरा जिले के किसी गांव के रहनेवाले मांझी हैं और बराबर नाव ले जाया करते हैं। स्टीमर पर जो हलवाई दुकान करता था वह भी छपरे का ही रहनेवाला था।

हम लोग गोहाटी से १५-१६ मील तक लारी पर गये । वहां से बैलगाड़ी पर प्रायः २० मील और जाना था । रास्ता जंगल से होकर जाता था । स्थानों का नाम आज स्मरण नहीं है । उस स्थान पर तो हम प्रायः १२ बजे दिन को ही पहुंच गये । मैंने सोचा था कि जंगल का रास्ता भी शीघ्रता से चलने पर दिन में ही अधिकांश कट जायगा । दो बैलगाड़ी भाड़े पर ली गई, पर गाड़ीवाले किसी-न-किसी बहाने से अबतक करते प्रायः ५ बजे तक रवाना नहीं हुए । दरियाफ्त करने से मालूम हुआ कि सख्त धूप के कारण बैलगाड़ियां अधिकतर रात को ही चलती हैं । एक गाड़ी पर मैं और एक स्वयंसेवक बैठे । दूसरी पर दो या तीन दूसरे स्वयंसेवक । पास में खाने के लिए कुछ था नहीं । आठ बजे रात को किसी स्थान पर पहुंचे, जो चट्टी-सी जान पड़ती थी । बहुतेरी गाड़ियां वहां लगी थीं । खोजने पर केवल कुछ भुने चने मिले, जिनको हम लोगों ने ले लिया और गाड़ी को रवाना किया । उन्हें चबाकर मैं गाड़ी में सो गया । कुछ घंटों बाद बहुत शोर-गुल सुनकर मेरी नींद टूटी । मैंने देखा कि स्वयंसेवक किरासन तेल के दो टिनों को बहुत जोरों से पीट-पीटकर और जोरों से गा-गाकर शोर मचा रहे हैं । साथ ही, गाड़ीवाले भी बहुत जोरों से चिल्ला-चिल्लाकर बैलों को हांक रहे हैं । दोनों गाड़ियों के साथ लालटेनें थीं, जो जल रही थीं । सड़क बहुत संकरी हो गई थी । दोनों ओर बड़े-बड़े वृक्षों का बहुत घना जंगल था । वह घाटी थी, जहां दोनों ओर पहाड़ भी थे, पर वे रात को गाड़ी पर से नजर नहीं आते थे--उनको मैंने लौटती बार ही देखा । पूछने पर मालूम हुआ कि उस स्थान पर जंगली जानवर, विशेषकर शेर, अक्सर आ जाया करते हैं । उन्हीं को भगाने के लिए स्वयंसेवक और गाड़ीवान शोर मचा रहे थे । उन्होंने कहा कि जानवर उस आवाज के नजदीक नहीं आते । यदि सड़क पर भी होते हैं तो हट जाते हैं । पर कोई-कोई जानवर इतना शोख़ होता है कि बैलगाड़ी में जुते हुए बैलों को भी खींच ले जाता है । मालूम हुआ कि एक ऐसी घटना हाल ही में हो चुकी थी । इसके बाद मैं सो न सका ।

जब हम घोर जंगल से बाहर निकल आये और जानवरों का डर कम हो गया तब शोर मचाने की प्रक्रिया बन्द हुई । हम अपने स्थान पर बहुत सवेरे ही पहुंच गये । वहां की जनता बहुत आतंकित थी । कांग्रेस का छोटा-सा घर जला दिया गया था । सभी कांग्रेसी काम करनेवाले गिरफ्तार हो चुके थे । थाना पास में ही था । लोग

डर के मारे अब कांग्रेस के काम से विमुख हो गये थे। हम लोगों के पहुंचने से उनमें साहस आ गया। सब जमा हो गये। आसपास के गांवों में खबर दी गई कि सभा होगी। इस बीच में गांव के लोगों से वहां के दमन का हाल हम सुनते रहे। अफीम-बन्दी-सम्बन्धी जानकारी भी हासिल करते रहे। दोपहर तक लोग जमा हो गये। दो-तीन सौ आदमियों की एक अच्छी सभा हो गई। देखा कि लोगों की हिम्मत बढ़ गई। फिर कांग्रेस-भवन बना लेने और अफीम-बन्दी का काम जारी करने का लोगों ने वचन दिया। पुलिस के मौजूद रहते भी लोगों ने सभा में खुलेआम भाग लिया।

हम लोग तीन बजे के करीब वहां से वापस हुए। इरादा था कि उस दुर्गम स्थान को, जहां रात को टिन पीटना पड़ा था, रोशनी रहते ही पार कर जायं। ऐसी ही हुआ भी। उस स्थान पर पहुंचते-पहुंचते सुर्यास्त हो चुका था, पर अभी अंधेरा नहीं हुआ था। मैं साथियों के साथ पैदल ही चल रहा था। दोनों गाड़ियां भी साथ-ही-साथ चल रही थीं। इसी बीच में पहाड़ियों की तरफ से बाघों की दहाड़ सुनने में आने लगी। यह आवाज दोनों तरफ से मालूम पड़ती थी, पर हो सकता है कि एक ही ओर से आती रही हो और एक ही बाघ की हो तथा वह उस निर्जन जंगल-पहाड़ों में प्रतिध्वनित होकर कई बाघों की आवाज-सी मालूम पड़ रही हो। पर बाघ कहीं देखने को न मिला। आवाज भी बहुत नजदीक नहीं थी, शायद दो-तीन फर्लांग की दूरी से आ रही थी। मैंने चिड़ियाखाने के सिवा बाघों की ऐसी दहाड़ और कहीं नहीं सुनी है।

रातभर गाड़ी पर चलकर हम लोग कुछ रात रहते उस स्थान पर पहुंचे, जहां से मोटर-लारी जाती थी। प्रायः दस बजे फिर गोहाटी पहुंचे। पूज्य मालवीयजी के साथ और जगहों की यात्रा समाप्त करके हम लोग वापस चले। लखनऊ में होनेवाली अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी की बैठक में शरीक हुए। मैंने देखा कि वैसी गिरी हुई अवस्था में भी पूज्य मालवीयजी लोगों को जगाने और हिम्मत दिलाने में कितने सफल हुए। उनकी वाणी में शक्ति तो है ही, वहां की हालत देखकर उसमें और भी तेज आ गया था। उनकी वह यात्रा ऐसे विकट समय में भी बहुत ही सफल रही।

हमारे अपने सूबे (बिहार) में संथाल-परगना से दमन की खराब खबर आई--विशेषकर 'पाकर' से। मैं वहां भी गया। वहां लोग इतने आतंकित थे कि

स्टेशन पर हम लोगों से मिलने कोई नहीं आया। हम रात-भर स्टेशन के प्लेटफार्म पर सोये रहे। सवेरे उठे तो देखा कि एक जूता कुत्ता उठा ले गया है। वहीं मुंह-हाथ धोकर शहर में जाने का विचार किया। कुछ ही दूर गये थे, जब वकालत के दिनों के एक परिचित मवक्किल मिले। उन्होंने सुना था कि मैं स्टेशन पर पड़ा हूं--कोई पूछनेवाला नहीं है, और यह सुनकर वह हमको अपने घर लाने के लिए जा रहे थे। उनके घर पर हम गये। स्नानादि से निवृत्त होकर जेलखाने पर गये, जहां हमारे पहुंचने के एक ही दो दिन पहले पांच-छः काम करनेवाले गिरफ्तार करके रखे गये थे। उनसे मुलाकात प्रायः १२ बजे दिन को हुई। जूता तो था ही नहीं। धूप कड़ाके की थी। वहां की सड़क का मोटा 'मोरम'[1] बहुत गर्म हो गया था। वहां से खाली पैर वापस होते समय पैर इतना जला कि सारे तलवे में फफोले उठ आये। किसी प्रकार निवास-स्थान पर पहुंचकर एक रस्सी का तल्लावाला जूता मंगवाया। दोपहर को एक सड़क की बगल में ही सभा हुई, जिसमें कुछ साहस आया। गिरफ्तार कार्यकर्ताओं के घर जाकर उनके घरवालों को ढाढ़स दिलाया।

हम लोग दुमका भी गये, पर वहां कोई ठहरानेवाला नहीं मिला। हम लोग एक धर्मशाला में जाकर ठहरे। वहां और कुछ लोग आकर मिले। उनमें वहां की पुलिस के दारोगा भी थे, जो भोजपुरी बोलते थे और हर मिनट में 'जय शिव' या 'बम-बम' कहा करते थे। उन्होंने बहुत सज्जनता से बातें कीं; पर उनकी सलाह यह हुई कि हमारा वहां का काम तो खतम हो गया, अब वहां बहुत ठहरने की जरूरत नहीं रह गई। उन्होंने अन्त में यह भी कहा कि हम लोगों को वहां से चले जाने का हुकुम है। हुकुम मांगने पर वह दिखा नहीं सके--उसे लाने चले गये, पर फिर लौटे नहीं! हम वहां उनका इन्तजार ही करते रह गये। मैंने अपने प्रोग्राम के अनुसार वहां अधिक ठहरने का निश्चय नहीं किया था, अतः रात की गाड़ी से वापस चला आया।

[1] एक किस्म का पत्थरों का महीन टुकड़ा अथवा मोटी बालू, जो लाल रंग की होती है और सड़क बनाने में इस्तेमाल की जाती है।

उसी जिले (दुमका) में एक दूसरे स्थान पर कुछ नेता गये थे । वहां के लोगों में से एक आदमी ने अच्छा स्वागत किया था । जहां वे लोग ठहरे थे, एक आदमी उन लोगों को पंखा झल रहा था । लोगों में काफी आतंक था; पर वह व्यक्ति निडर था । उन लोगों के चले आने के बाद सुना कि उस गरीब पंखा झलनेवाले की जमीन 'उच्छेद' कर ली गई । वहां की जमीन सरकारी समझी जाती थी । किसी किसान को अपनी जमीन से निकाल देने को वहां 'उच्छेद' कहा जाता है । पीछे हमने बहुत कोशिश की कि उसकी जमीन वापस हो जाय; पर असफल रहे ।

संथाल-परगने में जो जुल्म हुए थे, उनके सम्बन्ध में मैंने एक लम्बी रिपोर्ट की । वह सामयिक पत्रों में, विशेषकर 'सर्चलाईट' में, छाप दी गई ।

: ४७ :

कौन्सिल-प्रवेश-सम्बन्धी वाद-विवाद

ऊपर सत्याग्रह जांच-कमिटी का जिक्र आ चुका है । उस कमिटी ने प्रश्नावली तैयार की और सभी कांग्रेस-कमिटियों से उत्तर मांगा । उसके बाद सभी सूबों में जाकर, वहां के कार्यकर्ताओं से मिलकर, बातचीत करने और इजहार लेने का निश्चय किया । मुझे यह अच्छा नहीं लगता था; क्योंकि यह सरकारी कमिटियों का तरीका है, जो प्रायः रिपोर्ट देने के सिवा--वह भी बहुत समय बिताकर--और कुछ करना नहीं चाहतीं । कमिटी का काम ज्यों-ज्यों आगे बढ़ा, यह स्पष्ट होने लगा कि उसमें दो मत हैं । एक पक्ष गांधीजी के बताये हुए रचनात्मक काम पर जोर देकर देश को सत्याग्रह के लिए तैयार करना चाहता था और दूसरा पक्ष यह देखकर कि देश सत्याग्रह के लिए तैयार नहीं है--यह राय रखता था कि कौन्सिलों में जाना चाहिए और कौन्सिल-बहिष्कार का जो प्रस्ताव कलकत्ते के विशेष अधिवेशन ने १९२० में स्वीकार किया था, उसे बदल देना चाहिए । कांग्रेस-कार्यकर्ताओं में भी बहुत मतभेद देखने में आया--यद्यपि गांधीजी के कार्यक्रम को ज्यों-का-ज्यों रखने के पक्ष में अधिक लोग मालूम पड़ते थे । कमिटी ने सभी सूत्रों के उत्तरों को और खुद जाकर कार्यकर्ताओं के इजहारों को जमा कर लिया । इसी सिलसिले में कमिटी के सदस्य पटने में भी आये । अन्य कांग्रेसियों के अलावा मुझे भी इजहार देना पड़ा । मैं गांधीजी के कार्यक्रम का पक्का पक्षपाती था । मैंने उसी का समर्थन अपने इजहार में जोरों से किया ।

अन्त में कमिटी की रिपोर्ट जब निकली तो मालूम हुआ कि छः सदस्यों में तीन एक पक्ष में थे और तीन दूसरे पक्ष में । इसलिए कौन्सिलों के सम्बन्ध में कमिटी कोई सिफारिश न कर सकी । सब मेम्बरों की राय ही देकर कमिटी सन्तुष्ट रही । रिपोर्ट निकलने के पहले से ही उग्र हो गया । अखबारों में तथा कांग्रेसी हलकों में कौन्सिल में जाने या न जाने पर बहसें होने लगीं । जो लोग कौन्सिल-प्रवेश के पक्ष में थे, वे परिवर्तनवादी (प्रो-चेंजर्स) कहलाने लगे, और जो पहले के कार्यक्रम में परिवर्तन नहीं चाहते थे--अर्थात् जो कौन्सिल-प्रवेश के विरोधी थे--वे अपरिवर्तनवादी (नो-चेंजर्स)

कहलाने लगे ।

क्रमशः बड़े-बड़े नेता भी म्याद काटकर छूटने लगे । उनमें देशबन्धु दास का स्थान सबसे ऊंचा था । लालाजी की लम्बी म्याद थी । उनके छूटने की अभी सम्भावना नहीं थी । शुरू में पंडित मोतीलालजी के विचारों का ठीक पता मालूम न हुआ । ऐसा मालूम होता था कि वह गांधीजी के प्रोग्राम को ही मानते हैं । पर देशबन्धु दास के छूटने के बाद स्पष्ट हो गया कि पंडितजी का विचार भी कौन्सिलों में जाने के पक्ष में ही था । पहले के प्रोग्राम के समर्थकों के नेताओं में श्री राजगोपालाचारी, डाक्टर अन्सारी, श्री वल्लभभाई पटेल, सेठ जमनालाल बजाज प्रभृति थे । देशबन्धु दास ने कमिटी की रिपोर्ट के बाद अपनी राय जाहिर कर दी । वह थी कौन्सिल-प्रवेश के पक्ष में । अहमदाबाद-कांग्रेस के मनोनीत सभापति वही थे । इसलिए जब वह छूटे तो नियमानुकूल अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी के सभापति हो गये । चुने जाने पर भी वह अहमदाबाद में सभापति न हो सके थे । देश ने उनको फिर गया के अधिवेशन के लिए सभापति चुना ।

अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी की एक बैठक कलकत्ते में हुई । सत्याग्रह कमिटी की रिपोर्ट उसमें विचार करने के लिए पेश हुई । तीन-चार दिनों तक बहस चलती रही । श्री राजगोपालाचारी ने ही हम सब अपरिवर्तनवादियों का नेतृत्व किया । मुझे भी वहां के वाद-विवाद में हिस्सा लेना पड़ा था । हम लोगों की कोशिश थी कि कुछ अदल-बदल करके और कौन्सिल के सिवा अन्य विषयों पर--जिनका जिक्र रिपोर्ट में था--यदि कुछ समझौता हो जाय तो अच्छा होगा । पर ऐसा हो न सका । बहुत बहस के बाद यह विषय गया-कांग्रेस के लिए स्थगित कर दिया गया ।

: ४८ :

गुरू का बाग और मुलतान

इस साल, अगस्त-सितम्बर में, जहांतक मुझे स्मरण है, दो बड़ी दुर्घटनाएं हुईं, जिनका असर सारे हिन्दुस्तान की राजनीति के वातावरण पर पड़ा। पहली घटना वह थी, जो गुरू के बाग से सम्बन्ध रखती थी। कुछ समय पहले से सिक्खों में उनके अपने गुरूद्वारों के सुधार के लिए आन्दोलन चल रहा था। उनके गुरूद्वारे धार्मिक स्थान हैं, जिनका संबंध किसी धार्मिक घटना से हुआ करता है। मुख्य गुरूद्वारों का सम्बन्ध किसी-न-किसी गुरू के जीवन की किसी घटना से होता है। इतिहास साक्षी है, सिक्खों ने अपने धर्म के लिए बहुत कष्ट सहे हैं, बहुत जुल्म बर्दाश्त किये हैं। इसलिए गुरूद्वारों के प्रति उनकी बड़ी ममता और श्रद्धा है। इन गुरूद्वारों के पास जनता की दी हुई काफी जायदाद है। पंथ की सेवा की लिए वह दी गई थी। गुरूद्वारों के इन्तजाम के लिए जो सेवक नियुक्त किये गये थे, वे ही उस जायदाद के प्रबन्ध इत्यादि भी किया करते थे। जैसा अक्सर हुआ करता है, गुरूद्वारे महन्तों के कब्जे में थे। बहुतेरे महन्त निकम्मे और दुराचारी थे। इसलिए सिक्खों में एक दल, जिसे अकाली दल कहते हैं, इसपर ज़ोर देने लगा कि गुरूद्वारों के सुधार करने के लिए महन्तों का नियन्त्रण किया जाय।

आहिस्ता-आहिस्ता यह आंदोलन जोर पकड़ने लगा। गुरूद्वारों का प्रबन्ध अपने हाथ में लेने के लिए उन्होंने 'शिरोमणि-गुरूद्वारा-प्रबन्धक-कमिटी' स्थापित की। कहीं-कहीं के महन्तों ने शिरोमणि-कमिटी की बात मान ली और अपना प्रबन्ध उसके हाथ सौंप दिया। गवर्नमेण्ट भी इस बात पर विचार करने लगी कि यह काम कानूनन किया जाय और कानून बनाकर गुरूद्वारों का प्रबन्ध कमिटियों का सौंपा जाय। पर कोई बात अभी तय नहीं हुई थी। गवर्नमेण्ट पसोपेश में थी। अकालियों से रूष्ट होकर कुछ महन्त जोर-जबरदस्ती करने लगे। एक गुरूद्वारे में वहां के महन्त ने बहुतेरे अकालियों को बड़ी क्रूरता से मरवा और जलवा डाला था। यह घटना कुछ पहले नानकाना-साहब-गुरूद्वारे में हो चुकी थी। इससे अकालियों में बहुत क्षोभ और रोष पैदा हुआ था। उन्होंने गांधीजी की बताई हुई अहिंसात्मक नीति को स्वीकार

किया । उन्होंने यही निश्चय किया कि गुरूद्वारों को वे अहिंसात्मक तरीके से अपने कब्जे में करेंगे । यह अहिंसात्मक नीति सिक्खों के लिए नई चीज नहीं थी । मुसलमानी काल में भी उन लोगों ने इस नीति को ग्रहण किया था और बहुत दुःख सहे थे ।

'गुरू का बाग' नामक एक स्थान अमृतसर से कुछ दूर पर है । वहां एक गुरूद्वारा है, जो एक महन्त के कब्जे में था । अकालियों ने इस गुरूद्वारे को अपने हाथ में लेना चाहा । पहले महन्त ने उसकी बात मान ली । आपस में यह तय हो गया कि गुरूद्वारा अकालियों के हाथ में रहे और मठ महन्त के कब्जे में । वहां कुछ जमीन भी थी, जिसमें बबूल का जंगल-सा था । आगे चलकर आपस में फिर झगड़ा छिड़ गया । शिरोमणि-कमिटी की ओर से गुरूद्वारे का प्रबन्ध हो रहा था । ग्रन्थसाहब की सेवा के लिए सेवक नियुक्त थे । गुरूद्वारों में और सिक्ख-संगतों में अक्सर 'लंगर' (भंडारा) हुआ करता है । यहां भी वे लंगर खोले हुए थे । उसमें जलाने के लिए कुछ बबूल के वृक्ष काट लाये । महन्त ने इसे रोका और पुलिस की मदद ली । सरकार की ओर से अकालियों को वहां जाने की मनाही हो गई । अकालियों ने सत्याग्रह करने का निश्चय कर लिया । वे उस जंगल में लकड़ी काटने के लिए जाते, पुलिस रोकती; न रूकने पर पहले तो उनको गिरफ्तार करती, पर पीछे केवल मारपीटकर हटाने लगी । जो अकाली वहां जाता, वह बुरी तरह से पीटा जाता । पीछे गवर्नमेण्ट ने वहां जाने के रास्ते पर, कुछ दूर से ही, रोक लगा दी । अकालियों में बहुत जोश था । वे अमृतसर के अकाल-तख्त में जाकर, अहिंसात्मक रहकर वहां पहुंचने की सौगन्द लेते । जबतक रास्ता खुला था, गुरूद्वारे में आकर ठहरते । वहां से जंगल में जाते और पीटे जाते । जब रास्ता रोक दिया गया तो उनके जत्थे रास्ते में ही रोके और पीटे जाते--इतनी बुरी तरह से पीटे जाते कि बेहोश हो जाते । उस हालत में लोग उनको वहां से उठाकर अस्पताल में, जो कायम किये गये थे, ले जाते ।

इसका शोर सारे देश में फैल गया । दूर-दूर से लोग वहां का सत्याग्रह देखने आने लगे । पंडित मालवीयजी, हकीमसाहब और दूसरे लोग भी गये । मैं भी गया । अमृतसर में वर्किंग कमिटी की एक बैठक हुई । वहां से लोग 'गुरू का बाग' देखने गये । हमने जो दृश्य देखा, उसे कभी भूल नहीं सकते । कुछ अच्छे-तगड़े

जवान सिक्ख हाथ जोड़े हुए आगे बढ़े । उधर से, लोहे और पीतल से मढ़ी हुई लाठियां लिये, पुलिस के सिपाही एक अंगरेज अफसर के साथ, आगे आये । उन लोगों को उन्होंने रोका । वे लोग बैठ गये । इसपर उनको लाठियों से खूब पीटा । वे फिर उठकर खड़ा होना चाहते, पर मारकर गिरा दिये जाते । यह क्रम उस वक्त तक चलता रहता जबतक वे बेहोश नहीं हो जाते । बेहोश हो जाने पर चारपाई (अम्बुलेन्स) पर लादकर उनको दूसरे लोग उठा लाते । कभी-कभी उनका केश पकड़कर उन्हें घसीटा भी जाता । लोग यह देखने के लिए जमा होते, पर एक आदमी भी कभी हाथ न उठाता । जो पीटे जाते वे बेचारे भी कभी हाथ न उठाते । यह अहिंसात्मक सत्याग्रह का एक अत्यन्त ज्वलन्त उदाहरण सारे देश के सामने आ गया । सारे देश में, बड़ी उत्सुकता के साथ, 'गुरू का बाग' की खबरें पढ़ी जाने लगीं । हजारों आदमी गिरफ्तार हुए । शिरोमणि-कमिटी के प्रमुख सदस्य भी गिरफ्तार हुए । बहुतेरे ऐसे थे, जो जर्मन-युद्ध में ब्रिटिश सरकार की ओर से बहादुरी से लड़े थे । गवर्नमेण्ट का कहना था कि महन्त का जमीन को, जिस पर उसका कानूनी हक था, वह कैसे छीन ले और जब महन्त अपना कब्जा कायम रखने में गवर्नमेंट की मदद मांगता है तो वह कैसे इनकार कर सकती है । इसी कानूनी उधेड़-बुन में बहुत-से लोग जेल गये । इसी कारण बहुत-से लोग बुरी तरह से पीटे जा रहे थे । पुलिस के एक सुपरिंटेंडेंट ने लाठी चलाने की कला को भी वह रूप दे दिया था, जो फौज में और-और हथियारों के चलाने को दिया जाता है । उसने इसके लिए कवायद के नियम बना दिये थे । किसी नायक या सरदार के हुकुम के अनुसार सभी सिपाही लाठियों से पीठ पर अथवा सिर पर वार करते थे । अथवा, दोनों जंघों के बीच में लाठी लगाकर फोते पर चोट करते या पेट में मारते थे । इस तरह अफसरों के हुक्म के मुताबिक ही चोट की जाती । सिक्खों की हिम्मत और बर्दाश्त की शक्ति भी अद्भुत थी !

हम लोग वहां गये और अपनी आंखों सारा काण्ड देखकर हमें विश्वास हो गया कि सच्चा सत्याग्रह भी किया जा सकता है । उसके लिए बहादुरी, हिम्मत और दुःख सहने की शक्ति चाहिए । वह शक्ति यदि हट्टे-कट्टे जवांमर्द भी बिना हाथ उठाये दिखला सकें, तो कोई भी शक्ति उनको दबा नहीं सकती ।

सरकार की ओर से कोशिश हुई कि कोई रास्ता निकाला जाय । एक रास्ता

निकल भी गया। सर गंगाराम ने, जो एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे, महन्त से जमीन का बन्दोबस्त लेकर अकालियों को दे दिया। सरकार को अब जबरदस्ती रोकने की जरूरत नहीं रह गई। कुछ दिनों बाद एक कानून भी बना, जिसके अनुसार अब गुरूद्वारों का प्रबन्ध होता है। पर यह सब जल्दी नहीं हुआ। इसमें समय लगा। बहुतों को बहुत कष्ट भी सहना पड़ा। सत्याग्रह की उपयोगिता और उसमें निहित संभावना साबित हो गई। इसका श्रेय सिक्खों को है। उन्होंने इसे अपनी सत्य-निष्ठा और शक्ति से दिखला दिया।

दूसरी घटना भी पंजाब में ही हुई। हम लोग अमृतसर से ही मुलतान गये। वहां एक दूसरे प्रकार की घटना हुई थी। मुलतान में ताजिया का जलूस निकला। उसी जलूस के कारण बड़ा भारी हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो गया। मुसलमानों का कहना था कि हिन्दुओं में से किसी ने ताजिया पर ढेला फेंका। हिन्दुओं का कहना था कि उनकी ओर से कुछ नहीं किया गया--मुसलमानों की ओर से हिन्दुओं को लूटने की तैयारी पहले से थी, ताजिया तो सिर्फ बहाना था। जो भी कारण हो, मगर फसाद जो हुआ उसमें बहुत ही हृदय-विदारक घटनाएं हुईं। खबर पाकर हकीम अजमल खां--जो कांग्रेस के सभापति का काम कर रहे थे --पंडित मदनमोहन मालवीयजी, सेठ जमनालालजी, श्रीप्रकाशम् और मैं वहां गये। आपस की खींचतान इतनी जबरदस्त थी कि हम लोगों के ठहरने-ठहराने के स्थान के सम्बन्ध में ही दोनों पक्षों में कोई बात तय न हो सकी। इसलिए, जब हम लोग स्टेशन पर उतरे, पहला सवाल ठहरने के स्थान का सामने आया। हमने अपने दल को दो हिस्सों में बांट दिया। कुछ लोग मुसलमानों के मेहमान होकर दूसरी जगह ठहरे। मैं हकीमसाहब के साथ नवाब के यहां ठहरा।

हम लोगों ने बलवे के स्थानों को जाकर देखा। कितने ही हिन्दुओं के घर लूटे और जलाये गये थे। उन घरों का सारा सामान लूटा या जला दिया गया था। कितने ही आदमी मारे गये थे। जो लोग बचे थे, उनमें से विशेषकर स्त्रियों ने घटना का बहुत ही दर्दनाक वर्णन किया, जिसका असर हम लोगों के दिल पर काफी पड़ा। एक जगह मैंने देखा, हकीमसाहब साफ-साफ बहुत ही प्रभावित दीख रहे थे। एक स्त्री ने कहा कि सबकुछ लूट लेने और जला देने के बाद लुटेरों ने और कुछ नहीं पाया तो एक पिजड़े को, जिसमें उसने तोता पाल रखा था, आग में डाल दिया। राख की

ढेर अभी ज्यों-की-त्यों थी । उसमें लोहे का पिंजड़ा भी पड़ा था । पर तोता जलकर खाक हो गया था । कई मन्दिरों तथा देवस्थानों की भी यही हालत हुई थी ।

हम लोग वहां के डिप्टी-कमिशनर मिस्टर एमर्सन से भी मिले । यही बाद में गांधी-अर्विन-समझौते के समय गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया के होम-सेक्रेटरी थे । उसके बाद यह पंजाब के गवर्नर हुए । इनका रूख हमने कुछ ऐसा ही पाया कि आपस में मेल-मुहब्बत कायम हो । यह कानून की दुहाई देकर बलवाइयों की सजा की बात ही जोरों से कहते रहे । हम चाहते थे कि इसके अलावा आपस में मेल-जोल कायम करने का भी प्रयत्न किया जाय । वहां दोनों पक्ष के मुख्य-मुख्य लोगों की एक छोटी सभा हुई । उनसे बातें करने के बाद हमने देखा कि यद्यपि लोगों में मनमुटाव बहुत है, तो भी दोनों मिल-जुलकर रहने के लिए तैयार-से मालूम होते थे । मुसलमानों को बहुत फिक्र इस बात की थी कि उन्हीं के आदमी गिरफ्तार हुए थे और हो रहे थे--सब मुकदमे उन्हीं लोगों पर चलेंगे और हो सकता है कि उनको लूट के लिए मुआवजा भी देना पड़े । पीछे एक बड़ी सभा हुई जिसमें हकीम-साहब और पंडित मालवीयजी के भाषण हुए । आपस में मेल-जोल बढ़ाने के लिए हम लोगों ने एक गैर-सरकारी कमिटी कायम कर दी, और वहां से चले आये ।

वहां के सारे दृश्य का मुझपर बहुत असर पड़ा । मैंने देखा कि पंडित मालवीयजी भी बहुत ही प्रभावित हुए थे । उन्होंने वहांपर हिन्दुओं से कहा तुमको भी संगठित हो जाना चाहिए, तुम्हें अपने जान-माल और इज्जत पर हमला करनेवाले का मुकाबला करना चाहिए । सरकार से भी उन्होंने अनुरोध किया कि बलवाइयों को सजा देनी चाहिए ।

हमारे वहां जाने का इतना असर मालूम हुआ कि खींचतान कम हो गई । जहां वे लोग आपस में एकसाथ बैठकर यह तय नहीं कर पाते थे कि हम लोग कहां ठहराये जायेंगे, वहां अब वे एक साथ कमिटी के मेम्बर बनने को तैयार हो गये । सब लोग मेल-जोल बढ़ाने के प्रयत्न में लग गये । हकीम-साहब ने एक बयान प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने मुसलमानों की कार्रवाईयों की निन्दा की और हिन्दुओं को सान्त्वना दी ।

गया-कांग्रेस के समय कुछ लोगों का यह भी विचार हुआ कि जैसे वहां खिलाफत-कान्फ्रेन्स होगी वैसे हिन्दू-सभा भी होनी चाहिए । प्रबन्धकों ने पंडित

मालवीयजी को सभापति बनाने का आग्रह किया। मुझपर बहुत जोर डाला गया कि मैं भी यदि आग्रह कर दूं तो पंडित मालवीयजी स्वीकार कर लेंगे। मुझसे यह भी आग्रह किया गया कि मैं स्वागताध्यक्ष बन जाऊं। उस समय तक हिन्दू-सभा ने यदि उसका अस्तित्व हो भी तो, कोई वैसा महत्त्व नहीं पाया था जैसा अब प्राप्त है और न उसकी नीति ही कांग्रेस-विरोधी थी। साथ ही, खिलाफत-कमिटी कांग्रेस के साथ-साथ हुआ करती थी। इसलिए कांग्रेस के साथ हिन्दू-सभा का कोई विरोध नहीं था और न होने की कोई सम्भावना दीखती थी। मैंने स्वागताध्यक्ष होना स्वीकार कर लिया। पूज्य मालवीयजी भी सभापति बन गये। गया में कोई ऐसी कार्रवाई भी नहीं हुई, जिससे किसी को आपत्ति हो सकती थी। पर पंडित मालवीयजी ने अपने भाषण में मुलतान की घटना का वर्णन किया। उन्होंने हिन्दुओं को भी आत्म-रक्षा के लिए तैयार होने का आदेश दिया। यहां इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि यद्यपि वहां कोई बड़ी बात नहीं हुई, तथापि भविष्य में हिन्दू-महासभा के अलग हो जाने की स्थिति की नींव पड़ गई। इसमें मेरा भी भाग रहा। पीछे जब हिन्दू-सभा और कांग्रेस में मतभेद स्पष्ट हो गया, तो पंडित मालवीयजी ने मुझसे कहा भी कि मैंने, तुम्हारे कहने से ही गया के अधिवेशन का सभापतित्व स्वीकार किया था और सभा की स्थायी नींव डाली थी। मैं इसको इनकार नहीं कर सका और न आज भी कर सकता हूं। उस समय, जहांतक मैं समझ सका, गया में मुसलमानों ने भी महासभा के संगठन में कोई खास बुराई नहीं देखी। और अगर देखी भी हो, तो हम लोगों को बताया नहीं।

जैसा मैं ऊपर कह आया हूं, मुलतान के दंगे के बाद से हिन्दू-मुसलमानों के बीच कशीदगी बढ़ती गई। अनेक स्थानों से हिन्दू-मुस्लिम दंगों के होने की खबरें आने लगीं। कांग्रेसी हिन्दू और मुसलमान परिस्थिति पर काबू करने के प्रयत्न में लगे रहते, पर किसी-न-किसी कारण बलवे हो ही जाते। इन दंगों में, अधिकतर स्थानों में, प्रायः हिन्दू ही अधिक पिटते। इसी कारण हिन्दू-संगठन का जन्म हुआ। शुद्धि का जन्म तो धार्मिक प्रवृत्ति से हुआ था। यदि शुद्धि भी कट्टरता का रूप धारण न करती तो शायद उससे अधिक चिढ़ भी पैदा न होती। पर १६२३ से--लगातार तीन-चार बरसों तक--हिन्दुओं में शुद्धि और संगठन का तथा मुसलमानों में तबलीग और तनजीम का हो-हल्ला रहा, जिसका नतीजा यह हुआ कि आहिस्ता-आहिस्ता कांग्रेस से बहुतेरे मुसलमान और बहुतेरे हिन्दू भी अलग होने लगे।

: ४६ :

गया-कांग्रेस

गया-कांग्रेस के अधिवेशन के कुछ पहले स्वागत-समिति में एक घटना हुई, जिसका जिक्र कर देना जरूरी है। एक सज्जन ने स्वागत-समिति को ५०००) देने का वचन कुछ महीने पहले दिया था। रूपये की जब जरूरत महसूस होने लगी तब उनसे तकाजा किया गया, पर वह अब-तब करते गये। जब स्वागताध्यक्ष के चुनाव का दिन निश्चित हो गया और स्वागत-समिति की बैठक की गई तो उसी दिन उन्होंने स्वागत-समिति की सदस्यता के लिए दो सौ दर्खास्तों पर दस्तखत कराकर, फी दर्खास्त पचीस रूपये के हिसाब से ५०००) रूपये भेजे। उनकी इच्छा थी कि वह इस तरह से स्वागताध्यक्ष चुन लिये जायंगे; क्योंकि और किसी की तरफ से कोई चुने जाने की कोशिश नहीं की गई थी। यद्यपि सदस्यों की संख्या काफी थी तथापि सब सदस्य उस सभा में, जो कांग्रेस के चन्द दिन ही पहले हो रही थी, आये नहीं थे। हमको यह बात बहुत बुरी मालूम हुई। हमने समझा कि यह एक प्रकार का कुचक्र है और वह सज्जन सारे सूबे की आंखों में धूल डालकर, सारे प्रान्त के प्रतिनिधि-रूप से, आगन्तुक नेताओं के स्वागत करने का श्रेय लेना चाहते हैं। यदि उन्होंने कांग्रेस की कुछ सेवा की होती, तो शायद मुझे इतना क्षोभ न होता। पर ऐसी कोई सेवा भी उनकी नहीं थी। उन्होंने इस प्रयत्न को सब लोगों से गुप्त रखा था। इससे वह क्षोभ और भी अधिक हो गया। हमने उनके रूपये, कारणों के साथ, वापस कर दिये। यद्यपि रूपयों की जरूरत थी तथापि हमने यही ठीक समझा कि इस प्रकार के फरेब को रोकना ही उचित है। सबकी इच्छा थी कि स्वागताध्यक्ष का पद श्री व्रजकिशोरप्रसाद को दिया जाय। स्वागत-समिति ने सर्व-सम्मति से उनको ही स्वागताध्यक्ष चुना।

कांग्रेस के अधिवेशन के दिन निकट आ गये, पर अभी काफी झोंपड़े तैयार नहीं हुए थे और न पंडाल ही तैयार हुआ था। गया में सर्दी काफी पड़ती है। उस साल कुछ विशेष सर्दी थी।झोंपड़ों के लिए कुछ और भी नये कण्ट्रैक्टर मुकर्रर किये गये, पर पंडाल का काम पूरा होता नजर नहीं आता था। उन दिनों कांग्रेस एक बड़े शामियाने के अन्दर ही हुआ करती थी, आजकल की तरह खुले मैदान में नहीं। लोगों

के बैठने के लिए जमीन ऊंची-नीची ढालू बनानी पड़ती थी। आशा थी कि और सब काम तो पूरा हो जायगा, पर मिट्टी भरने का काम पूरा न हो सकेगा।

कांग्रेस के अधिवेशन के दो दिन पहले, रांची-जिला और उसके आस-पास के आदिवासी लोग, प्रायः तीन-चार सौ की संख्या में, पैदल चलकर गया में पहुंच गये। वे लोग अपने हाथ हांड़ी और लकड़ी भी बहंगियों पर लादकर आये थे। प्रायः डेढ़-दो सौ मील की दूरी से, लगातार कई दिन चलकर, गया पहुंचे थे। कांग्रेस में उन लोगों की श्रद्धा इतनी बढ़ गई थी कि उसके नाम पर सबकुछ करने को तैयार रहते थे। कभी-कभी नासमझी का काम भी कर दिया करते थे। जब असहयोग का आन्दोलन जोरों से चल रहा था, उनको अहिंसा का अर्थ किसी ने यह बता दिया था कि बकरियां मांस के लिए ही पाली जाती हैं, इसलिए उनका पालना भी ठीक नहीं है। मालूम नहीं, यह प्रचार किसकी ओर से किया गया; पर नतीजा यह हुआ कि हजारों बकरियों को उन्होंने योंही जंगलों में छोड़ दिया! मैं जब एक बार सफर में उधर गया था तो इन बकरियों को देखा भी था और वहीं मुझे यह बात मालूम हुई थी। उन्हीं लोगों की एक जमात उसी श्रद्धा के साथ गया में पहुंची। उन्होंने स्वागत-समिति से केवल इतनी ही फरमाइश की कि हम लोगों के लिए किसी बगीचे में कुछ खाली जमीन बतला दी जाय, हम वहीं ठहरेंगे और रसोई बनाकर खायेंगे। वे लोग काम करने में भी खूब मेहनती थे। उनसे किसी ने जाकर कहा कि कांग्रेस के पंडाल में मिट्टी भरने का काम पूरा नहीं हो रहा है, जिसके कारण हम लोग बहुत चिन्तित हो रहे हैं। उन्होंने हमसे कुदाल और टोकरियां मांगीं। उनको सब सामान दिये गये। बस वे सभी इस काम में लग गये। दिन-रात काम करके, दो दिनों के भीतर, सब काम पूरा कर दिया। हम लोग उनके उत्साह और परिश्रम को देखकर चकित रह गये। स्वागत-समिति की मेम्बरी का एक फूल दिया गया। वह फूल टोपी पर जड़ दिया गया। इससे वे बहुत खुश हुए। कई बरसों के बाद भी, जब मैं उस इलाके में दौरे पर गया, उन्होंने बड़े गौरब के साथ फूल टंकी टोपियां दिखलाई। इस तरह मुझे याद दिलाया कि वे गया-कांग्रेस में गये थे।

अधिवेशन के चन्द दिन पहले मुझे दमे का दौरा हो गया। मुलतान की यात्रा में मैंने पहले-पहल महसूस किया था कि सांस की कुछ दिक्कत हो रही है। उसके पहले जाड़ों में खांसी हो जाया करती थी; पर सांस की तकलीफ मैंने कभी महसूस

नहीं की थी । खांसी के कारण ही मैं नागपुर-कांग्रेस में शरीक न हो सका था । मुलतान की यात्रा में हकीम अजमलखां के साथ ही मैं था । उन्होंने देखा और कहा कि दमा हो रहा है । उन्होंने एक दवा भी दी, जिससे उस समय मैं अच्छा हो गया । जब दिसम्बर की सर्दी बढ़ी तो गया में फिर दौरा हो गया, पर वहीं के एक हकीम की दवा से मैं शीघ्र ही अच्छा हो गया । जिस दिन देशबन्धु दास सभापति होकर गया पहुंचे और जलूस निकला, मैं न तो स्टेशन पर स्वागत के लिए जा सका और न जलूस हो देख सका; पर अपनी कमजोरी की हालत में ही विषय-निर्धारिणी समिति में शरीक हुआ । कुछ प्रबन्ध के काम की देख-रेख भी करता रहा । प्रबन्ध के काम का भार विशेषकर श्री अनुग्रहनारायण सिंह पर पड़ा । भोजन-विभाग की जिम्मेदारी मेरे भाईसाहब ने ली । उन्होंने बड़ी खूबी से उसे निबाहा । पंडाल तैयार कराने और सजाने का काम गोरखबाबू, मथुराबाबू तथा मुजफ्फरपुर के जमींदार श्री वैद्यनाथप्रसाद सिंह ने किया । स्वयंसेवक-दल के प्रधान श्री बदरीनाथ वर्मा रहे । प्रदर्शनी का भार श्री बनारसीप्रसाद झुनझुनूवाला ने संभाला ।

स्वागत-समिति का प्रबन्ध अच्छा ही हुआ; पर मेरा विचार है कि यदि कुछ और अनुभव होता तो जितना खर्च पड़ा उतना न पड़ता । जिस समय अधिवेशन हो रहा था, मैं डर गया था कि अन्त में कुछ घाटा रहेगा । इसलिए सभी विभागों में खर्च कम करने पर मैं बहुत जोर देता रहा । गया-स्टेशन से सभा-स्थान प्रायः तीन मील या इससे भी अधिक की दूरी पर था । वहां से लोगों को लाने के लिए हमने बहुत-सी लारियां भाड़े पर मंगा ली थीं । विचार था कि सभी लोगों से लारी का भाड़ा लिया जायगा । इसके लिए प्रत्येक लारी पर एक आदमी टिकट के साथ रखा गया था । पर यह प्रबन्ध नहीं चल सका । हम भाड़े में बहुत कम वसूल कर सके पर सब लारियों का भाड़ा तो देना ही पड़ा । इसमें कई हज़ार रूपयों का नुकसान हुआ । इसी से विशेष डर हो गया था कि घाटा पड़ेगा; पर अन्त में हिसाब होने पर कुछ बच ही गया--घाटा नहीं हुआ ।

गया में कांग्रेस का अधिवेशन बड़े मार्के का हुआ । पहले से ही देश में कौन्सिल-प्रवेश की चर्चा चल रही थी । सत्याग्रह-कमिटी की रिपोर्ट ने एक होहल्ला मचा रखा था । उसपर विचार करने की बात कांग्रेस के लिए स्थगित कर दी गई थी । पंडित मोतीलालजी, हकीम अजमल खां और देशबन्धु दास--इन तीन बड़े

नेताओं की राय पक्की थी कि जब सत्याग्रह नहीं हो सकती है तो कौन्सिलों में जाने की इजाजत मिलनी चाहिए । किन्तु अधिकांश कांग्रेसियों का विचार मालूम होता था कि गांधीजी के दिये हुए कार्यक्रम में परिवर्तन नहीं करना चाहिए । इसलिए दोनों पक्षों के लोग अपने-अपने विचारवालों को ही प्रतिनिधि चुनकर गया में भेजनें का यथासाध्य प्रयत्न करने लगे । इसी कारण श्री जयकर तथा श्री नटराजन-जैसे प्रमुख व्यक्ति भी अपने सूबे से प्रतिनिधि नहीं चुने जा सके । यह कोई ऐसी बात नहीं थी, जो चुनावों में नहीं हुआ करती है । हम जानते हैं कि इंगलैंड में मिस्टर वालफोर कई बरसों तक प्रधान मंत्री रहने के बाद भी चुनाव में साधारण मेम्बर नहीं चुने गये । उनकी पार्टी बुरी तरह हार खाकर अपने नेता को भी कुछ दिनों तक पार्लमेण्ट में नहीं देख सकी । हमारे यहां यह चीज अभी नई थी । इसलिए ऐसे व्यक्तियों के हारने से कुछ लोगों के दिल से चोट-सी लगी । उन लोगों में मैं भी एक था ।

यद्यपि श्री जयकर का विचार कौन्सिल-प्रवेश के पक्ष में था और मेरा विरूद्ध, तथापि मैंने सोचा कि विचार-विरोधी होनेपर भी ऐसे विशिष्ट व्यक्ति का कांग्रेस में न आना ठीक न होगा--कांग्रेस चाहे जो भी फैसला करे, ऐसे योग्य आदमी की राय, उसी के अपने शब्दों में, सुन लेना कांग्रेस के लिए मुनासिब होगा । उन दिनों, कांग्रेस के विधान के अनुसार, कोई आदमी--यदि वह कांग्रेस का सदस्य है तो--किसी भी सूबे के किसी भी क्षेत्र से, प्रतिनिधि चुना जा सकता था । इसलिए मैंने प्रयत्न करके श्री जयकर और श्री नटराजन को बिहार से प्रतिनिधि चुनवा दिया । इसकी सूचना दोनों को दे दी । इससे वे बहुत सन्तुष्ट हुए । कांग्रेस में वे आये भी ।

इस छोटी-सी बात को यहां इतने विस्तार से मैंने इसलिए लिख दिया कि उन दिनों के वाद-विवाद के उत्साह में पड़कर कुछ लोगों ने यह कह दिया कि अपरिवर्तनवादियों के अन्यायपूर्वक गांधीजी के नाम का सहारा लेकर प्रचार किया और कांग्रेस में वोट जुटाया । कुछ ने तो यहांतक कह दिया कि देशबन्धु दास के परिवर्तनवादी होने के कारण, सभापति होने पर भी, उनका वैसा सम्मान नहीं किया गया जैसा होना चाहिए था--उनके स्वागत और सेवा में भी त्रुटि की गई; क्योंकि बिहार-सूबा गांधी-भक्त अपरिवर्तनवादी सूबा था । ये सब बातें मर्म को चोट पहुंचानेवाली थीं । जहां-तक हो सका, हमने सेवा-सम्मान का प्रबन्ध किया था । उनके निवास-स्थान के प्रबन्ध के लिए श्री दीपनारायणसिंह को भार दिया गया था । इन्होंने

अथक परिश्रम और उत्साह के साथ काम किया था। यह ठीक है कि अपनी अस्वस्थता के कारण मैं बहुत दौड़-धूप न कर सका; पर दूसरे सभी लोग दिन रात-काम करते रहे। सभापति की तथा उनकी पार्टी की पूरी खातिरदारी हुई। किसी तरह की त्रुटि नहीं होने पाई।

देशबन्धु दास का भाषण बहुत बड़ा और मार्के का था। पर उसमें कौन्सिल-प्रवेश पर बहुत जोर दिया गया था। विषय-निर्वाचिनी समिति में कौन्सिल-प्रवेश पर बहस करने का प्रस्ताव पेश किया गया। सभापति ने कहा कि उनके विचार उनके भाषण में दिये गये हैं, इसलिए उनका भाषण हो जाने के बाद ही इस विषय पर विचार किया जाय, ताकि प्रतिनिधियों को उनके विचार जान लेने का मौका मिल जाय और तब वे अपनी राय कार्यकारिणी समिति में दें। इसलिए शुरू में सभापति ने इस बहस की इजाजत नहीं दी। पीछे तो कई दिनों तक बहस होती रही, जिसमें दोनों पक्षों के लोगों ने खूब भाग लिया। रात या सवेरे के समय, जब विषय-निर्वाचिनी की बैठक से फुर्सत रहती, प्रतिनिधियों की अलग-अलग सभाएं हुआ करतीं, जिनमें लोग अपने-अपने विचारों की पुष्टि करते। बहस बहुत गरमागरम होती।

विषय-निर्वाचिनी समिति ने कौन्सिल-प्रवेश की बात को बहुमत से नामंजूर कर दिया। इसलिए यह बात एक संशोधन के रूप में ही खुली कांग्रेस के सामने आई। कांग्रेस में भी वैसी गरमागरम बहस कई दिनों तक चलती ही रही। कांग्रेस के लिए जो समय निर्धारित था, उससे दो-तीन दिन अधिक समय लगा। मैंने भी खुली सभा में कौन्सिल-प्रवेश का जोरों से विरोध किया। हमारे विचार के नेता थे श्री राजगोपालाचारी। वह भी उन दिनों दमा से रोग-ग्रस्त थे; पर विषय-निर्वाचिनी समिति और कांग्रेस में उन्होंने अद्भुत परिश्रम और चमत्कार से अपने पक्ष का समर्थन किया। श्री श्रीनिवास अयंगर ने समझौते के लिए एक संशोधन पेश किया। वह नामंजूर हुआ। अन्त में जब मूल प्रस्ताव पर सम्मति ली गई, तो बहुत बड़े बहुमत से कौन्सिल-प्रवेश-सम्बन्धी प्रस्ताव नामंजूर हो गया। शायद कौन्सिल-प्रवेश के पक्ष में एक-तिहाई और विपक्ष में दो-तिहाई प्रतिनिधियों के मत आये।

यह समझना भूल होगी कि सिविल-डिस-ओबिडियन्स-एनक्वायरी-कमिटी ने अथवा गया-कांग्रेस ने केवल एक ही विषय पर विचार किया या प्रस्ताव पास किया था। कमिटी की रिपोर्ट ने असहयोग के पूरे कार्यक्रम पर, जिसमें सत्याग्रह और

करबन्दी शामिल हैं, विचार किया था। सभी प्रस्तुत विषयों पर उसने राय दी थी। पर उन विषयों के सम्बन्ध में इतना मतभेद नहीं था, इसलिए वे तह में पड़ गये। गया-कांग्रेस ने भी उन विषयों पर प्रस्ताव स्वीकृति किया। सरकारी स्कूलों और अदालतों के बहिष्कार को कायम रखा। स्वदेशी-प्रचार और खादी-प्रचार पर जोर दिया गया। एक प्रस्ताव इस आशय का भी उपस्थित किया गया था कि सभी प्रकार के अंगरेजी मालों का बहिष्कार किया जाय, और इस विचार से, बहिष्कृत किया जानेवाले मालों को सूची बनाने के लिए, तथा बहिष्कार के उपाय निर्धारित करने के लिए, एक कमिटी बनाई जाय। यह प्रस्ताव विषय-निर्धारिणी में पास हो गया था; पर कांग्रेस ने इसे बहुमत से नामंजूर कर दिया; क्योंकि यह अव्यावहारिक बताया गया और इसमें हिंसात्मक वृत्ति के जाग्रत होने का भय था।

एक बहुत महत्त्व का दूसरा प्रस्ताव यह पास हुआ कि उस दिन के बाद ब्रिटिश गवर्नमेण्ट, स्वयं अथवा भारतीय व्यवस्थापिका सभा की मंजूरी से, जो कुछ कर्ज लेगी, उसका देनदार स्वतन्त्र भारत नहीं होगा; क्योंकि ब्रिटिश सरकार मनमाना खर्च करके भारत के नाम पर कर्ज लेती है और व्यवस्थापिका सभाएं भारत का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। इस प्रस्ताव में उस तिथि के पूर्व के कर्जों को स्वीकार कर लिया गया था। इस प्रस्ताव के सम्बन्ध में भी मतभेद था; पर यह भी बहुमत से पास हुआ था--यद्यपि यह विषय नया था और प्रस्ताव उपस्थित होने के पहले इसपर देश में कोई चर्चा नहीं हुई थी।

गया-कांग्रेस ने सत्याग्रह जांच कमिटी की रिपोर्ट पर एक प्रस्ताव और भी मंजूर किया कि व्यक्ति को अपने बचाव के लिए वह सभी अधिकार प्राप्त हैं, जो कानून से उसको मिले हैं--अर्थात् कानूनन हिंसात्मक बचाव जहांतक जायज है, कांग्रेस भी उसे मंजूर करती है। एक दूसरा प्रस्ताव इस आशय का भी स्वीकृत हुआ कि देश को सत्याग्रह के लिए तैयार किया जाय तथा इसके लिए पच्चीस लाख रूपये और पचास हजार स्वयंसेवक जुटाये जायं। इस तरह, गया-कांग्रेस में कई प्रस्ताव पास हुए। जहांतक मैं जानता हूं, कांग्रेस का इतना लम्बा अधिवेशन दूसरा नहीं हुआ है। पर कौन्सिल-सम्बन्धी मतभेद के कारण और सब बातें गौण पड़ गईं।

कांग्रेस के अधिवेशन के साथ-साथ गया में खिलाफत-कान्फ्रेन्स और जमीअत-उल-उलेमा के अधिवेशन भी बड़े समारोह एवं उत्साह के साथ हुए।

खिलाफत-कमिटी ने भी कांग्रेस-कमिटी के साथ ही एक सत्याग्रह-जांच-कमिटी बनाई थी। उसने भी देश में दौरा करके अपनी रिपोर्ट दी थी। वहां भी वही मतभेद था, जो कांग्रेस में--विशेषकर कौन्सिलों के सम्बन्ध में। इन दोनों संस्थाओं ने भी कौन्सिल का बहिष्कार जारी रखा। पर उस समय तक खलीफा और तुर्कों की हालत में बहुत परिवर्तन हो चुका था। तुर्कों ने ग्रीस को हराकर बड़ी फतह हासिल कर ली थी। उन्होंने यह भी निश्चय कर लिया था कि उनके सुलतान, जो खलीफा भी थे, तख्त से उतार दिये जायं। इस सम्बन्ध में भारत के मुसलमानों में बड़ी सनसनी थी। पर जहां-तक मैं समझ सकता हूं उन्होंने तुर्कों की इस कार्रवाई का समर्थन ही किया; क्योंकि आशा यह की जाती थी कि ऐसे सुलतान का--जो दूसरों के हाथों में कठपुतली बनकर देश और इस्लाम को हानि पहुंचाता था--पदच्युत होना ठीक ही है, और उसकी जगह नये और जबरदस्त खलीफा चुने जायंगे, जो इस्लाम तीर्थों और पवित्र स्थानों की रक्षा करने की इच्छा तथा शक्ति दोनों रखते होंगे। तुर्कों ने अपनी शक्ति बता दी थी, इससे यह आशा होती थी कि नये खलीफा अपने कर्तव्यों का ठीक पालन करेंगे। पर पीछे कुछ दिनों के बाद तुर्कों ने खलीफा के पद को ही अपने यहां से उठा दिया और तुर्क प्रजातन्त्र कायम कर दिया। तुर्क प्रजातन्त्र में प्रधान चुना जाया करेगा और वही प्रथा अबतक जारी है।

मुसलमानों की दूसरी बात अरब की आजादी से सम्बन्ध रखती थी। अरब और तुर्क दोनों ही धर्म में मुसलमान है; पर दोनों एक जाति के नहीं हैं। तुर्कों ने अरब पर अपना राज्य-शासन कायम कर लिया था। चूंकि वे भी मुसलमान थे, इसलिए दूसरे मुसलमान उनके सुलतान को ही खलीफा मान लेते थे। जर्मन-युद्ध में जब जर्मनी से मिलकर तुर्की लड़ने लगा, तो अंगरेजों ने तुर्कों के खिलाफ अरबों को उझाड़ा और अरब देश के लोगों को तुर्कों के शासन से मुक्त कर दिया। पर वे एक बार ही स्वतन्त्र नहीं हुए। मुसलमान चाहते थे कि अरब स्वतन्त्र होकर रहे, पर खलीफा का चुनाव सबकी राय से हो। ऐसा नहीं हो सका। पीछे तो तुर्कों ने खलीफा का पद ही उठा दिया। अरब की देख-रेख का भार (**mandate**) इंगलैंड और फ्रांस को मिल गया। इस तरह अरब लोग अभी तक पूरे स्वतन्त्र नहीं हुए हैं--यद्यपि दिखलाने के लिए कुछ अधिकार उनके अमीर के हाथों में हैं।

इन्हीं कारणों से, कुछ दिनों के बाद, भारत में खिलाफत का आन्दोलन ठण्डा पड़ गया । यद्यपि खिलाफत-कमिटी बहुत दिनों तक कायम रही, पर वह नाममात्र के लिए ही रह गई । गया में होनेवाले अधिवेशन के समय तक ये सब प्रश्न अभी इस तरह साफ नहीं हुए थे, इसलिए वहां भी बहुत उत्साह से खिलाफत-कान्फ्रेंस हुई और उसने कांग्रेस का साथ दिया । यदि यह कहा जाय कि उसने कांग्रेस से अधिक जोश और जीवट दिखलाया, तो अत्युक्ति न होगी । इसका विशेष कारण था उस समय तुर्कों के प्रति ब्रिटिश सरकार का रूख और उसकी कार्रवाई ।

: ५० :

स्वराज्य-पार्टी का जन्म

पहले से ही दोनों दलों में (परिवर्तनवादियों और अपरिवर्तनवादियों में) काफी खींचतान हो गई थी । कांग्रेस का अधिवेशन समाप्त होते ही अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी के सभापतित्व से देशबन्धु दास ने इस्तीफा दे दिया । जो लोग कौन्सिल-प्रवेश के पक्ष में थे, उन्होंने मिलकर स्वराज्य-पार्टी की स्थापना की घोषणा कर दी । उसके प्रमुख नेताओं में देशबन्धु दास, पं० मोतीलाल नेहरू, हकीमसाहब, श्री विट्ठलभाई पटेल, श्री केलकर प्रभृति थे । देशबन्धु दास उसके प्रमुख नायक और पंडित मोतीलाल नेहरू मंत्री बने । जो अपरिवर्तनवादी थे, उन्होंने आग्रह किया कि देशबन्धु दास सभापति बने रहे; पर उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया । उनका कहना था कि बहुमत उनके पक्ष में नहीं है, इसलिए वह सभापति नहीं रह सकते--स्वराज्य--पार्टी द्वारा वह कांग्रेस का बहुमत अपने पक्ष में लाने का प्रयत्न करेंगे, इसलिए उनका सभापति रहना मुनासिब नहीं होगा, उनके काम में भी बाधा होगी ।

जो वर्किंग-कमिटी बनाई गई, वह भी अधिकांश अपरिवर्तनवादियों की ही थी । मैं प्रधान मंत्री चुना गया । वह बोझ मेरे लिए बहुत भारी था, पर उसे वहन करना ही पड़ा; क्योंकि हम सभी ने मिलकर सभापति की सम्मति नहीं मानी थी, और अब हमारा धर्म था कि प्रजातन्त्र की परिपाटी के अनुसार उसके चलाने का भार संभालें । जो हो, गया में देशबन्धु दास का इस्तीफा मंजूर नहीं हुआ । उसपर पुनः विचार करने के लिए उनसे आग्रह करने का एक प्रस्ताव पास हुआ; पर उन्होंने वहीं पर साफ़ कह दिया कि वह पुनर्विचार के लिए तैयार नहीं हैं ।

नई कौन्सिलों के चुनाव १९२३ के नवम्बर में होनेवाले थे । इसलिए स्वराज्य-पार्टी का निश्चय हुआ कि उसके पहले कांग्रेस में बहुमत प्राप्त कर लेना और तब कांग्रेस की ओर से चुनाव के लिए लड़ना चाहिए । हम जो अपरिवर्तनवादी थे, सोचते थे कि कांग्रेस ने इस बात का निपटारा कर दिया है । अब केवल रचनात्मक कार्यक्रम पर ही जोर देना चाहिए । पर ऐसा होता नहीं दिखाई पड़ता था; क्योंकि कौन्सिल-प्रवेश-सम्बन्धी वाद-विवाद तो चलता ही रहा । अखिल भारतीय कमिटी की

जो बैठक हुई, उसमें तय हुआ कि रचनात्मक कार्यक्रम पर जोर लगाया जाय, कांग्रेस के निश्चयानुसार सत्याग्रह के लिए पच्चीस लाख रूपये जमा किये जायं और पचास हजार स्वयंसेवक भरती किये जायं, ताकि सत्याग्रह आरम्भ किया जा सके। पर यह शान्ति से होनेवाला कहां था ! कांग्रेस के अधिवेशन के बाद ही कुछ प्रमुख कांग्रेसी जेल से निकले। मौलाना आजाद जेल से निकलते ही इस फिक्र में लग गये कि दोनों दलों में किसी तरह समझौता कराया जाय। गया-कांग्रेस के बाद वह वर्किंग कमिटी के मेम्बर चुने गये थे। उन्होंने वर्किंग कमिटी की बैठक में समझौते की बात पेश की। वर्किंग कमिटी ने उसे मंजूर कर लिया। स्वराज्य-पार्टी के सभी नेताओं से अभी उनकी पूरी बातें नहीं हो पाई थीं; पर जहांतक निश्चय हुआ कि फरवरी के अन्तिम सप्ताह में वर्किंग कमिटी और भारतीय कमिटी की बैठक प्रयाग में करके इसपर विचार किया जाय। मौलानासाहब, चूंकि वह इस समझौते को पूरा कराना चाहते थे, वर्किंग कमिटी से अलग हो गये, जिसमें वह निरपेक्ष भाव से इसके लिए काम कर सकें।

फरवरी के अन्त में प्रयाग में सभा हुई। देशबन्धु दास ने सभापति का आसन ग्रहण किया। उस सभा में समझौते का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। उसकी शर्तें ये थीं--१. कौंसिल-सम्बन्धी प्रचार ३० अप्रैल तक बन्द रहे; २. दोनों पक्ष अपने-अपने कार्यक्रम के दूसरे मदों के सम्बन्ध में जो काम करना चाहें करें और एक-दूसरे के काम में बाधा न डालें; ३. अपरिवर्तनवादी गया-कांग्रेस के निश्चय के अनुसार सत्याग्रह के लिए रूपये और स्वयंसेवक जुटावें ४. परिवर्तनवादी, अपरिवर्तनवादियों के साथ, रचनात्मक काम तथा दूसरे ऐसे काम के लिए, जिसे दोनों मानते हैं, रूपये जमा करने और कार्यकर्त्ता जुटाने में सहयोग करेंगे; ५. ३० अप्रैल के बाद फिर दोनों पक्ष, जैसा मुनासिब समझें, अपने कार्यक्रम के अनुसार काम करें।

इसी निश्चय के अनुसार श्री राजगोपालाचारी के साथ मैंने भिन्न-भिन्न सूबों का दौरा किया। इसके पहले मैं अपने सूबे में ही घूमा था। दूसरे सूबों का बहुत ज्ञान नहीं था। इस दौरे से अनेक स्थानों में जाने का और वहां के कार्यकर्त्ताओं से विशेष परिचित्त होने का सुअवसर मिला। रूपये भी जमा किये गये। रचनात्मक कार्यक्रम पर विशेष जोर दिया गया। राजाजी ही भाषण किया करते थे। राजाजी-जैसे चतुर, प्रतिभाशाली और कुशल वक्ता कम ही हैं। वह अपने भाषणों में शोरगुल नहीं मचाते,

न हाथ-पैर पीटते हैं। आहिस्ता-आहिस्ता नरम शब्दों में अपनी युक्तियों का अनूठी तरह से श्रोताओं के सामने रखते हैं और उनको मोह लेते हैं। मैंने सोचा कि मैं इनके बाद क्या भाषण कर सकूंगा, चुप रहना ही अच्छा होगा। उनके भाषण के प्रभाव को मेरा भाषण कम कर देता। पर लोग चाहते थे कि मैं भी कुछ कहूं। इसके बचने की एक अच्छी युक्ति भी निकल आई। राजाजी अंगरेजी में ही भाषण करते; क्योंकि वह हिन्दी नहीं बोल सकते थे। मैंने उनके भाषणों का भाषान्तर करने का काम उठा लिया। ऐसा यदि न करता तो हर सभा में भाषान्तरकार खोजना पड़ता और वह भी न मालूम ठीक भाषान्तर करता या नहीं। मैं उनकी विचार-शैली से खूब परिचित हो गया था। उनके बोलने के तरीके को भी खूब समझ गया था। इसलिए मैंने देखा कि एक पंथ दो काज हो जाता है--उनके भाषण का भाषान्तर हो जाता है और मैं भाषण करने से बच भी जाता हूं। वह एक वाक्य कहते और मैं उसका भाषान्तर कर देता। इस प्रकार मेरे काम में भी सुविधा होती और लोग सब बातें ठीक-ठीक समझ लेते। प्रायः सभी सभाओं में, जहां हिन्दी में भाषान्तर की जरूरत पड़ती, मैंने यही किया। भाषान्तर का काम कठिन है--विशेषकर तात्कालिक आशु भाषान्तर का--जब कोई वक्ता धारा-प्रवाह बोलता जाता हो। पर मैं इसमें दक्ष हो गया। मैंने कलकत्ता हाइकोर्ट में देखा था कि एक भाषान्तरकार गवाहों के इजहार में, बैरिस्टरों के प्रश्नों और गवाहों के उत्तरों का ऐसा चमत्कारपूर्ण भाषान्तर करता था कि केवल शब्दार्थ ही नहीं, बल्कि प्रश्नों के पूछने के लहजे को भी भाषान्तर में ला देता था।

कई बरसों के बाद, जब मैं यूरोप गया और वहां युद्ध-विरोधी एक अन्तरराष्ट्रीय कान्फ्रेन्स में शरीक हुआ, तो वहां भी एक चमत्कारी भाषान्तरकार देखा। वह जर्मन था। अभी उसकी अवस्था चौबीस-पच्चीस साल से अधिक नहीं थी। पर वह अंगरेजी, फ्रेंच जर्मन और एस्परेण्टो खूब जानता था। जब कोई वक्ता इन चार में से किसी भी भाषा में भाषण करता तो वह शीघ्र लिपि से सारे भाषण को लिखता जाता था। जैसे ही भाषण समाप्त होता, वह खड़ा हो जाता और शीघ्र-लिपि द्वारा लिखित अपनी प्रति को अपने हाथों में लेकर बाकी तीन भाषाओं में भाषान्तर कर देता। मैं यह तो नहीं कह सकता कि भाषान्तर कहांतक ठीक होता, क्योंकि अंगरेजी के सिवा मैं दूसरी तीन भाषाओं में से एक भी नहीं जानता था; पर जैसी शुद्ध अंगरेजी में वह भाषान्तर करता, उससे मैंने अनुमान कर लिया कि अन्य भाषाओं में भी वह शुद्ध ही

बोलता होगा। और, जब चारों भाषाओं में वह धारा-प्रवाह शुद्ध भाषण कर सकता था, तो कोई कारण नहीं कि उसका भाषान्तर शुद्ध न होता हो। उससे परिचय हो जाने पर मैंने दरियाफ्त किया, तो मालूम हुआ कि वह संस्कृत भी जानता था और किसी संस्कृत ग्रन्थ का जर्मन में अनुवाद करने में उस समय लगा था। मैं यहां भाषान्तर के फेर में बहुत बहक गया!

उस दौरे से रचनात्मक कार्यक्रम की तरफ लोगों की कुछ अभिरूचि तो हुई; पर काम बहुत आगे न बढ़ा। दो-तीन महीनों में उसका परिणाम कुछ दिखाया भी नहीं जा सकता था। रूपये भी करीब तेरह लाख के जमा हुए, पर पूरे पच्चीस लाख नहीं हुए। स्वराज्य-पार्टी को मौका मिला। उसने हमारे हार मानने की बात पेश की--अपने कार्यक्रम का स्वीकृत कराने का प्रयत्न भी किया।

: ५१ :

स्वराज्य-पार्टी के साथ समझौते का निष्फल प्रयत्न

एक तरफ हम उक्त दौरे में व्यस्त थे, दूसरी ओर हिन्दू-मुस्लिम झगड़े बढ़ते जा रहे थे। मुलतान का जिक्र ऊपर आ चुका है। वहां अभी तक कुछ-न-कुछ मनोमालिन्य चला ही जा रहा था। इसलिए उसी वर्किंग कमिटी में, जिसमें मौलानासाहब जेल से छूटकर शरीक हुए थे, निश्चय किया गया था कि पंडित मालवीयजी के साथ मौलाना मुलतान जायं और वहां के झगड़े को निपटाने का प्रयत्न करें। क्षतिग्रस्त लोगों की सहायता के लिए कांग्रेस की ओर से दस हजार रूपये भी मंजूर किये गये थे। पर अब झगड़ा केवल मुलतान में ही नहीं रह गया। अमृतसर में भी हालत खराब हो गई। हम अपने दौरे में पंजाब की कई जगहों में गये। देशबन्धु दास, पंडित मोतीलाल नेहरू तथा हकीम अजमल खां भी बराबर कोशिश करते रहे। उन्होंने डाक्टर अंसारी प्रभृति के साथ मिलकर इस बात की कोशिश की कि कोई हिन्दू-मुस्लिम समझौता हो जाय, जो सारे देश की बिगड़ती फिजां को सुधार सके। पर इसमें वे कामयाब नहीं हुए।

पंजाब के दौरे के दरमियान लाहौर में देशबन्धु दास से, राजाजी की और मेरी, मुलाकात हुई। वहांपर देशबन्धु दास ने स्थायी समझौते के लिए यह प्रस्ताव पेश किया कि कांग्रेस के काम कई विभागों में बांट दिये जायं और प्रत्येक विभाग के चलाने का भार ऐसे व्यक्तियों पर दिया जाय, जो उसमें विशेष दिलचस्पी रखते हों--जैसे, राष्ट्रीय शिक्षा, खादी-प्रचार, कौन्सिल-विभाग, विदेशों में प्रचार, मजदूर-संगठन, अछूतोद्धार, सत्याग्रह इत्यादि। इसके लिए पांच-छः करोड़ की रकम भी जमा की जाय।

पंजाब से हम लोग दौरे में पूना गये। वहां वर्किंग कमिटी की बैठक हुई। उसे यह प्रस्ताव अव्यावहारिक मालूम पड़ा। उसने इसे नामंजूर किया। उसी समय देशबन्धु दास प्रभृति का तार आया कि पंजाब की स्थिति पर विचार करने के लिए वर्किंग कमिटी की बैठक प्रयाग में तुरन्त की जाय। ३० अप्रैल तक का हमने कार्यक्रम बना लिया था। इसलिए उस काम को स्थगित करके वर्किंग कमिटी की बैठक इतनी जल्दी में करना संभव न हुआ। पर राजाजी वहां भेज दिये गये कि जो कुछ मुनासिब

हो, वह करें और अगर आवश्यक समझें तो वर्किंग कमिटी की भी बैठक करें। राजाजी वहां गये। देशबन्धु दास प्रभृति से उनकी बातें हुईं। पर बातें पूरी नहीं हो पाईं; इसलिए कुछ बातें दिल्ली में हकीम अजमल खां के साथ हुईं। इस प्रकार जितनी बातें हुईं, उनका नोट बनाकर राजाजी ने हकीम-साहब को दे दिया कि वह देशबन्धु दास और पंडित मोतीलालजी की राय लें। राजाजी उस नोट की एक प्रति लेकर बम्बई में वर्किंग कमिटी के दूसरे लोगों से स्वयं मिलने गये। यह प्रस्ताव न तो पंडित मोतीलालजी को मंजूर हुआ, न सरदार वल्लभभाई और सेठ जमनालालजी को। पर इसके सम्बन्ध में कुछ ऐसे बयान निकले और ऐसा प्रचार किया गया, मानो अपरिवर्तनवादी लोगों ने ही इसे नामंजूर कर दिया। श्रीमती सरोजिनी नायडू भी इसी कारण, अपरिवर्तनवादियों से, जिनमें वह भी एक थीं, कुछ नाराज हो गईं। उस समय के पत्रों ने भी कड़ी टिप्पणियां लिखीं। पंडित मोतीलालजी ने तो स्वराज्य-पार्टी की ओर से प्रचार का काम शुरू कर दिया। मई के अन्त में होनेवाली अखिल भारतीय कमिटी की बैठक में, जहां समझौते की बात पर विचार होनेवाला था, अपने न जाने की घोषणा भी कर दी तथा अपने अनुयायियों को भी जाने से मना कर दिया।

देश में आपस के इस झगड़े से लोग खिन्न हो रहे थे। कई प्रान्तीय कमिटियों ने भी राय दी कि कोई समझौता हो जाना अच्छा होगा। अपरिवर्तनवदियों में डाक्टर अंसारी और श्रीमती नायडू समझौते के पक्षपाती थे। पंडित जवाहरलाल नेहरू--जो गया-कांग्रेस के समय में जेल में थे, पर अब छूट चुके थे--समझौता चाहते थे। इसलिए एक प्रकार से समझौते के पक्ष में अनुकूल वायुमंडल तैयार हो गया। पीछे स्वराज्य-पार्टी के लोगों ने भी बम्बई में होनेवाली अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी की बैठक में शरीक होने का विचार प्रकट कर दिया और शरीक हुए भी। यह बैठक मई महीने के अन्त में हुई। वर्किंग कमिटी की ओर से यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया कि कांग्रेस का विशेष अधिवेशन किया जाय--यदि स्वराज्य-पार्टी के लोग उसके निश्चय को मानने के लिए तैयार हों। देशबन्धु दास ने, जो सभापतित्व कर रहे थे, कह दिया कि वह इसका वादा नहीं करेंगे कि स्वराज्य-पार्टी विशेष अधिवेशन के निश्चय के अनुसार ही काम करेगी। इसपर वर्किंग कमिटी ने अपना प्रस्ताव वापस ले लिया। उपस्थित सदस्यों की ओर से कई प्रस्ताव उपस्थित किये गये, जिनमें एक के प्रस्तावक और समर्थक श्री पुरूषोत्तमदास टंडन और पंडित जवाहरलालजी थे।

उसका आशय यह था कि देश में चूंकि ऐसे लोग भी हैं, जो चाहते हैं कि कौंसिलों के चुनाव में भाग लिया जाय, इसलिए आपस के झगड़े को मिटाने के लिए गया-कांग्रेस के आदेशानुसार चुनाव के विरूद्ध प्रचार न किया जाय। कुछ लोगों ने यह प्रश्न उठाया कि गया-कांग्रेस के निश्चय के विरूद्ध होने के कारण यह प्रस्ताव अवैध है। पर सभापति देशबन्धु ने इसको नहीं माना और प्रस्ताव को वैध करार दिया। यह प्रस्ताव थोड़े बहुमत से स्वीकृत हो गया। हम लोग, जो गया में वर्किंग कमिटी के मेम्बर चुने गये थे, इस्तीफा देकर अपने पद से हट गये। देशबन्धु दास की राय के मुताबिक एक नई वर्किंग कमिटी चुनी गई। उसमें ऐसे लोग थे, जो न तो कट्टर अपरिवर्तनवादी थे और न कट्टर परिवर्तनवादी अर्थात् जो समझौता चाहते थे। डाक्टर अंसारी सभापति बने। पंडित जवाहरलालजी मंत्री चुने गये।

राजाजी इस प्रस्ताव से बहुत असन्तुष्ट थे। उनका कहना था कि इस तरह कांग्रेस आत्महत्या कर लेगी। उसे या तो कौंसिलों में जाने की सीधे तौर पर अनुमति देनी चाहिए और चुनाव के लिए लड़ना चाहिए, नहीं तो चुनाव का बहिष्कार करना चाहिए और इस बहिष्कार के लिए जनता में पूरा प्रचार करना चाहिए। अखिल भारतीय कमिटी इन दोनों में से एक भी नहीं करती थी। वह स्वराज्य-पार्टी को प्रचार का हक देती, चुने जाने का भी मौका देती, उनपर किसी प्रकार का कांग्रेस का नियंत्रण भी नहीं रखती, और दूसरी ओर चुनाव के विरूद्ध विरोधियों का मुंह खोलना भी रोक देती है। इसलिए यह प्रस्ताव मान्य नहीं है--विशेष करके जब गया-कांग्रेस ने कौंसिल-विरोधी प्रचार का आदेश दिया है। इसमें शक नहीं कि अधिकांश समाचार-पत्र कौंसिल के पक्ष में थे। कांग्रेस में भी बहुतेरे लोग इस बहस से ऊब गये थे। बहुतेरों को यह समझौता अच्छा लगा। नई वर्किंग कमिटी ने घोषणा निकाली कि गया-कांग्रेस का प्रस्ताव, जिसके द्वारा कौंसिलों का बहिष्कार किया गया था, कायम है--केवल उसका प्रचार ही इस प्रस्ताव द्वारा रोका गया है। यह राय हमने बिहार-प्रान्तीय कमिटी की ओर से भी दी। पर दूसरे प्रान्तों की कई कमिटियों ने इसके विरूद्ध प्रस्ताव स्वीकार किया। उन्होंने इस प्रस्ताव को गया के निश्चय के विरूद्ध समझकर नहीं माना।

बम्बई की उक्त बैठक के बाद देश में फिर इसपर जोरों से बहस चलने लगी। जिस वाद-विवाद को रोकने के लिए बम्बई का प्रस्ताव किया गया था, वह उसी

तीव्रता के साथ जारी रहा। देशबन्धु दास बम्बई से मद्रास प्रान्त में दौरा करने के लिए गये। कई स्थानों पर उन्होंने बहुत ही कड़वे और उत्तेजक भाषण किये। इन्हीं भाषणों में से एक में उन्होंने लार्ड रीडिंग के साथ समझौते की बात का इशारा करते हुए, कहा था कि उस समय के सत्याग्रह से गवर्नमेण्ट दब गई थी--उसने झुक करके सुलह करनी चाही थी--मेरे पास शर्तें भेजी थीं--मैंने 'हेडक्वार्टर्स' अर्थात् गांधीजी को भेज दी थीं; पर उन्होंने सब बातें गड़बड़ा दीं, और अब हमें केवल चर्खा चलाने को कहते हैं। इस विषय को लेकर फिर पुरानी बातें उभड़ीं। श्रीयुत कृष्णदास ने उस समय के उन तारों को--जो गांधीजी, पंडित श्यामसुन्दर चक्रवर्ती, पंडित मालवीयजी और मौलाना आजाद ने--जिन्होंने उस बातचीत में भाग लिया था--अपने-अपने बयान अखबारों में दिये।

सारे देश में कटुतापूर्ण जोरदार वाद-विवाद नये सिरे से चल पड़ा। नतीजा यह हुआ कि वर्किंग कमिटी को कुछ लोगों ने फिर अखिल भारतीय कमिटी की बैठक करने के लिए मजबूर किया। एक बैठक नागपुर में जून के अन्त में हुई। वहांपर यह निश्चय हुआ कि कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन किया जाय, जहां इस कौंसिल के प्रश्न का निपटारा किया जा सके। वहां एक प्रस्ताव वर्किंग कमिटी की ओर से पेश किया गया, जिसका आशय यह था कि जिन कमिटियों ने बम्बई की अखिल भारतीय कमिटी के निश्चय के विरूद्ध आवाज उठाई है और कांग्रेस के अनुशासन को भंग किया है, उनपर अनुशासन की कार्रवाई की जाय। इन कमिटियों में सबसे प्रमुख स्थान तामिलनाड कमिटी का था और इस प्रस्ताव का लक्ष्य विशेष करके श्रीराजगोपालाचारी थे। इसपर बहुत गरमागरम बहस हुई। कहा जाता था कि उन्होंने अखिल भारतीय कमिटी के प्रस्ताव के प्रतिकूल काम किया है। हम लोग अखिल भारतीय कमिटी के प्रस्ताव को स्वयं कांग्रेस के निश्चय के प्रतिकूल मानते थे। इसलिए हमारा कहना था कि उन्होंने कांग्रेस के आदेश का ही पालन किया है और अखिल भारतीय कमिटी ने निरंकुशता से काम लिया है। बहस रात तक चलती रही। मुझे राजाजी के बचाव में भाषण करना पड़ा। यद्यपि मैं १६११ से बराबर अखिल भारतीय कमिटी का सदस्य रहता आया था, तथापि मैं बहुत कम अवसरों पर वहां बोला करता था। सत्याग्रह-कमिटी की रिपोर्ट पर बहस छिड़ने और गया-कांग्रेस के समय को छोड़कर मुझे याद नहीं है कि उसके पहले और कहीं कांग्रेस में या अखिल भारतीय कमिटी

में कभी भी मैं बोला हूं। गया में मेरे भाषण हिन्दी में ही हुए थे। नागपुर में अंगरेजी में बोलना उपयोगी मालूम पड़ा; क्योंकि वहां दक्षिण भारत और दूसरे अहिन्दी-भाषी प्रतिनिधियों को ही अधिक समझाने की जरूरत थी। राजाजी स्वयं बहुत बोलना नहीं चाहते थे। मैंने शायद वहां पहली बार अंगरेजी में भाषण किया। लोगों पर प्रभाव अच्छा पड़ा। श्री सत्यमूर्ति, जो स्वराज्य-पार्टी के बड़े हिमायती और राजाजी के पक्ष के विरोधी थे, मेरे पास आये और मेरे भाषण के लिए उन्होंने बधाई देते हुए कहा कि मैं नहीं जानता था कि आप अंगरेजी में इतना अच्छा बोल सकते हैं। नतीजा यह हुआ कि प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया। निन्दात्मक प्रस्ताव गिर लाने पर वर्किंग कमिटी ने इस्तीफा दे दिया। नई कमिटी बनी। हम लोग फिर वर्किंग कमिटी में आ गये। श्री वेंकटपय्या सभापति हुए। श्री गोपाल कृष्णय्या मन्त्री बने। वर्किंग कमिटी के जिम्मे विशेष अधिवेशन के स्थान चुनने का काम भी दिया गया। कुछ दिनों के बाद उन्होंने निश्चय किया कि वह दिल्ली में हो। अखिल भारतीय कमिटी ने मौलाना अबुल कलाम आजाद को विशेष अधिवेशन का सभापति चुन लिया।

: ५२ :

झंडा सत्याग्रह और गांधी सेवा संघ का जन्म

दिल्ली के विशेष अधिवेशन के सम्बन्ध में कुछ कहने के पहले नागपुर-झण्डा-सत्याग्रह का जिक्र जरूरी है। राष्ट्रीय सप्ताह के उपलक्ष में १९२३ की तेरहवीं अप्रैल को राष्ट्रीय झण्डे के साथ वहां जलूस निकाला गया। उसे मध्यप्रान्त की सरकार ने जबलपुर और नागपुर में सिविल लाइन्स में जाने से रोक दिया। हुक्म न मानने पर पंडित सुन्दरलाल प्रभृति को जबलपुर में गिरफ्तार भी कर लिया। इससे जनता में बहुत रोष पैदा हुआ। सत्याग्रह करने का विचार होने लगा।

सभी बड़े-बड़े नेता सत्याग्रह के प्रतिकूल थे। उनका विचार था कि यह कौंसिल के कार्यक्रम को नीचा दिखलाने के लिए अपरिवर्तनवादियों का स्वांग है। जो हो, नागपुर में पहली मई से सत्याग्रह आरम्भ हो गया। सेठ जमनालालजी ने उसका नेतृत्व करना आरम्भ कर दिया। सत्याग्रह का रूप यह हुआ कि कुछ सत्याग्रही राष्ट्रीय झण्डे लेकर, जलूस बनाकर, सिविल लाइन्स की ओर जाना चाहते। एक स्थान् था, जहां सरकार की ओर से उन्हें रोक दिया जाता और उनके न मानने पर उनको गिरफ्तार कर लिया जाता। यही क्रम प्रतिदिन चलता। बहुतेरे लोग इस प्रकार गिरफ्तार होकर जेलखानों में चले गये। सत्याग्रह की शोहरत सारे देश में फैली। सभी जगहों से सत्याग्रह करने के लिए स्वयंसेवक नागपुर पहुंचने लगे। कुछ दिनों के बाद सेठ जमनालालजी भी गिरफ्तार कर लिये गये। तब सरदार वल्लभभाई नागपुर आ गये। उन्होंने नेतृत्व ग्रहण किया। मैंने बिहार में स्वयंसेवकों का संगठन आरम्भ करके उनको नागपुर भेजना शुरू कर दिया। मैं भी उनके साथ कई बार नागपुर गया। सत्याग्रह के कारण देश-भर में हलचल मच गई। अब अनुमान होने लगा कि सरदार वल्लभभाई भी गिरफ्तार कर लिये जायंगे। इसी कारण मेरा वहां जाना और भी आवश्यक हो गया।

इसी प्रकार सारे देश से हजारों सत्याग्रही वहां गये और गिरफ्तार हुए। परिस्थिति गरूआती गई। श्री विट्ठलभाई पटेल, जो स्वराजी थे, वहां आकर सरदार

की मदद करने लगे। सरकार ने भी सोचा कि यह सत्याग्रह बढ़ने देना उचित नहीं है। इसलिए श्री विट्ठलभाई पटेल से कुछ बाते हुईं। एक दिन झण्डे के साथ-साथ जलूस को सिविल लाइन्स की ओर से जाने देकर सत्याग्रह बन्द कर दिया गया। मैं उस समय नागपुर में था। आखिरी दिन का जलूस बड़ी शान से निकला। बहुत लोग झण्डे लेकर उसमें शरीक हुए। श्री विट्ठलभाई और सरदार के साथ मैं भी था। जलूस शान्तिपूर्वक सिविल-लाइन्स होकर चला आया। सत्याग्रह समाप्त कर दिया गया। उसके बाद कैदी भी छोड़ दिये गये। इस सत्याग्रह का असर और जगहों में भी अच्छा पड़ा।

बिहार से अनेक सत्याग्रही गये थे, जिनमें से एक हरदेवसिंह की मृत्यु नागपुर-जेल में हो गई। उस दिन मैं वहीं था। जेल से शव हम लोगों को मिल गया। उसका दाह-संस्कार हम सबने मिलकर वहां किया। यों तो सरदार से मुलाकात थी ही। पर नागपुर में ही उनसे वह घनिष्ठता हुई, जो मेरे जीवन की सुखद स्मृतियों में एक हमेशा बनी रहेगी। वहीं मेरे दिल में उनकी कार्य-कुशलता, गम्भीरता और नेतृत्व-शक्ति के प्रति महान् आदर उत्पन्न हुआ। उनके प्रति ऐसी श्रद्धा अंकुरित हुई, जो दिन-दिन बढ़ती गई। वहीं मैंने उनका प्रेम और विश्वास प्राप्त किया, जो उन्होंने उसी तरह से बराबर मेरे प्रति और बिहार-प्रान्त के प्रति दर्शाया है।

इन्हीं दिनों सेठ जमनालालजी की राय हुई कि परिवर्तनवादियों और अपरिवर्तनवादियों की आपस की बहस यदि चलती रहेगी तो रचनात्मक काम ढीला ही रहेगा; इसलिए एक ऐसी संस्था स्थापित की जाय, जो रचनात्मक काम पर ही अधिक ध्यान दे और उसमें ऐसे लोग ही विशेष करके रहें, जो गांधाजी के सिद्धान्तों को मानते हों। इस संस्था का नाम पड़ा 'गांधी-सेवा-संघ'। श्री राजगोपालाचारी, सरदार वल्लभभाई पटेल, श्री गंगाधरराव देशपाण्डे, सेठ जमनालाल बजाज प्रभृति उसके संचालक-मंडल के सदस्य हुए। मैं भी उसमें दाखिल हुआ। जबतक वह संस्था इस रूप में रही, मैं उसका सदस्य बना रहा। हम लोगों का बराबर यही प्रयत्न रहा कि उसे राजनैतिक झगड़ों से अलग रखें। ऐसा ही किया भी गया। उसके कार्यकर्त्ता विशेष करके रचनात्मक काम में--खादी-प्रचार, हरिजन-सेवा आदि में लगे रहते। पर तो भी गांधीवाद के विरोधी इस बात की शिकायत जब-तब पेश कर दिया करते कि यह एक राजनैतिक दल है और स्वराज्य-पार्टी तथा अग्रगामी दल (फारवर्ड-ब्लाक) के साथ

उसका नाम जोड़ लेते ।

जो हो, गांधी-सेवा-संघ ने रचनात्मक काम में बहुत दिलचस्पी ली । विशेषकर उसी के सदस्य इसको आगे बढ़ाने के प्रयत्न में लग रहे हैं । इसकी शाखाएं प्रायः कई सूबों में कायम हुईं । बिहार में भी हुई । कई सदस्यों को, जिनकी संख्या घटती-बढ़ती गई और सदस्य भी अक्सर बदलते गये, कुछ निर्वाह-व्यय भी मिलता रहा । किन्तु यहांपर उसका कोई एक केन्द्र स्थापित करके काम नहीं हुआ । इसका कुछ प्रयत्न, कई बरसों के बाद, सारन-जिले के 'मैरवा' गांव में आश्रम कायम करके किया गया । पर वह भी ठीक न चला । इसलिए इस (बिहार) सूबे में उसका कोई देखने लायक काम हम नहीं बतला सकते । पर उसके कुछ सदस्यों ने रचनात्मक काम किया और कुछ राजनैतिक क्षेत्र से अलग न हो सके ।

: ५३ :

दिल्ली-कांग्रेस के विशेष अधिवेशन से कोकनाडा-कांग्रेस तक

दिल्ली के विशेष अधिवेशन के पहले मौलाना मुहम्मदअली जेल से छूटकर आये। हमारा अनुमान था कि वह भी कौंसिल-प्रवेश के विरोधी ही होंगे। राजाजी इस बहस से इतने ऊब गये थे कि वह दिल्ली के अधिवेशन में आये ही नहीं। हमने मौलाना मुहम्मदअली को ही अपना नेता मान लिया। उनके ही हाथों में सब बातें छोड़ दीं। उन्होंने निश्चय किया कि दोनों पक्षों में समझौता हो जाय। वह निश्चय इस शर्त पर हुआ कि कांग्रेस की ओर से और कांग्रेस के नाम पर चुनाव न लड़ा जाय, पर यदि कोई कांग्रेस का आदमी चुनाव में खड़ा होना चाहे तो उसपर से रोक उठा ली जाय। इस तरह स्वराज्य-पार्टी को, अपने बल पर कांग्रेसियों को खड़ा करके, चुनाव लड़ने का सुअवसर मिल गया। चुनाव के झगड़े से कांग्रेस अलग रह गई।

हम लोग इस झगड़े से घबरा गये थे। हम देखते थे कि इससे रचनात्मक काम में भी बाधा पड़ती है; क्योंकि कुछ लोग--जो कौंसिल के पक्ष में हैं--कौंसिल-पक्ष के समर्थन के साथ-साथ रचनात्मक काम का प्रत्यक्ष वा परोक्ष रीति से चाहे विरोध न करें; पर उपेक्षा अवश्य करते थे। हम आशा करते थे कि इस समझौते के बाद दोनों पक्ष अपने-अपने काम में लग जायंगे और हम रचनात्मक काम को आगे बढ़ा सकेंगे। मौलाना मुहम्मदअली ने इस बात पर जोर दिया। पर उन्होंने उस सिलसिले में एक बात और कही थी, जिसका मर्म हम लोगों को पीछे मालूम हुआ। उन्होंने कहा था कि समझौते के पक्ष में उनको बे-तार के तार से भी खबर मिली है, जिसका अर्थ हम लोगों ने यह लगाया था कि उनको किसी-न-किसी तरह गांधीजी की राय मालूम हो गई है। हम जानते थे कि गांधीजी जेल से कोई संदेश नहीं भेजेंगे; क्योंकि वह इसको सिद्धांततः गलत समझते थे। हम लोग यह भी जानते थे कि श्री शंकरलाल बैंकर, जो गया-कांग्रेस के झगड़े के बाद जेल से छूटे थे और जहां वह गांधीजी के साथ ही थे, हमसे कह चुके थे कि गांधीजी के मत में कोई फर्क नहीं पड़ा है। पर

तो भी हमने यह सोचा कि हो सकता है, जेल से कोई कैदी छूटकर आया हो, वहां बातचीत में गांधीजी की राय उसको मालूम हो गई हो और उसने मौलाना से वह बात कह दी हो। उन दिनों अक्सर कांग्रेसी लोग अपनी सजा की मीयाद पूरी करके छूटा करते थे; इसलिए यह असंभव भी नहीं था। पीछे मालूम हुआ कि गांधीजी से श्री देवदास गांधी मिले थे। देवदासजी से महात्माजी ने कहा था कि मौलाना मुहम्मदअली जो उचित समझें वही करें; किन्तु हमारे प्रति उनका जो विश्वास और प्रेम है, उससे प्रभावित न हों, बल्कि देश की जिसमें भलाई समझें वही करें। उसी बात को मौलाना ने अपने तरीके से 'बे-तार का तार' कहकर बताया था। इसका असर बहुतेरों पर काफी पड़ा था। ऐसे प्रभावित लोगों में सरदार वल्लभभाई पटेल, सेठ जमनालाल बजाज, डाक्टर अंसारी और मैं, जो कौंसिल-प्रवेश के विरोधी थे, मुख्य समझे जाते थे। हमने कोई चारा न देखकर समझौते को कबूल कर लिया।

हिन्दू-मुस्लिम झगड़े बहुत फैल रहे थे। इससे अन्देशा था कि स्वराज्य के काम में भारी अड़चन पड़ जायगी। सभी लोग चिन्तित थे। इसलिए दिल्ली-कांग्रेस ने इस विषय पर भी बहुत विचार किया। सभी जगहों में हुए झगड़ों के सम्बन्ध में जांच करने के लिए उसने कमिटी बना दी। दूसरी कमिटी भी नियुक्त कर दी--हिन्दू-मुस्लिम समझौते का मसौदा तैयार करने के लिए। यह भी निश्चय किया गया कि कांग्रेस की ओर से सभी धर्मवालों को सम्मिलित कर रक्षा-दल कायम किये जायं--सभी जगहों में आपस की ऐसी पंचायतें बनाई जायं, जो झगड़े को रोकें और झगड़ा हो जाने पर उसके असर को यथासाध्य कम और सीमित करें।

एक दूसरा प्रश्न था, जो उस समय सारे देश में खलबली मचा रहा था। वह था हिन्दुस्तानियों का उपनिवेशों में--विशेषकर केनिया (अफ्रीका) में--स्थान। वहां हिन्दुस्तानियों ने ही जाकर उस देश को बसने लायक बनाया था। उन्होंने ही वहां वाणिज्य-व्यापार शुरू किया था। वहां रेलवे बनाने में भी उन्होंने ही परिश्रम किया था। अब वहां गोरे लोग हिन्दुस्तानियों को उन स्थानों में रहने देना नहीं चाहते थे, जो स्वस्थ, अच्छे उपजाऊ और ऊंचाई पर थे। ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने भी गोरों की ही बात मान ली थी। केनिया के गोरों को दक्षिण अफ्रिका के गोरों की भी सहानुभूति और मदद मिली थी। इसी तरह, फीजी में भी हिन्दुस्तानियों के प्रति कई प्रकार के अत्याचार हो रहे थे। इसलिए कांग्रेस में इस आशय का प्रस्ताव आया कि

हिन्दुस्तानियों के प्रति किये गये दुर्व्यवहार से स्पष्ट हो गया है कि ब्रिटिश साम्राज्य में हिन्दुस्तानियों के लिए स्थान नहीं है, अतः अब हिन्दुस्तानियों को उस साम्राज्य से बाहर जाने की बात पर विचार करना चाहिए। बात ठीक थी। उस समय से आज तक जितनी कार्रवाई हुई है उससे यह बात और भी स्पष्ट होती गई है। पर उस समय कांग्रेस ने इस प्रस्ताव को, विशेषकर मौलाना मुहम्मदअली के जोर लगाने से नामंजूर कर दिया। मेरी सहानुभूति प्रस्ताव के साथ थी, पर हम लोगों के इतने बड़े परिवर्तन के लिए--जब हम कमजोर पड़ गये थे, और हमारा आन्दोलन भी कमजोर पड़ गया था--वह समय उपयुक्त नहीं समझा। एक दूसरा प्रस्ताव, जिसमें साम्राज्य से अलग होने के बात नहीं थी, स्वीकृत हुआ।

दिल्ली के अधिवेशन के बाद मैं वहां से ही लाला लाजपतराय को देखने के लिए सोलन चला गया। वह जेल से बीमार निकले थे और वहां स्वास्थ्य लाभ के लिए ठहरे थे। उन्होंने भी समझौते को पसन्द किया। वह उससे खुश थे; क्योंकि उनका विचार भी स्वराज्य-पार्टी के साथ ही था। सोलन से लौटते समय मैं लखनऊ में उतरा। वहां मेडिकल कालेज के प्रिन्सिपल स्प्रासन से, जो फेफड़े की बीमारियों के विशेषज्ञ समझे जाते थे, अपनी जांच कराई। उन्होंने भी मेरी बीमारी को दमा करार दिया। उसके लिए स्वामिन् का इंजेक्शन बताया। पटना लौटने पर उनके आदेशानुसार मैंने उसका इंजेक्शन लिया। कुछ विशेष फल नहीं हुआ।

दिल्ली के अधिवेशन के बाद स्वराज्य-पार्टी ने चुनाव में भाग लिया। मध्यप्रान्त में स्वराज्य-पार्टी को अधिकांश स्थानों में सफलता मिली। वहां की कौंसिल में उसका बहुमत हो गया। बंगाल में भी अच्छी सफलता मिली, पर बहुमत नहीं हुआ। किसी और सूबे में सफलता नहीं हुई, पर सभी जगहों में कुछ अच्छे आदमी कौंसिलों में जा सके। बिहार में भी स्वराज्य-पार्टी बनी, जिसके प्रमुख पक्षपातियों में मौलवी मुहम्मद शफी, प्रोफेसर अब्दुलबारी, श्री कृष्णवल्लभ सहाय और बाबू जलेश्वरप्रसाद थे। यहां चुनाव में हममें से किसी ने भाग नहीं लिया। परोक्ष रीति से भी हमने मदद नहीं की। तो भी दस या बारह आदमी चुने गये। उन्होंने कौंसिल में अच्छा ही काम किया। जलेश्वरबाबू ही पार्टी के नेता थे। युक्तप्रान्त में पं० गोविन्दवल्लभ पन्त पार्टी के नेता हुए। बंगाल में स्वयं देशबन्धु दास। बहुमत होने के कारण मध्यप्रान्त में स्वराज्य-पार्टी ने मंत्रिमंडल नहीं बनने दिया। कुछ दिनों तक यह सिलसिला चला।

पर कुछ प्रमुख व्यक्ति फूटकर अलग हो मंत्रिमंडल में शरीक हो गये । बंगाल में देशबन्धु दास ने कुछ दूसरों के साथ मिलकर वहां के मंत्रिमंडल को भी कुछ काल के लिए तोड़ डालने में सफलता पाई ।

१९२३ इसी प्रकार समाप्ति पर आया। दिसम्बर में कांग्रेस का सालाना अधिवेशन कोकनाडा में हुआ । ठीक अधिवेशन के समय मैं बीमार पड़ गया, इसलिए कोकनाडा न जा सका । वहां राष्ट्रभाषा-प्रचार के लिए जो सभा होनेवाली थी, उसका मैं ही सभापति चुना गया था । मैंने एक लम्बा भाषणा भी तैयार किया था, जो पुस्तकाकार में छपा था । जब मैं ठीक रवाना होने के दिन ही बीमार पड़ गया तो केवल छपा भाषण ही वहां जा सका ! मेरी जगह सेठ जमनालाल बजाज सभापति हुए । मैंने सुना कि उन्होंने मेरे भाषण को पढ़ सुनाया था ।

कोकनाडा-कांग्रेस के सभापति मौलाना मुहम्मदअली हुए । उनका भाषण बहुत बड़ा और महत्त्वपूर्ण है । हिन्दुस्तान की राजनीति में, मुसलमानों के भाग और स्थान की उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि से आलोचना की है । आगे के लिए भी उन्होंने बहुतेरी ऐसी बातें कही हैं जिनको शायद अभी लोग नहीं मानते । जो हो, कोकनाडा ने दिल्ली के विशेष अधिवेशन के निश्चय का ही समर्थन किया । जो इजाजत स्वराज्य-पार्टी को कौंसिल-प्रवेश के लिए मिली थी, उसे फिर मंजूर कर लिया । इसके अलावा, कांग्रेस ने, हिन्दू-मुस्लिम समझौते के मसविदे को, जनता और कमिटियों के विचार के साथ अखिल भारतीय कमिटी के सामने पेश करने का आदेश दिया । खादी-प्रचार के लिए खद्दर-बोर्ड का भी संगठन किया । उत्साह बहुत था । ऐसा मालूम होता था कि जनता में फिर जान आ गई । ठीक कांग्रेस के समय ही श्री कृष्णप्रकाश सेन सिंह की दुःखद मृत्यु हो गई । हममें से एक होनहार त्यागी कार्यकर्त्ता चला गया !

: ५४ :

हाइकोर्ट में बरमा का मुकदमा

मैं पटना में ठहर गया था। १६२४ ई० की दूसरी जनवरी से बाबू हरिजीवाला मुकदमा, अपील में, हाइकोर्ट में खुलनेवाला था। मैं अस्वस्थ रहकर भी उसके लिए तैयारी करता रहा। उसमें मुझे काम करना था। जनवरी के आरम्भ से मई के अन्त तक उसकी पेशी रही। मेरा प्रायः सारा समय उसी में लगता रहा। हाइकार्ट में हम लोगों की ओर से श्री हसन इमाम और मिस्टर मानुक ने बहस की। डुमरांव के महाराजा की ओर से सर आशुतोष मुकर्जी की। वह हाइकोर्ट की जजी से पेन्शन पाकर हाल ही निकले थे। मुझे बहुत परिश्रम करना पड़ा। सवेरे ही स्नानादि से निवृत्त होकर श्री हसन इमाम साहब के पास सात बजे पहुंच जाता था। जबतक वह कचहरी जाने को तैयार होने के लिए उठ न जाते तबतक उनके साथ काम करता। फिर कचहरी में दिन-भर काम करता। सन्ध्या को फिर उनके साथ ! शनिवार, रविवार को खास करके, और कभी-कभी दूसरे दिन भी, अकेले लाइब्रेरी में काम करता। कानूनी नजीर खोजकर निकालने का काम मुझे ही सौंपा गया था। यही काम मैंने आरा में भी किया था और यहां भी किया। एक विषय पर आरा में कोई नजीर नहीं मिली थी। यह बहुत जरूरी विषय था। सोचने से मालूम होता था कि इस प्रकार के मुकदमे जरूर आये होंगे और हमारे पक्ष की नजीर जरूर मिलनी चाहिए। पर आरा में पटने के समान पुस्तकों की विशेष सुविधा नहीं थी। इसलिए वहां यह नजीर नहीं मिली। पटने में श्री हसन इमाम की लाइब्रेरी बहुत अच्छी थी। मैंने उस प्रकार की नजीर खोजने में बहुत समय लगाया। अन्त में मैं सफल हुआ। एक नजीर मिल जाने पर उसके पहले और पीछे की अनेक नजीरें मिल गईं। मैंने जब श्री हसन इमाम को दिखलाया तो वह इतने खुश हुए कि मेरे साथ वह श्री मानुक के घर गये और उनको भी तुरन्त वह नजीर दिखलाई। दोनों को पूरा विश्वास हो गया कि उस विषय पर वे जरूर जीतेंगे। ऐसा ही हुआ भी।

इस मुकदमे की सुनवाई के बीच में ही सर आशुतोष की असामयिक मृत्यु पटने में ही हो गई। वह अपनी बहस खतम कर चुके थे। जजों के लिए जब वह कुछ

नोट तैयार कर रहे थे, एक ही दिन की बीमारी में अचानक चल बसे। मृत्यु के समय मैं उनके पास ही था। पटने में कई महीनों तक प्रतिदिन उनसे भेंट होना भी मेरे लिए बड़ी बात थी। कलकत्ते में तो वह जज थे और मैं एक नया वकील। पटने में दोनों एक ही मुकदमे में काम करते थे--यद्यपि दो भिन्न पक्षों में, तो भी सवेरे, दोपहर और इजलास उठने के बाद प्रायः रोज ही दो-चार बातें आपस में हो ही जाया करती थीं। एक छोटी-सी घटना बता देना बुरा न होगा। श्री हसन इमाम उनको गुरूजी कहा करते थे। जब श्री हसन इमाम हलकत्ता-हाइकोर्ट के जज हुए थे तब सर आशुतोष उनसे सीनियर थे। शायद वहीं रिश्ता कायम हुआ था। अपनी बहाली के थोड़े ही दिन बाद श्री हसन इमाम फौजदारी बैंच पर बैठे, जहां के सीनियर जज से, एक के बाद दूसरे, तीन मुकदमों में उनका मतभेद हो गया। तीनों मुकदमें सर आशुतोष के पास, तीसरे जज की हैसियत से, भेजे गये। तीनों में उन्होंने श्री हसन इमाम के फैसले का ही समर्थन किया था। इससे कलकत्ता-हाइकोर्ट में जल्द ही श्री हसन इमाम का बड़ा नाम हो गया था। श्री हसन इमाम ने पटने में उनको एक दिन चाय पीने के लिए निमन्त्रित किया। हाइकोर्ट में ही उन्होंने कहा--गुरूजी, मेरे यहां आप चाय पीयेंगे ? सर आशुतोष ने कहा--मैं कट्टर सनातनी (**Orthodox**) जरूर हूं और आजतक इसी कारण कभी गवर्नमेण्ट-हाउस में चाय नहीं पी है; पर इसका अर्थ यह नहीं है कि हसन इमाम के घर में भी चाय न पीऊं। चाय-पार्टी में हम सब बुलाये गये और शरीक हुए।

: ५५ :

बेतिया का मीना-बाजार

महात्मा गांधी यरवदा-जेल में थे। वहां वह बहुत बीमार पड़ गये। 'एपिंडिसाइटिस' का प्रकोप ऐसा हो गया कि एक दिन डाक्टरों का विचार हुआ--यदि तुरन्त चीरा नहीं लगाया जायगा तो इनकी जान नहीं बचेगी। यह निश्चय रात के समय हुआ। पूना के अस्पताल में वह ले जाये गये। वहां के अंगरेज डाक्टर कर्नल मैडौक को चीरा लगाना पड़ा। महात्माजी से पूछा गया था कि आपके डाक्टर कौन हैं। उन्होंने बम्बई के डाक्टर दलाल और डाक्टर जीवराज मेहता के नाम बताये थे। पर अब इतना समय नहीं था कि वे बुलाये जा सकते। गांधीजी ने भी साफ-साफ कह दिया कि उनको उस अंगरेज डाक्टर पर पूरा विश्वास और भरोसा है--वह निश्चिन्त होकर जो मुनासिब समझें करें। उस समय श्री श्रीनिवास शास्त्री अस्पताल में बुला लिये गये थे। वह तबतक वहां ठहरे रहे, जबतक नश्तर का काम समाप्त न हुआ। आधी रात के समय नश्तर लगाया गया। इसमें वह अंगरेज डाक्टर बहुत कामयाब रहा। एक छोटी दुर्घटना ठीक नश्तर लगते समय हो गई। ठीक उसी समय, जब छुरी चल रही थी, बिजली की बत्ती अचानक बुझ गई। खैरियत हुई कि वह शीघ्र ही फिर बल गई, नश्तर के काम में कोई बड़ी बाधा न पहुंची।

मैं उन दिनों बरमा के मुकदमे में पटना-हाइकोर्ट में काम कर रहा था। अखबारों में बीमारी और नश्तर लगाये जाने की खबर छपी। पढ़कर सारे देश में चिन्ता व्याप गई। मैंने तीन-चार दिन की छुट्टी ली। सीधा पूना चला गया। अभी महात्माजी अस्पताल में ही थे और बहुत कमजोर थे। मैंने जाकर उसी हालत में उनके दर्शन किये। हालचाल जानकर पटना वापस चला गया। अभी महात्माजी अस्पताल में ही थे और बहुत कमजोर थे। मैंने जाकर उसी हालत में उनके दर्शन किये। हालचाल जानकर पटना वापस चला आया। उस समय यह मालूम हो गया था कि अब जान का कोई खतरा नहीं है; पर कमजोरी इतनी ज्यादा थी कि कुछ दिनों तक अच्छी तरह आराम करना ज़रूरी था। मेरे पटने लौटने के बाद शीघ्र ही खबर मिली कि गवर्नमेण्ट ने महात्माजी को छोड़ दिया। खबर पहुंचते ही पटने में एक सभा

हुई, जिसमें मैंने भी भाषण किया। गांधीजी से जो मेरी बातें पूना-अस्तपाल में हुई थीं, उन्हें सभा को बताया। सारांश यह था कि महात्माजी बीमारी के कारण रिहाई से प्रसन्न न होंगे। यह तो देश के लिए भी शर्म की बात है कि हम अपनी शक्ति से नहीं, पर गवर्नमेण्ट की दया से उनको छुड़ा सके। रिहाई के बाद अपने वक्तव्य में गांधीजी ने यही कहा भी था।

कुछ दिनों तक अस्पताल में रहकर, अच्छे होने पर, महात्माजी बाहर निकले। निश्चय हुआ कि आराम करने के लिए वह समुद्र के किनारे बम्बाई के पास जुहू में जाकर कुछ दिनों तक ठहरें। इसी निश्चय के अनुसार वह वहां जाकर कुछ दिनों तक ठहरे रहे।

इसी समय एक घटना बेतिया (चम्पारन) में हुई, जिसका जिक्र यहां आवश्यक जान पड़ता है। बेतिया राज बहुत दिनों से कोर्ट ऑव वार्ड्स के अधीन है। उन दिनों उसके मैनेजर मिस्टर रूथरफोर्ड थे। वह पहले नीलवर थे। गवर्नमेण्ट की नीति उन दिनों में अक्सर यही होती कि जहां-कहीं कोई जमींदारी कोर्ट के कब्जे में आती और मैनेजर की जरूरत होती, उसके लिए कोई-न-कोई नीलवर ही मुकर्रर किया जाता। इसी नीति के अनुसार मिस्टर रूथरफोर्ड की नियुक्ति कई साल पहले हुई थी। उनके पहले भी उस राज के लिए जो मैनेजर नियुक्त किये गये थे, नीलवरों में से ही थे। अस्तु, १९२२ में, बेतिया-म्युनिसिपैलिटी के मेम्बरों का चुनाव हुआ। उसमें कुछ कांग्रेसी लोग भी चुने गये। चेयरमैन और वाइस-चेयरमैन के चुनाव के लिए उम्मीदवार खड़े हुए। उनमें चेयरमैनी के लिए वहां के स्वयं मिस्टर रूथरफोर्ड खड़े हुए। उनके साथ वाइस-चेयरमैनी के लिए वहां के सब-रजिस्ट्रार खड़े किये गये। कांग्रेस की ओर से श्री विपिनबिहारी वर्मा और श्री प्रजापति मिश्र खड़े हुए। राज के लिए, विशेषकर मिस्टर रूथरफोर्ड के लिए, किसी का उनके मुकाबले में खड़ा होना ही बहुत बुरी बात थी। उनको हराकर कांग्रेसी चेयरमैन और वाइस-चेयरमैन का चुना जाना तो असह्य था। फिर १९२४ में नया चुनाव हुआ। इस बार कांग्रेसी मेम्बरों का बड़ा बहुमत हो गया। इसलिए राज की ओर से कोई चेयरमैनी के लिए नहीं खड़ा किया गया। वही श्री विपिनविहारी वर्मा और पं० प्रजापति मिश्र मिस्टर रूथरफोर्ड की हार को भूले नहीं थे। इस बात की अफवाह अक्सर उठा करती थी कि राज की ओर से कुछ-न-कुछ करके दिखाया जायगा।

महात्माजी की बीमारी के कारण देश-भर में खलबली थी। मौलाना मुहम्मदअली ने कांग्रेस के अध्यक्ष की हैसियत से आदेश दिया कि देश में सब जगह सभाएं करके महात्माजी के आरोग्य-लाभ के लिए ईश्वर से प्रार्थना की जाय। बेतिया में भी सभा होनेवाली थी। वहां राज की ओर से एक मीना-बाजार बसाया गया है, जिसमें शहर के व्यापारी अपनी-अपनी दुकानें भाड़े पर रखते हैं। उस दिन पं० प्रजापति मिश्र और एक दूसरे कांग्रेसी बाबू जयनारायण बाजारवालों को प्रार्थना-सभा में जाने के लिए कहने गये। राज के एक कर्मचारी ने बाबू जयनारायण को दो चपत लगाकर दोनों को बाजार से बाहर निकाल दिया। दुकानदारों में बड़ी सनसनी फैली। यदि मिश्रजी लोगों को न रोकते तो झगड़ा बढ़ जाता। इसके बाद सभा हुई और बाजार के लोग काफी संख्या में उसमें शरीक हुए। इतना ही नहीं, दुकानदारों ने निश्चय किया कि वे मीना-बाजार से अपनी दुकानें उठा लेंगे और म्युनिसिपैलिटी से जमीन मांगकर अन्यत्र कहीं दुकानें लगायेंगे। दूसरे दिन से बाजार खाली होने लगा। एक तरफ कुछ हटकर दुकानें लग गईं। दो-चार दिनों में ही एक नया बाजार बस गया। मीना-बाजार प्रायः खाली हो गया। इससे राज को और भी धक्का लगा। अब खबर उड़ने लगी कि कांग्रेसवाले पीटे जायंगे; पर कांग्रेसियों ने इस तरह की खबरों की परवा नहीं की।

एक दिन संध्या को पं० प्रजापति मिश्र एक टमटम पर कहीं जा रहे थे। किसी ने उनके सिर पर बड़े जोर से लाठी मारी। वह बेहोश हो गये। वह आदमी मैनेजर की कोठी की ओर भाग गया। सुना गया कि उसको लेकर राज-कर्मचारी मजिस्ट्रेट के पास भी गये और कुछ कार्रवाई करके उसे वहां से हटा दिया। इससे सारे शहर के लोगों में रोष छा गया। मेरे पास तार आया। मैं तुरन्त वहां गया। सब बातों की जानकारी प्राप्त की। मीना-बाजार में, इस मार के पहले, कुछ बड़ी-बड़ी दुकानें रह गई थीं। अब वे दुकानदार भी निकल आये। एक सुन्दर बाजार बस गया। म्युनिसिपैलिटी की आमदनी बढ़ने की तो आशा हो गई, पर राज को प्रायः पचास हजार सालाना घाटे की आशंका हुई। पं० प्रजापति मिश्र ने बहुत ही हिम्मत और शान्ति से काम लिया। उन्होंने खाट पर पड़े-पड़े ही लोगों को शान्त रहने का सन्देश भेजा। उस हमला करनेवाले पर किसी प्रकार की कार्रवाई न करने का भी निश्चय किया। मालूम हो गया कि यह सब राज के उच्च्व कर्मचारियों के इशारे पर ही हुआ

है । कांग्रेस के प्रति जनता की श्रद्धा का परिचय मिला । जो छोटे-बड़े दुकानदार मीना-बाजार के पक्के मकानों में दुकान रखते थे, वे सब-के-सब खुले मैदान में अथवा टाट के झप्पर के नीचे दुकानें उठा लाये । नये बाजार में मिट्टी के बर्तनों की दूकान से लेकर सोने-चांदी की दुकानें तक उसी तरह आ गई । इसका डर था कि इस तरह के बाजार में चोरी-डकैती न हो जाय । पुलिस से मदद की आशा थी नहीं । इसलिए बाजार की हिफाजत के लिए शहर में स्वयंसेवक-दल कायम हो गया । वह दिन-रात पहरा देता । लोगों में बड़ा उत्साह था । यह झगड़ा बहुत दिनों तक चलता रहा । बहुत दिनों के बाद, यद्यपि मीना-बाजार में दुकानें खुल गई तथापि नया बाजार भी रह ही गया ।

इस घटना की खबर पाकर मैं अखबारों में छपवाया था । उसमें सब बातें लौटने के बाद एक बयान मैंने अखबारों में छपवाया था । उसमें सब बातें खोल करके कह दी थीं । कुछ दिनों के बाद बेतिया में बिहार-प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी की बैठक हुई । प्रान्तीय कमिटी के सभापति मौलाना मजहरूल हक साहब और दूसरे नेता लोग भी पधारे थे । वहांपर निश्चय किया गया कि बेतिया की हालत यदि न सुधरी--और जैसी अफवाह फैल रही थी कि दूसरे कांग्रेसी लोग भी, जिनमें विपिनबाबू मुख्य थे, पं० प्रजापति मिश्र की तरह लाठियों के शिकार बनाये गये । तो प्रान्तीय कमिटी को मजबूर होकर बेतिया के रैयतों से लगान देना बन्द करने को कहना पड़गा और इसके लिए जो बलिदान करना पड़ेगा उसके लिए जनता को तैयार होना होगा । एक सार्वजनिक सभा हुई, जिसमें यह निश्चय घोषित कर दिया गया । बिहार-कौंसिल में भी यह प्रश्न छिड़ा । उस समय स्वराजी लोगों ने बहुत जोरदार बहस की । जलेश्वरबाबू उनके नेता थे । उन्होंने खुद इस मामले की जांच की थी । स्वयं हमला करनेवाले ने ही उन्हें सारी सच्ची बातें बतला दी थीं । उसी के आधार पर उन्होंने सारी बातें खोलकर कौंसिल में कह-सुनाई ।

: ५६ :

जुहू की बातचीत और उसके बाद

महात्माजी आराम तो कर रहे थे, पर काम भी कर रहे थे। ज्योंही वह इस योग्य हुए कि कुछ बातचीत कर सकें, लोग उनसे मिलने के लिए वहां पहुंचने लगे। उनकी गैरहाजिरी में जो कुछ हुआ था विशेषकर देशबन्धु दास और पंडित मोतीलाल नेहरू भी वहां गये और कुछ दिनों तक ठहरे। वहां इस सम्बन्ध की बातें हुईं और इसका प्रयत्न किया गया कि आपस के समझौते का कोई रास्ता निकले। कौंसिलों में स्वराज्य-पार्टी की ओर से कुछ कांग्रेसी लोग जा चुके थे। इसलिए इस प्रश्न का उतना महत्त्व अब नहीं था जितना गया और दिल्ली की कांग्रेस के समय में था। पर यह जानकर मुझ-जैसे लोगों को सन्तोष हुआ कि गांधीजी ने हमारी कौंसिल-निषेध-सम्बन्धी कार्रवाई को पसन्द किया। सन्तोष हुआ कि गांधीजी यदि बाहर होते तो वह इस विषय में इतनी जिद्द न करते, कोई-न-कोई समझौता कर लेते। पर वह उसके विरोधी अब भी उतनी ही सख्ती के साथ थे, जितनी दृढ़ता से उस समय थे जब उन्होंने इस कार्यक्रम को देश के सामने रखा था।

जुहू में बातचीत के बाद गांधीजी ने एक वक्तव्य निकाला, जिसमें उन्होंने साफ कहा कि वह अब भी पंच-बहिष्कारों के पक्ष में हैं और उनकी राय में कौंसिलों में जाना असहयोग की नीति के विरूद्ध है; पर वह इस राय में देशबन्धु दास, पं० मोतीलाल नेहरू तथा स्वराज्य-दल के दूसरे लोगों को न ला सके--वे लोग कौंसिलों में चले भी गये हैं; इसलिए अब इस सम्बन्ध के वाद-विवाद से कोई लाभ नहीं है; जो अपरिवर्तवादी हैं वे इस बहस को छोड़कर रचनात्मक काम में लग जायं। उन्होंने यह भी कहा कि कांग्रेस के संगठन के सम्बन्ध में उनके बहुत सख्त विचार हैं, जिनको वह पीछे लिखेंगे। उस समय देश में हिन्दू-मुस्लिम झगड़े बहुत हो रहे थे और वैमनस्य बहुत फैल रहा था। इसका भी बहुत विशद विश्लेषण उन्होंने एक लम्बे लेख में किया। इसी लेख में उन्होंने आर्यसमाज की टीका की थी, जिससे बहुत लोग क्षुब्ध हुए थे। इसी में उन्होंने यह भी कहा था कि मुसलमान कलहप्रिय (**bully**) होते हैं और हिन्दू डरपोक (**coward**)। कांग्रेस के संगठन के सम्बन्ध में उन्होंने यह मत

जाहिर किया कि कांग्रेस के सभी चुने हुए स्थानों में ऐसे लोगों को चुना जाना चाहिए, जो पांचों बहिष्कारों को सिद्धान्ततः मानते हैं और स्वयं अपने जीवन में उनपर अमल करते हैं--अर्थात् कचहरियों का बहिष्कार करके न तो उनको मुकदमे लड़ने चाहिए और न वकालत करनी चाहिए, अपने नाबालिग बच्चों को सरकार से सम्बद्ध स्कूलों में नहीं भेजना चाहिए, सरकारी खिताव नहीं रखना चाहिए, कौंसिलों में नहीं जाना चाहिए, विदेशी-वस्त्र-बहिष्कार के लिए खादी ही पहनना और चर्खा चलाना चाहिए।

उन्हीं दिनों, कलकत्ते में, 'डे' नामक एक अंग्रेज को, एक युवक श्रीगोपीनाथ साहा ने, आम रास्ते पर, दिन-दहाड़े पिस्तौल से मार डाला था। वह पकड़े भी गये थे और उनको फांसी की सजा हुई थी। बंगाल प्रान्तीय राजनैतिक कांफ्रेंस में, जो उस साल सिराजगंज में हुई थी, इस सम्बन्ध का एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था, जिसमें उनकी देशभक्ति की सराहना की गई थी--यद्यपि उनके इस काम को बुरा कहा गया था। महात्माजी को यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था, जिसमें उनकी देशभक्ति की सराहना की गई थी--यद्यपि उनके इस काम को बुरा कहा गया था। महात्माजी को यह प्रस्ताव अच्छा नहीं लगा था, क्योंकि उनका विचार था कि इस प्रकार की हत्या कांग्रेस के सिद्धान्त के बिलकुल विरूद्ध है, इससे देश की बड़ी हानि होती है और स्वराज्य के रास्ते में रोड़े पड़ते हैं। उन्होंने इस प्रस्ताव पर कड़ी टिप्पणी की। कांग्रेस के संगठन को दुरूस्त करने के लिए उन्होंने कई प्रस्तावों को अखिल भारतीय कमिटी के सामने रखने की इच्छा प्रकट की और 'डे' की हत्या के सम्बन्ध में भी एक प्रस्ताव पेश करने की बात लिखी। प्रस्तावों के मसविदे भी उन्होंने छाप दिये। उनका आशय यह था कि कांग्रेस के चुने हुए सदस्यों को सब बहिष्कारों को मानना चाहिए। इसका नतीजा यह होता था कि जो लोग कौंसिलों में गये हैं, उनको नहीं चुनना चाहिए अथवा जो चुने गये हैं, उनको हट जाना चाहिए। इसी तरह ऐसे चुने हुए सब लोगों के लिए कम-से-कम आधा घंटा प्रतिदिन चर्खा चलाना और प्रतिमास दो हजार गज सूत खद्दर-बोर्ड को देना अनिवार्य कर देना चाहिए। जो सूत न दें, उनकी जगहें खाली समझी जानी चाहिए और उनके रिक्त स्थान पर दूसरों को चुनना चाहिए। इसका नतीजा यह हुआ कि आपस के झगड़े मिटा देने की जो आशा पहले के वक्तव्य से हुई थी, वह बिलकुल जाती रही। सारे देश में इन प्रस्तावों और विचारों से सम्बन्ध में बहुत जोरों से वाद-विवाद होने लगा। समाचारपत्रों ने पक्ष और विपक्ष में

लेख लिखना शुरू किया। आर्यसमाज की शाखाओं की ओर से उस लेख की निन्दा की जाने लगी, जिसमें कुछ टीका की गई थी। गांधीजी ने अपने विचारों को, जैसा वह हमेशा करते आये हैं, बहुत संयत भाषा में--पर दृढ़तापूर्वक--देश के सामने रखा।

जून के अन्तिम सप्ताह में, अहमदाबाद में, अखिल भारतीय कमिटी की बैठक हुई। वहां उन प्रस्तावों का, जिनमें बहिष्कारों को न करने और चर्खा न चलाने के कारण पदाधिकारी बनने से लोगों को रोकने की बात थी, इस बुनियाद पर विरोध होने लगा कि वे प्रस्ताव कांग्रेस के नियम के विरूद्ध है; क्योंकि कांग्रेस की नियमावली कांग्रेस द्वारा बनाई गई है और उसमें हेरफेर करने का अधिकार कांग्रेस को ही है, अखिल भारतीय कमिटी को नहीं और इन प्रस्तावों का नतीजा उन नियमों में परिवर्तन करना होता है। महात्माजी का कहना था कि कांग्रेस का एक नियम होता है कि जब कांग्रेस का अधिवेशन न हो रहा हो तो उसके सारे अधिकार अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी को प्राप्त होते हैं और यदि इन प्रस्तावों द्वारा नियमावली का संशोधन होता हो तो भी वह अनियमित न होगा--विशेषकर उस समय जब इन प्रस्तावों का असर कांग्रेस के बहिष्कार-सम्बन्धी निश्चयों को कार्यान्वित करना ही होता है। मौलाना मुहम्मदअली सभापतित्व कर रहे थे। उन्होंने यह पूछे जाने पर कि ये प्रस्ताव नियम के प्रतिकूल हैं या नहीं, अपनी राय न देकर सदस्यों की राय ली, तो मालूम हुआ कि बहुमत इनको विधान के अनुकूल मानता था--यद्यपि बहुमत और अल्पमत में थोड़े ही मतों का अन्तर था। इसपर देशबन्धु दास, पंडित मोतीलाल प्रभृति अपनी नाराजी जाहिर करने के लिए सभा छोड़कर चले गये। महात्माजी ने उनके चले जाने पर भी एक प्रस्ताव उपस्थित किया, जो थोड़े बहुमत से स्वीकृत हुआ। इसपर महात्माजी ने तुरन्त एक दूसरा प्रस्ताव भी उपस्थित कर दिया कि इस स्वीकृत प्रस्ताव का वह अंश हटा दिया जाय, जिसमें बहिष्कार न मानने का दण्ड पदों से वंचित रहना बताया गया था। उन्होंने कहा कि उपस्थित लोगों का बहुमत यद्यपि प्रस्ताव के पक्ष में था तो भी वह बहुमत सचमुच बहुमत नहीं था; क्योंकि गैरहाजिर लोग यदि मत देते तो उनका बहुमत हो जाता, और इसके अलावा, यदि प्रस्ताव के पक्ष में बहुमत रह भी जाता तो भी वह इतना कम होता कि वह नहीं के बराबर होता। इस तरह स्वीकृत प्रस्ताव बदल दिया गया और स्वराज्य-दल के लोगों को फिर मौका मिला कि वे वापस जायं।

उसी रात को महात्माजी और उन लोगों के बीच फिर बातचीत हुई, जिसके फलस्वरूप कांग्रेस के संगठन-सम्बन्धी प्रस्तावों का रूप ऐसा बना दिया गया कि दोनों दलों को स्वीकृत हो जाय। दूसरे दिन वे सभी प्रस्ताव इसी समझौते के रूप में पास हुए। 'डे'-हत्या-सम्बन्धी प्रस्ताव महात्माजी ने उपस्थित किया। देशबन्धु दास ने सिराजगंज के प्रस्ताव को ही संशोधन के रूप में पेश किया। अन्त में महात्माजी का ही प्रस्ताव मंजूर हो गया; पर इसमें भी जो बहुमत मिला, वह बहुत थोड़े लोगों का था। इसका एक विशेष कारण यह था कि सिराजगंज के प्रस्ताव पर अंगरेजों और अंगरेजी पत्रों ने बहुत हो-हल्ला मचाया था। यह बात भी खुलेआम ही सुनी जाती थी कि उसके लिए देशबन्धु दास तथा दूसरे लोग गिरफ्तार किये जायेंगे। देशबन्धु ने उसे संशोधन के रूप में उपस्थित करने का कारण भी यही बताया कि वह यदि ऐसा न करें तो लोग समझेंगे कि उन्होंने गिरफ्तारी के भय से सिराजगंज के प्रस्ताव को छोड़ दिया। अब, कांग्रेस के संगठन-सम्बन्धी प्रस्तावों का नतीजा यह हुआ कि एक तरफ तो बहिष्कारों को कुछ सख्त बना दिया गया और दूसरी तरफ कौंसिल-बहिष्कार को और भी ढीला कर दिया गया।

महात्माजी से कुछ लोगों ने कहा था कि कचहरियों के बहिष्कार से नफा उठाकर कुछ बेईमान लोगों ने कांग्रेसियों ने प्रति भारी जुल्म किया है; क्योंकि कांग्रेसी लोग कचहरियों में न अपना दावा पेश कर सकते थे और न अपने ऊपर किये गये दावे का अपने बयान के सिवा दूसरा कोई उत्तर दे सकते थे। इसलिए उन लोगों का विचार था कि इस सम्बन्ध में ऐसे कांग्रेसियों के दावे को सुरक्षित बनाने का कोई उपाय करना चाहिए। महात्माजी इसके सम्बन्ध में राजी भी हुए थे कि ऐसे लोगों को अदालतों में अपना बचाव करने की छूट दी जाय। विशेषकर श्री गंगाधरराव देशपांडे की बात पेश की थी, जो वर्किंग कमिटी के सदस्य थे। ऐसे लोगों को छूट देने के सम्बन्ध में महात्माजी ने एक प्रस्ताव उपस्थित किया। इसपर डाक्टर चोइथराम गिडवानी ने प्रश्न कर दिया कि यह प्रस्ताव क्या नियम के प्रतिकूल नहीं है? मौलाना मुहम्मदअली ने महात्माजी की राय पूछी। महात्माजी ने भी कहा कि बहिष्कार-सम्बन्धी प्रस्तावों के प्रतिकूल अवश्य है। इसपर मौलानासाहब ने उसे नियम-विरूद्ध करार दिया। सभा की कार्रवाई समाप्त हुई। पर जो कुछ उस सभा में हुआ था, उससे महात्माजी के दिल पर गहरी चोट लगी थी। उन्होंने एक बहुत ही मार्मिक भाषण किया। बोलते-बोलते वह एकाएक रूक गये। सभा में स्तब्धता छा

गई। गांधीजी की आंखों से अनवरत आंसू बहने लगे। कुछ देर में उन्होंने अपने को संभालकर अपना कथन समाप्त किया। बड़ी उदासी और निराशा का वायुमण्डल छा गया। उपस्थित सदस्यों ने अपने भाषणों द्वारा महात्माजी को सान्त्वना दी। उन्हें विश्वास भी दिलाया कि वे उनके पीछे-पीछे चलने को तैयार हैं। बहुतेरे तो खुलेआम महात्माजी के साथ और उनके बाद भी रोते रहे। इसी उदासी की अवस्था में सभा समाप्त हुई।

महात्माजी ने इस बैठक के सम्बन्ध में बहुत ही मर्मभेदी लेख लिखे। बहुमत होने पर भी महात्माजी ने जो अपने प्रस्ताव को बदलवा डाला था, देश के पत्रों ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। यह सब होते हुए भी ऐसा जान पड़ता था कि कांग्रेस में मतभेद अधिक स्थायी और विकट हो जायगा। यह कोई नई बात नहीं थी; क्योंकि इसका कुछ पता तो चौरीचौरा-काण्ड के बाद ही लग गया था--जब प्रायः सभी नेताओं ने जेल से ही गांधीजी के सत्याग्रह स्थगित कर देने का बहुत विरोध किया था। उसी का प्रदर्शन 'डे'-हत्या-काण्ड-सम्बन्धी प्रस्ताव में भी हुआ। सरकार तो हमेशा ही ऐसी चीजों की टोह में रहा करती है। उसने आपस की इस फूट से नफा उठाना चाहा। कुछ दिनों के बाद बंगाल के बहुतेरे भाई, जिनमें श्री सुभाषचन्द्र बोस भी थे, गिरफ्तार कर नजरबन्द कर दिये गये। गांधीजी अपनी ओर से झगड़ा सुलझाने के प्रयत्न में बराबर लगे हुए थे। इस घटना के बाद उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब किसी-न-किसी तरह से इसको सुलझाना चाहिए। उन्होंने अहमदाबाद में ही कहा था कि यद्यपि मुझे बहुमत मिल गया है तथापि मैं इसे अपनी हार समझता हूं--दोनों पक्षों के वोटों में इतना कम अन्तर कोई चीज नहीं है और मैं मानता हूं कि मैं हार गया। उसी समय से वह रास्ता ढूंढ़ने में लग गये। वह केवल स्वराज्य-पार्टी के साथ समझौता करना नहीं चाहते थे, बल्कि उनकी इच्छा थी कि दूसरे विचार के लोग भी-जो असहयोग-आन्दोलन के कारण कांग्रेस से अलग हो गये थे, फिर कांग्रेस में आ जायं।

डाक्टर एनी बेसेण्ट उन दिनों स्वराज्य का मसविदा तैयार करके ब्रिटिश पार्लामेण्ट के सामने पेश करने की फिक्र में थीं। ठीक इसी समय मजदूर-दल के लोग इंगलैंड की पार्लामेण्ट में बहुमत पाकर मंत्रिमंडल बना पाये थे। श्री रैमसे मैकडोनल्ड प्रधान मंत्री हुए थे। आशा की जाती थी कि कर्नल वेजउड, जो हिन्दुस्तान के हिमायती

समझे जाते थे, भारत मंत्री होंगे । पर हिन्दुस्तान के अंगरेजों--विशेषकर सिविल-सर्विसवालों--के विरोध के कारण वह भारत-मंत्री नहीं बनाये गये । लार्ड ओलीवियर भारत-मंत्री हुए । तो भी कुछ लोग मजदूर-दल के मंत्रिमंडल से आशा रखते थे कि वह भारत को कुछ राजनैतिक अधिकार दे सकेगा । देश की परिस्थिति देखकर, विशेषकर हिन्दू-मुस्लिम दंगों को ध्यान में रखते हुए और कांग्रेस के अन्दर तथा देश में आपस के मतभेद के कारण बढ़ते हुए वैमनस्य को दूर करने की प्रबल आवश्यकता को महसूस करके, गांधीजी ने यह राय जाहिर की कि कांग्रेस को चाहिए कि असहयोग को स्थगित कर दे, ताकि सब लोगों को उसमें आने का मौका मिल जाय ।

महात्माजी के प्रस्ताव निम्नलिखित थे--(१) कांग्रेस विदेशी-वस्त्र-बहिष्कार को छोड़कर अन्यान्य बहिष्कारों को स्थगित कर दे; (२) कांग्रेस वस्त्र के सिवा अन्य ब्रिटिश मालों का बहिष्कार छोड़ दे; (३) कांग्रेस खद्दर और चर्खे का प्रचार, हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा हिन्दुओं में अस्पृश्यता-निवारण का ही काम करे; (४) कांग्रेस मौजूदा राष्ट्रीय विद्यालयों को चलावे और आवश्यकतानुसार नये भी खोले; (५) चार आने की कांग्रेस मेम्बरी उठा दी जाय और उसके स्थान पर ऐसा नियम कर दिया जाय कि कांग्रेस का वही मेम्बर हो सके, जो कम-से-कम आधा घंटा रोज चर्खा चलावे और दो हजार गज अपने हाथ का कता सूत हर महीने कांग्रेस को दिया करे तथा इसके लिए गरीबी के कारण जो रूई न खरीद सकता हो उसे कांग्रेस की ओर से रूई दी जाय । इसका नतीजा यह होता था कि (१) कांग्रेस अथवा अपरिवर्तनवादियों की ओर से स्वराजियों क विरोध न किया जाय और उनको अपना संगठन करने का पूरा मौका दिया जाय; (२) दूसरे दलों के लोग कांग्रेस में शरीक होने के लिए आमंत्रित किये जायं; (३) अपरिवर्तनवादी लोग कौंसिल-प्रवेश के विरोध में परोक्ष या अपरोक्ष रीति से आन्दोलन करना छोड़ दें; (४) जो लोग बहिष्कारों में विश्वास नहीं रखते, उनको इस बात की स्वतंत्रता दे दी जाय कि वे चाहें तो बहिष्कार छोड़ दें--अर्थात् वकील यदि चाहें तो वकालत करें और बहिष्कारों को न माननेवाले भी कांग्रेस में शरीक हो सकें तथा पदाधिकारी भी बन सकें ।

महात्माजी के इन प्रस्तावों पर सब लोग विचार करने लगे । श्रीमती एनी बेसेण्ट ने तो इनको एक प्रकार से मंजूर कर लिया । उनको कांग्रेस में शरीक होने का रास्ता खुलता दिखाई पड़ने लगा ।

: ५७ :

गांधीजी का इक्कीस दिन का उपवास व एकता-सम्मेलन

यह चर्चा एक ओर चल रही थी और दूसरी ओर सारे देश में जहां-तहां हिन्दू-मुस्लिम दंगे हो रहे थे। बिहार में भी भागलपुर में दंगा हो गया। वहां मुझे, दूसरे भाइयों के साथ, जाना पड़ा। कई दिनों तक वहां रहकर आपस के मेल-मिलाप के प्रयत्न में लगा रहना पड़ा। और-और जगहों में भी दंगे हुए। इन बातों का असर गांधीजी के दिल पर बहुत हुआ। दिल्ली में भारी दंगा हो गया। वहां गांधीजी स्वयं गये। वह कई दिनों तक वहां ठहरकर फिर किसी और काम से बम्बई की तरफ वापस गये। निजाम-राज्य के गुलबर्गा में भी भारी फसाद हो गया। गांधीजी फिर दिल्ली गये। ठीक उसी समय सीमा-प्रान्त के कोहाट नगर में बड़ा भारी दंगा हुआ। बहुतेरे लोग वहां मारे गये। बहुत-सा माल लूटा गया। बहुतेरे मकान भी जला दिये गये। गांधीजी इन घटनाओं से बहुत चिन्तित और परेशान थे। इन सबसे बहुत ऊबकर उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए इक्कीस दिनों का उपवास करने का निश्चय किया। यह निश्चय उन्होंने दिल्ली में किया, जब वह मौलाना मुहम्मदअली के घर में ठहरे हुए थे। वहीं उपवास का भी आरम्भ कर दिया।

महात्माजी के उपवास की खबर छपते ही सारे देश में बड़ी चिन्ता व्याप गई। हाल ही में वह बड़ी खतरनाक बीमारी से उठे थे। सब लोग, विशेषकर डाक्टर अंसारी--जो उनके स्वास्थ्य से अच्छी तरह परिचित थे--बहुत चिन्तित हो गये। उन्होंने इस निश्चय से गांधीजी को डिगाने का बहुत प्रयत्न किया। अपने प्रेम तथा अपनी डाक्टरी कला, दोनों का प्रयोग किया। पर गांधीजी अपने निश्चय से नहीं डिगे। अन्त में वह इतने सफल हुए कि उन्होंने गांधीजी से वचन ले लिया कि उनकी मृत्यु ही अगर इस उपवास का नतीजा होनेवाला हो, तो उस हालत में वह उपवास तोड़ डालेंगे। उपवास आरम्भ हुआ। खबर पाते ही मैं भी दिल्ली पहुंच गया। गांधीजी, कुछ दिनों के बाद, मौलाना मुहम्मदअली के घर से हटाकर, शहर के बाहर, राय बहादुर सुलतानसिंह के एक बंगले में, ले जाकर ठहराये गये। श्री एंडरूज उनकी सेवा के लिए आ गये। डाक्टर अंसारी तो दिन-रात देख-भाल करते ही रहते।

इधर लोगों पर इसका असर पड़े बिना न रह सका । मौलाना मुहम्मदअली की प्रेरणा से एक सर्व-जाति-सम्मेलन दिल्ली में किया गया । इसमें हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख नेताओं के अतिरिक्त ईसाई नेता भी शरीक हुए । कलकत्ते के लार्ड-बिशप डाक्टर कौस वेस्टकौट भी आये । कई दिनों तक बराबर बहस होती रही । जिन-जिन बातों को लेकर झगड़े हो जाया करते थे, उनके सम्बन्ध में प्रस्ताव स्वीकार किये गये । मुख्य प्रस्ताव इस प्रकार थे--

१. देश में फैले हुए झगड़ों और फसादों पर--जो हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच हो रहे हैं तथा जिनसे जान-माल की बहुत हानि हुई है और मन्दिर भ्रष्ट किये गये हैं--यह सभा दुःख प्रकट करती है और इनको बर्बरता-सूचक और धर्म-विरूद्ध समझती है । इस सभा की राय में किसी का अपने हाथों में बदला लेने और सजा देने का अधिकार ले लेना केवल गैर-कानूनी ही नहीं, अधार्मिक भी है । सभी प्रकार के झगड़ों का निपटारा पंचायत द्वारा किया जाना चाहिए । जहां यह संभव न हो वहां कचहरियों द्वारा तय कराना चाहिए ।

२. उपर्युक्त प्रस्ताव को कार्यान्वित कराने और आपस में रवादारी का बर्ताव कायम रखने के लिए इस सम्मेलन के मत में यह जरूरी है कि हरेक आदमी को पूरा अधिकार रहे कि वह जैसा चाहे अपना विश्वास रखे और उसे प्रकट कर सके तथा दूसरों के भावों का ध्यान रखते हुए और उनके अधिकार पर आघात न करते हुए अपने धार्मिक कामों को अदा कर सके । कोई व्यक्ति या समूह किसी दूसरे धर्म के प्रवर्तक पूज्य पुरूषों को गालियां न दे और सिद्धान्तों की निन्दा न करे । सभी धर्मों के पूजा-स्थान पवित्र और अक्षुण्ण समझे जायंगे । किसी भी हालत में, चाहे कितनी भी उत्तेजना क्यों न दी गई हो, बदला लेने के लिए भी उनपर कभी हमला न किया जाय और न उनको अपवित्र ही किया जाय । यदि कहीं इस तरह का काम हो तो उसकी निन्दा की जाय और सभी लोगों का यह कर्तव्य होगा कि अपनी शक्ति-भर वे इस तरह की कार्रवाई न होने दें ।

३. हिन्दुओं को ऐसी आशा न करनी चाहिए कि मुसलमानों से गो-वध का हक, जबरदस्ती या किसी बोर्ड के प्रस्ताव से या व्यवस्थापिका सभा द्वारा कानून बनवाकर या अदालत के हुक्म से, छुड़वाया जा सकता है । पर मुसलमान उसे अपनी राय से छोड़ सकते हैं । इसलिए उसे उनकी ही सद्बुद्धि पर छोड़ देकर आपस में मेल-जोल

बढ़ाना चाहिए, जिसमें एक-दूसरे के प्रति सद्भाव बढ़े । पर इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई स्थानीय रवाज अथवा दोनों कौमों के बीच कायम हुआ आपस का समझौता बदल दिया जाय और न इसका यही अर्थ है कि, जहां गो-वध नहीं होता है, वहां गो-वध हो सके । जहां वस्तुस्थिति के सम्बन्ध में मतभेद हो वहां उसकी जांच राष्ट्रीय पंचायत करेगी । वध भी इस तरह किया जायगा कि हिन्दुओं को चोट न लगे ।

४. इस सम्मेलन के मुसलमान सदस्य अपने सहधर्मियों से अनुरोध करते हैं कि जहांतक हो सके, गो-वध कम करें । मुसलमानों को ऐसी आशा न करनी चाहिए कि वे मसजिद के नजदीक हिन्दुओं के बाजे को, जोर-जबरदस्ती या बोर्ड के प्रस्ताव से या व्यवस्थापिका सभा द्वारा कानून बनवाकर या अदालत के हुक्म से, रोकवा सकेंगे । वह हिन्दुओं की राय से ही रूक सकता है । हिन्दुओं की सद्बुद्धि पर ही यह छोड़ देना चाहिए कि वे मुसलमानों की भावना का आदर करें । इसका अर्थ यह न समझा जायगा कि जहां-कहीं रवाज हो अथवा आपस का समझौता हो, वह इस प्रस्ताव द्वारा रद्द हो गया और न इसका अर्थ यह है कि जहां किसी मसजिद के सामने बाजा न बजता हो वहां बजने लगेगा । वस्तुस्थिति-सम्बन्धी मतभेद की जांच राष्ट्रीय पंचायत करेगी । इस सम्मेलन के हिन्दू सदस्य हिन्दुओं से अनुरोध करते हैं कि वे मसजिदों के सामने इस तरह बाजा बजावें कि वहां जमायती नमाज से खलल न पड़े ।

५. इस प्रकार के प्रस्ताव आरती और अजान के सम्बन्ध में भी स्वीकृत किये गये।

६. जहां मांस की बिक्री और जानवरों के वध की इजाजत है, वहां वध के तरीके का--झटका या जिबह का--विरोध नहीं किया जायगा ।

७. प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि वह चाहे जिस-किसी धर्म को माने और जब चाहे तब उसे बदल सके । धर्म बदलने के कारण वह दंडनीय नहीं समझा जायगा और न उसको किसी तरह का कष्ट पहुंचाया जायगा ।

८. प्रत्येक व्यक्ति अथवा समूह को अधिकार है कि बहस करके और समझा-बुझाकर दूसरों का धर्म-परिवर्तन करा सके अथवा जो उसके धर्म में से दूसरे धर्म में चला गया हो उसे वापस ला सके । पर जबरदस्ती या धोखा देकर या दूसरे किसी नाजायज तरीके से--जैसे किसी चीज का लालच देकर--कोई किसी का धर्म-परिवर्तन न करावे ।

९. धर्म-परिवर्तन के सम्बन्ध में कोई लुकी-छिपी बात न होनी चाहिए। किसी को यह अधिकार नहीं है कि दूसरे धर्मवाले को अपनी जगह में पूजा-स्थान बनाने से रोके या उसमें बाधा डाले। नया पूजा-स्थान दूसरे धर्म के पूजा-स्थान से कुछ दूर बनाया जाय।

१०.पन्द्रह आदमियों की एक केन्द्रीय राष्ट्रीय पंचायत बनाई जाय और उसको अधिकार दिया जाय कि भिन्न धर्मों के स्थानीय प्रतिनिधियों की राय से वहां के लिए स्थानीय पंचायत कायम करे, जो इस प्रकार के सभी झगड़ों का निपटारा किया करे। पंचायत को अपने नियम बनाने का भी अधिकार होगा। इस पंचायत के सभापति महात्मा गांधी और सदस्य होंगे हकीम अजमल खां, श्री सी० के० नरीमन (पारसी), डाक्टर एस० के० दत्त (ईसाई), मास्टर सुन्दरसिंह लायलपुरी (सिख)। बाकी मेम्बरों को वे ही चुन लेंगे।

इस प्रयत्न से देश का वायुमंडल सुधरता दीख पड़ा। सभी धर्मों के लोग आपस में सद्व्यवहार और भाईचारे का बर्ताव करने का निश्चय करते जान पड़ने लगे। एकता-सम्मेलन का असर भी बहुत अच्छा हुआ। अगर वह स्थायी हो गया होता तो बड़ी बात हो जाती। पर वह स्थायी न हो सका। उस समय की बंधी आशाएं आगे चलकर पूरी न हुईं।

मैं भी बराबर इस सम्मेलन में शरीक होता रहा। हर तरह से मैं उसकी सफलता चाहता था। पर बावजूद अच्छे वायुमंडल और सदिच्छाओं के, मेरे मन में हमेशा शक बना रहा; क्योंकि सारी बातों के पीछे उतनी जबरदस्त एकता की भावना नहीं थी जितनी इस शुभ प्रयत्न के फल को स्थायी बनाने के लिए आवश्यक थी। सभी मतवाले अपने हक और अधिकार पर ही अधिक जोर देते रहे, अपने कर्तव्यों पर उतना जोर नहीं देते थे। मैं तो यही मानता हूं कि इस प्रकार के झगड़े अपने-अपने कर्तव्यों पर ही जोर देने से सुलझ सकते हैं, हकों और अधिकारों पर जोर डालने से नहीं। पर उस समय जो कुछ हुआ, देखने में अच्छा ही लगा; इसलिए यह दिल की बात दिल के अन्दर ही रही।

उधर गांधीजी के उपवास के दिन बीतते चले जाते थे। डाक्टर अंसारी दिन में दो बार उनके पेशाब की जांच करते। एक दिन एक अद्भुत घटना हुई। मैंने डाक्टर अंसारी से ही सुनी। एक दिन पेशाब की जांच करने पर उन्होंने देखा, उसमें

असिटोन की अधिक मात्रा निकली ! यह अच्छा लक्षण नहीं है । यदि इसकी मात्रा बढ़ जाय तो आदमी बेहोश हो जाता है । उसके बाद उस आदमी को बचाना कठिन हो जाता है । इससे वह चिन्तित हुए । उन्होंने महात्माजी से कहा कि अब आप खतरे के निकट पहुंचने लगे हैं और हो सकता है कि इक्कीस दिन पूरे होने के पहले ही आपको अपने वादे के अनुसार उपवास तोड़ना पड़े ।

असिटोन की मात्रा बढ़ती गई । डाक्टर अंसारी ने निश्चय किया कि अब अधिक ठहरना बहुत खतरनाक होगा । उन्होंने यह बात महात्माजी से कही । आग्रह भी किया कि अब उपवास तोड़ना चाहिए । वह डरते थे कि कुछ ही घण्टों के बाद बेहोशी आ सकती है । उन्होंने यह सब कहा और खिलाने पर जिद की । महात्माजी ने कहा कि आपने अपनी विद्या से सब कुछ तो देख लिया है और सब हिसाब लगा लिया है; पर रात-भर मुझे छोड़ दीजिये । इसपर डाक्टरसाहब राजी नहीं होते थे । तब गांधीजी ने कहा कि आपने सबका हिसाब तो लगाया है, पर प्रार्थना के असर का हिसाब तो लगाया ही नहीं; आज मुझे छोड़ दीजिये । डाक्टरसाहब मान गये । दूसरे दिन पेशाब की जांच कर उन्होंने कहा कि असिटोन का खतरा अब नहीं है और खिलाने का आग्रह छोड़ दिया । इसके बाद, उपवास की अवधि में, फिर कभी असिटोन का उपद्रव न हुआ । डाक्टर अंसारी की चिन्ता जाती रही । उन्होंने हम लोगों से कहा कि इस चमत्कार का कोई कारण हमारी चिकित्सा नहीं बताती--हम नहीं समझ सकते, यह कैसे हुआ !

महात्माजी, उपवास की पूरी अवधि में प्रत्येक दिन, अपने नियमानुसार चर्खा कातते रहे । उनको किसी तरह चारों ओर तकिया रखकर बिठा दिया जाता । उसी तरह बैठे-बैठे वह चर्खा चला लेते । अन्त में जब उपवास समाप्त करने का समय आया, तब प्रार्थना करके, चर्खा चलाकर और भजन गाकर, उन्होंने नारंगी का रस पीकर उपवास तोड़ा । मौलाना मुहम्मदअली ने इस अवसर पर बूचड़खाने से एक गौ खरीदकर महात्माजी को भेंट की । इसमें कितना प्रेम और सद्भाव भरा था ।

: ५८ :

पटना-म्युनिसिपैलिटी में

जिस समय मैं बाबू हरिजी के मुकदमे में पटना में काम कर रहा था उसी समय पटना-म्युनिसिपैलिटी के सदस्यों का चुनाव हुआ। कांग्रेस ने यद्यपि कौंसिलों में जाने का निषेध किया था, तथापि म्युनिसिपैलिटी और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड में जाना मना नहीं था। इस नीति के अनुसार सरदार वल्लभभाई पटेल अहमदाबाद-म्युनिसिपैलिटी में चुने गये और वहां के प्रेसिडेंट हुए। पंडित जवाहरलालजी इलाहाबाद-म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन हुए। पटना में भी राय हुई कि म्युनिसिपैलिटी के चुनाव में कांग्रेस की ओर से भाग लिया जाय। पटना के प्रमुख कांग्रेसी लोग खड़े भी हुए--जैसे मौलवी खुरशेद हसनैन, सर्वश्री अनुग्रहनारायणसिंह, जगतनारायणलाल, बदरीनाथ वर्मा, अब्दुलबारी और मैं हम लोगों की राय थी कि मौलवी खुरशेद हसनैन चेयरमैन और अनुग्रहबाबू वाइस-चेयरमैन बनाये जायं। चुनाव में कठिनाई काफी थी, क्योंकि पटना में कुछ लोग बहुत दिनों से म्युनिसिपल कमिश्नर होते चले आये थे, उनको हटाना कठिन था। फिर भी कांग्रेस के बहुतेरे मेम्बर चुने गये, पर बहुमत नहीं हुआ। साथ ही, कांग्रेसी लोग ही संगठित थे और कार्यक्रम रखते थे। दूसरे लोग व्यक्तिगत रूप से ही चुने गये थे। मौलवी खुरशेद हसनैन के चुने जाने में काफी दिक्कत पड़ी; क्योंकि उनके विरूद्ध एक हिन्दू खड़े थे--उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम सवाल पेश कर दिया; अपने वोट के बक्स पर उन्होंने गाय की तस्वीर बना दी। यहांतक सुना गया कि वह एक बछिया लेकर दरवाजे-दरवाजे जाते और हिन्दुओं से बछिया के लिए वोट मांगते! हम लोग चिन्तित थे कि मौलवी खुरशेद हसनैन साहब-जैसा चुस्त कांग्रेसी यदि न चुना जायगा, तो हमारे लिए बहुत शर्म की बात होगी। हम लोगों ने भी काफी जोर लगाया। वह काफी बहुमत से चुने गये।

यह सब झगड़ा देखकर मौलवी खुरशेद हसनैन ने निश्चय किया कि वह चेयरमैनी के लिए उम्मीदवार नहीं होंगे, मुझे ही चेयरमैन होना चाहिए। मेरी इच्छा बिलकुल नहीं थी। समय भी मेरे पास नहीं था; क्योंकि उन दिनों मैं एक बड़े मुकदमे में काम कर रहा था। पर वह किसी तरह राजी न हुए। मुझे चेयरमैन होना मंजूर

करना पड़ा। अनुग्रहबाबू भी उसी बड़े मुकदमे में दूसरे पक्ष की ओर से काम कर रहे थे। वह वाइस-चेयरमैन हुए। इस चुनाव का नतीजा यह हुआ कि कुछ भाई, जो कांग्रेस की हामी समझे जाते थे और जिनसे हम मदद की आशा रखते थे, हमारे पक्के विरोधी हो गये। उन लोगों ने म्युनिसिपैलिटी के अन्दर हम लोगों का एक विरोधी दल संगठित कर लिया। कोई भी बात पेश हो, उसका विरोध उस दल का, विशेषकर दो-तीन भाइयों का, मुख्य काम हो गया। म्युनिसिपैलिटी के जल्सों में बहुत समय लगता और काम कुछ भी आगे न बढ़ता। यहांतक कि किसी-न-किसी दिन पिछली बैठक की कार्रवाई की रिपोर्ट मंजूर करने में ही तीन-चार घंटे लग जाते।

खैर, हम लोगों ने काम शुरू किया। मुकदमे से फुर्सत हो जाने के बाद हम दोनों ने पूरा समय देना शुरू किया। हम दोनों म्युनिसिपल काम से पूरे नावाकिफ थे। हम दोनों को पहला ही अवसर ऐसे काम करने का मिला था। पर हमने शीघ्र ही सब बातों को जान लेने का प्रयत्न किया और काम चलने लगा। उसी समय गया के डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड का भी चुनाव हुआ। वहां के लोगों ने अनुग्रहबाबू को बोर्ड का केवल मेम्बर ही नहीं, चेयरमैन भी चुन लिया। दोनों जगहों का काम संभालना कठिन था। इसलिए कुछ दिनों के बाद अनुग्रहबाबू ने पटना की वाइस-चेयरमैनी से इस्तीफा दे दिया। अब वह गया का ही काम संभालने लगे। पटने में मेरे साथ वाइस-चेयरमैन हो गये मिस्टर सैयद महम्मद, जो कांग्रेस टिकट पर तो नहीं चुने गये थे, पर हम लोगों को बहुत ही मुस्तैद और अच्छे सज्जन मालूम हुए। उन्होंने म्युनिसिपैलिटी में काम भी अच्छा किया।

म्युनिसिपैलिटी की दिक्कतें बहुत थीं--आमदनी कम थी, खर्चा ज्यादा था। कोई भी काम बिना खर्च के नहीं हो सकता था। नये टैक्स के बिना आमदनी बढ़ नहीं सकती थी। उस समय सर गणेशदत्तसिंह बिहार-सरकार के मन्त्री थे। उन्होंने भी हम लोगों को वहां का अच्छा इन्तजाम करने में प्रोत्साहन दिया। रांची में उनके साथ ठहरा था, उसी समय तार मिला कि बाबू हरिजी हाइकोर्ट में अपील का मुकदमा जीत गये। यह जानकर बहुत खुशी हुई। इस प्रकार म्युनिसिपैलिटी का काम मैं बहुत जी लगाकर करता रहा। प्रायः प्रतिदिन तीन-चार घंटे आफिस में काम करता। दो-तीन घंटे शहर में घूम-फिरकर मुहल्लों से परिचय प्राप्त करता और काम की निगरानी

भी।

म्युनिसिपैलिटी की दिक्कतें कई प्रकार की थीं। शहर लम्बाई में प्रायः दस मील और औसत चौड़ाई में केवल एक मील का था। इससे बहुत लम्बी सड़क की जरूरत थी। मेरे-जैसे आदमी के लिए, जो शहर के पश्चिमी हिस्से में रहता था और जिसके पास एक्के के सिवा दूसरी सवारी नहीं हो सकती थी, पूर्वी हिस्से की निगरानी के लिए जाना कई घंटों का काम हो जाता था। यही हाल म्युनिसिपैलिटी के वेतन-भोगी कर्मचारी लोगों का भी था। हेल्थ-अफसर और इंजीनियर को घोड़ा-गाड़ी के लिए भत्ता मिलता। गाड़ी पर चलने में, एक्के के मुकाबले में, इज्जत अधिक मिलती थी; पर जल्दी पहुंचने के काम में कोई विशेष मदद नहीं मिलती थी, बल्कि तेज एक्का गाड़ी से ज्यादा जल्द पहुंच सकता था। यही सोचकर, और खर्च को भी कम करने के ख्याल से, मैंने एक्के पर चलना ही पसन्द किया। चेयरमैन को, सवारी के लिए या और किसी भी खर्च के लिए, भत्ता नहीं मिलता। एक्के का भाड़ा भी अपने पास से ही देना होता। गाड़ी का भाड़ा कम-से-कम एक्के से दुगना या तिगुना पड़ता। मुझसे पहले वहां के चेयरमैन अधिकतर पटने के नवाब-घरानों के ही लोग हुआ करते थे, जिनको सवारी की दिक्कत नहीं थी और जो अपने खर्च से अच्छी-से-अच्छी सवारी रखा करते थे। मैं ऐसा नहीं कर सकता था; क्योंकि मेरे पास इसके लिए रुपये नहीं थे। जब मैंने एक्के पर सवार होकर म्युनिसिपल आफिस में, जो मेरे ठहरने के स्थान, 'खद्दर-भंडार', से प्रायः चार मील की दूरी पर था, जाना शुरू किया तो पटने के उच्चवर्ग के लोगों में जहां-तहां इसकी टीका-टिप्पणी होने लगी, जिसमें कुछ पुराने ख्याल के प्राचीन म्युनिसिपल कमिश्नर भी शरीक थे। पर मैंने इसकी परवा नहीं की। इसमें मुझे एक अंगरेज सिविलियन से प्रोत्साहन भी मिला। मिस्टर जौन्सटन पटने के अडिशनल मजिस्ट्रेट थे। वह शहर के पूर्वी हिस्से में रहा करते थे। कचहरियां प्रायः पश्चिमी छोर पर हैं। वह भाड़े के एक्के पर ही कचहरी आया करते थे। इतना ही नहीं, कभी ऐसा भी देखा जाता कि पूरे एक्के को नहीं लेते--दूसरों के साथ साझें में एक्का किराया करते, और जबतक दूसरा साथी न मिल जाता, एक्कावान एक्के को पड़ाव पर घुमाता रहता और दूसरे साझेदार के लिए चिल्लाता रहता! मैं इतनी दूर तक नहीं गया; क्योंकि मुझे एक ही स्थान तक नहीं

जाना होता । जब मैं निकलता तो निगरानी का काम करता हुआ आफिस जाता और वहां से फिर शहर की निगरानी का काम करता हुआ आफिस जाता और वहां से फिर शहर की निगरानी करता हुआ वापस आता । इस शर्त पर कोई साझेदार नहीं मिल सकता था । इसलिए मुझे अपने लिए अलग एक्का लेना पड़ता । हां, जबतक अनुग्रहबाबू वाइस-चेयरमैन थे, हम दोनों साथ जाते-आते ।

शहर की लम्बाई की वजह से, निगरानी के अलावा, और कामों में भी काफी अड़चन पड़ती थी, जिसका अनुमान आसानी से किया जा सकता है । पटना कोई नया बसता हुआ शहर नहीं है । वहां व्यापार विशेषकर स्थानीय काम के लिए ही है । पहले जब नदियों द्वारा ही माल का आयात-निर्यात हुआ करता था तब पटना विशेष महत्त्व रखता था; क्योंकि यहां गंगा बहती है । गंगा-गंडक-संगम तो यहां है ही, सोनभद्र तथा सरयू का संगम भी यहां से बीस-पच्चीस मील के अन्दर ही है । पर रेल हो जाने से वह बात अब न रही । इसलिए अब यह व्यापार का केन्द्र भी न रह गया । नये कल-कारखाने भी कम ही हैं, कोई विशेष वृद्धि उनकी अभी तक नहीं हुई है । १९२४ में तो वे और भी कम थे । यहां प्रान्तीय राजनैतिक केन्द्र होने से कुछ लोग सरकारी दफ्तरों में और कुछ वकील-बैरिस्टर-हाइकोर्ट से सम्बन्ध रखनेवाले--अवश्य रहते हैं । इसलिए, जहां ये सब रहते हैं, उस पश्चिमी हिस्से में कुछ रौनक है । पूर्वी हिस्सा पुराना मुहल्ला है, जो अब अपनी रौनक बहुत-कुछ खो चुका है । इसलिए शहर की म्युनिसिपैलिटी की आमदनी कुछ ज्यादा नहीं है ।

आधुनिक समय के साधनों का भी प्रायः अभाव-सा ही यहां था । खुले पनाले होने के कारण मच्छरों की भरमार है । नाले भी साफ नहीं रखे जा सकते, क्योंकि पानी का कोई अच्छा निकास नहीं है । पहले यहां हर घर में कुएं की शक्ल के पाखाने हुआ करते थे, जो कभी साफ नहीं किये जाते थे । जब वे बहुत दिनों के बाद कभी पट जाते होंगे तो उनकी बगल में दूसरे कुएं बना लिये जाते होंगे । इस कारण, शहर का स्वास्थ्य बहुत खराब रहा करता था । हम लोगों के समय के पहले से म्युनिसिपैलिटी ने इन कुएंवाले पाखानों को बन्द कर दिया था । तो भी ये जहां-तहां रह गये थे । उनको हमने बन्द कराया । प्रायः ऐसे कुंओं के निकट ही प्रत्येक घर में पानी के कुएं भी हुआ करते थे । पानी प्रायः सभी जगहों खामें रा हुआ करता था । कहीं-कहीं मीठा पानी भी मिल जाता था । इसलिए लोग अधिकतर पीने के लिए

गंगाजल ही काम में लाया करते थे। बरसात में गंगाजल भी गंदा हो जाया करता है। तब लोगों की दिक्कतें बढ़ जाती थीं। इसलिए यहां पानी-कल की आवश्यकता लोग महसूस करते थे। हमारे ही पहले पानीकल और बन्द नालों की बात चली थी। खर्च का अनुमान-पत्र भी बना था। पर अर्थाभाव से वह जहां-का-तहां पड़ा रह गया।

हमने इन सब चीजों की ओर ध्यान दिया और खर्च का अन्दाजा लगाने लगे। एकबारगी इन सारे कामों के खर्च के लिए प्रान्तीय सरकार से मदद मांगी जा सकती थी। शायद कुछ मिल भी जाती। पर इनके चलाने और कायम रखने के लिए तो म्युनिसिपैलिटी को ही खर्च देना पड़ता। उसके पास इसके लिए, बिना नया 'कर' लगाये, पैसे नहीं हो सकते थे। लोगों को शुद्ध और अच्छा दूध मिलना कठिन था। हमने इसपर भी विचार किया कि म्युनिसिपैलिटी की ओर से गोशाला कायम की जाय, जो मुनासिब कीमत पर लोगों को शुद्ध दूध दे सके। पर यह सबकुछ रूपयों पर ही निर्भर था। इसलिए, हमने आमदनी बढ़ाने का रास्ता ढूंढ़ना शुरू किया। संयुक्त प्रान्त की म्युनिसिपैलिटी को, शहर में आनेवाले माल पर चुंगी लगाने से, बहुत आमदनी होती है। हमने पटना शहर में भी चुंगी लगाने की बात सोची। इसका अन्दाजा हमने लगाया कि चुंगी द्वारा कितनी आमदनी बढ़ेगी। इस तरह के प्रस्ताव को पहले म्युनिसिपैलिटी से मंजूर कराना होता और फिर प्रान्तीय सरकार से। जब म्युनिसिपैलिटी मंजूर कर लेती तब बात आगे बढ़ती।

म्युनिसिपैलिटी के अन्दर घूसखोरी भी खूब चलती थी। जो खर्च होता था उसका भी पूरा नफा जनता को नहीं मिलता था। हमने इसको रोकने का प्रयत्न किया। फलतः कर्मचारी हमसे मन-ही-मन बिगड़ गये, यद्यपि, ऊपर से वे कुछ नहीं कर सकते थे। कुछ म्युनिसिपल कमिश्नर भी इस मामले में कर्मचारियों के साथ थे और उनसे सहानुभूति रखते थे; हमारे प्रयत्न उनको भी नापसन्द थे! वे उस दल में बहुत उत्साह से शरीक हो गये, जो हमारे विरोध के लिए बना था। वे हर मौके पर विरोध-ही-विरोध किया करते। फिर भी, सब बातों को सोच-विचारकर हमने चुंगी की बात उठाई और उसे पेश किया। म्युनिसिपैलिटी के अधिकांश मेम्बरों ने विरोध किया। प्रस्ताव नामंजूर हो गया। उन लोगों का कहना था कि वे उन सभी सुविधाओं से, जो हम उन्हें देना चाहते थे और जिनका जिक्र ऊपर किया गया है,

वंचित भले ही रहें, पर किसी तरह के नये कर को मंजूर नहीं करेंगे । हमने देखा कि शहर की सफाई, सड़क का सुधार और शिक्षा-सम्बन्धी कोई भी उन्नति हमारे किये न हो पायगी । बहुत समय लगाकर और काफी परिश्रम करके हम कोई भी बात पेश करते, विरोधी दल उसका विरोध करता । इस प्रकार कोई भी अच्छा काम करना कठिन हो जाता । इसलिए बारह-चौदह महीनों तक वहां रहकर हमने इस्तीफा दे दिया । इस्तीफा देने के सिवा दूसरा कोई रास्ता ही न था; क्योंकि समय की बरबादी केवल हाथ रहती । जनता को हमसे कोई लाभ नहीं पहुंचता था ।

हमारे समय में एक बात हो गई--बिजली-कल की स्थापना । म्युनिसिपैलिटी को इसमें और कुछ नहीं करना था । केवल पुरानी बत्तियों की जगह, सड़कों पर, बिजली-बत्ती लगा लेने की बात थी । किसी तरह लोगों ने यह मंजूर कर लिया । हमारे समय में ही बिजली-कम्पनी से बातचीत तय हो गई । हमारे हटने के कुछ ही दिनों बाद बिजली-बत्ती जलने लगी । दूसरी बात यह हुई कि हमने म्युनिसिपैलिटी के मेहतरों की हालत सुधारने का थोड़ा प्रयत्न किया । एक आदमी उनके मुहल्लों में जाकर उनसे मिलता । उनके घरों और बच्चों को साफ रखने की बातें उनसे करता । सप्ताह में एक दिन संकीर्तन या कथा का भी प्रबन्ध करता । इस अवसर पर प्रसाद के लिए कुछ मिठाई बांटी जाती । शुरू में इस लालच से वे लोग, विशेषकर बच्चे, संकीर्तन और कथा में शरीक होते । इसमें जो खर्च पड़ता, उसका प्रबन्ध बाहर से किया जाता । विशेष प्रयत्न इसका भी किया जाता कि वे शराब पीना छोड़ दें । कुछ सफलता होती दीख पड़ी । पर हम वहां काफी समय तक रह न सके । हम लोगों के हटने के बाद शायद यह काम बन्द हो गया ।

एक तीसरा काम और भी किया गया । हमने देखा कि इन लोगों के पास पैसे तो आते हैं; पर उनका दुरूपयोग होता है । इससे उनकी हालत बहुत बुरी थी । मेहतर का मुशाहरा दस-बारह रूपये मासिक होता । स्त्रियों को पुरूषों से दो रूपये मासिक कम मिलता । छोटे लड़कों को पांच रूपये मासिक मिलता । इस तरह, यदि एक घर में एक पुरूष और उसकी स्त्री तथा दस-बारह बरस के दो बच्चे होते, तो उसकी मासिक आमदनी प्रायः तीस रूपये हो जाती, जो किसी भी सरकारी दफ्तर के क्लर्क का मुशाहरा है । पर जब हम देखते हैं कि क्लर्क को साफ-सुथरे कपड़े और जूते पहनकर कचहरी जाना पड़ता है, उसके घर के स्त्री-बच्चे स्वयं कुछ नहीं कमा

सकते--क्लर्क की आमदनी पर ही निर्भर रहते हैं, तो स्पष्ट हो जाता है कि मेहतर का परिवार इस मुशाहरे के लिहाज से अधिक कमाता है । साथ ही, मेहतर को उन घरों से, जहां वह काम करता है, म्युनिसिपैलिटी के मुशाहरे के अलावा कुछ-न-कुछ मिल ही जाता है; पर्व-त्योहार के अवसर पर भी कुछ आमदनी हो ही जाती है, तो भी उनकी हालत इतनी खराब क्यों रहती है । हमने इसके दो कारण देखे, एक तो शराबखोरी और दूसरा--कर्ज पर सूद ! जिस दिन मुशाहरा बंटता उस दिन उनका महाजन वहां हाजिर रहता ! जो मुशाहरा उन्हें मिलता, महाजन ही ले लेता ! उसी रूपये को वह अपने पुराने कर्ज और सूद में सधा लेता । उसी दिन से फिर कर्ज लेकर ही मेहतर अपना काम चला सकता । कर्ज का सूद भी बहुत देना पड़ता । इसका नतीजा यह होता कि वह कभी कर्ज से बरी न हो पाता । हर महीने में एक अच्छी रकम सूद में चली जाती ।

हमने इस अर्थ-संकट से उनको बचाना चाहा । दरियाफ्त करने से मालूम हुआ कि मुशाहरा महीने में एक दिन मिलता है । वे महीने में कई बार करके कर्ज लेते हैं, जिसको महीने के अन्त में सूद के साथ अदा करना पड़ता है । हमने चाहा कि वे कर्ज लेना बन्द करें; पर वे इसपर राजी नहीं होते थे । हमने मुशाहरा बांटने के स्थान पर महाजनों को आने से रोकना चाहा, तो मेहतर बिगड़ गये और हड़ताल करने पर तैयार हो गये ! उनका कहना था कि महाजनों से उनका काम बहुत आसानी से चलता है, इसलिए वे उनको छोड़ नहीं सकते । वे यह भी कहने लगे कि जबतक उनका कर्ज अदा न हो जाय, महाजन उनको छोड़ेंगे नहीं । हमने सारे कर्ज को अदा कर देने का वादा किया और समझाया कि महाजन से रूपये न लेने से उनको बहुत बचत होगी । वे यह जल्दी समझने को तैयार न थे । हमने महीने के अन्त के बदले बीच के पन्द्रहवें दिन मुशाहरा देने का प्रबन्ध कर दिया । यह भी कह दिया कि जब जरूरत होगी, इस शर्त पर पेशगी मुशाहरा भी मिल सकेगी और मुशाहरा मिलने के दिन पेशगी दी हुई रकम काट ली जायगी । बहुत मेहनत के बाद उन्होंने यह बात समझी, और राजी हुए । नतीजा यह हुआ कि कुछ दिनों के बाद, जब उन्होंने इस प्रबन्ध से लाभ देखा तो, वे बहुत प्रसन्न हुए । मालूम नहीं, हम लोगों के हट जाने के बाद यह प्रथा जारी रह सकी या नहीं । म्युनिसिपैलिटी से हटने में, इसी एक बात का अफसोस रहा कि हरिजनों की थोड़ी-बहुत सेवा शायद की जा सकती, जो न की

जा सकी ।

जिस समय हम लोग पटना-म्युनिसिपैलिटी में काम कर रहे थे, प्रायः उसी समय कई अन्य जिलों के डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड और म्युनिसिपैलिटियों में भी कांग्रेसी लोग चुने गये । पहले कहा जा चुका है कि गया के डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड में अनुग्रहबाबू चेयरमैन हुए थे । मुंगेर-डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के चेयरमैन शाह महम्मद जुबैर और वाइस-चेयरमैन श्री श्रीकृष्णसिंह, छपरा-डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के चेयरमैन मजहरूलहकसाहब, चम्पारन में पहले बेतिया-म्युनिसिपैलिटी और पीछे चम्पारन-जिला-बोर्ड के चेयरमैन श्री विपिनविहारी वर्मा, मुजफ्फरपुर-म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन श्री विन्ध्येश्वरीप्रसाद वर्मा और वहां के डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के चेयरमैन श्री रामदयालुसिंह हुए । भागलपुर-डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के चेयरमैन श्री कैलाशविहारीलाल हुए । दरभंगा में चेयरमैन बाबू हरिनन्दनदास और वाइस-चेयरमैन मिस्टर मुहम्मद शफी (बैरिस्टर) हुए । छोटा नागपुर के डिस्ट्रिक्ट बोर्डों में चेयरमैन वहां के डिप्टी-कमिश्नर हो सकते थे और वाइस-चेयरमैन गैर-सरकारी आदमी । इसलिए वहां मानभूम में श्री जीमूतवाहन सेन और हजारीबाग में श्री रामनारायण सिंह वाइस-चेयरमैन हुए । इस प्रकार हमारे सूबे के अनेक स्थानों में, इन स्थानीय संस्थाओं में, कांग्रेसी लोगों के हाथों में अधिकार आया और वे काम करने लगे । जिस तरह की दिक्कतें पटने में थीं वैसी और जगहों में नहीं थीं । केवल छोटानागपुर में, अक्सर चेयरमैन और वाइस-चैयरमैन के बीच, उठा-पटक होती रहती थी । हमारे आदमियों ने, प्रायः सभी जगहों में, काम अच्छा किया । लोगों पर भी प्रभाव अच्छा ही पड़ा । पर मैं इस काम से संतुष्ट न था ।

चुनाव होने के पहले ही, कांग्रेसी लोगों में, उम्मीदवार बनने के बारे में, परस्पर बड़ी स्पर्धा होने लगी । कुछ लोग उम्मीदवार न बनाये जाने पर दुःखी होते । कुछ लोग समझने लगे, हमने देश की सेवा की है, इन बोर्डों में स्थान मिलना एक प्रकार से उसी सेवा का इनाम है ! अपना दावा पेश करने में वे अपनी सेवाओं की बात पेश करते ! इससे मेरे दिल पर यह असर पड़ा कि अभी तो एक बहुत छोटी बात सामने आई है और इतने ही में लोग उम्मीदवार बनाये जाने के लिए अपनी-अपनी सेवाओं की तालिका तैयार करा रहे हैं, तो आगे चलकर न मालूम क्या होगा । मैंने कुछ दिनों के अनुभव के बाद एक लेख कलकत्ते के 'मार्डन रिव्यू' में लिखा था । उसमें अपना नाम नहीं दिया था । पर उसमें उस समय के अपने विचारों को व्यक्त कर दिया

था। बहुत जगहों में, काम अच्छा होने पर भी, आपस में कुछ मनोमालिन्य हो ही गया। इस बारे में मुंगरे का जिला-बोर्ड बिलकुल अछूता रहा। वहां कभी आपस की वैसी स्पर्धा देखने में न आई जैसी अन्य स्थानों में। इसका श्रेय वहां के कार्यकर्ताओं और नेताओं को है। यद्यपि मेरा अपना विचार इन बोर्डों में शरीक होने के खिलाफ हो गया, तथापि और सभी साथियों के विचार भिन्न थे। इसलिए मैंने अपने विचारों को दबा रखा। मैं हमेशा कांग्रेसी लोगों को चुनाव में भाग लेने देता रहा। यथासाध्य उनकी मदद भी करता रहा।

जिस समय हम लोग म्युनिसिपैलिटियों और जिला-बोर्डों में काम कर रहे थे, बिहार की सरकार ने एक बिल पेश किया। उसका आशय यह था कि बोर्डों के हिसाब जांच करनेवाले सरकारी निरीक्षक (ऑडीटर) को अधिकार होगा कि वह इस बात का फैसला कर सके कि कोई खर्च, जो बोर्ड या बोर्ड के किसी पदाधिकारी ने किया हो, गैरकानूनी है। और, यदि वह उचित समझे तो ऐसे गैरकानूनी खर्च की रकम उस पदाधिकारी से अथवा उन मेम्बरों से, जिन्होंने इस खर्च की मंजूरी दी हो, वसूल करने का निश्चय करे। १६२२ में म्युनिसिपैलिटी और जिला-बोर्ड के कानून संशोधित और परिवर्धित किये गये थे, इन बोर्डों को अपने चेयरमैन चुनने का अधिकार मिला था और अन्य प्रकार से भी जनता के प्रतिनिधियों को कुछ नये अधिकार मिले थे। इस नये बिल का आशय यह था कि जो नये अधिकार दिये गये हैं वे दूसरे प्रकार से कम कर दिये जायं। सबसे बड़ी बात यह थी कि हिसाब-परीक्षक को कानूनी बातों पर फैसला देने का अधिकार दिया गया था। इससे हमारे सूबे के बोर्डों में नये चुने हुए मेम्बरों को ये बातें बहुत खटकीं। दूसरे लोगों को भी ये पसन्द न आई। बोर्डों और जनता की ओर से बिल का जोरदार विरोध होने लगा।

इसी सिलसिले में, इसपर तथा बोर्ड-सम्बन्धी अन्य विषयों पर विचार करने के लिए, बोर्डों के प्रतिनिधियों की एक कांफ्रेंस करने की राय ठहरी। यह कांफ्रेंस पटने में की गई। मौलाना मजहरूलहकसाहब, जो सारन-जिला-बोर्ड के चेयरमैन थे, इसके सभापति होने को थे। मुंगेर-जिला-बोर्ड के चेयरमैन शाह महम्मद जुबैर ने इसका उद्घाटन किया। मजहरूल हकसाहब की अकस्मात् अस्वस्थ हो जाने के कारण मुझे ही उसका सभापति बनना पड़ा। सारे सूबे के प्रायः सभी मुख्य-मुख्य जिला-बोर्डों और म्युनिसिपैलिटियों के प्रतिनिधि इसमें शरीक हुए। सर्व-सम्मति के आडिट बिल

की निन्दा की गई । बोर्ड-सम्बन्धी दूसरे विषयों पर भी विचार किया गया । एक विषय, जो उन दिनों बड़े महत्त्व का हो गया था, यह था कि जिला-बोर्ड के इंजीनियर बोर्ड के नौकर न रहकर प्रान्तीय सरकार के नौकर हों । इसका भी विरोध किया गया । शिक्षा-सम्बन्धी प्रश्न पर भी विचार हुआ । कहा गया कि पाठ्य-पुस्तकों को चुनने के लिए जो कमिटी है, उसका संगठन हो और उसमें बोर्डों के प्रतिनिधियों को स्थान दिया जाय । कांफ्रेंस ने एक छोटी स्थायी कमिटी कायम कर दी । और, इस प्रकार के सम्मेलन की आवश्यकता तथा उपयोगिता महसूस करके फिर समय पर मिलने का भी निश्चय किया । मैं समझता हूं कि बोर्ड से हमारे हट जाने के बाद भी यह कांफ्रेंस जबतब होती और बोर्ड-सम्बन्धी विषयों पर विचार-विनिमय करती रही ।

एक दुर्घटना इन बोर्डों के चुनावों को लेकर और भी हुई, जिसका असर बहुत बुरा पड़ा । १९२२ से ही हिन्दू-मुस्लिम झगड़े जहां-तहां शुरू हो गये थे । अकसर बलवे की खबर किसी-न-किसी जगह से आती ही रहती थी । हम लोग बहुत बेचैन रहा करते थे । अपने सूबे में दंगा न होने देने के प्रयत्न में हम सतत लगे रहते थे । पर यहां भी कई जगहों में दंगे हो ही गये । आज उन सब जगहों के न तो नाम ही याद हैं और न क्रम से उनकी तारीख ही मैं बतला सकता हूं । इसके लिए उन दिनों के समाचारपत्रों की फाइलें देखनी होंगी । पर ये दंगे इतने बढ़ गये थे और इतने स्थानों में होते रहे कि इनका असर पड़े बिना रह नहीं सकता था । शुद्धि और तबलीग संगठन और तंजीम के प्रचार ने लोगों में इस हिन्दू-मुस्लिम कशमकश को और भी बढ़ा दिया । आपस का मनोमालिन्य बढ़ता ही गया । जहां बलवा न भी हुआ वहां भी दुर्भाग्यवश पारस्परिक विश्वास न रहा । उधर खिलाफत का मामला एक प्रकार से, जब तुर्कों ने खलीफा को हटा दिया तो, स्वभावतः कुछ ढीला पड़ गया । बहुत-से मुसलमान, जो कांग्रेस में खिलाफत के कारण ही शरीक हुए थे, आहिस्ता-आहिस्ता अलग होने लगे । यह साफ दीखने लगा कि १९२१-२२ की तरह सभी बातों में वे एकमत नहीं रह सकते । जनता पर दंगों का विशेष प्रभाव पड़ता था । बिहार जैसे हिन्दू-प्रधान सूबे में मुसलमानों के चुने जाने में दिक्कत पड़ने लगी ।

पटना-म्युनिसिपैलिटी में मौलवी खुरशैद हसनैन के चुनाव की दिक्कतों का जिक्र ऊपर कर चुका हूं । यहां हम लोगों ने खूब जोर लगाया । मौलवीसाहब को कुछ करने

न दिया। वह बड़े बहुमत से चुने गये। इसी तरह छपरे में, मजहरूल हकसाहब की सेवा, त्याग तथा व्यक्तित्व का बहुत बड़ा प्रभाव था। तो भी कुछ लोगों ने दिक्कत पैदा करने का प्रयत्न किया। वहांपर मेरे भाईसाहब की बहुत धाक थी। उन्होंने वहां उठी हुई दिक्कतों को दबा दिया। हकसाहब आसानी से चुने गये। मुंगेर में जुबैरसाहब को लोग बहुत मानते थे। वहां कोई दिक्कत पेश न आई। मुजफ्फरपुर में मौलवी मुहम्मद शफी की सेवा और त्याग किसी से कम न था। पर कांग्रेसी लोगों में उतना ऐक्य नहीं था अथवा जनता पर वे अपना उतना अच्छा प्रभाव न डाल सके। नतीजा इसका यह हुआ कि मौलवी शफी हार गये। हम सबको इसका बहुत अफसोस हुआ। पर हम लाचार हो गये। मौलवी शफीसाहब के दिल पर इसका असर पड़ा। पर उस समय उन्होंने उसे दबा रखा और काम करते रहे। किन्तु इसका बुरा परिणाम पीछे देखने को मिला, जब उन्होंने कांग्रेस छोड़कर मुस्लिम संस्था कायम करने में अपना समय लगाना शुरू कर दिया। यह कुछ दिनों के बाद हुआ; पर इसका सूत्रपात डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के चुनाव की हार में ही हो गया था। यद्यपि इन चुनावों में यथासाध्य मुसलमानों के चुनवाने का प्रयत्न किया गया और वे अच्छी संख्या में चुने भी गये, तथापि बिहार के मुसलमानों ने महसूस किया कि वे काफी संख्या में नहीं चुने गये। ऐसे मामलों में विश्वास बड़ी चीज होती है। वह अकारण भी कमजोर पड़ सकता है। इन पंक्तियों के लिखने के समय मेरे सामने उन चुनावों के नतीजों के आंकड़े तो नहीं हैं; पर मैं समझता हूं कि मुसलमानों के साथ कोई अन्याय नहीं हुआ था। हां, जहां-तहां कुछ कमबेश चुने गये हों अथवा प्रमुख व्यक्ति न चुने गये हों; परन्तु सारे सूबे पर दृष्टि डालने से मालूम होगा कि उस वक्त कांग्रेसी लोगों ने उनको चुनवाने में यथासाध्य खूब परिश्रम किया और वे सफल भी हुए। पर बहुतेरे मुसलमानों का विश्वास कम हो गया, जिसका बुरा परिणाम पीछे कुछ दिनों के बाद देखने में आया।

: ५६ :

बंगाल में दमनः स्वराज्य पार्टी के साथ समझौताः बेलगांव-कांग्रेस

गांधीजी का उपवास समाप्त होने के बाद उनको कुछ समय स्वास्थ्य लाभ करने में लगा। वह कोहाट जाने के लिए बेचैन थे, पर गवर्नमेण्ट ने वहां जाने की इजाजत नहीं दी। इसी समय गवर्नमेण्ट ने एक और चक्र चलाया। उसने एक नया आर्डिनेन्स यह कहकर जारी किया कि बंगाल में विप्लववादी लोग फिर षड्यन्त्र कर रहे हैं और जहां-तहां उनके द्वारा हत्याएं की जा रही हैं। 'डे' की हत्या और चन्द दूसरी घटनाओं का हवाला देते हुए इसकी आवश्यकता बतलाई गई। साथ ही, श्री सुभाषचन्द्र बोस तथा बहुतेरे दूसरे कार्यकर्ता एक दिन बंगाल में गिरफ्तार कर लिये गये। यद्यपि इसकी अफवाह कुछ पहले से थी कि देशबन्धु दास भी गिरफ्तार किए जायंगे, तथापि वह पकड़े नहीं गये। इस आर्डिनेन्स और इन गिरफ्तारियों से सारे देश में सनसनी फैल गई। सब लोग क्षुब्ध हो उठे। इनसे नरम दलवाले भी काफी नाराज हुए। स्वराज्य पार्टी के लोगों के विचार में तो यह आर्डिनेन्स विशेषतः उनपर ही लागू करने के लिए बनाया गया था; क्योंकि उन्होंने बंगाल और मध्यप्रदेश में मंत्रिमंडल तोड़ डाला था और वहां नई योजना एक प्रकार से काम नहीं कर रही थी। महात्माजी भी इससे बहुत रूष्ट हुए। उन्होंने देशबन्धु दास और पंडित मोतीलालजी के साथ तुरन्त समझौता कर लिया। सारे देश में सभाएं हुईं, सभी बड़े-बड़े नेताओं ने पत्रों में अपने बयान छपवाये, जिनमें सरकार की कार्रवाइयों की कड़ी निन्दा की गई। पटने में भी एक बड़ी सभा हुई। उसमें सभी विचारों और दलों के लोग शरीक हुए। बंगाल में दमन-नीति चलाने की कड़ी आलोचना उसमें की गई। मैंने उस सभा में जोरदार भाषण किया।

गांधीजी ने जो समझौता किया, उसका आशय यह था कि कांग्रेस विदेशी वस्त्र के बहिष्कार के सिवा अन्य असहयोग स्थगित कर दे और भिन्न-भिन्न प्रकार के काम कांग्रेस के अन्दर भिन्न-भिन्न जमायतें करें; पर चर्खा और खादी का प्रचार, आपस में--विशेषकर हिन्दू-मुसलमान के बीच--मेल-जोल और एकता बढ़ाना तथा हिन्दुओं में अछूतपन दूर करने के काम सबके लिए अनिवार्य समझे जायं; प्रान्तीय तथा केन्द्रीय

व्यवस्थापिका सभाओं से स्वराज्य-पार्टी कांग्रेस की अंग-स्वरूप होकर कांग्रेस की तरफ से काम करे, इसके लिए वह अपने नियम बना ले, अपने पैसे भी जमा और खर्च करे; चूंकि यह देखा गया है कि जबतक सूत कातना सर्वव्यापी न हो जाय, हिन्दुस्तान कपड़े के सम्बन्ध में स्वतन्त्र नहीं हो सकता; चूंकि चर्खा चलाना एक जीता-जागता और साफ नज़र आता हुआ उपाय है जो कांग्रेसी लोगों और भारत की जनता के बीच सम्बन्ध जोड़नेवाला है, इसलिए चर्खा और खद्दर के प्रचारार्थ कांग्रेस की नियमावली में यह संशोधन कर दिया जाय कि कोई आदमी तबतक कांग्रेस का सदस्य नहीं हो सकता जबतक उसकी उम्र अठारह बरस की न हो--जो राजनैतिक अवसरों और कांग्रेस के मौकों पर तथा कांग्रेस का काम करते समय हाथ-कता हाथ-बुना खद्दर न पहनता हो--जो प्रतिमास अपने हाथ का कता दो हजार गज अच्छा बराबर सूत, और बीमारी तथा अनिच्छा अथवा इस प्रकार के अन्य किसी कारण की हालत में इतना दूसरे का काता हुआ सूत कांग्रेस-कमिटी को न दे। इसका नतीजा यह होता था कि स्वराज्य-पार्टी का कांग्रेस के नाम पर कौंसिल का काम करने का अधिकार मिल जाता था; पर कांग्रेस-मेम्बर बनने के लिए अब चार आने पैसे की जगह दो हजार गज सूत अपने हाथ से कातकर--बीमारी और अनिच्छा की हालत में दूसरे से खरीदकर--देना पड़ता था। यह समझौता अखिल भारतीय कमिटी और बेलगांव-कांग्रेस की मंजूरी के लिए पेश होने को था।

बंगाल के दमन और इस समझौते पर विचार करने के लिए मौलाना मुहम्मदअली ने बम्बई में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक की। उसी समय उन्होंने देश के अन्य राजनैतिक दलों को भी आमंत्रित किया कि बंगाल की स्थिति पर सब मिलकर विचार करें। गांधीजी पहले से ही इस प्रयत्न में थे कि सब दलों को कांग्रेस में फिर से शरीक होने के लिए प्रोत्साहित और आमंत्रित किया जाय। गवर्नमेण्ट की कार्रवाई ने इस प्रयत्न में बड़ी मदद पहुंचा दी। बम्बई में एक बड़ा सम्मेलन हो गया, जिसमें सभी दलों के लोग शरीक हुए। बम्बई के सर दिनशा पेटिट इसके सभापति हुए। इसके पहले प्रस्ताव में सरकार की दमन-नीति की निन्दा करते हुए स्वराज्य की मांग पेश की गई। दूसरे प्रस्ताव द्वारा एक कमिटी नियुक्त हुई, जिसको आदेश दिया गया कि वह इस बात पर विचार करे कि किस तरह राजनैतिक दलों को कांग्रेस के अन्दर शामिल किया जा सकता है और स्वराज्य का एक मसविदा तैयार करे, जिसमें

हिन्दू-मुस्लिम समस्या के--और इस प्रकार के दूसरे मसलों के--राजनैतिक दृष्टि से हल रहें तथा इस कमिटी की रिपोर्ट ३१ मार्च तक तैयार करके अप्रैल में फिर कान्फ्रेन्स की बैठक की जाय। इस सर्वदल-सम्मेलन का महत्त्व यह था कि इसमें कांग्रेस के अलावा, जिसमें स्वराज्य-पार्टी भी शामिल थी, प्रायः और जितने राजनैतिक दल थे तथा मुस्लिम लीग के लोग--सब शरीक हुए थे। इसकी कार्रवाई से सारे देश में एक नई लहर उठी। आशा होने लगी कि अब सब लोग फिर मिलकर, एक साथ अगर न हो अपने-अपने विचार के अनुसार, एक ध्येय--स्वराज्य-प्राप्ति--के लिए प्रयत्न में लग जायंगे।

उसी समय अखिल भारतीय कमिटी की बैठक भी हुई। उसमें गांधीजी और स्वराज्य-पार्टी के बीच हुआ समझौता मंजूर किया गया। अपरिवर्तनवादियों में बहुतेरे ऐसे थे जो इस समझौते को नापसन्द करते थे। उनका विशेष विरोध इससे था कि स्वराज्य-पार्टी को कौंसिलों में कांग्रेस के प्रतिनिधि-रूप होकर बोलने का हक दे दिया गया था। लोग चाहते थे कि यदि उन्हें यह अधिकार दिया जाय तो उनपर नियन्त्रण भी कांग्रेस का रहे। गांधीजी इस नियन्त्रण के भार को नहीं लेना चाहते थे। बहुत वाद-विवाद के बाद समझौता मंजूर हो गया।

इस दोनों सम्मेलनों ने महात्माजी के लिए रास्ता साफ कर दिया। वह आपस की जिस फूट से दुःखित थे वह बहुत हद तक दूर हो गई। जो कुछ मनमुटाव रह गया था उसे भी दूर करने का दरवाजा खुल गया। बेलगांव में होनेवाली कांग्रेस के अधिवेशन के लिए वह सभापति चुने जा चुके थे, पर उन्होंने उसे अभी मंजूर नहीं किया था। इन सम्मेलनों के बाद उन्होंने उसे मंजूर कर लिया। यह भी आशा की जाती थी कि कांग्रेस के समय अन्य दलवाले भी अपने वार्षिक अधिवेशन बेलगांव में ही करेंगे, जिसमें फिर सब लोगों को एक-बार मिलकर आपस में बातचीत करने का मौका मिले। पर ऐसा हुआ नहीं। केवल श्रीमती एनी बेसेण्ट ने कांग्रेस में शरीक होने का निश्चय कर लिया। वह अपने अनुयायियों के साथ बेलगांव में शरीक भी हुईं।

दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में नियमानुसार बेलगांव में अधिवेशन हुआ। वहां

के लोगों में कांग्रेस के कारण उत्साह बहुत था। श्री गंगाधरराव देशपांडे, बूढ़े होकर भी जवान की तरह, घोड़े पर सवार सभी जगहों में आते-जाते और प्रबन्ध की निगरानी करते दिखाई देते। अधिवेशन के साथ-साथ प्रदर्शनी तो बराबर हुआ ही करती है। बेलगांव में संगीत-सम्मेलन भी हुआ, जिसमें कर्नाटक के प्रमुख गुणी और कलाकार शरीक हुए। मैसूर-दरबार से इसमें पूरी सहायता मिली थी। वहां के गुणी विद्वान इसमें दरबार की ओर से भेजे गये थे। उनमें सबसे नामी श्री शेषनाजी थे, जो वीणा के आचार्य समझे जाते थे। जब उपस्थित कांग्रेस-प्रतिनिधियों को समय मिला, उन्होंने बहुत ही सुन्दर दक्षिणी--विशेषतः कर्नाटिकी--संगीत सुनाया। एक दिन गांधीजी की कुटी में उन्होंने अपनी वीणा का चमत्कार भी दिखलाया।

: ६० :

बोधगया का मन्दिर

एक विशेष घटना यह हुई कि कांग्रेस के पास सिंहाल द्वीप (सीलोन) से, डाक्टर कैसियस परेरा (**Cassius Periera**) ने नेतृत्व में, बौद्धों की ओर से एक मंडली आई। उसने यह मांग पेश की कि बोधगया का बुद्ध-मन्दिर बौद्धों के अधिकार में दिला देना चाहिए। गया-कांग्रेस के समय ही बरमा से, भिक्षु उत्तमा के नेतृत्व में, प्रायः एक सौ भिक्षुओं की एक बड़ी जमायत आई थी। बरमा हिन्दुस्तान के साथ ही था। वहां भी कांग्रेस-कमिटी थी। ये लोग प्रतिनिधि होकर आये थे। उनके लिए 'एक पंथ दो काज' था--कांग्रेस का देखना और बोधगया में बुद्धदेव का दर्शन। कांग्रेस का स्थान भी बोधगया के रास्ते पर ही था। उस समय, और कोकनाडा-कांग्रेस के बाद भी, कुछ इस तरह की बात चली थी तथा मुझे इस बोधगया-सम्बन्धी प्रस्ताव पर जांच करने का आदेश मिला था। पर मैं यह काम कर नहीं पाया था। बेलगांव में डेपुटेशन ने इस सवाल को कांग्रेस में पेश करना चाहा। गांधीजी ने उनसे बातें कर लीं। इस सम्बन्ध में जांच करके रिपोर्ट पेश करने के लिए गांधीजी ने मुझे इस अधिकार के साथ काम फिर सुपुर्द किया कि मैं और जिसको चाहूं अपने साथ इसमें शरीक कर लूं। इससे वे लोग सन्तुष्ट हो गये। लाला लाजपतरायजी बहुत डरते थे कि विदेशी बौद्धों को यदि मन्दिर पर अधिकार दिया गया तो हो सकता है कि वह विदेशी षड्यन्त्र का केन्द्र बन जाय और अन्तरराष्ट्रीय जटिलता उपस्थित हो जाय।

मैंने कांग्रेस से लौटकर जांच का काम आरम्भ किया। एक छोटी कमिटी बन गई। उसमें श्री ब्रजकिशोरप्रसाद, डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल और श्री रामोदारदास (जो पीछे भिक्षु राहुल सांकृत्यायन हुए) सदस्य थे। जब जांच आरम्भ हुई तब सिंहल से फिर सिंहलवासी श्री गुणीसिंह आये। कुछ दिनों तक बिहार में रहकर कमिटी के काम में उन्होंने बौद्धों की ओर से मदद पहुंचाई। मैंने सबसे पहले हिन्दुओं का विचार जानने का प्रयत्न किया। इसलिए पटने में दो सभाएं की गईं, पर उनमें उपस्थिति संतोषजनक नहीं थी, अतः उनके निश्चय का कोई विशेष महत्त्व नहीं था। भाग्यवश

उसी समय मुजफ्फरपुर में हिन्दू-महासभा का अधिवेशन होनेवाला था जिसके सभापति लाला लाजपतरायजी थे। वहां मैं गया। बोधगया के महन्त की ओर से भी कुछ लोग सभा में गये थे। सभा ने एक प्रस्ताव मंजूर किया, जिसमें हिन्दुओं और बौद्धों की सम्मिलित कमिटी के हाथों मंदिर के प्रबन्ध का भार सौंपने की राय दी गई। पर साथ ही यह भी निश्चय किया गया कि इस बात पर पूरी तरह विचार करने--और हो सके तो महंत को भी राजी करने--के लिए एक कमिटी बनाई जाय। उसके सदस्य भी उपर्युक्त चार सज्जन थे। उनके अलावा एक और सज्जन तथा बोधगया के महंत भी सदस्य बनाये गये। पर जब कमिटी का काम शुरू हुआ, ये दोनों सज्जन उसमें शरीक न हुए। इस तरह हिन्दू-महासभा और कांग्रेस की ओर से हम चार आदमियों ने ही रिपोर्ट तैयार की। कमिटी ने सभी बातों का विचार करके एक लम्बी और महत्वपूर्ण रिपोर्ट तैयार की। साथ ही, अपनी सिफारिश यह की कि बोधगया के मन्दिर का प्रबन्ध हिन्दुओं और बौद्धों की एक सम्मिलित कमिटी के हाथों में दिया जाय--वहां की पूजा-अर्चना का प्रबन्ध बौद्ध रीति के अनुसार किया जाय, पर हिन्दुओं को भी दर्शन और पूजा का अधिकार रहे।

यद्यपि यह बौद्धों का मुख्य तीर्थस्थान है तथापि इस मन्दिर का प्रबन्ध बोधगया के शैव महंत के हाथ में है। हिन्दू भी बुद्धदेव को अपने मुख्य दश अवतारों में एक मानते हैं तब भी उनकी पूजा हिन्दुओं में प्रचलित नहीं है। कहीं-कहीं तो उनकी निन्दा भी की गई है। इसलिए वहां यद्यपि पूजा का कुछ प्रबन्ध था तथापि इस महत्त्वपूर्ण तीर्थ-स्थान के योग्य नहीं था। हमने समझा कि बौद्धों की शिकायत ठीक है कि पूजा का समुचित प्रबन्ध बौद्ध ही कर सकते हैं। इसलिए कमिटी ने अपनी ओर से ऐसी सिफारिश की। हमने महंत से भी भेंट करके इस बात की कोशिश की कि वह इस बात पर राजी हो जायं कि मन्दिर का प्रबन्ध कमिटी के जिम्मे कर दिया जाय। हमने उस कमिटी की सदस्यता उनको भी देनी चाही। उनको मन्दिर से जो कुछ आमदनी चढ़ावे के रूप में आती हो उसका मुआवजा भी देने की बात की। पर वह किसी तरह राजी न हुए। उनका कहना था कि मन्दिर पर वह मुनाफे के लालच से अधिकार रखना नहीं चाहते; क्योंकि मन्दिर में जितना खर्च होता है उतना भी हमेशा चढ़ावे के रूप में नहीं आता, और यदि कुछ आता भी है तो वह इतना कम है कि वह अपनी बड़ी जमींदारी के सामने उसे कुछ नहीं समझते। बात भी सच

है। उस मठ की आमदनी कई लाख की है। मन्दिर से शायद हजार-दो हजार साल में आते हों। पर वह यह मानते थे कि मन्दिर पर अधिकार रहने के कारण उनकी बड़ी प्रतिष्ठा है जो विदेशों तक पहुंची हुई है। उसे वह नहीं छोड़ना चाहते थे। हमने उनको बहुत समझाया कि हमारी बात मान लेने से उनकी प्रतिष्ठा घटने की जगह बहुत बढ़ जायगी; पर वह इस बात को नहीं समझ सके। हमारा प्रयत्न असफल रहा। हमने अपनी सिफारिश करके ही मामले को उपयुक्त समय के लिए छोड़ रखा।

वह रिपोर्ट अखिल भारतीय कमिटी के सामने पेश हुई। मंजूर भी कर ली गई। पर आज तक वह काम पूरा नहीं हुआ। जब कई बरसों के बाद कांग्रेस की मिनिस्ट्री बनी तो फिर एक डेपुटेशन सीलोन से आया। उसने वही मांग पेश की। मैं उन दिनों बीमार था और अपने गांव जीरादेई में रहता था। इसलिए वे लोग जीरादेई गये। प्रधान मंत्री से भी मिले। महंत किसी तरह राजी नहीं होते थे। इसलिए कानून द्वारा ही कुछ हो सकता था। मैंने प्रधान मंत्री को लिखा था कि वह इस सम्बन्ध में कानून बनाने का प्रबन्ध करें। वह इस सम्बन्ध में विचार भी करने लगे। पर और झंझटों में फंसे रहने के कारण यह बात आगे न बढ़ सकी। जब मंत्रिमंडल ने इस्तीफा दिया उस समय भी यह बात जहां-की-तहां टंगी रह गई। मैं आज भी मानता हूं कि न्याय इसी में है कि इस मन्दिर के प्रबन्ध का भार और अधिकार बौद्धों के हाथ में देना चाहिए। और, चूंकि हिन्दू भी बुद्धदेव को अवतार मानते हैं, इसलिए प्रबन्ध-कमिटी में हिन्दुओं को भी रहना चाहिए। इसी सिलसिले में एक बात और उल्लेखनीय है। सिंहल में एक प्रसिद्ध मन्दिर है जिसका नाम कतरगामा है। वहां के हिन्दू कहते हैं कि वह हिन्दुओं का मन्दिर है और बौद्धों ने उसपर अधिकार कर लिया है। जब यहां बात चल रही थी, सीलोन के हिन्दुओं की ओर से मेरे पास पत्र और तार आते रहे कि हम हरगिज बोधगया के मंदिर पर बौद्धों को उस वक्त तक अधिकार न दें जबतक वे कतरगामा-मंदिर पर हिन्दुओं का अधिकार न मान लें। अगर बात आगे बढ़ती तो शायद इस सम्बन्ध की बात भी कुछ होती। पर वह समय ही नहीं आया। बात वैसे ही रह गई।

यहां १६२५ की बात लिखते-लिखते इस विषय की चर्चा में १६३६ तक चला आया; क्योंकि इसे एक जगह कह देना ही ठीक था।

: ६१ :

बेलगांव के बाद की कुछ घटनाएं

बेलगांव-कांग्रेस में स्वराज्य-पार्टी के साथ का समझौता मंजूर हो गया। गांधीजी इसपर राजी-से हो गये कि जहांतक राजनैतिक प्रश्नों का सम्बन्ध है, उसमें स्वराज्य-पार्टी की ही प्रधानता रहे और अगर वे चाहें तो वर्किंग कमिटी भी अपनी इच्छा के अनुकूल बना लें; पर खादी-प्रचार और रचनात्मक काम में पूरी मदद करें तथा उसका संचालन हम (गांधीजी) पर छोड़ दें। इसी नीति के अनुसार कांग्रेस के विधान में संशोधन हुआ। कांग्रेस का सदस्य बनने के लिए चार आना शुल्क देने के बदले अपने हाथ का कता हुआ सूत देना मंजूर किया गया।

जबसे गांधीजी जेल से निकले थे, उन्होंने खादी-प्रचार पर बहुत जोर डाला था। मैं भी अपने सूबे में रचनात्मक काम में ही--विशेषकर राष्ट्रीय शिक्षा और खादी-प्रचार में--लगा रहा। १९२४ के दिसम्बर में पटने में एक प्रदर्शनी की गई, जिसमें चर्खा और उससे उत्पन्न सब प्रकार की खादी के नमूने दिखलाये गये। मैंने इस प्रदर्शनी को राजनीति से अलग रखा। सब लोगों को आमन्त्रित किया कि वे आकर देखें कि हाथ से किस तरह और कैसा सूत बन सकता है तथा खादी-प्रचार से गरीबों को कितना लाभ हो सकता है। सरकारी उच्च्च कर्मचारी भी खूब आये। उन्होंने खादी की प्रगति देखी। ऐसे लोगों में पटना-हाइकोर्ट के चीफ जस्टिस सर डासन मिलर प्रमुख थे। दूसरे हिन्दुस्तानी और अंगरेज जज, बिहार के गवर्नर की कौंसिल के मेम्बर सर ह्यू मैकफरसन तथा अनेकानेक उच्च्च कर्मचारी भी आये। चर्खे की जो प्रतियोगिता हुई उसमें मलखाचक-गांधी-कुटीर (सारन) के दो लड़कों ने प्रथम पुरस्कार पाया। वे श्री रामविनोदसिंह के छोटे भाई थे। उनकी प्रगति घंटे में प्रायः ६०० गज की थी। इन्हीं दोनों युवकों में से एक डाक्टर सत्यनारायणसिंह हैं, जो पीछे यूरोप में शिक्षित हो डाक्टर की डिगरी लेकर वापस आये और हिन्दी में अनेक ग्रन्थों के रचयिता हुए। महीन सूत के कातनेवालों ने प्रायः ६०० नम्बर तक का सूत कातकर दिखलाया। उस समय तक जो प्रगति हुई थी, मैंने उसकी रिपोर्ट अपने भाषण में लोगों के सामने पेश कर दी। जहांतक मेरा अनुमान है, लोग बहुत सन्तुष्ट

हुए । पारितोषिक-वितरण चीफ जस्टिस की पत्नी लेडी मिलर ने किया ।

जो प्रदर्शनी बेलगांव में हुई उसका उद्घाटन करने का श्रेय मुझे मिला । शायद वह इसलिए मुझे मिला कि हमारे प्रान्त में खादी का काम अच्छा चल रहा था । यद्यपि प्रदर्शनी में अन्य कलाओं के नमूने भी दिखलाये गये तथापि मैंने अपने भाषण में विशेषकर खादी के सम्बन्ध में ही कहा । मैंने इसपर जोर दिया कि यदि प्रचारक और पैसों की कमी न हो तथा लोग खादी खरीदें, तो सारे देश के लिए थोड़े समय में ही काफी खादी तैयार की जा सकती है ।

इसी वर्ष में एक और छोटी-सी घटना हुई जो मेरे लिए एक पुण्य-स्मृति है । पटना-यूनिवर्सिटी के समावर्तन-समारोह के अवसर पर सर जगदीशचन्द्र बोस दीक्षान्त भाषण करने आये । मैंने उनको बिहार-विद्यापीठ में निमन्त्रित किया । जब मैं प्रेसिडेन्सी कालेज (कलकत्ता) में पढ़ता था तब डाक्टर बोस ने मुझे पढ़ाया था । पर वह बहुत दिनों पहले की बात थी । वह भी ऊपर के दर्जों में--जैसे बी० एस-सी० अथवा एम० ए० में नहीं, एफ० ए० में ही मुझे उनसे पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था । इसलिए, मैं नहीं समझता था कि उनको मेरे सम्बन्ध में कुछ याद होगा अथवा वह मुझे कुछ विशेष रीति से जानते होंगे । परन्तु यह जानकर मेरे आहलाद का ठिकाना न रहा, कि वह केवल मुझे अच्छी तरह याद ही नहीं रखते थे, बल्कि मुझपर प्रीति भी रखते थे । वह खुशी से विद्यापीठ आये । वहां एक अत्यन्त सुन्दर प्रोत्साहन देनेवाला, ओजस्वी भाषण भी किया । मैंने अपने को कृतकृत्य माना । उसी प्रेम और विश्वास का परिचय अपने मरने के कुछ पहले उन्होंने दिया--बिहार में मद्यनिषेध के लिए एक बड़ी रकम दी और उसके सूद की आमदनी को खर्च करने का भार मुझे दिया । वह जैसे विज्ञान के विद्वानों में शिरोमणि थे वैसे ही सच्चे देशभक्त और त्यागी भी । मद्यनिषेध का काम, १९४२ में मेरे जेल आने तक, मेरी निगरानी में, झरिया में होता रहा । लेडी अबला बोस मेरे पास रूपये भेजती रहीं । जब मैं जेल चला आया और काम करनेवाले भी दमन में गिरफ्तार कर लिये गये तो जो रूपये मेरे पास बचे थे, मैंने लेडी बोस और ट्रस्टियों के पास वापस कर दिये । यह इसलिए भी आवश्यक हो गया कि मेरे नाम से जितने एकाउण्ट बैंक में थे उनपर गवर्नमेण्ट ने रोक लगा दी । इसलिए अब रूपये के बिना, विशेषकर मेरी गैरहाजिरी में, काम बन्द हो ही जाता । मैंने सोचा कि रूपयों को अपनी जिम्मेदारी पर रखना उचित न होगा,

विशेषकर जब इसका ठिकाना न था कि हम कबतक जेल में रहेंगे। मेरे लिखने पर गवर्नमेण्ट ने इस हिसाब के रूपयों को उनके पास भेज देने की इजाजत दे दी। अब प्रायः सोलह महीनों तक जेल में रहने के बाद, जब ये पंक्तियां लिखी जा रही है, मैं सोचता हूं कि मैंने रूपये वापस कर देने का निश्चय करके ठीक ही किया। अफसोस केवल इतना है कि आचार्य बोस महोदय की इच्छा मैं पूरी न कर सका; पर इसमें मेरा कसूर नहीं है। भारतवर्ष में राजनीति कुछ ऐसी ही चीज है। इसमें पड़े हुए मनुष्य को बहुतेरे दूसरे आवश्यक और महत्त्वपूर्ण काम छोड़ने ही पड़ते हैं। यद्यपि आज गवर्नमेण्ट ने मद्यनिषेध-सम्बन्धी कांग्रेस-मिनिस्ट्री की नीति को उलट दिया है और झरिया में--जहां इन रूपयों में काम हो रहा था फिर भी शराब की बिक्री होने लगी होगी, तथापि मुझे विश्वास है कि जब फिर हमको समय मिलेगा, उनकी इच्छा पूरी की जायगी।

यहां एक और घटना का भी जिक्र कर देना अनुपयुक्त न होगा। खादी के काम करनेवालों में एक युवक थे श्री बब्बनसिंह। सारन जिले के गोपालगंज सब-डिवीजन के कैथवलिया गांव के रहनेवाले थे। बड़े भावुक थे। मुखतारकारी की परीक्षा के लिए तैयारी कर रहे थे। परन्तु देश की पुकार सुनकर वह विचार छोड़ खादी के काम में लग गये। घर के कुछ धनी नहीं थे। बहुत छोटी वृत्ति के आदमी थे। अपने पैसे से खादी और चर्खे का प्रचार उन्होंने शुरू कर दिया। अपनी जमीन तथा पत्नी के जेवर तक बेच डाले। इतना करने के बाद उन्होंने खादी-बोर्ड से अपनी हालत कही। उस बोर्ड की ओर से उन्हें सहायता देने का निश्चय हुआ। इसी अवसर पर वह बीमार पड़ गये। उन्माद के लक्षण उनमें दीखने लगे। वह बार-बार कहते कि उनको सांप काट डालेगा। हमेशा चर्खा और खद्दर के गीत गाते रहते। कभी-कभी बिगड़ भी जाते। इसलिए लोगों ने उनको एक घर में बन्द कर रखा था। एक दिन रात के समय चिल्लाकर कहने लगे कि सांप आ गया और वह उससे लड़ रहे हैं। पहले तो लोगों ने उसे पागल का प्रलाप ही समझा। पर जब लोगों ने जाकर देखा तो सचमुच एक गेहुंअन सांप को वह हाथ में पकड़े हुए थे। उसने उनको कई जगह काट लिया था। उन्होंने सांप को तो मार डाला, पर स्वयं भी कुछ देर में उसके विष से मर गये।

श्री बब्बनसिंह की स्त्री ने, उनकी बीमारी के आरंभ के दिन से ही, अन्न खाना

छोड़ दिया था। जब चौबीसवें दिन उनकी मृत्यु हो गई उसने स्नानादि कर सती होने की इच्छा प्रकट की। लोगों ने ऐसा नहीं करने दिया। उनके शव को दाह-क्रिया के लिए ले गये। उसने बहुत जोर लगाया, पर लोगों ने उसे जबरदस्ती बन्द कर रखा। उस समय वह शान्त हो गई। चुप रहने लगी। अपने घर में, जिसका एक कोना बहुत अंधेरा था, रहा करती। उसी कोने में कुछ रूई और खादी रखी हुई थी। तीन-चार दिनों के बाद एक रात वह अपने घर में सोने गई। बब्बनसिंह के दो भाई बाहर के घर में सोये। किसी ने कुछ सन्देह न किया। सवेरे वह नहीं उठी। तब लोगों को सन्देह हुआ। जब लोगों न उस कोठरी के अन्दर जाकर देखा तो पाया कि 'रामसूरत' (यही उसका नाम था) एक हाथ में गीता लिये और दूसरे हाथ पर टेक दिये बैठी है। बदन छूने पर मालूम हुआ कि पैर के अंगूठे से लेकर छाती तक शरीर जलकर खाक हो गया है और बाकी हिस्सा ज्यों-का-त्यों है। पीठ पर लटके हुए सिर के लम्बे केश कुछ जल गये थे, पर आंखों की पपनियों पर जलने का कुछ निशान न था। वहीं पर खादी और रूई भी योंही बची पड़ी थी--उसके तन से तीन-चार फुट के अन्दर दो तरफ। घर में जलावन की कुछ लकड़ी रक्खी गई थी, जो गायब थी; पर वह इतनी नहीं थी कि उसके शरीर को खाक कर सके। इस तरह उस देवी ने अपना सतीत्व प्रमाणित करके देह-त्याग किया। इस घटना की खबर पाकर मैं वहां गया। वहां के लोगों ने जैसी सब बातें कहीं, मैंने पत्रों में प्रकाशित करा दी। घटना विचित्र थी। इसमें कुछ चमत्कार भी अवश्य था। बहुतेरे लोग उस स्थान के दर्शनों के लिए आये थे। मैंने भी, घरवालों को सांत्वना देने के अलावा, इस साध्वी के स्थान को देखकर अपने को धन्य माना।

: ६२ :

देशबन्धु दास का देहावसान

देशबन्धु दास का स्वास्थ्य बेलगांव-कांग्रेस के समय से ही खराब होने लगा। वह कुछ दिनों तक पटने में ही अपने भाई श्री प्रफुल्लरंजन (पी० आर०) दास के साथ आकर ठहरे थे। उस समय मैं उनसे अक्सर जाकर मिलता रहा। उन्होंने चर्खा चलाना सीखना प्रारंभ किया। मुझसे कहा कि तुम खुद सिखाओ या सिखाने के लिए किसी आदमी को नियुक्त कर दो। इस सम्बन्ध में बातें करते-करते उन्होंने कहा कि इस प्रकार के काम में हमारा हाथ नहीं चलता और न बुद्धि ही ठीक चलती है--यदि मुझपर छोड़ दिया जाय तो मैं शायद अपने ट्रंक का ताला भी ठीक नहीं खोल सकता। मैंने कई दिनों तक सूत-कताई सिखलाई। फिर जब मुझे कहीं बाहर जाना पड़ा तो एक दूसरे मित्र उनके पास इस काम के लिए जाया करते थे। पटने में उनसे राजनैतिक बातें भी हुआ करती थीं। उन्हीं दिनों लार्ड बर्केनहेड भारत-मंत्री नियुक्त हुए थे। यों तो वह बड़े कट्टर कन्सर्वेटिव (अनुदार-दल के) और पक्के साम्राज्यवादी थे; पर देशबन्धु दास का विचार था कि वह प्रतिभाशाली और एकबग्गा मिजाज के भी हैं, हो सकता है कि हिन्दुस्तान के सम्बन्ध में वह कुछ कर जाना चाहें। इसलिए, कुछ भीतर-भीतर बात भी शायद चली। उनको बहुत आशा थी कि कुछ-न-कुछ उस वक्त हो जायगा, जिससे भारत और इंग्लैंड के बीच सुलह-शान्ति हो सकेगी। वह यहांतक कहा करते कि बर्केनहेड से यदि मेरी आशा पूरी न हुई तो देश को हमारे उठाने के लिए गांधीजी के चर्खे के सिवा और कुछ भी न रह जायगा।

१६२३ के चुनाव में, जैसा पहले कहा गया है, स्वराज्य-पार्टी ने भाग लिया था। दिल्ली में कांग्रेस के विशेष अधिवेशन ने इसकी इजाजत दे दी थी; पर कौंसिल के कार्यक्रम को अपने हाथों में नहीं लिया था। इसलिए स्वराज्य-पार्टी को उस चुनाव में उतनी सफलता नहीं मिली थी जितनी उसे कांग्रेस की मदद से मिलती; तो भी बंगाल और मध्यप्रदेश में उनकी एक अच्छी संख्या कौंसिल में पहुंची। इसी तरह, केन्द्रीय असेम्बली में, दिल्ली में भी एक अच्छी संख्या में स्वराजी लोग चुने गये। यद्यपि यथेष्ट सफलता न हुई तथापि कुछ अच्छे लोग कौंसिलों में पहुंच ही गये।

उन्होंने वहां की कार्रवाइयों में एक नई रीति और नई दृष्टि का समावेश कर दिया। मध्यप्रदेश में तो स्वराजियों का बहुमत था। वहां उन्होंने बजट और मंत्रियों के मुशाहरे को नामंजूर कर दिया। गवर्नर को मजबूर होकर मंत्रियों को हटाना और सारा अधिकार अपने हाथों में ले लेना पड़ा। इसी तरह, यद्यपि उनका बहुमत बंगाल में नहीं था, देशबन्धु दास के व्यक्तित्व और प्रयत्न के कारण, वहां का मंत्रिमंडल भी टूट गया। बंगाल के गवर्नर को भी सब अधिकार अपने ही हाथों में ले लेना पड़ा था। केन्द्रीय असेम्बली में पंडित मोतीलालजी स्वराज्य-पार्टी के नेता थे। दूसरे दल और विचारवालों के साथ मिलकर वहां भी बजट नामंजूर करा दिया गया। बड़े लाट को अपने विशेष अधिकार के द्वारा उसे मंजूर करना पड़ा। यह सिलसिला दो बरसों तक चलता रहा। बंगाल में देशबन्धु ने दमन-सम्बन्धी बिल को भी नामंजूर करा दिया। इन सब बातों का असर देश के लोगों पर बहुत अच्छा पड़ा था। किन्तु सरकारी अधिकारी-वर्ग उतना ही नाराज भी हुआ था। महात्माजी के समझौते के कारणों में स्वराज्य-पार्टी की यह सफलता भी एक मुख्य कारण थी। पर यह स्पष्ट था कि इस तरह की कार्रवाई बहुत दिनों नहीं चल सकती थी। केन्द्रीय असेम्बली में जो दूसरे दलों के साथ बातचीत करके एक पार्टी बनाई थी, वह आहिस्ता-आहिस्ता कमजोर पड़कर टूट गई। स्वराज्य-पार्टी दूसरे दलों से अलग हो गई। मध्यप्रदेश में भी भीतर-भीतर, स्वराजियों में ही, मंत्रिमंडल बनाने की कुछ मुंहामुंही होने लगी, जिसमें विशेषकर बरार प्रान्त के कुछ सदस्य इसके मुख्य समर्थक थे। इस सब बातों को देखकर ही देशबन्धु दास, जो अनुभवी और दूरदर्शी दोनों ही थे, विचार कर रहे थे कि इस मौके पर यदि प्रतिष्ठापूर्वक कोई समझौता इंग्लैड के साथ हो जाय तो बहुत अच्छा होगा।

गवर्नमेण्ट ने नये आर्डिनेन्स और १९१८ के रेगुलेशन के अनुसार गिरफ्तारियां करके दिखा दिया था कि वह किसी तरह के क्रान्तिकारियों को पनपने देना नहीं चाहती। यह नया आर्डिनेन्स तथा ये गिरफ्तारियां लेबर-पार्टी (मजदूर-दल) की मंजूरी से ही, जिसके प्रधान मंत्री श्री रामजे मैकडोनल्ड थे, हुई थीं। लेबर-पार्टी के चुनाव हार जाने पर कंसर्वेटिव-पार्टी (अनुदार-दल) का मंत्रिमंडल बन गया था। उसीमें लार्ड

बर्केनहेड भारत-मंत्री बने थे। उन्हीं से देशबन्धु दास आशा रखते थे। उनके लिए देशबन्धु ने अपने जानते रास्ता भी साफ कर दिया। देशबन्धु जानते थे कि अंग्रेजों को सन्देह है कि बंगाल की स्वराज्य-पार्टी और देशबन्धु दास भीतर-भीतर क्रान्तिकारियों की मदद करते हैं। अंग्रेजों के दिल में यह सन्देह, गोपीनाथ साहा-सम्बन्धी उनके सिराजगंजवाले प्रस्ताव से और भी पुष्ट हो गया था। देशबन्धु ने सोचा कि अंग्रेज किसी प्रकार का समझौता उस वक्त तक नहीं करेंगे जबतक उनके दिल में यह सन्देह बना रहेगा। यह बात उनको अंग्रेजों से बातचीत करके मालूम हो गई थी। इसलिए इसे दूर करना उन्होंने आवश्यक समझा। एक वक्तव्य प्रकाशित करके उन्होंने यह साफ-साफ कह दिया कि कांग्रेस या स्वराज्य-पार्टी ने भी उस नीति का समर्थन नहीं किया है, जिसमें हत्या जायज समझी जाती है और स्वराज्य-पार्टी के विचार में इस प्रकार की हत्याओं से स्वराज्य-प्राप्ति के रास्ते में रोड़े पड़ जाते हैं; इसलिए वह न कभी पहले इसके समर्थक थे, न अब इसका किसी तरह समर्थन कर सकते हैं। साथ ही, उन्होंने स्वराज्य-पार्टी की अड़ंगा-नीति को जायज बताया। और, जबतक समझौता द्वारा कुछ तय होकर अधिकार हस्तान्तरित न हो जाय, उस नीति को जारी रखने की बात भी कह दी। इस वक्तव्य के पहले अंश से अंगरेज संतुष्ट हुए। यहांतक कि लार्ड बर्केनहेड ने भी इसपर अपनी प्रसन्नता प्रकट की; पर साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि हिन्दुस्तानियों को विधान चलाने में सहयोग करना चाहिए, जब वे ऐसा करेंगे तभी राजनैतिक प्रगति हो सकेगी। देशबन्धु दास इतने पर भी बिलकुल निराश न हुए। उन्हीं दिनों फरीदपुर में बंगीय राजनैतिक सम्मेलन होनेवाला था। देशबन्धु उसके सभापति चुने गये थे।

गांधीजी ने उन्हीं दिनों बंगाल की यात्रा की। प्रान्तीय सम्मेलन (फरीदपुर) में वह भी शरीक हुए। देशबन्धु दास ने अपने भाषण में उन्हीं विचारों और उसी आशा को प्रकट किया। पर उनकी आशा पूरी न हुई! उनका स्वास्थ्य दिन-दिन बिगड़ता ही गया। वह दार्जिलिंग चले गये। महात्माजी भी वहां गये। जब वे दोनों दार्जिलिंग में थे, मैं भी जलपाईगुड़ी तक गया। मेरा उद्देश्य था गांधीजी को बंगाल से बिहार लाने का। इसीलिए मैं वहांतक गया भी। पर अपने स्वास्थ्य के कारण मैं पहाड़ पर नहीं गया। श्रीमथुराप्रसादजी को ही गांधीजी के पास भेजा। महात्माजी राजी भी हुए।

पर इसी बीच में देशबन्धु की अचानक मृत्यु हो गई। सारे देश में उनकी असामयिक मृत्यु से मुर्दनी छा गई। उनका शव कलकत्ते लाया गया। वहां अभूतपूर्व दृश्य देखने में आया। इतने अधिक लोग जलूस में शरीक हुए कि शायद ही कभी किसी दूसरे जलूस में उतने हुए हों। महात्माजी भी कलकत्ते में आ गये। यह देशबन्धु-स्मारक के लिए रूपये जमा करने तथा बंगाल के राजनैतिक नेताओं से वहां की स्थिति सुलझाने के सम्बन्ध में बातें करने में लग गये। इसलिए कुछ दिनों तक उनका बिहार में आना न हो सका।

: ६३ :

सामाजिक सुधार

उन्हीं दिनों मेरे घर में दो शादियां थीं । एक मेरी छोटी भतीजी रमा की--लखनऊ के श्री विद्यादत्त राम के साथ और दूसरी मेरे बड़े लड़के मृत्युन्जय की--श्री व्रजकिशोरप्रसादजी की छोटी लड़की विद्यावती के साथ । लखनऊ की बरात बहुत तुजुक के साथ आई थी । आदमी कुछ ज्यादा नहीं थे; पर बहुत प्रतिष्ठित घराने के कारण उन लोगों की शान बहुत थी । सब प्रबन्ध हम लोगों को ही करना पड़ा था । भाईसाहब ने बहुत इन्तजाम किया था । बाबू हरिजी ने इस शादी के ठीक होने में बड़ी मदद की थी । वे लोग उनके निकट सम्बन्धी थे । हम लोग यह नहीं चाहते थे कि किसी को कोई शिकायत हो । इसलिए ठहरने के लिए खीमों और खान-पान के लिए बहुत ही नफासत का इन्तजाम था । इसके ठीक उलटे मृत्युन्जय की शादी बड़े सादे तरीके से हुई । हमने तो अपने घर के तीनों लड़कों में से किसी की शादी में तिलक-दहेज नहीं लिया; पर तीनों लड़कियों की शादी में तिलक-दहेज काफी देना पड़ा था । कहीं-कहीं तो जबरदस्ती, इच्छा से अधिक, देना पड़ा था । इस सम्बन्ध में हमारे अनुभव हमेशा कटु रहे हैं । हमारे समाज में कुरीतियां काफी हैं । जबतक वे दूर नहीं होतीं, लड़की का होना और उसकी शादी की झंझट हमारे लिए दुःखदाई साबित होती रहेगी । कायस्थों में, विशेषकर श्रीवास्तवों और अम्बष्ठों में, बहुत सुधार की जरूरत है ।

कायस्थ कान्फ्रेन्स (अखिल भारतीय) का जन्म प्रायः कांग्रेस के साथ ही हुआ था । मेरा ख्याल है कि शायद पहले अधिवेशन में ही इस बात पर जोर दिया गया कि लड़की के पिता से कई नामों से तिलक-दहेज की रकमें लेने की प्रथा बहुत बुरी है, उसको रोकना चाहिए । प्रायः प्रत्येक अधिवेशन में इस आशय के प्रस्ताव पास किये गये हैं ! पर जो कान्फ्रेन्स के कर्ता-धर्ता होते उनमें बहुतेरे स्वयं ही इस प्रस्ताव की अवहेलना करते ! अनेक तो ऐसे भी हुए हैं, जिन्होंने कान्फ्रेंस द्वारा प्राप्त प्रतिष्ठा को अधिक तिलक-दहेज लेने के कारण बना लिया ! चूंकि कान्फ्रेंस के सभापति अथवा अन्य उच्चपदाधिकारी होने के कारण कायस्थों में उनकी बहुत प्रतिष्ठा हो गई, इसलिए

उन्होंने अधिक पैसे उगाहे ! इसलिए, कायस्थ कान्फ्रेंन्स, सब जातीय कान्फ्रेन्सों में पुरानी होने पर भी, अपने उद्देश्यों की सिद्धि में बहुत सफल नहीं हुई है ।

जब मैं १६१६ में कलकत्ते से पटने में वकालत करने के लिए आया, उसके थोड़े ही दिनों के बाद कुछ कायस्थ मित्रों ने मुझसे एक प्रतिज्ञा-पत्र पर दस्तखत कराया । उसका आशय यह था कि लड़के की शादी में, प्रत्यक्ष वा परोक्ष रीति से, किसी नाम से, लड़की के पिता या दूसरे सम्बन्धियों से, ५१ रूपये से अधिक हम नहीं लेंगे । मेरा विचार इसके पक्ष में पहले से ही था । इसलिए मैंने खुशी से प्रतिज्ञा-पत्र पर दस्तखत कर दिया । भाईसाहब इस विषय में बहुत ही कट्टर विचार के थे । वह तो यह भी मानते थे कि जो कोई तिलक-दहेज अधिक लेता है या शादी में नाच-महफिल में अधिक खर्च करता है, उसकी बरात में जाना ही न चाहिए । इसलिए, हमारे घर में, इन शर्तों के मानने में कोई कठिनाई नहीं थी । तीन में से मेरी दो भतीजियों की शादी इसके पहले ही हो चुकी थी । उनमें हमको तिलक-दहेज देने पड़े थे । अब केवल एक लड़की ब्याहने को थी । पर तीन लड़के थे, जिनमें किसी की शादी नहीं हुई थी । इसलिए, जहां देने का सवाल था वहां तो हम घाटे में रहे, और जहां कुछ पाने की आशा की जा सकती थी वहां भी हमने प्रतिज्ञा करके उसका रास्ता ही बन्द कर दिया । पर यह हमने किया जान-बूझकर । उसी प्रतिज्ञा के कारण तीनों लड़कों की शादियां नई रीति से, बिना तिलक-दहेज और बिना नाच-तमाशे के हुई । पर कन्या-पक्ष के होने के कारण हमें तीनों लड़कियों की शादियों में तिलक-दहेज देने पड़े । हमें उस सभी यातनाओं को भोगना पड़ा, जो हमारे समाज में लड़की के पिता और अभिभावकों को भोगनी पड़ती हैं ।

इसके बाद, उसी साल के अन्त में (१६२४ के दिसम्बर में), जब मैं कायस्थ-कान्फ्रेन्स के जौनपुर-अधिवेशन का सभापति चुना गया तो मैंने उसे इसलिए स्वीकार कर लिया कि शायद वहां जाकर कम-से-कम इस कुप्रथा को रोकने में कुछ कृतकार्य हो सकूं । वहां उस कान्फ्रेन्स में दो प्रस्ताव, पुराने होने पर भी, मार्के के हुए । एक तो तिलक-दहेज-सम्बन्धी था, जिसमें हमने प्रतिज्ञा को और भी कड़ी बना दिया । उसी प्रस्ताव में, ऐसी शादी में, जहां प्रस्ताव का उल्लंघन होता हो, शरीक न होने की भी प्रतिभा जोड़ दी गई । दूसरे में, कायस्थों के विभिन्न वर्गों और शाखाओं में रोटी-बेटी के व्यवहार जारी करने पर जोर दिया गया । जहांतक मैं जानता हूं, तिलक-दहेज की

प्रथा तो उसके बाद भी जारी रही। शायद जारी रहेगी भी; क्योंकि आज के अनेक युवक तो शादी की शर्तों में कहीं-कहीं अपनी शिक्षा विशेषकर विदेश की शिक्षा--के खर्च की मांग भी पेश कर देते अथवा दूसरी फरमाइशें स्वयं कर देते हैं। इसलिए यह आशा भी नहीं की जा सकती कि पुराने विचारवाले बड़े-बूढ़े जब गुजर जायंगे तो इस सुधार का रास्ता साफ हो जायगा; क्योंकि जिनपर आगे की आशा की जा सकती थी, उनमें बहुतेरे तो पुरानों से भी अधिक व्यापार-बुद्धि रखनेवाले साबित हो रहे हैं। पर यह सन्तोष का विषय है कि अन्तर्वर्गीय विवाह कायस्थों में होने लगे हैं। अब कोई इस बात के मानने में नहीं झिझकता कि लड़के की शादी दूसरी-दूसरी शाखा के वंश में करना भी उचित और ग्राह्य है। अब तो कम उम्र की छोटी विधवाओं की शादी भी हो जाती है। उस समय तक इस सम्बन्ध में मेरे विचार साफ नहीं हुए थे। पर इसके बाद ही मैंने भी मान लिया कि विधवा-विवाह, विशेषकर छोटी उम्र की लड़कियों का, होना अनिवार्य है। ऐसी कुछ शादियों में अपनी सम्मति देकर मैंने प्रोत्साहन भी दिया है।

: ६४ :

बिहार में गांधीजी का दौरा और कौंसिल का चुनाव

पहले कहा जा चुका है कि बेलगांव-कांग्रेस ने उस समझौते को मंजूर कर लिया था, जिसके अनुसार कांग्रेस की नियमावली में परिवर्तन करके कांग्रेस-सदस्य बनने के लिए पैसे के बदले में दो हजार गज सूत देना और कांग्रेस-सम्बन्धी अवसरों पर खादी पहनना अनिवार्य कर दिया गया था। कुछ लोग इसके गहरे विरोधी थे। कांग्रेस के बाहर के लोग, जिनसे कांग्रेस में शरीक होने की आशा की जाती थी, इसके विरूद्ध थे ही। कांग्रेस के अन्दर भी एक जमात थी जो इसका पूरा विरोध करती थी। स्वराज्य-पार्टी ने इसे मंजूर कर लिया था; पर उसके कुछ मुख्य सदस्य ऐसे थे, जिन्होंने इसे कभी दिल से स्वीकार नहीं किया था। बेलगांव के बाद भी यह कहा जाता रहा कि सूत और खादी की शर्त लगाकर कांग्रेस ने अपने क्षेत्र को और भी संकुचित कर दिया--अब उसके सदस्यों की संख्या बहुत कम होकर रहेगी। गांधीजी को आशा थी कि सब लोग मिलकर यदि जोर लगावेंगे तो बहुतेरे चर्खा चलानेवाले हो जायंगे, और यदि सदस्यों की संख्या कम भी होगी तो जो रह जायंगे वे पक्के और काम करनेवाले होंगे, जिनपर पूरा भरोसा किया जा सकेगा। पर यह आशा पूरी न हुई ! बहुत प्रयत्न के बाद भी कांग्रेस के सदस्यों की संख्या बहुत कम हो गई। गांधीजी इससे प्रभावित हुए। उन्होंने यह विचार प्रकट कर दिया कि स्वराज्य-पार्टीवाले अगर चाहें तो उनको वह समझौते की शर्तों से मुक्त कर देंगे और केवल सूत की जगह सूत अथवा चार आने पैसे कांग्रेस की मेम्बरी के शुल्क के रूप में दिया जाना मंजूर कर लेंगे। पर गांधीजी इस बात पर राजी होना नहीं चाहते थे कि सूत की बात एकदम उठा दी जाय और--जैसा कुछ लोग चाहते थे--खद्दर का शर्त भी उठा दी जाय। उन्होंने पंडित मोतीलालजी के साथ बातें कीं। यह निश्चय हुआ कि नियमावली में फिर संशोधन कर दिया जाय; साथ ही यह भी तय हो जाय कि जो रूपये खादी के काम में लगे हैं वे उसी काम में लगे रहें, और खादी-प्रचार के लिए एक अलग संस्था कामय कर दी जाय, जो कांग्रेस का अंग होते हुए भी स्वतंत्र हो, तथा

स्वराज्य-पार्टी को कांग्रेस के राजनैतिक कार्यक्रम के चलाने का पूरा अधिकार दे दिया जाय ।

महात्मा गांधी कुछ दिनों के बाद बंगाल का काम पूरा करके बिहार का दौरा करने के लिए आये । बिहार के दौरे का आरम्भ छोटा नागपुर से ही किया गया । इसका विशेष कारण यह था कि बिहार-प्रान्तीय राजनैतिक सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन उस साल पुरूलिया में, शाह मुहम्मद जुबैर के सभापतित्व में, होनेवाला था । वहां के लोगों ने बहुत उत्साह के साथ तैयारियां की थीं । छोटा नागपुर में प्रान्तीय सम्मेलन का यह पहला ही अधिवेशन हो रहा था । उन लोगों की प्रबल इच्छा थी कि महात्माजी भी वहां पधारें । गांधीजी ने इसे मंजूर कर लिया । एक तरह से उनकी यात्रा वहीं से शुरू हुई । इसके कुछ पहले ही महात्माजी एक बार जमशेदपुर आ गये थे । वहां मजदूर-संगठन में देशबन्धु दास दिलचस्पी ले रहे थे । वहां यूनियन (संघ) भी कायम हुआ था । पर अभी तक उनको टाटा-कम्पनी ने मंजूर नहीं किया था । इस समय देशबन्धु के बाद, श्री दीनबन्धु एण्डरूज उसके सभापति चुने गये । उनके अनुरोध से महात्माजी ने वहां जाना मंजूर कर लिया था । कम्पनी के मैनेजिंग डाइरेक्टर श्री आर० डी० टाटा वहां आये । कम्पनी की ओर से महात्माजी का बड़ा स्वागत हुआ । मैं भी महात्माजी के साथ था । दो दिनों तक वहां ठहरकर उन्होंने कारखाने को भी खूब देखा । डाइरेक्टरों से बातें भी कीं । नतीजा इसका यह हुआ कि यूनियन को टाटा-कम्पनी ने मान लिया; मजदूर-मेम्बरों के मुशाहरे से काटकर उसका चन्दा जमा कर देने का भी वचन दिया । जो दूसरी शिकायतें थीं, उनको भी दूर कर दिया । हर तरह से यह यात्रा बहुत सफल रही ।

पुरूलिया का सम्मेलन बहुत समारोह के साथ हुआ । महात्माजी बम्बई की तरफ से आये । उनको हमने 'सीनी' में डाकगाड़ी से उतारा । समय की बचत के लिए, वहां से पुरूलिया तक उन्हें एक स्पेशल ट्रेन से ले आये । सम्मेलन में विशेषता यह थी कि एक अच्छी प्रदर्शनी उसके साथ हुई थी, जिसका उद्घाटन गांधीजी ने किया था । सम्मेलन समाप्त करके गांधीजी ने छोटा नागपुर की यात्रा आरम्भ कर दी । उम्मीद थी कि वह सारे सूबे का दौरा कर सकेंगे । मैंने देखा है कि महात्माजी जब कभी दौरा करने निकलते हैं तो लोगों की इच्छा रहती है कि वह अधिक-से-अधिक स्थानों में ले जाये जायं ताकि वहां की जनता उनके दर्शनों से लाभ उठा सके । यह

एक प्रकार से स्वाभाविक भी है; पर यह कहीं-कहीं अन्दाज से अधिक हो जाता है। मुझे मानना पड़ता है कि इस प्रवृत्ति का शिकार चाहे अपने मन से या मित्रों के अनुरोध से, मैं भी हो चुका हूं। जो यात्रा-क्रम बनाया गया वह बहुत ही कड़ा बना। महात्माजी का स्वास्थ्य, जो महीनों के दौरे से पहले से ही क्षीण हो गया था, उसे बर्दाश्त न कर सका। हमने यात्रा को दो भागों में बांटा था, पहले में छोटा नागपुर, दूसरे में बिहार के अन्य जिले। छोटा नागपुर की यात्रा समाप्त करके पटने में अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी की बैठक के लिए कुछ ठहरना और फिर दूसरे जिलों में जाना था। छोटा नागपुर की यात्रा में ही महात्माजी बहुत थक गये। अन्तिम दिन, हजारीबाग जिले का काम समाप्त करके 'कोडरमा' स्टेशन पर रेल में सवार होते-होते, वह बेहोश से हो गये। मैं भी साथ था। किसी भी प्रकार से भीड़-भाड़ को रोकना कठिन हो रहा था। उनकी तबीयत कितनी ज्यादा खराब हो गई है, इसका भी पूरा पता हम लोगों को न था। अब बात खुल गई। हमने बिहार के बाकी कार्यक्रम को कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया। महात्माजी को पटने में, गंगाजी के किनारे एक कोठी में, कुछ दिनों तक आराम करने के लिए, ठहराने का निश्चय किया इससे उनको बहुत लाभ पहुंचा। बिहार के लोग जहां-तहां से आकर दर्शन भी करते रहे।

उसी समय अखिल भारतीय कमिटी की बैठक पटने में हुई, जिसमें यह निश्चय हुआ कि कांग्रेस की नियमावली में संशोधन और उपर्युक्त परिवर्तन कर दिया जाय। इस बात की भी इजाजत हो गई कि कांग्रेस का सारा राजनैतिक प्रोग्राम, जिसमें कौंसिलों का चुनाव भी शामिल था, स्वराज्य-पार्टी ही पूरा करे; कांग्रेस की ओर से उम्मीदवार खड़े किये जायं और इसके प्रबन्ध का भार स्वराज्य-पार्टी के नेता पंडित मोतीलाल नेहरू लें। वहीं यह भी तय हुआ कि कांग्रेस के जो रूपये खादी-प्रचार के काम में लगे हैं वे--कांग्रेस से सम्बद्ध, पर अपने काम के लिए स्वतंत्र--एक नई संस्था को सौंप दिये जायं। इस तरह अखिल भारतीय चर्खा-संघ का जन्म हुआ। उसका विधान गांधीजी ने बनाया। उसके कई आजीवन ट्रस्ट्री और प्रबन्ध-कारिणी के सदस्य हुए। उनमें एक मैं भी हुआ। महात्माजी सभापति हुए। इसके अलावा, प्रत्येक सूबे के काम की देख-रेख करने के लिए एक एजेण्ट नियुक्त किया गया। उसकी सहायता के लिए प्रान्तीय मंत्री की भी नियुक्ति हुई। बिहार के लिए मैं एजेण्ट नियुक्त हुआ, उत्तर प्रांत के लिए पंडित जवाहरलाल, बंगाल के श्री सतीशचन्द्र दासगुप्त, तामिलनाड

के श्रीराजगोपालाचारी प्रभृति । इस प्रकार यह संघ, एक प्रकार से स्वतंत्र होकर खादी-प्रचार का काम करने लगा । इसने पिछले सत्रह-अठारह बरसों में खादी-प्रचार में और उसकी कला की उन्नति में बहुत बड़ा काम किया है । जब ये पंक्तियां लिखी जा रही हैं, अगर सरकार इसके कारबार को जहां-तहां तहस-नहस न कर दिये होती तो, आज कपड़े की महंगी के दिनों में इसकी उपयोगिता और भी देखने में आती । इतने दिनों में इसने करोड़ों रूपये गरीबों को, विशेषकर उन गरीब स्त्रियों को, जो दूसरा कोई काम नहीं कर सकती थीं, मजदूरी के रूप में बांटा है ।

जब यह निश्चय कर लिया गया कि कांग्रेस की ओर से चुनाव की लड़ाई लड़ी जाय, तो पंडितजी ने मुझसे कहा कि बिहार का भार तुमको संभालना होगा । यद्यपि मैं इस विषय में अपने वही विचार रखता था जो पहले थे, फिर भी मैंने सोच लिया कि कांग्रेस ने जब निश्चय कर लिया है तो उसकी जीत कराने में यथासाध्य प्रयत्न कर देना ही हमारा धर्म है । मैंने पंडितजी को वचन दे दिया और वह निश्चिन्त हो गये ।

उसके थोड़े ही दिनों बाद सबसे पहले कौंसिल आफ स्टेट का चुनाव हुआ । उसमें बिहार के एक मुसलमान और तीन गैर-मुस्लिम सदस्य चुने जाने को थे । मुस्लिम स्थान के लिए शाह मुहम्मद जुबैर और गैर-मुस्लिम स्थानों के लिए सर्वश्री श्रीकृष्णसिंह, अनुग्रहनारायणसिंह और मेरे भाई बाबू महेन्द्रप्रसाद खड़े किये गये । विरोधियों में दरभंगा के महाराजाधिराज और डुमरांव के महाराजा बहादुर प्रभृति थे । चुनाव में परिश्रम काफी पड़ा; क्योंकि मत देनेवाले विशेषकर धनी वर्ग के--जमींदार, महाजन और व्यापारी--थे । उनकी संख्या बहुत नहीं थी, पर उनको किसी एक स्थान में आकर मत नहीं देना था । वे स्वयं भी किसी सरकारी उच्चपदाधिकारी के सामनें कागज पर दस्तखत करके अपना सम्मति-पत्र डाक से भेज सकते थे । इसलिए एक प्रकार से कागज बटोरने की होड़-सी लग गई । मतदाताओं के पास कागजों के पहुंचने के बाद जितना जल्द उनसे दस्तखत कराकर अपने पक्ष में भिजवाया जा सके उतनी अधिक सफलता की आशा हो सकती थीं । इसके अलावा, उड़ीसा भी बिहार के साथ था; वहां के वोट भी बटोरने थे ! हम लोगों के प्रयत्न से शाह जुबैर साहब, बाबू अनुग्रहनारायणसिंह और बाबू महेन्द्रप्रसाद चुन लिये गये । चौथी जगह में दरभंगा के महाराजाधिराज चुने गये । श्री बाबू के हारने का हम लोगों को काफी अफसोस रहा; पर लाचारी थी । यह सब १९२५ का अन्त होने के पहले ही हो चुका था ।

: ६५ :

स्वराज्य-पार्टी में मतभेद और कानपुर-कांग्रेस

ऊपर उस प्रयत्न का जिक्र आया है, जो सब दलों को कांग्रेस में शरीक करने के लिए किया गया था। यह भी कहा गया है कि बेलगांव-कांग्रेस के पहले ही अखिल भारतीय कमिटी ने असहयोग को स्थगित करके केवल विदेशी-वस्त्र-बहिष्कार को जारी रखा था, साथ ही उसने रचनात्मक कार्यक्रम पर भी जोर दिया था। कांग्रेस की ओर से कौंसिलों में राजनैतिक काम करने का अधिकार स्वराज्य-पार्टी को दे दिया गया था। इससे आशा की जाती थी कि दूसरे दलवाले कांग्रेस में आ जायंगे। जो सर्व-दल सम्मेलन बम्बई में हुआ, उससे आशा और भी बढ़ी थी। पर खेद है कि यह आशा पूरी न हुई। सर्व-दल-सम्मेलन ने जो सब-कमिटी नियुक्त की थी, वह किसी नतीजे पर न पहुंच सकी। अपनी असफलता घोषित करके वह चुप बैठ गई ! पर इसके बाद भी किसी-न-किसी रूप में मिलाप का चर्चा होती ही रही। नरम दलवालों और जिन्ना-जैसे लोगों को दो-तीन बातों की शिकायत थी। एक बात तो यह थी कि कांग्रेस ने यद्यपि उस वक्त असहयोग स्थगित कर दिया था तथापि उसने उसे एकबारगी हमेशा के लिए छोड़ देने की बात तो दूर रही, उनके लिए तो वह देश को तैयार करना चाहती थी, और इस विषय में अपरिवर्तनवादी तथा स्वराजी दोनों सहमत थे। इन दोनों में मतभेद इस विषय में नहीं था--जो भेद था वह यह था कि कौंसिलों के द्वारा देश को तैयार करने में मदद मिलेगी या बाधा पड़ेगी। अपरिवर्तनवादी लोग कौंसिल के कार्य को सत्याग्रह के रास्ते में बाधक समझते थे। स्वराजी लोग कौंसिल को भी देश की तैयारी में लगाना चाहते थे। दूसरी बात यह थी कि कांग्रेस खादी और चर्खे के प्रचार पर बहुत जोर ही नहीं देती थी, बल्कि उसने बेलगांव में खादी पहनने की--कम-से-कम कांग्रेस के काम में लगे रहने के समय--अनिवार्य कर दिया था। उसने मेम्बरी के लिए सूत कातना भी अनिवार्य कर दिया था। कांग्रेस के बाहर के लोग न तो चर्खे में विश्वास करते थे और न खादी पहनने की जरूरत ही महसूस करते थे। कांग्रेस के अन्दर भी कुछ लोग इस विचार के थे, जिनमें मुख्यतः महाराष्ट्र के कुछ लोग थे; पर उनकी संख्या थोड़ी थी। तीसरी चीज, जिससे बाहरी

लोग घबराते थे, यह थी कि कांग्रेस ने कौंसिल के काम का भार और अधिकार स्वराजियों को सौंप दिया है। बाहरी लोगों में अधिक ऐसे ही लोग थे, जो इन कौन्सिलों को विशेष महत्त्व देते थे। वे यह समझने लगे कि कांग्रेस के अन्दर जाकर भी वे इनर कौन्सिलों में अपने लिए स्थान सुरक्षित न कर सकेंगे और न वहां अपनी नीति किसी प्रकार चला सकेंगे; क्योंकि वहां तो नीति स्वराजियों की ही चलेगी। वे उस अड़ंगा-नीति को पसन्द नहीं करते थे और मानते थे कि मंत्रिमंडल मे सबको भाग लेकर कभी-कभी अंकुरित भी हुई, वह इन मौलिक मतभेदों के कारण शीघ्र ही मुर्झा गई। पटने में अखिल भारतीय कमिटी ने, सितम्बर १९२५ में, स्वराज्य-पार्टी को ही कांग्रेस का संगठन एक प्रकार से सुपुर्द कर दिया। अब बाहर के लोगों का कांग्रेस में शरीक होना और भी कठिन हो गया।

ऊपर यह भी कहा जा चुका है कि स्वराज्य-दल के अन्दर, विशेषकर मध्यप्रदेश में, जहां असेम्बली में उनका बहुमत था, देशबन्धु दास के अन्तिम दिनों में ही, मंत्रिमंडल के सम्बन्ध में कुछ कानाफूसी होने लगी थी। उनकी मृत्यु के कुछ ही दिनों बाद यह बात खुल गई कि वहां के कुछ लोग मंत्रिपद-ग्रहण के पक्ष में थे। अभी मंत्रिमंडल तो वहां न बन सका; पर एक प्रमुख स्वराजी श्री तांबे ने--जो स्वराज्य-पार्टी की ओर से असेम्बली के मेम्बर और उसी पार्टी की ओर से खड़ा करके असेम्बली के प्रेसिडेण्ट चुनवाये गये थे--वहां के गवर्नर की एग्जिक्युटिव कौंसिल की मेम्बरी मंजूर कर ली। उन्होंने ऐसा करने के पहले न अपने साथियों की सम्मति ली, न पार्टी की और न उससे इस्तीफा ही दिया। इससे पार्टी में बड़ी खलबली मची। पंडित मोतीलालजी नेहरू ने सख्त रूख अख्तियार किया। उधर महाराष्ट्र के श्री नृसिंह चिन्तामणि केलकर ने श्री तांबे का समर्थन किया। श्री जयकर ने भी एक प्रकार से--उनका नहीं, पर पद-ग्रहण का--समर्थन ही किया। मध्यप्रदेश में श्री अभ्यंकर ने जोरों से इसकी निन्दा की। डाक्टर मुंजे और श्री अभ्यंकर में बड़ा मतभेद हो गया। ये सब लोग स्वराज्य-पार्टी के प्रमुख व्यक्तियों में थे; इसलिए यह गृह-कलह बहुत बढ़ गया। महाराष्ट्र में श्री केलकर और श्री जयकर ने प्रतिक्रियात्मक सहयोग का प्रचार आरम्भ किया। पंडित मोतीलालजी नेहरू पार्टी की अड़ंगा-नीति पर डटे रहे और उसका प्रचार करने लगे।

इसी मतभेद के जमाने में कानपुर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। सभानेतृ

श्रीमती सरोजिनी नायडू चुनी गईं । एक बरस पहले वह दक्षिण-अफ्रीका से लौटी थीं । वहां उन्होंने बहुत काम करके बड़ा नाम हासिल किया था । यदि गांधीजी की चलती तो वह शायद उनको बेलगांव-कांग्रेस में ही सभानेतृ बनाते; पर लोगों के अनुरोध को मानकर उन्होंने सभापतित्व स्वीकार कर लिया था । एक प्रकार से बेलगांव के पहले से ही, सब लोगों के दिल में, कानपुर-कांग्रेस के उस उच्च पद के लिए, सरोजिनी देवी चुनी जा चुकी थी ।

कानपुर-कांग्रेस की विशेषता यह थी कि स्वराज्य-पार्टी को ही कार्यक्रम देना था । इसलिए पंडित मोतीलालजी की राय से ही वर्किंग कमिटी ने कांग्रेस की विषय-निर्वाचिनी समिति के वास्ते प्रस्ताव तैयार किया था । दक्षिण अफ्रीका में हिन्दुस्तानियों के विरूद्ध जो नया कानून बन रहा था, उसका विरोध किया गया । एक दूसरे प्रस्ताव में, बरमा में भी जो हिन्दुस्तानियों के विरूद्ध कार्रवाई हो रही थी, उसकी निन्दा की गई । पर सबसे महत्त्व का प्रस्ताव वह था, जिसका सम्बन्ध कौन्सिलों से था । उसमें यह कहा गया कि असेम्बली में प्रस्ताव पास करके देश की ओर से जो स्वराज्य की मांग पेश की गई है, उसे मानकर ब्रिटिश गवर्नमेण्ट को उसी के अनुसार विधान बनाना चाहिए । यदि वह ऐसा न करने की इच्छा प्रकट कर दे, अथवा फरवरी के अन्त तक इसके सम्बन्ध में कुछ न कहे, अथवा जो कुछ कहे व करे, वह सन्तोषजनक न हो, तो कौन्सिलों के स्वराजी मेम्बर अपने बयान देकर वहां से चले आवें और जबतक फिर आज्ञा न हो, वापस न जायं और तब रचनात्मक कार्यक्रम में लग जायं । विरोधियों का कहना था कि १६२६ की जनवरी से मार्च तक जो बैठक, प्रान्तीय और केन्द्रीय असेम्बली की होनेवाली थी, वही प्रायः अन्तिम बैठक थी, जिसमें--१६२६ में होनेवाले चुनाव के पहले--स्वराजी लोग शरीक हो सकते थे; इसलिए वे अगर निकलते हैं तो इसी बैठक के अन्तिम कई दिनों के इजलास में शरीक न हो सकेंगे, यह कोई विशेष महत्त्व की बात न होगी । हां, अगर निकलना ही है तो हमेशा के लिए निकल आते तो एक बात होगी ।

जो हो, कांग्रेस ने यही निश्चय किया, जिसका अर्थ प्रतिक्रियात्मक-सहयोगवादियों ने यह लगाया कि फिर एक प्रकार से असहयोग धीरे-धीरे कांग्रेस-कार्यक्रम में दाखिल होने लगा और इस अवस्था में उनका कार्यक्रम चल ही नहीं सकेगा । इसलिए श्री

जयकर, श्री केलकर और डाक्टर मुंजे प्रभृति कौंसिल से इस्तीफा देकर अलग हो गये। उन्होंने प्रतिक्रियात्मक-सहयोगवादियों की नई पार्टी कायम की। मेरा निजी विचार हमेशा यह रहा है कि हमको अगर कौंसिलों में जाना ही हो तो वहां जाकर विधान के अनुसार जो कुछ हम कर सकते हों करना चाहिए। मैं अड़ंगा-नीति को कभी समझ न सका। इस समय भी मेरा विचार यही था कि जब स्वराजी लोग वहां गये हैं तो वहां काम करना चाहिए, केवल अड़ंगा नहीं लगाना चाहिए। पर, साथ ही, मैं यह भी मानता था कि वहां जाना ही बेकार है; क्योंकि जो अधिकार १९२० के विधान के अनुसार मिले थे, वे बिलकुल सन्तोषप्रद नहीं थे। वहां जाने से देश में बुद्धिभेद फैलने के सिवा दूसरा कोई फल नहीं निकल सकता। असहयोग, जनता की विचारधारा को, ब्रिटिश गवर्नमेण्ट और उसकी संस्थाओं की ओर से मोड़कर, जनता की अपनी स्थापित संस्थाओं की ओर खींचना चाहता था। इस प्रकार वह जनता में रचनात्मक शक्ति जाग्रत करना चाहता था। कौंसिल-प्रवेश इस धारा को फिर सरकारी संस्थाओं की ओर मोड़ता था। इसलिए मेरे विचार वे वहां जाना हितकर नहीं था। पर अगर कोई जाना ही पसन्द करे तो उसको वहां से जो थोड़ा-बहुत लाभ मिल सके, उसे देश के लिए लेना चाहिए। स्वराजी लोगों का विचार था कि कौंसिलों से बाहर रहकर असहयोग तभी किया जा सकता है जब कोई कौंसिलों से बाहर रहकर असहयोग तभी किया जा सकता है जब कोई कौंसिलों में जानेवाला न मिले। पर ऐसा हो नहीं सकता। दूसरे प्रकार का असहयोग अन्दर से किया जा सकता है और उसका रूप यही हो सकता है कि अड़ंगा लगाकर विधान का छकड़ा न चलने दिया जाय। ऐसा उन्होंने किया भी। बंगाल और मध्यप्रदेश में मंत्रिमंडल नहीं चल सका। स्वयं गवर्नर को ही मंत्रियों के अधिकार अपने हाथों में लेने पड़े थे। केन्द्रीय असेम्बली में बहुमत न होने पर भी दूसरे दलों को मिलाकर उन्होंने बजट नामंजूर करा दिया और वायसराय को उसे अपने विशेष अधिकार द्वारा मंजूर करना पड़ता था। इस तरह जो कुछ अड़ंगा नीति से हो सकता था, उन्होंने कर दिखाया था और देश पर इसका असर अच्छा पड़ा था।

जो हो, मैं तो कौंसिल-प्रवेश का ही विरोधी था। ऐसी अवस्था में यहां कौन नीति बरती जाय, इसका फैसला करनेवाला मैं नहीं हो सकता था। मैंने सोच लिया कि लोग वहां गये हैं, वे ही इसका फैसला करें; उनकी राय से जो नीति कांग्रेस इस

सम्बन्ध में स्वीकार करे उसे ही मुझे भी मान लेना चाहिए; उस नीति के चलाने में जो सहायता मैं दे सकूं, मुझे देनी चाहिए। महात्माजी शायद इस हद तक स्वयं जाने को तैयार नहीं थे; क्योंकि उन्होंने कहा था कि यद्यपि स्वराजियों के ख्याल से कांग्रेस ने कौंसिल का बहिष्कार छोड़ दिया था तो भी कांग्रेस किसी को कौंसिल के लिए वोट देने अथवा अन्य प्रकार से उसकी मदद करने के लिए बाध्य नहीं कर सकती। मैं इससे कुछ आगे बढ़ता था और सोचता था कि जब कांग्रेस ने एक बार कौंसिल-प्रवेश का कार्यक्रम अपने हाथों में ले लिया, तो मेरे निजी विचार चाहे जो हों, मुझे यथासाध्य उस कार्यक्रम को सफल बनाने (अर्थात् चुनाव) में मदद कर देना चाहिए। इसी नीति के अनुसार मैंने काम भी किया। चुनाव में पूरी शक्ति लगाकर खूब दौड़-धूप भी की।

कानपुर में भी स्वदेशी प्रदर्शनी हुई थी। वहां हिन्दुस्तानी सेवा-दल का अच्छा संगठन था। एक दिन यह खबर फैल गई कि कांग्रेस के पड़ाव में कुछ लोग आग लगा देनेवाले हैं। सेवा-दलवालों ने डाक्टर हर्डीकर के नेतृत्व में चौकी लगाई। अधिवेशन सफलतापूर्वक, बिना किसी उपद्रव के, समाप्त हुआ। वहां एक और घटना हुई थी। अजमेर कांग्रेस का एक सूबा समझा जाता था। विधान में उसे भी और सूबों की तरह प्रतिनिधि चुनने का अधिकार था। वहां के चुनाव के सम्बन्ध में कुछ शिकायत थी। वहां के चुनाव को वर्किंग कमिटी ने रद्द कर दिया था, जिसपर कुछ लोग रूष्ट होकर श्री अर्जुनलाल सेठी के नेतृत्व के कांग्रेस में या तो जबरदस्ती घुसना चाहते थे अथवा दूसरों को वहां जाने से रोकना चाहते थे। इस नाजुक परिस्थिति में भी सेवा-दल को काम करना पड़ा था।

: ६६ :

कांग्रेस में एक स्वतंत्र दल

कांग्रेस के निश्चय के अनुसार, मार्च के महीने में जब कोई संतोषजनक उत्तर न मिला तब, अखिल भारतीय कमिटी ने तय किया कि स्वराज्य-पार्टी के लोग केन्द्रीय असेम्बली और प्रान्तीय कौंसिलों से निकल आवें। उन्होंने एक निश्चित तिथि पर ऐसा ही किया भी। पंडित मोतीलालजी ने, जो स्वराज्य-पार्टी के नेता थे, असेम्बली में एक वक्तव्य दिया। उसमें इस निश्चय के कारणों को बताकर इसका समर्थन किया। उसी तरह, अन्य सूबों के लोगों ने भी किया। स्वराज्य-दल से सभी कौंसिलों खाली हो गईं। निश्चय किया गया था कि जो लोग बाहर निकलेंगे वे अपना समय रचनात्मक काम और कांग्रेस के सिद्धान्तों तथा कार्यक्रम के प्रचार में लगायेंगे। कुछ ने ऐसा किया; पर बहुतेरे लोग अपने निजी मनमाने काम में ही लगे रहे। इसी साल के अन्त में फिर नये चुनाव होनेवाले थे। इस बीच में कुछ दुखद घटनाएं हो गईं, जिनका जिक्र कर देना आवश्यक है।

हिन्दू-मुस्लिम झगड़े कई बरसों से चले आ रहे थे। हिन्दू-सभा की ओर से, विशेषकर आर्य-समाज की ओर से, शुद्धि और संगठन पर जोर दिया जा रहा था। उधर मुसलमानों ने भी तबलीग और तंजीम का आन्दोलन जारी कर दिया था। कटुता बढ़ती ही गई थी। कोहाट के दंगे का जिक्र हो चुका है और यह भी कहा गया है कि महात्मा गांधी को वहां जाने से गवर्नमेण्ट ने रोक दिया था। पीछे महात्माजी और मौलाना शौकतअली इस सम्बन्ध में जांच करने के लिए रावलपिंडी गये। वहां से आगे जाने की इजाजत न थी। इसलिए वहीं लोगों को बुलाकर यथासम्भव जांच की गई। कुछ बातों में दोनों में एकमत न हो सका। जब जुदा-जुदा रिपोर्ट छपी तो मालूम हुआ कि जो दो आदमी बराबर एक राय कई बरसों से रखा करते थे, उनका भी इस विषय में मतैक्य न हो सका। महात्माजी ने अपने तरीके से लिखा भी कि इससे लोगों को यह न समझना चाहिए कि हम दोनों के आपस के सम्बन्ध और व्यवहार में किसी प्रकार का फर्क पड़ा है, बल्कि लोगों को यह समझना चाहिए कि ये

लोग हमेशा केवल हां-में-हां नहीं मिलाया करते, कहीं-कहीं मतभेद भी रख सकते हैं। चाहे इन दोनों सज्जनों के भावों में अन्तर न पड़ा हो, पर इसका असर देश पर अच्छा नहीं पड़ा। वह समस्या अधिक जटिल होती गई। राजनैतिक मतभेद थे ही। महात्माजी एक प्रकार से सभी राजनैतिक कामों से अलग हो गये। उनका स्वास्थ्य भी बहुत खराब हो गया था। किसी तरह उन्होंने कानपुर-कांग्रेस तक काम चला दिया। उसके बाद, डाक्टरों की राय से, उन्होंने एक बरस तक साबरमती में रहने का निश्चय कर लिया। वहां रहकर वह आश्रम और खादी के काम को सुसंगठित करने में लग गये। कुछ लोग, जो यह समझते थे कि महात्माजी दुःखी होकर अलग हो गये हैं, बहुत जोर देने लगे कि उनको फिर नेतृत्व लेना चाहिए पर बात ऐसी थी नहीं। उन्होंने साबरमती से काम करना अपने स्वास्थ्य और देश दोनों के लिए हितकर समझा। इसलिए वह अपने निश्चय पर अटल रहे।

इधर हिन्दू-मुस्लिम झगड़े बहुत बढ़ गये। कलकत्ते में बहुत बड़ा दंगा हो गया, जिसमें बहुतेरे हिन्दू-मुसलमान मारे गये। हफ्तों तक बलवाफसाद जारी रह गया। बकरीद के मौके पर कई जगह दंगे हो गये। इसका नतीजा यह हुआ कि खिलाफत-कमिटी के प्रमुख लोग भी प्रभावान्वित हो गये। उसके एक विशेष अधिवेशन में कड़वे भाषण हुए। उसमें निश्चय किया गया कि अबसे खिलाफत-कमिटी मुसलमानों के हकों की हिफाजत का प्रबन्ध करेगी। दूसरी ओर, हिन्दुओं में भी, बहुतेरे कड़वे भाषण किये और लेख लिखे जाने लगे। हमारे सूबे के लिए एक बात यह हो गई कि पंडित मोतीलालजी और मौलवी मुहम्मद शफी में मतभेद हो गया। मौलवी मुहम्मद शफी ने असेम्बली से इस्तीफा दे दिया। स्वतन्त्र रीति से फिर खड़े होकर वह चुन लिये गये। उन्होंने स्वतन्त्र रीति से कुछ प्रचार भी शुरू कर दिया। हमारे सूबे का वायुमंडल भी बिगड़ता जा रहा था। मौलाना मजहरूल हक साहब इससे बहुत दुःखी थे। उन्होंने बिहार के प्रमुख कांग्रेसी और खिलाफत-कमिटी के लोगों को, तथा कुछ और स्वतन्त्र लोगों को भी आमन्त्रित करके एक छोटा-सी कान्फ्रेंस छपरे में की। कई दिनों तक वहां बहुत सफाई और खुलासगी के साथ बातें होती रहीं। हम सबने महसूस कर लिया कि यह मामला ऐसा है कि इसको अब छोड़ना ठीक नहीं है और जहांतक हमसे हो सके, बिगड़े वायुमंडल को अधिक दूषित होने से रोकना चाहिए। हम सबने निश्चय किया कि इसके लिए हम सब मिलकर

प्रयत्न करेंगे। उस सभा में हमको एक बार और हक साहब के देश-प्रेम और सच्ची राष्ट्रीयता का पता चला। हम समझ गये कि हमको एक ऐसा नेता मिला जो हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के लिए सबकुछ त्याग करने को तैयार है। अपने जीवन का बहुत समय उन्होंने इसी में बिताया था। जबतक वह जीते रहे, इस प्रयत्न में ही लगे रहे। कान्फ्रेन्स के निश्चय के निश्चय के अनुसार हकसाहब, मौलवी मुहम्मद शफी, बाबू जगतनारायणलाल, मैं तथा दूसरे कई भाई सूबे में दौरा करने निकल गये।

इसका असर सूबे पर बहुत अच्छा पड़ा। देश में इस बात की बहुत चर्चा होने लगी कि बिहार में हिन्दू-मूस्लिम ऐक्य की जटिल समस्या के सुलझाने का बहुत सुन्दर प्रयत्न मौलाना हक के नेतृत्व में हो रहा है। बिहार का वायुमंडल बहुत हद तक शान्त बना रहा। एक असर यह भी देखा गया कि जब कुछ दिनों के बाद फिर कौंसिल और असेम्बली का चुनाव हुआ तो मुसलमान भी कांग्रेस की ओर से खड़े हुए और चुने गये। मौलवी मुहम्मद शफी साहब और पंडित मोतीलालजी के मतभेद से जो अनबन हो गई थी, वह भी दुरूस्त हो गई।

नवम्बर के महीने में चुनाव हुआ। यह तो इधर अच्छा हुआ कि बिहार में मौलवी शफी साहब हम लोगों के साथ मिलकर काम करने लगे; पर उधर लाला लाजपतराय और पंडित मोतीलालजी का मतभेद हो गया। नतीजा यह हुआ कि पंडित मदनमोहन मालवीयजी और लाला लाजपतराय ने एक नया दल बना लिया। उस दल की ओर से जो उम्मीदवार खड़े किये गये, उन्होंने कांग्रेस के उम्मीदवारों का विरोध किया। बिहार में बाबू जगतनारायणलाल कांग्रेस के प्रमुख कार्यकर्त्ताओं में थे। उनके विचार हिन्दू-संगठन के पक्ष में थे। वह हिन्दू-सभा में प्रमुख भाग लेने लगे। उस समय कांग्रेस ने हिन्दू-सभा का सदस्य होना रोका नहीं था। हममें से बहुतेरे उसके सदस्य थे। ऊपर कहा जा चुका है कि मुजफ्फरपुर के वार्षिक अधिवेशन (हिन्दू-सभा) में बोध-गया-सम्बन्धी प्रस्ताव पास कराने में हमने भी पूरा जोर लगाया था। इसलिए, यद्यपि कुछ लोगों को जगतबाबू का कांग्रेस से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होना और हिन्दू-सभा को इतना समय देना अच्छा नहीं लगता था, तथापि उनके ऐसा करने में कोई वैधानिक रूकावट नहीं थी। पर जब पं० मालवीयजी और लालाजी ने स्वतंत्र कांग्रेस दल का संगठन कर लिया और कांग्रेस के निश्चय के विरूद्ध कांग्रेसी उम्मीदवारों का विरोध करने लगे, तो स्थिति बहुत बदल गई। जगतबाबू कांग्रेस की

ओर से उम्मीदवार खड़े किये गये थे, पर उसे छोड़कर उन्होंने इस नरम दल की ओर से खड़ा होना पसन्द किया। मजबूर होकर उनका विरोध करना पड़ा। कुछ और लोग भी, जो कांग्रेस से नाराज थे, अथवा जो कांग्रेस के विरोधी थे अथवा जिनको कांग्रेस ने उम्मीदवार न बनाकर किसी दूसरे को बना दिया था, इस दल में जा मिले। ऐसे लोगों में सारन जिले के बाबू श्रीनन्दनप्रसादनारायणसिंह शर्मा भी थे। नतीजा यह हुआ कि बिहार में भी इस चुनाव में काफी गर्मी आ गई। मालवीयजी तथा लालाजी यहां अपने उम्मीदवारों के समर्थन में दौरा करने लगे। पंडित मोतीलालजी तथा दूसरे स्वराजी नेता कांग्रेसी उम्मीदवारों की सहायता के लिए पहुंच गये। मुझसे जो कुछ हो सकता था, मैं कर ही रहा था।

मैं इसी दौरे मे छोटा नागपुर गया। पुरूलिया से रांची मोटर पर जा रहा था। गाड़ी खूब तेज जा रही थी; क्योंकि उसी दिन रांची में उम्मीदवारी की दरख्वास्तों की जांच होनेवाली थी। ठीक समय से पहुंचना जरूरी था। रास्ते में भैंसागाड़ी आ गई। मोटर को उससे बचने के लिए मोड़ना पड़ा। वह काबू से बाहर होकर एक पेड़ से टकरा गई। मेरे सिर और नाक पर चोट आई। थोड़ी चोट औरों को भी लगी। गाड़ी का कुछ अंश टूट गया। पर हम लोग किसी तरह कुछ देर के बाद रांची पहुंच गये; क्योंकि यह घटना रांची के नजदीक पहुंचने पर हुई थी। वहां तो कुछ नहीं मालूम हुआ कि मुझे चोट ज्यादा है। डाक्टर ने पट्टी बांध दी। मैं दौरे का काम करता रहा। छोटा नागपुर का काम पूरा करके मैं उत्तर बिहार में चला गया। बेगूसराय, समस्तीपुर इत्यादि होते हुए मुजफ्फरपुर जिले में गया। सीतामढ़ी पहुंचकर, प्रायः घटना के एक सप्ताह के बाद, सिर में दर्द मालूम हुआ। मैंने समझा कि थकावट अथवा सर्दी लग जाने के कारण दर्द है। कुछ दवा भी खा ली और आगे बढ़ गया। सौभाग्यवश उसी दिन पटना लौटने का कार्यक्रम था। वहां पहुंचते-पहुंचते दर्द बढ़ गया। कई दिनों तक बहुत कष्ट हुआ। डाक्टर लोग भी कुछ निश्चय नहीं कर सकते थे कि यह दर्द क्यों है। पर दो-तीन दिनों के बाद सारे चेहरे पर सूजन आ गई। तब मालूम हुआ कि वह उस चोट का नतीजा है, जो मोटर की दुर्घटना में मुझे लगी थी। मैं इस बीमारी के कारण और कई जगहों में जहां जाना था, नहीं जा सका। चुनाव में बहुत बेहूदा प्रचार किया गया था। पंडित मोतीलालजी पर खुले आम व्यक्तिगत आक्षेप किये गये। कहीं-कहीं भद्दे व्यंग्य चित्र (कार्टून) भी दिखाये गये

थे। हमने बहुत जोरों से इन सबका विरोध किया। नतीजा यह हुआ कि जिन स्थानों के लिए सदस्य चुने जानेवाले थे, उनमें से अधिकांश कांग्रेस के उम्मीदवार ही चुने गये। स्वतंत्र कांग्रेस-दल के बहुत थोड़े लोग चुने गये, जिनमें बाबू जगतनारायणलाल और बाबू श्री नन्दनप्रसादनारायणसिंह शर्मा थे। ये लोग पूर्व के बिहार-कौंसिल के स्वराज्य-दल के नेता श्री जलेश्वरप्रसाद को, जो कांग्रेस की ओर से खड़े किये गये थे, हराकर चुने गये। लोगों के बहुत कहने और जिद्द करने पर मौलाना मजहरूल हकसाहब खड़े हुए थे। उनका मुकाबला किया गया। दोनों उम्मीदवारों के पक्ष में बराबर वोट आये। चिट्ठी लगाई गई तो हकसाहब के प्रतिद्वन्द्वी के पक्ष में चिट्ठी निकली ! इस तरह, यद्यपि प्रान्तीय कौंसिल के चुनाव में कांग्रेसी लोग ही अधिक संख्या में चुने गये तथापि हकसाहब-जैसा व्यक्ति नहीं चुना जा सका और न कांग्रेस का वह उम्मीदवार, जो स्वराज्य-पार्टी का नेतृत्व योग्यतापूर्वक कर चुका था। साथ ही, यह भी स्पष्ट था कि चुने लोगों में से, बहुमत रखते हुए भी, कांग्रेस के विरोध में मंत्रिमंडल बन सकेगा, क्योंकि विधान के अनुसार एक अच्छी तादाद गवर्नमेण्ट द्वारा मनोनीत सदस्यों की हुआ करती थी। कांग्रेस-विरोधी लोग और ऐसे मनोनीत सदस्य मिलकर कांग्रेस-दल से संख्या में अधिक हो जाते थे। केन्द्रीय असेम्बली में भी हमारी काफी सफलता रही। वहां जो एक-दो जगहें हमारे हाथ में न आईं उनमें भी कांग्रेस से सहानुभूति रखनेवाले ही चुने गये। बिहार-कौंसिल में कई आदमी, जो स्वतंत्र चुने गये थे, कांग्रेस के साथ ही रहते थे। स्वतंत्र कांग्रेस-दल के लोगों में कुछ कांग्रेस के साथ और कुछ मंत्रिमंडल के साथ हो गये थे। इस तरह, इस चुनाव से कोई बात साफ नहीं हुई। मंत्रिमंडल के साथ कांग्रेस का जो पहले सद्भाव था, वह अब न रहा; क्योंकि चुनाव के समय हमको मंत्रियों और उनके द्वारा समर्थित उम्मीदवारों का विरोध करना कांग्रेसी मेम्बरों का प्रधान काम हो गया, तब यह अनबन और भी बढ़ती गई। मंत्री सर गणेशदत्तसिंह, कांग्रेसी उम्मीदवार के भय से, कई जगहों से खड़े हुए थे, पर कहीं से अपने स्थान को सुरक्षित न देख उन्होंने मिल-मिलाकर एक उम्मीदवार को, एक ऐसे स्थान से, जहां कांग्रेस ने कोई उम्मीदवार नहीं खड़ा किया था, बिठा दिया और वहां से स्वयं निर्विरोध चुने गये। इस चुनाव में धर्मगत और जाति-गत भेद-भावों का प्रचार करके कुछ लोगों ने नफा उठाया। शायद सभी कांग्रेसवाले भी इससे अपने को बचा न सके।

मेरा विचार था, और अब वह और भी दृढ़ हो गया है, कि जो भेद-भाव हिन्दुओं और मुसलमानों में फैल रहा था, वह इन्हीं दोनों तक सीमित न रहेगा। हिन्दुओं में जो अनेकानेक जातियां हैं, एक-दूसरे से उसी प्रकार आपस में झगड़ने लगेंगी जिस प्रकार हिन्दू-मुसलमान लड़ रहे हैं। मुसलमानों में भी भिन्न-भिन्न दल पैदा हो जायंगे। शिक्षित वर्ग की लड़ाई सरकारी नौकरियों और सरकार से सम्बद्ध संस्थाओं की मेम्बरी इत्यादि के लिए होती है। किसी-न-किसी समय हिन्दू समाज की भिन्न जातियों में इस प्रकार की स्पर्धा बढ़ेगी और वे आपस में लड़ेंगी। इस चुनाव में ये बातें कुछ-कुछ देखने में आ गई। मैंने एक लेख इस आशय का 'देश' मे लिखा था, जिसको कुछ लोगों ने नापसन्द किया था। उस समय से आजतक के अनुभवों ने मेरे इस विचार को और भी दृढ़ कर दिया है कि जब देश के स्थान पर हम किसी जाति-विशेष अथवा धर्म-विशेष अथवा दल-विशेष को बिठाना चाहते हैं, तब इस तरह की लड़ाई हुए बिना नहीं रह सकती। देश-सेवकों के लिए एक ही रास्ता है कि कम-से-कम तबतक, जबतक देश पूर्णरूपेण स्वतन्त्र नहीं हो जाता किसी स्थान अथवा प्रतिष्ठा के लिए लायित न हों और केवल सेवा को ही ध्येय बनाकर काम करते जायं। मैं इसको एक प्रवंचनामात्र मानता हूं, जब कोई यह सोचता और कहता है कि सेवा करने के लिए उसे किसी पद-विशेष की आवश्यकता है तथा उस पद के बिना यह सेवा नहीं कर सकता। सेवक के लिए हमेशा जगह खाली पड़ी रहती है। उम्मीदवारों की भीड़ सेवा के लिए नहीं हुआ करती। भीड़ तो सेवा के फल के बटंवारे के लिए लगा करती है। जिसका ध्येय केवल सेवा है, उसका फल नहीं, उसको इस धक्के में जाने की और इस होड़ में पड़ने की कोई जरूरत नहीं है।

वर्ष समाप्त होने के समय, दिसम्बर में, गोहाटी में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन होनेवाला था। सभापतित्व के लिए बहुत जगहों से मौलाना मजहरूल हक का नाम आया था। बिहार के लोग बहुत चाहते थे कि वह चुने जायं। यहां से केवल उनका ही नाम भेजा गया था। पर उन्होंने अन्तिम चुनाव के पहले ही घोषणा कर दी कि वह इस प्रतिष्ठा के लिए उम्मीदवार नहीं हैं, लोगों को कोई दूसरा योग्य व्यक्ति चुन लेना चाहिए। इस इनकार का कारण उनके समान व्यक्तित्व और ध्येयवाले महापुरूष के योग्य ही था। उन्होंने लिखा कि वह उस समय अपने सूबे में हिन्दू-मुस्लिम-समस्या हल करने के काम में लगे हैं, कांग्रेस के सभापति हो जाने से वह उतना समय अपने

सूबे के इस काम को न दे सकेंगे। हममें से बहुतेरों ने सोचा कि उनकी यह दलील ठीक नहीं थी। पर इसमें दूसरे की बात ही क्या चल सकती थी। उनके हट जाने पर श्री श्रीनिवास अय्यंगर एकमत से निर्विरोध सभापति चुने गये; क्योंकि डाक्टर अंसारी ने भी, जिनका नाम प्रस्तावित हुआ था, अपना नाम हटा लिया था।

भाईसाहब और मैं, दोनों सपरिवार कानपुर-कांग्रेस में गये थे। वहीं मीराबहन से मेरी पहली मुलाकात हुई। वह कुछ दिन पहले हिन्दुस्तान आ चुकी थीं; पर मुझसे मुलाकात नहीं हुई थी। उन दिनों से ही उनकी भक्ति, विश्वास तथा श्रद्धा की छाप मेरे दिल पर पड़ गई। वह एक अंगरेज एडमिरल की लड़की हैं। उनके पिता हिन्दुस्तान में एडमिरल रहे थे। उस समय वह भी अपने पिता के साथ बम्बई में थीं। ऐसी महिला का महात्माजी के आश्रम में आना और वहां के लोगों के साथ हिल-मिल जाना अंगरेजों को कब पसन्द हो सकता था। कुछ अंगरेजी पत्रों ने यह समाचार छापते हुए लिखा कि गांधीजी ने उनको एक प्रकार से फुसलाकर रख लिया है। बात ऐसी थी नहीं। मीराबहन ने इसका खण्डन किया। बात यह थी कि जर्मन-युद्ध के समय वह युद्ध की मारकाट से ऊब गईं। वह इस तलाश में घर छोड़ रोमां रोलां के पास गईं कि वह इस प्रकार के भीषण जीवन से बचने का कोई रास्ता बता देंगे। श्री रोमां रोलां ने इन्हें गांधीजी की पुस्तकें पढ़ने की सलाह दी और कहा कि उनकी पिपासा वहीं बुझ सकेगी। गांधीजी कि लिखी जो पुस्तकें मिल सकीं, मीराबहन ने पढ़ीं। वह जैसे-जैसे पढ़ती गईं, उनका विश्वास जमता और दृढ़ होता गया। अन्त में उन्होंने गांधीजी के पास आना चाहा, पर गांधीजी ने उन्हें रोका। विलायत में ही वह यथासाध्य आश्रम का जीवन बिताने लगीं। अन्त में उन्होंने बहुत जिद की, तब गांधीजी ने आने की अनुमति दी। तब से यह बराबर उनके साथ हैं। जो कुछ उनका अपना था, गांधीजी को समर्पित कर दिया है।

वहीं से मैं कायस्थ-कान्फ्रेंस का सभापतित्व करने के लिए जौनपुर गया। इसका जिक्र ऊपर का चुका हूं। कुछ भाइयों ने इस बात को नापसन्द किया। उनका कहना था कि कांग्रेसी लोगों को किसी जाति-विशेष की संस्था से लगाव न रखना चाहिए; क्योंकि इससे उनकी राष्ट्रीयता को धक्का पहुंचता है और जनता में बुद्धि-भेद हो सकता है। मैंने किसी जाति-विशेष का राजनैतिक उन्नति अथवा उसके अधिकारों की रक्षा के ख्याल से सभापतित्व नहीं स्वीकार किया था। मैंने सोचा था कि हमारे समाज

में बहुत कुरीतियां प्रचलित हैं; यदि हम अपने समाज की विशेष संस्था में सम्मिलित होकर उन्हें हटाने में कुछ भी सफल हो सकेंगे तो यह अच्छा ही होगा। मैंने वहां जो भाषण किया वह भी ऐसा ही था कि उसमें राष्ट्रीयता-विरोधी एक भी बात नहीं थी और न जाति-जाति के बीच भेद बढ़ानेवाली कोई बात थी; बल्कि मैंने तो उस मंच से भी राष्ट्रीयता का ही समर्थन किया था। कान्फ्रेन्स में अन्य जाति के स्थानीय लोग भी आमंत्रित किये गये थे। जो ऐसे लोग वहां उपस्थित थे, उन्होंने मुझे भाषण के लिए बधाई देते हुए कहा कि जातीय कान्फ्रेन्स के मंच से इसी प्रकार के भाषण हुआ करें तो आपस में झगड़े ही न हों।

कायस्थ-कान्फ्रेन्स पुरानी संस्था है। उसके अनेक बूढ़े और कार्य-कुशल सेवक हैं। मैं उनके लिए एक नया अजूबा व्यक्ति था; क्योंकि उसके पहले मैं कभी कायस्थ-कान्फ्रेन्स में नहीं गया था। मेरा भाषण भी शायद पुराने विचारवाले लोगों में से कुछ को पसन्द न आया हो। इसलिए मैं समझ सकता था कि कुछ ने वहां की कार्रवाई पसन्द नहीं की; पर अधिवेशन सफलतापूर्वक समाप्त हुआ। मुझे अफसोस यही है कि जिस आशा और अभिलाषा से मैं उसमें शरीक हुआ था, वह बहुत करके पूरी न हुई। इसका दोष दूसरों पर न डालकर मुझे अपने ऊपर लेना चाहिए; क्योंकि मैं दूसरे कामों में फंस जाने के कारण अपनी पूरी शक्ति लगाकर प्रयत्न भी न कर सका।

: ६७ :

बिहार-विद्यापीठ और खादी-प्रचार-कार्य

उन दिनों मेरा अधिक समय खादी के काम की देखभाल में और बिहार-विद्यापीठ के खर्च के लिए रूपये जमा करने में लगता था । शुरू में ही हम लोगों ने देख लिया कि विद्यापीठ के प्रति बहुतेरे भाई एक प्रकार से तटस्थ से थे । कुछ लोग तो उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे । १९२१ में इस भाव का कुछ प्रदर्शन होने लगा था । सबसे अधिक आश्चर्य और दुःख की बात यह थी कि जिन लोगों ने बहुत जोर देकर उसे कायम कराया था, वे ही लोग या तो उदासीन हो गये या विरोधी । शुरू में इसका आरम्भ किया गया था एक भाड़े के मकान में । प्रायः दो सौ रूपये मासिक भाड़ा दिया जाता था । हमने सोचा कि खर्च यथासाध्य कम करना चाहिए । निश्चय किया कि सदाकत-आश्रम में, जिसे मजहरूल हकसाहब ने खोल रखा था और जिसमें उन्होंने कुछ मकान भी बनवा लिये थे, इसे ले जाया जाय । हकसाहब ने इस बात को बहुत पसन्द किया । हम विद्यापीठ वहीं ले गये । कुछ नये मकान भी बनवा लिये गये, जहां प्रायः सभी छात्र और अधिकांश शिक्षक भी रहने लगे । छात्रों की संख्या कम होने लगी थी । जिलों में जो स्कूल खुले थे, वे भी जहां-तहां बन्द होने लग गये थे । लोगों का उत्साह कम होता गया । बहुतेरे स्कूल अर्थाभाव और छात्राभाव से बन्द हो चुके थे । तो भी १९२६ के मार्च में ६ हाईस्कूल, १६ मिडिल स्कूल और ३० प्राइमरी स्कूल चल रहे थे, जिनमें क्रमशः छात्रों की संख्या ७६७, १२८५ और १०१६ और शिक्षकों की संख्या ७६, ७० और ३४ तथा खर्च १६५० रू०, १२६० रू० और ४२६ रू० मासिक था--अर्थात् स्कूलों की संख्या ५५ थी, जिनमें १८३ शिक्षक काम कर रहे थे और ३६३६ रू० मासिक खर्च हो रहा था । पर कुछ स्कूल सभी मुसीबतों को झेलते हुए कायम रह गये और आजतक चल रहे हैं । विद्यापीठ का रहना हमने आवश्यक समझा । इसके लिए रूपये जब-तब, जरूरत पड़ने पर, जमा करते गये ।

हमने महाराष्ट्र में देखा था कि कई संस्थाएं लोग वार्षिक चन्दे से चलाते हैं । चन्दे की रकम किसी एक आदमी की बहुत बड़ी नहीं होती है; पर बहुत-से लोग पांच या दस या इससे भी कम प्रतिवर्ष देने का वादा कर देते हैं और संस्था की वार्षिक

रिपोर्ट वी० पी० द्वारा ऐसे सभी मेम्बरों के पास भेज दी जाती है। चन्द दिनों में ही चन्दे के सभी रूपये वी० पी० के जवाब में आ जाते हैं। हमने भी कुछ ऐसा ही करने की सोचा। घूम-घूम कर पांच रूपये वार्षिक चन्दावाले मेम्बर बनवाये। जो लोग एक मुश्त बड़ी रकम दे देते, उनको आजीवन सदस्य अथवा ट्रस्टी बना लेते। पर हमारे सूबे में लोगों को इस प्रकार नियमित रूप से प्रतिवर्ष चन्दा देने की आदत नहीं पड़ी है। जिन्होंने वादा किया और मेम्बरी का फारम भर दिया, उन्होंने भी साल के अन्त में बड़ी कठिनाई से रूपये दिये। एक-दो बरस के बाद वह भी बन्द कर दिया। यह सम्भव नहीं था कि प्रमुख लोग हर साल मेम्बरों के पास वादा किया हुआ चन्दा वसूल करने के लिए जायं। इसलिए यह उपाय हमारे लिए कारगर नहीं साबित हुआ। घूम-घूमकर, जहां गये वहां से, हमेशा कुछ लाना ही पड़ता रहा। हां, पटने में कुछ सज्जनों ने मासिक कुछ देना स्वीकार किया। उनमें से बहुतेरे बराबर देते रहे हैं। शुरू में ही एक सज्जन (श्री भगवानदास) ने कुछ जमीन दान कर दी थी, जिसकी थोड़ी आमदनी हर साल मिलती जाती थी। कुछ दिनों के बाद मुजफ्फरपुर के श्री गजाधरप्रसाद साहु ने अपने ट्रस्ट में से विद्यापीठ के लिए भी कुछ दिया, जो रकम बराबर मिलती जाती थी। इस तरह विद्यापीठ की आर्थिक कठिनाई हमेशा बनी रही है।

हमने इस बात की कोशिश की कि अच्छे विद्वानों को वहां, बुलावें, जिसमें जनसाधारण को उसकी उपयोगिता और वहां मिलनेवाली शिक्षा के प्रति विश्वास हो। काशी से प्रसिद्ध विद्वान श्री रामदास गौड़जी आये। इसी तरह बंगाल के कुछ ऐसे विद्वान शिक्षक लाये गये, जिन्होंने यूनिवर्सिटी के ख्याति के साथ परीक्षाएं पास की थीं। कुछ दिनों के बाद, प्राचीन भारतीय इतिहास के ख्यातिनामा विशेषज्ञ श्री जयचन्द्र विद्यालंकार भी विद्यापीठ में इतिहास के शिक्षक होकर आये थे। उनके साथ मेरा परिचय उसी समय हुआ जो आगे चलकर अधिक घनिष्ठ हो गया तथा भारतीय इतिहास-परिषद् के जन्म के कारणों में एक मुख्य कारण हुआ। किन्तु इतने पर भी विद्यार्थियों की संख्या कम होती गई। हमने वहां के पाढ्यक्रम में भी जब-तक परिवर्तन किया। इस बात की भी चेष्टा की कि विद्यार्थी केवल पुस्तकीय विद्या न पाकर अधिक कार्य-कुशल देश-सेवक बनें। पर सबकुछ करने पर भी राष्ट्रीय शिक्षा बहुत ही परिमित क्षेत्र में रह गई। तब भी जहांतक रह गई है, हमारे विद्यार्थी और

शिक्षक अच्छे सेवक निकले हैं। सत्याग्रह के समय उन्होंने हमेशा बहुत काम किया है।

मार्च १९२३ में, समावर्तन के अवसर पर, दीक्षान्त भाषण के लिए, श्री राजगोपालाचारी निमंत्रित किये गये थे। उन्होंने कहा था कि ये विद्यालय हमारे उत्साह की ज्योति को जगाये रखे हुए हैं। यह बात अक्षरशः सत्य है। समावर्तन संस्कार बड़े उत्साह के साथ हुआ। उनका भाषण भी बहुत ही सुन्दर और जोरदार हुआ। जो लोग उस उत्सव में शरीक हुए, सबने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। विद्यापीठ और उसके छात्रों की सरलता तथा सरकारी यूनिवर्सिटी के समावर्तन-समारोह की शान-शौकत याद करके सब लोग हमारी छोटी संस्था की उपयोगिता मानने लगे थे।

विद्यापीठ के अतिरिक्त मेरा अधिक समय खादी के काम में लगता था। जबसे खादी का काम आरम्भ हुआ, मेरी दिलचस्पी उसमें थी; पर इस दिनों जितना समय मैं उसमें दे सका उतना पहले कभी न दे सका था और पीछे भी न दे सका। बिहार में खादी का काम १९२१ में ही आरम्भ हुआ, जब स्वराज्य-कोष के रूपयों में से एक अच्छी रकम बिहार-प्रान्तीय कमिटी को इस काम के लिए मिली। इस काम के चलाने का भार शुरू में प्रान्तीय कमिटी ने ही लिया। कई जिलों में उसकी ओर से कुछ लोग इसके चलाने के लिए नियुक्त किये गये। अनुभव न तो प्रान्तीय कमिटी में किसी को था और न उन लोगों में से किसी को। नतीजा कुछ अच्छा नहीं हुआ।

कांग्रेसी कार्यकर्त्ता श्री रामविनोदसिंह ने स्वतंत्र रूप से यही काम शुरू किया। उनको श्री आचार्य कृपालानी से मदद मिली। मधुबनी में एक उत्पत्ति-केन्द्र खोलकर वह अच्छी खादी तैयार करने लगे। यह खादी दूसरे प्रान्तों तक पहुंची। खादी-सम्बन्धी काम में बिहार का नाम उन्होंने ऊंचा किया। आचार्य कृपालानी की सिफारिश और मेरी अनुमति से उनको काम बढ़ाने के लिए एक बड़ी रकम का कर्ज खद्दर बोर्ड की ओर से मिला। प्रान्तीय कमिटी का काम उतना सफल न हुआ; क्योंकि काम फैलाया गया बहुत; पर उसमें न तो शास्त्रीय ज्ञान का अधिक उपयोग हुआ और न व्यापार-बुद्धि का ही। इसलिए उसमें घाटा भी काफी रहा। जब अखिल भारतीय चर्खा-संघ की स्थापना हो गई और मैं एजेण्ट नियुक्त हुआ तथा श्री लक्ष्मीनारायण मंत्री बने, तब नये सिरे से सारे काम का संगठन किया गया। बहुत-से भंडार बन्द कर दिये गये। जहां बिना घाटे के काम हो सकता था वहां काम जारी रखा गया।

इससे कुछ कांग्रेसी कार्यकर्त्ता असन्तुष्ट भी हुए। जो खादी के काम में आये, उनका नियंत्रण भी अधिक होने लगा। एक चित्त होकर इस काम में लगने के लिए उनपर जोर दिया गया। नतीजा यह हुआ कि काम की व्यवस्था बहुत सुधर गई। खादी की उत्पत्ति और बिक्री बढ़ने लगी।

मैं उन दिनों प्रायः सभी उत्पत्ति-केन्द्रों में, बरस में एक बार, जाया करता था। वहां एक-एक दो-दो दिन रहकर काम देखा करता था। भंडार में, जहां सूत की खरीद और रूई की बिक्री होती थी, खुद बैठता भी था। अपने हाथों रूई-सूत तौलता और बेचता-खरीदता था। कपड़े की बुनाई को भी जाकर देखता और तैयार कपड़े पर दाम बैठाने के काम में यथासाध्य भाग लेता। इससे मेरा निजी ज्ञान बढ़ता गया। साथ ही यह भी अनुभव होता गया कि हम इस विषय में कितनी कम जानकारी रखते हैं। और इस जानकारी का न होना ही घाटे के मुख्य कारणों में था। जो हम खर्च का अनुमान-पत्र बनाते, उसे चर्खा-संघ के मंत्री श्री शंकरलाल बैंकर और उनके दफ्तर के लोग खूब जांच-समझकर ही मंजूर कराते। पर तो भी कई बार घाटा हो गया।

उस समय खादी-प्रचार के लिए हम सबकी इच्छा रहती थी। अखिल भारतीय चर्खा-संघ की भी नीति थी कि हम जितनी सस्ती खादी बना और बेच सकें उतना ही अच्छा है। इसी नीति के अनुसार सस्ती-से-सस्ती दर पर सूत खरीदने, कम-से-कम बुनाई देकर उसको बुनवाने और दुकानों में कम-से-कम खर्च करके उसे बेचने का प्रयत्न किया जाता। इसका नतीजा यह होता कि कार्यकत्ताओं की कमी और अयोग्यता के कारण दुकानों में बिक्री ठीक न होती, माल का हिसाब ठीक न रहता और उत्पत्ति-केन्द्रों का हाल यद्यपि कुछ बेहतर होता तथापि पूरा संतोषजनक न हो पाता था। इसलिए इस देखभाल की बहुत जरूरत होती। इतना हम अवश्य कहेंगे कि उन दिनों जितनी शाखाएं थीं, उनमें बिहार की खादी बहुत करके सस्ती और अच्छी भी होती थी। महीन खादी के लिए आन्ध्र मशहूर था। बिहार की 'कोकटी' सभी सूबों में जाती। इससे बिहार की ख्याति काफी हो गई। रंगाई-छपाई का काम भी शुरू कर दिया गया था। अब रंग-बिरंग की खादी मिल सकती थी, पर मेरे सन्तोष के लायक अभी पक्का संगठन नहीं हो पाया था।

जब काम आरम्भ किया गया था तो खादी-विभाग का दफ्तर और मुख्य भंडार

पटने में ही था। खादी तैयार होती विशेषकर दरभंगा जिले में, पर केन्द्र-भंडार पटने में ही था। इसमें असुविधा काफी थी, पर हम सभी पटने में ही रहते थे, इसलिए केन्द्र-भंडार और दफ्तर को वहां से हटाने की इच्छा न होती। जब लक्ष्मीबाबू मंत्री हो गये और काम बढ़ाने का विचार हुआ तो निश्चय किया गया कि कारबार पटने से हटाकर मुजफ्फरपुर ले जाया जाय। इसमें पटने के मित्रों का बहुत विरोध हुआ, पर मैंने इसकी उपयोगिता देख ली और हटाने की राय दे दी। मुजफ्फरपुर में, अखाड़ा-घाट पर, गंडक नदी के किनारे कुछ झोंपड़े बने, जिनमें कार्यकर्त्ता रहने लगे और जहां रंगाई इत्यादि का काम होने लगा। स्थान बहुत अच्छा था। मैं भी कभी-कभी जाकर वहां रहता। माल रखने का गोदाम और मुख्य भंडार शहर में, सरैय्यागंज में, भाड़े के मकान में रखे गये थे। यहां से काम बहुत बढ़ा। कुछ दिनों के बाद हमने महसूस किया कि यह प्रबन्ध भी ठीक नहीं है; क्योंकि उत्पत्ति-केन्द्र मुख्यतः दरभंगा जिले में थे। वहां से कपड़ा तैयार कराकर मुजफ्फरपुर लाया जाता। मुजफ्फरपुर में धुलाई, रंगाई, छपाई इत्यादि का काम होता। तब वहां से बिक्री के लिए भंडारों में खादी भेजी जाती। इसमें खर्च अधिक पड़ता। इसलिए निश्चय हुआ कि मुख्य भंडार मधुबनी (दरभंगा) में ही ले जाया जाय। इससे पहले रामविनोदबाबू का भंडार वहां था ही। इसलिए चर्खा-संघ का काम वहां अधिक न करके पंडौल में ही होता था, ताकि दोनों संस्थाओं में आपस में प्रतिस्पर्धा न हो तथा दोनों स्वतन्त्र रूप से काम चलाते और बढ़ाते जायं। पर कुछ दिनों में रामविनोदबाबू और उनके सहकर्मियों में--जिनमें मुख्य श्री ध्वजाप्रसाद और रामदेव ठाकुर थे--मतभेद हो गया। रामविनोदबाबू का काम भी चर्खा-संघ के मुकाबले में कम हो गया। इसलिए अब मधुबनी जाने में ही सुविधा देखी गई। एक तो वह बहुत बड़ा केन्द्र हो सकता था, दूसरे अनेक अन्य उत्पत्ति-केन्द्रों के लिए वह एक ऐसी जगह थी, जहां से कार्यकर्त्ताओं के आने-जाने में काफी सुविधा थी। तीसरे रेल, तार, डाक, बैंक इत्यादि की भी सुविधा थी। इसलिए मुजफ्फरपुर में दफ्तर और केन्द्र-भंडार हटाकर मधुबनी ले जाये गये। आहिस्ता-आहिस्ता वहां चर्खा-संघ का अपना मकान बन गया। आज तो वह एक देखने योग्य स्थान हो गया है। इसमें न जाने कितने बरस लगे हैं; पर एक स्थान पर ही इसका जिक्र कर देना ठीक समझा।

१९२६ में खादी-सम्बन्धी मेरा मुख्य काम यह भी रहा कि स्थान-स्थान पर

खादी-प्रदर्शनी कराऊं। मेरा प्रयत्न था कि खादी में सब लोगों की दिलचस्पी पैदा हो। इसी उद्देश्य से पटने की प्रदर्शनी सफलतापूर्वक की गई थी, जिसका जिक्र पहले आ गया है। १९२६ की प्रदर्शनियों में भी इसकी विशेष चेष्टा की गई। जहां-तहां अंगरेज और दूसरे विदेशियों ने भी दिलचस्पी ली। बेतिया (चम्पारन) की प्रदर्शनी का उद्घाटन उस समय के बेतिया-राज के मैनेजर मिस्टर एच० सी० प्रायर, आई० सी० एस० ने किया। मिस्टर अथरफार्ड के हट जाने पर वही वहां मैनेजर हुए थे। मोतीहारी की प्रदर्शनी का उद्घाटन रेवरेण्ड जे० जेड हौज़ ने किया। वह एक प्रतिष्ठित पादरी थे, जिनका परिचय गांधीजी से और मुझसे पहले से ही था। जमशेदपुर में भी एक मार्के की प्रदर्शनी की गई। इतने बड़े कारखानेवाले शहर में--जहां की चिमनियां दिन-रात धुंआ उगलती रहती हैं, जहां गला हुआ लोहा नदी के झरने के समान बहता रहता है, जहां लोहे की बड़ी-बड़ी सिलें आसानी से आटे की रोटी की तरह बेल दी जाती हैं और पत्तर अथवा लम्बी-लम्बी रेल-लाइनें बेली जाती रहती हैं--छोटी तकली और चर्खे की प्रदर्शनी एक अजीब-सी चीज थी। इसका आयोजन करना ही एक साहस का काम था। उस बड़े कारखाने के अफसरों को इस छोटी कल की करामात दिखाने की बात तो और भी बड़े दुस्साहस की थी। पर हमने ऐसा ही किया। टाटा-कम्पनी के बड़े अफसर मिस्टर टेम्पुल से--जो खुद इंजीनियर थे और जमशेदपुर के टाउन-एडमिनिस्ट्रेटर भी--प्रदर्शनी के उद्घाटन करने का अनुरोध किया गया। उन्होंने इसे मान लिया। खादी की उपयोगिता पर सुन्दर भाषण भी किया। कम्पनी के जनरल मैनेजर मिस्टर कीनन और उनकी पत्नी, जो दोनों अमेरिका-निवासी थे, प्रदर्शनी में आये। दोनों ने कुछ खादी भी खरीदी। कम्पनी के दूसरे बड़े-बड़े अफसर भी, प्रायः सभी, प्रदर्शनी में आये। खादी की बिक्री भी अच्छी हुई। लोगों के आग्रह से एक और प्रदर्शनी शहर के एक दूसरे मुहल्ले में भी की गई। इस साल में सूबे के प्रायः सभी बड़े-बड़े शहरों में प्रदर्शनियां की गईं। उनका उद्घाटन अक्सर स्थानीय प्रतिष्ठित लोगों द्वारा कराया गया। कई जगहों में मैंने ही उद्घाटन किया। इन प्रदर्शनियों से केवल खादी-सम्बन्धी प्रचार ही नहीं हुआ, खादी खूब बिकी भी। जो माल नया तैयार हो गया था, उसकी निकासी में पूरी मदद मिली। १९२५ में गांधीजी ने बिहार के कुछ जिलों में जो दौरा किया था, उसमें खादी और देशबन्धुदास-स्मारक-कोष के लिए रुपया जमा किया था। बिहार में प्रायः पचास

हजार रूपये जमा किये गये थे । वह रकम पूंजी में जोड़ दी गई थी । इससे काम खूब बढ़ने लगा था ।

किन्तु महात्माजी का स्वास्थ्य प्रायः ठीक न रहता । रूधिर का दबाव अधिक हो जाया करता । वह गर्मी के दिनों में मैसूर-राज्य के नन्दी-पहाड़ पर आराम करने के लिए गये । मैं भी वहां गया । उनके साथ कई दिनों तक ठहरा । स्थान बहुत ही रमणीय था । पहाड़ पर चढ़ना कुछ मेहनत का काम था । पर अभी तक मेरा दमा इतना ज्यादा नहीं बढ़ा था । प्रायः गर्मियों में तो मैं अच्छा रहता ही हूं । इसलिए मैं पहाड़ पर पैदल ही चढ़ गया । यों ही वापसी में उतरा भी । उस प्रदेश की यह मेरी पहली यात्रा थी । वहां से महात्माजी के साथ बंगलोर आया और ठहरा । वहां खादी की एक बड़ी प्रदर्शनी हुई, जिसमें विशेष भाग तामिलनाड और आन्ध्र की शाखाओं ने ही लिया । अपने ढंग की वह प्रदर्शनी बहुत ही अच्छी हुई । वहीं से मैसूर-राज्य में खादी-प्रचार कर संगठित रूप से सूत्रपात हुआ । उस अवसर पर खादी-सम्बन्धी प्रक्रियाओं के प्रदर्शन के साथ-साथ खादी-सम्बन्धी भाषण भी हुए ।

हिन्दी प्रचार का काम भी दक्षिण में हो रहा था । वहां एक विशेष सम्मेलन करके कुछ परीक्षोत्तीर्ण विद्यार्थियों को प्रमाण-पत्र वितरित किये गये । मैंने पहले-पहल हिन्दी-सम्बन्धी उत्साह देखा । एक ही साथ पति-पत्नी, मां-बेटी, सास-पतोहू और पिता-पुत्र हिन्दी सीखनेवाले मिले । एक ही साथ परीक्षा में ये बैठते भी । मेरे लिए यह सब नया अनुभव था । उस यात्रा को अपने लिए मैं बहुत ही शिक्षाप्रद मानता हूं ।

बंगलोर में प्रदर्शनी समाप्त होने के बाद मैंने दक्षिण के कई स्थानों का भ्रमण किया । तामिलनाड के मुख्य भंडार को देखा । वह तिरूपुर में था । दूसरे कई और भंडारों को भी जाकर देखा । राजाजी ने अपना आश्रम सेलम जिले में बना रखा था । वहां वह खादी का काम की परिपाटी और संगठन-विधि का पूरी तरह अध्ययन किया । जो कुछ नया और जानने योग्य वहां मिला, उसको अपने सूबे में दाखिल करने का प्रयत्न भी किया । वहां का संगठन और हिसाब रखने का तरीका मुझे बहुत पसन्द आया । मैंने उनका अध्ययन कर लिया । उन दिनों सबसे अधिक खादी की उत्पत्ति तामिलनाड में होती थी । सबसे बढ़िया महीन खादी (कोकटी को छोड़कर) आन्ध्र देश में बनती थी । इसलिए मैंने सोचा कि तामिलनाड का संगठन देखने के

बाद आन्ध्र भी जाना चाहिए। वहां के चर्खा-संघ के मंत्री श्री सीताराम शास्त्री का आग्रह भी था कि मैं चलूं और खादी-सम्बन्धी भाषण भी करूं।

लौटने के समय मैं आन्ध्र होते हुए लौटा। मैं आन्ध्र के कई जिलों में गया। सभी जगहों में मैंने खादी-सम्बन्धी भाषण किया। मेरे भाषण वहां अंगरेजी में ही हुए। मैंने देखा कि मैं जिस शास्त्रीय रीति से खादी के सम्बन्ध में लोगों को समझाता, उसका असर काफी अच्छा पड़ता--विशेषकर शिक्षितवर्ग पर, जो अक्सर खादी की उपयोगिता और सफलता के सम्बन्ध में बहुत शंका-सन्देह रखा करता था। वहां के लोगों का कहना था कि मेरी यात्रा से खादी-प्रचार में अच्छी सहायता मिली। जब मैं पटने लौट आया तो कुछ भाइयों का विचार हुआ कि जो कुछ मैंने अपने भाषणों में कहा है, वह लेखबद्ध कर दिया जाय तो अच्छा होगा। इसलिए मैंने अपने भाषणों का सारांश लिख डाला। 'एकनामिक्स आफ खादी' के नाम से वही एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ। इसका हिन्दी-रूपान्तर भी 'खादी का अर्थशास्त्र' के नाम से प्रकाशित हुआ। इस तरह उस साल का बहुत समय खादी के काम में ही बीता।

कानपुर-कांग्रेस के समय आसाम के कुछ लोग आये थे, जिनमें एक प्रमुख व्यक्ति श्री नवीनचन्द्र बारदोलाई थे। यह मेरे एक पूर्व-परिचित मित्र थे। इनके साथ उस समय से ही घनिष्ठता हो गई थी, जब हम दोनों कलकत्ता-हाइकोर्ट में वकालत किया करते थे। असहयोग-आन्दोलन में यह आरम्भ से ही आ गये थे और अपने प्रान्त के प्रमुख लोगों में से थे। इन लोगों की इच्छा थी कि कांग्रेस को आसाम में निमंत्रित करें। इस सम्बन्ध में इन्होंने मेरी राय ली। मैंने इनको मना किया, क्योंकि गया-कांग्रेस के अनुभव ने मुझे बता दिया था कि कांग्रेस का आयोजन बहुत विस्तार ले चुका है और आसाम छोटा प्रान्त है। पहले तो काफी रूपये जमा करने में ही मुश्किल हो सकती है, क्योंकि आसाम केवल छोटा ही नहीं, गरीब सूबा भी है। दूसरे, कांग्रेसी लोग सरकारी प्रान्त के केवल उसी हिस्से को आसाम कहते हैं, जहां की भाषा असमिया है, अर्थात् ब्रह्मपुत्र की घाटी। जो बंगला बोलनेवाला हिस्सा है, जिसे सूरमा घाटी कहते हैं, कार्यकर्ताओं की संख्या भी काफी नहीं है। इतने पर भी उन लोगों का उत्साह बहुत था। उन्होंने मेरी बात नहीं मानी, कांग्रेस को आमन्त्रित कर ही दिया।

उन लोगों की यह भी इच्छा थी कि कांग्रेस के पहले ही उस प्रान्त में खादी के

काम का पुनस्संगठन हो जाय । पहले कुछ काम हुआ था, पर वह योग्य कार्यकर्त्ता के अभाव से ठीक चला न था, उसे बन्द कर देना पड़ा था । उन्होंने इसके पुनस्संगठन में मेरी सहायता मांगी । मैं इनकार न कर सका । वहां जाने का वचन दे दिया । कुछ दिनों के बाद वहां गया भी । आसाम के कई जिलों में, जहां खादी का काम अच्छी तरह चल सकता था, भ्रमण किया । इस यात्रा का अनुभव बहुत ही अच्छा रहा । खादी के लिए आसाम एक अत्यन्त उपयुक्त प्रान्त है, क्योंकि इसके लिए वहां जैसी सुविधाएं हैं वैसी शायद ही किसी सूबे में हों । रेशम के कीड़े पालने, उनसे सूत निकालने और सूत को बुन लेने की प्रथा अभीतक आसाम में जारी है । कपड़ा बुनना वहां की स्त्रियां उसी तरह जानती हैं जिस तरह हमारे सूबे की स्त्रियां कुछ सीना-पिरोना । अच्छे घरों की लड़कियों की तो शादी ही नहीं हो सकती, यदि वे अच्छी तरह बनाई न जानती हों । वह बुनाई भी मामूली बुनाई नहीं, वे अपने करघों पर रंग-बिरंगे फूल भी बुन सकती हैं । निहायत खूबसूरत फूलदार किनारी के साथ साड़ियां भी बन सकती हैं । प्रायः सभी घरों में करघे चला करते हैं । करघे भी बहुत सादा बांस के ही बने होते हैं । बुनाई के अलावा वहां की स्त्रियां सूत कातना भी जानती हैं । मुझे वहां यह देखकर बहुत आश्चर्य और प्रसन्नता हुई कि वहां के खद्दर-भण्डार में स्त्रियां तैयार कपड़ा लेकर आतीं और उससे रूई बदलकर ले जाती; अथवा, इसी बात को हम इस तरह भी कह सकते हैं कि हम जैसे दरभंगा-जिले के भण्डारों में रूई देकर सूत बदलते थे वैसे ही वहां के भण्डारों में रूई देकर कपड़ा बदला जाता था । इसका कारण यही था कि वहां चर्खे और करघे का घर-घर प्रचार है । हम तो कुछ स्त्रियों से सूत कतवाते हैं । वह सूत फिर बुनकर को बुनने के लिए देते हैं और वह उसे बुनता है । वहां यह बीच का कदम गैरजरूरी हो गया है । उस प्रान्त के कुछ हिस्से में रूई भी पैदा होती है, जो बहुत अच्छी तो नहीं कही जा सकती, पर तो भी काम चलाने के लिए ठीक है । इस तरह उस सूबे में खादी-प्रचार के लिए बहुत अच्छा सुयोग मैंने पाया । मैंने चर्खा-संघ में आकर बहुत जोर दिया कि इस काम के लिए आसाम को कुछ रूपये दिये जायं । मंत्रीजी यह नहीं चाहते थे, क्योंकि उनका पहला अनुभव ठीक न था । आखिर उन्होंने और कौंसिल ने मेरी बात मान ली । कुछ रूपये दिये गये । वहां का काम फिर संगठित रूप से चलने लगा ।

इस यात्रा में मैंने एक बात देखी । नवगांव-जिले के गांवों में भ्रमण करते समय

देखा कि वहां बहुत जमीन परती है, जो अभी तक आबाद नहीं की गई है । जमीन पर बहुत अच्छी और हरी घास लगी हुई थी, क्योंकि वहां की जमीन में योंही काफी नमी रहती है । कहीं-कहीं इन बड़ी परतियों में कुछ झोंपड़े नजर आते थे, जिनमें थोड़े ही आदमी देखने में आये । अभी तक जमीन पर कोई फसल नहीं थी और न जोतने-बोने का कोई चिहन ही देखने में आता था । पूछने पर मालूम हुआ कि इस तरह की गैरआबाद जमीन आसाम में कुछ है । वहां का कानून कुछ ऐसा था कि जो आदमी ऐसी गैरआबाद जमीन में आ करके बैठ जाय और उसको आबाद करना शुरू कर दे तो कुछ काल में उसपर उसको स्वत्व प्राप्त हो जाता था । वहां से नजदीक ही बंगाल का मैमनसिंह-जिला है, जिसकी आबादी बहुत है और जहां जमीन की कुछ कमी होने लगी है । इसलिए वहां से कुछ लोग आकर इन गैरआबाद टुकड़ों पर झोंपड़े बनाकर रह जाते हैं । उन्हें वे आहिस्ता-आहिस्ता आबाद करने लगते हैं । इस तरह कुछ दिनों में जमीन पर अपना हक कायम कर लेते हैं । ये लोग प्रायः सभी मुसलमान हैं । इनसे वहां की गैरआबाद जमीन आबाद होती जा रही है । साथ ही, आगन्तुक मुसलमानों की संख्या सूबे के मुसलमानों की संख्या बढ़ाती जा रही है । पूछने पर यह भी मालूम हुआ कि कोई भी इस तरह से आकर वहां जमीन ले सकता है, चाहे वह किसी भी प्रान्त का हो । मैंने सोचा कि बिहार में, विशेषकर छपरा-जिले में, इतनी अधिक आबादी हो गई है कि जमीन की कमी के कारण लोगों को लाखों की संख्या में प्रतिवर्ष प्रान्त के बाहर मजदूरी करने के लिए जाना पड़ता है । उनमें से न मालूम कितने हजार इसी आसाम में आते हैं । यहां कुछ महीनों तक रहकर मजदूरी करके कुछ कमा लेते हैं । फिर अपने घर कुछ महीनों के लिए चले जाते हैं । मेरी यात्रा में मेरे जिले के आदमी प्रायः सभी जगहों में मिल जाते थे । अपनी बोली और चाल-ढाल से वे बड़ी आसानी से पहचाने जाते थे । पूछने पर गांव का नाम भी मालूम हो जाता था । मैंने सोचा कि जो लोग इस तरह यहां आकर कुछ महीनों के बाद ही घर चले जाते हैं वे यदि स्थायी रूप से जमीन हासिल करें तो एक पंथ दो काज हो सकता है--छपरे की आबादी में कमी हो सकती है और ये लोग हर चार-पांच महीने पर जो रेल-भाड़े में खर्च करते हैं, वह बच जाय तथा इनको जमीन भी मिल जाय ।

इस विषय में वहां के लोगों से बातें हुईं । उन्होंने इस बात को पसन्द किया,

क्योंकि बिहारी मजदूरों से उनका परिचय था, उनको वे पसन्द करते थे। मैमनसिंह के आदमी उनके काम के नहीं होते। वे उन्हें इसलिए पसन्द नहीं करते थे कि मैमनसिंहवालों का व्यवहार वहां के स्थानीय लोगों के साथ अच्छा नहीं होता था। कुछ लोग तो मैमनसिंह के मुसलमानों की अपेक्षा बिहार के हिन्दुओं का वहां जाकर बसना अपने लिए बेहतर समझते थे। कारण, हिन्दू-मुस्लिम झगड़े उन दिनों हुआ ही करते थे। वे चाहते थे कि वहां इस तरह आगन्तुक मुसलमानों की संख्या न बढ़े तो वहां के हिन्दुओं के हक में अच्छा होगा। बात भी ऐसी थी कि मुसलमानों की संख्या बंगाली आसाम में अधिक थी और यह गैरआबाद जमीन शुद्ध आसामी बोलनेवाले हिस्से में थी, जहां मुसलमानों की संख्या कम थी। वहां के हिन्दू डरते थे कि यहां यदि मैमनसिंह से मुसलमान इस तरह आकर बसते रहे तो एक दिन उस हिस्से में भी मुसलमानों की संख्या अधिक हो जायगी। वे खुद सब जमीन आबाद नहीं कर सकते थे। नियमानुसार कोई भी बाहर से आकर आबाद कर सकता था। ऐसी अवस्था में उनके लिए यही बेहतर था कि बिहार के हिन्दू ही आकर बसें। बिहार लौटने पर मैंने इस जमीन का और इसके मिलने के नियम का जिक्र कुछ भाइयों से किया था। पर वहां कोई गया नहीं। जहां-तक मैं जानता हूं, शायद दो-चार बिहारियों ने वहां जाकर जमीन ली हो।

मैंने इसका जिक्र अपने भाईसाहब से भी किया। उन्होंने कई बरसों के बाद वहां जाकर जमीन देखी। गैरआबाद जमीन के सिवा उन्होंने आबाद जमीन लेने की बात भी सोची। स्वर्गीय बाबू शंभूशरण और बाबू अनुग्रहनारायणसिंह के साथ मिलकर एक बंगाली सज्जन ने भी प्रायः एक हजार एकड़ जमीन कई हजार रूपये पर मोल ली। सुना था कि जमीन अच्छी थी। नारंगी का बगीचा था। आबाद करने के लिए मोटर-ट्रैक्टर था। एक बंगला भी था। जमीन जंगल के बीच में थी। वहां जंगली जानवर, विशेषकर शेर और हाथी, आ जाया करते थे। तब भी जमीन आबाद करने का प्रबन्ध किया गया। बैल वगैरह रखे गये। पर वहां की आबहवा इनती खराब थी कि जो कोई जाता, मलेरिया ज्वर से ग्रस्त हो जाता। शायद पुराने मालिक के बेचने का भी यही कारण था। भाईसाहब कई बार वहां गये। अनुग्रहबाबू और शंभूबाबू भी गये। मैं कभी न गया। पर उन लोगों के जाने पर भी आबादी का सिलसिला ठीक जमता न था। कई बरसों के बाद भाईसाहब वहां गये थे। वहीं

से ज्वर लिये वापस आये। उसी बीमारी ने उनको मजबूर कर दिया, जिससे उनकी मृत्यु भी हो गई। उसके पहले ही शंभूबाबू की मृत्यु हो चुकी थी। अब किसी के मन में उत्साह नहीं रह गया। हम लोगों ने जमीन को यों ही छोड़ दिया। मालगुजारी बाकी पड़ जाने से शायद वह नीलाम हो गई होगी। इसमें हम लोगों का कई हजार रूपयों का नुकसान हुआ था। केवल बाबू महेन्द्रसिंह और श्री रामरक्ष ब्रह्मचारी वहां कुछ जमीन लेकर आबाद करा सके। वह जमीन आजतक उनके भाई या कोई दूसरे सवांग रहकर आबाद कराते और कुछ हासिल कर लेते हैं। ये सब बातें उस एक साल की ही नहीं हैं। यह प्रायः सात आठ बरसों की घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन है। पर यहां एक ही स्थान पर दे देना ठीक मालूम पड़ा। अब सुना है कि वहां के उस कानून में कुछ परिवर्तन हुआ है। अब उतनी आसानी से बाहर के लोगों को जमीन नहीं मिल सकती। उसका अधिक हिस्सा शायद स्थानीय लोगों के लिए सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गई है।

: ६८ :

गोहाटी-कांग्रेस

गोहाटी में जो कांग्रेस का अधिवेशन हुआ उसके लिए वहां के लोगों न बड़े उत्साह के साथ ब्रह्मपुत्र के किनारे ही कांग्रेस-नगर बनवाया था । उस स्थान और शिविर का दृश्य अत्यन्त सुन्दर था । खादी का काम बहुत आगे बढ़ निकला । वहां की प्रदर्शनी भी बहुत अच्छी हुई । प्रदर्शनी के सफल बनाने में चर्खा-संघ का ही मुख्य प्रयत्न हुआ करता था । इसलिए चर्खा-संघ में उसके प्रबन्धक अनुभव प्राप्त करते जा रहे थे । मुझे याद है कि उस प्रदर्शनी में चर्खा-संघ की बिहार-शाखा के कार्यकर्ताओं ने बहुत काम किया था । इस बार कांग्रेस के सभापति थे मद्रास के श्री श्रीनिवास अय्यंगर । स्वागतध्यक्ष थे श्री तरूणा राम फुकप सैना मंत्री श्री नवीनचन्द्र बारदोलाई । उन लोगों ने प्राणपण के सुप्रबन्ध की चेष्टा की थी । ठीक कांग्रेस के अधिवेशन के कुछ दिन पहले एक आततायी मुसलमान ने दिल्ली में स्वामी श्रद्धानन्दजी को उनके घर में घुसकर मार डाला था । इससे सारे देश के हिन्दुओं में बहुत क्षोभ उत्पन्न हुआ, जिसका असर गोहाटी में उपस्थित लोगों पर भी पड़े बिना न रह सका । सबसे बढ़कर हिन्दुओं के दिल दुखानेवाली बात यह हुई कि हत्या करनेवाले उस आदमी के मुकदमे की पेशी में मौलाना मुहम्मदअली-जैसा नेता भी गया । हिन्दुओं के दिल पर इससे यह असर पड़ा कि मौलानासाहब भी उसके साथ सहानुभूति रखते हैं और शायद इस हत्या को पसंद भी करते हों । स्वामीजीं कई बरसों से शुद्धि और संगठन के काम में बहुत दिलचस्पी लेते आ रहे थे । इससे कट्टर मुसलमान उनपर क्रुद्ध थे । उनकी हत्या का यही कारण भी था । उन दिनों किसी-न-किसी धार्मिक कारण से इस प्रकार की कई हत्याएं हिन्दुओं की हुईं । बलवा-फसाद तो हो ही रहे थे । इससे सारे देश का वायुमंडल बहुत बिगड़ गया था । जो सुन्दर समा १६२१ में देखने में आया था वह एकबारगी जाता रहा ।

अधिवेशन में कोई विशेष महत्त्व की बात नहीं हुई । गांधीजी उन दिनों कांग्रेस में जाते तो थे, पर एक प्रकार से तटस्थ-से रहते थे; क्योंकि उन्होंने इस काम को स्वराज्य-पार्टी के हाथों में सौंप दिया था । एक घटना गोहाटी में हुई जो यहां लिख देना अनुचित न होगा । नाभा (पंजाब) के महाराज पदच्युत किये गये थे । उनके कुछ

अनुयायी इससे बहुत रूष्ट थे । वे चाहते थे कि कांग्रेस इस सम्बन्ध में सरकार में सरकार की निन्दा का प्रस्ताव करे और दूसरे प्रकार से पदच्युत महाराज की सहायता करे । महात्माजी की गैरहाजिरी में विषय-निर्वाचिनी समिति में एक प्रस्ताव स्वीकृत भी हो गया । पर महात्माजी को यह बात पसन्द नहीं थी; क्योंकि वह देशी रियासतों के झगड़े में कांग्रेस का पड़ना, रियासतों और कांग्रेस दोनों के लिए हानिकर समझते थे । इसलिए उन्होंने विषय-निर्वाचिनी से इसपर फिर विचार करने का आग्रह किया । उन्होंने इस विषय पर कोई प्रस्ताव न होने दिया । इससे श्री हार्निमैन, जो बम्बई की ओर से प्रतिनिधि होकर कांग्रेस में आये थे, बहुत असन्तुष्ट हुए थे । उन्होंने पुनर्विचार का बहुत विरोध किया था । उस समय देशी रियासतों के सम्बन्ध में मेरी कुछ भी जानकारी न थी । इस नीति को मैं ठीक-ठीक न समझ पाया था । पीछे, कई बरसों के बाद, कांग्रेस की नीति के सम्बन्ध में, कांग्रेसी लोगों में बड़ा मतभेद पैदा हुआ । कई बरसों तक, हर साल, यह एक विशेष विवादग्रस्त विषय बना रहा । इसका जिक्र फिर आगे आवेगा ।

गोहाटी-कांग्रेस के समय बहुत पानी बरसा, जिससे वहां के प्रबन्धकों और आगन्तुकों को कष्ट उठाना पड़ा था । पर इस विघ्न के पड़ने पर भी वहां का अधिवेशन सफलतापूर्वक हुआ । सब काम निर्धारित रीति से समाप्त हुए, रामगढ़-कांग्रेस की तरह सारा इन्तजाम ही तहस-नहस न हुआ । पर इससे खर्च बढ़ गया और आमदनी, जिसका बड़ा हिस्सा दर्शकों के टिकट से ही आता है, घट गई । स्वागत-समिति को बहुत घाटा सहना पड़ा । उसको अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमिटी से सहायता मांगनी पड़ी । सहायता दी गई, पर पर्याप्त नहीं । श्री फूकन और श्री बारदोलाई को निजी तौर पर नुकसान उठाना पड़ा । यह झगड़ा बहुत दिनों तक चलता रहा । इधर हाल में वर्किंग कमिटी ने उसका बाकी हिसाब चुकाकर वहां के मामले का अन्त किया है । मैंने जिस बात से डरकर अपने मित्र श्री बारदोलाई को कांग्रेस को आमंत्रित करने से मना किया था, वह बात होकर ही रही । प्रकृति के प्रकोप ने आमदनी घटाकर आर्थिक स्थिति को और भी जटिल बना दिया ।

ऊपर कहा जा चुका है कि अहमदाबाद के अधिवेशन से ही प्रायः प्रतिवर्ष कोई-न-कोई इस विषय पर एक प्रस्ताव उपस्थित करता कि कांग्रेस का ध्येय केवल स्वराज्य न रखकर पूर्ण स्वतन्त्रता बना दिया जाय और यह हर साल नामंजूर कर

दिया जाता। गोहाटी के सभापति श्री अय्यंगर इसके समर्थक हो गये। इसमें अब जोर आने लगा। पर गोहाटी तक यह पास न हो सका था।

जबसे कांग्रेसी लोग कौन्सिलों में गये, कुछ लोग उसी काम में लग गये; कुछ लोग खादी-प्रचार में लगे रहे और कुछ लोग कांग्रेस के संगठन का काम करते रहे। कौंसिलों में जो काम होता, उसका समाचार-पत्रों में खूब प्रचार होता। लोगों ने काम भी अच्छा किया। केन्द्रीय असेम्बली में पंडित मोतीलालजी ही नेता हुए। वहां उन्होंने और दलों के लोगों के साथ मिलकर कई बार सरकारी बजट को नामंजूर करा दिया। दूसरे विषयों पर भी उन्होंने सरकार के विरूद्ध प्रस्ताव स्वीकार कराये। श्री श्रीनिवास अय्यंगर भी वहां के सदस्य थे। कई बातों में पंडितजी से उनका मतभेद हो जाया करता; पर अभी बात कुछ बिगड़ी नहीं थी। वहांपर सबसे विशिष्ट बात यह हुई कि विट्ठलभाई पटेल सभापति चुने गये। उन्होंने अपनी विद्वत्ता और प्रतिभा का बहुत सुन्दर प्रमाण दिया। हर तरह से निरपेक्ष रहते हुए भी कई बार उन्होंने गवर्नमेण्ट को बड़ी मुश्किल में डाल दिया।

: ६६ :

हिन्दू-मुस्लिम समस्याएं

गोहाटी-कांग्रेस के बाद श्री श्रीनिवास अय्यंगर ने दो बातों पर विशेष जोर दिया । इन्हीं के सम्दन्ध में उन्होंने काम भी किया । जैसा कहा जा चुका है, हिन्दू-मुस्लिम समस्या बहुत जटिल होती जा रही थी । बलवा फसाद तो होते ही रहते थे । आपस में, कांग्रेसी लोगों में भी, अविश्वास की मात्रा बढ़ती जाती थी । उन्होंने इसका प्रयत्न किया कि यह मामला किसी तरह सुलझ जाय । इस झगड़े के दो पहलू हैं--एक धार्मिक और दूसरा राजनैतिक । साधारण जनता, चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, धार्मिक पहलू से अधिक दिलचस्पी रखती है । शिक्षितवर्ग और धनीवर्ग के लोग, जो बाहर-भीतर की कुछ बातों से वाकिफ हैं, राजनैतिक पहलू में ज्यादा दिलचस्पी रखते हैं । दोनों का एक दूसरे पर असर पड़ता ही रहता है । और शिक्षितवर्ग, जिसे राजनैतिक वर्ग भी कह सकते हैं, साधारण जनता कि दिलचस्पी को भी अपने काम में लाता है । दोनों के दो प्रकार के प्रश्न होते हैं और उनके हल भी दो प्रकार के हैं ।

हिन्दू गया के लिए पूज्य भाव और श्रद्धा रखते हैं । गोवध के नाम से ही वे बहुत उत्तेजित हो जाते हैं । यह बात विशेषकर बिहार और युक्तप्रान्त में है । इसी गोवध के कारण न मालूम कितने बलवे हो चुके हैं । यह कोई नई बात भी नहीं है । मुसलमान बादशाहों ने भी महसूस किया था कि गोवध से हिन्दुओं के दिल को कितनी ठेस लगती है । उनमें जो उदार थे, उन्होंने, हिन्दुओं को मर्माहत होने से बचाने के लिए, गोवध का निषेध भी कर दिया था । वह भावना हिन्दुओं में आजतक वर्तमान है । इस भावना से शिक्षित हिन्दू भी एकदम बचे नहीं हैं । वे भी गोवध से उत्तेजित हो जाते है । उधर मुसलमान बकरीद के दिन कुर्बानी करना अपना फर्ज समझते हैं । गरीबों के लिए यह फर्ज गाय की कुर्बानी से ही अदा हो सकता है; क्योंकि उसमें कम खर्च पड़ता है । इसलिए उस दिन जहां-तहां गाय की कुर्बानी के कारण झगड़े हो जाया करते हैं । जहां मुसलमानों की आबादी ज्यादा है वहां तो कुर्बानी हो जाया करती हैं । पर जहां उनकी आबादी कम है वहां कुर्बानी प्रायः कभी

नहीं होती । बहुत करके झगड़ा ऐसे स्थानों में होता है, जहां मुसलमान नये तौर पर कुर्बानी करना चाहते हैं । हो सकता है, किसी गांव में पहले कोई ऐसा मुसलमान न था, जो गया की अथवा कोई भी कुर्बानी कभी कर सकता हो । अब उनमें से कोई कुछ पैसे कमाकर कुछ समृद्ध हो गया । उसकी इच्छा हुई कि वह भी अपने धर्म के अनुसार कुर्बानी करे । वहां के हिन्दू इस बात को बर्दाख्त न कर सके । बस झगड़ा हो गया ।

बिहार की सरकार ने इस झगड़े को निपटाने के लिए एक फेहरिस्त बना रखी है कि किन-किन गांवों में बराबर से कुर्बानी होती आई है । यदि ऐसे किसी गांव में कुर्बानी पर हिन्दू हस्तक्षेप करते हैं तो उनको दबाकर कुर्बानी करवा देती है । जहां मुसलमान नये सिरे से कुर्बानी करना चाहते हैं वहां उनको भी रोक देती है । यही नीति बहुत दिनों से बिहार-सरकार बर्तती आई है । मुसलमान इससे सन्तुष्ट नहीं होते । वे कहते हैं कि एक तो यह फेहरिस्त ही ठीक नहीं है; क्योंकि कुर्बानी तो हमेशा छिपा करके ही की जाती है, खुलेआम कभी नहीं होती; इसलिए इसका सबूत मुसलमानों की गवाही के सिवा दूसरा कुछ हो ही नहीं सकता--हिन्दू तथा सरकारी अफसर भी इस गवाही को जल्दी सच नहीं मानते; दूसरे उनका हक है कि वे अपने धर्म का पालन करें, इसलिए रिवाज की कोई बात हो ही नहीं सकती; जहां रिवाज न भी हो, वहां भी वे जब चाहें तब कुर्बानी कर सकते हैं और उनको इसका हक होना चाहिए । यही झगड़े का घर हो जाता है । बकरीद के मौके पर हमेशा अन्देशा रहता है कि कहीं झगड़ा न हो जाय । सरकार भी बहुत चौकन्ना रहती है ।

मुसलमानों की ओर से, मसजिद के सामने होकर बाजे-गाजे के साथ हिन्दुओं के जलूस निकालने का, विरोध किया जाता है । कहा जाता है कि मसजिद में नमाज पढ़नेवाले मुसलमानों के ध्यान में बाजे के कारण खलल पड़ता है, इसलिए वे बाजा नहीं बजने देना चाहते । इसलिए भी अक्सर हिन्दुओं के त्योहारों के दिन झगड़े हो जाया करते हैं । यह बात बिहार में उतनी नहीं थी जितनी कई दूसरे सूबों में । जबसे आपस का वैमनस्य फैला, मुसलमानों की ओर से जहां-तहां इसपर भी जोर दिया जाने लगा । इसके सम्बन्ध में बिहार के हिन्दू कहते हैं कि गाय की कुर्बानी के मुकाबले में रखने के लिए मसजिद के सामने बाजे न बजने देने की बात मुसलमानों ने जबरदस्ती नये सिरे से उठाई है और यह केवल एक अड़ंगा खड़ा करने की बात है । जो हो,

बिहार में भी कहीं-कहीं झगड़े होने लगे । कहीं-कहीं तो, जैसे पटना शहर में, यह झगड़ा अभी तक नहीं होने पाया है; क्योंकि यहां के कुछ ऊपर के दर्जे के मुसलमानों ने इसे अपने जोर से रोक दिया और बाजा बजाने का विरोध होने ही न दिया ।

बात तो यह है कि प्रतिदिन न मालूम कितनी ही गायें कसाईखानों में मारी जाती हैं । वे मारी जाती हैं या तो गोश्त खाने के लिए अथवा चमड़े इत्यादि बेचकर पैसे बनाने के लिए । विशेषकर जहां गोरों की अधिक आबादी है, वहां तो अच्छी-अच्छी गायें भी मारी जाती हैं । किन्तु इसपर हिन्दू विशेष ध्यान नहीं देते । प्रतिदिन के गोवध को वे सह लेते हैं; पर बकरीद के दिन धार्मिक प्रवत्ति से की गई कुर्बानी को वे नहीं बर्दाश्त करते । इसी तरह, बड़े-बड़े शहरों में बड़ी-से-बड़ी मसजिदों के चारों ओर ट्राम, मोटर, गाड़ी, छकड़े और दूसरे प्रकार की शोर मचानेवाली चीजों का शोर दिन-रात होता रहता है । मुर्हरम के दिनों में, मुसलमानों के ही जलूसों में, भयंकर शोर मचता है, बाजे बजते हैं । इनसे तो मुसलमान नहीं घबराते, मगर हिन्दुओं के किसी धार्मिक अथवा सामाजिक जलूस के बाजे को सहन नहीं कर सकते । जो हो, यह एक बीहड़ मसला है । साधारण जनता इससे ही अधिक सम्बन्ध रखती है ।

शिक्षित और राजनैतिक वर्ग के लोग सरकारी तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और म्युनिसिपैलिटी एवं कौंसिल की मेम्बरी इत्यादि में बहुत दिलचस्पी लेते हैं । यदि उनमें मुसलमानों की संख्या उनकी इच्छा के अनुसार न हुई तो मुसलमान बिगड़ जाते हैं; यदि हिन्दुओं की राय में मुसलमानों की संख्या उचित अनुपात से अधिक हो गई तो हिन्दू बिगड़ जाते हैं । यहां जो थोड़ा-बहुत अधिकार हिन्दुस्तानियों को मिला है अथवा मिल सकता है उसके बंटवारे का प्रश्न है । जो लोग उस अधिकार को बर्तना चाहते हैं, वे उसमें किसी तरह ठेस लगने से आवेश में आ जाते हैं ।

श्री श्रीनिवास अय्यंगर की बहुत इच्छा थी कि कोई समझौता हो जाय । पर यह हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न जितना जटिल उत्तर भारत में है, उतना दक्षिण में नहीं है । वहां अधिक झगड़ा ब्राह्मण और अब्राह्मण तथा स्पृश्य और अस्पृश्य हिन्दुओं के बीच है । मुसलमानों की संख्या वहां कम है । जिस गोवध के कारण उत्तर भारत में इतने अधिक दंगे हुआ करते हैं, उसके लिए उधर उतने झगड़े नहीं होते । हां, उधर कुछ झगड़े बाजे के प्रश्न पर होते हैं और वह ईसाइयों के साथ भी । इसलिए इस समस्या की जटिलता और हिन्दुओं की भावनाओं का अन्दाजा दक्षिणी लोग ठीक नहीं आंक

सकते । श्री श्रीनिवास अय्यंगर कुछ जल्दीबाज भी थे । जितनी तेजी से वह बोलते थे उतनी ही तेजी से अपनी राय भी कायम कर लेते थे । एक बार राय कायम कर लेने पर उससे जल्दी हटना नहीं चाहते थे । बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी, पर व्यावहारिक नहीं थी । इसलिए जहांतक कानून के पुस्तकीय ज्ञान का सम्बन्ध होता था, वहांतक तो वह बहुतेरों को मात कर सकते थे; पर जहां कार्य-कुशलता की बात आती वहां उनकी बुद्धि उतनी कारगर न होती । उन्होंने अपने सभापतित्व के समय में इस बात का प्रयत्न किया कि हिन्दू-मुस्लिम समझौता हो जाय । पर जिसको वह समझौता मानते थे उसे हिन्दू जनता तो जरूर, और कांग्रेसी हिन्दू भी शायद, स्वीकार न करते । इसलिए उनका यह सत्प्रयत्न सफल न हो सका ।

: ७० :

साइमन-कमीशन और मद्रास-कांग्रेस

१६२० में नया विधान बना था। उसमें एक नियम था कि दस बरसों पर पार्लमेण्ट उस विधान के कार्यान्वित किये जाने की रीति पर और राजनैतिक परिस्थिति पर पुनर्विचार करेगी तथा आवश्यकतानुसार इसकी जांच कराने के लिए किसी को नियुक्त करेगी। जबसे यह विधान बना, कांग्रेस ने इसका विरोध ही किया। १६२० के चुनाव में कांग्रेसी लोग शरीक न हुए। उन्होंने, और उनके तथा खिलाफत-कमिटी के कहने से प्रायः सभी जानदार हिन्दुओं और मुसलमानों ने, इसका बहिष्कार ही किया था। यों तो कोई-न-कोई चुना जाकर उन जगहों को भर देता था; पर संसार यह जानता था और सरकार भी अन्दर-अन्दर मानती थी कि जनता के सच्चे प्रतिनिधि उन धारा-सभाओं में नहीं आये थे; क्योंकि कांग्रेसी और खिलाफती लोगों ने अपने को केवल उम्मीदवारी से ही अलग न रखा था; वरन मत देनेवालों को भी मना किया था कि मत देकर चुनाव में हिस्सा मत लो। इसका नतीजा यह हुआ था कि बहुत कम मतदाताओं ने मत दिया था। १६२३ के चुनाव में कांग्रेस ने इतना ही किया था, कि जो कांग्रेसी धारासभाओं में जाना चाहे, वह जा सकता है, पर चुनाव में कांग्रेस भाग न लेगी। इसलिए, यद्यपि उस बार कांग्रेसी चुने गये और कुछ अधिक मतदाताओं ने चुनाव में भाग लिया, तो भी यह नहीं कहा जा सकता था कि वह चुनाव भी सारी जनता के प्रतिनिधि चुनवानेमें सफल हुआ था। १६२३ के चुनाव में कांग्रेस ने भाग लिया और जनता ने भी खूब जोरों से मत दिया। इस चुनाव का नतीजा यह हुआ कि जहांतक चुनाव में सफलता मिल सकती थी, कांग्रेस को मिली; पर विधान ही ऐसा बना था कि जिससे कांग्रेस का और जनता के प्रतिनिधियों का बहुमत न हो सके। इसलिए, अधिक संख्या में चुने जाने पर भी, सरकारी और सरकार द्वारा नामजद मेम्बरों को मिलाकर जो थोड़े लोग चुने जा सकते थे, कांग्रेस के विरूद्ध बहुमत पा सके, पर वह भी सब जगहों में नहीं। जो लोग चुने गये, वे भी, विशेषकर केन्द्रीय धारा-सभा में, पंडित मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में, सरकारी पक्ष को हमेशा हराते रहे। इन सब बातों से सरकार भी शायद सोचती रही कि इस असन्तोष को

दूर करना चाहिए। इसलिए इस बरसों का इन्तजार न करके उसने १६२७ में ही एक कमीशन नियुक्त किया और घोषणा की कि वह कमीशन १६२८ के आरम्भ में भारत पहुंचकर जांच का काम शुरू करेगा। इस कमीशन के सभापति सर जान साइमन थे। दूसरे सभी सदस्य अंगरेज थे। एक भी हिन्दुस्तानी उसमें नहीं था। इस घोषणा के प्रकाशित होते ही सारे देश में बहुत असन्तोष देखने में आया। कांग्रेसी लोगों का तो कहना ही क्या, जो लोग नरमदल के थे, वे भी बहुत असन्तुष्ट थे। हिन्दू और मुसलमान सभी इस विषय में प्रायः एकमत हुए। ऐसा मालूम होने लगा कि फिर एक बार सभी मिलकर इसका विरोध करेंगे।

पटना में इस विषय की एक कान्फ्रेन्स हुई। सर अली इमाम सभापति हुए। सभी दलों के लोग शरीक हुए। निश्चय किया गया कि सब लोग मिलकर इस कमीशन का बहिष्कार करें। इसके नेता सर अली इमाम हुए। मुझे याद है कि इस विषय में उनसे मेरी बातें हुई थीं। मैंने उनसे कहा था कि हम लोगों को यह देखकर बड़ी खुशी है कि उनके ऐसे सरकार द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त और नरम विचार के लोग भी इस कमीशन का विरोध करने पर तैयार हैं--जनता तो इस काम में उनका साथ देगी ही, यदि कांग्रेस तथा दूसरे लोग भी मिलकर काम, करेंगे तो इसमें शक नहीं कि बहिष्कार पूरा हो सकेगा। किन्तु उन लोगों के विचार में बहिष्कार का अर्थ इतना ही था कि इस कमीशन के सामने आकर कोई अपनी राय न दे और न दूसरे किसी प्रकार से इसके काम में मदद पहुंचाये। पर हम बहिष्कार का अर्थ इससे अधिक लगाते थे। हम जनता को भी इस बहिष्कार में शरीक करना चाहते थे। वह तभी हो सकता था जब बहिष्कार का रूप विरोधी प्रदर्शन का हो जाय। हमने उनसे कहाकि आप लोग कमीशन के सामने मत जायं और दूसरी तरह से उसकी कोई मदद करें; हम लोग प्रदर्शन द्वारा जनता के असंतोष को दिखला देंगे सरअली इमाम जनता के शेष और प्रदर्शन से बहुत घबराते थे। यद्यपि इस चीज को उन्होंने बहुत पसन्द नहीं किया तथापि वह कमीशन से इतने असन्तुष्ट थे कि उन्होंने इस बात को मान लिया।

जो बात बिहार में थी वही सारे देश में थी। सभी दलों के लोग कमीशन के सम्बन्ध में कहने लगे कि इसमें किसी एक भी हिन्दुस्तानी को स्थान न देकर ब्रिटिश सरकार के भारतवासियों का बड़ा अपमान किया है; इसलिए वे इस कमीशन मे किसी प्रकार का सहयोग न करेंगे। यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने कमीशन में किसी भारतीय को

स्थान तो न दिया, पर इतना कह दिया कि कमीशन के सलाहकार की तरह से कुछ लोग उसके साथ रहेंगे और हर सूबे में इस प्रकार के सलाहकार नियुक्त किये जायंगे। हिन्दुस्तान में ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो ब्रिटिश सरकार का साथ देने को हमेशा तैयार रहते हैं, चाहे सरकार जो कुछ भी करे। इस मौके पर भी ऐसे लोग उसे मिल ही गये ! पर यह एक सन्तोष का विषय है कि किसी भी राजनैतिक दल की ओर से कोई आदमी शरीक न हुआ।

कमीशन को १९२८ में आना था। उसके सामने पेश करने के लिए गवर्नमेण्ट मसाला तैयार करने लगी। दूसरे लोग उसके बहिष्कार की बात करने लगे। इसी बीच में मद्रास में होनेवाली कांग्रेस का समय आ पहुंचा। डाक्टर अंसारी सभापति चुने गये। महात्माजी कांग्रेस में गये। कांग्रेस का यह अधिवेशन एक प्रकार से महत्त्व रखता है। साइमन-कमीशन के आने की बात देश के सामने थी ही। कांग्रेस ने सोचा कि केवल विरोध करना ही काफी नहीं है। इसलिए उसने निश्चय किया कि एक ऐसी कमिटी मुकर्रर की जाय जो और सब दलों के लोगों के साथ मिलकर भारत के लिए एक विधान तैयार करे। यह विधान साइमन-कमीशन के सामने पेश करने के लिए नहीं था; पर यह सोचा गया कि इसके द्वारा हम अपने विचारों और मांगों को देश के सामने रख सकेंगे तथा सब दल मिलकर इसे मंजूर करने के लिए ब्रिटिश सरकार को मजबूर कर सकेंगे।

मद्रास-कांग्रेस में भी पूर्ण स्वतंत्रता-सम्बन्धी एक प्रस्ताव पेश हुआ। पंडित जवाहरलाल नेहरू कुछ दिनों तक यूरोप में रहकर हाल ही में वापस आये थे। वह इसके बड़े समर्थक थे। उन्होंने ही इसे विषय-निर्वाचिनी समिति में जोर लगाकर पास कराया। मैंने इसका विरोध किया। मेरा विचार था कि हमको कोई ऐसा प्रस्ताव नहीं पास करना चाहिए, जिसको हम कार्यान्वित करने के लिए तैयार न हों। उस समय मैं देश में कोई ऐसी तैयारी भी नहीं देखता था, जिसके बल पर यह भरोसा किया जाय कि हम इस ध्येय को प्राप्त कर सकेंगे। किन्तु यह प्रस्ताव बहुमत से पास हो गया। मगर अभी यह एक प्रस्ताव के रूप में ही था। दो बरसों के बाद, लाहौर-कांग्रेस में, यह कांग्रेस के विधान में उसका ध्येय बना।

हिन्दू-मुस्लिम-एकता-सम्बन्धी एक प्रस्ताव भी, कांग्रेस के सामने पेश करने के लिए, विषय-निर्वाचिनी समिति ने स्वीकार किया। उसमें और-और बातों के अलावा

गोवध के सम्बन्ध में यह कहा गया था कि मुसलमानों को इसका पूरा हक है और वे जहां चाहें आंख बचाकर गोवध कर सकते हैं। यही बात श्री अय्यंगर पहले भी कहा करते थे। अब यह बात कांग्रेस के प्रस्ताव-रूप में आई। मैंने समझा कि चाहे इसका औचित्य जो हो, हिन्दू जनता इसको कदापि न मानेगी; यदि मुसलमान इस हक का इस्तेमाल करना शुरू करेंगे तो इसका नतीजा, बहुत बड़े पैमाने पर बलवा फसाद के सिवा, दूसरा कुछ न होगा; यह किसी तरह से देश के लिए हितकर न होगा। गांधीजी विषय-निर्वाचिनी में नहीं आये थे। जब श्री अय्यंगर ने कांग्रेस के पहले ही यह बात चलाई थी तो मैंने गांधीजी को इसी आशय का पत्र लिखा था। इसलिए महात्माजी पहले से ही इस प्रश्न के दोनों पहलुओं को जानते थे। जब विषय-निर्वाचिनी ने इसे प्रस्तावरूप में स्वीकार कर लिया तो मैंने जाकर उनसे कहा। वह स्वयं उसकी दूसरी बैठक में आये। उनके कहने से इसपर पुनर्विचार किया गया। प्रस्ताव का रूप कुछ बदलकर ऐसा बनाया गया, जो सबको स्वीकार हो जाय। पर मैं जानता हूं कि कुछ मुसलमान भाइयों को यह बहुत बुरा लगा। आपस के मतभेद की जो खाई बन गई थी, वह और भी चौड़ी हो गई!

: ७१ :

लंका की यात्रा

मेरे घर की स्त्रियों की इच्छा हुई कि मद्रास-कांग्रेस के समय उधर से ही वे तीर्थाटन भी करती आवें; क्योंकि रामेश्वरजी वहां से करीब है। मेरे साथ भाईसाहब की धर्मपत्नी, मेरी स्त्री और कई अन्य मित्रों के घर की महिलाएं मद्रास गईं। जाने के समय हम लोग गोदावरी-स्नान के लिए राजमहेन्द्री में ठहर गये थे। कांग्रेस के अधिवेशन के बाद मदुरा, रामेश्वर आदि तीर्थों में और लोगों के साथ गये। रामेश्वरजी के दर्शन के बाद हम लोग लंका चले गये। घर के लोगों को वहीं छोड़ दिया। लंका जाने की एक सुविधा यह भी थी कि उन दिनों श्री रामोदारदासजी वहां लानिया के एक महाविद्यालय में बौद्ध-ग्रन्थों का अध्ययन कर रहे थे। उन्होंने, कई बरसों तक, छपरे में कांग्रेस का काम करके और कई बार जेल-यात्रा करने के बाद, बौद्ध-ग्रन्थों के अध्ययन के लिए वहां जाने का निश्चय किया था। उनको वहां संस्कृत पढ़ने तथा पाली में त्रिपिटकादि ग्रन्थों के अध्ययन का सुअवसर मिला। कुछ दिनों के बाद, बौद्ध-धर्म में दीक्षित होकर, वह श्री राहुल सांकृत्यायन के नाम से मशहूर हुए और भिक्षु हो गये। उस समय वह केवल अध्ययन कर रहे थे, बाजाब्ता भिक्षु नहीं बने थे।

जब हम लोग वहां गये, उन्होंने लंका के मुख्य-मुख्य स्थानों में हमें ले जाने का प्रबन्ध किया। हमने भाड़े पर एक लारी ली और कई दिनों तक वहां घूमते-फिरते रहे। यह हम लोगों के लिए पहली ही अवसर था कि इस सुन्दर टापू में हम भ्रमण कर रहे थे। टापू की खूबसूरती और हरियाली ने हम लोगों को मुग्ध कर लिया। कंडी के सुन्दर मंदिर में जाकर हमने दर्शन किया। वहां से नूरएलिया के पहाड़ पर जाकर एक रात बिताई। वहां से सीताएलिया गये। कहा जाता है कि यहीं पर रावण ने श्री जानकीजी को कैद करके अशोकवाटिका में रखा था। वहां जाते समय एक विचित्र चीज हम लोगों ने देखी। सीताएलिया, नुरएलिया से, कुछ दूर है। नूरएलिया पहाड़ की चोटी है और सीताएलिया पहाड़ के नीचे है। इसके चारों ओर पहाड़ है। ऐसा मालूम होता है कि मानों प्रकृति ने एक कटोरा बना दिया है, जिसकी दीवारें

पहाड़ की हैं और जिसके पेंदे में एक छोटा-सा झरना है; वहीं एक छोटा मंदिर-सा है, जहां श्री जानकीजी कैद की गई थीं। पहाड़ से उतरने में मोटर को कई बार चक्कर लगाना पड़ता है। उतरते समय हमने देखा कि कुछ दूर तक चारों तरफ फैला हुआ रक्ताशोक का जंगल है। पहाड़ काटकर जो सड़क बनी थी, उसकी बगल में दीवार की तरह पहाड़ खड़ा था। उस दीवार में कई तरह की मिट्टी या पत्थर देखने में आते थे। उसमें एक तह, जो प्रायः दो-तीन फुट चौड़ी थी, ऐसी मिट्टी की थी जो बिलकुल राख-जैसी थी। हमने इस मिट्टी को खोदकर देखा। ऐसा मालूम होता था कि जैसे ऊपर-नीचे पथरीली मिट्टी की तह है और बीच में यह एक तह राख की है। अशोक के पत्ते और राख हम अपने साथ भी लाये थे। इनको देखकर रामायण में वर्णित अशोकवाटिका और हनुमानजी द्वारा लंका के जलाये जाने की बात याद आ गई।

अनेक स्थानों को--जिनमें एक सुन्दर गुफा भी थी, जिसमें बहुत प्राचीन, पर सुन्दर, चित्र बने थे--देखते हुए हम लोग अनुराधपुर में पहुंचे। यहां एक बहुत बड़ा स्तूप है। कहा जाता है कि अशोक के पुत्र महेन्द्र ने यहीं पर आकर गया से लाई हुई महाबोधि वृक्ष की एक शाखा लगाई थी। हम लोग वहां रात में नौ बजे के करीब पहुंचे थे। पीपल के एक वृक्ष के पास बौद्धों का धार्मिक सभा हो रही थी। उसमें एक भिक्षु कुछ उपदेश कर रहे थे। दृश्य बहुत ही सुन्दर था। हृदय पर उसका बहुत असर पड़ा। हम उपदेश को समझ तो न सके, पर वहां बैठी हुई श्रोता-मंडली बीच-बीच में जो साधु ! साधु' कह उठती थी, उसे हम समझ सके। लोगों ने बताया कि पीपल का वह वृक्ष वही है, जिसे महेन्द्र ने लाकर वहां लगाया था। यों तो बोधगया में भी जो महाबोधि-वृक्ष है, वह भी उस समय का नहीं है, पर उसी स्थान पर उसी वृक्ष का वंशज है। उसी तरह अनुराधपुर का महाबोधि-वृक्ष भी महेन्द्र का ही लगाया हुआ नहीं है, उसका वंशज है, जो उसी स्थान पर आज तक किसी-न-किसी तरह से कायम है। पर इससे भी अधिक चमत्कार और आश्चर्य की बात हमको यह सुनाई गई कि वहां जो दीप जल रहा था, वह भी महेन्द्र का जलाया हुआ है ! उस समय से आजतक वह दीप कभी बुझा नहीं है। बौद्धों ने उसे बाईस-तेईस सौ बरसों से बराबर जलाये रखा है ! यदि यह सच है तो शायद दुनिया में ऐसी कोई दूसरी अग्नि-शिखा न मिलेगी, जो दो हजार बरसों से भी ज्यादा समय से बराबर जलती आ

रही हो ।

लंका की यात्रा समाप्त करके हम लोग रामेश्वरजी लौटे । वहां से परिवार के लोगों को लेकर, जिन तीर्थ-स्थानों में पहली बार न जा सके थे उनमें होते हुए, छपरे वापस आये । छपरे आकर हमने यह सुना कि हमारी गैरहाजिरी में ही भाईसाहब ने फोते में नश्तर लगवा लिया था । कुछ थोड़ी चीनी उनके पेशाब में आती थी । इसके घाव भरने में कुछ दिक्कत होने लगी । बीच में एक समय तो ऐसा आ गया था कि सब लोग बहुत चिन्तित हो गये थे । हम लोग सफर में थे, इसलिए हम लोगों का तार द्वारा भी खबर नहीं दी जा सकती थी । पर ईश्वर की दया से, हमारे लौटने के पहले ही, चिन्ता की अवस्था बीत चुकी थी । अब वह अच्छे हो रहे थे । थोड़े दिनों में फिर बिलकुल चंगे हो गये ।

: ७२ :

मेरी यूरोप-यात्रा

बाबू हरिजी के मुकदमे में डुमरांव के महाराजा ने प्रिवी कौंसिल में अपील कर दी थी। अब अपील की पेशी का समय नजदीक आ गया था। बाबू हरिजी चाहते थे कि मैं भी वहां के बैरिस्टरों की मदद के लिए विलायत जाऊं। मैं पहले ही कह चुका हूं कि उन्होंने असहयोग के आरम्भ के समय से ही मुझसे वचन ले लिया था कि उनके मुकदमे में मैं बराबर काम कर दूंगा। इसी वचन की पूर्ति में हाईकोर्ट की पेशी के समय भी मैंने काम किया था। अब विलायत जाने की बारी आई तो इनकार नहीं कर सकता था। और, कुछ यह भी लालच हुई कि इसी बहाने विदेश की यात्रा भी हो जायगी। इसलिए, अब हम वहां जाने की तैयारी करने लगे।

हमारा भतीजा जनार्दन, जो लोहा बनाने का काम सीखने वहां गया था, हाल में ही लौटा था। टाटा-कम्पनी (जमशेदपुर) में उसे नौकरी भी मिल गई थी। वहां के रहन-सहन के सम्बन्ध में उससे तथा दूसरे मित्रों से सलाह करके मैंने सर्दी के लिए गर्म कपड़े बनवाये। मैं बराबर केवल खादी ही पहना करता था। वहां जाकर भी इस नियम को भंग करना मैंने उचित न समझा। इसलिए कश्मीरी ऊन के कपड़े ही खादी-भंडार द्वारा मंगाकर बनवाये। कपड़े की काट-छांट भी देशी रखी। अंगरेजी पोशाक न पहनने का ही निश्चय कर लिया। फलस्वरूप दो बातें हुईं। बहुत कम खर्च में काम के लायक काफी कपड़े तैयार हो गये। पोशाक चूंकि हिन्दुस्तानी थी, इसलिए उसमें कुछ भूल अथवा भद्दापन भी हो तो कोई विदेशी समझ नहीं सकता था। अंगरेजी पोशाक और रहन-सहन अख्तियार करने पर उन लोगों के फैशन और रीति-नीति के अनुसार ही चलना-फिरना, कपड़ा पहनना और खाना-पीना पड़ता है। अपने रहन-सहन कायम रखने से यह सब झंझट दूर हो जाती है। विशेषकर मुझ-जैसे आदमी के लिए यह झंझट कुछ कम नहीं है; क्योंकि मैंने कभी जीवन-भर में कपड़े और फैशन पर ध्यान ही नहीं दिया है। हमने कपड़े को शरीर गर्म रखने और लज्जा-निवारण का साधनमात्र समझा है। इसी नीति को बराबर बर्तता आया हूं। पैंतालीस-पचास की अवस्था में नये सिरे से विदेशी फैशन को स्वीकार करके

उसके तह-पेच को समझना और कपड़े पहनना तथा समय-समय पर उसे बदलते रहना मेरे लिए कम कठिन काम न होता। और, ऐसा करने से काफी खर्च भी बढ़ जाता। इसलिए, मैंने वहां भी अपनी ही चाल चलना बेहतर समझा। ऐसा ही प्रबन्ध भी किया।

बाबू हरिजी चाहते थे कि मुझे हर तरह से आराम रहे--इंगलैड में भी जहांतक हो सके, उनका काम करते हुए, आराम से ही रहूं। इसलिए उन्होंने आग्रह किया कि मैं अपने साथ अपना नौकर भी ले जाऊं और बराबर फर्स्ट-क्लास में ही सफर करूं। मेरे सभी दोस्त, जिनको इंगलैड का कुछ भी अनुभव था, इसको गैरजरूरी समझते थे; पर उन्होंने नहीं माना। मैंने गोवर्धन को साथ ले लिया। मार्च के आरम्भ में ही, एक शुभ दिन को, जिसे उनके ज्योतिषी ने निश्चित कर दिया था, मैं घर से रवाना होकर बम्बई पहुंचा। वहां खादी-भंडार में कुछ और कपड़े तैयार करने को कह दिया। वहां से, महात्मा गांधी से विदा लेने के लिए, साबरमती चला गया। रवाना होने के दिन भाई साहब भी बम्बई पहुंच गई। कैसर-हिन्द जहाज में बम्बई से चला।

यह मेरी पहली विदेश-यात्रा थी। मैं यहां भी उन लोगों के संसर्ग में बहुत न पड़ा, जो विदेशी ढंग से रहते और खाते-पीते हैं। जाने के पहले एक दिन श्री सच्चिदानन्दसिंह ने मुझे अपने यहां अंगरेजी ढंग से टेबुल पर खिलाया था। मैंने कांटा-चमचे का इस्तेमाल देख लिया था। इत्तिफाक से जहाज पर मेरे कमरे में एक पारसी सज्जन थे। वह विदेश में सैर करने के लिए ही जा रहे थे। उनसे तो जान-पहचान हो ही गई, पर दूसरे कोई मुलाकाती भाई या बहन उस जहाज में नहीं थे। मेरी आदत भी कुछ ऐसी है कि मैं किसी से स्वतः मुलाकात या जान-पहचान करने में बहुत सकुचाता हूं। इसलिए जहाज पर किसी भी देशी या विदेशी यात्री से एक-दो दिनों तक मुलाकात या बातचीत नहीं हुई। पर इतना मैं देखता था कि मेरी हिन्दुस्तानी पोशाक की ओर बहुतेरों की आंखें जाती थीं। मैं डेक पर अपनी कुर्सी रखकर कुछ पुस्तकें पढ़ता अथवा टहलता रहता। समुद्र बहुत शान्त था। इसलिए किसी किस्म की मतली, चक्कर वगैरह मुझे नहीं आया।

दो दिनों के बाद एक अंगरेज सज्जन, जो आइ० एम० एस० (इंडियन मेडिकल सर्विस) के पेंशन पाये हुए अफसर थे, मेरे नजदीक आये। मुझसे वह बातें करने

लगे। मेरे खद्दर के कपड़े और एकान्त में चुप बैठे रहने से उनका और उनकी स्त्री का ध्यान आकर्षित हुआ था। पेंशन पाने के बाद वह किसी कमीशन के मेम्बर होकर फिर हिन्दुस्तान आये थे। अपना काम पूरा करके वह वापस जा रहे थे। दोनों प्राणी बहुत ही अच्छे मिजाज के थे। वे गांधीजी के सम्बन्ध में कुछ जानते थे। खद्दर के सम्बन्ध में भी अखवारों में कुछ पढ़ा था। उनकी इच्छा थी कि हिन्दुस्तान में गांधीजी को देखते, पर इसका सुअवसर न मिल सका। जब बातचीत से उनको मालूम हो गया कि गांधीजी के साथ मेरा कैसा सम्बन्ध है तो दिलचस्पी और भी बढ़ गई। हमसे वे बराबर बातचीत किया करते। उनको यह जानकर कौतूहल हुआ कि मैं मांसाहारी नहीं हूं। वे स्वयं भी मांसाहारी नहीं थे। उन्होंने मुझसे यह कहकर मुझे चकित कर दिया कि हिन्दुस्तान में शाकाहारी होकर रहना बहुत कठिन है; क्योंकि यहां शाकाहारी के उपयुक्त खाद्य प्रदार्थ बहुत कम मिलते हैं। उन्होंने मुझे बतलाया कि इंगलैंड और तमाम यूरोप में ऐसे बहुतेरे रेस्तरां हैं, जिनमें शाकाहारी भोजन मिल सकता है। वहां सब्जी बहुतायत से मिल सकते हैं--दूध और दूध से बने हुए बहुत तरह के खाद्य-पदार्थ मिल सकते हैं। पर वहां के लोग अंडे को भी शाकाहार में ही दाखिल करते हैं। शाकाहारी खूब अंडे खाते हैं। जो लोग पक्के शाकाहारी हैं, वे दूध और दूध के बने पदार्थ भी नहीं खाते; क्योंकि वे दूध को भी जानवर के खून का एक परिवर्तित रूप ही मानते हैं। इसलिए, उन्होंने मुझे चेता दिया कि इंगलैंड में यदि मुझे किसी रेस्तरां में खाना पड़े, तो खास तौर से मुझे कह देना होगा कि मुझे किसी अंडे से भी परहेज है; तभी वह बिना अंडे का भोजन देंगे, अन्यया प्रायः सभी चीजों में किसी-न-किसी रूप में अंडे का अंश रहेगा ही। साथ ही, उन्होंने यह भी कहा कि बिना अंडे के बिस्कुट इत्यादि भी सब जगह नहीं मिलते पर यदि कोई दुकानदार कहे कि बिस्कुट या खाने की अन्य वस्तु बिना अंडे के बनी है, तो मुझे उसकी बात मान लेनी चाहिए; क्योंकि उसका स्वार्थ सच बोलने में ही है। अंडा महंगा पड़ता है। ये सब बातें मेरे लिए नई थीं। पर उस दम्पति की मुलाकात ने मेरे लिए इस प्रकार ही बहुत-सी जानने लायक बातें बता दीं। प्रतिदिन के जीवन के काम में आनेवाले नुस्खे उन्होंने बता दिये। मैं अपने नियम के अनुसार वहां भी रह सका।

रास्ते में मुझे ऐसा मालूम हुआ कि जबतक जहाज स्वेज नहर में गुजरता है, तबतक टामस-कुक-कम्पनी की ओर से ऐसा प्रबन्ध रहता है कि जो मुसाफिर चाहे,

मोटर द्वारा जाकर 'कैरो' नगर और उससे थोड़ी दूर पर स्फिक्स को देख आ सकता है। मैंने यह देख लेना अच्छा समझा। मेरे ही जैसे कुछ और मुसाफिर भी थे, जिन्होंने टामस-कुक के साथ वहां जाने का प्रबन्ध कर लिया। हम लोग बहुत सवेरे ही, करीब पांच बजे, जहाज से उतरकर मोटर पर कैरो चले गये। कैरो में पहुंचने पर, मुंह-हाथ धोने और कुछ हल्का नाश्ता कर लेने के लिए, एक होटल में हम लोग ले जाये गये। उसके बाद कैरो का अजायबघर देखने गये। वहीं पिरामिडों की खुदाई से निकली हुई चीजें सुरक्षित रखी गई हैं। यह बड़ा सुन्दर संग्रह है। प्राचीन मिस्त्र के कितने बड़े नामी और प्रतापी बादशाहों के शव (ममी), जो पिरामिडों से निकले हैं, वहां सुरक्षित हैं। अब देखने में वे काले पड़ गये हैं, पर मनुष्य का चेहरा और हाथ-पैर तो ज्यों-के-ज्यों हैं। वे जिस महीन कपड़े में लपेटकर गाड़े गये थे, वह कपड़ा भी अभी तक वैसे ही लिपटा हुआ है। यह कपड़ा बहुत ही बारीक हुआ करता था। सुना जाता है कि यह भारतवर्ष से ही जाया करता था। उन दिनों के वहां के निवासियों का विश्वास था कि आराम के सभी सामान यदि मुर्दे के साथ गाड़ दिये जायं तो परलोक में भी उनसे वह आराम पा सकता है। इसी विश्वास के अनुसार, पिरामिडों के अन्दर, शव के साथ, सभी आवश्यक वस्तुएं गाड़ी जाती थीं--पहनने के कपड़े और गहने, बैठने के लिए चौकी इत्यादि, खाने के लिए अन्न, श्रृंगार के समान, सवारी के लिए रथ और नाव भी। वे सब चीजें एक-से-एक अच्छी बनी हैं। उनसे जान पड़ता है कि उस समय भी लोग सोने का व्यवहार जानते थे।

सुना है कि इसी प्रकार की खुदाई से मोहन-जो-दड़ो (सिन्ध) में जो गेहूं निकला, वह बो देने पर उग गया। अजायबघर के संग्रह और विशेषकर प्रतापी राजाओं के शव देखकर मनुष्य के जीवन की अनित्यता साफ-साफ दीखने लगी। ऐसे दृश्य देखकर यह मालूम होने लगता है कि हम जो-कुछ अपने बड़प्पन के मद में करते हैं, वह सब कितना तुच्छ और अस्थायी है। जिन बादशाहों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्होंने अपने जमाने में बहुत जुल्म किया था, उनके शव उसी तरह आज भी पड़े हैं। जो विशेष करके वहां का इतिहास नहीं पढ़ता उसे उनके नामों तक की अब खबर नहीं है। मैंने कुछ चित्र खरीदे। यद्यपि अजायबघर का सफर बहुत अच्छा रहा तथापि मेरे दिल पर क्षणभंगुर जीवन की असारता का गहरा असर पड़ा। मैं वहां से उदास ही निकला।

उस म्यूजियम को देखने के बाद हम लोगों को शहर की कुछ प्राचीन और प्रसिद्ध इमारतें और दूसरी मशहूर जगहें दिखलाई गईं, जिनमें एक बड़ी और सुन्दर मस्जिद भी है। मिस्त्र में मुसलमान पूरब रूख मुंह करके नमाज पढ़ते हैं; क्योंकि वहां से काबा पूरब पड़ता है। यह हिन्दुस्तानी के लिए कुछ अजूबा-सा मालूम पड़ता है। वहां की मस्जिद भी इसी कारण से हिन्दुस्तान की मस्जिदों जैसी पूरब रूख की न होकर पश्चिम रूख की होती हैं। यह बड़ी मस्जिद भी वैसी ही थी। वहां की भाषा अरबी है, पर यूरोपीय भाषाओं में से अधिक प्रचार वहां फ्रेंच का है। लोग साफ मालूम पड़ते थे। पुलिसवाले तुर्की फेज पहने हुए थे। कैरो यद्यपि पुराना शहर है, तथापि जिस हिस्से को हमने देखा वह बहुत-कुछ आजकल के शहरों जैसा ही था।

दोपहर का भोजन करके हम लोग कुछ दूर तक मोटर पर पिरामिड देखने गये। एक स्थान पर पहुंचकर मोटर छोड़ देनी पड़ी। ऊंटों पर सवार होकर पिरामिडों तक जाना पड़ा। मेरे लिए ऊंट की सवारी बिलकुल नई थी; क्योंकि मैं कभी हिन्दुस्तान में ऊंट पर न चढ़ा था। पर एक बार चढ़ जाने पर कोई विशेष बात न हुई। पिरामिडों को नजदीक जाकर देखा। ये बहुत ऊंची चौखूंटी इमारतें हैं। हमारे देश में ईंटों का पजावा जैसे बनता है वैसे ही ये पत्थरों के बहुत बड़े-बड़े चौरस किये हुए टुकड़ों से बने हैं। पजावे की तरह ही नीचे की चौड़ाई ज्यादा है, जो ऊपर की ओर कम होती गई है। ईंटों का पजावा तो छोटा होता है, ये बहुत बड़े और बहुत ऊंचे हैं। जिस परिमाण में ये ऊंचे और चौड़े हैं, उसी परिमाण में इनमें लगी हुई पत्थर की ईंटें भी पजावे की ईंटों से लम्बाई-चौड़ाई और मोटाई में अधिक हैं। मेरा अनुमान है कि एक-एक ईंट शायद चार-पांच हाथ लम्बी होगी। इसी के अनुसार उसकी चौड़ाई और मोटाई भी होगी। न मालूम कितने दिनों में एक-एक ईंट काटकर इतनी बड़ी इमारत तैयार हुई होगी। इसमें कितने गरीबों ने अपनी जिन्दगी का कितना हिस्सा लगाया होगा ? यह सब किसी एक राजा ने नाम को, उसके मरने के बाद भी, कायम रखने के लिए किया गया था ! नाम तो अब केवल पुस्तकों में रह गया है ! ये इमारतें, जिनसे मनुष्य कोई लाभ नहीं उठा सकता, अपनी जगह पर आज भी हजारों बरसों के बाद ज्यों-की-त्यों खड़ी हैं। उनमें से अनेकों के अन्दर की खुदाई हुई है। उन्हीं में से निकले हुए सामान का संग्रह कैरो के अजायबघर में है। मुझे स्मरण है कि हाल में हम लोगों ने अखबारों में पढ़ा था कि कब्रें खोदनेवाले की मृत्यु हो गई थी। जिस किसी ने यह प्रयत्न किया वह मर गया। खोदनेवाला मर तो गया;

पर वहां की खुदाई से बहुत सामान निकला ।

स्फिंक्स एक अजीब चीज है । मनुष्य का मुंह और शरीर जानवर का है । एक बहुत बड़ी मूर्ति उस रेगिस्तान में इसी शक्ल की बनी पड़ी है । सुनते हैं कि प्राचीन काल में इससे प्रश्न किये जाते थे और यह भविष्य की बातें बता देता था । पर यह जो कुछ कहता था, उसका समझना बहुत कठिन था । अब ये बातें तो नहीं हैं, पर यह मूर्ति यों ही खड़ी उस प्राचीन समय का स्मरण कराती रहती है ।

यह सब देखकर हम लोग संध्या तक वापस आकर रेल पर सवार हुए । पोर्ट-सईद में प्रायः ११ बजे रात के करीब पहुंचे । वहां जहाज पहुंच गया था । हम सब अपने-अपने कमरे में जाकर सो रहे । खाना-पीना रास्ते में रेल में ही हो चुका था ।

भूमध्यसागर में पहुंचने पर कुछ सर्दी लगने लगी । लाल समुद्र तो बहुत गर्म था--अरबसागर से भी अधिक । भूमध्यसागर में हवा भी जोर से चलती थी, इसलिए जहाज कुछ हिलता था । मुझे एक दिन कुछ मतलीसी आई, पर अधिक नहीं । रास्ते में जो देखने को मिला, मैं सब कुछ देखता गया । इटली के नजदीक सिसिली टापू के पास होकर ही जहाज गुजरा । वहां का शहर कुछ दूर पर देखने में आया । पहाड़ तो साफ नजर आता था । कई दिनों के बाद हम लोग मार्सेल्स (फ्रान्स) पहुंच गये । रास्ते में कोई विशेष बात नहीं हुई । कभी-कभी कोई टापू नजर आ जाता था तो सब लोग उसे देखने लगते थे । समुद्र-यात्रा में चारों ओर पानी-ही-पानी दीखता है । इससे दिन-रात पानी देखते-देखते एक-दो दिनों के बाद ही जी ऊब जाता है । अगर कहीं कोई दूसरा गुजरता हुआ जहाज नजर आ गया या जमीन देखने में आ गई, तो बहुत आनन्द होता है । सभी मुसाफिर उसे इस तरह देखने लगते हैं मानो उन्होंने कभी जमीन देखी ही नहीं है ।

हम लोग मार्सेल्स में सवेरे ही उतरे । वहां एक होटल में ठहर गये । वहां भी कुक-कम्पनी की कृपा से शहर के सभी देखने योग्य स्थानों को देख लिया । टामस-कुक का प्रबन्ध बहुत अच्छा होता है । यात्रियों को उनका दुभाषिया मुख्य-मुख्य स्थान दिखला देता है । उनकी अपनी मोटर-गाड़ी रहती है । ऐसा अच्छा प्रबन्ध रखते हैं कि निश्चित समय के अन्दर सबकुछ आदमी देख लेता है । सवेरे जहाज से उतरते ही, रात में रवाना होनेवाली गाड़ी में, अपने लिए जगह मैंने ठीक करा ली थी ।

दिन-भर घूम-घामकर रात की गाड़ी से पेरिस के लिए रवाना हो गया। पेरिस से गाड़ी बदलकर कैले पहुंचा। वहां फिर जहाज पर चढ़कर संध्या होते-होते डोवर से उतर गया। डोवर से रेल पर चलकर रात के प्रायः ९ बजे लंदन पहुंच गया। वहां मैं मार्च के तीसरे सप्ताह में पहुंचा था, पर अभी तक काफी सर्दी थी। स्टेशन पर पहले से वहां पहुंचे हुए मित्र मिल गये थे। मैं सीधे उस मकान में चला गया जो पहले से किराये पर लिया गया था। वह गोल्डर्स-ग्रीन में था। हम लोग कुछ दिनों तक वहीं ठहरे रहे।

वहां पर सब प्रबन्ध पहले से ही था। श्री महावीरप्रसाद बैरिस्टर और श्री कुंवरबहादुर पहले से ही वहां ठहरे थे। इसलिए वहां घर-जैसा ही मालूम हुआ। फिर गोवर्धन के मेरे साथ आ जाने से खाना भी हिन्दुस्तानी मिलने लगा। जैसे यहां हम लोग भात-दाल रोटी-तरकारी खाते हैं वैसे ही वहां भी खाने लगे। मैं तो मुकदमे की पैरवी के लिए गया था। जिस रात मैं पहुंचा, लोगों से कुछ बातचीत करके सो गया। पहुंचते ही मालूम हो गया कि सवेरे उठकर बैरिस्टर के यहां जाना होगा; क्योंकि उसने आपस में बातचीत करने के लिए समय दिया है। इसलिए, लंदन पहुंचने के बारह घंटों के अन्दर ही मैं काम में जुट गया। और, जबतक मुकदमा खतम न हुआ, दिन-रात उसी के काम में लगा रहा।

: ७३ :

लंदन में मेरा कार्यक्रम और मुकदमे की पैरवी

मेरा कार्यक्रम वहां यह था कि मैं अपनी आदत के मुताबिक बहुत सवेरे उठता। वहां लोग सवेरे बहुत देर तक सोये रहते हैं। अधिकतर रात की पहली पहर में ही जागकर काम करते हैं। मैं ऐसा कभी नहीं करता। वहां भी ऐसा न कर सका। जब सब लोग सोये ही रहते थे, मैं मुंह-हाथ धोकर और स्नान कर कपड़े पहन कमरे में बैठ जाता और मुकदमे के कागज पढ़ने लगता।

सब लोग सवेरे प्रायः नौ-साढ़े-नौ बजे तैयार होते। उस समय तक मैं प्रायः दो घण्टे काम कर चुका होता था। उसके बाद नाश्ता करके प्रायः दस बजे लाईब्रेरी में चला जाता। वहां कानून की पुस्तकें पढ़ने लगता। वहां के हमारे एटर्नी ने लाइब्रेरी में हमारे लिए सुविधा करा दी थी। इससे अंगरेजी कानून की हर तरह की पुस्तकें देखने को मिल जातीं। एक बजे दिन तक इस तरह काम करके मैं नजदीक के ही एक शाकाहारी लोगों के रेस्तरां में चला जाता। वहां कुछ फल, रोटी-दूध इत्यादि खा लेता। फिर संध्या तक कोर्ट में काम करके प्रायः छः बजे वहां से वापस आता। आना-जाना रेल से होता, जो जमीन के भीतर से चलती है। घर पर संध्या का भोजन करके शाम को कुछ देर के लिए टहलने जाता और लौटकर कुछ काम करके सो जाता। किसी-किसी दिन बैरिस्टरों के साथ सलाह-बात होती। उसके अनुसार इस कार्यक्रम में तब्दीली हो जाती। इस तरह प्रायः दो महीने बीते। अब बाबू हरिजी भी पहुंच गये। इस बीच में मुझे कुछ दिनों के लिए हाइथ में जाकर रहना पड़ा था।

हमारी तरफ के सीनियर बैरिस्टरों में एक श्री लक्समूर थे, जो थोड़े ही दिनों के बाद वहां के हाईकोर्ट के जज हो गये। उनका घर था हाइथ के पास एक गांव में। ईस्टर की छुट्टी में वह अपने घर गये। हमारी ओर से उनसे कहा गया कि यह मुकदमा बहुत पेचीदा है, यदि आप कहें तो कागज पढ़ने में आपकी सहायता करने के लिए हममें से कोई आपके साथ वहां जाय। पहले वह राजी नहीं होते थे, पर बहुत कहने-सुनने पर वह राजी हो गये। मैं हाइथ में ठहरा। वहां से उनका घर सात-आठ मील की दूरी पर था। रोज सवेरे नौ बजे उनकी मोटर आकर मुझे ले जाती। साढ़े नौ बजे से हम लोग काम करने बैठ जाते। बीच में एक घण्टा दोपहर के भोजन के

लिए और आधा घण्टा चाय के लिए छोड़कर प्रायः साढ़े छः-सात बजे तक काम करते रहते। मैं फिर हाइथ उसी तरह चला आता। दोपहर का खाना उन्हीं के यहां खाता। उनकी पत्नी को मेरे शाकाहारी होने की बात मालूम हो गई थी। उन्होंने उसके लिए प्रबन्ध कर लिया था। प्रायः पन्द्रह दिनों तक वहां रहा। काम के सिलसिले में उनसे बहुत घनिष्ठता हो गई।

हमारे सबसे सीनियर बैरिस्टर श्री अपजौन थे। उनकी अवस्था उस समय पचहत्तर से अधिक हो गई थी। अब भी वह काफी परिश्रम कर लेते थे। स्वास्थ्य उनका बहुत अच्छा था। मुकदमे के कागज प्रायः पन्द्रह हजार पृष्ठों में छपे थे। बातें भी बहुत पेचीदा थीं। कहीं-कहीं एक ही कागज पच्चीस-तीस पृष्ठों का होता, पर उसमें हमारे काम की केवल तीन-चार ही पंक्तियां मिलतीं। हम लोगों के पास पटने से ही पूरा-पूरा नोट तैयार था। हम समझते थे कि हम अगर बैरिस्टरों के साथ बैठें और ऐसे दस्तावेजों के आवश्यक भाग की ओर उनका ध्यान आकर्षित कर दें तो उनका समय बच जायगा। इसलिए ही हम चाहते थे कि हमारे साथ वे कागज पढ़ें। पहले कोई राजी नहीं होता था, पर मिस्टर लक्समूर राजी हो गये। मिस्टर अपजौन राजी नहीं हुए, इसके लिए अलग से फीस देने को कहा। यहां हिन्दुस्तान में ऐसा ही हुआ था। कागज पढ़ने के लिए जब हममें से किसी के साथ सीनियर लोग बैठते तो उसके लिए फी घंटा ८५ रू० अलग फीस लेते। प्रायः १५००० पृष्ठ इस तरह ८५रू० घंटे के हिसाब से पढ़वाये गये थे। बाबू हरिजी चाहते थे कि चाहे जो खर्च पड़े, यही बात वहां भी की जाय। पर मिस्टर अपजौन, जिनको हमारी ओर से सबसे पहले बहस करनी थी, इसपर किसी तरह राजी न हुए। उनका कहना था कि जो फीस हमको मिली है, वह केवल इजलास पर बैठने या खड़े होने के लिए ही नहीं है, कागज पढ़ना हमारा कर्तव्य है, क्योंकि उसके बिना वहां हमारा जाना बेकार होगा, इसलिए कागज पढ़ने के लिए अलग फीस मैं नहीं लूंगा और मैं अपना काम खुद कर लूंगा--हां, अगर कहीं किसी विषय पर नोट की जरूरत होगी तो मांगूगा, तुम लोगों को कोई नोट देना हो तो दे देना, उसे देख लूंगा। यहां का रवाज कागज पढ़ने के लिए किसी दूसरे के साथ बैठने की नहीं है, जब कभी दूसरे लोगों के साथ राय-मशविरा करना होगा तो बुला लूंगा ; उसकी उचित फीस--जो कनसलटेशन की होती है--लूंगा।

बाबू हरिजी कुछ घबराये; क्योंकि वह समझते थे कि इतना वयोवृद्ध इतने कागजों को खुद पूरी तरह शायद न पढ़ सकेगा और पढ़ते-पढ़ते घबरा जायगा; क्योंकि जैसा ऊपर कहा गया है, किसी बहुत लम्बे कागज में पच्चीस-तीस पृष्ठ पढ़ने के बाद दो-चार पंक्तियां काम की मिलेंगी और हो सकता है कि वह उन पंक्तियों को लांघकर आगे, बढ़ जाय और यह न समझे कि यह कागज किस लिए दाखिल किया गया है । जब उनसे कहा गया कि आपका समय बहुत फजूल चीजों के पढ़ने में व्यर्थ लगेगा तो उन्होंने जवाब दिया कि मैं एक पंक्ति भी बिना पढ़े नहीं छोड़ंगा--तुम समझते हो कि वही दो-चार पंक्तियो जो तुम बताओगे, जरूरी हैं; पर बहस मुझे करनी है, हो सकता है कि मैं अपनी बुद्धि और अनुभव से दो-चार पंक्तियां ऐसी दूसरी भी निकाल लूं, जिनसे हमारा काम निकले और जिनको तुम लोगों ने गैरजरूरी समझा है; इसलिए मैं अकेला ही सब पढ़ूंगा और तब जरूरत पड़ने पर कुछ पूछना होगा तो पूछूंगा ।

इसका उत्तर कुछ नहीं था । बाबू हरिजी को चुप रह जाना पड़ा । पर वह शंकित ही रहे ।

प्रिवी कौंसिल का कायदा है कि दोनों पक्ष अपनी बहस का सारांश लिखकर दाखिल कर देते हैं । इसे केस पेश करना कहते हैं । केस बड़ी सावधानी से तैयार किया जाता है; क्योंकि उसके बाहर की बातों पर बहस नहीं हो सकती । एक पक्ष को दूसरे पक्ष का केस, अपना केस दाखिल करने के पहले, देखने को नहीं मिलता । इसलिए दोनों पक्षों को, विपक्षी के केस का उत्तर भी, अपने केस में, पहले से ही अन्दाज से दे देना पड़ता है । जब मिस्टर अपजौन ने हम लोगों का केस तैयार किया, हमने उसे देखा । हम सबको, विशेषकर बाबू हरिजी को, पूरा विश्वास हो गया कि उन्होंने सारी पेचीदगियों को अच्छी तरह समझ लिया है और सभी कागजों को पूरा-पूरा पढ़ लिया है । इससे हम लोगों को पूरा सन्तोष हो गया । कानूनदां लोगों के बर्ताव का यह बहुत ऊंचा आदर्श मेरे देखने में आया । मैं तो इसपर मुग्ध हो गया । अफसोस के साथ कहना पड़ता है, अपने देश में इतना ऊंचा आदर्श मैंने नहीं देखा था !

मिस्टर अपजौन से मेरी जान-पहचान विचित्र तरीके से बढ़ गई । मेरा हिन्दुस्तानी लिवास देखकर वह समझते थे कि मैं या तो बाबू हरिजी हूं या उनका कोई सम्बन्धी, जो मुकदमे की पैरवी के लिए आया है । वह मुझे वकील नहीं जानते थे ।

एक दिन 'कन्सलटेशन' में उन्होंने कुछ प्रश्न किये । मैं पीछे बैठा था, मैंने उत्तर दे दिया । उन्होंने मेरी ओर देखा, पर कहा कुछ नहीं । पीछे हममें से एक आदमी से, जो उनके यहां वकील की हैसियत से जाया-आया करते थे, उन्होंने कहा कि हम लोगों का मवक्किल तो बड़ा होशियार मालूम होता है, उसने मेरे प्रश्नों का अच्छा उत्तर दिया था । इसपर हमारे सहकर्मी ने मेरे बारे में बताया कि मैं मवक्किल नहीं, बल्कि एक वकील हूं और अपनी वकालत छोड़ दी है । इससे उनका कुतूहल कुछ बढ़ गया । पीछे उन्होंने मुझसे बहुत काम लिया । अनेक प्रकार के नोट तैयार करने की फरमाइश की । मैं बराबर तैयार करके दे देता । जब मुकदमे की पेशी का समय आया तो उन्होंने मुझसे पूछा--"क्या तुम इजलास पर हाजिर रहना चाहते हो ?" मेरे 'हां' कहने पर बोले--"यह जरूरी नहीं है, तुम्हारा समय दूसरे तरीके से बेहतर उपयोग में आवेगा, मुझे बहुत विषयों पर नोट चाहिए, तुम घर पर रहकर तैयार करो ।" मैंने कहा--"यदि मैं नोट तैयार करके दे दिया करूं और घर पर रहना जरूरी न हो तो ?" उन्होंने कहा--"नहीं, नोटों के तैयार करने में समय लगेगा, तुम हाजिर नहीं हो सकोगे; पर यदि तुम नोट में देरी न करो और इजलास पर भी हाजिर रह सको तो मुझे कुछ उज्र नहीं है; पर नोट में देरी मैं बर्दाश्त नहीं कर सकूंगा ।" यह बात मशहूर थी कि वह बहुत बदमिजाज हैं, अपने विरोधी और साथी बैरिस्टरों तथा जजों से भी उलझ जाया करते हैं । इसलिए मैं बहुत डरता था; पर मैंने देख लिया कि वह मेरे नोटों से संतुष्ट हो जाते थे । वह टेलिफोन कर देते थे कि मैं इजलास लगने के दस या पांच मिनट पहले उनसे मिलूं । वहां वह घर से ही उन विषयों को नोट करके लाते, जिनपर मुझसे वह नोट लिखाना चाहते थे । मुझे वह उन नोटों को लिखवा देते । मैं उसके पहले के नोट देखकर आता और उनमें जो कुछ पूछना होता, पूछ लेता । यदि मैं पहले से कागज-पेन्सिल लेकर तैयार न रहता तो इसपर भी वह बिगड़ जाते । समय का इतना सदुपयोग करते कि एक मिनट भी बर्बाद न होने पाता ।

मैंने एक बात और देखी । वह हमारे देश के, विशेषकर पटने और कलकत्ते के, वकीलों और बैरिस्टरों के लिए अनुकरणीय है । जब मैं वकालत करता था, मेरा अनुभव हुआ कि कोर्ट में जाने पर जबतक हम घर लौटकर नहीं आते तबतक का हमारा अधिकांश समय, जो अपने मुकदमे की पेशी में नहीं लगता, प्रायः बेकार बरबाद हो जाता है । बार-एसोसिएशन या पुस्तकालय में बैठकर हम लोग बहुत कम कागज

अथवा पुस्तकें पढ़ते हैं । हम लोग अपने मुकदमे की बहस की तैयारी घर पर ही किया करते हैं । कोर्ट में जब मुकदमा पेश होता है और जबतक चलता रहता है तबतक, जिसका मुकदमा रहा उसका समय तो उपयोग में आया, पर जिन दूसरे लोगों की मुकदमे की पेशी नहीं हुई है, वे केवल गपशप में सारा समय बिताते हैं । कहीं-कहीं शतरंज की बाजी भी जम जाती है । मेरा अपना अनुभव भी यही था कि वहांपर कागज या पुस्तक पढ़ना बहुत मुश्किल है; क्योंकि इसके लिए वहां का वायुमंडल अनुकूल नहीं रहता । जहां सब लोग गपशप और हंसी-मजाक कर रहे हों, वहां कोई कैसे पढ़ सकता है । इसलिए मुकदमों के कागज पढ़ने का सारा समय घर पर ही निकालना पड़ता है । मेरे पास काफी मुकदमे रहा करते थे । इसलिए मुझे बराबर प्रायः तीन-चार बजे तड़के ही उठकर तैयारी करनी पड़ती थी । वहां मैंने देखा कि बैरिस्टर अपना सारा काम चाहे लाइब्रेरी में या अपने चेम्बर में ही पूरा करते हैं । इजलास पर जजों के बैठने के कुछ पहले ही आ जाते हैं । फिर इजलास उठ जाने के बाद भी घंटा-दो-घंटा बैठ जाते हैं । बीच में जब मुकदमे की पेशी से छुट्टी मिलती है, काम करते हैं । कोई-कोई तो घर पर मुकदमे के कागज ले भी नहीं जाते । यहांतक कि घर में कानून की पुस्तकें भी नहीं रखते । उनका विचार है कि घर तो बस घर ही है--वहां बाल-बच्चों से मिलना, बातें करना, खाना-पीना, दिल बहलाना, अथवा जी चाहे तो इच्छा के अनुसार दूसरी पुस्तकें पढ़ना चाहिए । पेशे का काम तो दिनभर में चाहे चेम्बर में, चाहे इजलास पर ही करना चाहिए । इस प्रकार दिन का पूरा समय ठीक उपयोग में आता है तथा रात और सवेरे का समय अपना होता है, जिसे हम जिस तरह चाहें अपने उपयोग में ला सकते हैं ।

वहां के बहुतेरे वकील-बैरिस्टर शनिवार और रविवार को लंदन से बाहर चले जाते हैं । मिस्टर अपजौन बिला नागा प्रत्येक शुक्रवार की संध्या को इजलास से उठकर सीधे स्टेशन जाते थे । वहां से रेल द्वारा लंदन से प्रायः सत्तर मील की दूरी पर अपने गांव के घर में जाकर रहा करते थे । फिर रविवार की संध्या को लंदन चले आते थे । सप्ताह के अन्तिम दो दिनों को हमेशा गांव की खुली हवा में ही बिताते थे । हम लोगों की इच्छा थी कि जबतक यह मुकदमा पेशी में रहे, वह लंदन में ही रहें । हम समझते थे कि शनीचर-इतवार को ही दूसरे पक्ष की बहसवाली और अपनी बातें उनसे कहने का मौका मिल सकेगा; क्योंकि और दिनों तो सारा समय इजलास

पर ही लग जायगा। उनसे कहा गया कि आप शनीचर-इतवार को लंदन में ही रहें और उन दिनों के लिए भी वैसे ही फीस ले लें जैसे पेशी के दिन की लेते हैं। उन्होंने इसे मंजूर नहीं किया। फीस की लालच भी उन्हें अपने इस नियम से न हटा सकी। अन्त में बहुत जिद करने पर उन्होंने कहा कि सप्ताह के ये दो दिन यदि मैं गांव की खुली हवा में न बिताऊं तो सप्ताह के बाकी पांच दिन मैं काम के लायक नहीं रहूंगा। क्या तुम समझते हो कि मैं यदि यह नियम न रखता तो आज इस उम्र में इतना काम कर सकता था ? मवक्किल को समझा दो कि यहां रहने से मैं उनका काम बिगाड़ूंगा, बनाऊंगा नहीं, इसलिए वह जिद छोड़ दें। हम लोग भी उनकी बात समझ गये। यदि हमारे देश के लोग भी इस तरह समय का उपयोग करते और स्वास्थ्य का ख्याल रखते, तो हमारी जिन्दगी कुछ लम्बी हो जाती और हम काम भी अधिक कर सकते।

हम लोगों का, खासकर हमारे बड़े-बड़े बैरिस्टरों का, ख्याल था कि हमारा मुकदमा बहुत मजबूत है, हम जरूर जीतेंगे। मिस्टर अपजौन का कहना था कि हमको शायद बहुत जवाब देने की भी जरूरत नहीं पड़ेगी। मुकदमें की बहस बीस-बाईस दिनों तक दूसरे पक्ष की ओर से चली। अभी शायद एक-डेढ़ महीने तक और उधर की ही बहस चलती। इसी बीच में कचहरी प्रायः तीन महीनों के लिए बन्द होने जा रही थी। इसका नतीजा यह होता कि मुकदमे की पेशी फिर अक्तूबर में होती और शायद दिसम्बर तक चली जाती। उन दिनों सर्दी काफी पड़ेगी और हममें से बहुतेरे उसे सह न सकेंगे; खासकर मैं तो उस सर्दी को बर्दाश्त कर ही नहीं सकता था। बाबू हरिजी इससे बहुत घबराये। एक मौका मिला तो किसी दूसरे से बिना पूछे ही सुलह की बात तय कर ली। वह जानते थे कि वकील-बैरिस्टर सुलह करने की बात पसन्द नहीं करेंगे; क्योंकि वे तो मुकदमा जीतने में दृढ़ आशावान थे। तब भी खर्च बचाने और जाड़े की दिक्कतों से बचने के लिए, बहुत नुकसान उठाकर, उन्होंने सुलह कर ली। सब बातें तय कर लेने पर, लिखकर दाखिल करने के समय, उन्होंने ये बातें सबसे कहीं। दूसरे को अब कुछ कहना नहीं था। सुलहनामा पेश हो गया। मुकदमा अचानक एक दिन जुलाई के अन्तिम सप्ताह में समाप्त हो गया। हम सबको छुट्टी मिल गई।

मिस्टर अपजौन मुकदमे की बातें छोड़ कभी दूसरी बातें नहीं करते थे। उनके

साथ मेरा इतना काम पड़ा कि उन्होंने मेरे सम्बन्ध में कुछ जानने की इच्छा से श्री कुंवरबहादुर से कुछ बातें पूछीं। उनको यह मालूम हो गया कि अब वकालत छोड़कर मैं गांधीजी के साथ काम करता हूं। इससे उनको आश्चर्य हुआ। एक दिन मुझसे पूछा भी। यह भी कहा कि गांधीजी उनके मवक्किल रहे हैं! जलियांवालाबाग के हत्याकांड के लिए जनरल डायर पर मुकदमा चलाने के सम्बन्ध में उनसे राय ली गई थी। उन्होंने राय दी भी थी। मैंने उनसे कहा कि गांधीजी डायर पर मुकदमा चलाने के विरूद्ध थे। हो सकता है कि पं० मोतीलालजी और देशबन्धु दास ने आपकी राय मंगवाई हो। इस पर उन्होंने कहा, मैंने समझा कि कांग्रेस की ओर से गांधी ने ही मेरी राय मंगवाई है। उस समय तक मैं खुद भी नहीं जानता था कि हत्याकाण्ड का मामला इस हद तक पहुंचा है और विलायत के बैरिस्टर से राय ली गई है। मेरे सम्बन्ध में उन्होंने इतना ही कहा, तुमको वकालत नहीं छोड़नी चाहिए, इस सम्बन्ध में मुकदमा खतम होने पर एक दिन बातें करूंगा। लेकिन मुकदमा तो अचानक समाप्त हो गया और मुझे बहुत जल्दी में लंदन छोड़ देना पड़ा; इसलिए उनसे फिर बातें न हुईं।

: ७४ :

युद्ध-विरोधी सम्मेलन में

लंदन छोड़ने का एक विशेष कारण हुआ। जिस दिन मुकदमा समाप्त हुआ उसके दो ही दिनों के बाद, आस्ट्रिया के छोटे गांव सन्तासवर्ग में, जो वियना से कुछ दूरी पर है, एक अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध-विरोधी सम्मेलन होनेवाला था। मैं इस विषय में कुछ दिलचस्पी रखता था। मिस्टर फेनर ब्राकवे उसके सभापति होनेवाले थे। बिहार के ही श्री तारिणीप्रसादसिंह ने, जो इंगलैंड में बहुत दिनों से थे और जो उस सम्मेलन में जानेवाले थे, मुझसे कहा कि मैं भी चलूं तो अच्छा होगा। इस तरह के सम्मेलन की बात मैंने पहले से भी सुन रखी थी। उसमें जाने का पहले से ही इरादा कर रखा था। मुकदमा खतम हो जाने से बहुत अच्छा सुयोग मिल गया। इसलिए मैं वहां जाने को तुरंत राजी हो गया। हम लोग एक और पंजाबी मित्र के साथ रवाना हो गये। दूसरे दिन वहां पहुंच गये। रास्ते में कोई विशेष घटना न हुई। यूरोप के छोटे-छोटे देशों का केवल कुछ अन्दाज मिल गया। जब गाड़ी चार-पांच घंटे चलकर ठहर जाती तब जान पड़ता कि अब दूसरे देश की सीमा पर हम पहुंच गये। वहां उस देश के कर्मचारी चुंगी के लिए हमारे सामान देखने आ जाते। हमारे पासपोर्ट (राही परवाना) को भी जांचते। इस तरह आस्ट्रिया प्रायः चौबीस घंटों में हम पहुंचे। रास्ते में तीन-चार बार सामान दिखलाना पड़ा।

युद्ध-विरोधी सम्मेलन हुआ था एक गांव में, जहां एक छोटी पहाड़ी पर पुराना गिरजाघर था। उसमें जर्मनी, आस्ट्रिया, फ्रान्स, इंगलैंड, प्लस्तीन, चेकोस्लोवेकिया, हालैंड इत्यादि अनेक देशों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। प्रतिनिधि-संख्या बहुत बड़ी नहीं थी; किन्तु अपने-अपने स्थान पर सभी बहुत धुन से युद्ध-विरोधी प्रचार के काम में लगे थे। इनमें से बहुतेरों ने इसके लिए सजा भुगती थी, जेलखाने हो आये थे। जब उन लोगों को मेरे बारे में यह मालूम हुआ कि मैं गांधीजी के साथ काम करता हूं तो उनका स्वभावतः मेरी ओर ध्यान आकर्षित हो गया। वे लोग मुझसे गांधीजी के कामों और कार्यशैली के सम्बन्ध में बहुत पूछताछ करते रहे। कान्फ्रेन्स में भी कुछ कहने का मुझसे आग्रह किया गया। मैंने महात्माजी के कार्य के सम्बन्ध में कुछ बातें बताईं। भारत में उन दिनों बारडोली का सत्याग्रह चल रहा था। उसकी कुछ-कुछ

खबर हमको वहां मिली थी । मैंने विशेषकर चम्पारन और बारडोली के सत्याग्रह के सम्बन्ध में ही भाषण किया । मैंने यही दिखलाया कि किस तरह उनकी अहिंसा की नीति सार्वजनिक प्रश्नों के हल करने में काम में लाई जाती है । और वह कहांतक सफल हुई है । हम लोग वहां दो-तीन दिन ठहरे । बहुत अच्छा समय बीता ।

कान्फ्रेन्स की कार्रवाई--जर्मन, फ्रेंच, अंगरेजी और एसपरेण्टो--चार भाषाओं में होती थी । एक जर्मन युवक, जिसकी चर्चा पहले कर चुका हूं, चारों भाषाओं का ऐसा अच्छा पंडित था कि चाहे किसी भी भाषा में भाषण हो, वह शीघ्रलिपि (शार्टहैण्ड) से पूरा भाषण लिख लेता था और अपने नोट को सामने रखकर पूरा-का-पूरा भाषण बाकी तीन भाषाओं में उल्था करके सुना देता था ।

कान्फ्रेन्स में युद्ध-विरोधी प्रस्ताव पास किये गये । यह निश्चय हुआ कि कान्फ्रेन्स के बाद, कुछ मुख्य स्थानों में, कान्फ्रेन्स के प्रतिनिधि लाकर युद्ध-विरोधी भाषण द्वारा प्रचार करें । वहां से कुछ दूर पर ग्राट्ज नामक शहर है । वहां डाक्टर स्टाण्डिनाथ अपनी धर्मपत्नी के साथ रहा करते थे । यह वहां के मेडिकल कालेज में शिक्षक थे । महात्माजी से इस दम्पति का पत्रव्यवहार हुआ करता था, यद्यपि ये लोग उस समय तक हिन्दुस्तान नहीं आये थे । मेरे यूरोप आने के समय महात्माजी ने मुझे इनके नाम एक पत्र दिया था और कहा था कि उधर जाना हो तो इनसे मिल लेना । जब ग्राट्ज भी जाने की बात हुई तो मैंने उनको सूचना दे दी और गांधीजी का पत्र भी भेज दिया । कान्फ्रेन्स के मन्त्री इंगलैंड के श्री रनहम ब्राउन थे । उनके साथ कई और प्रतिनिधि वियना और ग्राट्ज जाने के लिए नियुक्त किये गये । वियना में एक सभा हुई, जिसमें वहां के एक प्रसिद्ध पादरी श्री उदा सभापति हुए । वहां की सभा में कुछ ऐसे लोग आये थे, जो बीच-बीच में बहुत शोर मचाते रहे । मैं उनकी बात समझ नहीं सकता था; इसलिए यह नहीं कह सकता कि वह क्या बोलते या चाहते थे; पर इतना तो मालूम हुआ कि वे लोग विरोधी विचार के थे । उस सभा में इससे अधिक कोई घटना नहीं हुई ।

दूसरे दिन हम लोग ग्राट्ज गये । वहां संध्या को पांच बजे हम पहुंचे । सात बजे से सभा होनेवाली थी । स्टेशन पर डाक्टर स्टाण्डिनाथ अपनी स्त्री के साथ आये थे । उन्होंने मुझे अपने यहां ठहरने के लिए निमन्त्रित किया और मैं उनके साथ चला गया । दूसरे साथी कहीं दूसरी जगह ठहरे, जिसका मुझे पता न था; हम समझते

थे फिर दो घंटों के बाद तो मुलाकात होगी ही । डाक्टर स्टाण्डिनाथ के घर से थोड़ी ही दूर पर सभास्थल था । उनके घर पर हाथ-मुंह धो, कुछ खाकर, उन दोनों के साथ मैं, सभा-स्थान के लिए, समय से कुछ पहले, रवाना हुआ । वहां पहुंचकर उस बड़े कमरे के अन्दर गया, जहां सभा होनेवाली थी । इस तरह की सभा मैंने कभी देखी न थी । एक बड़ा हाल था, जिसमें प्रायः चार-पांच सौ आदमी बैठ सकते थे । छोटी-छोटी मेजें सारे कमरे में रखी थीं । प्रत्येक मेज के चारों तरफ पांच-छः आदमी बैठे थे । प्रत्येक आदमी के सामने शराब का गिलास रखा था । प्रायः सभी सिगरेट या सिगार पी रहे थे । सारा कमरा धुंए से भरा हुआ था । कमरे के अन्दर जाने के लिए एक तरफ दरवाजा था । कमरे के दूसरे छोर पर, दीवार के नजदीक, लकड़ी का एक चबूतरा (प्लाटफार्म) बना था, जिसपर पांच-सात कुर्सियां रखी थीं और एक लम्बी-सी मेज भी । उस प्लाटफार्म के एक कोने के नजदीक एक छोटा-सा दरवाजा भी था, जिसका किवाड़ बन्द था । हम लोग कमरे के अन्दर घुसे । मेरी पोशाक से ही शायद कुछ लोग समझ गये कि मैं भी उन लोगों में से हूं जो वहां भाषण करने आये हैं । कमरे में घुसते ही मुझसे एक आदमी ने पूछा कि मैं जर्मन में भाषण करूंगा या किसी दूसरी भाषा में । मैंने कह दिया कि मैं अंगरेजी जानता हूं और जो कुछ कहना होगा, अंगरेजी में कहूंगा--यदि प्रबन्धकों ने भाषान्तर का कोई प्रबन्ध किया होगा तो मेरे भाषण का भाषान्तर कोई कर देगा ।

हम ज्योंही कमरे के बीच तक पहुंचे, एक ओर शोर-गुल शुरू हुआ । मैं कुछ समझ न सका । पर उस दम्पति ने मुझसे कहा, विरोधी लोग यह शोर मचा रहे हैं । हम तीनों सीधे उस मंच की ओर चले गये । प्रोफेसर स्टाण्डिनाथ उस प्लाटफार्म के कोनेवाले दरवाजे की तरफ गये । उसे उन्होंने खोलना चाहा, पर वह बन्द था । इस बीच में कोई दस-बारह आदमी उछलकर मंच पर चले आये । वे घूंसे-मुक्के से मेरे ऊपर प्रहार करने लगे । उन दोनों (दम्पति) के बीच में पड़कर कुछ चोटें अपने ऊपर ले लीं । इतने ही में आक्रमणकारियों में से कुछ ने कुर्सियों को पटक-पटककर तोड़ डाला और उनके टूटे हिस्सों से हमपर प्रहार करना जारी रखा । बेचारे दम्पति घायल हो गये । उनके सिर से लहू बहने लगा । मैं भी घायल हो गया । मेरे सिर से भी लहू चूने लगा । हम लोग समझ ही न सके कि यह क्या हुआ और हमपर क्यों हमला किया गया । उस समय मेरे मन मे अनायास यह ख्याल आया कि अब

यहां से नीचे उतर जाना चाहिए। हम प्लाटफार्म से कूदकर नीचे उतर गये। हमें पता न था कि नीचे बैठे हुए लोगों का क्या रूख है। जबतक हमपर हमला हो रहा था, कोई न उठा और न कोई कुछ बोला। हम जब नीचे उतर गये तब भी कोई कुछ न बोला। उनके बीच होकर हम दरवाजे की तरफ चले गये। केवल एक स्त्री हमारे साथ हो गई और बाहर निकलने पर प्रोफेसर स्टाण्डिनाथ से कुछ बातें करती रही। हम लोग खून से तर हुए ही घर पहुंच गये। वहां प्रोफेसर ने पहले मेरे घाव को धोकर पट्टी बांधी। उसके बाद अपनी स्त्री के और अपने घाव धोये। वे लोग अंगरेजी कम जानते थे। मुश्किल से वे अपने विचारों को बता सकते थे।

मैंने समझा कि जिन लोगों ने हमला किया था वे उस दल के थे, जो युद्ध के पक्ष में हैं, इसलिए युद्ध-विरोधी प्रचार को वे रोकना चाहते थे। अपने साथियों की मुझे कुछ भी खबर न मिली। पीछे सुना कि वे लोग प्लाटफार्म के छोटे दरवाजे के नजदीक हमारे इन्तजार में बाहर खड़े थे। उनको पीछे मालूम हुआ कि भीतर यह घटना हो गई। सभा तो हो ही न सकी, वे लोग भी चले गये। मैं दूसरे ही दिन सवेरे वहां से वियना के लिए रवाना हो गया। मुझे कुछ दूर तक पहुंचाने के लिए स्टाण्डिनाथ सपत्नीक साथ आये। पट्टी हम तीनों को बंधी हुई थी। रेल के यात्रियों ने हमारा हाल पूछा। जब डाक्टर स्टाण्डिनाथ ने सब बातें कह दीं तो एक स्त्री ने अपने गठरी खोलकर कुछ खाने की चीजें मुझे दीं। पर वे मांस की बनी थीं, हम नहीं ले सके। धन्यवादपूर्वक डाक्टर ने उसे समझा दिया। मैंने देखा कि उस सुदूर विदेश में भी साधारण जनता किसी परदेसी के लिए वही भाव रखती है, जो हम हिन्दुस्तान में कहीं भी देख सकते हैं। इस घटना की खबर समाचार-पत्रों में छपी। वहां के पत्रों ने इसपर टिप्पणी भी की। यहां हिन्दुस्तान तक खबर पहुंच गई। महात्माजी को भी इधर-उधर से कुछ सुनने को मिला। मैंने तो उस समय किसी को न लिखा। पर डाक्टर स्टाण्डिनाथ ने महात्माजी को लिख भेजा। उन्होंने 'यंग इण्डिया' में पहले-पहल पूरा हाल छाप दिया।

: ७५ :

रोमा रोलां से मुलाकात : युवक-सम्मेलन में

मैं वहां से सीधे स्विट्जरलैण्ड गया। मेरी बहुत इच्छा थी कि श्री रोमा रोलां से जाकर मिलूं। इसलिए मैं वहां गया जहां वह बराबर रहा करते हैं। पर वहां उनकी बहन से मुलाकात हुई तो मालूम हुआ कि वह गर्मी के कारण कार्टरीगी पहाड़ पर गये हैं। मैं वहां चला गया। रास्ता बहुत ही सुन्दर था। रेल ऊंचे पहाड़ पर आहिस्ता-आहिस्ता चढ़ती गई। वहां बर्फ से ढके पहाड़ थोड़ी दूरी पर नजर आ रहे थे। मैं एक होटल में ठहराया गया। श्री रोमा रोलां ने ही सब प्रबन्ध कर दिया था। दो दिन तक वहां रहा। उनसे भेंट हुई। बातें भी हुईं। पर मुश्किल यह थी कि वह अंगरेजी नहीं बोल सकते थे और मैं फ्रेन्च नहीं समझता था! होटल में एक अंगरेजी जाननेवाला उन्होंने खोज निकाला। पर उसकी विद्या भी कुछ अन्दाज की ही थी। उनसे मिलकर मुझे जितना लाभ होना चाहिए था, न हो सका। उन्होंने ग्राट्ज की घटना का हाल पत्रों में पढ़ा था। मेरे पट्टी बंधे हुए सिर और हाथ को उन्होंने देखा। वहां से रवाना होकर, स्विटरजरलैण्ड के कुछ और शहरों को देखते हुए, मैं लंदन के लिए चल पड़ा। मैंने बर्नवेल, न्युटाटेल, लोसान और जेनीवा शहरों को देखा। न्युटाटेल में एक छोटी, पर अचम्भा पैदा करनेवाली, घटना हुई। मैं वहां बाजार में घूम रहा था। एक दुकान में हाथ का बुना हुआ कुछ कपड़ा बिकता था। मैं वहां गया। एक लड़की बेचने का काम कर रही थी। वह अंगरेजी जानती थी। जब मैंने हाथ के बुने कपड़े की बात की और उससे मेरी पोशाक देखी तो समझ लिया कि मैं हिन्दुस्तान का रहनेवाला हूं। मुझे यह जानकर बहुत आश्चर्य हुआ कि वह गांधीजी का केवल नाम ही नहीं जानती थी, बल्कि जो ग्रन्थ उनके सम्बन्ध में उसे मिले थे, उन्हें पढ़ भी गई थी। उसने मुझे म्युनिक की एक दुकान का पता दिया, जहां हाथ के बुने कपड़े मिल सकते हैं। अपनी दुकान में रखे हुए पुराने स्विस चर्खे का नमूना भी दिखलाया। वह हमारे देश के पुत्तीवाले चर्खे के समान ही था, पर वह ऊंची कुर्सी या स्टूल पर बैठकर चलाया जा सकता है। मैंने वहां पहले-पहल समझा कि गांधीजी के सम्बन्ध में श्री रोमा रोलां की पुस्तक ने कितना प्रचार कर दिया है।

स्विटजरलैण्ड के शहरों को देखता हुआ मैं पेरिस पहुंचा। वहां भी एक या दो दिन ठहर शहर देखकर लंदन पहुंचा। लंदन में अपने मकान पर मैं संध्या समय ६-७ बजे पहुंचा। घर में पहुंचने पर सन्नाटा पाया, कोई नहीं था। पूछने से मालूम हुआ कि हमारी गैरहाजिरी में एक भंयकर दुर्घटना हो गई है। श्री सत्यरंजनप्रसादसिंह, जो हम लोगों के साथियों में थे, एक दिन कहीं से लौटते समय, ठीक अपने मकान के सामने ही, बस से उतरे और सड़क पार करने में मोटर से धक्का खाकर बेहोश गिर गये। उनकी अवस्था बहुत खराब थी। सभी लोग उस नर्सिंग होम (शुश्रूषागृह) में गये थे, जहां उनकी चिकित्सा हो रही थी। मुंह-हाथ धोकर मैं भी तुरन्त वहां गया। चोट लगने के बाद से उनको होश कभी नहीं हुआ। जब मैं पहुंचा वह बेहोश ही थे। हालत चिन्ताजनक थी। उसी रात उनकी मृत्यु हो गई!

मेरी इच्छा थी कि मुकदमा खतम हो जाने पर मैं लंदन देखूंगा और अन्यत्र भी कुछ घूम-फिरकर हिन्दुस्तान लौटूंगा। पर इस दुर्घटना से भी लोगों का चित्त बहुत उदास हो गया। हम सबकी इच्छा हो गई कि जल्द-से-जल्द अब हिन्दुस्तान वापस चला जाय। अब वहां ठहरकर किसी चीज को देखने का ज़रा भी जी नहीं चाहता था। उनकी मृत्यु के बाद दो-तीन दिनों तक वहां मृत्यु-सम्बन्धी कोरोनर की जांच के लिए ठहरना पड़ा। उसने फैसला दिया कि दुर्घटना से मृत्यु हुई है, किसी का दोष नहीं है और हमको शव दे दिया। उसको हम लोगों ने वहां के क्रिमेटोरियम में जलाया। मैं उसी रात एडिनबरा चला गया। वहां से वापस आकर हम सब लोग रवाना हो गये। लंदन में कुछ नहीं देख सकता। यहांतक कि ब्रिटिश म्युजियम का भी दर्शनमात्र ही हुआ। उसके अन्दर जाकर कुछ देख न सकता।

हम लोग लंदन से इस इरादे से रवाना हुए कि मार्सेल्स में 'मुलतान' जहाज पर सवार होंगे, जो अगस्त के अन्तिम सप्ताह में किसी दिन वहां से रवाना होनेवाला था। बीच में दस-बारह दिन मिल जाते थे। मैंने सोचा कि इन दस-बारह दिनों को यूरोप के देशों के देखने में लगाऊंगा। इन्हीं दिनों हालैण्ड में युवकों का एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन होनेवाला था। मैं वहां भी गया। उसी सम्मेलन में बंगाल के डाक्टर सान्याल से भेंट हुई। वह भी कुछ-कुछ युद्ध-विरोधी सम्मेलन ही था। उसमें भी कई देशों के युवक आये थे। एक विशेषता यह भी थी कि उसमें अमेरिका के बहुत प्रतिनिधि थे। पूर्वोक्त सन्तासबर्ग के युद्ध-विरोधी सम्मेलन से यहां प्रतिनिधियों की

संख्या बहुत अधिक थी; पर जितनी गम्भीरता और हार्दिक उत्साह वहां था, यहां मैंने नहीं देखा। यह सम्मेलन भी किसी शहर में न होकर एक गांव में ही हुआ था। हम सब किसी मकान में न ठहरकर खीमे में ठहरे थे। प्रबन्ध बहुत सादा था। समय पर 'साइरेन' बजता था। सभी लोग अपने गिलास और तश्तरी लेकर एक बड़े खीमे में पहुंच जाते। वहां लकड़ियों के पटरे जोड़कर कामचलाऊ मेजें और बेंचें थीं। वहां खाना या नाश्ता मिल जाता। फिर साइरेन बजने पर सम्मेलन में सभी पहुंचते थे। तब वहां भाषण होते। मैंने देखा कि देश-देशान्तर के उन युवकों की पूरी दिलचस्पी सभी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में हैं। वहां बड़े उत्साह के साथ राष्ट्रसंघ (**League of Nations**) जैसी संस्थाओं और उनकी कार्रवाइयों तथा उपयोगिता पर बहुत बहस हो रही थी। कुछ जर्मन भी उसमें शरीक थे। मैंने अनुमान किया कि उस देश में आपस में मतभेद है--दूसरे देशों के प्रतिनिधियों में भी वहां की समस्या-सम्बन्धी विचार-शैली में भेद है। इस सम्मेलन में भी मैंने भाषण किया।

: ७६ :

जर्मनी और इटली की सैर तथा स्वदेश-वापसी

वहां से मैं बर्लिन गया। मैंने एक यात्रा-क्रम बना लिया था, जिसमें जर्मनी के तीन शहर रख लिये थे--बर्लिन, लीपजिग और म्युनिक। इटली में वेनिस और रोम तथा फ्रान्स के दक्खिन में नीस होते हुए मार्सेल्स पहुंचने का विचार था। समय इतना कम था कि इससे अधिक कहीं जा नहीं सकता था और इन शहरों में भी पूरा समय नहीं दे सकता था । मैं प्रायः रात की गाड़ी से रवाना होता। वहीं की गाड़ियों से अधिक महसूल देने पर सोने के लिए जगह मिल जाती है। इसलिए मैं ऐसी गाड़ी चुन लेता जो रात को दस-ग्यारह बजे रवाना होती और लक्ष्य-स्थान पर सवेरे पहुंचती। सोने का टिकट लेकर रात को आराम से गाड़ी में सोता। सवेरे गाड़ी में ही मुंह-हाथ धोकर उतरता। स्टेशन पर उस कमरे की तलाश कर लेता जहां मुसाफिरों के सामान हिफाजत के लिए रख लिये जाते हैं। प्रायः प्रत्येक स्टेशन पर टामस-कुक का प्रतिनिधि मिल ही जाता; केवल लीपजिग में वह नहीं मिला था।

बर्लिन स्टेशन पर उतरने पर पहले कोई परिचित आदमी नहीं मिला। पर जब मैं टैक्सीवाले से सिर्फ अपने इशारों के सहारे अंगरेजी होटल की तलाश करने के प्रयत्न में लगा था, टामस-कुक का आदमी नजर आ गया। वह मुझे एक होटल में ले गया। इत्तिफाक से बाबू हरिजी भी उसी होटल में पहुंचे। उनसे मुलाकात हो गई। दो या तीन दिनों तक मैं वहां ठहरा। घूम-घूमकर बर्लिन देखा। वहां श्री बी० चट्टोपाध्याय से मुलाकात हुई। रूस से उनका कुछ सम्बन्ध था। कहते थे कि मैं यदि वहां जाना चाहूं तो वह पासपोर्ट का प्रबन्ध कर सकेंगे। पर समय की कमी के कारण मैं यह लाभ न उठा सका। बर्लिन में मैं एक ऐसे रेस्तरां में जाकर खाया करता था, जहां शाकाहार मिल सकता था। उसी ने सारे यूरोप के बड़े-बड़े शहरों के शाकाहार वाले रेस्तरां की फिहरिस्त दे दी। उसमें सबके नाम और पते छपे थे। स्टेशन पर उतर, उसी कागज को दिखलाकर, मैं ऐसे रेस्तरां तक पहुंच जाता और वहीं भोजन करता। कुछ दिक्कतें अंडे के कारण होतीं; पर मैंने एक-दो शब्द सीख लिये थे, जिनसे यह जता देता कि मुझे अंडे से भी परहेज है।

लीपजिग में केवल दिन-भर ठहरा । वहां टामस-कुक का प्रतिनिधि नहीं मिला । इसलिए वहां अपनी बुद्धि से ही काम लेना पड़ा । इंगलैण्ड जाने के पहले कई महीनों तक मैंने लुई कूने की जल-चिकित्सा-पद्धति से कटिस्नान किया था, जिससे कुछ लाभ भी हुआ था । उनकी पुस्तक भी अंगरेजी में पढ़ी थी । इसलिए मेरी अभिलाषा हुई कि स्वयं जाकर उनसे मिलूं । इसलिए मैंने अपने यात्रा-क्रम में लीपजिग को रखा था । स्टेशन से उतरकर सीधे उनके चिकित्सालय में गया । वहां सुना कि उनकी मृत्यु हो गई है और वह भी विचित्र तरीके से । वह फल खाने के बड़े पक्षपाती थे । अवस्था काफी हो गई थी, तो भी किसी पेड़ पर फल तोड़ने चढ़े और गिर गये । चोट गहरी लगी, मर गये । उनके लड़के थे, जो अंगरेजी नहीं के बराबर जानते थे । उनके किसी प्रकार बातें हुईं । उन्होंने मेरे लिए स्नान-विधि और भोजनादि-सम्बन्धी नुस्खा लिखकर दिया । वहीं एक बार स्नान कराकर दिखला भी दिया । वह नुस्खा जर्मन भाषा में था । मैं उससे लाभ न उठा सका और वहींपर वह खो भी गया !

खाने के समय मैं वहां एक रेस्तरां में गया । वहां तो एक भी आदमी अंगरेजी जाननेवाला न था ! मैं बड़ी मुश्किल से नौकर को कुछ बतलाने की कोशिश कर रहा था । एक स्त्री मुझसे कुछ दूर टेबुल पर खाने बैठी थी । उसने मेरी दिक्कत देखी । मेरे पास वह आई । वह अंगरेजी खूब जानती थी । थी तो वह जर्मन, पर उसका पति अमेरिकन था, जो उस समय अमेरिका गया था । उसने मेरी पूरी मदद की । उस दिन टामस-कुक के प्रतिनिधि का काम उसी ने कर दिया । घूम-फिरकर तमाम शहर भी दिखला दिया । संध्या को रेल में सवार करा दिया । इस प्रकार की सहृदयता अक्सर नहीं देखने में आती ।

अपने यात्रा-क्रम के अनुसार मैं म्युनिक गया । वहांपर वह मशहूर सेलरहौस देखा, जिसमें अक्सर हिटलर के भाषण हुआ करते हैं । वहां के मशहूर म्यूजियम को भी देखा, जिसमें वैज्ञानिक वस्तुओं का संग्रह है । वहां तलाश करते-करते उस दुकान तक भी पहुंचा जहां--न्यूटाटेल में मुझसे कहा गया था--हाथ के बुने कपड़े मिलते हैं । पर ऐसा कोई कपड़ा मिला नहीं ।

म्युनिक से मैं वेनिस गया । अजीब शहर है । समुद्र घर-घर में है । घर से निकलकर नाव पर ही बाहर जाया जाता है । नाव के सिवा वहां कोई दूसरी सवारी

नहीं होती । पानी के बीच में चट्टान हैं, उन्हींपर मकान बने हैं । जो मशहूर गिरजाघर है वहां कुछ खाली जगह है । वहां मैं संध्या समय टहलता रहा । रात के दस-ग्यारह बजे होटल में जाकर ठहरना चाहा; पर वहां इतने मच्छर थे कि मसहरी लगाने पर भी वहां ठहरना मुश्किल हो गया । इसलिए, गाड़ी के समय से पहले ही, स्टेशन चला आया ।

रोम में दो दिन तक ठहरा । नई और पुरानी चीजें, टामस-कुक के प्रबन्ध में, खूब देखीं । इटली के दोनों शहरों में, फौज के बहुत-से आदमियों को, जहां-तहां आते-जाते देखा । मुझे ऐसा मालूम हुआ कि फौज का वहां बहुत जोर है । मेरी यात्रा कुछ ऐसी रही कि यात्रियों द्वारा देखे जानेवाले स्थानों के सिवा मैं और कुछ न देख सका, न किसी से मिल सका । समय भी न था और इसका प्रबन्ध भी न था । पहले से यदि प्रबन्ध होता तो कुछ लोगों से मिलता । समय रहता तो वहां की परिस्थिति जानने का भी प्रयत्न करता । पर ऐसा न हो सका, जिसका अफसोस रहा, पर लाचारी थी ।

अन्त में मार्सेल्स के लिए रवाना हुआ । रास्ते में नीस में उतरा । वहां भागलपुर-निवासी श्री दीपनारायणसिंह से भेंट हो गई । चन्द घंटों तक उनका साथ रहा । वहां पास ही के मशहूर कैसिनो को भी जाकर देखा, जहां लोग जुआ खेलते हैं । इन सब चीजों के देखने में मेरा जी नहीं लगा । तुरन्त मैं मार्सेल्स चला गया । दूसरे ही दिन जहाज पर सवार होना था । बाबू हरिजी से मुलाकात हो गई । रात-भर एक होटल में ठहरे । दूसरे दिन 'मुलतान' जहाज पर सवार हो गये । जहाज हिन्दुस्तान के लिए रवाना हो गया । इस बार हम लोग आठ-दस आदमी साथ थे, इसलिए जहाज में किसी किस्म की दिक्कत न हुई । मेरी तबीयत कुछ खराब हो गई । एक-दो दिनों तक समुद्र की हवा लगते ही फिर दमा हो गया । पर वह जल्द ही अच्छा भी हो गया । हम लोग बम्बई में, सितम्बर के दूसरे सप्ताह में, उतर गये । जहाज पर कोई विशेष घटना न हुई । ढाका-यूनिवर्सिटी के वाइस-चान्सलर सर फिलिफ हर्टोग उसी जहाज से लौट रहे थे । उनसे मुलाकात हो गई । जहाज पर अक्सर उनसे बातें हुआ करती थीं ।

: ७७ :

साइमन-कमीशन का पुनरागमन और देश-भ्रमण

बम्बई में जहाज से उतरकर मैं सीधे अहमदाबाद चला गया। वहां एक-दो दिन ठहरकर फिर पटना लौटा। मेरी गैरहाजिरी में दो बहुत महत्त्वपूर्ण घटनाएं देश में हो चुकी थीं-- १. बारदोली में जमीन पर 'कर' बढ़ाने के कारण सत्याग्रह, और २. देश के निमित्त सभी दलवालों से मिलकर विधान तैयार करने के लिए नेहरू-कमिटी का संगठन। बारदोली का सत्याग्रह खूब सफल रहा। सरकार ने अपनी ओर से हर तरह से उसे दबाने का प्रयत्न किया। लोगों ने भी उत्साहपूर्वक दमन को बर्दाश्त किया। दमन झेलने में जनता को पूरी सफलता मिली। गांधीजी का आशीर्वाद और साहाय्य तो था ही, आन्दोलन के संचालन का सारा भार वास्तव में सरदार वल्लभभाई पटेल पर ही था। उन्होंने उसे बड़ी चतुराई, धीरता, निर्भीकता और परिश्रम के साथ चलाया था। सभी दल के लोगों ने उसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आन्दोलन समझा था। सबने सहायता भी दी थी। सरदार ने गुजरात से बाहर के लोगों को आने से मना कर दिया था। इसलिए दूसरे प्रान्त के कार्यकर्ता बाहर से ही जो सहायता पहुंचा सकते थे, पहुंचाते रहे। वहां कोई गया नहीं। सारे देश के सामने सत्याग्रह का एक आदर्श नमूना आ गया। लोगों को यह मालूम हो गया कि संगठन और त्याग काफी हो तो अहिंसात्मक सत्याग्रह द्वारा जबरदस्त सरकार भी दबाई जा सकती है। जिस चीज की बाट लोग १९२१ से ही जोह रहे थे, उसे एक तालुके में सरदार ने प्रत्यक्ष दिखा दिया। अब इसके बाद लोग यही सोचने लगे कि सारे देश को बारदोली कैसे बनाया जाय। इस सत्याग्रह ने देश में नई जान डाल दी। जो सत्याग्रह आगे १९३० में हुआ, उसके लिए जमीन भी तैयार कर दी।

मद्रास-कांग्रेस में ही एक कमिटी नियुक्त हुई थी। उसको यह काम सुपुर्द किया गया था कि सभी दलों के नेताओं से मिलकर वह एक योजना तैयार करे। साइमन-कमीशन का बहिष्कार तो सबने किया था, पर वह अपना काम करता ही जा रहा था। सोचा गया कि जबतक अपनी ओर से तैयार करके कोई योजना संसार के सामने नहीं रखी जायगी तबतक यही समझा जायगा कि हम लोग केवल नुक्ताचीनी

कर सकते हैं, कोई रचनात्मक काम नहीं कर सकते । इसलिए इस कमिटी को सब दलों के लोगों से सहायता मिली । पंडित मोतीलाल नेहरू इसके संयोजक थे, इसीलिए इसका नाम नेहरू-कमिटी पड़ा । इस कमिटी ने योजना तैयार कर ली थी । सब दलों के प्रतिनिधियों ने, कुछ बातों को छोड़कर, अधिकांश बातों को स्वीकार भी कर लिया था । अब इस योजना की कांग्रेस के सालाना जल्से के समय एक सर्व-दल-सम्मेलन में बाजाब्ता मंजूर करा लेना था । कांग्रेस से भी इसे स्वीकृत करा लेना रहा गया था । दिसम्बर में कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ते में होनेवाला था । पंडित मोतीलाल नेहरू सभापति चुने गये । नेहरू-कमिटी की रिपोर्ट पर सारे देश में चर्चा हो रही थी । सब विचारशील लोग इसके बारे में अपने-अपने विचार प्रकट करते जा रहे थे । यह योजना औपरिवेशिक स्वराज्य को भारत का ध्येय मानकर ही बनाई गई थी । इसलिए, वे कांग्रेसी जो पूर्ण स्वराज्य के पक्षपाती थे, इससे सन्तुष्ट नहीं थे । इनमें मुख्य थे श्री जवाहरलाल नेहरू, श्री सुभाषचन्द्र बोस और श्री श्रीनिवास अय्यंगर ।

स्वदेश में मेरे वापस आने के कुछ दिन बाद, सर्दी शुरू होते ही, साइमन-कमीशन फिर हिन्दुस्तान वापस आ गया । जिन सूबों में वह अबतक नहीं जा सका था, उनमें जाने लगा । पंजाब में, उसके बहिष्कार और विरोध-प्रदर्शन में, लाला लाजपतरायजी शरीक हुए थे । पुलिस ने प्रदर्शकों पर लाठियां चलाई थीं । पूज्य लालाजी को पुलिस की लाठियों से बहुत चोट लगी थी । वह बीमार पड़ गये । फिर अच्छे भी न हुए । ऐसा अनुमान किया जाता है कि मृत्यु, उन लाठियों की करारी चोट के फलस्वरूप, कुछ दिनों में ही हो गई । जब कमीशन युक्त-प्रान्त में पहुंचा, वहां भी प्रदर्शकों पर पुलिस ने लाठी चलाई । पंडित जवाहरलाल नेहरू को भी चोट लगी थी । इस तरह यह कमीशन पुलिस की लाठियों के साथ देश का भ्रमण कर रहा था । अब पटने में उसके आने के दिन मुकर्रर हो गये ।

मेरी गैरहाजिरी में बिहार में भी दो महत्त्वपूर्ण घटनाएं हुई थीं । 'सर्चलाइट' अखबार पर हाइकोर्ट के चीफ जस्टिस सर कुर्टने टिरल ने अदालत की मानहानि का मुकदमा चलाया था । पटना-हाइकोर्ट के चीफ जस्टिस सर डासन मिलर उसी साल पेन्शन लेकर चले गये । वह एक अत्यन्त शान्त-प्रकृति, पर स्वतन्त्र विचार के, जज थे । यद्यपि वह मुकदमों को ठीक समझने में थोड़ा समय लेते थे; पर उनके फैसले

बहुत अच्छे हुआ करते थे । सभी लोग उनसे सन्तुष्ट थे । उनके जाने पर इंगलैंड से नये चीफ जस्टिस आये, जो लोगों से मिलने-जुलने में तो बहुत अच्छे थे; पर मिजाज के एक-बग्गा थे और अक्सर फैसलों में बहक जाया करते थे । इनके एक फैसले पर 'सर्चलाइट' ने कड़ी टीका की थी । इसी के लिए उसपर मुकदमा चला था । इस मुकदमे का महत्त्व इतना अधिक हो गया कि प्रयाग से श्री मोतीलाल नेहरू और सर तेजबहादुर सप्रू तथा कलकत्ते से श्री शरतचन्द्र बोस बहस करने आये । कुछ दिनों तक पटने में बड़ी चहल-पहल रही । मैंने सुना कि बहुत ही सुन्दर और जोशीली बहसें हुईं । अन्त में 'सर्चलाइट' को कुछ सजा हुई । इससे शिक्षित जनता में, विशेषकर वकीलों में, काफी खलबली हुई थी ।

दूसरी घटना गया-डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड से सम्बन्ध रखती थी । वहां श्री अनुग्रहनारायणसिंह चेयरमैन थे । पहले कहा जा चुका है कि प्रान्तीय कौन्सिल के चुनाव में सर गणेशदत्तसिंह का, जो १६२१ से ही मंत्री होते चले आते थे और जो मंत्री की हैसियत से सभी म्युनिसिपैलिटियों और डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों की देखभाल करते आ रहे थे, कांग्रेस ने विरोध किया था । विरोध की गम्भीरता देखकर वह चार जगहों से उम्मीदवार थे । सभी जगहों में कांग्रेस के उम्मीदवार उनका विरोध कर रहे थे । एक जगह, गया में, एक दूसरे सज्जन के कारण, जो अपने को कांग्रेस का हमदर्द बताते थे, उम्मीदवार नहीं खड़ा किया गया था । अन्त में, उसी जगह से उक्त सज्जन की उम्मीदवारी हटवाकर, सर गणेशदत्त चुने गये थे ।

इस चुनाव की एक और घटना का उल्लेख आवश्यक है । बेगूसराय के इलाके से भी सर गणेशदत्त उम्मीदवार थे । वहां भूमिहार-ब्राह्मणों की, जिस जाति के सर गणेशदत्त भी हैं, बहुत अच्छी आबादी है । वह उसी उम्मीद पर वहां से खड़े हुए थे । किन्तु कांग्रेसी उम्मीदवार भी भूमिहार-ब्राह्मण ही थे । फिर भी सर गणेशदत्त की ख्याति अपनी जाति में कई कारणों से बहुत थी । मैं चुनाव के सिलसिले में वहां गया । एक बड़ी सभा हुई । उसमें सर गणेशदत्त के मददगार भी आये । उन्होंने मुझसे प्रश्न किया, सर गणेशदत्त के विरोध में कांग्रेस क्यों उम्मीदवार खड़ा कर रही है ? उन्होंने सर गणेशदत्त की सभी बातें कहीं, जिनमें मुख्य यह थी कि वह जबसे मंत्री बने हैं तबसे उन्होंने अपने वेतन का थोड़ा ही अंश अपने खर्च के लिए लिया है, अधिकांश रूपये परोपकार के लिए दान कर दिये हैं । बात सच थी । उन्होंने कई

लाख रूपयों का ट्रस्ट कायम करके एक बहुत अच्छा आदर्श पेश किया था, जिसके लिए हम सब उनके बड़े प्रेमी और प्रशंसक थे। पर यह सब होते हुए भी वह कांग्रेस के कार्यक्रम से सहमत नहीं थे और केवल इसी कारण से उनका विरोध करना पड़ा था। मैंने सभा में यही कहा कि कांग्रेस देश-भर की संस्था है, यदि सर गणेशदत्त उसके नियंत्रण में काम करना स्वीकार कर लें तो कांग्रेसी उम्मीदवार हटा लिये जायंगे; पर इतनी बड़ी संस्था किसी व्यक्ति को मनमानी करने के लिए छोड़ना नहीं चाहती। मैंने उनके सहायकों से भी कहा कि मैं एक दिन और ठहरूंगा, इस बीच वे लोग उन्हें बुला लावें, अथवा उनका पत्र या तार मंगवा लें, जिसमें वे मेरी शर्त मंजूर करा लें, तो मैं कांग्रेसी उम्मीदवार हटा लूंगा। सभा में अधिकांश लोग उनकी जाति के ही थे, जिनपर उनको पूरा भरोसा था। मेरी बात को उन सब लोगों ने बहुत पसन्द किया। मैं वहां ठहर भी गया; पर उनके आदमी फिर नहीं लौटे। मैंने देखा कि वहां की जनता पूरी तरह कांग्रेस के पक्ष में हो गई। इसी के बाद सर गणेशदत्त ने गया में उन महाशय को हटाकर किसी तरह अपने निर्विरोध चुने जाने का प्रबन्ध कर लिया।

यह बात तो बीत चुकी थी; पर उनके हृदय में कांग्रेस के प्रति बहुत रंज था, जिसको वह जबतक सार्वजनिक काम करते रहे, कभी भूले नहीं। गया-डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड में उनको अपने उन्हीं मित्र को चेयरमैन बनाना था, जिन्होंने अपनी उम्मीदवारी हटाकर उनको मंत्री बनने का मौका दिया था। इसलिए उन्होंने कई उपायों से वहां के चेयरमैन श्री अनुग्रहनारायणसिंह को हटा दिया--यहांतक कि उनको मेम्बर होने के हक से भी वंचित कर दिया। जब मैं इंगलैंड से लौटा तो यह षड्यंत्र देखकर मुझे बहुत रंज हुआ। हमारे सभी कांग्रेसी मित्र बहुत ही क्षुब्ध थे। हम लोगों के दिल में यह भी शक था कि उन दिनों देश में साइमन-कमीशन भ्रमण कर रहा था और उसके सामने यह बात भी आनेवाली थी कि जो थोड़े-बहुत अधिकार दिये गये थे, उनका प्रयोग भी हिन्दुस्तानियों ने कहांतक ईमानदारी और सफलता से किया है। बिहार के सबसे ज्यादा आमदनीवाले डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड को इस प्रकार अयोग्य साबित करने का प्रयत्न, हम समझते थे, विशेषकर इसलिए भी किया गया है कि साइमन-कमीशन के सामने गवर्नमेण्ट इसको भी हमारी अयोग्यता के दृष्टान्त-स्वरूप पेश कर सके। इसलिए, सारे सूबे में काफी आन्दोलन हुआ। गया में सभा हुई। मैं भी वहां

गया। उसमें मेरा एक बहुत ही कड़ा भाषण हुआ, जैसा पहले कभी शायद ही हुआ हो। जो-जो अभियोग जिला-बोर्ड पर लगाये गये थे, उनकी जांच कांग्रेस की ओर से हमने कराई। सब आरोपों को हमने निर्मूल पाया। तब प्रान्तीय कान्फ्रेन्स का अधिवेशन करने का विचार हुआ। वह पटना में ही हुआ। उसके सभापति अनुग्रहबाबू बनाये गये। स्वागताध्यक्ष श्री सच्चिदानन्दसिंहजी हुए। इस कान्फ्रेन्स की तिथि साइमन-कमीशन के पटना पहुंचने के एक या दो दिन पहले रखी गई थी। सोचा गया था कि जो लोग कान्फ्रेन्स में आवेंगे वे कमीशन के विरूद्ध प्रदर्शन करने में भी शरीक हो सकेंगे। कान्फ्रेन्स सफलतापूर्वक समाप्त हो गई। उसके दूसरे दिन सवेरे ही साइमन-कमीशन स्पेशल ट्रेन से आनेवाला था।

हमने सुना कि स्पेशल ट्रेन पटना-जंक्शन के विशेष प्लाटफार्म पर, जिसपर प्रिन्स आफ वेल्स उतारे गये थे, लगाई जायगी। वह ठीक हार्डिंज-पार्क के सामने पड़ता है। वहां, हार्डिंज-पार्क के सामने, लकड़ियों के मजबूत बल्ले गाड़कर, जनता की भीड़ को आगे बढ़ने से रोकने के लिए, प्रतिबन्ध लगाया जा रहा था। हमने पंजाब और युक्तप्रान्त में लाला लाजपतराय तथा पंडित जवाहरलाल नेहरू जैसे नेताओं पर लाठी बरसाने की बात जान ली थी। इससे हमें कुछ आश्चर्य नहीं हुआ। हम समझते थे कि प्रदर्शन के समय कुछ खून-खराबा होगा। परन्तु जनता में उत्साह बहुत था, जिसका कुछ नमूना हम प्रान्तीय सम्मेलन में देख चुके थे।

उसी दिन संध्या को श्री सच्चिदानन्दसिंह ने मुझे अपने यहां बुलाया। मैंने वहां पहुंचकर देखा कि पुलिस के इन्सपेक्टर-जनरल मिस्टर स्वेन वहां उपस्थित हैं। उन्होंने मुझसे कहा कि उन्हीं के कहने से श्री सिंह ने मुझे वहां बुलाया है और वह मुझसे साइमन-कमीशन के सम्बन्ध में बातें करना चाहते हैं। उन्होंने कहा कि वह नहीं चाहते कि जैसी दुर्घटनाएं पंजाब और युक्तप्रान्त में हुई हैं, वैसी बिहार में भी हों, इसमें हम दोनों की बदनामी हैं। उन्होंने यह भी कहा कि कोई ऐसा रास्ता अगर निकल सके, जिससे पुलिस और प्रदर्शकों में मुठभेड़ न हो तो अच्छा होगा। मैंने कहा, जनता तो निरस्त्र है ही, वह बिलकुल अहिंसात्मक रहेगी, जो कुछ होगा आपकी ओर से ही होगा। उन्होंने विश्वास दिलाया, वह ऐसा नहीं होने देंगे; परन्तु भय इस बात का प्रकट किया कि बहुत भीड़ जमा हो जाने पर कहीं किसी दल को किसी आदमी ने कुछ बेतुकी बात कह दी अथवा बदतमीजी कर दी तो उसका असर सारी

जनता पर पड़ जाता है--उसे कोई रोक नहीं सकता; इसलिए भीड़ इकट्ठी होने में ही खतरा है । मैंने साफ-साफ कह दिया कि शायद दस हजार आदमी आ जायं । यह संख्या मैंने डरते-डरते कम करके कही; क्योंकि उस दिसम्बर के जाड़े में सवेरे साढ़े छः बजे गाड़ी पहुंचती थी । मुझे भय था कि शहर के लोग उस समय बड़ी संख्या में जमा न हो सकेंगे । अन्त में उन्होंने कहा कि भीड़ अगर आवेगी ही तो क्या कोई ऐसा उपाय नहीं हो सकता कि दोनों दलों के आदमी एक साथ न हों, अलग-अलग रहें । मैंने इसे खुशी से स्वीकार कर लिया और कह दिया कि सड़क के एक ओर स्वागत करनेवाले रहें और दूसरी ओर विरोधी लोग । इसको उन्होंने बहुत पसन्द किया और मैंने भी--विशेषकर इस कारण से कि इस तरह यह बात भी साफ हो जायगी कि स्वागत करनेवाले कितने कम और विरोधी कितने ज्यादा हैं । बात तय हो गई । मैंने कह दिया कि हमारा कोई आदमी काठ के बने बांध के बाहर नहीं जायगा--हम शहर की ओर सड़क से उत्तर और दूसरे पक्ष के लोग सड़क से दक्खिन, रेलवे लाइन के पास, रहेंगे ।

दूसरे दिन प्रायः तीन बजे रात को ही हम लोग उठे । सारे शहर में प्रभातफेरी लगने लगी । भीड़ स्टेशन की तरफ उमड़ चली । छः बजते-बजते प्रायः पच्चीस-तीस हजार लोगों की भीड़ हम लोगों के अहाते में आ गई । उधर तो कुछ लोग मोटर पर सवार होकर आये, कुछ लारियां शहर में लोगों को जुटाकर लाने के लिए घूमती रहीं; पर शायद ही डेढ़-दो सौ आदमी उधर के अहाते में होंगे, जिनमें अधिकांश सरकारी नौकर और उनके चपरासी वगैरह थे । ऐसा भी देखा गया कि कुछ लोग उनकी लारी पर चढ़कर आये और उस अहाते में गये, पर जब उनको यह मालूम हुआ कि वह स्वागत करनेवालों का दल है और विरोधी दल सड़क के उस पार है, तो वहां से सीधे निकलकर इधर चले आये । मैं वहां अपने आदमियों के सामने, जिनको लकड़ी के कठघरे से दो हाथ अलग ही रखा था, टहल रहा था । वहां मिस्टर स्वेन से मुलाकात हुई । उन्होंने इस इन्तजाम पर सन्तोष प्रकट किया और बधाई दी । मैंने उनसे पूछा कि मेरा दस हजार आदमियों के आने का वादा पूरा हुआ या नहीं । उन्होंने कहा, उससे कहीं अधिक आदमी हैं । जब मैंने उनकी इस राय को--कि दोनों पक्ष के लोग दो तरफ रहें--मान लेने का कारण बताया, तो वह बहुत हँसे । इस तरह बहुत ही खूबी और शान्ति के साथ प्रदर्शन हुआ । काला झंडा

दिखलाने और 'साइमन-गो-बैक' के नारे के सिवा दूसरा कुछ नहीं हुआ ।

इस प्रदर्शन में सूबे-भर के कांग्रेसी लोग बड़ी संख्या में शरीक हुए थे । जब वे अपने-अपने स्थान को गये तो इस उत्साहपूर्ण प्रदर्शन की कथा साथ लेते गये । इससे सारे सूबे में उत्साह उमड़ उठा । कुछ दिनों तक तो जहां-तहां सड़कों पर, योंही बिना समझे, छोटे-छोटे बच्चे भी 'साइमन-गो-बैक' चिल्लाया करते ! इन और इस प्रकार के कारणों से देश में नई जागृति के लक्षण दीखने लगे थे । ऐसा मालूम होने लगा कि १९२१ के दिन फिर लौटेंगे । इसी बीच कलकत्ते में कांग्रेस का अधिवेशन और सर्वदल-सम्मेलन होने के दिन आ गये । सर्वदल-सम्मेलन के सभापति डाक्टर अंसारी थे और कांग्रेस के पंडित मोतीलाल नेहरू ।

: ७८ :

कलकत्ता-कांग्रेस और सर्वदल-सम्मेलन

मैं सर्वदल-सम्मेलन में शरीक तो हुआ; पर पहले से सभी बातों को जानता नहीं था, इसलिए कुछ विशेष वहां करता न था। एक रात, मुझे स्मरण है, हिन्दू-मुस्लिम समस्या के कुछ प्रश्नों पर बातें होने लगीं। यह पूरा सम्मेलन नहीं था, कुछ मुख्य-मुख्य लोग इसमें थे। वहां मिस्टर जिन्ना ने, जहांतक मुझे याद है, दो बातों पर बहुत जोर दिया। वह चाहते थे कि केन्द्रीय असेम्बली में मुसलमानों के लिए एक-तिहाई जगहें सुरक्षित रहनी चाहिए और सूबों को उन सभी विषयों पर अधिकार मिलना चाहिए जो केन्द्रीय गवर्नमेण्ट को साफ तौर पर विधान में दे दिये गये हों। मुझे याद है कि इन बातों पर बहुत रात तक बहस चलती रही। पर लोगों ने इसे स्वीकार नहीं किया। विरोधियों में सबसे जबरदस्त श्री जयकर मालूम होते थे। उनके साथ हिन्दू-सभावाले लोग थे, पर बोलनेवाले वही एक थे। अन्त में यह बात तय न हो पाई। सम्मेलन ने यह नीति रखी थी कि जिस विषय पर सबकी राय न हो उसके सम्बन्ध में नोट कर लिया जाय कि इस विषय में किसकी क्या राय है। खुले सम्मेलन में मौलाना मुहम्मद अली ने भी कुछ संशोधन पेश किये, जिनको लोगों ने बहुमत से नामंजूर कर दिया। सम्मेलन ने उपर्युक्त तरीके से अपना काम तो समाप्त किया; पर यह जाहिर हो गया कि मुसलमानों के साथ बात नहीं पटी। इसीका नतीजा हुआ कि इस सम्मेलन के समाप्त होते ही मुसलमानों का भी एक सर्वदल-सम्मेलन हुआ, जिसमें अनेकानेक कांग्रसी मुसलमान भी जा मिले। उनमें मुख्य अली बन्धु-द्वय, मौलवी मुहम्मद शफी प्रभृति थे। यहां से साफ-साफ मुसलमानों का एक प्रभावशाली दल कांग्रेस से अलग हो गया। इस प्रकार, जिस समस्या के हल के लिए यह सम्मेलन हुआ था, वह अधिक जटिल हो गई, जिसका बुरा नतीजा आगे और देखने में आया। मिस्टर जिन्ना ने इसके बाद ही मुसलमानों की ओर से अपनी चौदह मांगें पेश कीं, जिनकी मंजूरी को उन्होंने किसी भी समझौते के लिए अनिवार्य बतलाया।

उधर कांग्रेस में नेहरू-रिपोर्ट को लेकर स्वराज्य की परिभाषा के सम्बन्ध में बहुत

मतभेद था। पहले कहा जा चुका है कि पं० जवाहरलाल, सुभाषबाबू, श्री अय्यंगर प्रभृति पूर्ण स्वराज्य को ही कांग्रेस का ध्येय स्वीकार कराना चाहते थे। दूसरे लोग केवल 'स्वराज्य' शब्द से ही सन्तुष्ट थे और सोचते थे कि यह शब्द हमें इस बात के लिए पूरा मौका देता है कि जब समय आयेगा तब हम निश्चय कर सकेंगे कि हम औपनिवेशिक स्वराज्य से सन्तुष्ट रहेंगे अथवा पूर्ण स्वतन्त्रता ही लेंगे। नेहरू-रिपोर्ट औपनिवेशिक स्वराज्य को ही ध्येय मानकर तैयार की गई थी। दूसरा कुछ हो भी नहीं सकता था; क्योंकि उसके तैयार करने में नरम दल के लोगों का--विशेषकर सर तेजबहादुर सप्रू प्रभृति का--पूरा हाथ था। यदि वह न मानी जाती तो शायद वह योजना तैयार होकर एक सर्व-दल-सम्मेलन के सामने तक पहुंच नहीं पाती। इसलिए, यदि कांग्रेस उस मौलिक भित्ति को ही अपने प्रस्ताव से बदल देती, तो नेहरू-रिपोर्ट उस हद तक भी सर्वमान्य होती, जिस हद तक उसे सर्व-दल-सम्मेलन ने स्वीकृत किया था। कांग्रेस की विषय-निर्धारिणी समिति में इस विषय पर बहुत बहस हुई। महात्माजी का विचार था कि नेहरू-रिपोर्ट मंजूर की जाय। पर गांधीजी हमेशा अपने विचार के विरोधियों के साथ राय कर लेने के लिए तैयार रहते हैं। अन्त में उन्होंने पूर्ण स्वराज्य के समर्थकों के साथ, जिनके मुखियों के नाम मैं ऊपर दे चुका हूं, यह समझौता कर लिया कि एक बरस तक कांग्रेस का ध्येय जैसा है वैसा ही रहे--यदि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट इस वर्ष के भीतर नेहरू-रिपोर्ट को मान लेती है और उसी के लिए काम करेगी, अर्थात् एक बरस के भीतर मिल जाय तो हम औपनिवेशिक स्वराज्य से ही सन्तुष्ट होंगे, नहीं तो फिर औपनिवेशिक स्वराज्य की बात ही न रहेगी, कांग्रेस पूर्ण स्वतन्त्रता पर ही अड़ी रहेगी। यह तय हो जाने पर हम सबने समझा कि अब मामला तय हो जायगा। पर दूसरे दिन सुभाषबाबू की ओर से मालूम हुआ कि वह इस समझौते को नहीं मानते। इससे महात्माजी को बहुत दुःख हुआ; क्योंकि पूर्व रात्रि में सुभाषबाबू ने उसे मान लिया था। मालूम होता है कि उनके साथियों और अनुयायियों ने इसे पसन्द ही नहीं किया, इसलिए वह फिर मुकर गये। पं० जवाहरलाल और श्री श्रीनिवास अय्यंगर, चाहे वे पसन्द न भी करते हों, समझौते पर अड़े रहे। महात्माजी ने इस बात की कड़ी आलोचना की। अन्त में महात्माजी ने उस समझौते के प्रस्ताव को पेश किया और वह स्वीकृत हो गया।

इस कांग्रेस की विषय-निर्वाचिनी में और विषयों पर भी मतभेद रहा । ऐसा मालूम होता था कि कुछ लोग गांधीजी की नीति से सन्तुष्ट नहीं हैं--जैसे कुछ कम्युनिस्ट लोग, जिनमें मुख्य थे श्री निम्बकर और श्री मोगलेकर, जो अखिल भारतीय कमिटी में बहुत बोला करते थे । इस कांग्रेस में एक विशेष घटना यह हुई कि कलकत्ते के मजदूरों का एक बहुत बड़ा दल, प्रदर्शन करने के लिए जुलूस बनाकर कांग्रेस-नगर तक पहुंचा । वह कांग्रेस-पंडाल में जाना चाहता था । कुछ लोगों का अनुमान था कि उनका इरादा पहले से ही पंडाल में जाकर बैठने का था ताकि अधिवेशन के समय वे वहां से हटें नहीं और इस तरह सब काम तितर-बितर कर दें । पर शायद ऐसी उनकी इच्छा नहीं थी; क्योंकि महात्माजी ने आकर उनसे कुछ कहा और वे लौटकर चले गये । इस कांग्रेस की स्वागत-समिति से बिहार के लोगों का कुछ मतभेद, प्रबन्ध के सम्बन्ध में, हो गया । बिहार के सभी प्रतिनिधियों ने कांग्रेस में जाने से इनकार कर दिया । सुभाषबाबू को यह खबर मिली । वह स्वयं आये । उन्होंने शिकायत को दूर कर देने का वचन दिया तब लोग कांग्रेस के अधिवेशन में शरीक हुए ।

कलकत्ता-कांग्रेस का अधिवेशन एक प्रकार से बड़े महत्त्व का हुआ । पूर्ण स्वतन्त्रता का ध्येय इसी ने एक तरह से स्वीकार कर लिया; क्योंकि इसी ने निश्चय किया कि औपनिवेशिक स्वराज्य से कांग्रेस एक बरस के बाद कदापि सन्तुष्ट न होगी । हो सकता है कि कांग्रेस में बहुत लोग ऐसे भी हों, जो समझते हों, कि यह प्रस्ताव मान तो लिया गया; पर एक बरस बाद फिर देखा जायगा । किन्तु गांधीजी कांग्रेस के प्रस्तावों को बहुत महत्त्व देते हैं--विशेषकर उस हालत में जब उनमें कोई वादा या प्रतिज्ञा की गई हो । इसलिए, उन्होंने तो मान लिया कि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट को १६२६ के ३१ दिसम्बर के पहले ही कुछ करके तय कर लेना चाहिए, नहीं तो अगले अधिवेशन में कांग्रेस को पूर्ण स्वराज्य अपना ध्येय बना लेना ही पड़ेगा ।

मैं इस विषय में दुविधा में था । ब्रिटिश विधान का मैं पक्षपाती था । मैं मानता था कि उपनिवेशों को अपने कारबार चलाने की पूरी स्वतन्त्रता है । इसलिए, यदि हमको भी वह स्वतन्त्रता मिल जाय तो हमारे लिए वही काफी समझना चाहिए । पूर्ण स्वतन्त्रता तो गौरव का विषय अवश्य है; पर अन्त में दुनिया की जातियों और देशों

के बीच किसी-न-किसी प्रकार का ऐसा समझौता जरूर करना पड़ेगा, जिससे वे एक-दूसरे के साथ बंधी रहें। यदि ऐसा न हुआ तो लड़ाइयां होती रहेंगी। ब्रिटिश साम्राज्य दुनिया के कई देशों के लोगों का उस प्रकार का एक संगठन है ही, उसमें शरीक रहने में हमारी कोई हानि नहीं है, बल्कि कई बातों की सुविधा ही है। इसके अलावा हम अभी इतने संगठित भी नहीं हैं कि हम ब्रिटिश सरकार को मजबूर करके पूर्ण स्वतन्त्रता ले सकें। इन्हीं कारणों से मैंने मद्रास-कांग्रेस में पूर्ण स्वराज्य-सम्बन्धी प्रस्ताव का विरोध किया था। मुझे कभी-कभी ठेस भी लगा करती थी, जिससे ऊबकर मैं कभी-कभी पूर्ण स्वराज्य की बात भी किया करता था। पर वह ठेस ब्रिटिश साम्राज्य के उपनिवेशों का हिन्दुस्तानियों के साथ व्यवहार से लगा करती थी--विशेषतः दक्षिण अफ्रिका मे हिन्दुस्तानियों के साथ जो व्यवहार हुआ करता था, उससे मैं इतना घबराता था कि कभी-कभी तो मैं यह भी सोचता कि ऐसे साम्राज्य के साथ सम्बन्ध रखने से ही हमको क्या लाभ जिसके किसी भी भाग में हमारे देशी भाइयों के साथ ऐसा बुरा व्यवहार हो सकता है। फिर मैं सोचता कि जबतक हमको वही अधिकार और स्थान प्राप्त नहीं है, जो उन उपनिवेशों को है, तभीतक ऐसा होता है, जब हमको भी वैसा ही मिल जायगा तब ऐसी बात न हो सकेगी। इस प्रकार से मैं अपने दिल को सन्तोष भी दिया करता था!

इसी तरह की उधेड़-बुन मेरे दिल में हुआ करती थी। मैं इसी ख्याल से, विशेषकर उपनिवेशों के विधान और अधिकारों के सम्बन्ध में जानकारी हासिल करने के लिए, प्रोफेसर कीथ के ग्रंथों को पढ़ा करता। १९२६ में जो इम्पीरियल कान्फ्रेन्स के निश्चय हुए, उन्हें भी मैंने देखा था। सब बातों पर सोच-विचार करने के बाद, बावजूद उन ठेसों के, मैं उस समय तक औपनिवेशिक स्वराज्य से ही सन्तुष्ट था और पूर्ण स्वराज्य को कांग्रेस का ध्येय मानना अपने रास्ते की कठिनाइयो बढ़ा लेना समझता था। मैं उस समय पं० जवाहरलाल के इस कथन को ठीक नहीं समझता था कि हमारी बात विदेश के लोग नहीं समझ सकते; क्योंकि औपनिवेशिक स्वराज्य तो अंगरेजों ने अपनी जाति और अपने देश के लोगों को ही दिया, जिनके साथ उनके हजारों प्रकार के सांस्कृतिक और सामाजिक तथा धार्मिक सम्बन्ध थे; परन्तु हमारे साथ तो उनका उस तरह का एक भी सम्बन्ध नहीं है; ऐसी अवस्था में न तो वे हमें दे

सकेंगे और न हम उसे लेकर सन्तुष्ट हो सकेंगे। मेरे दिल पर स्वर्गीय गोखले की वह बात इस प्रकार जम गई थी, जिसे मैं सहसा हटा नहीं सकता था। जब १६१० में उन्होंने मुझे सर्वेंट्स आफ इण्डिया सोसाइटी में शरीक होने के लिए कहा था, तभी उन्होंने यह भी कहा था कि ब्रिटिश साम्राज्य का जो चित्र हम अपने सामने रखते हैं वह तो यह है कि जितने लोग इसके अन्दर हैं सभी बराबरी का दर्जा पायेंगे और सभी मिलकर इसका प्रबन्ध करेंगे, इसलिए जब वह समय आ जायगा और अगर रहा भी तो अपनी बहुल संख्या के कारण भारतीय इसको अपना साम्राज्य बना लेंगे। मैं यही सोचता था कि सचमुच हमको भी यदि वही स्थान और अधिकार मिल जायेंगे, जो इंगलैंड और दूसरे उपनिवेशों को मिले हैं, तो वास्तव में हमें इससे अधिक की आवश्यकता न होगी। जो हो, कलकत्ते में कांग्रेस ने निश्चय कर लिया कि १६२६ के अन्दर ही औपनिवेशक स्वराज्य होना चाहिए।

: ७६ :

एक दुःखद घटना

देश में नई जागृति के चिह्न् दीखने लगे थे । कलकत्ते से लौटकर गांधीजी ने भी कांग्रेस के काम में बहुत अधिक मनोयोग देना शुरू किया । १६२८ के अन्दर और भी घटनाएं हुईं, जिनके फलस्वरूप जागृति बहुत बढ़ गई । गांधीजी का विचार हमेशा यह था कि हमारे देश की गरीबी के कारणों में एक मुख्य कारण यह है कि इस देश से कपड़े का व्यवसाय अंगरेजों ने उठा लिया है, जिसका फल यह हुआ है कि चर्खे-करघे बन्द हो गये और करोड़ों गरीबों की रोजी का जरिया उनके हाथों से छिन गया । इसलिए, वह चर्खे को फिर जिलाना चाहते थे । खादी-सम्बन्धी सारी प्रवृत्ति इसी कारण प्रेरित की जा रही थी । वह चाहते थे कि भारत में एक सूत भी विदेशी न आवे । वह इस वस्त्र-व्यवसाय को जगाना चाहते थे, जिसमें फिर गरीबों की वह रोजी लौट आवे । इसके लिए वह हर तरह के विदेशी कपड़ों का भारत में आना बन्द करना चाहते थे, केवल इंगलैंड के ही कपड़े का नहीं । दूसरे लोग विदेशी कपड़े का बहिष्कार का अर्थ अक्सर अंगरेजी कपड़े का ही बहिष्कार मान लिया करते थे । उन लोगों की इसमें विशेष दिलचस्पी नहीं थी कि भारत में यह व्यापार गांव-गांव में फिर से जारी हो जाय । वे इतने से ही सन्तुष्ट हो जाते कि सिर्फ अंगरेजी कपड़ा न आवे । वे यह मानते थे कि केवल अंगरेजों के साथ हमारा झगड़ा है, इसलिए उनके ही देश के सामान का हम बहिष्कार करें और इस तरह उनपर जोर डालें तथा अपनी मांग मानने के लिए उन्हें मजबूर करें । गांधीजी इस प्रकार के बहिष्कार को हिंसामूलक समझते थे और बराबर इसे रोकते थे । कलकत्ता-कांग्रेस के बाद स्वदेशी की लहर एक बार और चली । गांधीजी ने उसे केवल ब्रिटिश-माल-बहिष्कार का रूप न देकर विदेशी-वस्त्र-बहिष्कार का रूप दे दिया । वह केवल बहिष्कार से ही सन्तुष्ट न थे । उसके साथ-साथ वह चर्खा-प्रचार भी उतना ही आवश्यक समझते थे । चर्खा-प्रचार का काम तो चर्खा-संघ कर रहा था । विदेशी-वस्त्र-बहिष्कार के लिए एक कमिटी बनाई गई, जो इसके लिए बहुत जोरों से प्रचार करने लगी । १६२८ का साल इसी काम में लगा । जो कुछ भी जागृति हुई, उससे इसको लाभ पहुंचा और इसका असर

उस जागृति पर पड़ा ।

गांधीजी ने कई जगहों पर विदेशी वस्त्रों को जलवाया, जिससे जनता में अधिक उत्साह बढ़ने लगा । कलकत्ते में वह एक दिन के लिए आये । बरमा जा रहे थे, रास्ते में ठहर गये । वहांपर लोगों ने सार्वजनिक सभा की । उसमें विदेशी वस्त्र जलाने का भी प्रबन्ध किया । विदेशी वस्त्र जलाये गये । पर पुलिस ने इसके पहले ही किसी भी स्क्वायर में इस तरह की कार्रवाई करने की मनाही कर दी थी । सभा हो गई । कपड़े जला भी दिये गये । हम सब वहां से चले भी आये । तब पुलिस ने आकर आग बुझा दी । जो लोग वहां रह गये थे, उन्हे तितर-बितर कर दिया । दूसरे दिन महात्माजी पर मुकदमा चला, जिसकी सुनवाई प्रेसिडेन्सी मजिस्ट्रेट के सामने हुई । गांधीजी तो कुछ बोलना नहीं चाहते थे, पर वकीलों ने बहुत बहस की कि यह कार्रवाई गैरकानूनी थी और जिस कानून के आधार पर यह मुकदमा जारी हुआ था, वह लागू नहीं था । पर मिस्टर रौक्सबरा ने फैसला खिलाफ दिया । गांधीजी पर एक रूपया उदूल-हुक्मी के लिए जुर्माना किया । गांधीजी रंगून चले गये थे । वहां से उनके लौटने के बाद ही इसका निपटारा हुआ ।

इसी समय, कलकत्ते में गांधीजी के रहते-रहते एक और बात हुई, जिसके साथ मेरा निजी सम्बन्ध था । घटना दुःखद है । १९२१ में ही खादी प्रचार का काम आरम्भ किया गया था । हमारे सूबे में श्री रामविनोदसिंह ने बहुत उत्साह और योग्यता के साथ इसको शुरू किया था । उनकी सफलता और कार्य-कुशलता से प्रभावित होकर उन्हें तिलक-स्वराज्य-फंड से पच्चीस हजार ऋण दिया गया था, जिससे उन्होंने खादी के काम को बहुत आगे बढ़ाया था । पर अपने साथियों से उनका मतभेद हो गया; क्योंकि उनके विचार से यह संस्था रामविनोदबाबू ने अब अपनी निजी सम्पत्ति बना ली थी । ऋण के लिए सिफारिश करनेवाले आचार्य कृपालानी भी इसी निश्चय पर पहुंच गये थे । वह भी जोर लगा रहे थे कि चर्खा-संघ उनसे रूपये वापस ले । बिहार-शाखा का एजेण्ट होने के कारण यह भार मेरे सिर पर आ जाता था । चर्खा-संघ के प्रान्तीय मंत्री श्री लक्ष्मीनारायण ने, चर्खा-संघ के निश्चय के अनुसार, रूपयों का हिसाब मांगा । हिसाब में उनके और रामविनोदबाबू के बीच मतभेद हो गया । बात गांधीजी तक पहुंची । उन्होंने आज्ञा दी कि श्री सतीशचन्द्र दास गुप्त इस बात की जांच करके रिपोर्ट करें ।

सतीशबाबू ने कलकत्ते में ही जांच की। लक्ष्मीबाबू वगैरह वहीं सब कागज-पत्र लेकर गये थे। मैं भी था। मैं इस जांच में शरीक नहीं हुआ था; पर उनकी रिपोर्ट से मुझे दुख हुआ। रूपये तो कम या वेश जो कुछ बाकी हों, श्री रामविनोदसिंह से बिहार-चर्खा-संघ को ही पाना था। पर उन्होंने रिपोर्ट में बिहार-शाखा की अयोग्यता की शिकायत की। हिसाब भी जैसा रामविनोदबाबू कहते थे वैसा ही स्वीकार किया। मैंने उसे देखा तो मुझे बहुत बुरा लगा--इसलिए नहीं कि बिहार-शाखा के विरूद्ध फैसला था, बल्कि इसलिए कि उन्होंने अपने अधिकार की सीमा से बाहर जाकर बिहार-शाखा को अकुशल और अव्यावहारिक ठहराया था। मैंने महात्माजी से कहा कि मैं इस फैसले से बहुत असन्तुष्ट हूं। आपको स्वयं हिसाब देखना-समझना होगा; क्योंकि एक ओर सार्वजनिक संस्था है, जिसके संचालन का काम कई त्यागी और सच्चे सेवक बहुत उत्साह और परिश्रम के साथ कर रहे हैं तथा दूसरी ओर एक कार्यकर्ता है, जो व्यवहार-कुशल है और जिन्होंने खादी-प्रचार का बहुत काम भी किया है, पर जिनके विरूद्ध शिकायत है कि वह सार्वजनिक संस्था के धन द्वारा बनी-बनाई संस्था को अपनी निजी सम्पत्ति मान बैठे हैं--इसमें भी कोई हर्ज नहीं, क्योंकि उन्होंने परिश्रम और समय लगाया है, पर चर्खा-संघ के रूपये तो ठीक वापस मिल जाने चाहिए।

बरमा से गांधीजी के लौटने पर, कलकत्ते में, जब सब बातें उनके सामने पेश की गई तब उन्होंने सबकुछ स्वयं देखने का वचन दिया। बात बहुत दिनों तक चलती रही। हिसाब की जांच के लिए महात्माजी ने श्री नारायणदास गांधी को तैनात किया। अन्त में, जो हिसाब चर्खा-संघ की ओर से पेश किया गया था, उसे ही श्री नारायणदास ने ठीक समझा। गांधीजी ने रामविनोदबाबू से कहा कि इसमें यदि भूल है तो हमको समझाओ। इसके लिए दिन भी नियत किया गया। पर बात आगे बढ़ी नहीं, वहीं-की-वहीं रह गई। हां, गांधीजी ने समझ लिया कि हमने जो बात कही थी, वही ठीक है।

इस घटना को मैं दुःखद इसलिए मानता हूं कि इसके चलते रामविनोदबाबू और श्री सतीशचन्द्र दास गुप्त के सम्बन्ध में यहां कुछ लिखना पड़ा। इससे भी अधिक दुःख मुझे उस समय की सारी बातों से हुआ था। सार्वजनिक जीवन में हमें इस तरह अनेक बार ऐसे काम करने पड़ते हैं, जिनको हम व्यक्तिगत हैसियत से करना पसन्द

नहीं करते, पर जिन्हें कर्तव्य के अनुरोध से तो अप्रिय होने पर भी करना ही पड़ता है। श्री रामविनोदसिंह को मैं उस समय से जानता हूं जब वह भागलपुर-कालेज में पढ़ते थे और प्रथम जर्मन-युद्ध के समय नजरबन्द किये गये थे। उस समय की मुलाकात गांधीजी के चम्पारन आने पर, अधिक गहरी हो गई। असहयोग-आन्दोलन में, विशेषकर खादी को लेकर, उनसे मेरा सम्पर्क ही नहीं बढ़ा, बल्कि उनकी कार्य-कुशलता में मेरा विश्वास भी और बढ़ गया। ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध में कुछ भी कहना पड़े तो वह दुःखद होता ही है। सतीशबाबू के लिए मेरे हृदय में जो श्रद्धा और प्रेम है, वह मैं कहना नहीं चाहता। उनकी कार्य-क्षमता और उनका त्याग अतुलनीय है। उनकी भी कृपा मेरे ऊपर रहती है। इसलिए वह दुर्घटना स्वभावतः मेरे लिए बहुत दुःखद हुई थी।

: ८० :

राजबन्दियों का वर्गीकरण

१६२१ में एक बहुत मशहूर षडयंत्र का मुकदमा, 'लाहौर-कौन्सपिरेसी केस' के नाम से, लाहौर में चला । इसके अभियुक्त थे सरदार भगतसिंह । मुकदमा बहुत दिनों तक चला । मुजरिम लोगों ने जेल के अन्दर, असुविधाओं के विरूद्ध, अनशन कर दिया । अनशन कई दिनों तक चला । करनेवालों में से एक नवयुवक श्री यतीन्द्रनाथ दास, साठ दिनों के बाद शहीद हो गये । इस मुकदम की खबरें अखबारों में छपा करनीं अनशन की खबरें भी लोग पढ़ा करते । सारे देश में काफी सनसनी थी । जब श्री यतीन्द्रनाथ की मृत्यु हो गई, यह सनसनी और भी ज्यादा बढ़ गई । उनके शव को गवर्नमेण्ट ने उनके मित्रों को दे दिया । वह रेल पर बड़े सम्मान के साथ लाहौर से कलकत्ते लाया गया । जिन शहरों से होकर वह गाड़ी आई, उनके स्टेशनों पर बड़ी भीड़ लगी । लोगों ने शव पर पुष्प-हार चढ़ाये तथा दूसरे प्रकार से भी उसकी प्रतिष्ठा कुछ पहले से ही हो रही थी वह और भी अधिक हो गई । सारे देश में बड़ा उत्साह उमड़ आया । श्री यतीन्द्रनाथ की मृत्यु का एक फल यह भी हुआ कि गवर्नमेण्ट ने कैदियों का--उनके रहन-सहन, शिक्षा इत्यादि के हिसाब से--तीन भागों मे वर्गीकरण कर दिया । यह तुरन्त तो न हो पाया, पर जब १६३० में सत्याग्रह हुआ तो सत्याग्रही कैदी भी तीन वर्गों में बांटे गये । थोड़े लोगों को ए क्लास मिला, उनसे कुछ अधिक को बी० क्लास और बहुत बड़ी संख्या सी क्लास में ही रखी गई । गवर्नमेण्ट ने इस बात को मंजूर नहीं किया कि राजनैतिक कैदियों का एक अलग वर्ग या क्लास होना चाहिए ।

जिस तरह का वर्गीकरण गवर्नमेण्ट ने किया वह हमारे लिए हानिकारक है । यह सच है कि जो आदमी अपने घर पर बहुत आराम से रहता आया है, वह जेल में भी उसी तरह से रखा जाय, वही भोजन उसे दिया जाय, वही कपड़े उसे पहनाये जायं, जो मजदूरी करनेवाले गरीबों को मिलते हैं, तो उसकी सजा उसके लिए कहीं अधिक कष्टकर हो जाती है । और, यदि कानून की मन्शा जुर्म के लिए सबको समान दण्ड देना है तो इस तरह उसकी सजा यही अधिक हो जाती है । यही कहकर तीन

विभागों सें कैदी बांटे गये । परन्तु, जो लोग एक साथ काम कर रहे हैं और एक ही काम में लगे हुए हैं, वे जेल के भीतर जाने पर यदि एक-दूसरे से अलग कर दिये जायं--इधर कुछ को सोने के लिए चारपाई मिले, भोजन में थोड़ा दूध-घी भी रहे, चिट्ठी लिखने और मुलाकात करने की सुविधाएं भी अधिक हों, और उधर अधिकांश को मिला करे लोहे के तसले में मोटे चावल का भात, लोहे के बर्तन में बनने के कारण अधिक पानीवाली काली दाल, नाममात्र की तरकारी, पहनने के लिए छोटा जांघिया, अधबहियां कुर्ता तथा उनके साथ जेल के अधिकारियों का बर्ताव भी उन कैदियों के समान ही हो, जो चोरी इत्यादि के लिए जेल में बन्द हों, तो उन अधिकांशों के मन में असन्तोष पैदा होना स्वाभाविक है । मालूम नहीं, गवर्नमेण्ट ने किस नीयत से इस प्रकार का वर्गीकरण किया है ।

राजनैतिक कैदियों का एक ही वर्ग हो, जो सुविधा ए अथवा बी वर्ग को मिलती है, उससे उन्हें कम भी मिले; पर बर्ताव सबके साथ समान हो--इसके लिए की गई आजतक की सभी कोशिशें निष्फल हुई हैं । गवर्नमेण्ट अपनी सुविधा के लिए राजनैतिक कैदियों को एक प्रकार से अलग करती है; पर यह कहने पर कि वे अलग समझे जायं और उनके साथ भिन्न व्यवहार हो, हमेशा यह कह दिया जाता है कि गवर्नमेण्ट राजनैतिक तथा अन्य कैदियों में कोई फर्क नहीं समझती । बिहार-प्रान्त में, १६३० के आन्दोलन में बारह से चौदह हजार तक, सत्याग्रह के कारण राजनैतिक कैदी हुए । पर इनमें बीस से अधिक को ए क्लास नहीं मिला । बी क्लास वालों का संख्या तीन से चार सौ तक होगी, इससे अधिक नहीं । बाकी सबके-सब सी क्लास में रखे गये । वर्गीकरण भी जिला-मजिस्ट्रेट या किसी दूसरे अधिकारी की इच्छा के अनुसार ही हुआ करता था । सेठ जमनालाल बजाज का लड़का सी क्लास में रखा गया । एक ही घर का एक भाई ए या बी में रखा गया और दूसरा सी में । इस तरह की गड़बड़ी बहुत रही । इसके अलावा, बिहार में सी क्लासवालों की एक बड़ी--यानी चार-पांच हजार की--जमायत पटना-कैम्प-जेल में रखी गई । यह जेलखाना खुले मैदान में, जहां कोई वृक्ष नहीं, टिन की दीवारों और छप्परों का बना था । बरसात में, जमीन नीची होने के कारण, नीचे के फर्श में नमी या सील हो जाती थी । गरमी में टिन के दीवार-छप्पर तप जाते थे । मारे गरमी के लोग परेशान हो छटपटा जाते थे । सर्दी में टिन बाहर की सर्दी को रोक नहीं सकता था । कभी-कभी तो हवा की

नमी टिन में लगकर पानी हो जाती और बिना बरसात के ही वर्षा होने लगती। कैदियों के कष्टों का कुछ ठिकाना न था। इन सबका नतीजा यह हुआ कि सी क्लासवालों में बहुत असन्तोष पैदा हुआ। असन्तोष का कुछ हिस्सा उनके प्रति भी था जिनको ए या बी क्लास मिला था। मनुष्य में मामूली तौर पर डाह की कुछ मात्रा होती ही है। कुछ लोग इसके शिकार हो ही गये, यद्यपि इस वर्गीकरण में ए-बी क्लासवालों का कोई दोष नहीं था।

हां, ऐसा भी कहीं-कहीं हुआ होगा कि कोशिश-पैरवी कराकर लोगों ने ए या बी क्लास लिया हो, यद्यपि ऐसे लोगों की संख्या थोड़ी ही होगी। ऐसा भी किसी ने नहीं किया कि वह अपना ए या बी क्लास छोड़ दे और दरखास्त देकर सी क्लास करा ले। कहीं-कहीं कुछ ए या बी क्लासवालों ने अपना खाना छोड़कर कुछ दिनों तक सी क्लास का भोजन लिया; पर यह बहुत दिन तक नहीं चला। इसमें कोई शक नहीं कि इस प्रकार के वर्गीकरण से कांग्रेसी कार्यकर्ताओं में कुछ मनोमालिन्य बढ़ा; पर ऐसा न समझना चाहिए कि यह मनमुटाव बहुत बड़े पैमाने पर हुआ। सी क्लासवालों में अधिक-से-अधिक संख्या ऐसे लोगों की ही रही, जिनमें इतनी उदारता थी कि उन्होंने खुद समझा और दूसरों को भी समझाया कि वर्गीकरण में हम लोगों का हाथ नहीं है--जो जेलखाने भेजता है, वह जिसे जहां भेजता है जिसे जिस तरह रखना चाहता है, उसे वहां जाना पड़ता है और वैसे रहना पड़ता है। एक ही कसूर के लिए अगर एक आदमी को तीन महीनों की और दूसरे साथी को तीन साल की कैद मिलती है, तो जिस तरह इसके लिए तीन महीनेवाले की शिकायत नहीं की जा सकती, उसी तरह ए बी क्लासवाले की शिकायत भी बेजा है। यह सब होते हुए भी, कुछ लोगों के दिल में तो वर्गीकरण के कारण दूसरों के प्रति अश्रद्धा हो ही गई।

गांधीजी का विचार हमेशा रहा है कि हमें कैदी-कैदी में फर्क नहीं करना चाहिए; यदि सब राजनैतिक कैदी अपना अलग वर्ग बना लेंगे तो दूसरे गरीब जो जेल में आते हैं, चाहे उनका जो भी कसूर हो, उसी हालत में पड़े रह जायेंगे जिसमें वे अबतक रहे हैं; इसलिए हमको यदि आन्दोलन करना हो तो इसलिए करें कि सभी कैदियों की हालत में सुधार हो। ठीक इसी नीति के अनुसार गांधीजी तीसरे दर्जे के डब्बे में चलते हैं और चाहते हैं कि दूसरे बड़े लोग भी चलें तो रेल के तीसरे दर्जे की हालत सुधर जाय। पर कांग्रेस के अन्दर भी सभी लोग इस मत के नहीं हैं। इसलिए अभी

तक कुछ ऐसा नहीं हो पाया । जब मैं पहले जेल में गया तो मेरा विचार होता था कि इस मामले का निपटारा बाहर से अधिक सुगमतापूर्वक हो सकेगा, मैं कैदियों द्वारा आन्दोलन कराना पसन्द नहीं करता था । पर अब मेरा विश्वास हो गया है कि इस सम्बन्ध में जो कुछ करें, कैदी ही कर सकते हैं--बाहर के लोग विशेष कुछ नहीं कर सकते । हां, यदि समझदार लोगों के हाथों में अधिकार आ जाय तो वे शायद कुछ कर सकें । अबतक अनुभव भी यही बतलाता है कि कैदियों की हालत में जो कुछ थोड़ा-बहुत सुधार हुआ है कि वह कैदियों के आन्दोलन के कारण ही हुआ है । जो थोड़ी सुविधाएं लोगों को मिली हैं, वह भी श्री यतीन्द्रनाथ दास के प्राणत्याग का ही फल है ।

: ८१ :

जमशेदपुर के मजदूरों की हड़ताल

बिहार में जमशेदपुर एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है । वहां हिन्दुस्तान का ही नहीं, सारे ऐशिया का सबसे बड़ा लोहे का कारखाना है, जो संसार के बड़े कारखानों में भी शायद दूसरा या तीसरा स्थान रखता है । उसके साथ अनेक दूसरे कारखाने भी हैं, जो उसके मुकाबले में तो छोटे हैं; पर यदि वह न होता तो बड़े ही समझे जाते । जाहिर है कि ऐसे शहर में मजदूरों का प्रश्न एक अत्यन्त महत्त्व रखता है; क्योंकि यहां कोयले की खानें भी सभी सूबों से ज्यादा हैं । ईख के कारखाने भी, युक्तप्रान्त को छोड़कर, इसी सूबे में सबसे अधिक हैं । सब सूबों से अधिक चीनी यहीं बनती है ।

मैं स्वयं मजदूरों के प्रश्न में कभी दिलचस्पी नहीं लेता था । उसका कारण यह नहीं था कि मैं इसके महत्त्व को नहीं समझता था, बल्कि कारण यह था कि मेरे हाथ में दूसरा काम इतना ज्यादा था कि इसे हाथ में लेने की मेरी हिम्मत न पड़ती थी । कोई दूसरा भी इसे हाथ में लेना नहीं चाहता था । इसका नतीजा यह हुआ कि हम इस मामले में बहुत पीछे पड़ गये । जमशेदपुर, झरिया इत्यादि स्थानों में, स्थानीय लोगों ने अथवा अन्यत्र से आकर बाहर के लोगों ने, कुछ किया । पर वह हमको सन्तोषप्रद नहीं प्रतीत होता था । १६२१ से ही मैं जब-तब जमशेदपुर जाया करता था । कांग्रेस का प्रचार-कार्य करके चला आता । उसी तरह झरिया के साथ भी मेरा वैसा ही सम्बन्ध था । मजदूरों के संगठन को मैंने कभी अपने हाथ में नहीं लिया । जमशेदपुर में एक संघ बना था, जिसके सभापति दीबन्धु एण्डरूज हुए थे । गांधीजी वहां गये थे । टाटा-कम्पनी के डाइरेक्टर स्वर्गीय आर० जी० टाटा आये थे । मैं भी गांधीजी के साथ था । मजदूर-संघ को श्री टाटा ने मान लिया । वह कुछ काम करता चला आया । श्री एण्डरूज वहां रहते नहीं थे, कभी-कभी आ जाया करते थे ।

इसलिए, यद्यपि उनकी सहानुभूति से लाभ तो होता तथापि संगठन उतना मजबूत नहीं हुआ जितना होना चाहिए।

मजदूरों की शिकायतों के कारण १९२८ में वहां हड़ताल हुई। हड़ताल कुछ दिनों तक चली। श्री सुभाषचन्द्र बोस कलकत्ते से आये। मजदूर-संघ के वह सभापति हुए। अन्त में उन्होंने टाटा-कम्पनी के साथ समझौता किया। पर इस समय वहां मजदूरों के संगठन में एक दूसरे सज्जन दिलचस्पी लेने लग गये थे। उन्होंने इस समझौते को मंजूर नहीं किया। कुछ मजदूरों को लेकर उन्होंने अलग संघ कायम कर लिया। श्री सुभाषचन्द्र के विरूद्ध उनकी ओर से बुरी तरह का प्रचार होने लगा। पर बात तो तय हो गई थी और सब मजदूर अब एक मत के नहीं थे, इसलिए कम्पनी को और कुछ करना नहीं पड़ा। यह सब मेरी गैरहाजिरी में हुआ था। वहां मजदूरों में दो दल हो गये थे। उनकी संस्थाएं भी दो थीं। इन दोनों में आपस का मनोमालिन्य भी काफी था।

इसी समय वहां एक दूसरी कम्पनी के कारखाने में, जिसका नाम टिन-प्लेट-कम्पनी है, हड़ताल हुई। वहां के लोगों ने भी श्री सुभाषचन्द्र बोस की मदद मांगी। वह आये। हड़ताल चली। पर कम्पनी के मालिकों ने बहुत कड़ा रूख अख्तियार किया। वे किसी तरह से मजदूरों की सुनने को तैयार नहीं होते थे। सुभाषबाबू ने मुझे भी खबर देकर बुलवाया। इस हड़ताल में दिलचस्पी लेने के लिए मुझसे कहा। प्रोफेसर अब्दुल बारी वहां सुभाषबाबू की मदद कर रहे थे। मैंने भी, अपने सूबे में होने के कारण और मजदूरों की मांगों को न्याययुक्त समझकर, इस हड़ताल का समर्थन किया। इसके बाद उसके चलाने का प्रायः सारा भार प्रो० अब्दुल बारी और मेरे ऊपर आ गया। मैं कई बार वहां गया। हड़ताल प्रायः आठ-दस महीनों तक चलती रही। मैंने गवर्नमेण्ट से इस बात की सिफारिश की कि वह यह मामला, 'ट्रेड्स डिस्प्यूट ऐक्ट' के अनुसार, पंचायत में दे दे। पर वह इसपर राजी न हुई। तब चीफ सेक्रेटरी और गवर्नमेण्ट के मेम्बर से मैंने भेंट की। उन्होंने यही कहा कि गवर्नमेण्ट इस हड़ताल को गलत और अकारण समझती है; क्योंकि जमशेदपुर के

मजदूरों के नेता श्री होमी भी इसके विरूद्ध हैं । यह वही सज्जन थे, जिन्होंने टाटा-कम्पनी में सुभाषबाबू का विरोध करके दूसरी संस्था कायम कर ली थी । इस समय गवर्नमेण्ट को इनकी राय इसलिए ठीक जंची कि वह कुछ करना नहीं चाहती थी और कम्पनी की मदद करना पसन्द करती थी । जो हो, हजार कोशिश पर भी कम्पनी टस-से-मस न हुई । आठ-दस महीनों तक चलकर हड़ताल समाप्त हो गई । पर बहुतेरे मजदूर, जिन्होंने काम छोड़ दिया था, अपने काम पर वापस नहीं गये । अथवा, जो जाना भी चाहते थे, उन्हें कम्पनी न उनकी जगह पर वापस नहीं लिया ।

-

: ८२ :

एक घरेलू घटना और सरकारी घोषणा का अर्थ

१६२८ का मेरा अधिक समय विदेशी-वस्त्र-बहिष्कार में लगा, जिसका रचनात्मक रूप खादी की उत्पत्ति होता है। इसके अलावा जमशेदपुर के मामले ने भी कुछ समय लिया। खादी के काम की देखभाल के लिए मैं मधुबनी में, जहां अब चर्खा-संघ का मुख्य केन्द्र और प्रान्तीय दफ्तर हो गया था, कुछ दिनों ठहरा रहा। काम को आगे बढ़ाने के सम्बन्ध में कार्यकर्त्ताओं से परामर्श किया। वहीं मुझे तार मिला कि मेरे भतीजे जनार्दन के एक पुत्र पैदा हुआ है। स्वभावतः भाईसाहब को खुशी हुई और हम सब खुश थे। पुरानी रीति के अनुसार भाईसाहब ने मित्रों के अनुरोध से इस खुशी में कुछ खर्च भी कर दिया। नाच-तमाशे के दिन तो नहीं थे; क्योंकि उन्होंने व्रत ले लिया था कि शादी-ब्याह में भी नाच वगैरह नहीं करायेंगे। इसलिए, इस मौके पर भी नाच वगैरह तो नहीं हूए; परन्तु पूजा पाठ हुआ। अपने नौकरों और सरोकारियों को कपड़े वगैरह उन्होंने खूब बांटे। मैं भी उत्सव में छपरे गया। सब लोग बहुत खुशियां मना रहे थे। यहां यह सब इसलिए लिखना पड़ा कि इसका अन्त बहुत दुःखद हुआ।

बच्चा बहुत सुन्दर और होनहार निकला। हम दोनों भाई उसे बहुत प्यार करते थे; क्योंकि उन दिनों घर में वही एक लड़का था। १६२८ के दिसम्बर में बीमार पड़कर मैं दिसम्बर और जनवरी में अपने गांव जीरादेई में कुछ दिनों तक रहा। बच्चा वहीं था। उसको खिलाने और उसके साथ खेलने का सुअवसर मिला। कलकत्ते के श्री सतीशचन्द्र मुखर्जी भी प्रायः एक महीने तक मेरे साथ वहीं ठहरे थे। रोज-रोज के लाड़-प्यार से लड़के के साथ बहुत स्नेह हो गया। वह जैसे-जैसे बढ़ता गया, स्नेह भी घना होता गया। पर जब वह पांच साल से कुछ अधिक का हुआ तो भाईसाहब की मृत्यु के दो महीने बाद वह भी पटने में टाइफाइड से पीड़ित हो गया। मैं पटने में ही था। यथासाध्य डाक्टरों ने उसे बचाने की चेष्टा की, पर वह सब निष्फल हुई। वह जाता रहा। अब भी जब उसकी स्मृति आ जाती है, चित्त

विह्वल हो जाता है। मैं अपने को मुश्किल से संभाल पाता हूं। इसलिए, जब १९४१ में मेरे बड़े लड़के मृत्युन्जय के पुत्र हुआ तो मैंने सख्ती से रोक दिया कि इसके जन्म के कारण किसी प्रकार का उत्सव न मनाया जाय। मैंने आज तक अपने दिल में बैठे हुए इस कारण को कभी किसी से कहा नहीं, आज ही पहले-पहल इसे यहां लिख रहा हूं।

इस समय हिन्दुस्तान के बड़े लाट लार्ड अर्विन थे। वह छुट्टी लेकर कुछ दिनों के लिए इंगलैंड गये। वहांपर हिन्दुस्तान की परिस्थिति के सम्बन्ध में उन्होंने बातें की। इस समय वहां भी मजदूर-दल का मंत्रिमंडल बना था। श्री रामजे मैकडोनल्ड प्रधान मंत्री और श्री वेजवुडबेन भारत-मन्त्री थे। लार्ड अर्विन ने वहां से लौटकर ब्रिटिश सरकार की ओर से एक घोषणा की। उसमें उन्होंने यह कहा कि जो घोषणाएं ब्रिटिश-सरकार की ओर से हो चुकी हैं, उनमें भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य निहित है। शायद उन्होंने यह भी कहा कि इस विषय पर विचार करने के लिए एक गोलमेज कान्फ्रेन्स लंदन में की जायगी। यह घोषणा यहां की परिस्थिति देखकर की गई थी। साइमन-कमीशन का बहिष्कार भारत के सभी दलों ने किया था। उसके विरूद्ध प्रदर्शनों में लोगों पर लाठियां चली थीं। देश के कई मान्य लोग भी घायल हुए थे। सारे देश में हलचल थी। उसमें लाहौर-षडयन्त्र के अभियुक्तों की भूख-हड़ताल ने और भी जान डाल दी थी। विदेशी-वस्त्र-बहिष्कार का प्रचार जोर पकड़ता जा रहा था। कलकत्ता-कांग्रेस ने प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया था कि १९२८ के भीतर यदि औपनिवेशिक स्वराज्य न मिला तो कांग्रेस पूर्ण स्वतन्त्रता को अपना ध्येय बना लेगी।

गवर्नमेण्ट ने शायद सोचा था कि यह घोषणा इस अशान्ति को शान्त करने में सफल होगी। घोषणा के अर्थ के सम्बन्ध में पत्रों में कुछ वाद-विवाद होने लगा। नरम दलवाले कुछ सन्तुष्ट मालूम पड़ने लगे। पर यदि उसकी अच्छी तरह छानबीन की जाती तो सरकार की सभी घोषणाओं की तरह उसके भी कई अर्थ निकल सकते थे और गवर्नमेण्ट अपनी सुविधा के अनुसार जब जैसा चाहती उसका अर्थ वैसा निकाल सकती थी। कांग्रेस के लोगों ने उसे कलकत्ता-कांग्रेस की मांग की पूर्ति करनेवाली घोषणा नहीं समझा। इसका खुलासा पीछे हुआ तो मालूम हो गया कि कांग्रेस का सन्देह बिलकुल ठीक था और दूसरों ने अपनी इच्छा के अनुसार अर्थ

निकाला था, जो शब्दों से नहीं निकल सकता था ।

ठीक लाहौर-कांग्रेस के पहले गांधीजी और पंडित मोतीलाल नेहरू लार्ड अर्विन से मिले । उन्होंने वायसराय से इसका अर्थ पूछा तो मालूम हुआ कि जो उन लोगों ने समझा था वही ठीक था, दूसरों ने मनमाना अर्थ निकाला था ! अभी औपनिवेशिक स्वराज्य दूर था ! जो उसे आया हुआ समझे हुए थे, उन्होंने श्री वेजवुडबेन के उस भाषण को, जिसमें उन्होंने कहा था कि औपनिवेशिक स्वराज्य तो वास्तव में काम कर रहा है । (**Dominion Status in action**) वाक्चातुरी न समझकर शाब्दिक अर्थ लगाने में भूल की थी । यह हमारे लिए इस बात की एक चेतावनी निकली कि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की घोषणाओं को खूब बारीकी के साथ देखना चाहिए, उनसे मनमाना अर्थ नहीं निकालना चाहिए । इस चेतावनी के लिए हमें उनका अनुगृहीत होना चाहिए ।

: ८३ :

बरमा-यात्रा

जब हम लोग बाबू हरिजी का मुकदमा समाप्त करके इंगलैंड से लौट रहे थे, बाबू हरिजी ने ख्वाहिश जाहिर की थी कि मैं एक बार बरमा जाऊं और जियावाडी में जो कुछ उन्होंने किया है, उसे देखूं। मेरी भी इच्छा थी कि उनकी उस कीर्ति को भी देखूं और बरमा-प्रान्त में भ्रमण भी करूं। यह ख्वाहिश १६२८ में पूरी न हुई। १६२८ में बाबू हरिजी खुद बरमा गये। मैंने भी सोचा कि वहां जाने का यह अच्छा मौका है। इसी बीच एक और बात सामने आ गई। जिस तरह दीवान जयप्रकाशलाल (बाबू हरिजी के स्वर्गवासी पिता) ने बरमा में, ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के प्रोत्साहन से, जमीन ली थी; उसी तरह एक अंगरेज नीलवर मिस्टर मिलन ने भी बरमा में बहुत जमीन ली थी। शाहाबाद जिले में वह नील का काम किया करते थे। उन्होंने भी बिहार से, खासकर शाहाबाद से, किसानों को ले जाकर, बाबू हरिजी की तरह ही, अपनी जमीन पर बसाया था। कुछ और लोगों ने भी वहां जमीन ली थी; पर वे उसका ठीक प्रबन्ध न कर सके; अन्त में जमीन उन्होंने छोड़ दी या वह जब्त हो गई। पर इन दो बड़े जमींदारों ने वहां बहुत बड़ी जमींदारी हासिल कर ली। बहुत परिश्रम और अध्यवसाय से, काफी रूपये खर्च करके, ऐसे जंगलों को--जहां हाथी और शेर बसते थे--काट-काटकर, जमीन साफ करके इन लोगों ने बिहारियों को बसाया था। वहां धान, ईख और दूसरी फसलें भी पैदा होती थीं। मिस्टर मिलन की रैयत में कुछ अशान्ति-सी व्याप रही थी। रैयत ने यहां पत्र भेजा था कि मैं जाकर उनकी मदद करूं। शायद उन्होंने सुना था कि मैंने गांधीजी के साथ चम्पारन में काम किया था, इसलिए मेरी सेवा पर उनका कुछ विश्वास हो गया था। बस, इस दूसरे सुयोग को पाकर मैंने वहां जाने का निश्चय कर लिया। श्री मथुराप्रसादजी के साथ नवम्बर में वहां गया। मिस्टर मिलन की जमींदारी का नाम था 'चौतगा' और बाबू हरिजी की जमींदारी का 'जियावाडी'। मैं इन दोनों जगहों में गया। रंगून में भी कुछ दिन ठहरा। कुल मिलाकर शायद पन्द्रह दिन वहां रहा। और कहीं नहीं जा सका। इसलिए मांडले वगैरह कुछ न देख सका।

स्टीमर का सफर मामूली था। समुद्र शान्त था। जहाज में आराम था। हम

लोग मजे में पहुंच गये। कुछ दूर से ही रंगून के बौद्ध मन्दिरों के सुनहले कंगूरे और गुम्बद नजर आये। नजदीक पहुंचते-पहुंचते उनका बड़ा अंश दीखने लगा। रंगून के लोगों ने अच्छी खातिरदारी की। एक सार्वजनिक सभा में मुझे मानपत्र दिया गया। मैंने उसके उत्तर में कहा कि हिन्दुस्तान और बरमा का पुराना सम्बन्ध आज के सम्बन्ध से भिन्न प्रकार का था। भारत ने भी अपना साम्राज्य दूसरे देशों में स्थापित किया था। पर आजकल के साम्राज्य की तरह वह हिंसा, अस्त्र-शस्त्र और सैन्य-बल की नींव पर स्थापित नहीं था। वह धार्मिक साम्राज्य था। जो एक-दूसरे के साथ रहते तो हैं, पर एक-दूसरे पर हुकूमत नहीं करते। आज भी जब संसार में होती हुई खून-खराबी देखता हूं तो मुझे मालूम होता है कि भारतवर्ष की वह धार्मिक एक-सूत्रता, जो सेना के बल से नहीं वरन धर्म और चरित्र द्वारा ही स्थापित की गई थी, आज के साम्राज्य से कहीं अधिक स्थायी और प्राणिमात्र के लिए कहीं अधिक लाभदायक साबित हुई है। भारतवर्ष से, विशेषकर अपने जन्मस्थान बिहार से, बौद्ध धर्म एकबारगी उठ गया है, तब भी आज उसे संसार के अधिक-से-अधिक मनुष्य मानते हैं। वे लोग आज भी उस धर्म के प्रवर्तक के साथ सम्बन्ध रखनेवाले स्थानों को तीर्थस्थान मानते हैं। बुद्धदेव ने जहां जन्म लिया, जहां उन्होंने सिद्धि प्राप्त की, जहां अपना धर्मचक्र चलाया, वे सभी स्थान आज भारत में दुनिया के बौद्धों के लिए पुण्यतीर्थ बने हुए हैं। उन्हीं तीर्थों के कारण संसार के बौद्ध, हमारी आज की पतित अवस्था में भी, हमें आदर की दृष्टि से देखते हैं। किसी राजनैतिक साम्राज्य को यह सौभाग्य ने प्राप्त हुआ है और न होगा। बरमा में जाकर मेरे हृदय के अन्दर ये सब भाव स्वतः प्रकट हो गये।

वहां चीतगा के रैयतों से मैं मिला। मालिक तो वहां नहीं थे, विलायत में थे; पर उनके कर्मचारी और उनके पुत्र वहां थे। उनसे रैयतों की शिकायतों के सम्बन्ध में बातें हुईं। रंगढंग से मालूम हुआ कि बातें तय हो जायंगी। पर अन्त में विलायत में कुछ तार आ गया। हाथ में आई हुई सफलता भी निकल गई! पर मुझे विश्वास है कि वहां के लोगों की हालत बहुत-कुछ सुधर गई, यद्यपि सब बातें हमारे सामने तय न पा सकीं।

जियावाडी में भी रैयतों की कुछ शिकायतें थीं। पर बाबू हरिजी की कार्य-कुशलता और व्यवहार-पटुता के कारण वे उस समय तक उग्र रूप नहीं धारण कर पाई

थीं। हम लोगों का उनके सम्बन्ध में कुछ करना नहीं पड़ा। कुछ दिन ठहरकर वहां का हालचाल देखा। वहां के गांवों में जाने पर ऐसा नहीं मालूम होता था कि हम बिहार से बाहर आये हैं। वही भोजपुरी बोली, वही कपड़े, वही रहन-सहन, उसी तरह के मकान और वैसी ही खेती-बारी। मैंने मुकदमे के समय कागजों को पढ़ा था। उनको पढ़ने से ही बाबू हरिजी की कार्य-दक्षता और प्रबन्ध-शक्ति का मैं कायल हो गया था। अब उस एक समय के, अर्थात ३० बरस पहले के, जंगल को लहलहाते हुए गांवों के रूप में देखकर और भी श्रद्धा हो गई। आज उनमें हजारों बिहारी रहते और खेती करके सुख से जीवन बिताते हैं तथा बाबू हरिजी को भी लाखों रूपयों की सालाना आमदनी दे देते हैं। हमारे सामने उन्होंने रैयतों की एक सभा भी की, जिसमें खैरखाहों को मुरेठा बांटा और दूसरे प्रकार से भी आदर दिया। बिहार-विद्यापीठ के लिए भी कुछ रूपये वहां मिले। रंगून के व्यापारियों ने भी दिये जिन्हें लेकर मैं वापस आया।

रंगून में भी बिहारियों की खासी आबादी है। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि जीरादेई का रहनेवाला मेरा एक पुराना नौकर रंगून में आकर मुझसे मिला। वहां वह कहीं नौकरी करता था। मेरे आने की खबर सुनकर वह मुझसे मिलने आया। वहां गुजराती और मारवाड़ी व्यापारी काफी हैं। पर गांवों में ज्यादातर मद्रास के रहनेवाले चेट्टी लोग हैं, जो अधिक रूपये लगाने या कर्ज देने का काम करते हैं। आन्ध्र के भी बहुत लोग हैं, पर वे भी बिहारियों की तरह नौकरी या मजदूरी करते हैं। उसी समय आन्ध्र के श्री नागेश्वरराव पंतलू भी वहां गये थे। रंगून में हम दोनों को भोज दिया गया, जिसमें वहां के बहुतेरे मशहूर बरमी और हिन्दुस्तानी शरीक हुए। मेयर वहां के एक मुसलमान सज्जन थे। श्री अब्बास तय्यबजी के सुपुत्र तय्यबजी रैयतों के काम में बहुत दिलचस्पी लिया करते थे। ये सब लोग भोज में शरीक थे। एक अंगरेज सज्जन भी, जो पीछे वहां की कौंसिल के स्पीकर या सभापति हुए, उस भोज में थे।

मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि सभी लोग जमीन पर बैठकर भोजन करते गये। अंगरेज महाशय भी हम लोगों के साथ ही उसी तरह बैठे। बिहार में ऐसा कोई भोज मैंने नहीं देखा था। गांधीजी के आश्रम के सिवा और कहीं भी, उस समय इस तरह सब लोगों को हिन्दुस्तानी तरीके से जमीन पर बैठकर खाते नहीं देखा था। यह

हमारी कमजोरी है कि हम यदि किसी विदेशी को खिलाते हैं या दूसरे प्रकार से उसका आदर करते हैं, तो वह जैसे खाता-पिता या रहता है उसी की हम नकल करते हैं। वह स्वयं तो अपने घर में वैसे रहता ही है और वही भोजन उसी तरीके से किया ही करता है, फिर हमने अपने यहां के भोज में उसे अपनी विशेषता क्या दिखाई ? विदेशियों में जो सहृदय होंगे और इस देश के सम्बन्ध में कुछ जानने की इच्छा रखते होंगे, वे शायद दिल में चाहते भी होंगे कि हिन्दुस्तानियों के घर में वे अपने ही घर की नकल न देखकर हिन्दुस्तान का भी कुछ देख सकें। पर हम न मालूम क्यों भद्दी नकल पसन्द करते हैं और अपनी रीति-नीति को छुपाने की चीज मान लेते हैं ! जो हो, मुझे रंगून में यह देखकर बड़ा आनन्द हुआ। रंगून से मैं जहाज पर कलकत्ते के लिए रवाना हो गया।

: ८४ :

लाहौर-कांग्रेस और मौलाना मजहरूल हक की मृत्यु

जहाज पर ही मुझे दमे का दौरा बहुत जोरों से शुरू हो गया । हालत इतनी खराब हो गई कि जहाज के डाक्टर को सुई देने की जरूरत पड़ गई । कलकत्ते में जहाज से उतरकर मैं अपने मित्र श्री योगेन्द्रनारायण मजुमदार बैरिस्टर के घर जाकर ठहर गया । तीन-चार दिनों के बाद मुंगेर में बिहार प्रान्तीय राजनैतिक कान्फ्रेन्स होनेवाली थी । मैं उसका सभापति चुना गया था । मैंने सोचा कि कलकत्ते में दो-तीन दिनों तक आराम करूंगा और भलाचंगा होकर मुंगेर जाऊंगा । अबतक मैंने हकीम और वैद्य की दवा के सिवा एलोपैथिक इलाज कराया था । मेरे मित्र का विचार हुआ और मैंने भी पसन्द किया कि एक बार होमियोपैथिक को भी आजमाया जाय । एक बूढ़े डाक्टर को, जिनपर उनका बहुत विश्वास था, उन्होंने बुलाया । डाक्टर ने सब बातें देख-सुनकर मुझसे कहा कि वह इसी शर्त पर इलाज करेंगे कि मैं कुछ दिनों तक लगातार उनका इलाज कराऊं और जबतक उनका इलाज होता रहे तबतक दूसरा इलाज न करूं--हो सकता है, उनके इलाज से पहले बीमारी बढ़ जाय; यदि ऐसा हो तो मुझे डरना न चाहिए, यह शुभ लक्षण होगा । मैंने उनकी ये सब बातें मान लीं । उन्होंने एक खूराक दवा दी और कहा कि अब दो महीनों तक दूसरी दवा नहीं लेनी होगी । मैंने वह खूराक वहीं खा ली; दो महीनों के लिए दवा से छुट्टी मिल गई ।

मैं वहीं बैठकर प्रान्तीय सम्मेलन के लिए भाषण भी लिख रहा था । तीसरे या चौथे दिन, रात की गाड़ी से, मैं मुंगेर के लिए रवाना हुआ । गाड़ी में भीड़ बहुत थी । रात-भर बैठे रहना पड़ा । शायद हवा भी लगी । नतीजा यह हुआ कि मुंगेर पहुंचते-पहुंचते तबीयत बहुत खराब हो गई । मैं सम्मेलन में शरीक न हो सका । मेरा भाषण और किसी ने पढ़कर सुना दिया । दिसम्बर का आरम्भ था । थोड़े ही दिनों के बाद लाहौर में कांग्रेस होनेवाली थी । पंडित जवाहरलाल नेहरू मनोनीत सभापति

थे। देश के सामने औपनिवेशिक और पूर्ण स्वराज्य की बहस चल रही थी। मैंने मुंगेर के अपने भाषण में औपनिवेशिक स्वराज्य का ही समर्थन किया था। मैं तो वहां इतना सख्त बीमार हुआ कि मैं उस सम्मेलन के निश्चयों को भी न जान सका। पर पीछे मालूम हुआ कि मैं प्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी का सभापति चुना गया।

वादा के अनुसार मैंने कोई दवा नहीं खाई। मैंने समझा कि यह उभड़ी हुई बीमारी डाक्टर के कहने के अनुसार ही है--उसकी दवा की प्रतिक्रियामात्र है और जल्द ही अच्छा हो जाऊंगा। पर ऐसा हुआ नहीं। मुंगेर से किसी तरह भाईसाहब मुझे पटना लाये। यहां भी खांसी और ज्वर का प्रकोप रहा। यहा के डाक्टर बनर्जी बराबर देखते रहे। डाक्टर फणि मुखर्जी ने एक्सरे में फेफड़े की जांच की। उस जांच से वह और डाक्टर बनर्जी कुछ चिन्तित हुए। वे लोग मुझे देखते तो थे; पर मैं किसी की दवा नहीं खाता था। कलकत्ते के होमियोपैथिक डाक्टर के पास रोज टेलीफोन किया जाता। उत्तर मिलता कि कुछ घबराने की बात नहीं है और न दवा की जरूरत है। एक दिन पटना के डाक्टर लोग अधिक चिन्तित हो गये। उन्होंने स्पष्ट कहा कि दूसरे दिन तक यदि हालत न सुधरी तो चिन्ताजनक हो जायगी और वे मुझें दूरवर्ती डाक्टर के आशीर्वाद के भरोसे बिना इलाज के नहीं छोड़ेंगे।

कलकत्ते खबर दी गई। डाक्टर पटना बुलाये गये। उन्होंने एक दवा देने को कहा, जो पीछे मालूम हुआ कि केवल पानी था। उनके आ जाने से यहां के डाक्टरों ने जवाबदेही से अपने को बरी समझा। वह यहां दो दिन ठहरे, पर दवा कोई नहीं दी। इन्हीं दिनों बीमारी स्वयं कम होने लगी। चार-पांच दिनों में ज्वर के साथ ही खासी जाती रही। एक्सरे से फिर परीक्षा की गई। फेफड़ा बिलकुल साफ निकला!

मैं जीरादेई चला गया। जो मित्र लाहौर-कांग्रेस में जानेवाले थे, चले गये। मैं न जा सका। जैसा कह चुका हूं, श्री सतीशचन्द्र मुखर्जी के साथ प्रायः एक महीना घर पर रहा। उनसे बातें करता, अखबारों में कांग्रेस का हाल पढ़ता और एक छोटी-सी पुस्तिका लिखी। विषय था अहिंसा। मैने उसे सतीशबाबू को दिखलाया।

उन्होंने बड़ी प्रशंसा की। कहा कि वह उसे बनारस लौटने पर एक बार अच्छी तरह पढ़ेंगे और कुछ आवश्यक संशोधन भी बतावेंगे, तब छापने लायक होगा। उसे वह लेते गये। उसके बाद ही सन् १६३० का सत्याग्रह छिड़ गया। मैं उसमें इस तरह संलग्न हो गया कि फिर उस पुस्तिका की ओर ध्यान ही न गया। न मालूम उसका क्या हुआ।

लाहौर-कांग्रेस बड़ी धूमधाम से समाप्त हुई। वहां जाने के पहले ही गांधीजी और पंडित मोतीलाल नेहरू ने दिल्ली में वायसराय से मुलाकात की थी। वहां स्पष्ट हो गया था कि उनकी घोषणा कांग्रेस की मांग पूरी नहीं करती। इसलिए एक प्रकार से निश्चय-सा ही हो गया था कि वहां कांग्रेस का ध्येय बदला जायगा। वह बदल भी दिया गया। अब पूर्ण स्वतंत्रता ध्येय हो गया, जिसे अबतक हम प्राप्त नहीं कर पाये हैं और जिसके लिए हमें अभी बहुत परिश्रम और त्याग करने की जरूरत है।

उधर लाहौर-कांग्रेस हो रही थी, इधर अपने गांव में ठहरे हुए मजहरूल हकसाहब को देहावसान हो गया। पटना से जाकर हकसाहब छपरा जिले में, ओदर के नजदीक फरीदपुर में, रहा करते थे। वहां उनकी कुछ जमींदारी थी। एक बहुत बड़ा आम का बाग उन्होंने लगाया था। उसी बाग में एक छोटा-सा बंगला था, जिसमें वह रहा करते थे। पास की ही नदी 'दाहा' की बाढ़ में अपने बड़े पुत्र के अचानक डूबकर मर जाने के बाद से वह बहुत उदास हो गये थे। आध्यात्मिक विषय पर बहुत पुस्तकें पढ़ा करते थे। इस विषय पर उनके पास एक खासा पुस्तकालय हो गया था। कभी-कभी मैं वहां जाया करता था। वह मुझे भी उस विषय का अध्ययन करने को कहा करते थे। मैंने कुछ पुस्तकें पढ़ीं भी। पर बहुत दौड़-धूप करते रहने से मुझे पढ़ने का समय नहीं मिलता था। वहींपर, चन्द दिनों की बीमारी के बाद, उनकी मृत्यु हो गई। उनका यह गांव मेरे गांव से प्रायः पांच मील की दूरी पर है। खबर पाते ही मैं वहां गया और उनकी बेगम साहबा से भेंट कर समवेदना प्रकट की।

उनकी मृत्यु से हम सबको बड़ा दुःख हुआ। हममें से कुछ का विचार था और देश के कई सूबों ने भी इच्छा प्रकट की थी कि वह कांग्रेस के सभापति बनाये जायं;

पर उन्होंने स्वयं इस विचार को प्रोत्साहन नहीं दिया, बल्कि लोगों को मना कर दिया कि ऐसी बात न चलाओ वह एक प्रकार से संसार से विरक्त हो गये थे और एक फकीर का ही जीवन बिता रहे थे। उनके चले जाने से हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य और समझौते का बहुत बड़ा स्तम्भ टूट गया। इस विषय में हम निराधार हो गये। सुना कि पटना में सार्वजनिक सभा हुई, जिसमें उनके नाम पर स्मारक स्थापित करने का निश्चय किया गया। पर वह आजतक पन्द्रह बरसों के बाद भी, प्रस्ताव के ही रूप में पड़ा है ! स्मारक अभीतक नहीं बना ! मेरा विचार रहा है कि एक राष्ट्रीयभवन (कौमी हॉल) बने, जो उनका स्मारक हो। पर वह भी अभी-तक विचार की श्रेणी से थोड़ा ही आगे बढ़ा है। कुछ जमीन ली गई है। उसके साथ के दो छोटे मकान भी बन गये हैं। बड़े हॉल के लिए नक्शा भी तैयार हो गया है। पर अभी हॉल की नींव तक नहीं पड़ी है। देखें, ईश्वर इसे कब पूरा करता है।

: ८५ :

स्वतन्त्रता-दिवस और नमक-सत्याग्रह

लाहौर-कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति को कांग्रेस का ध्येय बना दिया था। साथ ही, उसने इसके लिए सत्याग्रह करने का आदेश भी दिया था। प्रायः पिछले दो बरसों से जो नई जागृति दीख रही थी, उसी का यह फल था। कांग्रेस के अधिवेशन के थोड़े ही दिनों के बाद वर्किंग कमिटी ने सारे देश को आदेश दिया कि तारीख २६ जनवरी को स्वतन्त्रता-दिवस मनाया जाय। उस दिन उस साल रविवार था। एक सुन्दर ओजस्वी वक्तव्य निकाला गया, जिसमें देश की स्थिति और स्वराज्य-प्राप्ति की प्रतिज्ञा थी। आदेश था कि सभी जगहों में बड़ी-बड़ी सभाएं करके उपस्थित लोगों से वही घोषणा दुहरवाई जाय; भिन्न-भिन्न प्रान्त के लोग अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषा में भाषान्तर करा लें और ऐसा प्रबन्ध करें कि जनता उसे समझकर दुहरावे; कोई दूसरा भाषण उस अवसर पर न किया जाय, केवल घोषणा ही दुहराई जाय; ये सभाएं तीसरे पहर हों, सवेरे जहां हो सके वहां राष्ट्रीय झण्डे का अभिवादन किया जाय; यही कार्यक्रम सारे देश में मनाया जाय।

मैं उस समय तक घर पर ही आराम कर रहा था। उसी दिन पहले-पहल घर से बाहर निकलने का निश्चय किया। आस-पास की कई जगहों से लोगों का आग्रह हुआ कि मैं वहां सभा में चलूं। यदि सभाएं एक ही समय पर न होने को होतीं तो मैं दिन-भर में कई सभाओं में शामिल हो सकता, पर ऐसा नहीं करना था। इसलिए मैं मोटर पर गया। आध घंटे आगे-पीछे दो जगहों की सभाओं में शरीक होने का विचार किया--एक तो गांव में होनेवाली थी, दूसरी 'सीवान' शहर में। गांव की सभा करके जब सीवान जा रहा था, मोटर बिगड़ गई। मालूम हुआ कि सीवान न पहुंच सकूंगा। पर कृपा करके पुलिसवालों ने अपनी गाड़ी पर स्थान दे दिया। मैं ठीक समय पर सीवान पहुंच गया। वहां भी एक बड़ी सभा में एकत्र हुई एकचित्त जनता से उस प्रतिज्ञापत्र को दुहरवा सका।

इस समय देश में जागृति बहुत देखने में आई। प्रायः सभी शहरों और बहुतेरे गांवों में स्वतन्त्रता-दिवस का कार्यक्रम पूरा किया गया। इन शुभ चिन्हों से मालूम

पड़ता था मानो देश कोई बड़ा कदम उठाने जा रहा है । सभी जगहों में सत्याग्रह की चर्चा हो रही थी । बारदोली में सत्याग्रह की विजय हाल ही में हो चुकी थी । वह लोगों के दिल को बहुत उत्साहित कर रही थी । लोग इस बात की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे कि कब, कहां और किस तरह सत्याग्रह का आरम्भ किया जायगा । गांधीजी के लेख लोगों में नई जान फूंक रहे थे ।

महात्मा गांधी उन दिनों साबरमती के सत्याग्रह-आश्रम में रहते थे । वहां वर्किंग कमिटी की बैठक हुई । उसमें उन्होंने सत्याग्रह आरम्भ करने की बात कही । इस विषय पर बहुत बातचीत होती रही कि देश अभी तैयार है या नहीं । बहुतेरे लोगों का विचार था कि अभी कुछ और तैयारी कर लेनी चाहिए । पर महात्माजी तथा जवाहरलालजी बहुत ही उत्सुक थे । इस बात पर भी बहुत बहस होती रही कि कौन-सा कानून तोड़ा जाय । महात्माजी का दृढ़ विचार था कि आरम्भ तो नमक-कानून से ही किया जाय । उनका कहना था कि इस कानून के कारण नमक पर 'कर' लगता है--गरीबों को जो नमक मुफ्त मिल सकता है, अथवा बहुत कम दाम में मिल सकता है, वह महंगा मिलता है--बहुत-से गरीब इस कारण से उतना नमक नहीं खा सकते, जितना उनके स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है--नमक हमारे खाद्य-पदार्थों में एक अत्यंत आवश्यक वस्तु है, यह समुद्र के किनारे जमा करने से ही मुफ्त में मिल सकता है, दूसरी जगहों में भी मिट्टी से बनाया जा सकता है, जहां नमक का पहाड़ है, वहां भी लोग खोदकर बिना दाम के निकाल सकते हैं, पर गवर्नमेण्ट केवल 'कर' प्राप्त करने के लिए इसके जमा करने पर प्रतिबन्ध लगाती है, ईश्वर ने जल और वायु की ही तरह नमक भी मुफ्त बांटने का प्रबंध किया है, मगर सरकार लेने नहीं देती । इसलिए गांधीजी का विचार था कि इससे खराब दूसरा 'कर' नहीं हो सकता, इसके विरूद्ध सत्याग्रह करने की बात गरीब भी आसानी से समझ लेंगे, संसार के लोग भी मान लेंगे कि यह न्याय है ।

महात्माजी का हमेशा यही तरीका रहा है कि एक छोटी चीज को लेकर उससे बड़ा नतीजा निकालना चाहते हैं । उनका ख्याल था, यदि एक अन्यायपूर्ण 'कर' का हम इस तरह प्रतिरोध कर सकेंगे तो दूसरे सभी करों का नियन्त्रण हम कर सकेंगे । इसी तरह जब उन्होंने पंजाब के हत्याकांड और खिलाफत के लिए न्याय पर जोर दिया था तब वह यही समझते थे कि हममें यदि इसके लिए इन्साफ पा लेने की

शक्ति आ जायगी, तो वही शक्ति हमें और-और गैरइन्साफों को भी हटाने की शक्ति दे देगी। इसी तरह, नमक-कानून तोड़कर, हम सब प्रकार से अपनी इच्छा के अनुसार सरकार से काम करा लेने की शक्ति प्राप्त कर लेंगे।

ये बातें हम लोग ठीक समझ नहीं पाते थे। हमारे सामने कई दिक्कतें थीं। हममें से बहुतेरे यह नहीं समझ पाते थे कि सरकार पर जोर डाले बिना हम उसे मजबूर कैसे कर सकेंगे। साथ ही, इससे भी अधिक अड़चन इस बात की मालूम होती थी कि नमक का कानून हम तोड़ेंगे तो कैसे ? जो समुद्र के किनारे रहते हैं, वे तो वहां किनारे पर सरकारी आज्ञा के विरूद्ध नमक जमा करके अथवा नमकीन पानी गर्म करके कानून भंग कर सकते हैं। परन्तु भारत की अधिकांश जनता जो समुद्र के किनारे नहीं रहती, कैसे कानून तोड़ेगी ? हां, बहुत जगहों में, खासकर बिहार और युक्तप्रान्त में मिट्टी से नमक बनाया जाया करता था। एक जाति 'नोनिया' होती है, जो यही काम किया करती थी। अब, जबसे विदेशी या देशी नमक सभी जगहों पर समुद्र के किनारे से अथवा खेवड़ा से, पहुंचने लगा है, तबसे उनका रोजगार ही बन्द हो गया है। वहांपर यदि सरकारी आज्ञा के विरूद्ध नमक बनाया जाय तो कानून भंग हो सकता था। पर क्या इस तरह नमक बनाने में साधारण लोगों का उत्साह होगा ? क्या पढ़े-लिखे लोग इसमें दिलचस्पी लेंगे ? केवल 'नोनिया' ही इस काम को सफलतापूर्वक कर सकते हैं। पर वे गरीब और अशिक्षित हैं। उनसे इसकी आशा करना ठीक नहीं जंचता। उनको प्रोत्साहन देकर कानून तुड़वाना भी न्याययुक्त नहीं मालूम होता। ये सब बातें गांधीजी से कही गईं। पर उनका निश्चय अटल रहा कि नमक कानून ही तोड़ना चाहिए। इसमें जनता उत्साह से भाग लेगी, यही चीज सारे देश में चल सकेगी।

मुझे भी इस कार्यक्रम की सफलता में काफी सन्देह था। मैंने उनसे कहा कि बिहार में 'चौकीदारी-टिकस' एक ऐसा 'कर' है, जो सभी लोगों को देना पड़ता है। उससे गरीब बहुत असन्तुष्ट हैं। उनकी वसूली में भी गरीबों पर काफी सख्ती की जाती है। बाकी 'कर' के लिए उनके बर्तन-बासन भी जब्त होकर नीलाम कर दिये जाते हैं। मैंने कहा कि बिहार में इस टैक्स के बन्द करने में ज्यादा आसानी होगी। जनता बहुत जल्द और खुशी से इसका देना बन्द कर देगी। बिहार के लिए चौकीदारी टैक्स बन्द करने की ही आज्ञा दी जाय। महात्माजी ने कहा, यदि तुम इससे

काम शुरू करोगे तो बहुत जल्द हार जाओगे, पहले नमक-कानून तोड़कर ही कार्यारम्भ करो, पीछे यदि लोगों में काफी उत्साह आ जायगा तो टिकसबन्दी का विचार करना । मैंने बात सुन तो ली, पर मन में बैठी नहीं । मैं सोचता था कि इस सीधे रास्ते को छोड़कर नमक-कानून के फेर में पड़ना क्यों जरूरी है । पर गांधीजी के इन विषयों के अनुभव का मैं कायल था । मेरा विश्वास हो गया था कि यह बहुत दूर तक देख लेते हैं, जहांतक हम नहीं देख सकते । इसलिए, कुछ दिनों से, मैंने अपना यह तरीका बना लिया था कि अपने विचार उनके सामने रख दूं, यदि वह मान लें तो ठीक, नहीं तो उनकी राय के मुताबिक काम करना ही ठीक है । अन्त में, मेरा अनुभव बताता था, उन्हीं की राय ठीक निकलती थी । मैंने इस अवसर पर भी निश्चय कर लिया कि बिहार में भी नमक-कानून ही तोड़ा जायगा, यद्यपि मैं अभीतक इस बात को पूरी तरह समझ नहीं पाया ।

: ८६ :

गांधीजी की डाण्डी-यात्रा : बिहार में नेहरूजी का दौरा

वर्किंग कमिटी की बैठक के बाद गांधीजी ने अपने लिए एक तिथि मुकर्रर कर दी। उसी दिन वह आश्रम से निकल पड़ेंगे। प्रायः एक महीना तक पैदल चलकर, सूरत-जिले के 'डाण्डी' नामक गांव में, समुद्र के किनारे पहुंचेगे। वहीं वह पहले-पहल नमक-कानून खुद तोड़ेंगे। इस निश्चय को मंजूर कराने के लिए अखिल भारतीय कमिटी की बैठक साबरमती में की गई। यह बैठक तो हुई; पर उस समय तक महात्माजी डाण्डी-यात्रा के लिए निकल चुके थे। इसलिए वर्किंग कमिटी के निश्चय को ही अखिल भारतीय कमिटी ने मंजूर कर लिया।

डाण्डी-यात्रा के पहले, जो एक प्रकार से सत्याग्रह का आरम्भ था, गांधीजी ने अपने नियम के अनुसार एक पत्र बड़े लाट को लिख भेजा। उसमें उन्होंने सभी बातें बता दीं। सत्याग्रह के आरम्भ की बात भी लिख दी। यह पत्र उन्होंने एक अंगरेज सज्जन के हाथ भेजा। उनका नाम मिस्टर रेनल्ड्स था। उस समय वह साबरमती में रहते थे। किन्तु, जैसा सोचा गया था, कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं आया। यात्रा आरम्भ करते समय उन्होंने कांग्रेस-कमिटियों और कांग्रेसी लोगों को मना कर दिया कि जबतक मैं आदेश न दूं तबतक कोई सत्याग्रह न करे--यदि सरकारी आज्ञाएं बुरी भी लगें, तो भी उन्हें मानना ही चाहिए।

इरादा था कि तारीख ६ अप्रैल तक वह डाण्डी पहुंच जायेंगे और उसी दिन स्वयं सबसे पहले सत्याग्रह करेंगे। सत्याग्रह-आश्रम के अस्सी या इक्यासी आदमियों को उन्होंने यात्रा में अपने साथ लिया। क्रम यह था कि सवेरे कुछ दूर तक जाना होता था। फिर तीसरे पहर को कुछ दूर जाया जाता। संध्या को कहीं डेरा पड़ जाता। वहीं रात का विश्राम होता। फिर दूसरे दिन सवेरे वही क्रम शुरू होता। यह यात्रा प्रायः एक महीने की हुई। बीच में बहुतेरे गांव और कुछ शहर भी मिले। प्रायः एक-सौ पचास मील की यात्रा थी। प्रायः बारह-तेरह मील रोज चलना पड़ा था। जिस दिन गांधीजी साबरमती से निकले उस दिन आश्रम पर रात-भर बहुत भीड़ लगी रही। सवेरे हजारों आदमियों के जय-जयकार के बीच होकर गांधीजी और उनके साथी निकले। उन लोगों के पास अपनी-अपनी झोली में उनके आवश्यक सामान

थे। बड़ा ही उत्साह था। देखने में मालूम होता था मानो सारा अहमदाबाद और वहां का इलाका उमड़ आया है।

गांधीजी ने यह भी घोषणा कर दी कि स्वराज्य के बिना वह अब फिर साबरमती-आश्रम में नहीं लौटेंगे। यात्रा का पूरा विवरण समाचारपत्रों में छपता रहा। इसका असर सारे देश पर जादू के ऐसा पड़ता रहा। सभी जगह लोग बहुत आतुर होकर ६ अप्रैल की बाट जोह रहे थे। लोग चाहते थे कि हमको भी सत्याग्रह का सुअवसर मिले। कांग्रेस के लोग बैठे नहीं थे। वे भी बड़े जोरों से चारों ओर प्रचार के काम में लगे थे। गांधीजी जैसे-जैसे बढ़ते गये, देश का उत्साह भी बढ़ता ही गया। सरदार वल्लभभाई, यात्रा का आरम्भ होने के पहले ही, गिरफ्तार कर लिये गये थे। इसलिए वह यात्रा में अथवा उसके बाद आरम्भ होनेवाले सत्याग्रह में शरीक नहीं हुए।

इसी बीच में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक अहमदाबाद में हुई। वहां से पंडित मोतीलाल, पं० जवाहरलाल प्रभृति के साथ हम लोग जम्बूसर तक गये। वहीं गांधीजी से मुलाकात हुई। हम लोग भी उनके साथ कुछ दूर तक गये। फिर अपने-अपने स्थान को लौट आये। मैंने बिहार में आकर सब जगह के लोगों को आदेश दे दिया कि जबतक गांधीजी का हुक्म न निकले, कोई सत्याग्रह न करे। पंडित जवाहरलालजी से, चार-पांच दिन के लिए बिहार में दौरा करने का, आग्रह किया। वह प्रसन्नतापूर्वक राजी हो गये। हमारी इच्छा थी कि जो थोड़ा समय मिलता है, उसमें अधिक-से-अधिक स्थानों में सभाएं हो जायं और अधिक-से-अधिक लोगों को उनके ओजस्वी भाषण सुनने का सुअवसर मिल जाय। इसलिए पहले से कार्यक्रम बना दिया गया। जहां-जहां सभा होनेवाली थी, ठीक समय पर लोगों को इकट्ठे होकर इन्तजार करने को कहा गया। मुझे याद नहीं है कि वह कहां-कहां और किन जिलों में गये, पर कार्यक्रम मैंने ऐसा बनाया कि सभाओं में उनका कम-से-कम समय लगे। तीन मोटरें साथ थीं। पहली मोटर में कुछ ऐसे लोग थे, जो आगे जाकर सभा में राष्ट्रीय गान वगैरह गाकर शान्ति करा देते। जब सब लोग अपने-अपने स्थान पर बैठ जाते, मैं दूसरी मोटर से पहुंच जाता। जबतक पंडित जवाहरलालजी तीसरी मोटर से नहीं पहुंच जाते तबतक मुझे जो कुछ कहना होता, सो कह देता। मेरे पहुंचने पर

पहली गाड़ी आगे बढ़ जाती । पंडितजी के पहुंचने पर मैं दूसरी गाड़ी पर अगली सभा के लिए रवाना हो जाता । इस प्रकार किसी को किसी दूसरे के भाषण के लिए इन्तजार न करना पड़ता । वह समय भी नष्ट न होता, जो सभा में पहुंचकर लोगों को शान्त करने और उनके उत्साह को संभालने में लगता है; क्योंकि यह काम तो पहले ही हो चुकता । पंडितजी की यह यात्रा बहुत सफल रही । इससे सारे सूबे में, जहां पंडितजी नहीं भी जा सके, पूरा उत्साह उमड़ आया ।

: ८७ :

बिहार में नमक-सत्याग्रह

नेहरूजी की यात्रा का अन्तिम दिन था। वह प्रयाग चले जानेवाले थे। मुझे जहांतक याद है, यह अन्तिम सभा छपरा-जिले के महाराजगंज कस्बे में संध्या के समय हुई थी। वहीं पर तार द्वारा या समाचारपत्रों से पता मिला कि ६ अप्रैल से सब लोग अपने-अपने स्थान पर सत्याग्रह का आरम्भ कर सकते हैं, गांधीजी का यही आदेश है। इस सूचना ने एक प्रकार से हमारे कार्यक्रम को गड़बड़ा दिया। हमने अभी निश्चय नहीं किया था कि कौन कहां से सत्याग्रह आरम्भ करेगा। सभी जगहों में रातोंरात खबर दे दी गई। चम्पारन के लोगों ने पहले से सोच रखा था कि विपिनबाबू मोतीहारी से पैदल चलकर, सात-आठ दिनों की यात्रा के बाद, जोगापट्टी के पास पहुंच सत्याग्रह आरम्भ करेंगे। उन्होंने ६ अप्रैल को ही यात्रा आरम्भ कर दी। मुजफ्फरपुर-जिले में भी ऐसा ही हुआ। दो-चार दिनों के अन्दर ही सभी जगहों में नमक-कानून टूटने लगा। जिस दिन विपिनबाबू ने नमक बनाया, मैं वहां पहुंच गया। पर मेरे पहुंचने के पहले ही वह गिरफ्तार कर लिये गये थे। वहीं एक बगीचे में मजिस्ट्रेट ने कचहरी लगा दी और चटपट मुकदमा देखकर उनको सजा भी दे दी। मैं रास्ते में मोटर से उन स्थानों को देखता गया जहां-जहां सत्याग्रही यात्री लोग ठहरे थे। जिले का प्रायः एक आधा हिस्सा, लम्बाई में, इस यात्रा में पड़ गया था। आरम्भ से अन्त तक, सारे रास्ते में, सड़कों पर अनगिनत मेहराब-तोरण-पताका इत्यादि लोगों ने लगाये थे। अभूतपूर्व उत्साह का प्रदर्शन था! जहां कानून तोड़ा गया था वहां के लोगों के उत्साह का तो ठिकाना न था।

मजिस्ट्रेट एक ऐसे सज्जन थे, जिन्होंने १९२१ में पटना-कालेज से असहयोग करके कुछ दिनों तक हमारे राष्ट्रीय महाविद्यालय में निवास किया था। अपने घरवालों के जोर देने पर वह फिर वापस चले गये थे। पढ़ने में वह तेज थे। पुनः कालेज की परीक्षा पास कर शीघ्र ही डिप्टी मजिस्ट्रेट हो गये। ८-१० बरसों की नौकरी के बाद इस दर्जे पर पहुंचे थे। मैंने देखा कि मुकदमे की सुनवाई के समय जबतक इजलास लगा रहा, उन्होंने एक बार भी सिर न उठाया। सिर नीचा किये ही जो कुछ

लिखना था, लिखा और उसी तरह हुकुम भी सुना दिया । वहां से विपिनबाबू को मोटर पर मोतीहारी-जेल ले आये ।

मैं भी अपनी गाड़ी पर मोतीहारी तक आकर पटने के लिए या किसी अन्य स्थान के लिए रवाना हो गया । उधर गांधीजी ने नमक जमा किया, पर सरकार ने उनको पकड़ा नहीं । सारे देश में अनगिनत स्थानों पर लोग नमक बनाने लगे । गिरफ्तारियां होने लगीं । अपने लिए मैंने यह कार्यक्रम बना लिया कि सभी जिलों में दौरा करके सत्याग्रहियों को उत्साहित करूं । एक-दो दिनों के भीतर सारे जिले में दौड़ जाता । जहां-जहां नमक बना होता अथवा बनने की तैयारियां होतीं, सत्याग्रहियों से जाकर मिल लेता जहांतक हो सकता, सार्वजनिक सभाएं भी कर लेता ।

मैं दो-चार दिनों के अन्दर ही, आधी रात को पहुंचनेवाले स्टीमर से, पटना पहुंचा । वहां गंगा-घाट पर ही लोगों ने कहा कि पटना-शहर में उस दिन सत्याग्रह आरम्भ किया गया है । उसका रूप यह था कि कुछ सत्याग्रही बाकरगंज मुहल्ले से निकलकर झंडा लिये शहर में जा रहे थे, जहां वे नमक बनानेवाले थे । जब वे सुलतानगंज थाने के सामने पहुंचे तो पुलिस ने उन्हें रोक लिया । अभीतक उनका कसूर इतना ही था कि वे झंडा लेकर पांच-सात आदमियों का जलूस बनाकर, सड़क से जा रहे थे । वे गिरफ्तार भी नहीं किये गये थे; पर पुलिस के सिपाहियों ने कतार बांधकर उनका रास्ता रोक लिया था । वे दिन-भर वहीं खड़े रहे । रात को भी वहीं सड़क पर ही सो गये थे ।

मैं सीधे उस स्थान पर गया । देखा कि सिपाही सड़क रोके खड़े और सत्याग्रही खुशी से बीच सड़क पर सोये हैं । उनके सोने के लिए मुहल्ले के लोगों ने बिस्तरे भी दे दिये थे, समय पर उनको भोजन भी करा दिया था । मेरे जाने पर वे उठे । मुझसे बहुत प्रेमपूर्वक मिले । रात को तो कुछ होनेवाला न था, मैं सदाकत-आश्रम चला गया । दूसरे दिन खूब सवेरे ही फिर उस स्थान पर पहुंचा । मैं तो सारे सूबे का चक्कर लगाया करता था और आश्रम में बैठे-बैठे श्री ब्रजकिशोरबाबू सभी जगहों में आवश्यकतानुसार आदेश तथा सहायता भेजा करते थे । इस बार अभीतक कांग्रेस कमिटी गैरकानूनी नहीं करार दी गई थी और न सदाकत-आश्रम ही जब्त हुआ था । इसलिए यह काम वहां से चलता रहा । गिरफ्तारियां भी उन्हीं लोगों की होतीं जो नमक बनाते, और सबकी नहीं ।

दूसरे दिन सवेरे वहां पुलिस की भीड़ बहुत थी। घुड़सवार भी आ गये थे। सुना कि डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट और पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट भी थाने में मौजूद हैं। इधर जनता की भीड़ भी बढ़ने लगी। मैंने समझा कि सत्याग्रही या तो गिरफ्तारी कर लिये जायंगे या मार-पीटकर छोड़ दिये जायंगे। मुझसे एक आदमी ने आकर कहा कि मजिस्ट्रेट मुझे थाने पर बुलाते हैं। मैं वहां गया। उन्होंने मुझसे कहा कि सत्याग्रहियों को मैं हटा लूं, नहीं तो उनको कार्रवाई करनी पड़ेगी। मैंने कहा, आप उन्हें गिरफ्तार कर सकते हैं। उन्होंने कहा कि वह भीड़ को भी हटावेंगे और ऐसा करने में उनको सख्त कार्रवाई करनी पड़ सकती है। मैंने स्वयंसेवकों को हटाने से इनकार कर दिया। इसपर उन्होंने मुझसे कहा कि इसकी जवाबदेही मेरे ऊपर रहेगी और वह मुनासिब कार्रवाई करेंगे। मैंने समझा कि हो सकता है, वह लाठी या गोली भी चलवावें। मैंने बेहतर समझा कि और साथियों से सलाह कर लूं। यह मैंने उनसे कहा। उन्होंने कहा कि इसके लिए वह आध घंटे का समय देंगे। जब मैं चलने लगा तो उन्होंने अपनी घड़ी निकाली और कहा कि मैं अपनी घड़ी उनकी घड़ी से मिला लूं। यह मुझे बुरा मालूम हुआ। मैंने कह दिया कि मैं इसकी जरूरत नहीं समझता। वह अपनी घड़ी देखते रहे। मैंने यह भी कह दिया, यदि आध घंटे के भीतर मैं उनके सन्तोष के योग्य उत्तर न दूं तो वह जो मुनासिब समझें करें। मैं सीधे मोटर पर सदाकत-आश्रम गया। सबकी राय हुई कि हम कुछ नहीं कर सकते, मजिस्ट्रेट जो चाहें करें। फिर यह समझकर कि अब वहां कुछ-न-कुछ होगा, मैं जल्दी से मोटर पर वहां के लिए रवाना हुआ।

रास्ते में, बाकरगंज में, उधर से मजिस्ट्रट को मोटर पर लौटते देखा उन्होंने भी मुझे देखा। मुसकराते हुए वह आगे बढ़ गये। मैंने समझा कि वहां कुछ कार्रवाई करके वह लौट रहे हैं। वहां पहुंचने पर मालूम हुआ कि उन्होंने पहले सत्याग्रहियों को चले जाने की आज्ञा दी, जब वे नहीं हटे तो कुछ दूरी तक खड़े घुड़सवारों को घोड़े दौड़ाने की आज्ञा दें दी। जब घोड़े चले तो लड़के सड़क पर लेट गये। इस तरह रास्ते को उन्होंने रोक लिया। घोड़े वहांतक दौड़ते आये, पर उनके पास पहुंचकर रूक गये। तब वे लड़के उठा-उठाकर एक मोटर-लारी में रख दिये गये। इस प्रकार गिरफ्तार कर वे हटा दिये गये।

हमने निश्चय कर लिया कि सत्याग्रही पांच-पांच का जलूस बनाकर दिन-भर

वहां जाते रहें। जब एक जत्था गिरफ्तार हो जाय तो दूसरा चले। ऐसा ही दिन-रात हो। अप्रैल का महीना आधा से अधिक बीत चुका था। गर्मी काफी पड़ रही थी। हमारे सत्याग्रहियों को भी धूप लगती थी। पुलिसवाले तो दिन-रात खड़े रहते ही थे। एक-दो दिनों तक इस तरह चला। तब मैंने तरीके में कुछ परिवर्तन कर दिया। दिन रात गिरफ्तारी का इन्तजार न करके समय मुकर्रर कर दिया गया। दिन-रात में चार या पांच जत्थे नियत समय पर जाते। वे शुरू में तो गिरफ्तार कर लिये जाते, पर पीछे जब दर्शकों की बहुत भीड़ जुटने लगी तो घुड़सवार घोड़े दौड़ाते और लोगों को डंडों से पीटते। सत्याग्रही तो इस धक्कमधक्की में कभी गिरफ्तार होते, कभी नहीं भी होते; पर जनता पर खूब मार पड़ती। यह विशेषकर सुबह और तीसरे पहर के समय, जब जत्था जाता तभी, हुआ करता। मैं भी समय पर पहुंच जाया करता और जनता की भीड़ में रहकर सब देखा करता। शायद पुलिसवाले मुझे पहचानते थे, इसलिए मुझे कभी चोट न लगी। पर प्रोफेसर अब्दुल बारी को बहुत चोट लगी थी।

यह सिलसिला कई दिनों तक चलता रहा। रोज भीड़ बढ़ती गई। मोर्चे का स्थान सुलतानगंज थाने से पश्चिम की ओर हटता-हटता पटना-कालेज के सामने तक आ गया। हमारे आदमी और साधारण जन भी बराबर शान्ति बनाये रखते। जो मारपीट होती, पुलिस की ओर से ही। एक दिन का जिक्र है, मिस्टर सैयद हसन इमाम की बीबी ने कहीं से आते समय पुलिस को मारपीट करते देखा। कई आदमियों के सिर फूट गये थे। इसका उनके दिल पर बहुत असर हुआ। उन्होंने जाकर हसन इमामसाहब से कहा कि बहुत खूनखराबा होने की सम्भावना है। उस समय तक मुझे मालूम नहीं था कि हसन इमामसाहब इस बात में कुछ दिलचस्पी ले रहे हैं। इस सम्बन्ध में मैं उनसे मिला न था और न उनसे कुछ बातें करने का मुझे मौका ही मिला था। अपनी बीवी की बात सुनकर उन्होंने मुझे तुरन्त टेलीफोन से बुलाया। मैंने सब बातें ब्योरे से कह सुनाईं। वह बहुत भावुक सज्जन थे। सब बातें सुनकर उनको भी क्रोध ही आया। वह आवेश में आ गये। उन्होंने कहा कि वह पूरी मदद करेंगे। उनका यह उत्साह बढ़ता गया। इसका हाल मैं आगे चलकर बताऊंगा।

इसी बीच ईस्टर छुट्टी आ गई। मैं इस सत्याग्रह को धार्मिक युद्ध समझता था। मैंने सोचा कि यह यदि धार्मिक चीज है तो इसके द्वारा किसी को अपने

धर्म-पालन में बाधा न पहुंचनी चाहिए । मैंने डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट को एक पत्र लिख दिया कि पुलिस-कर्मचारियों में कुछ क्रिस्तान भी हैं, जो ईस्टर में कुछ धार्मिक क्रिया करते होंगे, इसलिए सोमवार को जत्था नहीं जायगा, फिर मंगलवार से नियमानुकूल जत्थे जाया करेंगे । शुक्रवार को भी दोपहर के समय जाने के लिए जो जत्था मुकर्रर था, उसको मैंने रोक दिया; क्योंकि घुड़सवारों में अधिक मुसलमान ही थे । मैंने यह पत्र सच्चे दिल से लिखा था । डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट ने पत्र पढ़ने पर टेलीफोन द्वारा मुझसे पूछा कि मैंने जो लिखा है, वह क्या सचमुच धार्मिक ख्याल से ही लिखा है। मैंने कह दिया कि वास्तव में सच्चे दिल से ही लिखा है । इसपर उन्होंने कहा कि मैं उनसे मिलूं, वह विचार करेंगे कि यह झगड़ा किस तरह सुलझ सकता है ।

दूसरे ही दिन सोमवार था, मैं गया । बहुत देर तक बातें हुईं । मैंने कह दिया कि यहां झगड़ा बहुत छोटा है । पांच आदमियों का जलूस सड़क होकर जाना चाहता है । इसमें कोई कानून के विरूद्ध बात नहीं है । वह जलूस को निकल जाने दें, उसे रोकें नहीं, सारा झगड़ा मिट जायगा । जब जत्था नमक बनाकर कानून तोड़े, तो गिरफ्तार किया जाय और कानूनन जो सजा हो, दी जाय । उन्होंने दूसरी सड़क से जलूस ले जाने की बात कही । मैं इसपर राजी न हुआ । बात इतने ही तक होकर रह गई । दूसरे दिन सवेरे जो जत्था गया वह गिरफ्तार कर लिया गया । गिरफ्तारी के बाद भीड़ खुद हट गई । मारपीट की नौबत ही नहीं आई । यह भी देखा गया कि पुलिस की संख्या बहुत कम है, घुड़सवार तो हैं ही नहीं । पुलिस के असिस्टेंट सुपरिण्टेण्डेण्ट ने गिरफ्तारी की । सत्याग्रही तुरन्त कचहरी में पेश किये गये । मुकदमा चल ही रहा था कि दूसरे जत्थे के आने का समय हो गया । वह जत्था सीधे रास्ते से चला गया । किसी ने उसको नहीं रोका । हम लोग कचहरी में ही थे कि यह खबर मिली । उन सत्याग्रहियों को भी कचहरी उठने तक की कैद की सजा हुई । हुकुम सुनाकर हाकिम उठ गये । हम सब सत्याग्रहियों के साथ ही वह भी वहां से निकले । अब साफ हो गया कि जत्थे को पुलिस नहीं रोकेगी । संध्या को भी जत्था गया, पर कोई रोक-टोक नहीं हुई । इसके बाद जत्था भेजना बन्द कर दिया गया । पर नमक बनाने का काम जारी रहा, इसलिए लोग गिरफ्तार होते रहे । पटना-शहर में भी गिरफ्तारियां होती रहीं ।

: ८८ :

नमक-सत्याग्रह के बाद का कार्यक्रम

उधर गांधीजी कुछ दिनों के बाद गिरफ्तार हो गये। धरासना में, जहां नमक का सरकारी गोला है, सत्याग्रही धावा बोलने लगे। वहां बाहर मैदान में ही नमक बहुत जमा किया पड़ा रहता है। स्वयंसेवक उसे लूटने तो जाते नहीं थे, पर सरकारी आज्ञा के विरूद्ध उस स्थान पर पहुंचना चाहते थे। इसलिए वहां वे खूब लाठियों से पीटे जाते। पहले गांधीजी, उसके बाद श्री अब्बास तैयबजी और श्रीमती सरोजिनी नायडू उन स्वयंसेवकों का नेतृत्व करते रहे। वे एक-पर-एक गिरफ्तार होते गये। वहां स्वयंसेवकों के बेरहमी से पीटे जाने, लाठियों की चोट से बेहोश होने, बेहोशी की हालत में घसीटकर झाड़ियों में छोड़ दिये जाने और वहां से कांग्रेसी खाटों पर उठा ले जाकर कांग्रेसी अस्पताल में पहुंचाये जाने की रोमांचकारी खबरें छपती रहीं। इनसे उत्साह बढ़ता ही जाता था, घटता न था। यह जानते हुए भी कि बहुत जोरों से मार खानी है, वहां सैकड़ों आदमी रोज जाते। यह बात जबतक बरसात शुरू न हो गई और वहां जाना-आना असम्भव-सा न हो गया, तबतक बराबर जारी रही।

बिहार-सूबे में समुद्र-तट तो था नहीं। पर सभी जगहों पर कुछ-न-कुछ नमकीन मिट्टी मिल जाती, उसे जमा करके उसका पानी चुला लेते और उसे हांडी में गर्म करके सुखा देते, कुछ नमक-जैसी चीज निकल आती। मैंने खुद कहीं नमक नहीं बनाया, पर जहां जाता वहां के बने हुए नमक को सभाओं में बेचता या नीलाम करता। उससे खर्च के कुछ रूपये भी मिल जाते और खुलेआम कानून भी टूटता; क्योंकि बिना 'कर' दिये नमक बेचना वैसा ही जुर्म है जैसा नमक बनाना। पर मैं बहुत दिनों तक गिरफ्तार नहीं हुआ।

पंडित जवाहरलालजी की गिरफ्तारी शुरू में ही हो गई। उनके स्थान पर पंडित मोतीलालजी काम करने लगे। वह भी प्रायः जून के अन्त तक गिरफ्तार नहीं किये गये। मुझे भी वर्किंग कमिटी का मेम्बर बना लिया था। इस बीच में जब-तब प्रयाग में वर्किंग कमिटी की बैठक भी होती। वहां से आवश्यकतानुसार आदेश निकलते। जिस प्रकार की मदद लोग मांगते, दी जाती। सारे देश में सरकार की दमन-नीति

जोरों से चल रही थी । गिरफ्तारियां जितनी हो सकती थीं, उतनी सरकार न करती । उसने यह नीति ठहरा ली कि कुछ ही कानून तोड़नेवाले गिरफ्तार किये जायं, अधिकांश मार-पीटकर ही छोड़ दिये जायं । इसलिए, जहां कहीं लोग जमा होकर नमक बनाते, पुलिसवाले पहुंचते--हांड़ी और चूल्हा तोड़-फोड़ डालते, जो लोग वहां रहते उनमें से एक-दो को गिरफ्तार करते और दूसरों को लाठियों से पीटकर चले जाते । इससे नमक बनाना बन्द न होता, फिर नई हांड़ी पहुंच जाती, नया चूल्हा बन जाता और नमक बनानेवालों की तादाद ज्यों-की-त्यों बनी रहती । गांववाले यह काम लुक-छुपकर तो करते नहीं थे, क्योंकि खुलेआम करने की आज्ञा थी । मैं बराबर दिन-रात दौरा कर रहा था । सभी जगहों में देखता कि लोग गांव के किसी मुख्य स्थान में, केले के थम्भ वगैरह गाड़कर, झंडे और बन्दनवार लगाकर, घिरी जगह बना लेते । वहीं चूल्हा और मिट्टी से पानी चुलाने के लिए छोटी कोठी बना लेते । गांव के सभी लोग जानते कि कहां नमक बनता है । किसी आगन्तुक व्यक्ति अथवा पुलिस को नमक बनाने की जगह का अनायास ही पता लग जाता ।

मुझे कुछ दिनों तक गवर्नमेण्ट ने गिरफ्तार नहीं किया । मैं ऊपर कह चुका हूं कि सत्याग्रह आरम्भ होने के पहले मुझे नमक-सत्याग्रह की सफलता में सन्देह था, पर तब भी मैंने इसके लिए पूरा प्रयत्न किया । जैसे-जैसे गांधीजी अपनी यात्रा में डांडी की ओर आगे बढ़ते जाते थे, देश में उत्साह उमड़ता जाता था । यह सब देखकर मेरा विश्वास भी दृढ़ होता गया कि इसमें पूरी सफलता होगी । तब मैं और भी जोर लगाता गया । पंडित मोतीलालजी का भी कुछ ऐसा ही हाल था । उन्होंने भी, प्रयाग के अपने आनन्द-भवन में ही, जैसे प्रयोगशाला में कोई प्रयोग होता है, वैसे ही, फिल्टर कागज के जरिये मिट्टी से नमक निकाला । उन्होंने उसे बहुत गर्व के साथ हम लोगों को दिखलाया । हम लोगों को भी इसका गर्व रहा । उनकी आज्ञा और सम्मति से, बिहार की स्थिति की ओर ध्यान रखते हुए, मैंने यह कार्यक्रम बनाया कि बिहार में जून तक नमक बनाया जाय--अर्थात् इसीपर अधिक जोर रहे; उसके बाद विदेशी वस्त्र-बहिष्कार पर जोर लगाया जाय, साथ ही मद्य-निषेध भी चले; बरसात में नमक नहीं बन सकता, इसलिए जून के बाद विदेशी वस्त्र-बहिष्कार और मद्यनिषेध के लिए पहरे वगैरह का काम चालू किया जाय; बरसात समाप्त होने पर चौकीदारी-टिकस बन्द करने का कार्यक्रम चलाया जाय ।

इस कार्यक्रम का यह अर्थ नहीं था कि जब नमक बन रहा हो तब विदेशी वस्त्र-बहिष्कार का काम हो ही नहीं। अर्थ केवल इतना ही था कि उस समय एक चीज पर जोर देकर जनता का ध्यान उसीपर ज्यादा खींचा जाय और उसमें पूरी सफलता प्राप्त की जाय। इस प्रकार, एक काम पर जोर देने से वह अधिक तेजी से चलता।

मुझे खबर मिली थी कि आरम्भ में सरकार का विचार मुझे गिरफ्तार करने का नहीं था। मैं तो सरकार के विचार की परवा न करके काम करता ही जाता था। कुछ दिनों के बाद पता चला कि जिला मजिस्ट्रेटों को प्रान्तीय सरकार की अनुमति मिल गई है--अगर वे चाहें तो मुझे गिरफ्तार कर सकते हैं। मेरा कार्यक्रम ऐसा रहता कि मैं किसी जिले में चला जाता, एक मोटर मंगनी की या भाड़े की ले लेता, सवेरे पांच-छः बजे स्नानादि से निवृत्त होकर एक तरफ निकल जाता, दिन-भर बारह-पन्द्रह जगहों में छोटी-मोटी सभाएं करता, रास्ते में जहां-जहां नमक बनता होता, उसका मुआइना करता, रात में दस-ग्यारह बजे दौरे से लौटता। इस तरह हर जिले के काफी बड़े हिस्से का दौरा कर लेता। दो या तीन दिनों में एक जिले का दौरा समाप्त करके दूसरे जिले में निकल जाता। मैंने देखा, गांवों में इस बात की स्पर्धा होती कि उनके अधिक आदमी गिरफ्तार हों। जहां नमक न बना रहता वहां के लोग, जबतक नमक वहां न बनता, लज्जित रहते। मैं लोगों को विदेशी-वस्त्र-बहिष्कार, मद्य-निषेध और नमक बनाने की बात समझाता। अक्सर लोग चौकीदारी-टिकस और लगान देना बन्द करने की बात पूछते। उनसे कह देता कि यह चालू कार्यक्रम पूरा हो जाने पर उसकी आज्ञा निकलेगी। तबतक लोग उसके लिए तैयारी करें। लोग इसे समझ जाते।

: ८६ :

विदेशी वस्त्र-बहिष्कार और मद्य-निषेध

शहरों का कार्यक्रम, नमक के अलावा, अधिकतर वस्त्र-बहिष्कार और मद्य-निषेध का होता। प्रयाग में वर्किंग कमिटी की बैठक के समय यह मालूम हो गया कि देश की कई जगहों में विदेशी वस्त्र-बहिष्कार का काम जोरों से चल रहा है। यह काम बिहार में भी शुरू हो गया। व्यापारियों और जनता दोनों में बड़ा उत्साह था। इसलिए यह काम बहुत आसानी से आगे बढ़ने लगा। जिस तरह गांव-गांव में नमक बनाने की होड़-सी लग गई, उसी तरह बड़े-बड़े शहरों में यह होड़ लग गई कि वहां की दुकानों और आढ़तों में जितना भी विदेशी कपड़ा हो, उसकी बिक्री बन्द कर दी जाय। महात्माजी ने लिखा था कि इनपर तथा मद्य की दुकानों पर पहरे का काम अधिकतर स्त्रियों के ही हाथ में रहे और वे इसे पूरा करने का भार अपना समझ लें। इसलिए कहीं-कहीं स्त्रियां दुकानों पर पहरा देने लगीं। किसी ने कहींपर एक तरीका जारी कर दिया और वह प्रायः सभी जगहों में चल पड़ा। वह यह था कि सभी कपड़े के दुकानदार अपनी दूकान के विदेशी वस्त्रों को बांधकर उसपर कांग्रेस की मुहर लगाकर रख देते और लिखकर वादा कर देते कि जबतक कांग्रेस का हुक्म न होगा उस गांठ को फिर नहीं खोलेंगे। व्यापारी अक्सर आपस में ही कमिटी बना लेते, जिसपर कांग्रेस की देख-रेख रहती अथवा जिसमें कांग्रेस के प्रतिनिधि भी रहते। वे इस कमिटी पर सारे विदेशी वस्त्र के इस प्रकार बंधवा देने और बिक्री न होने देने का भार डाल देते। यदि कोई व्यापारी वादा-खिलाफी करता तो उसे वह कमिटी जुर्माने का दण्ड भी देती और इस तरह उनपर पूरा शासन रहता। जो व्यापारी राजी न होता, उसकी दुकान पर पहरा बैठाया जाता और उसकी बिक्री बन्द हो जाती।

आज भी यह याद करके बहुत प्रसन्नता होती है कि बिहार के प्रायः सभी शहरों के और बहुतेरे गांवों के छोटे-छोटे व्यापारियों ने भी अपने सभी विदेशी कपड़ों को गांठों में बांधकर कांग्रेस की मुहर लगवाकर अलग रख छोड़ा। सारे सूबे में पहरे का काम थोड़ा ही करना पड़ा और वह बहुत सफलतापूर्वक हुआ। पहरा शुरू करते ही गांठों का बंधना शुरू हो जाता और दो-चार दिनों में ही काम पूरा हो जाता। यह दृश्य मैंने प्रायः सभी जगहों में देखा। विचार तो था कि आधा जून बीत जाने के बाद

इस कार्यक्रम पर जोर दिया जायगा; पर मेरा ख्याल है कि जून का अन्त होते-होते यह काम भी सारे सूबे में पूरा हो गया था। जो काम होता था, उसमें देखा-देखी का बड़ा प्रभाव होता था। यदि खबर मिल गई कि किसी एक शहर के व्यापारियों ने गांठ बांधना शुरू कर दिया तो दूसरे शहर के व्यापारी इसपर विचार करने लगते और वहां के कांग्रेसी भी उनपर जोर डालने लगते, बस, वहां भी काम शुरू हो जाता और जल्द ही समाप्त भी। पंडित मोतीलालजी से कानपुर, दिल्ली, पंजाब इत्यादि के बड़े-बड़े व्यापारी मिलते और उनसे बातें करके उन केन्द्रों में किस तरह यह काम पूरा कराया जाय और इसमें भारतीय मिल वालों से किस तरह मदद ली जाय, इसपर विचार करते। प्रतिज्ञा-पत्र का मसविदा तैयार कराकर सर्वत्र भेज दिया गया था। जनता और व्यापारी अपनी-अपनी प्रतिज्ञा पर दस्तखत करते।

किसी-किसी सूबे में मद्य-निषेध पर अधिक जोर दिया गया। वहां इसी को लेकर सरकारी दमन चला। लोगों को कैद और गोलियों तक का शिकार बनना पड़ा। ऐसी रोमांचकारी घटना सीमाप्रान्त में हुई। बहुत-से पठान गोलियों के शिकार हुए। सारे देश में सनसनी फैल गई। श्री विट्ठलभाई पटेल ने, जो असेम्बली की प्रथम निर्वाचित सभापति (स्पीकर) थे, अपने पद से इस्तीफा दे दिया। वह सीमाप्रांत के गोलीकांड की जांच में जा लगे। उनकी रिपोर्ट को सरकार ने जब्त कर लिया। उसका बहुत प्रचार न हो सका। पर जितनी कुछ खबर छपती थी, उसीका असर सारे देश में बिजली की तरह बहुत तेजी से काम करता। जब सभी जगहों पर एक-से-एक उत्साह-वर्धक कार्रवाइयां हो रही हों तब यह चुनना फर्ज हो जाता है कि किस-किसका जिक्र किया जाय। मुझे इस बात का अफसोस है कि अभीतक देशव्यापी सत्याग्रह का विस्तृत इतिहास नहीं लिखा गया। पर कुछ ऐसी बातें हैं, जिनका जिक्र कर देना अच्छा होगा।

बिहार पर्दा-प्रधान प्रदेश है। जब मैं इंगलैंड में था, यहां पर्दा हटाने का एक विशेष प्रयत्न आरम्भ हुआ था। दरभंगा-जिले के युवक श्री रामनन्दन मिश्र अपने घर के लोगों की इच्छा के विरूद्ध अपनी स्त्री को पर्दे से बाहर ले आये। उसे वह साबरमती-आश्रम में भी कुछ दिनों के लिए ले गये। महात्माजी ने श्री मगनलाल गांधी की पुत्री श्री राधा को उनकी शिक्षा और पर्दा-निवारण के काम के लिए बिहार भेजा। श्री मगनलालजी यहां का काम और अपनी पुत्री को देखने आये। वह अचानक बीमार पड़ गये और पटने में उनकी मृत्यु हो गई। इसका असर विचित्र

पड़ा । पर्दा-निवारण का काम जोरों से आरम्भ हुआ । इसके लिए एक प्रान्तीय सम्मेलन हुआ, जिसमें अगुआ श्री व्रजकिशोरप्रसाद भी हुए । काम चलता रहा । जो काम गया-कांग्रेस के समय छोटे पैमाने पर आरम्भ हुआ था, वह बढ़ता ही गया ।

जब १६३० का सत्याग्रह आरम्भ हुआ और गांधीजी ने मद्यनिषेध तथा विदेशी वस्त्र बहिष्कार को खासकर स्त्रियों का काम बताया, तो स्त्रियों में उत्साह की लहर बढ़ चली । शहरों में जहां-जहां दुकानों पर पहरे का काम होता, स्त्रियां ही करतीं । दुकान पर उनके खड़ी हो जाते ही कोई खरीददार उस तरफ झांकने की हिम्मत न करता । दुकानदार भी सहम जाते और उनके साथ भद्रता पूर्वक व्यवहार करते । पटने में इस प्रकार का पहरा दो-चार दिनों के लिए कुछ दुकानों पर बिठाना पड़ा था । इसमें मुख्य काम करनेवाली श्रीमती विन्ध्यवासिनीदेवी थीं । ऐसी-ऐसी स्त्रियां भी इसमें शरीक हुईं, जो कभी घर के बाहर न निकली होंगी । सवेरे ही आठ-नौ बजे तक कांग्रेसी कार्यकर्त्ता उनको अपने-अपने घरों से बुला लाकर नियत दुकान पर बिठा जाते । फिर समय हो जाने पर उन्हें उनके घरों पर पहुंचा भी देते । एक दिन का जिक्र है, किसी घर की एक नववधू आ गई । स्वयंसेवक उसे घर वापस पहुंचा देना भूल गया । रात हो गई । उसे कोई ले जाने नहीं आया । एक दूसरी काम करनेवाली स्त्री के पति अपनी पत्नी को अपने घर ले जाने के लिए आये, तो उन्होंने इस लड़की को एक दुकान पर खड़ी देखा । पूछने पर मालूम हुआ कि उसे घर ले जाने के लिए कोई नहीं आया है, इसलिए वह अभीतक वहां खड़ी है । उन्होंने उसे अपनी मोटर पर चढ़ा लिया और चाहा कि उसके घर पहुंचा दें । पर वह अपना । घर भी नहीं पहचान सकती थी, क्योंकि घर से बाहर कभी निकली न थी । शहर के सभी घरों को प्रायः एक तरह का देखकर अपना ही बता देती । हमारे यहां रिवाज है कि स्त्रियां अपने पति का नाम नहीं होता । इसलिए वह अपने पति का नाम भी नहीं बता सकती थी, जिससे उसके घर का पता चले । वह शायद कैथी लिपि में अपना नाम लिख लेती रही हो, इससे ज्यादा पढ़ी-लिखी भी न थी । वह मोटरवाले सज्जन कैथी नहीं जानते थे कि उसके पति का नाम उससे लिखवाकर घर का पता लगा लें । कुछ देर तक यहां-वहां मोटर दौड़ाते रहे । फिर उसके पति का नाम उससे लिखवाकर किसी सें पढ़वाया । तब घर का पता लगा । इस तरह उसे उसके घर तक पहुंचा दिया । यह घटना मैंने इसलिए लिख दी है कि पाठक इससे देख सकेंगे कि स्त्रियों में कितना उत्सांह था और किस तरह अशिक्षिता स्त्रियां भी इस काम में आ लगी थीं ।

: ६० :

बिहार में बीहपुर का सत्याग्रह

एक बार मैं प्रयाग गया था। वहां वर्किंग कमिटी की बैठक थी। वहां से पटना वापस आया तो सुना कि भागलपुर-जिले के 'बीहपुर' गांव में नये ढंग का सत्याग्रह शुरू हो गया है। इसकी कुछ खबर प्रयाग में ही मिल गई थी। पटना में कुछ अधिक बातें मालूम हुईं। तब मैंने तुरन्त वहां जाने का निश्चय किया। 'बीहपुर' गंगा के उत्तर भागलपुर से थोड़ी ही दूर है। बी० एन० डब्ल्यू० रेलवे का छोटा-सा जंकशन है, जहां से भागलपुर-घाट की गाड़ी जाती है। यहां का सारा इलाका बरसात में जलमग्न हो जाता है। ऐसे दियारों में जैसा देखा जाता है, यहां के लोग बड़े बहादुर और लट्ठधर हैं। यहां कांग्रेस के लिए लोगों में बहुत उत्साह था।

१६२६ में ही एक बार मैं बहुत आग्रह से यहां बुलाया गया था। लोग मुझे आसपास के गांव में भी ले गये थे। बहुत उत्साह और प्रेम के साथ वहां के लोगों ने मेरा स्वागत किया था। वहां से कुछ दूर गौरीपुर गांव है, जहां मैं गया था। लौटने के समय बहुत जोर से पानी बरसने लगा। बीच में एक नदी पार करनी पड़ती थी। हाथी की सवारी थी। नदी पार करके हाथी पर हम लोग खूब भीग गये। जब बीहपुर से सभा-स्थल पर पहुंचे तो देखा कि बहुत जमा है--यद्यपि खूब पानी बरस रहा है तथापि एक आदमी भी हटता नहीं है। मुझे भी उसी बरसते पानी में खड़ा होकर भाषण करना पड़ा। इस तरह वहां के उत्साह का नमूना मैंने कुछ पहले ही देख लिया था। वहां का कुछ इतिहास भी मैंने सुन लिया था। उसमें से एक बात यहां देना उचित होगा। वहां एक अंगरेज की जमींदारी थी। रैयत से एक जमीन की खातिर बहुत दिनों से झगड़ा चला आता था। कचहरियों में मुकदमे चले थे। गोरेसाहब ने जमीन की रक्षा के लिए कुछ गोरखों को नौकर रखकर रखवारी का काम उन्हें सुपुर्द किया था। सुना जाता है कि बरसात के दिनों में एक रात को उस इलाके के लोगों ने सभी गोरखों को, जिनकी संख्या बीस-पच्चीस थी, मारकर बढ़ी हुई गंगा में फेंक दिया। पता भी न लगा कि किसने मारा और उनके शवों का क्या हुआ।

ऐसे स्थान की जनता में सत्याग्रह के लिए उत्साह होना कोई आश्चर्य की बात

नहीं थी; पर वे अहिंसात्मक रह सकेंगे, इसी का डर था, और आश्चर्य भी। वहांपर एक नये ढंग का सत्याग्रह, गांजे की एक दुकान के सम्बन्ध में, आरम्भ हो गया। रेलवे-प्लाटफार्म के पास ही पश्चिम की तरफ कुछ जमीन है, जिसमें कांग्रेस का आश्रम बना हुआ था। वहां एक छोटी कोठरी थी, जिसमें खादी-भंडार था, जहां सूत खरीदकर रखा जाता था, बेचने के लिए रूई तथा कपड़े रखे जाते थे। दूसरी कोठरी में कांग्रेस के कार्यकर्त्ता और स्वयंसेवक रहा करते थे। उन दिनों ये मकान झोंपड़े जैसे थे। अब तो वहां आश्रम के लिए सुन्दर पक्का मकान बन गया है, जो रेल के यात्रियों को रेल पर से ही दीख पड़ता है।

स्टेशन के दक्षिण में पांच-सात दुकानों का एक छोटा-सा बाजार है। इन्हीं में से एक दुकान में गांजा बिका करता था। कांग्रेसी स्वयंसेवकों ने गांजे की दुकान पर पहरा बैठाया। पुलिस ने एक दिन कार्यकर्त्ताओं को आश्रम से मार-पीटकर निकाल दिया। आश्रम पर भी कब्जा कर लिया। रूई-सूत-खादी इत्यादि को इधर-उधर फेंक-फांक दिया। जब आस-पास के लोगों को मालूम हुआ कि पुलिस ने इस तरह आश्रम पर कब्जा कर लिया है तो उन्होंने आश्रम पर दखल करना चाहा। इसके लिए पहले चार-पांच आदमियों का जत्था हाथ में झंडा लिये वहां गया। जाहिर है कि जहां पुलिस का जत्था हथियारबन्द बैठा था, वहां चार-पांच आदमी खाली हाथ जाकर जबरदस्ती दखल नहीं कर सकते थे। यह सिर्फ सत्याग्रह का एक जरिया था। पुलिस भी इसे वैसा ही समझती थी। वह उन लोगों को, जो जत्था बनाकर जाते थे, गिरफ्तार कर लेती थी। यह काम प्रतिदिन एक बार, तीसरे पहर चार-पांच बजे के करीब, होता।

इस बात की खबर चारों और फैली। जैसे पटना में तमाशा देखने के लिए भीड़ जमा हो जाया करती थी वैसे ही वहां भी जत्थे के जाने के समय भीड़ लग जाया करती। कभी-कभी पुलिस जत्थे को गिरफ्तार न करके उनको मारपीट कर छोड़ देती। प्रतिदिन दर्शकों की भीड़ बढ़ती गई। जब पटने में मुझे सविस्तार समाचार मिला तो मैं कुछ मित्रों के साथ भागलपुर गया। वहां से दूसरे दिन दोपहर को बीहपुर पहुंचा। उस दिन हम लोगों के जाने की खबर फैल गई। इसलिए भी भीड़ बहुत बड़ी जमा हो गई। दिन में तीन बजे के करीब सब लोग एक बगीचे में जमा हुए। मैंने उनको समझाया कि चाहे जो हो, अपनी ओर शान्ति रखनी चाहिए, किसी

तरह कोई आदमी कोई हिंसात्मक कार्य न करे। जत्थे का समय हो जाने पर सब लोग सड़क पर और उसके इधर-उधर खड़े हो गये। कुछ लोग उस छोटे-से बाजार में भी जमा हो गये। हम लोग भी जहां-तहां खड़े थे। मैं बाजार के सामने एक ऐसे स्थान पर था, जहां से वह स्थान नजर आता था, जहां पुलिस के आदमी खड़े थे और जहांतक जत्था जा सकता था। वहां पहुंचने पर जत्था चाहे पीटा जाता, चाहे गिरफ्तार कर लिया जाता। भीड़ प्रायः पन्द्रह-बीस हजार आदमियों की थी।

सत्याग्रहियों का जत्था निकला और सड़क पर होकर उस स्थान तक पहुंचा, जहां पुलिस खड़ी थी। वह सहूलियत के साथ गिरफ्तार कर लिया गया, मार-पीट नहीं हुई। हम लोगों ने समझा, उस दिन का काम समाप्त हुआ, अब सब लोग चले जायंगे। जनता अब तितर-बितर होना ही चाहती थी कि आश्रम के अन्दर से पुलिस के सुपरिण्टेण्डेण्ट कुछ लट्ठधारी सिपाहियों के साथ निकले और सड़क पर खड़ी जनता पर लाठियां बरसाने का उन्होंने हुकुम दिया। सड़क वहांपर ऊंची है, आश्रम और बाजार दोनों ही नीची जमीन में हैं। पुलिसवाले बेतहाशा लाठियां चलाते, भीड़ को चीरते, स्टेशन तक आ गये। न मालूम, कितने आदमियों को लाठियां लगीं; पर कोई कुछ न बोला। वहां से पुलिस के सुपरिण्टेण्डेण्ट के साथ वे लोग बाजार में पहुंच गये, जहां मैं खड़ा था। कुछ दूर पर, एक दुकान के ओसारे से, सुपरिण्टेण्डेण्ट ने चारों ओर निगाह दौड़ाई। वहां से चिल्लाते हुए कहा कि मारो सालों को। पुलिस उसी तरह लोगों पर बेतहाशा लाठियां चलाते आगे बढ़ी। मुझपर चार-पांच लाठियां पड़ीं। एक युवक स्वयंसेवक ने बीच में पड़कर कुछ लाठियों के जोर को अपने ऊपर झेल लिया। इसलिए, यद्यपि मुझे भी चोट लगी तथापि उतनी न लगी जितनी लग सकती थी। मुझसे कुछ दूर पर श्री बलदेवसहाय और श्री मुरलीमनोहरप्रसाद थे। उनको बहुत चोट आई। वह गिर गये। उनका सारा बदन लहू-लुहान हो गया।

इस प्रकार मारते-पीटते पुलिस का जत्था सुपरिण्टेण्डेण्ट के पीछे-पीछे फिर आश्रम में चला गया। भीड़ तो लाठी चलने के पहले से छंट चली थी। लोग जहां-तहां चले गये। हम लोग जो भागलपुर से आये थे, वहीं ठहरे रहे; क्योंकि हमारी गाड़ी सात-आठ बजे रात को वहां से छूटती थी। भीड़ के छंटने और पुलिसवालों के चले जाने पर उस बाजार में रहनेवाले एक डाक्टर आये। वह हम लोगों के घावों को धोकर पट्टी बांधने लगे। हम लोग वहीं बाजार के समाने खुले मैदान में घास पर

पड़े थे। इसी बीच पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट, सिपाहियों और पुलिस-इन्स्पेक्टर के साथ, फिर उधर आता नजर आया। हम लोगों ने सोचा, शायद फिर हमपर लाठियों का वार हो; पर वैसा हुआ नहीं। वे लोग कुछ दूर अलग ही ठहर गये। इन्सपेक्टर ने भागलपुर के प्रसिद्ध वकील और कांग्रेसकर्मी श्री पटलबाबू को, जो हम लोगों के साथ आये थे, गिरफ्तार कर लिया। वे लोग उनको साथ लेकर वापस चले गये। हम लोग रात की गाड़ी से भागलपुर पहुंचे। वहां बड़ी सनसनी फैल गई। मैं भी एक-दो दिन ठहर गया।

भागलपुर, बिहार-भर में, विदेशी कपड़े की आढ़तों का, सबसे बड़ा केन्द्र है। और-और जगहों में प्रायः व्यापारियों ने विदेशी कपड़े की गांठें बांधकर मुहरबन्द रख छोड़ी थीं, पर अभीतक भागलपुर में ऐसा नहीं हुआ था। उक्त घटना के बाद वहां भी स्त्रियों ने दुकानों पर पहरा देना आरम्भ किया। मेरे पास दुकानदार आकर कहने लगे कि वे गांठ बांधकर मुहर लगवा देने के लिए तैयार हैं। उन्होंने आपस की कमेटी भी बना ली। दो-चार दिनों के अन्दर वहां भी सब विदेशी वस्त्र, बिक्री के बाजार से उठाकर, गांठों के अन्दर मुहरबन्द करके, रख दिये गये। बीहपुर की घटना का तत्काल फल यह हुआ कि यह काम बिना परिश्रम के वहां हो गया।

हम लोगों के साथ असेम्बली के दो सदस्य, श्री अनन्तप्रसाद और श्री कमलेश्वरीसहाय, बीहपुर गये थे। भीड़-भाड़ में उनको भी कुछ धक्का तो जरूर लगा था, पर पुलिस के सामने ठीक न पड़ने से वे लाठियों की चोट से बच गये थे। पर सारा खेल उन्होंने अपनी आंखों देखा था। वे भी वहां से बहुत उत्तेजित होकर लौटे थे। उन लोगों की भी राय यही थी कि लाठी बिलकुल बिना कारण चली थी; क्योंकि लाठी चलने के पहले ही भीड़ का हटना शुरू हो गया था--दो-चार मिनटों के अन्दर ही लोग जहां-तहां चले गये होते, और हम लोगों पर किया गया प्रहार तो और भी बिना कारण था। इसलिए, उन्होंने अपने इस्तीफे भेज दिये। आज ठीक स्मरण नहीं है; पर शायद कुछ दूसरे लोगों ने भी, जब इस घटना का हाल सुना, तो इस्तीफे भेज दिये।

सबसे विचित्र एक दूसरी बात हुई। पुलिसवालों में दो दल हो गये। कुछ तो ऐसे थे जो सुपरिण्टेण्डेण्ट के हुकुम को ठीक मानते और खूब लाठियां फटकारते थे। पर कुछ ऐसे भी थे, जो लाठी के प्रहार को गलत समझते थे और होशियारी से

हाथ बचा देते थे। हम लोगों पर जो लाठियां पड़ीं वे एक ही दल की थीं, दूसरे की नहीं। सुपरिण्टेण्डेण्ट आगे-आगे चल रहा था और ये लोग उसके पीछे-पीछे चारों ओर लाठियां हरहराते जाते थे। जब लाठी की चोट से अब्दुल बारी प्रायः वहीं बेहोश होकर गिर गये, तब भी एक सिपाही ने उनपर फिर लाठी उठाई। वह अचेत गिरे हुए बारीसाहब पर लाठी मारना ही चाहता था कि एक दूसरे सिपाही ने उसकी लाठी को अपनी लाठी पर रोक लिया। एक तीसरे सिपाही ने तो बारीसाहब को मारनेवाले उस सिपाही को ही लाठी मार दी। दोनों दल इस प्रकार आपस में लड़ते-झगड़ते आगे निकल गये और अब्दुल बारी उस भारी चोट से बच गये। यह बात खुद अब्दुल बारी ने हम लोगों से कही।

हम लोग जब भागलपुर में ठहरे थे तो प्रायः गंगा-स्नान करने जाते थे। वहां दूसरे दिन कुछ आदमियों से घाट पर भेंट हो गई। वे भी स्नान करने आये थे। उन्होंने यह सारा किस्सा कह-सुनाया और इसके बाद की घटना भी कह दी। वे पुलिस के उस दूसरे गोल के थे, जिसने अब्दुल बारी पर दूसरा वार रोका था। उन्होंने कहा--"जब हमने देखा कि हमारा वह साथी, जिसको हमने लाठी मारने से रोका था और जिसपर हमने खुद लाठी का वार कर दिया था, सुपरिण्टेण्डेण्ट के पास जाकर नालिश करेगा तो हम जल्द दौड़कर उससे आगे पहुंच गये और जाकर पहले हमने ही नालिश कर दी कि दूसरे दल के सिपाहियों को लाठी चलाना नहीं आता, भीड़ पर लाठी चलाने के बदले वे अपने लोगों पर ही लाठियां झाड़ देते हैं, इसीलिए कुछ पुलिसवाले भी लाठी के शिकार बन गये हैं; यह सब हम कह ही रहे थे कि दूसरे दलवाले भी पहुंच गये, उन्होंने सुपरिण्टेण्डेण्ट से नालिश की कि इन्हीं लोगों ने उनपर लाठियां मारी हैं।" पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट ने दोनों दलों के बयान सुनकर वहां कुछ नहीं किया, उन्हें सीधे भागलपुर की पुलिस-लाइन में भेज दिया।

एक और विचित्र घटना हुई। पुलिस के इन्स्पेक्टर छपरा जिले के रहनेवाले थे। वह मेरे स्कूल के साथी थे। हम दोनों चार बरस तक एक साथ पढ़े थे। एक साथ ही एण्ट्रेन्स भी पास किया था। उसके बाद मैं कलकत्ते पढ़ने चला गया। वह पुलिस की नौकरी में चले गये। तबसे हम दोनों की मुलाकात नहीं हुई थी। पर यह मैं जानता था कि वह पुलिस में हैं। अब वह कुछ बूढ़े-से भी हो गये थे। उनके केश प्रायः सफेद हो गये थे। जब उस दिन हम लोग घास पर पड़े थे, सुपरिण्टेण्डेण्ट

के साथ वह दूसरी बार पटलबाबू को गिरफ्तार करने आये। उन्होंने आहिस्ता सें मुझे प्रणाम किया। मैंने उन्हें पहचाना नहीं; पर उन्होंने मुझे पहचान लिया था। पीछे दरियाफ्त करने पर उनका नाम मालूम हुआ। मैंने खादी-भंडार के एक कार्यकर्त्ता रामविलास शर्मा को बीहपुर भेजा कि वहां के पुलिस-अफसर से कहकर खादी-सूत-चर्खे इत्यादि जो इधर-उधर फेंके पड़े थे, उन्हें एकत्र करके लावें और भागलपुर-भंडार में जमा करा दें। रामविलास बहुत बुलक्कड़ और शोख मिजाज के हैं। उन्होंने देखा कि वही महाशय वहां के इंचार्ज हैं। उनसे जाकर वह मिले। कुछ बातें करने पर पता लग गया कि इन्स्पेक्टर साहब उस दिन की घटना से कुछ लज्जित-से हैं। इसपर शर्मा ने मेरा हवाला देकर उनसे कहा कि मैं उनका साथी हूं और उस दिन उनके प्रणाम करने पर भी उन्हें ठीक न पहचान सकने का मुझे बहुत अफसोस है। वह जैसे-जैसे उनसे ये बातें करते जा रहे थे, उनके चेहरे का रंग बदलता जा रहा था। उन्होंने शर्मा से कहा, इन सब बातों को चर्चा मत कीजिये। इतना कहकर दूसरी ओर उन्होंने मुंह फेर लिया। रामविलास ने मौका देखकर कुछ और बातें छेड़ दीं। फिर मेरा जिक्र करते हुए कहना शुरू कर दिया कि मुझे इस बात का बहुत अफसोस रहा कि इतने दिनों के बाद देखादेखी हुई तो पुराने साथी से कुछ बातें भी न हो सकीं। इसपर फिर उन्होंने रामविलास को आगे बातें करने से रोका। रामविलास ने देखा कि उनकी आंखें डबडबा गई थीं।

मैं जानता हूं कि इस प्रकार की घटनाएं अनेक स्थानों पर हुईं। एक दूसरे पुलिस-अफसर का भी यही हाल हुआ। उन्होंने रात को मुझसे मुलाकात की। आंसू बहाते हुए मेरे पैर पकड़ लिये। कहा कि उस जिले में उनके रहते-रहते ऐसी घटना हुई कि मैं लाठी से पीटा गया और वह कुछ भी न कर सके! यहांपर यह भी लिख दूं कि १९३३ की जनवरी में जब दुबारा सत्याग्रह के समय मैं पटना-जेल से हजारीबाग-जेल में पहुंचाया गया, तो हजारीबाग-रोड-स्टेशन से हजारीबाग तक जो पुलिस-इन्स्पेक्टर मुझे पहुंचाने गये थे वह यही इन्स्पेक्टर थे। पर वह रात का समय था। जाड़े के कपड़े में वह भी खूब छुपे थे और मैं तो था ही। लारी की अगली सीट पर वह बिना कुछ बोले बैठ गये। हम लोग पीछे बैठे और खूब सवेरे ही जेल के दरवाजे पर पहुंच गये। हम लोगों के उतरते-उतरते ही वह कहीं हट गये। रास्ते में वह कहीं एक शब्द नहीं बोले थे, जिससे मैं पहचान सकूं। जेल के फाटक पर भी

देखा नहीं। पीछे जेलर ने हमसे उनका नाम कहा। यह भी कहा कि रास्ते-भर वह किसी तरह अपनी पहचान बचाते आये हैं। जेलर भी छपरे के रहनेवाले थे। वह हम लोगों के एक दूसरे साथी के छोटे भाई थे। इस कारण हम उन्हें लड़कपन से ही जानते थे।

बीहपुर में लाठी-प्रहार के बाद भी जत्था वैसे ही प्रतिदिन जाता रहा। वह गिरफ्तार होता या पीटा जाता। जबतक गांधी-इर्विन-समझौता न हुआ और कांग्रेस ने सत्याग्रह बन्द न किया, यह क्रम बराबर जारी रहा। पीछे जत्थेवाले बहुत बेरहमी से पीटे जाने लगे। एक स्वयंसेवक आजतक हम लोगों के पास सहायता के लिए आया करता है। उसको बहुत पीटा था। अंत में साइकिल का पम्प उसके कान में लगाकर इस तरह हवा भर दी थी कि उसके कान की झिल्ली फट गई।

१६३२ में जब सत्याग्रह फिर आरम्भ हुआ तब गवर्नमेण्ट ने बीहपुर के आश्रम को जब्त नहीं किया--यद्यपि समझौते के जमाने में बहुत कोशिश करने पर भी इसे छोड़ने पर राजी नहीं हुई थी। जमीन के मालिक ने आश्रम की जमीन कांग्रेस को लिख दी थी। हम लोगों का उसपर पूरा कानूनी हक था। पर सरकारी कर्मचारियों ने किसी दूसरे आदमी को खड़ा करके जमीन लिखवा लेने का प्रयत्न किया था। जब हमने नालिश करने की धमकी दी तब वह आश्रम हमें वापस मिला। जिस समय पुलिस ने आश्रम पर कब्जा किया था, जब्ती का कोई हुक्म नहीं निकला था। पीछे भी कभी बाजाब्ता जब्ती नहीं हुई थी। तो भी वे उसे छोड़ना नहीं चाहते थे। किसी से लिखवाकर उसपर बिलकुल झूठा दावा कर रहे थे। वहीं हमको साफ मालूम हो गया कि सरकारी कर्मचारी अपना पक्ष-समर्थन करने-कराने के लिए चाहे जो कुछ भी कर सकते हैं! इसके लिए मुझे उस समय के चीफ सेक्रेटरी मिस्टर हैलेट से और बिहार के लाट से भी, समझौते के जमाने में, भेंट करनी पड़ी थी।

: ६१ :

मेरी पहली गिरफ्तारी

पटना लौटने पर मुझे मालूम हुआ कि अब मेरी गिरफ्तारी के लिए सरकार का हुकुम हो गया है। मैंने पूर्ववत अपना दौरा ज़ारी रखा। कई जिलों में घूम आया, पर कहीं गिरफ्तारी न किया गया। पीछे मालूम हुआ कि मैं एक जिले से दूसरे जिले में बहुत जल्दी घूमकर चला जाता हूं। इसलिए जिला-मजिस्ट्रेट मुझे गिरफ्तार करके एक बला अपने ऊपर नहीं लेना चाहते। इस तरह मैं बचता चला गया। इसी बीच एक दिन श्री विट्ठलभाई पटेल आये। वह हाल ही में केन्द्रीय असेम्बली के सभापतिपद को छोड़ चुके थे। इससे लोगों में उनके प्रति श्रद्धा और भी बढ़ गई थी। पटना में एक सार्वजनिक सभा की गई। मिस्टर हसन इमाम उसमें खादी का जांघिया और अधबंहियां पहनकर आये। वहीं खबर मिली कि उसी दिन सवेरे पंडित मोतीलालजी गिरफ्तार कर लिये गये। मैंने समझ लिया, अब मेरी गिरफ्तारी में भी देर न होगी। मैंने चलते समय मिस्टर हसन इमाम साहब से मुलाकात की। उन्होंने बहुत उत्साहपूर्वक आश्वासन दिया। कहा--"बच्चू, तुम्हारे गिरफ्तार हो जाने से काम रूकेगा नहीं।" मैं उसी सभा के बाद, श्री विट्ठलभाई पटेल को बिहार से बिदा करके, खुद छपरा जिले के दौरे पर चला गया।

वहां भी तीन दिनों का कार्यक्रम था। जिले के पश्चिमी भाग से प्रारम्भ करके तीसरे दिन पूर्वी भाग समाप्त कर पटना पहुंच जाना था। पहली रात जीरादेई में और दूसरी छपरे में बितानी थी। तीसरी रात को पटने पहुंचना था। दो दिन बीत चले थे। दूसरे दिन शाम का कार्यक्रम पूरा करते बहुत रात हो गई। संध्या के बदले रात बारह बजे छपरा पहुंचा। बिहार-बंक में पहुंचने पर मालूम हुआ कि भाई कहीं गये हैं--छपरे में नहीं हैं और पुलिसवाले प्रायः दस-ग्यारह बजे तक मेरे इन्तजार में बंक में ठहरे रहे हैं। मैं समझ गया कि गिरफ्तारी के लिए खोज कर रहे होंगे। मैं भोजन करके सो गया। सवेरे उठकर स्नानादि से निवृत्त हो, करीब साढ़े आठ बजे, मोटर पर गड़खा के लिए रवाना हुआ। वहीं पर पहली सभा होनेवाली थी। पुलिसवालों को मालूम ही था। इसलिए वे लोग गड़खा में जाकर मेरा इन्तजार करने लगे। एक

दल उस रास्ते पर ठहरा रहा, जिधर से मैं गड़खा पहुंचनेवाला था। मैं अभी छपरा शहर के बाहर भी नहीं गया था कि गड़खा की ओर से एक मोटर पर पुलिसवाले लौटते मौना मुहल्ले में ही मिल गये। उन्होंने इशारा करके मेरी गाड़ी को रूकवाया। मुझसे कहा कि मेरी खोज में वे पहले दिन से घूम रहे हैं। मैं उनके साथ उनकी गाड़ी पर हो लिया। उन्होंने कहा कि बंक में यदि किसी से मिल लेना हो अथवा कुछ ले लेना हो तो उधर से चल सकते हैं। मैं बंक में गया। वहां घर के लोगों से भेंट कर ली। कुछ खा भी लिया। घर गये। एक-आध घंटे के भीतर ही तैयार होकर उनकी गाड़ी पर फिर सवार हो गया। अभीतक इस बात की खबर शहर में पहुंची भी न थी कि मैं सीधे जेल ले जाया गया।

जेल का यह मेरा पहला अनुभव था। एक बार मैं छपरा-जेल में कुछ मित्रों से मिलने गया था। पर इससे ज्यादा उसके या किसी भी जेल के सम्बन्ध में नहीं जानता था। जेल में उस समय प्रायः तीन-चार सौ सत्याग्रही कैदी थे। उनको मालूम हो गया कि मैं फाटक के अन्दर पहुंच गया। वे जय-जयकार करते फाटक के पास पहुंच गये। जेलर कुछ घबरा गये। उन्होंने अन्दर का फाटक नहीं खोला। इसपर लोग और भी शोर करने लगे। मैंने जेलर से कहा कि मुझे अन्दर ले चलें, सब शान्त हो जायंगे। उन्होंने कहा जबतक ये लोग फाटक के नजदीक रहेंगे, फाटक खोलने का नियम नहीं है, इसलिए ये लोग जब चले जायं तभी वह मुझे अन्दर ले जायंगे। मैं सत्याग्रहियों से कुछ कह भी नहीं सकता था; क्योंकि छोटे सूराख से कहांतक बातें हो सकती थीं। मैं जानता था कि यह उत्साह केवल स्वागत के लिए है, मेरे अन्दर जाते ही और भेंट होते ही सब शान्त हो जायंगे। पर जेलर इस बात को नहीं समझ सकते थे। कुछ देर के बाद फाटक खोलकर वह मुझे अन्दर ले गये। सभी लोग इतना ही चाहते थे। सब मेरे साथ हो लिये और मुझे जहां रहना था वहांतक पहुंचाकर अपने-अपने स्थान को चले गये। इसी बीच में बाहर से जय-जयकार की आवाज आने लगी। वहां की जेल में एक दोमहला मकान है। उसपर भी कुछ लोग रहते थे। उन्होंने देखा कि एक बड़ी भीड़ जेल की तरफ जय-जयकार करती आ रही है। वह भीड़ बाहर सड़क पर थी। जेलर और भी घबरा गये थे। उन्होंने जेल के वार्डरों को फाटक परसे बन्दूक छोड़ने का हुकुम दिया। आवाज हम लोगों ने सुनी

और समझा कि शायद कहीं गोली तो नहीं चली। पर बात ऐसी नहीं थी। जेल एक तरह से बीच शहर में है, चारों ओर सड़क है। लोगों ने केवल जेल के इर्द-गिर्द जलूस घुमाकर और नारे लगाकर काम समाप्त किया। पर जेलर अपनी घबराहट में खामखा बन्दूक छुड़वाने लगे। खैरियत थी कि खाली फैर किया जाता था। सुना कि पीछे जब डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट को इसकी खबर मिली तो उन्होंने जेलर को डांटा कि यह बड़ी भूल थी। यदि जनता बन्दूक छूटते देखकर बिगड़ जाती तो वह झूठे फैर से उसे कैसे रोक सकते, खासकर जब उन्होंने पुलिस या मजिस्ट्रेट को भी खबर नहीं दी थी।

मेरा पहला अनुभव विचित्र रहा; क्योंकि पीछे जब औरों के अनुभव से मैंने अपने अनुभव को मिलाया तो मालूम हुआ कि औरों को ऐसा अनुभव नहीं हुआ था। उस समय तक छपरे में कैदियों के वर्गीकरण का कोई इन्तजाम नहीं था। मेरे सम्बन्ध में कोई खास हुकुम भी न था। इसलिए मैं लोहे के तसले में जो कुछ वहां मिलता, वही खाता। घर से लोगों ने खाना भेजा; पर मैंने मना कर दिया और उसे नहीं खाया। जेलर का कहना था कि मैं जबतक हाजती (**under trial**) हूं तबतक घर का खाना खा सकता हूं, पर फाटक पर जाकर खाना होगा! मैं तो योंही इनकार करता, इस शर्त ने और भी मजबूर कर दिया। दूसरे दिन भाईसाहब छपरा पहुंचे। मुकदमें की पेशी के समय, जो जेल में ही हुई, आकर मिले। जेलर कायदा बर्तने में इतने सख्त थे कि मेरे घर से कुछ आम आये तो उन्हें भी फाटक पर आकर ही खाने के लिए संवाद भेजा। मैंने इनकार कर दिया। आम भी वापस कर देने को कह दिया। तबतक आम लानेवाला आदमी वापस चला गया था। फिर उन्होंने खुद आकर कहा, तो मेरे कारण पूछने पर कहने लगे कि जेल में एक कैदी दूसरे कैदी को अपना खाना नहीं दे सकता, इसलिए उसे बाहर की चीज भी हम अन्दर खाने नहीं देते। पीछे मालूम हुआ कि यह उनका मनगढ़न्त नियम था, किसी दूसरी जेल में ऐसा नहीं हुआ।

जिन मजिस्ट्रेट के सामने मेरा मुकदमा पेश हुआ, उनकी मेरी पहले से मुलाकात थी। मेरे वकालत के दिनों में वह मेरे मवक्किल रह चुके थे। उनके निजी मुकदमे में मैं काम कर चुका था। इत्तफाक की बात, १९३३ में जब मैं पटना में गिरफ्तार

हुआ, वह वहां के सब-डिवीजनल अफसर थे। उस बार भी उनको ही मेरी सजा सुनानी पड़ी। मुकदमे में कुछ कहना-सुनना तो था नहीं, कोई दफा लगाकर मुझे छः महीने कैद की सजा उन्होंने दे दी।

मुझे कुछ भी मालूम न था कि मुझे वहीं रखेंगे या कहीं अन्यत्र ले जायंगे। पर इतना मैं जानता था कि सूबे के प्रमुख लोग हजारीबाग-जेल में रखे गये हैं। जेलर ने भी कुछ नहीं कहा कि मैं वहीं रहूंगा या हजारीबाग भेजा जाऊंगा। इस तरह पांच-छः दिन बीत गये। एक दिन संध्या को भोजन करके मैं अपने वार्ड के छोटे आंगन में, एक कुर्ता पहने और एक अंगोछा हाथ में लिये, घूम रहा था। जेलर ने आकर कहा कि डिप्टीसाहब फाटक पर आये हैं, मुझसे मिलना चाहते हैं। उस दिनों वहां के पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट छुट्टी पर गये थे, एक डिप्टी मजिस्ट्रेट उनकी जगह काम कर रहे थे। मैंने समझा, वही आये होंगे। मैं गया। फाटक खुला। जैसे ही मैं अन्दर घुसा, डिप्टीसाहब दूसरी ओर मुंह फेरकर बाहरवाले दरवाजे की तरफ चलते बने ! मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। वार्डर ने मुझे अन्दर लेकर भीतर का दरवाजा बन्द करके दौड़कर बाहर का दरवाजा खोला। उसके खुलते ही एक दूसरे सज्जन अन्दर आ गये, जो मिस्टर खां डिस्ट्रिक्ट-मजिस्ट्रेट थे। उन्होंने कहा कि मुझे तुरन्त चलना है। मैंने पूछा कि सामान अन्दर है, जाकर ले आऊं। उन्होंने कहा कि उसकी मैं परवा न करूं, वह सब आ जायगा। जेल का एक नियम यह भी था कि पहने हुए कपड़ों और बिस्तर के सिवा दूसरा कुछ अन्दर नहीं जाने देते थे। इसलिए थोड़े कपड़े फाटक पर ही थे। मैंने टोपी निकाल ली और उसे पहनकर डिस्ट्रिक्ट-मजिस्ट्रेट की मोटर पर बैठ गया। उसके चारों ओर पर्दे लगे हुए थे।

मजिस्ट्रेट ने ड्राइवर से कहा कि पश्चिम ले जाओ। मेरे पूछने पर कि कहां जाना है, उन्होंने कहा कि पीछे बताऊंगा। जेल से छपरा-जंकशन स्टेशन पश्चिम पड़ता है। पर जब स्टेशन के सामने मोटर पहुंची तो उधर मोड़ने के बदले उन्होंने सीधे पश्चिम जाने को कहा। कुछ देर में हम लोग शहर के बिलकुल बाहर पहुंच गये। तब उन्होंने पर्दा गिरा दिया। मुझसे माफी मांगते हुए कहने लगे कि उनको अफसोस है कि इस तरह की कार्रवाई उन्हें करनी पड़ती है, मुझे हजारीबाग जाना होगा, पर रास्ता मामूली रास्ता नहीं है। मुझे वह 'मांझी' स्टेशन पर--जो छपरा-बनारस-लाइन

में सरयूतट पर एक छोटा स्टेशन है--बनारस की गाड़ी में सवार करायेंगे, वहां से मैं बनारस के रास्ते मुगलसराय ले जाया जाऊंगा; जहां से ग्राण्डकौर्डलाइन द्वारा सोनईस्ट-बैंक स्टेशन तक ले जाकर उतार लिया जाऊंगा, फिर वहां से मोटर पर हजारीबाग पहुंचाया जाऊंगा। मेरे लिए रेलवे-पुलिस के असिस्टैण्ट सुपरिण्टेण्डेण्ट अपना सैलून लेकर आ रहे हैं, कोई तकलीफ न होगी।

खैर, हम लोग मांझी स्टेशन पर जल्द ही पहुंच गये। थोड़ी देर में डिप्टीसाहब भी मेरे सामान के साथ पहुंच गये। गाड़ी भी आ गई। मैं सैलून में सवार हो गया। पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट ने मुझसे इतना ही कहा कि मैं लोगों को अपना परिचय न दूं। मैंने कहा कि मैं खुद थोड़े ही किसी-को अपना परिचय देता चलूंगा; पर यदि कोई मुझे पहचान ही ले तो मैं क्या करूंगा। इसपर वह हँसे और मजे में हम दोनों साथ चले। रात का समय था। हमारा डब्बा गाड़ी के आखिरी डब्बे के पीछे जोड़ा गया। इससे वहां तक कोई मुसाफिर भी नहीं पहुंचता था। कुछ रात रहते ही हम बनारस पहुंच गये। वहां से मोटर पर मुगलसराय पहुंचे। वह रिफ्रेशमेण्ट रूम में मुझे कुछ खिलाने के लिए ले गये; पर मैं अभी तैयार नहीं था। कुछ देर तक वहां बैठा। इतने में गाड़ी आ गई। इस बीच में शायद दो-चार आदमियों ने मुझे पहचाना हो। खाने के लिए उन्होंने आम खरीद लिये। गाड़ी खुलने पर मैंने मुंह-हाथ धो, स्नानादि से निवृत्त होकर नाश्ता कर लिया। सेनईस्ट-बैंक स्टेशन पर गया-जिले के पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट मिले। उन्होंने मुझे एक मोटर पर सवार कराकर, हजारीबाग के लिए एक इन्स्पेक्टर के साथ, रवाना किया। वहां मैं एक बजे दिन के कुछ पहले पहुंच गया। मित्रों के साथ वहां रखा गया। इस लम्बी-चौड़ी यात्रा की बातें जब मित्रों ने सुनीं तो बहुत चकित हुए। मिस्टर खां ने छपरे में ही पूछने पर इस तरह ले जाने का कारण बताया था--सरकार नहीं चाहती कि छपरा, सोनपुर, पटना और गया स्टेशनों पर लोगों की भीड़ जमे और प्रदर्शन हो, इसलिए यह रास्ता सोचकर निकाला गया है। साथ के इन्स्पेक्टर ने भी कहा कि रास्ते में कहीं भी मोटर न ठहराने का हुकुम है और औरंगाबाद गया) में जहां कस्बे के बीच होकर सड़क जाती है, वहां मोटर को तेज ले जाने का हुकुम है। ऐसा उन्होंने किया भी।

छपरा-जेल से मेरे निकल आने पर जब जेलर मेरा सामान लाने अन्दर गये तो

लोगों को मालूम हो गया कि मैं वहां से हटा दिया गया। वहां के लोगों में बड़ी उत्तेजना फैली। कुछ लोगों ने कोठे पर से चिल्लाना शुरू कर दिया कि मुझे किसी अज्ञात स्थान में ले गये। शहर के किसी आदमी ने दौड़कर बिहार-बंक में पहुंच भाई को खबर दे दी। वह अपनी मोटर पर तुरन्त छपरा-स्टेशन पहुंचे। वहां उन्हें मालूम हुआ कि मैं किसी गाड़ी में नहीं सवार कराया गया हूं। उन्होंने समझा कि शायद किसी आगे के स्टेशन पर सवार करायंगे। पर उन्हें यह क्या पता कि सोनपुर की ओर न जाकर मुझे बनारस की ओर ले गये हैं। वह सोनपुर तक मोटर से पहुंचे। जब वहां भी मुझे न पाया तो निराश होकर फिर छपरे लौट गये। बाद में मालूम हुआ कि मैं हजारीबाग पहुंच गया तो वह आकर मुझसे मिले।

: ६२ :

हजारीबाग-जेल में

हजारीबाग-जेल के जेलर बाबू नारायणप्रसाद मेरे पूर्व-परिचित थे। उनके एक बड़े भाई स्कूल के साथी थे, जिनसे मेरी मित्रता थी। मैं उनके घर पर कभी-कभी जाया करता था। वह बड़े कार्य-कुशल और विचारशील जेलर थे। उन्होंने मुझे वहीं स्थान दिया जहां रामदयालबाबू, श्रीबाबू, विपिनबाबू प्रभृति रहते थे। जेल में मेरा समय कुछ पढ़ने और सूत कातने में बीतता था। पीछे सुपरिण्टेण्डेण्ट मेजर अय्यंगर से कहकर मैं उस कारखाने में, जहां कपड़ा और नेवार बुना जाता था, बुनाई का काम करने लगा। इन पांच-छः महीनों में मैंने प्रायः दो सौ गज नेवार और १४-१५ गज कपड़े भी बुन लिये। पर वह कपड़ा चर्खे के सूत का नहीं था, जेल का ही था, इसलिए उसे वहीं छोड़ दिया। पर नेवार को चलने के समय दाम देकर खरीद लिया। मैं जुलाई के पहले सप्ताह में गिरफ्तार हुआ था और दिसम्बर के अन्त तक वहां रहकर रिहा हुआ। समय बीतते देर न लगी।

इस बीच में श्री दीपनारायणसिंह भी वहां पहुंच गये। वह भी हमारे साथ ही उसी कमरे में रहे। दक्षिण अफ्रीकावाले स्वामी भवानीदयाल भी उसी वार्ड में रहते थे। दूसरे वार्ड में जो मित्र रहते थे, वे भी जेलर से इजाजत लेकर जब-तब हम लोगों से मिलते रहते थे या हम ही उनके वार्ड में जाकर उसी तरह मिलते थे। किसी बात की तकलीफ नहीं थी। पुस्तकों के सम्बन्ध में कुछ रूकावट थी। कोई पुस्तक पुलिस अथवा मजिस्ट्रेट के 'पास' किये बिना, हम लोगों को नहीं मिलती थी। पास करने वाले सज्जन कुछ बहुत पढ़े-लिखे नहीं मालूम होते थे। जिस पुस्तक के नाम में किसी तरह 'पालिटिक्स' या 'पोलिटिकल' शब्द आ जाय, उसे वे हरगिज नहीं पास करते। जिसमें ये शब्द न आवें उस पुस्तक को, चाहे उनके दृष्टिकोण से वह कितनी भी खराब पुस्तक क्यों न हो, वे पास कर देते। उदाहरणार्थ, वहां की एक मजाक की बात सुन लीजिये।

किसी ने 'इकनॉमिक्स' की एक पाठ्य पुस्तक, जो कालेजों में पढ़ाई जाती थी, मंगाई। उसका नाम था 'टैक्स्ट बुक ऑव पोलिटिकल इकॉनामी'। उसे उन्होंने नामंजूर कर दिया चूंकि उसके नाम में 'पोलिटिकल' शब्द था ! पर 'ए० बी० सी०

ऑव कम्यूनिज्म' और 'थ्योरी ऑव लेबर क्लास' के पास करने में वह नहीं हिचके ! पहली पुस्तक को न मालूम क्या समझकर पास किया, पर दूसरी के सम्बन्ध में हम लोगों का अनुमान हुआ कि उन्होंने समझा होगा, इसमें ऐसे लोगों के मनबहलाव की बातें होंगी, जिनके पास बहुत अवकाश का समय रहता है !

मैंने जेल में सोचा कि गांधीजी के लेख अधिकतर उनके साप्ताहिकों की फाइलों में ही पड़े हैं । यद्यपि मद्रास के प्रकाशक श्री गणेशन ने उनको इकट्ठा करके पुस्तकाकार में प्रकाशित किया है और उसके लिए मैंने एक लम्बी भूमिका भी लिखी है, तो भी मेरा विचार हुआ कि यदि एक-एक विषय के सभी लेखों का अलग-अलग संग्रह छापा जाय और आरम्भ की छोटी-सी भूमिका में उन लेखों का संक्षिप्त अर्थ दे दिया जाय, जिससे पाठक उस विषय पर उनके विचारों को थोड़े शब्दों में जान लें और तब उनका विस्तार-पूर्वक उनके अपने शब्दों में एक जगह अध्ययन करें, तो अच्छा होगा । इसलिए, मैंने उन लेखों को कई विभागों में बांटा । जैसे अहिंसा, स्वराज्य, सत्याग्रह, शिक्षा, खादी इत्यादि । फिर प्रत्येक विषय पर छोटा लेख लिखा, जिसमें उनके विचारों का सारांश था । लेखों को चुन लिया । कुछ मित्रों ने अलग-अलग उनकी नकल भी तैयार कर दी । मेरी भूमिका भी पूरी हो गई । इसी समय मैं छूट गया ।

बाहर आने पर समय न मिला कि उसे फिर एक बार देखकर छपवाऊं । गांधीजी से भेंट होने पर उनसे पूछा कि ऐसा करना क्या वह पसन्द करेंगे । उन्होंने अपनी अनुमति दे दी । यह भी कहा कि कुछ दिन पहले किसी ने गुजराती में ऐसा ही संग्रह छापा भी है । कुछ और मित्रों ने भी इसे पसन्द किया । विशेषकर पुरूलिया के श्री निवारणचन्द्र दास गुप्त ने इसे बहुत पसन्द किया था । उन्होंने भूमिका में कुछ सुधार भी बतलाये थे, जिनको मैंने मान लिया था । १६३१ में यह चीज प्रेस में न जा सकी । जब १६३२ में फिर हम लोग गिरफ्तार हो गये तो सदाकत-आश्रम भी जब्त हो गया । बस फिर वह लिखी हुई चीज मुझे नहीं मिली । न मालूम कहां रखी गई और किस तरह गायब हो गई !

जेल के अन्दर चर्खा चलाने और उद्योग-धन्धे के अलावा धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन भी हुआ करता था । छपरे के पं० भरत मिश्रजी भी साथ थे । उनसे श्री वाल्मीकीय रामायण की कथा और पं० विष्णुदत्त शुक्ल से 'दुर्गा सप्तशती' की कथा

सुनी । स्वयं पहले-पहल मुख्य उपनिषदों को आद्योपांत पढ़ गया ।

हजारीबाग-जेल में सूबे के प्रायः सभी जिलों के प्रमुख कांग्रेसी लोग भेजे गये थे । मैं बराबर सूबे में दौरा किया करता था । अधिकतर कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं को जानता था । पर जेल में जितने दिनों तक एक साथ रहने का मौका मिला उतना कभी बाहर नहीं मिला था । वहीं स्वामी भवानीदयाल के साथ बहुत दिनों तक रहकर एक-दूसरे को जानने-पहचानने का मौका मिला । वह स्मृति सदैव एक मीठी स्मृति बनी रहेगी । मुजफ्फरपुर-जिले के ठाकुर नवाबसिंह एक पुराने विचार के वयोवृद्ध सज्जन थे--अथवा यों कहें कि अंगरेजी शिक्षा से अनभिज्ञ--तो बेहतर होगा । गांधीजी के असहयोग-आन्दोलन ने गांवों में बहुतेरों को प्रभावित किया था । बिहार में विशेषकर गांवों के लोगों पर ही अधिक प्रभाव पड़ा था । इसके विपरीत पास के ही सूबा युक्त प्रांत में अधिक प्रभाव शहरों पर पड़ा था । इसके विपरीत पास के ही सूबा युक्त प्रांत में अधिक प्रभाव शहरों पर पड़ा था । चम्पारन में गांधीजी के काम से देहात के लोग परिचित हो गये थे । इसलिए किसानों में, जो अधिकतर गांवों में ही रहते हैं, उनका बहुत प्रभाव था । उसी प्रभाव में पड़कर ठाकुर नवाबसिंह इस आन्दोलन में शुरू से ही आ गये थे । आये भी तो अकेले नहीं । उनके लड़के, भतीजा, पोता सबके सब साथ आये । सीतामढ़ी-सबडिवीजन में जो कुछ होना हो, जो कुछ करना हो, ठाकुर नवाबसिंह पर उसका भार पड़ता । वही नेतृत्व करते । आधुनिक रीति से शिक्षित न होकर भी वह इतने समझदार थे कि सब बातों को जल्द समझ लेते । कांग्रेस की आज्ञा को पूरा करने और कराने में यथासाध्य खूब चेष्टा करते । वह भी अपने पुत्र के साथ उसी जेल में थे । उनको भी अधिक जानने का सुअवसर मुझे वहीं मिला । उन्होंने अपने जीवन के अन्त तक अपना विचार दृढ़ रखा । १६४२ के अगस्त में, गांधीजी और दूसरों की गिरफ्तारी के बाद, जो हलचल शुरू हुई उसमें भी वह उसी उत्साह, निर्भीकता और दृढ़ विश्वास के साथ शरीक हुए, जिसके साथ वह शुरू में आन्दोलन में आये थे । सीता मढ़ी नेपाल के निकट है । वह पुलिस की धांधली से बचकर काम करने के लिए नेपाल की तराई में चले गये । वहीं से कांग्रेस का काम करते रहे । वहीं बीमार पड़े और हमने जेल में सुना कि उनका देहावसान हो गया ।

स्वामी सहजानन्द भी जेल में थे । बहुतेरे लोग उनसे गीता पढ़ते थे । मेरी भी

इच्छा थी, पर समयाभाव से यह पूरी न हुई । पर सबसे अधिक मेरी घनिष्ठता श्री निवारणचन्द्र दासगुप्त से बढ़ गई । वह एक साधु प्रकृति के पुरूष थे । उन्होंने गांधीजी के असहयोग-आन्दोलन को केवल एक राजनैतिक आन्दोलन ही न मानकर धार्मिक उत्थान का एक साधन भी माना था । उनके साथ हम लोगों ने पतंजलि के योग-सूत्र का अध्ययन किया । वहीं उनकी विद्वत्ता और गम्भीर गवेषणा-शक्ति का पता चला । यह भी मालूम हुआ कि उन्होंने किस तरह अपने जीवन को उन शास्त्रीय नियमों के अनुसार ढालने का प्रयत्न किया है । कुछ दिनों के बाद क्षयरोगग्रस्त होकर वह एक ऐसा स्थान खाली छोड़ गये, जिसकी अभीतक पूर्ति नहीं हुई है ।

जेल में कुछ बातों में आपस की सुखद प्रतिद्वंद्विता भी हुई । कुछ लोगों ने 'बन्दी' या 'कैदी' नाम का एक हस्तलिखित मासिक पत्र निकाला । दूसरों ने 'कारागार' नाम का दूसरा मासिक निकाला, जिसमें यह लिखा कि कैदी या बन्दी तो आते-जाते रहते हैं, बदलते रहते हैं; पर कारागार तो स्थायी रूप से चलता ही रहता है ! इन पत्रों में राष्ट्रीय आन्दोलन-सम्बन्धी लेख लिखे जाते थे । एक विशेषांक में सभी जिलों के प्रमुख कार्यकत्ताओं से, अपने-अपने जिले में आन्दोलन की प्रगति पर, लेख लिखवाये गये । मेरा ख्याल है कि उससे बहुत-कुछ ऐसा मसाला मिलता, जिससे आन्दोलन का इतिहास लिखा जा सकता । याद नहीं, वह विशेषांक कहां है । इन पत्रिकाओं के मुख्य प्रबन्धक और लेखकों में सर्वश्री स्वामी भावानीदयाल, गया के बाबू मथुराप्रसादसिंह, रामवृक्ष बेनीपुरी और उत्साही युवक महामायाप्रसाद थे । एक-दो अंकों में कुछ चित्र भी थे, जिनके बनाने या बनवाने का श्रेय गिद्धौर के कुमार कालिकाप्रसादसिंह को था ।

इस जेल-यात्रा में हमको जेल की बातों का विशेष ज्ञान या अनुभव नहीं हुआ; क्योंकि एक तो अपने ही लोग इतने थे कि दूसरों की ओर ख्याल अधिक गया ही नहीं; दूसरे मामूली कैदियों से मिलने का बहुत मौका भी न मिला । हम लोगों के काम कर देने के लिए जो कैदी मिलते थे, अथवा जब मैं कारखाने में नेवार या कपड़ा बुनने जाया करता तो वहां जो कैदी काम करते थे, बस उनसे ही मुलाकात होती थी, दूसरों से नहीं । पर इनमें ही जो मिले, उनमें बहुतेरे अच्छे भी मालूम पड़े । किसी-न-किसी कारण से वे जेल चले आये थे । पर उनमें मामूली तौर पर कोई ऐसी बात नहीं नज़र आती थी, जिसके लिए उन्हें लम्बी सजा का मिलना उचित मालूम हो । इस

सम्बन्ध में पीछे अनुभव प्राप्त हुए, जिनका जिक्र अन्यत्र किया जायगा।

हम लोगों को शुरू में कोई अखबार नहीं मिलता था, जिसकी जरूरत सभी बहुत महसूस करते थे। पर जेल एक ऐसी जगह है जहां प्रबन्ध करने पर सबकुछ मिल सकता है! इस विशेष प्रबन्ध के लिए लोगों ने एक विशेष शब्द खोज निकाला। उसे 'तिकड़म' कहते हैं। कुछ लोग 'तिकड़म' से कभी-कभी कोई-न-कोई अखबार मंगा ही लेते थे। उसे पढ़कर छपी खबरों को दूसरों तक पहुंचा देते थे। कुछ दिनों के बाद एक सज्जन सबकी राय से कहीं से अखबार प्राप्त कर पढ़ लेते और सबको खबर सुना देते। जब खबर सुनाने का समय आता, सभी लोग उत्सुकतापूर्वक उनकी बाट जोहते, उनकी स्मरणशक्ति और कहने का ढंग भी ऐसा था कि सब लोग बहुत प्रसन्न हो जाते। गवर्नमेण्ट ने कुछ दिनों के बाद अखबार देना मंजूर किया। पर जैसा उसका सब काम हुआ करता है, दिखाने के लिए तो कहा गया कि अखबार, एक ही बार, और वह भी 'स्टेट्समैन' का साप्ताहिक संस्करण! वह विदेशों के लिए छपा करता था! उसमें विशेषकर ऐसे विचार रहा करते थे, जिनके जानने की उत्सुकता हम लोगों में शायद ही किसी को होगी। खबरें उसमें केवल ऐसी होतीं, जिनमें विदेशी पाठकों की ही अधिक दिलचस्पी हो सकती थी और जो एक सप्ताह पुरानी भी होतीं। भारत में रहनेवालों को, विशेषकर सत्याग्रहियों को, उन खबरों से कोई लाभ नहीं। चाहे विधान के रूप में हो, चाहे किसी दूसरे प्रकार से सुधार के रूप में हो, ब्रिटिश सरकार जो सहूलियतें देने की घोषणा करती है, उनकी अधिकतर यही हालत हुआ करती है। कहने के लिए एक चीज दी तो गई, पर जिसमें कोई सार नहीं, असली तत्त्व नहीं। इन्हीं चीजों से जेल का समय कटता था।

: ६३ :

गोलमेज-कान्फ्रेंसः मोतीलाल नेहरू की मृत्यु

उन्हीं दिनों, मेरे हजारीबाग पहुंचने के कुछ ही दिनों बाद, लंदन में होनेवाली गोलमेज-कान्फ्रेन्स की बात छिड़ी। सबसे पहले पंडित मोतीलालजी से हुई मुलाकात की बात मि० स्लोकौम्ब ने प्रकाशित की। उसके बाद सर तेजबहादुर सप्रू और श्री जयकर बीच-बचाव करने लगे। उनके ही बीच-बचाव से पंडित मोतीलाल, पंडित जवाहरलाल और डाक्टर महमूद से, जो नैनी-जेल से पूना ले जाये गये, जहां महात्मा गांधी और वर्किंग कमिटी के कुछ दूसरे मेम्बर थे, बातें हुईं। पर पटरी नहीं बैठी और मामला टूट गया। मैंने अपने लोगों में, जो हजारीबाग-जेल में थे, एक बात देखी। जब समाचार-पत्रों में समझौते की कोई खबर छपती तो उसे वे बहुत उत्सुकता से पढ़ते और सभी बातों पर आपस में बहुत बहस करते। ऐसा मालूम होता कि उनमें से बहुतेरे समझौते के लिए उत्सुक हैं। हां, कुछ लोग अवश्य ऐसे थे, जो इस बात पर डटे रहते थे कि जबतक स्वराज्य-सम्बन्धी सन्तोष जनक बात न तय पावे, समझौता नहीं होना चाहिए। पर दूसरे ऐसे लोग भी थे, जो समझते थे कि गोलमेज-कान्फ्रेन्स में कुछ-न-कुछ सन्तोषजनक बात हो जायगी, इसलिए इस समय यहां अधिक झगड़ा न उठाकर वहां जाना स्वीकार कर लेना चाहिए। जब समझौता न हो सका तो ऐसे लोगों को वह जरूर नापसन्द हुआ।

दिसम्बर में जेल से छूटकर मैं सीधे बम्बई गया; क्योंकि उस समय बम्बई ही एक प्रकार से आन्दोलन का केन्द्र हो रहा था। वहां आजाद-मैदान में सभाएं होतीं और लाठियों द्वारा भंग की जातीं, बहुतेरे घायल होते। सब लोगों की सेवा-शुश्रूषा का प्रबन्ध कांग्रेस-अस्पताल में था। वहां का रूई-बाजार बहुत दिनों तक बन्द रहा। दूसरे प्रकार से वहां की जनता आन्दोलन में खूब भाग ले रही थी। वहां जाकर मैं सब लोगों से मिला। सरदास वल्लभभाई से भी भेंट हुई।

बिहार में चौकीदारी-टिकस बन्द करने का कार्यक्रम चल रहा था। सरकार सख्ती से उसे दबा रही थी। जिससे दो-चार आने का भी पावना रहता, उसका बहुत माल बरबाद कर दिया जाता। जहां किसी गांव के लोगों ने टिकस बन्द किया, गांव

ही लूट लिया जाता। मैंने एक गांव के सम्बन्ध में जानकारी हासिल की, जो हम लोगों की ही जमींदारी में था। वहां पुलिस ने जाकर एक आदमी को गोली से मार डाला था और दूसरों को खूब पीटा था। एक दूसरे गांव में मैंने खुद जाकर देखा था; वहां घर में घुसकर गल्ला रखने की कोठियां तोड़ डाली गई थीं, सभी बासन-बर्तन चूर कर दिये गये थे, यहांतक कि चारपाइयों की बुनावट काट दी गई थी, मकान के लकड़ी के खम्भे भी काट दिये गये थे। एक गांव की यह कैफियत थी कि पुलिस के चले जाने के बाद वहां गांव में न एक घड़ा था और न एक रस्सी, जिससे लोग कुएं से पानी निकालकर प्यास बुझा सकें। इस तरह की बातें अनेक गांवों में हुई थीं। हमारी गैरहाजिरी में अनेक जगहों में गोली भी चली थी। दमन बहुत जोरों से चल रहा था। पीछे जब सरकार ने यह-देखा कि केवल जेल जाने से लोग नहीं डरते तो जुर्माना करना शुरू किया। जुर्माने की अच्छी-अच्छी रकमों की वसूली में घरवालों के साथ ज्यादतियां की जातीं, एक के बदले दस का माल बर्बाद किया जाता। हाईकोर्ट में किसी ने अपील कर दी तो एक ऐसा फैसला हो गया कि हिन्दू के संयुक्त परिवार में एक आदमी के कसूर के लिए सारे परिवार का संयुक्त धन नीलाम या जब्त नहीं किया जा सकता। इससे कुछ रूकावट पड़ी, तो जुर्माना और चौकीदारी-टिकस न देने के कारण जो लूटपाट होती उससे लोगों में आतंक-सा फैलता दीख पड़ा। किन्तु इतने पर भी आन्दोलन चल ही रहा था, कहीं भी रूका नहीं था।

प्रायः इसी समय पंडित मोतीलालजी रिहा हो गये। उनका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया था। मैं प्रयाग जाकर उनसे मिला। वह इलाज के लिए कलकत्ता गये। कुछ दिनों तक वहां ठहरकर प्रयाग वापस आये। उन्होंने आन्दोलन-संचालन का भार अपने ऊपर ले लिया था, यद्यपि वह अस्वस्थ थे। मैं उनकी आज्ञा के अनुसार काम करता। इस समय कांग्रेस की वर्किंग कमिटी को सरकार ने गैरकानूनी करार दे दिया था। इसी तरह प्रान्तीय तथा दूसरी बहुतेरी कमिटियां भी गैरकानूनी हो गई थीं। इसलिए वर्किंग कमिटी की बाजाब्ता बैठक गैरकानूनी थी, पर बेजाब्ता तौर पर हम लोग बैठक कर सकते थे। उधर इंगलैंड में गोलमेज-कान्फ्रेन्स का काम प्रायः समाप्त हो चुका था। कुछ काम आगे न बढ़ा। प्रधानमन्त्री मैकडोनल्ड ने एक भाषण देकर उसे स्थगित किया--उसमें गोल-मोल बातें थीं। उन लोगों की इच्छा जान पड़ी कि कांग्रेस को कान्फ्रेन्स में शरीक करने का एक और प्रयत्न किया जायगा। इस भाषण

के कुछ पहले ही पंडितजी की राय से वर्किंग कमिटी के वे सदस्य प्रयाग बुलाये गये, जो बाहर थे। सबके पास पत्र भेजा दिये गये। इसकी सूचना अखबारों में नहीं दी जा सकती थी और दी भी नहीं गई थी। लाहौर में पुलिस ने एक सदस्य की तलाशी ली। उनके पास वह पत्र मिल गया। यह बात अखबारों में छप गई। हम लोगों ने देख लिया। तबतक मिस्टर मैकडोनल्ड का भाषण पत्रों में आ गया। हम लोग सोच रहे थे कि यह बैठक यदि हुई तो सब लोग एक साथ ही गिरफ्तार कर लिये जायंगे, जैसा पहले वर्किंग कमिटी के साथ हो चुका था। पंडितजी ने आज्ञा दी कि अखबारों में छपवा दो कि श्री मैकडोनल्ड के भाषण पर विचार करने के लिए वर्किंग कमिटी की बैठक अमुक तिथि पर प्रयाग में होगी। उधर मालवीयजी भी अस्वस्थ अवस्था में इसी समय छूटे। वह भी निमंत्रित किये गये।

वर्किंग कमिटी के जो मेम्बर आ सकते थे, प्रयाग में आ गये। हम सब समझते थे कि गैरकानूनी बैठक में सब लोग गिरफ्तार हो जायंगे, पर पंडितजी कहते थे कि जब हम मिस्टर मैकडोनल्ड के भाषण पर विचार करने की घोषणा कर चुके हैं तब वे गिरफ्तार नहीं करेंगे। ऐसा ही हुआ भी। उस दिन तीसरे पहर से रात को देर तक बातचीत होती रही। एक निश्चय तक हम लोग पहुंचे, जिसमें हमने मिस्टर मैकडोनल्ड के भाषण को ना-काफी समझा और उसे ना-मंजूर किया। पंडितजी अपनी अस्वस्थता की हालत में भी बराबर काम करते रहे, हम लोगों के हजार कहने पर भी न माने। प्रस्ताव तैयार हो गया। पंडितजी का विचार हुआ कि उसे तुरन्त प्रेस में दे देना चाहिए; क्योंकि ऐसा न करने से लोगों में यह जानकर ढिलाई आ जायगी कि कुछ सुलह होने जा रही है। मैंने कहा कि इसे एक बार और देखकर सवेरे प्रेस में दिया जाय। पंडितजी ने इस बात को मान लिया। वर्किंग कमिटी की खबर इंगलैंड पहुंच गई थी। वहां से श्री श्रीनिवास शास्त्री, सर तेजबहादुर सप्रू और श्री जयकर का तार उसी रात पंडितजी को मिला, जिसमें उन्होंने लिखा था कि वे हिन्दुस्तान लौट रहे हैं और जबतक उनसे वर्किंग कमिटी की मुलाकात न हो ले तबतक वह कोई आखिरी फैसला न करे। दूसरे दिन सवेरे जब मैं पंडितजी से मिला, उन्होंने तार दिखलाया और कहा कि अब उस प्रस्ताव को अखबारों में मत दो, केवल इतना ही दे दो कि वर्किंग कमिटी तार पहुंचने के पहले ही फैसले पर पहुंच गई थी, पर तार पाकर उसका प्रकाशन स्थगित रखती है। मैं इस समय प्रयाग में प्रायः बराबर

स्वराज्य-भवन में ही रहा करता था।

इन सब बातों का नतीजा यह हुआ कि सरकार ने वर्किंग कमिटी के सभी मौजूदा और भूतपूर्व मेम्बरों को छोड़ दिया। जबसे सत्याग्रह शुरू हुआ था, वर्किंग कमिटी के मेम्बर की गिरफ्तारी पर उसके स्थान में कोई स्थानापन्न सदस्य बना दिया जाता था। इस तरह आरम्भ के और स्थानापन्न सदस्यों की संख्या खाली हो गई थी। सब-के-सब छोड़ गये। छूटते ही गांधीजी प्रयाग पहुंच गये। सब लोग बुलाये गये। वहां बातें शुरू हुईं। पंडितजी का स्वास्थ्य दिन-दिन बिगड़ता गया। जवाहरलालजी इसी कारण मियाद पूरी होने के पहले ही छोड़ दिये गये थे। जब मैं सोचता हूं कि बीमारी की हालत में भी पंडितजी कितना काम करते रहे तो मुझे लगता है कि पंडितजी की बीमारी के मामूली न होने और अवस्था काफी होने पर भी यदि उन्हें इतना अधिक परिश्रम न करना पड़ा होता तो शायद उनकी बीमारी बढ़ती नहीं और देश को उनकी बुद्धिमत्ता एवं दृढ़ता से और भी कुछ दिनों तक लाभ उठाने को सुअवसर मिलता। उनके इन अन्तिम दिनों में उनके साथ रहने का सौभाग्य मैं अपने लिए बड़े महत्त्व का समझता हूं। उसी समय उनकी धीरता-गम्भीरता, मेघाशक्ति और देश-प्रेम का पूरा परिचय मुझे मिला। वह एक क्षण भी देश में चलते हुए आन्दोलन, उसकी प्रगति तथा देश के भविष्य की बात छोड़कर कुछ दूसरा सोचते नहीं थे। अपने स्वास्थ्य की कुछ भी परवा न कर देशोद्धार की चिन्ता में लगे रहते।

कलकत्ते के कविराज श्री श्यामादास वाचस्पति आये, परिश्रम करने से मना करते रहे, पर पंडितजी कहां माननेवाले थे। अन्त में उनकी हालत खराब हो गई। पंडित जवाहरलाल आ चुके थे। वह उनको लेकर लखनऊ गये। पंडितजी इतने खुश-मिजाज थे कि उस समय भी मजाक से बाज न आये। चेहरे पर कुछ सूजन आ गई थी। जब मैं उनके चलने के समय प्रणाम करने गया तो हँसते हुए उन्होंने वहां उपस्थित लोगों से कहा--"मेरा चेहरा देखो, मैं ब्यूटी काम्पीटीशन (सौन्दर्य-प्रतियोगिता) में काम्पीट (स्पर्द्धा) करने जा रहा हूं।" सब लोग जबरदस्ती मुस्कराये; पर सबके दिल में आशंका थी कि शायद अब फिर उनके दर्शन न होंगे। वैसा ही हुआ। लखनऊ जाते ही उनका शरीरान्त हो गया। मैं उनको लखनऊ के लिए रवाना करके पटना पहुंचा ही था कि यह दुःखद समाचार आ गया। मैं उलटे पांव फिर प्रयाग गया; पर मेरे पहुंचने के पहले ही उनके शव का दाहकर्म किया जा चुका था।

इस समय पंडितजी की मृत्यु से सारे देश में हाहाकार मच गया, शोक उमड़ आया। देश-भर में न मालूम कितनी शोक-सभाएं हुईं। प्रयाग की सार्वजनिक शोक-सभा में मैं शरीक हुआ और मैंने भी कुछ शब्द कहे थे। पर देश जो क्षति अनुभव कर रहा था, वह शब्दों से व्यक्त नहीं की जा सकती थी। उनके अभाव का अनुभव इस कारण और भी खलता और सालता था कि ठीक उसी समय वर्किंग कमिटी के लोग देश की परिस्थिति पर विचार कर रहे थे, सरकार से कुछ बातचीत चल रही थी या चलनेवाली थी; ऐसे ऐन मौके पर पंडितजी की दूरदर्शिता और नीतिनिपुणता से देश वंचित हो गया।

: ६४ :

गांधी-अर्विन-समझौता

विलायत से लौटे हुए गोलमेज-सभा के सदस्यों की मुलाकात वर्किंग-कमिटी से हुई। वहां का सब हाल उन्होंने बताया। और सब चीजों के अलावा महात्माजी इसपर बहुत जोर दे रहे थे कि सरकार को इस बात पर राजी होना चाहिए कि आन्दोलन के दबाने में उसके कर्मचारियों ने जो ज्यादतियां की हैं, उनके सम्बन्ध में एक निष्पक्ष अदालत जांच करे। पर लार्ड अर्विन इस बात को सुनना भी नहीं चाहते थे। प्रयाग में ऐसा मालूम पड़ा कि बातें आगे बढ़ेंगी ही नहीं, यहीं पर मामला समाप्त हो जायगी। महात्माजी भी अपनी बात पर डटे रहे। वायसराय से उनकी भेंट की बात चली; पर जबतक गांधीजी अपनी बात पर अड़े रहते, यह होनेवाली न थी। अन्त में एक दिन महात्माजी ने अपनी ओर से वायसराय के पास पत्र लिखा और उनसे मिलने की इच्छा प्रकट करते हुए समय मांगा। इसी से मुलाकात का रास्ता खुल गया। दिल्ली में दोनों की मुलाकात हो गई। हम लोग वर्किंग कमिटी के सदस्य भी वहां बुलाये गये। मैं भी जाकर डाक्टर अंसारी के मकान पर ठहरा, जहां दूसरे लोग भी ठहरे थे। महात्माजी की मुलाकात लगभग बीस दिनों तक रोजाना होती रही। कभी-कभी तो महात्माजी दिन-दिन-भर वायसराय के यहां रह जाते, कभी-कभी बहुत रात बीतने पर वापस आते। जिस दिन वहीं रह जाते, मीराबहन उनका भोजन ले जातीं। वहां से वापस आने पर महात्माजी हम सबको इकट्ठा करके वहां की बातचीत का सारांश कह हम लोगों की राय ले लेते। जिस दिन रात में देर करके आते और हम लोग सो गये रहते, तो भी सब उसी समय फिर उठकर उनसे सभी बातें सुन लेते।

गुजरात में किसानों की बहुत जमीन आन्दोलन में जब्त कर ली गई थी; सरदार वल्लभभाई पटेल इसपर अड़े थे कि वह सब वापस होनी चाहिए; उधर बम्बई की सरकार इस बात को मानती न थी। अन्त में, इस विषय की जांच होगी, इसीपर बात तय हुई। नमक के लिए ही सत्याग्रह आरम्भ हुआ था। महात्माजी इसपर बहुत जोर दे रहे थे कि इस सम्बन्ध में गरीबों को काफी सुविधा मिलनी चाहिए। पंडित

जवाहरलालजी सारी बातचीत से असन्तुष्ट थे । उनको डर था कि इस प्रकार के समझौते से देश पीछे हट जायगा । औरों का विचार था कि सन्तोषजनक समझौता यदि हो सके तो अच्छा होगा, बुरा नहीं । महात्माजी रोज सवेरे टहलने जाया करते थे, मैं भी साथ जाया करता । एक दिन मैंने कहा कि ऐसा उपाय कीजिये कि समझौता हो जाय, पर समझौता ऐसा हो, जिससे हमारी हार न जान पड़े, जीत न जान पड़े । महात्माजी हँसे और बोले कि समझौते से हार-जीत थोड़े ही मालूम होगी--यदि जीत है, तो चाहे समझौता जो भी हो, जीत है और लोग ऐसा ही अनुभव करेंगे; यदि हार हुई है तो, चाहे ऊपर से हम कुछ भी कहें, हम हारे ही हैं और लोग भी ऐसा ही समझेंगे । अन्त में जो समझौते की शर्त कलमबन्द की गईं, उनपर कई दिनों तक बहुत छानबीन के साथ विचार होता रहा । महात्माजी को उधर लार्ड अर्विन के साथ उसके प्रत्येक शब्द पर विचार करना पड़ता और इधर हम लोगों के साथ भी ।

लार्ड अर्विन और महात्माजी, दोनों ही, बहुत ही सहिष्णुता और धीरज के साथ, समझौते के मसविदे को अन्तिम रूप दे चुके थे । जब हम लोगों से बातें हुईं तो एक वाक्य उसमें ऐसा था कि महात्माजी उसमें असत्य की गंध देखने लगे । लार्ड अर्विन के साथ बातें करने के समय उनको उन शब्दों का वह अर्थ नहीं सूझा था । जब हम लोगों से बातें होने लगीं तो हममें से किसी ने उस वाक्य का यह नया अर्थ लगाकर कुछ चर्चा की । सुनते ही महात्माजी के कान खड़े हो गये । उन्होंने गौर से फिर पढ़ा और कहा कि यह अर्थ भी हो सकता है, पर यदि यह अर्थ है तो वाक्य असत्य है । इस बीच में लार्ड अर्विन ने विलायत से समझौते की उसी रूप में मंजूरी मंगा ली । जब महात्माजी ने जाकर यह बात उनसे कही तो लार्ड अर्विन ने भी मुश्किल में पड़ गये । महात्माजी किसी तरह उस रूप में उसको स्वीकार नहीं कर सकते थे, क्योंकि उसमें असत्य की गंध थी । अन्त में, लार्ड अर्विन ने उस वाक्य को बदल दिया और महात्माजी ने इस संशोधित रूप में स्वीकार कर लिया । बात तय हो गई । मैं तो समझौते से खुश था । पंडित जवाहरलालजी को छोड़कर प्रायः सभी सदस्य खुश थे । पंडितजी बहुत दुःखी थे । महात्माजी ने उनको बहुत समझाया, पर उनको सन्तोष न हुआ ।

अबतक सत्याग्रह स्थगित नहीं किया गया था । समझौते की बातचीत चल रही थी और सत्याग्रह भी जारी थी । स्वभावतः बातचीत चलने के कारण सत्याग्रह की

प्रगति धीमी पड़ गई थी; पर इस बीच में भी कई स्थानों में गम्भीर घटनाएं हो गईं। महात्माजी ने वायसराय को उनसे अवगत कर दिया। वायसराय ने उनके सम्बन्ध में पूछ-ताछ करने का वचन भी दे दिया। समझौते पर हस्ताक्षर होते ही वर्किंग कमिटी ने सभी सूबों को आदेश दे दिया कि सत्याग्रह स्थगित कर दिया जाय। गवर्नमेण्ट ने भी कांग्रेस-कमिटियों पर से प्रतिबन्ध उठा लिया।

उन्हीं दिनों मेरे छोटे लड़के धन्नू की शादी की बातचीत चल रही थी। उसके लिए दिन भी मुकर्रर हो गया था। भाई ने वह दिन यह सोचकर मुकर्रर किया था कि उसके पहले ही लार्ड अर्विन से होनेवाली बातचीत समाप्त हो जायगी और मैं शादी में शरीक हो सकूंगा। पर बात बढ़ती गई। ऐसा मालूम होने लगा कि उस दिन तक कुछ तय न हो सकेगा। मैंने खबर दे दी कि यदि बात समाप्त हो जायगी तो मैं आ जाऊंगा, पर यदि न हुई तो मेरे लिए इन्तजार न करके नियत दिन पर शादी कर दी जाय। किन्तु शादी के ठीक दो दिन पहले समझौते पर हस्ताक्षर हो गये। मैं उसी दिन जीरादेई के लिए रवाना हो गया। समझौते की शर्तों में सत्याग्रहियों की रिहाई की बात भी थी। इसलिए, मैंने कुछ मित्रों को, जो हजारीबाग-जेल में थे, आमंत्रित कर दिया था; पर कोई पहुंच न सका। मैं किसी तरह बरात में शरीक हो सका।

मेरा विचार है कि लार्ड अर्विन ने समझौता सच्चे दिल से किया। वह चाहते थे कि जो बातें तय पा चुकी हैं, वे ठीक-ठीक बर्ती जायं और पूरी की जायं। समझौते को सिविल-सर्विस के लोग पसन्द नहीं करते थे। उनके ही बाधा डालने के कारण इसके तय होने में इतना समय लगा था। लार्ड अर्विन ने हिन्दुस्तान में और लेबर गवर्नमेण्ट ने इंगलैंड से इसपर जोर डालकर समझौता कराया। हम आशा करते थे कि एक बार बात तय हो जाने पर सब काम ठीक चलेगा और हम लोग चैन से रचनात्मक काम कर सकेंगे। पर दुर्भाग्यवश लार्ड अर्विन का समय पूरा हो गया था। वह शीघ्र ही, एक-डेढ़ महीने के बाद ही, चले जानेवाले थे। उनकी जगह पर लार्ड विलिंगडन वायसराय होकर आये। वह बम्बई और मद्रास के गवर्नर रह चुके थे। हिन्दुस्तान से उनका बहुत पहले का परिचय था। सिविल सर्विस की गतिविधि से भी वह खूब परिचित थे। उन्होंने आकर सिविल सर्विस का ही साथ दिया। उनके हिन्दुस्तान पहुंचते ही हवा का रूख बदल गया। चूंकि समझौता हो चुका था, उसे खुलेआम तो वह तोड़ना नहीं चाहते थे; पर उनकी शर्तों को पूरी करने में

हर तरह आनाकानी होने लगी ।

हम यह मानते हैं कि यह समझौता बड़े महत्त्व का था । पहली बात तो यह थी कि यह पहला ही अवसर था जब ब्रिटिश गवर्नमेण्ट भारतीय जनता की किसी प्रतिनिधि-संस्था से बातचीत और समझौता करने पर तैयार हुई थी । दूसरी बात यह थी कि नमक के सम्बन्ध में गरीबों को बहुत-सी सहूलियतें मिल गईं । तीसरी बात यह थी कि कांग्रेस को गोलमेज-कान्फ्रेन्स में जाकर विधान-रचना में हाथ बंटाना था । विधान में जो संरक्षण और बचाव की शर्तें अंगरेजों के बचाव और संरक्षण के लिए रखी जानेवाली थीं, वे अब इस दृष्टि से देखी जानेवाली थीं कि वे भारत के लिए भी हितकर हैं या नहीं और वे तभी मानी जानेवाली हों तब जनता के लिए हितकर हों । चौथी बात यह थी कि सारे भारत के लिए एक केन्द्रीय सरकार को कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया था, पर प्रान्तों को अपना प्रबन्ध करने की स्वतन्त्रता होनेवाली थी और इस केन्द्रीकरण में देशी रजवाड़े भी शरीक होनेवाले थे । इस तरह कई बातों का चित्र--धुंधला ही सही--सामने आ गया था । इसलिए, मैं तो इसका पक्षपाती था और इससे सन्तुष्ट भी । अफसोस यही रहा कि ब्रिटिश सरकार की ओर से यह भी, पहले की अनेकानेक घोषणाओं और प्रतिज्ञाओं की तरह, पूरा नहीं किया गया !

: ६५ :

कराची-कांग्रेस

दिल्ली में समझौता हो जाने के बाद कांग्रेस का अधिवेशन करना पक्का हो गया। यह निश्चय हुआ कि अधिवेशन मार्च के अन्दर ही कराची में होगा। समय बहुत कम था। पर कराची के कार्यकर्त्ताओं ने प्रबन्ध करना स्वीकार कर लिया। लाहौर में बहुत सर्दी के कारण निश्चय हुआ था कि अधिवेशन दिसम्बर में न होकर फरवरी या मार्च में हुआ करेगा। इसलिए जो अधिवेशन मामूली तौर पर लाहौर कांग्रेस तक दिसम्बर में हुआ करता था, उसका इस साल मार्च में होना नियमानुकूल ही था। संयोग से समझौता हो जाने के कारण जो अड़चन रास्ते में थी वह भी हट गई। सरदार वल्लभभाई सभापति चुने गये।

लाहौर-षड्यन्त्र के मुकदमा का जिक्र ऊपर आ चुका है। उसकी सुनवाई बहुत दिनों तक चली। उसका अन्तिम फैसला अब हुआ। सरदार भगतसिंह को, उनके कुछ साथियों के साथ, फांसी की सजा मिली। दूसरों को लम्बी-लम्बी कैद अथवा काला पानी की सजा मिली। अनशन के कारण श्री यतीन्द्रनाथ दास की मृत्यु से देश में हलचल मच गई थी। अब इस घटना से और भी खलबली मची। विशेषकर युवक ही इस मुकदमे में अभियुक्त थे। मुकदमे की खबरें बहुत दिनों तक अखबारों में छपती रहीं; क्योंकि मुकदमा बहुत दिनों तक चलता रहा। इससे बहुत लोग इसमें दिलचस्पी लेने लग गये थे। सरदार भगतसिंह ने बड़ी बहादुरी के साथ मुकदमे में भाग लिया था, जिसका असर भी लोगों पर बहुत पड़ा था। इसलिए फांसी की सजा से सारे देश में रोष छा गया। महात्माजी ने लार्ड अर्विन से कहा कि फांसी की सजा को बदलकर कैद या कालापानी की सजा कर दें। लार्ड अर्विन के जाने का समय भी बहुत निकट था। वह महात्माजी की बात न मान सके। उन्होंने तो समझौता ही अपने संगी-साथी अफसरों की राय के खिलाफ किया था, अब यह एक और काम उनकी राय के खिलाफ न कर सके। मामला बहुत दिनों तक यों ही टंगा रहा। लोगों को उम्मीद होने लगी थी कि शायद फांसी से वे बच जायं।

अन्त में लार्ड अर्विन ने गांधीजी से अपनी असमर्थता प्रकट की; पर यह कहा कि यदि वह चाहें तो कांग्रेस के बाद तक वह फांसी रोक देंगे। शायद उनका मतलब

था कि फांसी से क्षुब्ध होकर कांग्रेस शायद समझौते को नामंजूर कर दे अथवा कांग्रेस के समय गांधीजी से कांग्रेस में जानेवाले रूष्ट हो जायं। वह इसे बचाना चाहते थे। पर गांधीजी ने इसे मंजूर नहीं किया। उन्होंने कह दिया कि फांसी से उनको रिहा नहीं कर सकते तो अच्छा यही होगा कि जो कुछ करना हो, कांग्रेस के पहले ही कर दिया जाय; क्योंकि ऐसा न करने से देश और कांग्रेस के साथ धोखा होगा। ऐसा ही हुआ। कांग्रेस के ठीक पहले फांसी हो गई। यह खबर पत्रों में छपी उसके साथ यह खबर भी छपी कि शव के साथ भी बे-उनबानी की गई। इससे लोगों में बहुत क्षोभ पैदा हुआ। युवक लोग गांधीजी से भी असन्तुष्ट हुए। वे लोग यह नहीं समझ सकते थे कि गांधीजी से जो कुछ हो सका, उन्होंने किया और यदि वह सरदार भगतसिंह को न बचा सके तो इसमें उनका दोष नहीं था। कराची के रास्ते में गांधीजी के सामने विरोध प्रदर्शन किया गया। कहीं तो लोग कपड़े के काले फूल, अपना शोक और गुस्सा दिखलाने के लिए, गांधीजी को देने के लिए ले आये। इन्होंने उन फूलों को स्वीकार किया और जरा भी अपनी ओर से क्रोध अथवा घबराहट के चिहन् नहीं दिखलाये।

कराची-कांग्रेस में भी बराबर इसी प्रकार की सनसनी रही। इसका यह अर्थ नहीं था कि लोग गांधीजी के प्रति अनादर का भाव रखते हों। जब सुबह-शाम खुले मैदान में वह प्रार्थना करते, वहां जनता की बड़ी भारी भीड़ इकट्ठी हो जाती। उनके दर्शनों के लिए वैसी ही भीड़ हुआ करती जैसी कहीं भी हुआ करती थी। पर लोगों के दिल को जो चोट पहुंची थी उसके प्रदर्शन का यह एक रास्ता मिल गया, जिससे लोग अपनी मनोव्यथा व्यक्त कर सके, इन मनोव्यथा का एक विशेष कारण था। सरदार भगतसिंह और उनके साथियों की बहादुरी के लिए दर्द था ही, उनके विरूद्ध यह भी अभियोग था कि उन्होंने उस अंगरेज अफसर को मारा था, जिसके सम्बन्ध में समझा जाता था कि उसी ने साइमन-कमीशन के विरूद्ध प्रदर्शन में लाला लाजपतराय पर लाठी चलाई थी, जिससे अन्त में उनकी मृत्यु हो गई थी। जो हो, कराची का अधिवेशन बड़े मार्के का हुआ।

लाहौर में ही निश्चय हुआ था कि जब कांग्रेस फरवरी-मार्च में होगी तो वह संध्या के समय हो सकेगी और इसलिए पंडाल पर छाजन की जरूरत न होगी। इस तरह खुले मैदान में आसमान के नीचे कांग्रेस का यह पहला अधिवेशन था। संध्या

से आरम्भ होकर रात को देर तक बैठक होती। दिन में विषय-निर्वाचिनी की बैठक सायेदार पंडाल में होती। इससे पंडाल बनाने का खर्च बच गया, पर उसके बदले में रोशनी का प्रबन्ध काफी करना पड़ा। दृश्य बहुत सुन्दर था। उस समय बिलकुल नया होने के कारण बहुत हृदयग्राही भी था। उत्साह का तो कोई ठिकाना न था। सत्याग्रह के बाद पहला अधिवेशन था। लोग इस बात को नहीं भूल सकते थे कि सत्याग्रह के फलस्वरूप ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने कांग्रेस के साथ सुलह की है। बहुतेरे ऐसे लोग थे, जो सत्याग्रह में कैद हुए थे और उस सुलहनामे के कारण समय से पहले ही छूटे थे। यद्यपि अभी बहुतेरे नहीं छोड़े गये थे और जिनके छूटने के सम्बन्ध में लिखा-पढ़ी चल रही थी अथवा किसी कारण जिनको सरकार सुलहनामे की शर्तों के अन्दर छोड़ने योग्य नहीं समझ रही थी। तो भी समझौते के कारण मुक्त सत्याग्रहियों की खासी संख्या वहां पहुंच गई थी। लाहौर-षड्यंत्र के अभियुक्तों की फांसी और सजा का भी असर पड़ा ही था। इन सबका नतीजा वहां की बहस और बातचीत में झलक जाता था।

कराची में दो मुख्य प्रस्ताव हुए। एक प्रस्ताव तो समझौता-सम्बन्धी था, जिसमें समझौता मंजूर किया गया। इसपर बहस काफी हुई। समय भी इसमें बहुत लगा। दूसरा प्रस्ताव बड़े महत्त्व का था। उसमें स्वराज्य-प्राप्त भारत के लिए कार्यक्रम का खाका बताया गया था। इसने एक प्रकार से भारतीयों के मौलिक अधिकारों को, जिनमें आर्थिक स्वतन्त्रता की भी कुछ बात आ गई है, पहले-पहल कांग्रेस के मंच से घोषित किया। नेहरू-रिपोर्ट में कुछ बातें इस प्रकार की थीं; पर जितना स्पष्ट और विस्तृत यह खाका था, विशेषकर आर्थिक विषयों को लेकर, उतना नेहरू-रिपोर्ट में नहीं था। इस प्रस्ताव के श्रीगणेश का श्रेय पंडित जवाहरलाल नेहरू को ही है। महात्माजी ने और सरदार वल्लभभाई ने उनकी ही राय मानकर इसे स्वीकार किया। यह एकबारगी नया विषय था, जिसपर बहुत विचार-विमर्श नहीं हुआ था। विषय-निर्वाचिनी के समक्ष भी, जल्दी में और अधिवेशन की समाप्ति के समय ही, पेश हुआ। वहां लोगों को इसकी शिकायत हुई कि इतने बड़े निश्चय पर पहुंचने के पहले प्रतिनिधियों को सोचने-विचारने का पूरा समय नहीं दिया गया। इसलिए प्रस्ताव को कांग्रेस ने स्वीकार तो कर लिया; पर उसके साथ एक बात जोड़ दी। वह बात यह थी कि इस प्रस्ताव पर सभी प्रान्तीय कमिटियां अपने विचार प्रकट करें और एक

उपसमिति उनपर विचार करके अखिल भारतीय कमिटी में उचित संशोधन पेश करे तथा अखिल भारतीय कमिटी इसे उचित संशोधन के साथ अन्तिम स्वीकृति दे ।

करांची–कांग्रेस में यह भी तय हुआ कि गवर्नमेण्ट यदि बुलायेगी तो गोलमेज–कान्फ्रेन्स में कांग्रेस के प्रतिनिधि भी शामिल होंगे । उस समय यह नहीं निश्चय हुआ कि कितने प्रतिनिधि होंगे और इस सम्बन्ध में गवर्नमेण्ट से हमारी क्या मांग होगी । कांग्रेस का पूर्ण–स्वतन्त्रता–सम्बन्धी प्रस्ताव पास हो ही गया था और आगे के लिए विधान कैसा हो, इसका भी थोड़ा स्पष्टीकरण समझौते में तथा कराची के प्रस्तावों द्वारा हो गया था । सोचा गया था कि और जो कुछ होगा उसके मुतल्लिक वर्किंग कमिटी तथा अखिल भारतीय कमिटी आदेश देगी । बातचीत चलने पर महात्माजी की राय वर्किंग कमिटी में हुई कि अगर जाना पड़ा तो कांग्रेस अपना प्रतिनिधि केवल उनको ही भेजे । वहां हाथ गिनकर कुछ होनेवाला नहीं है । यदि वे लोग बात माननेवाले होंगे तो एक आदमी काफी होगा । यदि न माननेवाले होंगे तो भारी भीड़ भी उनको मजबूर न कर सकेगी ।

: ६६ :

तिरंगे झण्डे का राष्ट्रीय रूप

कराची से लौटने पर मेरा बहुत समय उन सत्याग्रहियों के मुक्त कराने के लिए पत्र-व्यवहार में लगा जो अबतक जेलों में बन्द थे । इसी तरह अपने-अपने सूबे में सभी लोगों को बहुत लिखा-पढ़ी करनी पड़ी । समझौते की शर्तों में हमको तो केवल सत्याग्रह बन्द कर देना था । उसे हमने एक घोषणा निकालकर और सभी मातहत कमिटियों को आदेश भेजकर पूरा कर दिया । पर सरकार को तो बहुत बातें करनी थीं । लार्ड अर्विन के चले जाने के बाद उसमें बहुत आनाकानी हुई । महात्माजी तथा कांग्रेस के अध्यक्ष सरदार वल्लभभाई पटेल अखिल भारतीय विषयों पर भारत-सरकार के साथ पत्र-व्यवहार करते रहे । स्थानीय प्रश्नों पर प्रान्ती कमिटी के लोग प्रान्तीय सरकारों से लिखा-पढ़ी और बात-चीत करते रहे । महात्माजी को इस सम्बन्ध में सरकारी कर्मचारियों से भेंट भी करनी पड़ी । मुझे भी अपने सूबे में चीफ सेक्रेटरी मि० हैलेट और प्रान्तीय गवर्नर सर स्टिफेन्सन से भेंट करनी पड़ी थी । बहुत बातों में सफलता भी मिली । पर इसमें इतना समय लगा और इतनी झंझट हुई कि जी ऊब गया । वहां हमने समझा कि जिसको हम स्पष्ट और निश्चित समझते थे, वह किस तरह अस्पष्ट और निश्चित कर दिया जाता था । आज इसके उदाहरण याद नहीं हैं; पर उस समय के समाचार-पत्रों के देखने से यह बात स्पष्ट प्रमाणित हो जायगी । उत्साह की केवल एक ही बात थी; वह यह कि पटना-कैम्प-जेल या दूसरी जेलों से दल-के-दल बन्दी छूटकर सदाकत-आश्रम में आते और एक रात या कुछ समय ठहरकर भोजन आदि करके नेताओं की जय मनाते हुए अपने-अपने घरों को चले जाते थे । घर जाने का रेलभाड़ा वगैरह तो उन्हें सरकार से मिल जाता था, मगर कुछ मदद प्रान्तीय कोष से भी मुझे देनी पड़ी । स्वराज्य के देशभक्त सैनिकों की यह लहर चित्त के उद्वेग को कुछ-कुछ शान्त करती रही ।

कुछ दिनों के बाद बम्बई में वर्किंग कमिटी की बैठक हुई । उस समय एक महत्त्व का प्रश्न यह भी था कि हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न पर कांग्रेस का क्या रूख होगा । कलकत्ता-कांग्रेस के बाद ही बहुतेरे मुसलमान कांग्रेस से अलग हो गये थे । वे

मुसलमानों की अलग संस्था कायम करके अपनी मांगें पेश कर रहे थे। मि० जिन्ना की चौदह मांगें मशहूर हो चुकी थीं। सरकार द्वारा की जानेवाली गोलमेज-कान्फ्रेन्स में शरीक होने के पहले हमें अपने विचार तो साफ कर लेने चाहिए। इस विषय पर उस अधिवेशन में विचार हुआ। मैं बम्बई पहुंचकर बीमार पड़ गया। इसलिए, यद्यपि मैं जिस कमरे में था उसके पास के ही कमरे में बैठक हो रही थी तथापि, मैं शरीक न हो सका। वहांपर यह निश्चय किया गया कि कांग्रेस मुसलमानों तथा दूसरी अल्पसंख्यक जातियों के साथ वैसा ही समझौता कर सकती है, जो राष्ट्रीय भावना का विरोधी न हो--हां, यदि और सब जातियां किसी समझौते को मान लें तो कांग्रेस भी उसे स्वीकार कर लेगी। समझौते के मुख्य सिद्धान्तों की गणना भी संक्षेप में उसमें दे दी गई थी। इसे वर्किंग कमिटी के मुसलमान मेम्बरों ने स्वीकार ही नहीं किया था। उनके ही जोर से वर्किंग कमिटी ने उसे तैयार किया और माना था। वे चाहते थे कि जब दूसरे लोगों ने बहुत बातें कही हैं तो कांग्रेस को भी अपना विचार स्पष्ट कर देना चाहिए, ताकि देश के लोगों को वे बातें मालूम हो जायं और कांग्रेस प्रतिनिधि को जहां मौका मिले वहां उन्हें अधिकारपूर्वक कह सके तथा पेश कर सके।

अखिल भारतीय कमिटी की एक महत्त्वपूर्ण बैठक हुई, जिसमें मौलिक अधिकारोंवाले कराची के प्रस्ताव पर विचार किया गया। सब-कमिटी ने अपना काम पूरा किया था, सभी प्रान्तीय कमिटियों की सम्मति प्राप्त करके अपनी रिपोर्ट तैयार की थी। कोई विशेष महत्त्वपूर्ण संशोधन नहीं हुआ। कुछ मामूली बातें जोड़-घटाकर मौलिक अधिकार उस अधिवेशन में स्वीकृत हो गये।

उस समय एक और झगड़ा चल रहा था। राष्ट्रीय तिरंगा झंडा कभी बाजाब्ता मंजूर नहीं हुआ था; पर १९२१ से ही यह प्रचलित हो गया था। इसमें तीन रंग के कपड़े होते थे। सबसे नीचे लाल, उसके ऊपर हरा और सबके ऊपर सफेद; बीच में चर्खे का चित्र होता। गांधीजी ने और दूसरे लोगों ने तीन रंगों का अर्थ बता दिया था, जिसे सब लोगों ने मान लिया था। लाल रंग हिन्दुओं का सूचक था और उनकी संख्या सबसे अधिक होने के कारण सबके आधार-स्वरूप वही सबसे नीचे था। उसके बाद मुसलमानों की संख्या है, इसलिए लाल के ऊपर उनका हरा रंग आता था। सफेद रंग में और सभी लोग सम्मिलित थे; उनकी संख्या हिन्दू और मुसलमान से कम होने के कारण वह सबसे ऊपर रखा गया था। हम अहिंसात्मक तरीकों के द्वारा ही

स्वराज्य-प्राप्ति करना चाहते थे, इसलिए बीच में उसका चिह्न् चर्खा दिया गया था। इससे सिखों को असन्तोष था। वे कहते थे कि उनके लिए एक अलग रंग होना चाहिए और झंडे में उनको भी स्थान मिलना चाहिए। उन लोगों ने भी राष्ट्रीय आन्दोलन में काफी भाग लिया था। एक जीती-जागती अल्पसंख्यक जाति उनकी है। यद्यपि हिन्दू-महासभा उनको भी हिन्दू ही समझती है और ऐतिहासिक विचार से भी वे हिन्दू-जाति की ही एक उपजाति हैं, तथापि वे अपने को पृथक कहना चाहते थे। इस विषय पर विचार करने के लिए एक सब-कमिटी बनाई गई। उसने अपनी रिपोर्ट पेश की और झंडे के रूप में परिवर्तन हो गया। लाल रंग उठा दिया गया, उसके स्थान पर सुनहला केसरिया रंग कर दिया गया। सबसे नीचे हरा रंग, उसके बाद सफेद रंग और सबसे ऊपर केसरिया रहा। सफेद कपड़े पर चर्खे का चित्र। सबसे महत्त्व की बात यह हुई कि रंगों में जो जातिगत अर्थ लगा दिया गया था, वह हटा दिया गया। अब कोई रंग किसी जाति-विशेष का द्योतक न रहा। इसपर सिख भी राजी हो गये। उनका रंग केसरिया है। यद्यपि वह झंडे की खूबसूरती के लिए लिया गया था, तथापि उनके लिए वह सन्तोषप्रद हुआ। देखने में भी नया राष्ट्रीय झंडा अधिक सुन्दर था। इसलिए इस प्रस्ताव से देश को केवल एक अधिक सुन्दर राष्ट्रीय झंडा ही नहीं मिला; बल्कि रंगों के जाति-विशेष-द्योतक होने से जो एक झगड़ा खड़ा हो गया था, वह समाप्त हो गया और सारे देश के सामने कांग्रेस ने बाजाब्ता अपने प्रस्ताव द्वारा झंडा उपस्थित कर दिया।

मैं इस वर्ष बिहार के कई जिलों में दौरे पर गया। लोगों को रचनात्मक काम में लगाने के विचार से ही यह दौरा किया गया था और इसमें कुछ सफलता भी मिली। एक अनुभव यहां लिख देना अच्छा मालूम होता है। जब मैं १९२१ में संथाल-परगना में गया था तो वहां इतना दमन हुआ था कि मुझे कहीं ठहरने की जगह मिलने में दिक्कत होती थी। वहां के पाकुर कस्बे की घटना का जिक्र पहले कर चुका हूं। इस बार मैं जिले के अन्दर दूर-दूर गांवों तक गया। बड़ा स्वागत-सत्कार हुआ। पाकुर में रात के नौ बजे रेल से उतरा। वहां स्टेशन पर लोगों ने दीवाली मनाई थी। रोशनी के मारे चारों ओर जगमग हो रहा था। बहुत धूमधाम के साथ शहर तक जलूस निकला। वहां के बड़े जमींदारों के यहां मैं ठहराया गया। मैंने उनकी ही मोटर पर सारे जिले का दौरा किया। उन्होंने कहा भी कि यह १९२१ का कुछ प्रायश्चित्त है।

: ६७ :

गोलमेज-सभा में गांधीजी

गोलमेज-कान्फ्रेन्स के दिन नजदीक आ गये, पर अभीतक समझौते की सभी बातें पूरी नहीं हुई थीं, विशेषकर एक बात थी, जिसपर सरदार पटेल का बहुत जोर था। गुजरात के गांवों में जो जमीन जब्त व नीलाम कर ली गई थी, उसके सम्बन्ध में अभीतक जांच का काम आरम्भ नहीं हुआ था। बड़ी कठिनाई सरकार की ओर से पेश की जा रही थी। महात्माजी पत्र-व्यवहार करते-करते ऊब गये थे। इंगलैंड से जोर था कि महात्माजी को जरूर वहां किसी-न-किसी तरह जाना ही चाहिए। महात्माजी को शिमला भी समझौते के सम्बन्ध में जाना पड़ा। मालूम होता था कि इस बार भी कांग्रेस गोलमेज-कान्फ्रेन्स में शरीक न हो सकेगी। अंत में सभी बातें मान ली गईं। देर इतनी हो चुकी थी कि यदि महात्माजी उस सप्ताह के जहाज से रवाना न होते तो वहां पहुंचने में बहुत देर हो जाती। इसलिए महात्माजी को शिमला से ही सीधे बम्बई जाकर जहाज पकड़ना पड़ा। जहाज को भी उनके लिए कुछ देर तक इन्तजार करना पड़ा था। विशेष प्रबन्ध द्वारा बड़ी मुश्किल से वह शिमला से बम्बई पहुंचाये गये।

गुजरात में जांच शुरू हुई। सरदार ने मुझे वहां बुलवा भेजा। मैं गया। बारडोली में जांच हो रही थी। श्री भूलाभाई देसाई जनता की ओर से वकालत कर रहे थे। सरकार की ओर से थे उस जिले के सरकारी वकील। मैं भी जांच-कचहरी में कभी-कभी जाता। कई हफ्तों तक जांच चलती रही। अंत में कुछ सरकारी कागज पेश करने की बात आई, जो पेश नहीं किये गये और हाकिम ने भी इसे मान लिया। श्री भूलाभाई ने उसे इन्साफ का खात्मा समझा और जांच में भाग लेने से इनकार कर दिया। इसके बाद एकतरफा सरदार के पक्ष की रिपोर्ट हो गई। मैं वहां गया था, इस ख्याल से कि सरदार को उनके काम में कुछ मदद दूं। पर उनको मेरी मदद की जरूरत ही न पड़ी। वहां के ही काम करनेवाले काफी रहे। हां, कांग्रेस-प्रेसिडेण्ट की हैसियत से उनके पास जो पत्र आते अथवा प्रश्न पूछे जाते उनके

सम्बन्ध में बातचीत हुआ करती। मैं प्राय; दो हफ्ते तक रहकर वापस चला आया। वहां रहते-रहते मैंने बिहार के पत्रों में कुछ लेख लिखे थे, जिनमें गांधीजी की चम्पारन-यात्रा-सम्बन्धी कुछ बातें थीं।

महात्माजी इंगलैंड पहुंचे। पर उनके वहां पहुंचते-पहुंचते वहां का मंत्रिमंडल बदल गया। अब वेजवुडबेन के स्थान पर सर सेमुयल होर भारत-मंत्री हुए। पर मि० मैकडोलल्ड अपने दल--लेबरपार्टी--के अधिकांश लोगों से अलग होकर प्रधान मंत्री बने रहे। यद्यपि नाम के लिए तो यह सब दलों का मंत्रिमंडल था तथापि वास्तव में यह कान्सर्वेटिव (अनुदार) दल का ही मंत्रिमंडल बना। इसलिए वहां से जो थोड़ी-बहुत उदारता की आशा की जा सकती थी, उसका रास्ता भी बन्द हो गया। गांधीजी ने कांग्रेस की मांग पेश की। उनकी बहुत आवभगत और खातिरदारी भी हुई। पर हिन्दुस्तान के लिए कुछ भी सन्तोषजनक विधान न बन सका। पं० मालवीयजी और श्रीमती सरोजिनी नायडू भी वहां आमंत्रित होकर गये थे। कांग्रेस की ओर से केवल महात्माजी ही थे और उसकी ओर से वही बोलते थे। जैसा बराबर होता आया है, दूसरे लोग सरकार के नामजद थे। चुन-चुनकर ऐसी जमायत जुटाई गई थी, जो कभी एकमत शायद हो ही नहीं सकती थी। महात्माजी ने बहुत प्रयत्न किया कि एक ही कांग्रेसी मुसलमान सही, मगर बुलाया जरूर जाय। पर सरकार इसपर राजी न हुई। शायद दूसरे मुसलमान सदस्यों ने इसका विरोध किया था। वहां इस बात का भी प्रयत्न हुआ कि आपस के झगड़े तय हो जायं, पर वह भी न हो सका। शायद हो भी नहीं सकता था।

एकता तो हुई नहीं, इसके बदले में अंगरेज, मुसलमान और हरिजनों में एक प्रकार का समझौता हुआ। जब आपस में बातें तय न हो सकीं तो मि० मैकडोनल्ड ने साम्प्रदायिक मसले पर अपना फैसला दिया, जिसके द्वारा मुसलमानों की प्रायः सभी मांगें पूरी कर दी गईं। इससे हिन्दुओं और सिखों में बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ। इसमें हरिजनों के लिए भी अलग चुनाव की व्यवस्था थी। महात्माजी ने इसका बहुत विरोध किया था। उन्होंने अपने एक भाषण में यहांतक कह दिया था कि हरिजनों के लिए यदि अलग निर्वाचन-क्षेत्र कायम किये गये और उनको सवर्ण हिन्दुओं के चुनने में अथवा सवर्ण हिन्दुओं को उनके चुनने में भाग लेने का अधिकार न मिला, तो इस प्रकार की अलग निर्वाचन-विधि का वह तीव्र विरोध करेंगे तथा अपनी जान

तक दे देने के लिए तैयार रहेंगे। ब्रिटिश सरकार को कुछ करना तो था नहीं, इसलिए आपस की फूट को बहाना बना लिया। यहां के जो लोग गये थे, इस बात को समझ गये। उन्होंने आपस में राय करके आगाखो को अपना नेता बनाकर एक संयुक्त विधान तैयार कर पेश किया। पर उनकी भी एक न सुनी गई। तब, जैसा ब्रिटिश चाहते थे वैसे ही विधान की योजना बनाने का उन्होंने आपस में निश्चय कर लिया।

यहां हिन्दुस्तान में भी हालत दिन-दिन बदलती-बिगड़ती जा रही थी। हम समझ गये कि गवर्नमेण्ट कोई-न-कोई बहाना खोज रही है, जिसकी आड़ में समझौते को खत्म करके वह कांग्रेस से बदला लेना चाहती है। सिविल-सर्विसवालों की राय तो ऐसी बराबर से ही थी। लार्ड विलिंगडन की भी यही राय थी। इसलिए अब किसी उपयुक्त अवसर का ही इन्तजार था। प्रायः दो बरसों से सभी चीजों का दाम घटता गया था--विशेषकर गल्ले का। इस वजह से किसानों को रूपये मिलने में बहुत कठिनाई हो रही थी। वे लगान अदा नहीं कर सकते थे, क्योंकि इतना पैदा ही नहीं होता था, जिसे बेचकर वे लगान अदा कर सकते और अपना दूसरा जरूरी काम कर सकते। खासकर युक्तप्रान्त की परिस्थिति बहुत नाजुक हो चली थी। १६३० के सत्याग्रह के समय से ही किसानों की हालत खराब हो रही थी और वहां बहुतेरे किसान कांग्रेस से आशा रखते थे कि उनको सहूलियत दिलवाने में कांग्रेस समर्थ होगी। कहीं-कहीं, विशेषकर इलाहाबाद जिले में, लगानबन्दी का आन्दोलन भी चला था। सुलहनामे के बाद अब लगानबन्दी को रोकना था; क्योंकि हमें हर प्रकार के सत्याग्रह को रोक देना था। पर वहां की स्थिति राजनैतिक ही नहीं थी, किसानों का आर्थिक स्थिति इतनी खराब थी कि वे यदि लगान अदा करना चाहते भी तो कर नहीं सकते थे। कांग्रेस सत्याग्रह तो बन्द कर देती, पर उनकी इस आर्थिक असमर्थता को दूर करके उनसे लगान दिलवा देना उसके या किसी के बूते की बात नहीं थी। यदि वह लगान देने को न कहे तो समझा जाता कि समझौते को वह पूरा नहीं कर रही है। इसलिए वहां आवश्यक हो गया कि राजनैतिक और आर्थिक परिस्थिति को बिलगाकर, लगानबन्दी का आन्दोलन--जो सत्याग्रह का अंग था--न चलाकर, किसानों की आर्थिक स्थिति के अनुसार, उनके लिए सहूलियत प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाय। ऐसा ही किया गया, पर सरकार कब इस बात को माननेवाली थी!

उधर जमींदार भी अपनी रकम वसूल किये बिना सन्तुष्ट होनेवाले नहीं थे। गवर्नमेण्ट ने लगान में कुछ माफी दी, पर वह इतनी कम थी कि उससे बहुत सहूलियत नहीं मिली। इसके अलावा किसानों ने जो थोड़ा-बहुत अदाकारी का प्रयत्न किया और कुछ दिया, उसका असर उनके लिए अच्छा न हुआ; क्योंकि जो बाकी रह गया उसी के लिए उनके खेत की जब्ती हो गई और वे अपनी जमीन से वंचित कर दिये गये। पहले का बकाया ज्यों-का-त्यों पड़ा ही रहा। इस बात की बहुत कोशिश की गई कि कुछ और माफी कराकर, लगान घटाकर, उनकी मदद हो। पर पहले तो सरकार कुछ करने पर राजी नहीं होती और अगर राजी भी होती तो वह इतना कम होता कि उससे किसानों के लिए कोई सुविधा नहीं मिलती। पंडित जवाहरलाल, श्री पुरूषोत्तमदास टंडन और उस समय के प्रान्तीय कार्यों के अधिकारी सभापति स्वर्गीय श्री तसद्दुक अहमद शेरवानी ने बहुत प्रयत्न किया कि कुछ हो जाय, पर वे नाकामयाब रहे। कामयाब हों तो कैसे हों? गवर्नमेण्ट कुछ और ही सोच रही थी। वह अगर कुछ करना भी चाहती तो उसे कांग्रेस के आग्रह से नहीं करना था; क्योंकि ऐसा होने से कांग्रेस का प्रभाव किसानों में बढ़ जाता। इसलिए हर तरह से हारकर वहां की प्रान्तीय कमिटी ने निश्चय किया कि वह किसानों को परामर्श दे कि वे अपनी असमर्थता के कारण लगान न दें। यह एक प्रकार से लगानबन्दी का आन्दोलन समझ लिया गया। अखिल भारतीय वर्किंग कमेटी की अनुमति के बिना वह ऐसा नहीं कर सकता थी। इसलिए उसने अनुमति मांगी।

उधर बंगाल में भी विकट परिस्थिति हो गई। वहां की प्रान्तीय सरकार हमेशा क्रांतिकारी दल से आतंकित रहा करती थी और योंही बहुतेरे युवकों को जेलों में बन्द रखती आ रही थी। गांधी-अर्विन-समझौते में सत्याग्रही बन्दियों के छूटने की ही बात हुई थी और उनके ही छूटने में कठिनाई पड़ रही थी। गवर्नमेण्ट की ओर से तरह-तरह के बहाने निकाले जा रहे थे। क्रांतिकारी लोगों का तो कहना ही क्या था! इससे वहां लोग बहुत क्षुब्ध थे। इसी बीच में हिजली-कैम्प-जेल में, जहां क्रांतिकारी नजरबन्द और कैदी थे, एक घटना भी हो गई, जिसमें जेल के अन्दर गोली चली और कुछ बन्दी घायल हुए और शायद एकाध मारे भी गये। इससे और भी खलबली मची। चटगांव में किसी पुलिस-कर्मचारी को एक क्रांतिकारी ने मार डाला। इसमें कोई हिन्दू-मुस्लिम की बात नहीं थी, क्योंकि क्रान्तिकारियों ने कितने

ही हिन्दू-पुलिस-अफसरों को भी मार डाला है । वे किसी भी सरकारी कर्मचारी को उसकी जाति अथवा धर्म के कारण नहीं मारते, बल्कि जिसको देशद्रोही समझते हैं, उसी को मारते हैं, चाहे वह किसी भी जाति व धर्म का हो । पर वहां उसको हिन्दू-मुस्लिम झगड़े का रूप दे दिया गया और वहां के हिन्दुओं के साथ बहुत ज्यादतियां की गईं, जिनमें अंगरेजों और अर्ध-गोरों का भी पूरा हाथ था ।

इन सब बातों से बंगाल में बड़ी खलबली मची थी । सरकार नये आर्डिनेन्स निकालने मे हिचक रही थी । बंगाल-प्रान्तीय राजनैतिक सम्मेलन, ब्रह्मपुर (मुर्शिदाबाद) में, वयोवृद्ध प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता श्री हरदयाल नाग के सभापतित्व में हुआ । सरदार पटेल ने श्री अणे और मुझको कांग्रेस की ओर से वहां भेजा । हम लोगों ने सम्मेलन में शिरकत की और मैंने बंगाल में भाषण भी किया । इसी प्रकार सीमाप्रान्त की हालत भी कुछ अच्छी नहीं थी । वहां भी दमन चल रहा था । इस तरह जैसे-जैसे गोलमेज-कान्फ्रेंस का काम समाप्त होने पर आ रहा था वैसे-वैसे यहां की परिस्थिति और भी कठिन होती जा रही थी । हम समझ रहे थे कि अब मामला फिर बिखरेगा और झगड़ा फिर होगा ।

जब वर्किंग कमिटी के सामने युक्तप्रांत की दर्खास्त पर विचार होने लगा तो हम लोगों ने अपनी बड़ी जवाबदेही महसूस की । अभी तक गांधीजी लौटे नहीं थे । उनकी गैरहाजिरी में लगानबन्दी आरम्भ करना हमारे लिए कहांतक उचित होगा और यदि उचित भी हो तो हम कहांतक उसे चला सकेंगे--इत्यादि, हर पहलू से कई दिनों तक हम लोग विचार करते रहे । मेरे मन में सन्देह था कि वहां की जनता उस दमन को बर्दाश्त कर सकेगी या नहीं, जो लगानबन्दी के कारण अवश्य होगा । बिहार में चौकीदारी-टिकस एक मामूली टिकस है, जो किसीपर भी १२ रूपये सालाना से अधिक नहीं हो सकता है तथा मामूली तरह से गरीबों पर छः या बहरा आना सालाना होता है--मामूली किसानों पर एक-डेढ़ रूपया अथवा इससे कुछ ज्यादा, हैसियत के मुताबिक, हुआ करता है । इसके बन्द करने पर जितनी ज्यादतियां हुई थीं, मैंने अपनी आंखों गांवों में जा-जाकर देखी थीं । अभी एक बरस भी नहीं बीता था कि यह सब देखने को मिला था । इससे मैं बहुत डरता था कि लगान-बन्दी करने की बात बड़ी गम्भीर हुआ करती है । जमींदार का लगान बन्द होने से वह सरकारी मालगुजारी नहीं दे सकेगा । इसलिए सरकारी आमदनी का एक बहुत बड़ा अंश रूक जायगा और

सरकार को भी अपना काम चलाने में अड़चन पड़ेगी। इसलिए इसके बन्द किये जाने पर सरकार की ओर से भी बड़ी सख्ती होगी। मैंने इन्हीं कारणों से बार-बार इस बात को पूछा कि जनता कहांतक दमन बर्दाश्त करने के लिए तैयार होगी। इसका कोई उत्तर निश्चयात्मक रूप से तो दिया नहीं जा सकता था; पर वहां के भाइयों ने इस बात का आश्वासन दिया कि जनता बहुत हद तक मुसीबत बर्दाश्त करने के लिए तैयार है।

सरदार पटेल का विचार था कि जब वहां की प्रान्तीय कमिटी और प्रमुख लोग वहां की परिस्थिति ऐसी समझते हैं कि इसके सिवा दूसरा कोई चारा नहीं, और इसके कारण जो दमन होगा उसे भी बर्दाश्त करने के लिए जनता को तैयार मानते हैं, तो हम लोग अखिल भारतीय वर्किंग कमिटी के मेम्बर किस तरह अनुमति देने में आनाकानी कर सकते हैं। अन्त में बहुत सोच-विचारकर, बहुत प्रतिबन्धों के साथ, अनुमति दी गई। वह भी, अभी तुरन्त लगानबन्दी करने की नहीं, तैयारी करने की। सरकार तो इसीकी ताक में बैठी थी। उसने तुरन्त ही कार्रवाई शुरू कर दी। असल बात तो यह थी कि गल्ले की कीमत इतनी गिर गई थी कि लगान अदा करना ही असम्भव था। इस बात को कुछ दिनों के बाद वहां के गवर्नर हेली साहब ने खेले तौर पर स्वीकार भी किया। उन्होंने यहांतक कह डाला कि जबतक इस विषम लगान-कानून का मौलिक सुधार न होगा, समाज का सारा संगठन डावांडोल रहेगा। पर उस समय कांग्रेस को दबाना ही मंजूर था; दूसरी कार्रवाई शुरू कर दी गई।

: ६८ :

: ६८ :

सरकार का भयंकर दमन-चक्र

गोलमेज-कांफ्रेंन्स का काम समाप्त होते ही गांधीजी निराश होकर, हिन्दुस्तान के लिए रवाना हो गये । उनके भारत पहुंचने के दिन बम्बई में वर्किंग कमिटी की बैठक रखी गई । सब लोग अपने-अपने सूबे से बम्बई के लिए रवाना हुए । बंगाल में दमन-चक्र चल रहा था । इसी बीच सीमाप्रान्त में भी खान अब्दुलगफ्फारखां, डाक्टर खानसाहब और दूसरे नेता एकाएक गिरफ्तार कर लिये गये । वे अपने सूबे से बाहर नजरबन्द करके जहां-तहां भेज दिये गये । युक्तप्रान्त में श्री पुरूषोत्तमदास टंडन और शेरवानी साहब भी गिरफ्तार हो गये । हम जिस गाड़ी से जा रहे थे, उसी से पंडित जवाहरलालजी भी बम्बई जा रहे थे । डाकगाड़ी, प्रयाग से थोड़ी ही दूर पर, एक छोटे स्टेशन पर ठहर गई । वहां पहले से मोटर लेकर पुलिसवाले पहुंचे थे । पंडितजी वहीं गिरफ्तार कर लिये गये । हम लोग सीधे बम्बई चले गये ।

बम्बई में महात्माजी के स्वागत की बड़ी तैयारी थी । जिन रास्तों से उनको जाना था, उनके सब मकान जन-समूह से खचाखच भरे थे । सड़कें भी लोगों से भरी थीं । इस तरह की भीड़ शायद ही किसी दूसरे अवसर पर किसी को देखने के लिए इकट्ठी हुई हो । निश्चित स्थान पर पहुंचते ही गांधीजी से सभी बातें कही गईं । वह भी समझ गये कि सरकार अब दमन खुले तौर पर करना चाहती है । वर्किंग कमिटी की बाजाब्ता बैठक हुई । तत्कालीन परिस्थिति-सम्बन्धी एक लम्बा प्रस्ताव स्वीकार किया गया । गांधीजी ने वायसराय को तार दिया, जिसमें प्रस्ताव का सारांश बताया और उनसे मुलाकात की अनुमति मांगी । यह सब हो जाने पर हम सब अपने-अपने स्थान के लिए रवाना हुए ।

जब मैं रवाना होते समय महात्माजी से अन्तिम बिदाई लेने गया तो देखा कि मिस्टर बेन्थल उनसे बातें कर रहे हैं । वह भी गोलमेज-कान्फ्रेन्स में हिन्दुस्तान के अंगरेजों के प्रतिनिधि होकर गये थे । वहां पर उन्होंने मुसलमानों और अंगरेजों का गठबन्धन कराने की बहुत-सी कार्रवाइयां की थीं । हम लोग तो समझ गये थे कि अब कुछ होनेवाला नहीं है--बहुत शीघ्र दमन होगा और कांग्रेस को मजबूर होकर फिर सत्याग्रह करना पड़ेगा । हम लोगों में से किसी की इच्छा नहीं थी सत्याग्रह आरम्भ

किया जाय--न इसके लिए तैयारी थी और न मानसिक तत्परता ही । हां, हमारे मान्य साथियों को सरकार ने अकारण गिरफ्तार कर लिया था; उनके सम्बन्ध में पहले वायसराय से बातचीत करना जरूरी था । और, जब ऐसी ही मजबूरी हो तो कुछ करना भी लाजिम था । पर गांधीजी के हिन्दुस्तान लौटने के पहले से ही यहां की सरकार ने सब तैयारियां कर ली थीं । उसकी ओर से वार भी हो चुका था । उसकी तैयारियों की कुछ खबर हम लोगों को पहले से ही इधर-उधर से मिल गई थी । यहांतक कि डाक्टर अंसारी को इसका भी पता चल गया था कि किस प्रकार के आर्डिनेन्स जारी किये जायंगे । उन्होंने ये बातें आपस के लोगों को बता दी थीं । अब तो बात और स्पष्ट हो गई थी ।

बम्बई से चलकर मैंने सोचा कि अब तो बिहार में भी दमन होगा ही, इसलिए अपने लोगों से एक बार मिल लेना अच्छा होगा । इटारसी जंकशन से मैंने कई तार भेजे, जिनमें बिहार प्रान्तीय वर्किंग कमिटी की बैठक पटने में करने की बात के अलावा उसके सदस्यों के लिए निमंत्रण भी थे । जब दूसरे दिन सवेरे पटने पहुंचा तो मालूम हुआ कि वहां तार पहुंचा ही नहीं है । तारों को सरकार ने रोक लिया था । तब भी कुछ लोग पटना पहुंच ही गये । वहां वर्किंग कमिटी की बैठक भी हमने कर ली । उसी रात को महात्माजी की गिरफ्तारी हो गई थी । उनके साथ सरदार वल्लभभाई तथा दूसरे कई प्रमुख कांग्रेसी नेता गिरफ्तार कर लिये गये थे । यह सब हम अखबारों में देख चुके थे और समझ गये थे कि अब हम लोगों की गिरफ्तारी भी शीघ्र हो ही जायगी । इसलिए पटने में पहुंचते ही हमने वर्किंग कमिटी का काम कर लिया । सब लोगों के लिए आदेश तैयार करके उसे छपवाने का भी प्रबन्ध कर दिया । यह सब काम पूरा करके हम जबतक तैयार हुए तबतक पुलिस के आने की सूचना मिली । वह अभी सदाकत-आश्रम तक पहुंची नहीं थी, पर आ ही रही थी । हम भी गिरफ्तार होने का इन्तजार करने लगे । श्री रामदयालुबाबू, प्रोफेसर अब्दुल बारी तथा दो-एक और सदस्य काम खत्म करके चले जा चुके थे । तिरहुत के कुछ सदस्य दोपहर के स्टीमर से दीघाघाट तक आये थे, मगर जेल से बाहर रहकर कांग्रेस का काम करते रहने के ख्याल से उधर ही रह गये ।

पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट कई सशस्त्र सिपाहियों के साथ आ धमके । आश्रम को उन्होंने घेर लिया । हम दो-चार आदमी जो बैठे थे उनसे वे पूछने लगे कि क्या हम

वर्किंग कमिटी की बैठक कर रहे हैं। हमने स्पष्ट कह दिया कि वह काम पूरा हो चुका और बहुतेरे सदस्य जहां-तहां चले गये। उन्होंने सरकारी विज्ञप्ति दिखाई, जिसके द्वारा कांग्रेस-कमिटी और उसकी सभी शाखाएं गैरकानूनी करार दी गई थीं। पुलिस ने पहले तो टेलीफोन अपने कब्जे में किया। फिर राष्ट्रीय झण्डे के स्थान पर अपना--ब्रिटिश सरकार का--झण्डा लगा दिया। तब वहां की तलाशी शुरू की। तलाशी में कोई खास चीज तो मिली नहीं, पर उसमें कई घंटे लग गये। हम सब गिरफ्तार कर लिये गये; पर अभी वहीं रहे। प्रायः दिन के एक-दो बजे से रात के आठ बजे तक हम सब वहीं रहे। आश्रम और विद्यापीठ की सभी इमारतें जब्त कर ली गईं। विद्यापीठ के जितने विद्यार्थी और शिक्षक वहां थे, सबको चले जाने की आज्ञा हुई। सर्वश्री व्रजकिशोरप्रसाद, मथुराप्रसाद, कृष्णवल्लभ सहाय, जगतनारायण बी० एस-सी० और मैं तथा प्रजापति मिश्र भी गिरफ्तार कर लिये गये। रात में नौ बजे हम लोग बांकीपुर-जेल पहुंचाये गये। पुलिस की लारी में अपना सामान लेकर हम सब सवार हुए। पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट भी साथ ही जेल में पहुंचे। अपना-अपना बिस्तर, बक्स वगैरह सब सामान हम लोगों को स्वयं उतारना और ढोना पड़ा। सुपरिण्टेण्डेण्ट की यही आज्ञा थी।

रात को एक गन्दे 'वार्ड' में, जो खाली रखा गया था, हम लोग बन्द कर दिये गये। बिछाने को कुछ कम्बल मिले। खाने के लिए बाजार से पूरी मंगा दी गई। वहां पेशाब की इतनी बदबू थी कि हम रात-भर चैन से सो न सके। बाजार की पूरी भी कुछ वैसी ही थी जो रूचि से खाते न बनी। दूसरे दिन सवेरे अंगरेज सिविल सर्जन, जो जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट थे, आये। उन्होंने कहा कि यदि हम चाहें तो अपना भोजन बाहर से मंगवा सकते हैं। हम लोगों ने कह दिया कि जो कुछ जेल से मिलेगा वही हम लोग खायंगे। वही लोहे का तसला और वही खाना मिला जो सब कैदियों को मिलता है। हम लोगों ने उसे ही खाया। दो दिनों के बाद गवर्नमेण्ट का हुकुम आया कि हम लोग 'अपर डिवीजन' (ऊंचे दर्जे) के कैदी समझे जायं। तबसे कुछ अलग खाना मिलने लगा। दूसरे दिन से ही हम एक दूसरे वार्ड में ले जाकर रखे गये। जेल में ही हम लोगों पर मुकदमा चलाया गया। व्रजकिशोरबाबू को पांच महीने और बाकी सबको छः महीनों की सजा मिली। चन्द दिनों के बाद हम सब हजारीबाग-जेल भेज दिये गये। वहीं हमने अपनी मियाद पूरी की।

हम लोग तो गिरफ्तार हो गये, इसलिए बाहर के आन्दोलन में कुछ भी भाग न ले सके; पर बाहर के लोगों ने बहुत काम किया । लार्ड विलिंगडन ने डींग मारी कि दो सप्ताहों में वह सारा मामला खतम कर देंगे, पर यह आन्दोलन भी प्रायः दो बरसों तक चलता रहा । उस समय तो लोगों में बहुत ही उत्साह था । न मालूम कहां से नये नेता निकल आये, जिन्होंने अपने-अपने ढंग के कार्यक्रम भी बना लिये और कानून-भंग का काम जोरों से चलने लगा । कानून तोड़ने में विशेष कठिनाई भी न थी । सरकार की ओर से सभी जगहों से सभा, जलूस इत्यादि की मनाही थी । इस हुकुम का विरोध होने लगा, सभाएं होने लगीं, जलूस निकलने लगे । सभाओं और जलूसों पर लाठियां चलतीं--कहीं-कहीं गोलियां भी चलतीं; पर वे होते ही रहे । सभी कांग्रेस-कमिटियों के मकानों और आश्रमों को सरकार ने जब्त कर लिया था । उनपर लोग धावा करते, और जैसे बीहपुर (भागलपुर) के आश्रम पर पिछले सत्याग्रह में बराबर धावे होते ही रहे वैसे ही अनेक आश्रमों पर धावे होने लगे । सदाकत-आश्रम पर भी रोज-रोज धावे होते रहे और लोग गिरफ्तार भी होते रहे । यहां के झंडे पर खास हमला होता रहता । 'यूनियन जैक' लगे हुए लग्गे को लोगों ने आखिर झुकाकर ही छोड़ा ।

यह वार सरकार ने ४ जनवरी को आरम्भ किया था । थोड़े ही दिनों बाद २६ जनवरी को स्वतन्त्रता-दिवस मनाने का निश्चय लोगों ने कर लिया । उस दिन कई जगहों में गोलियां चलीं । मोतीहारी में वहां की जिला-कमिटी के मकान के सामनेवाले मैदान में बड़ी सभा हुई, जिसमें गांवों से भी बहुत लोग आये थे । वहांपर गोली चली और कई आदमी मारे गये, पर लोग हटे नहीं । आज भी उस स्थान पर शहीदों के नाम पर चबूतरा बना हुआ है । अन्त में गोली चलाना बन्द कर जब पुलिसवाले चले गये, तब भी जनता वहां डटी रही । रात को वहीं रहकर लोगों ने उसी स्थान पर लिट्टी लगाकर खाया । दूसरे दिन जहां-तहां गांववाले चले गये । मुंगेर जिले के तारापुर और बेगूसराय में भी बहुत लोग गोलियों के शिकार हुए । एक विद्यार्थी ने गोली खाकर मरते दम ये शब्द कहे--"मैं स्वराज्य के लिए मर रहा हूं, लोकमान्य तिलक के निकट पहुंचकर सन्देश कहूंगा ।" इस तरह की बहादुरी अनेकानेक जगहों के लोगों ने बिहार में दिखलाई । फिर १६३० की तरह सूबे-भर के सभी जेलखाने भर गये और पटना-कैम्प जेल भी । १६३० से इस बार यही फर्क था कि जेलों में अधिक सख्ती

हो गई । 'अपर डिवीजन' में बहुत थोड़े लोग रखे गये । बिहार में ऐसे लोग यों तो पहले भी कम ही थे; पर इस बार उनकी संख्या और भी कम हो गई । गवर्नमेण्ट जितनी जल्दी और तेजी से आन्दोलन बन्द करना चाहती थी, न कर सकी, वह चलता ही रहा । हम लोग हजारीबाग में उसी तरह दिन बताने लगे । नई बात यह हुई कि इस बार हम लोगों को कारखाने में जाने की इजाजत नहीं मिली; क्योंकि समझा जाता था कि वहां मामूली कैदियों से हमारी मुलाकात होगी और हम उनको बिगाड़ या बहका देंगे । इसलिए हम इस बार उस तरह का कुछ काम नहीं कर सके; पर सूत अधिक काता गया । धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन भी खूब हुआ--कुरान शरीफ, बौद्धधर्म के ग्रन्थ, बाइबिल आदि भी पढ़े गये ।

इस बार की जेल-यात्रा में एक अद्भुत घटना हुई । श्री महामायाप्रसाद एक बहुत स्वस्थ युवक थे । वह बहुत कसरत वगैरह किया करते थे । हम लोगों के भोजन की देख-रेख उन्हीं के जिम्मे थी । एक दिन अप्रैल में, जब गर्मी काफी हो गई थी, वह चौके से दोपहर को आये । तबीयत कुछ सुस्त हो गई थी । सबने समझा कि कोई मामूली-सी बात होगी । दूसरे दिन से आहिस्ता-आहिस्ता उनकी बोली बन्द होने लगी । दिन में वह इस तरह बन्द हो गई कि 'आ-आ ऊं-ऊं' भी नहीं कर सकते थे । जो कुछ कहना होता, लिखकर बताते । बातें सुनते-समझते थे, पर बोल नहीं सकते थे । वहां के डाक्टरों और सिविल सर्जन ने देखभाल की, पर कुछ कर न सके । उनकी मीयाद भी पूरी हो चली थी । इसलिए वह छोड़ दिये गये । कलकत्ते में वह इलाज कराने गये । वहां के डाक्टरों और वैद्यों की हजार कोशिश के बाद भी उनकी आवाज न खुली । सभी लोग कहते थे कि आवाज की नली में कोई असर नहीं है, पर तो भी आवाज निकलती नहीं । यही कैफियत प्रायः दो बरसों तक रही । जब १९३४ में डाक्टर अंसारी यूरोप गये, वह भी उनके साथ गये । वहां वियना (आस्ट्रिया) में एक विशेषज्ञ ने इलाज किया, जिससे एक-दो हफ्तों के अन्दर ही आवाज कुछ-कुछ निकलने लगी । कुछ दिनों बाद पूरे स्वस्थ होकर वह स्वदेश वापस आ गये । बाद में उनकी आवाज पूर्ववत हो गई । बड़ी-बड़ी सभाओं में भी वह भाषण करते हैं और उनकी आवाज सब लोगों तक पहुंच जाती है ।

इस प्रकार, सब तरफ कानून-भंग चल ही रहा था कि एक विचित्र बात कांग्रेस

के अधिवेशन के सम्बन्ध में हुई। ऊपर कह चुका हूं कि इस बार सरकार ने गिरफ्तारियां ४ जनवरी को ही आरम्भ कर दी थीं। कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन मार्च में होनेवाला था। उत्कल (उड़ीसा) के लोगों ने कांग्रेस को आमन्त्रित किया था। वे तैयारियां भी कर रहे थे। जब एकाएक वार शुरू हो गया तो वहां के लोग भी गिरफ्तार हो गये। बिहार और उड़ीसा एक ही (सम्मिलित) प्रान्त थे। इसलिए वहां के भी प्रमुख कांग्रेसी लोग, जो अपर-डिवीजन में थे, हजारीबाग ही आ गये और हम सब साथ ही थे। उड़ीसा में अधिवेशन होने की बात तो अब थी नहीं; पर जो लोग बाहर थे, उन्होंने सोचा कि अधिवेशन मार्च में कहीं-न-कहीं अवश्य होना चाहिए। सरकार तुली हुई थी कि अधिवेशन वह किसी तरह न होने देगी। लोगों ने निश्चय किया कि अधिवेशन दिल्ली में होगा। उसके लिए दिन भी नियत करके घोषित कर दिया गया। पंडित मदनमोहन मालवीय का सभापतित्व भी घोषित हो गया। बहुतेरे लोग भिन्न-भिन्न सूबों से, किसी-न-किसी तरह, नियत दिन के पहले ही, दिल्ली पहुंचकर जहां-तहां, ठहर गये। लोगों ने इस बात की भी घोषणा कर दी कि नियत तिथि पर, १० बज़े दिन को, घंटाघर के सामने, चांदनी चौक में अधिवेशन होगा। मालवीयजी दिल्ली के लिए रवाना हुए। वह सीधे रेल से दिल्ली तक नहीं गये, कहीं रास्ते में मोटर पर हो लिये। गाज़ियाबाद और दिल्ली के बीच में वह गिरफ्तार कर लिये गये। इसकी भी सूचना लोगों को मिल गई। ठीक अधिवेशन के दिन भीतर-भीतर यह खबर उड़ा दी गई कि चांदनी चौक में अधिवेशन न होकर कहीं नई दिल्ली में होगा। यह खबर इस तरह फैलाई गई कि पुलिस को इसीपर विश्वास हो गया। इसलिए उस दिन पुलिस की तैयारी चांदनी चौक में न होकर उस दूसरे स्थान में रही। ठीक समय पर बाहर से आये हुए प्रतिनिधि, जो घंटाघर के पास की गलियों में जहां-तहां थे, चारों ओर से निकल आये। वे घंटाकर के समाने बीच सड़क पर ही जमा हो गये। कांग्रेस के नियमानुसार मनोनीत सभापति चुने गये। उनका छोटा-सा भाषण हुआ। एक समयानुकूल प्रस्ताव बाजाब्ता पेश हुआ और सबने मंजूर किया। यह हो ही रहा था कि पुलिस को इसकी खबर मिल गई। घुड़सवार और दूसरे जत्थे, जो लारियों पर सवार थे, वहां पहुंच गये और उपस्थित लोगों को लाठियों द्वारा तितर-बितर कर दिया। पर इसके पहले ही सारी कार्रवाई खत्म हो चुकी

थी। यह खबर अखबारों में छपी। लोगों का इससे बड़ा मनोविनोद रहा। इत्तफाक से सेठ रणछोड़दास गिरफ्तार भी न हुए। मालूम नहीं कि सचमुच उस नाम के सेठ सभापति हुए थे या योंही उनका नाम घोषित कर दिया गया। पर इतना ठीक है कि यह अधिवेशन कांग्रेस के बाजाब्ता अधिवेशनों में नहीं गिना गया। दूसरे अधिवेशनों के सभापतियों की तरह इसके सभापति को अखिल भारतीय कमिटी की आजीवन सदस्यता नहीं मिली।

इस बार देश ने कांग्रेस का पूरा साथ दिया। सरकार ने पिछली बार ही देख लिया था कि धन की मार बहुत जबरदस्त होती है। इसलिए इस बार बड़ी-बड़ी रकमों के जुर्माने हुए। कांग्रेस की सारी सम्पत्ति जब्त कर ली गई। कांग्रेस का मकान तो कहीं था ही नहीं, बैंकों में जो कुछ कांग्रेस के हिसाब में जमा मिला, वह भी जब्त हुआ। पर कांग्रेस का बहुत-कुछ सरकार को मिला नहीं। सरकार तथा दूसरे लोगों का भारी भ्रम है कि कांग्रेस के पास बहुत रूपये हैं और वह रूपयों के बल से काम करा लेती है। १६२१ में एक बार कांग्रेस ने बड़ी रकम जमा की थी। वह राष्ट्रीय शिक्षा और खादी में बहुत-कुछ खर्च हुई। इसके अलावा कांग्रेस के संगठन में भी खर्च हुआ। उसके बाद सभी प्रांतों की कमिटियां अपनी जरूरत के अनुसार खर्च जमा कर लिया करती हैं। वह रकम बहुत बड़ी नहीं होती। यदि कांग्रेस के सामने कोई काम आ जाता है तो वह उसके लिए तत्काल पैसे जमा कर लेती है। पर कांग्रेस की किसी भी कमिटी के पास बहुत रूपये नहीं जमा रहते। हां, जहां-तहां छोटे मकान कांग्रेस के हो गये हैं। पर इतना ठीक है कि जब जैसी जरूरत होती है, जनता से पैसे मिल जाते हैं। जहां कांग्रेस का संगठन अच्छा है--कार्यकर्त्ताओं के प्रति लोगों में श्रद्धा और विश्वास है--लोगों के पास पैसे हैं, वहां अधिक पैसे मिल जाते है; पर जहां इनमें किसी बात में कमी है, वहां कम मिलते हैं।

गांधीजी का विश्वास है और इसी नीति पर वह चलते हैं कि सार्वजनिक संस्था को अपने खर्च के लिए धन इकट्ठा करके जमा नहीं रखना चाहिए; आवश्यकतानुसार पैसे जमा करके काम चला लेना चाहिए। इससे वह संस्था निरंकुश नहीं हो सकती; क्योंकि यदि उसने काम ठीक नहीं किया तो वह अपनी लोकप्रियता खो बैठेगी और पैसे नहीं मिलेंगे; इस तरह उस संस्था को अपने जीवन के लिए जनता पर निर्भर

रहना पड़ता है और वह अपने कर्तव्य को ठीक निबाहने पर ही जीवित रह सकती है। मेरे अनुभव ने इस बात को अक्षरशः सत्य साबित पाया है। हमारा प्रान्त एक गरीब सूबा है। बड़े-बड़े जमींदारों से कांग्रेस का सम्बन्ध नहीं के बराबर रहा है। पर जब कभी जरूरत पड़ी है, मध्यम वर्ग के लोगों ने आवश्यकतानुसार हमें धन दिया है। मैं मानता हूं कि धन-संग्रह में हमारी शक्ति और हमारा समय बहुत व्यय होता है और यदि इस चिन्ता से हम मुक्त रहते तो शायद काम अधिक कर सकते। काम करनेवाले बहुत रहे हैं--अच्छे समझदार और कांग्रेस के सच्चे अनुयायी; पर रूपयों की कमी के कारण उनको हम आश्रमों में रहने तक के लिए भी खर्च नहीं दे सकते हैं, उनके बाल-बच्चों और घरवालों के लिए कौन कहे ! बहुतेरे तो इस मजबूरी से दुःख के साथ कभी-कभी अपनी रोटी की फिक्र में कांग्रेस के काम से अलग भी हुए हैं। यह सब होते हुए भी, मैं समझता हूं कि धनाभाव से हमारा काम कभी रूका नहीं है। इस प्रकार से हमारी गरीबी हमारी सहायक भी रही है। गरीब सूबे की प्रान्तीय कमिटी वहां के जनसाधारण का प्रतिनिधित्व गरीब रहकर ही कर सकती है। इसलिए मैं यह भी मानता हूं कि हम अपने सूबे के ठीक प्रतिनिधि रहे हैं।

यहां मैं एक आवश्यक--पर अप्रस्तुत--विषय की आलोचना में बहक गया। जो हो, हमारे सूबे में सरकार को कांग्रेस के हिसाब में अधिक धन नहीं मिला। पर हमारे मकान सभी जब्त रहे। जब वे हमें वापस मिले, बहुतेरों की हालत रद्दी हो गई थी।

सरकार ने इस बार कांग्रेस या उसके किसी कार्यकर्ता को आर्थिक या किसी तरह की मदद देना जुर्म बना दिया था। कई नये आर्डिनेन्स बन गये थे, जो मामूलीतौर पर लड़ाई के दिनों में ही और मुल्कों में बना करते हैं। इसलिए हमारे बाहर रह जानेवाले कार्यकर्ताओं को बहुत जगहों में किराये पर भी मकान नहीं मिलते थे। सवारी भी जल्दी न मिलती। बहुत आतंक फैलाने का प्रयत्न किया गया, पर काम रूका नहीं; क्योंकि जनता बराबर मदद करती रही। और, कुछ लोग ऐसे थे; जो अखिल भारतीय कमिटी के दफ्तर को अपने हाथ में रखकर सारे देश में समय-समय पर आदेश पहुंचाते तथा सभी जगहों की कार्रवाई की खबर लेते रहे।

इस तरह, यद्यपि कांग्रेस गैर-कानूनी संस्था हो गई, जिसके न घर थे, न दफ्तर, न पैसे, न सदस्य और न पदाधिकारी, तो भी जैसे किसी गुप्त स्थान से भूर में पानी निकलता ही रहता है वैसे ही कांग्रेस का कार्यक्रम भी कहीं गुप्त स्थान से निकल ही आता और उसको पूरा करनेवाले भी यथास्थान और यथासमय मिल ही जाते। लार्ड विलिंगडन की वह मदपूर्ण धमकी कि कांग्रेस दो हफ्तों में समाप्त कर दी जायगी, पूरी नहीं हुई। हजारीबाग-जेल के अन्दर इतनी कड़ाई थी कि खान अब्दुल गफ्फारखां और डाक्टर खानसाहब उसी जेल में थे, पर हम लोगों से उनकी एक बार भी मुलाकात न हुई।

: ६६ :

हरिजनों के लिए गांधीजी का अनशन

छह महीनों की सजा काटकर मैं हजारीबाग से रिहा हो गया। कुछ घंटों के लिए मुझे हजारीबाग शहर में ठहरना था। उसी समय मुझे जोरों से जाड़ा-बुखार आ गया। मुझे कुछ ठहर जाना पड़ा। जब कुछ स्वस्थ होकर मैं पटने आया तब भी बीमार ही था और कमजोरी तो बेहद थी। मैंने कुछ अच्छा होकर बाहर की परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त किया। अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी के कार्यकर्ताओं से मेरी मुलाकात हुई। सूबे में भी जो बाहर थे, उनसे भेंट हुई। मुझसे जो कुछ हो सका, मैंने मदद भी की; पर काम चलाने का भार मैंने अपने ऊपर नहीं लिया, जो लोग चला रहे थे उन्हींपर रहने दिया। अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के काम में ही मैंने अधिक दिलचस्पी ली और समय दिया। मैं काशी में पंडित मालवीयजी से जाकर मिला और वहां कई दिनों तक ठहरा रहा। फिर बम्बई भी गया और कलकत्ते भी। सभी जगहों में कार्यकर्ताओं में मिला और यथासाध्य रूपये जमा करने में उनकी कुछ मदद की। अभीतक पूरा स्वस्थ नहीं हो पाया था, पर ऐसा बीमार भी न था कि काम रूक जाय।

मैं मानता था कि मुझे बाहर नहीं रहना चाहिए और सोच भी रहा था कि कोई उपयुक्त अवसर मिले तो फिर जेल-यात्रा करूं। इतने ही में एक दिन अखबारों में महात्माजी के अनशन की बात पढ़ी। हम जबसे बम्बई में गांधीजी से मिलकर अलग हुए थे, उनकी कोई खबर हमको नहीं मिली थी। पर सरकार के साथ उनका कुछ दिनों से पत्र-व्यवहार चल रहा था। पहले कह चुका हूं कि गोलमेज-कांफ्रेंस में उन्होंने अस्पृश्य वर्ग के लिए अलग चुनाव-क्षेत्रों का प्राणपण से तीव्र विरोध किया। मि० मैकडोनल्ड ने अपने फैसले में अलग क्षेत्र कायम करने की बात कंह दी थी। महात्माजी ने अपने उसी भाषण की याद दिलाते हुए कहा था कि सरकार इस फैसले को नहीं बदलेगी तो वह आमरण अनशन करेंगे, इसलिए सरकार के न मानने पर उन्होंने अनशन आरम्भ कर दिया। सरकार ने सारा पत्र-व्यवहार प्रकाशित कर दिया और उसके प्रकाशित होते ही देश-भर में बड़ी सनसनी पैदा हो गई।

महात्माजी यरवदा-जेल में थे। वहीं अनशन आरम्भ हुआ। मैं खबर पाते ही बम्बई पहुंचा। पूज्य मालवीयजी भी पहुंचे। श्री राजगोपालाचारी भाग्यवश बाहर थे, वह भी आ गये। और जो भी लोग बाहर थे, बम्बई पहुंच गये। महात्माजी के अनशन को छुड़ाने की कोशिश होने लगी। पर महात्माजी अपनी प्रतिज्ञा से कब डिगनेवाले थे। मि० मैकडोनल्ड के फैसले में एक बात यह भी थी कि वह फैसला तबतक कायम रहेगा जबतक उन जातियों के लोग, जिनका फैसले से सम्बन्ध था, आपस के समझौते से उसके स्थान पर कोई दूसरी बात तय न कर लें। स्वभावतः इस ओर लोगों का ध्यान गया। अब भी इस बात की कोशिश होने लगी कि अस्पृश्य वर्ग के लोगों को ही राजी करके अलग निर्वाचन-क्षेत्र छुड़वाये जायं। बम्बई में डा० अम्बेदकर रहते थे। सरकार ने उनको ही अस्पृश्यों का नेता बनाकर गोलमेज-कान्फ्रेंस में भेजा था। उनसे बातें होने लगीं। एक-दो दिन बीत गये, पर कोई बात तबतक तय न हो सकती थी जबतक गांधीजी से भी राय न ले ली जाय। इस बीच में अस्पृश्य वर्ग की जनता में भी हलचल मच गई; क्योंकि अस्पृश्यता-निवारण में गांधीजी ने बहुत काम किया था। उस वर्ग के लोग देखने लगे कि इनकी मृत्यु यदि इसी कारण हो जायगी तो उनके लिए वह एक अमिट कलंक हो जायगा।

गांधीजी ने जिस कारण से अलग क्षेत्र का विरोध किया था, वह कारण भी कुछ लोग अवश्य समझते थे। गांधीजी का कहना था कि अस्पृश्य-वर्गवाले हिन्दू हैं; पर किसी कारण से समाज में ऐसी रूढ़ि हो गई है कि हिन्दू-जाति के इतर वर्ग उनको आज अस्पृश्य समझने लगे हैं। वह खुद इस अस्पृश्यता को हिन्दू-धर्म और हिन्दू-समाज का कलंक मानते थे, और इसे हटा देना चाहते थे। यों तो जो अस्पृश्य, ईसाई या मुसलमान हो जाता है और इस प्रकार हिन्दू-समाज तथा हिन्दू-धर्म से अलग हो जाता है, वह उनसे बिलकुल कट जाता है और यद्यपि वहां भी कुछ हद तक अस्पृश्यता रह ही जाती है तथापि वह हिन्दुओं के लिए अस्पृश्य नहीं रह जाता। इसलिए यह प्रश्न उनके सम्बन्ध में ही होता था, जो हिन्दू रह जाते हैं। गांधीजी समझते थे कि राजनैतिक चुनाव के लिए भी यदि अलग क्षेत्र हो जायंगे तो यह एक नया अछूतपन हो जायगा और जहां अछूतपन दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है तथा जहां इसके दूसरे रूप हट रहे हैं, वहां यह उसका एक नया कारण एवं रूप हो जायगा। अछूतों के शिक्षित नेतावर्ग यह मानते थे कि जब सब अधिकार चुनाव के

ही बल पर अवलम्बित होंगे तो उनको भी अपने संख्या-बल का लाभ मिलना चाहिए और वह तभी पूरी तरह मिल सकेगा जब उनके लिए अलग चुनाव-क्षेत्र हो जायंगे। इसलिए गोलमेज-कान्फ्रेन्स में डा० अम्बेदकर ने इसपर जोर दिया था।

बम्बई और पूना के बीच में कुछ लोग दौड़-धूप करने लगे, पर यह बहुत असुविधाजनक था। इसलिए सब लोग, जिनको इसमें कुछ करना था, पूना ही चले गये। डा० अम्बेदकर और उनके कुछ साथी भी पूना गये। वहां दो-तीन दिनों तक बातें चलीं। महात्माजी से भी जेल में भेंट की अनुमति मिल गई थी। वहां फाटक के नजदीक ही एक छोटे-से वार्ड में गांधीजी से मुलाकात हुआ करती, जहां एक आम के गंछ के नीचे उनकी चारपाई रहती। श्री राजगोपालाचारी, पंडित मालवीयजी, श्री ठाकर बप्पा, सेठ घनश्यामदास बिड़ला, सर पुरूषोत्तमदास ठाकुरदास प्रभृति ने बहुत काम किया। डा० अम्बेदकर, डा० सोलंकी प्रभृति भी अपनी ओर से बराबर बातचीत में शामिल रहे। जैसे-जैसे दिन बीतते जाते, मैं घबराता था; क्योंकि बातचीत में गांधीजी को पूरा परिश्रम पड़ता और मैं डरता था कि वह इतने परिश्रम के साथ बहुत देर तक अनशन बर्दाश्त नहीं कर सकेंगे। जब-जब बातें होतीं, मैं भी शरीक होता; पर अपनी आदत के मुताबिक बातें बहुत कम करता। गांधीजी ने एक दिन संध्या को डा० अम्बेदकर से बहुत बातें कीं और उनसे जोरदार अपील भी की। बातें तय हो गईं। मुख्य शर्तें यह थीं कि अलग निर्वाचन-क्षेत्र नहीं होंगे, उनके बदले में चुनाव का तरीका यह होगा कि निर्धारित संख्या में अस्पृश्य वर्ग के लिए जगहें सुरक्षित रहेंगी, चुनाव के समय अस्पृश्य मतदाताओं को अधिकार होगा कि प्रत्येक स्थान के लिए चार उम्मीदवार मनोनीत कर दें; यदि चार से अधिक उम्मीदवार हों तो केवल उनके ही वोट से चार ही चुन लिये जायं और वोट सवर्ण तथा अस्पृश्य सभी हिन्दू दें और जो सबसे अधिक वोट पावें वे ही चुने जायं, यह दस बरसों तक रहेगा और उसके बाद इसपर फिर विचार किया जायगा। मि० मैकडोनल्ड के फैसले में अस्पृश्यों को जितनी जगहें मिली थीं उनकी संख्या बहुत बढ़ा दी गई। वह उनकी जनसंख्या के अनुपात से बढ़ाई गई। वे बातें तय हो गईं और प्रधान मन्त्री मैकडोनल्ड के पास तार भेज दिया गया। उन्होंने इसे मंजूर कर लिया और अपने फैसले को इस हद तक बदल दिया।

इतना हो जाने पर गांधीजी के अनशन का कोई कारण नहीं रह गया। उसे उन्होंने समाप्त कर दिया। इस समझौते से हम लोगों को बड़ी प्रसन्नता हुई। राजाजी और डा० अम्बेदकर ने अपने कलम आपस में अदल-बदल कर लिये। यह राजाजी की इच्छा से हुआ क्यों कि वह बहुत ही खुश थे। विलायत से उत्तर आने में अधिक विलम्ब नहीं हुआ, शायद चौबीस घंटों के अन्दर ही मंजूरी आ गई। पर ये चौबीस घंटे भी हम लोगों को बहुत अधिक लग रहे थे। उस दिन सवेरे से ही हम सब परेशान थे। होते-हवाते दोपहर का समय हो गया। मालूम हुआ कि उत्तर आ गया है और जल्द ही जेल में पहुंचनेवाला है। उसी दिन विश्वकवि रवीन्द्रनाथ पूना पहुंचे। वह रवाना हुए थे गांधीजी को देखने के लिए। उस समय तक समझौते की खबर उनको नहीं थी। पूना पहुंचने पर उन्हें इसकी खबर मिली। वह ठीक उसी समय जेल में पहुंचे जब समझौते की मंजूरी की खबर वहां पहुंची और गांधीजी के अनशन छोड़ने का समय आ गया। बड़ा ही शुभ मुहूर्त्त था वह। प्रार्थना की गई। गुरूदेव ने एक सुन्दर गीत गाया और आशीर्वाद दिये। इसके उपरान्त गांधीजी ने नारंगी का रस पीकर उपवास समाप्त किया। सारे देश में खुशियां मनाई गईं। अछूतोद्धार की जबरदस्त लहर चल पड़ी।

: १०० :

अछूतोद्धार का प्रयत्न

कुछ राजनैतिक प्रश्नों पर समझौता हो जाने से ही गांधीजी सन्तुष्ट होनेवाले नहीं थे। उनके हृदय में तो अस्पृश्यता को जला देने के लिए एक आग धधक रही थी। वह आग केवल चुनाव में एक क्षेत्र अथवा अस्पृश्यों को कुछ सुरक्षित जगहें मिल जाने से कैसे बुझ सकती थी ? वे सब सवाल उस समय तक उठते ही रहेंगे जबतक कि उनके साथ अछूतपन का व्यवहार होता रहेगा और हिन्दू-जाति उनको मनुष्य की श्रेणी से एक प्रकार अलग ही समझती रहेगी। इसलिए वह यह भी चाहते थे कि इसे निर्मूल कर देने का भी उपाय किया जाय। वहां से बम्बई में आकर एक अच्छी सभा हुई, जिसमें हिन्दुओं की ओर से इस बात की प्रतिज्ञा की गई कि वे अछूतपन को दूर करा देने का पूरा प्रयत्न करेंगे। इस काम को चलाने तथा दूसरे प्रकार से अछूतों की सेवा करने के लिए एक संस्था कायम की गई। गांधीजी ने उस समय तक 'अछूत' शब्द के बदले में 'हरिजन' शब्द का व्यवहार आरम्भ कर दिया था। इसलिए उस संस्था का नाम 'हरिजन-सेवक-संघ' रखा गया। उसके सभापति हुए सेठ घनश्यामदास बिड़ला और मन्त्री श्री अमृतलाल ठक्कर, जिनको लोग प्रेम से 'ठक्कर बप्पा' कहा करते हैं। वह संस्था अभी तक अच्छी तरह काम कर रही है। सारे देश में उसकी शाखाएं कायम हो गई हैं। ठक्कर बप्पा के पैरों में मानो चक्र है ! वह अपनी वृद्धावस्था में भी सारे देश का दौरा करते हुए सभी जगहों में हरिजनों की सुविधा तथा शिक्षा का प्रबन्ध करके हर प्रकार की सेवा करते रहते हैं।

उस समय यह भी विचार हुआ कि अछूतपन दूर करने का एक स्पष्ट तरीका, जिसे सभी समझ और अपनी आंखों देख सकते हैं, यह है कि मन्दिरों में जहां उनका प्रवेश निषेध है वहां उनका प्रवेश कराया जाय; मंदिरों को उनके लिए भी वैसे ही खुलवाया जाय जैसे वे दूसरे हिन्दुओं के लिए खुले हैं। इसी तरह सार्वजनिक कुंओं में उन्हें जल भरने का भी अधिकार होना चाहिए। जहां दूसरे हिन्दू जा सकते हैं, बैठ सकते हैं, वहां जाने-बैठने आदि का अधिकार और सहूलियत उन्हें भी मिलनी चाहिए। गांधीजी के उपवास के समय ही बहुत जगहों में हिन्दुओं ने मन्दिरों के

दरवाजे उनके लिए खुलवाने शुरू किये और उनके दूसरे स्वत्व भी बहुत जगहों में स्वीकार किये गये । पर इतने बड़े देश के लिए ऐसे स्थानों की संख्या अभी बहुत कम थी । इस उत्साह का एक नतीजा यह हुआ कि बम्बई की सभा के बाद बहुत जगहों में इस सम्बन्ध के सम्मेलन होने लगे, जिनमें अस्पृश्यता-निवारण के प्रस्ताव स्वीकृत होते--मन्दिर खुलवाये जाते इत्यादि । इस प्रकार का एक सम्मेलन बिहार में, छपरे में, थोड़े ही दिनों के बाद हुआ, जिसमें काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान डा० भगवानदास ने सभापति का आसन सुशोभित किया । बहुत उत्साह देखने में आया और जनता की ओर से हरिजनों के प्रति बहुत प्रेम तथा क्रियात्मक सहानुभूति प्रदर्शित की गई ।

बम्बई में ही राजाजी ने मुझसे अनुरोध किया कि मैं उनके साथ मद्रास जाऊं । अछूतपन का कट्टरपन और भयंकर रूप सबसे अधिक उसी इलाके में देखा जाता है । मालाबार में तो अछूतपन यहांतक है कि कुछ जातियां उस सड़क पर नहीं चलने पातीं, जिसपर सवर्ण हिन्दू चलते हैं ! जहां उन जातियों के लोग सड़क पर चलने पाते हैं वहां भी उनको पुकारते जाना पड़ता है, जिसमें दूसरे अनजान से कहीं उनके नजदीक न पहुंच जायं ! कुंआ और तालाब में पानी भरने की तो बात ही नहीं हो सकती । इसके अलावा दक्षिण में बहुत बड़े-बड़े मन्दिर हैं । कुछ तो ऐसे हैं, जहां हिन्दुस्तान के हर कोने से यात्री जाया करते हैं । इन मन्दिरों के नियंत्रण पंचायत द्वारा होता है । पंच कहीं-कहीं जनता द्वारा चुने जाते हैं और कहीं-कहीं सरकार द्वारा मनोनीत होते हैं । यदि उन लोगों में प्रचार हो और वे मंदिरों को खोल दें तो बहुत बड़ी बात हो जायगी । मैं राजाजी के साथ वहां गया । मदुरा और श्रीरंगम् के मन्दिर खुलवाने का बहुत प्रयत्न किया गया । वहां के पुजारियों और संचालकों से बहुत बातें हुईं । कुछ सहानुभूति भी दिखलाते थे । हम लोग कई दिनों तक यह प्रयत्न इन दोनों स्थानों में करते रहे । सार्वजनिक सभाए की गईं । पंडितों से भी बहुत बातें होती रहीं । पर इन बड़े मन्दिरों के खुलवाने में हम लोग समर्थ नहीं हुए । कुछ दूसरे मन्दिर, जिनका उतना अखिल भारतीय महत्त्व नहीं था, खोले गये । इससे इतना तो अवश्य जान पड़ा कि काम यद्यपि कठिन है तथापि असम्भव नहीं है । जिन लोगों को हम बहुत कट्टर समझते थे, वे भी बात सुनने और करने के लिए तैयार थे । हम वहां से निराश होकर नहीं, बल्कि बहुत आशा लेकर उत्तर की ओर आये ।

हमारे प्रयत्न का फल तुरन्त तो नहीं मिला; पर कई बरसों के बाद मालाबार में,

जहां सबसे ज्यादा कट्टरपन था, त्रावनकोर के महाराज ने वहां के सबसे प्रसिद्ध श्री पद्मनाभजी के मन्दिर को खोल दिया; सारे राज्य में राज्य के सभी मन्दिर खोल दिये गए। मद्रास में भी कानून बनाकर राजाजी ने जब वह प्रधान मंत्री थे, मदुरा के मन्दिर को खुलवा दिया। उसी समय यह बात भी चल पड़ी कि कानून बनाकर मन्दिर खुलवाये जायं। कानून का क्या रूप हो और उनमें कैसी शर्तें रहें, इसपर विद्वान लोग विचार करने लगे, जिसका फल पीछे देखने में आया। सबसे बड़ी विचित्र बात दक्षिण में यह देखने में आई कि वहां के अब्राह्मण सवर्ण हिन्दुओं की अपेक्षा वहां के ब्राह्मण इस सुधार के लिए अधिक तैयार पाये गये। वहां से लौटते समय मैं आन्ध्र प्रदेश के कतिपय स्थानों में ठहरता हुआ आया। वहां भी वैसी सुधार की लहर देखने में आई। वहां भी मैं कई जगह मन्दिर खोलने के उद्योग में शरीक हुआ।

उत्तर भारत में भी इसी तरह लहर दौड़ गई। अनेकानेक स्थानों में सभाएं होने लगीं, मन्दिर खुलने लगे और दूसरे प्रकार से भी अछूतपन दूर करने के प्रमाण क्रियात्मक रूप में दिये जाने लगे। गांधीजी जेल से ही इस विषय पर बयान देते थे। गवर्नमेण्ट ने इस बात पर इजाजत दे दी थी कि अछूतोद्धार-सम्बन्धी उनके बयान समाचार-पत्रों में छपने के लिए भेजे जा सकते हैं। इस अधिकार का उन्होंने बहुत तत्परता से उपयोग किया और उनके बहुत-से लेख प्रकाशित होने लगे। कुछ दिनों के बाद उन्होंने महसूस किया कि इस तरह पत्रों में बयान छपना काफी नहीं है, इसके लिए एक अपना पत्र निकलना चाहिए। 'यंग इंडिया' उनका बन्द हो चुका था। इसलिए 'हरिजनों' की सेवा के लिए अंगरेजी में 'हरिजन' और भारतीय भाषाओं में 'हरिजन-बन्धु' तथा 'हरिजन-सेवक' के नाम से साप्ताहिक पत्रों का जन्म हुआ, जो कई बरसों तक चले। पर इसी बीच में और भी बहुत-सी बातें हुईं, जिनका जिक्र पहले आना चाहिए।

एक तरफ इस तरह हरिजन-सेवा और अस्पृश्यता-निवारण के लिए अभूतपूर्व उत्साह पैदा हुआ, दूसरी ओर अनपेक्षित दिशाओं से विरोध के कुछ चिह्न भी देखने में आये। एक तो सबसे आश्चर्य की बात यह हुई कि इस सारे प्रयत्न को कुछ हरिजन लोग नापसन्द करते थे। उनका कहना था कि यह एक ढोंगमात्र है, जो उनकी राजनैतिक जागृति में बाधक होगा, उनको राजनैतिक और आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त हो जायगी तो अछूतपन स्वयं दूर हो जायगा; जबतक वह नहीं होती तबतक

सवर्णों द्वारा इस प्रकार के प्रयत्न उनको फिर गफलत की नींद में सुला देंगे जिससे वे औरों की अपेक्षा दुनिया की होड़ में पीछे रह जायंगे। इसलिए वे चाहते थे कि उनमें जो असन्तोष है वह और भी बढ़े और उसी से जागृति पैदा होगी। उनकी ओर से 'हरिजन' नाम का भी विरोध किया गया। वे इस प्रश्न को धार्मिक और सामजिक नहीं समझते थे, इसे केवल आर्थिक और राजनैतिक दृष्टिकोण से ही देखते थे। हरिजन-सेवक-संघ और गांधीजी के प्रयत्नों का उद्देश्य उनकी राजनैतिक और आर्थिक उन्नति में बाधा डालना तो था ही नहीं--सच तो यह कि पूना के समझौते से उनको प्रान्तीय और केन्द्रीय व्यवस्थापक सभाओं में इतनी जगहें मिल गई थीं जितनी मि० मैकाडोनल्ड ने भी नहीं दी थीं। और किसी प्रकार का वास्तविक विरोध था भी नहीं, पर उनके दिल में सन्देह था और उसका कोई उपाय न था। जब काम जोरों से चलने लगा तो बहुतेरों का सन्देह कुछ हद तक दूर हुआ; पर उसने इतनी गहरी जड़ पकड़ ली थी कि पीछे वह फिर स्पष्ट हो गया। उनमें जो शिक्षित थे और देश-विदेश की बातें समझ सकते थे, वे यह भी देखते थे कि जो शासन-विधान बननेवाला है, उसमें वोट देनेवालों को अधिकार मिलेगा, और इसलिए अपनी संख्या पर ध्यान रखकर उससे पूरा लाभ उठाना चाहते थे। इसकी कोई शिकायत भी नहीं कर सकता था, पर इसके लिए अछूतपन दूर करने के प्रयत्न को ढोंग समझना बिलकुल गलत था। सवर्ण हिन्दुओं में भी कुछ ऐसे जरूर थे, जो उनके इस रूख से बहुत असन्तुष्ट हो गये और समझने लगे कि राजनैतिक अधिकार से व्यक्तिगत लाभ उठाने के लिए कुछ पढ़े-लिखे लोगों का ही यह विरोध है। जो हो, विरोध का रूप क्रियात्मक नहीं हुआ, केवल मन्तव्यों और बयानों द्वारा ही जहां-तहां प्रकाशित होता रहा।

दूसरी बाधा कांग्रेसी लोगों में से भी कुछ की ओर से पड़ने लगी। यह तो जाहिर है कि जिस समय गांधीजी ने अनशन आरंभ किया, सत्याग्रह चल रहा था, सरकार जोरों से दमन कर रही थी। उन लोगों का कहना था कि ऐसे समय में महात्माजी ने इस झगड़े को खड़ा करके जनता का ध्यान सत्याग्रह की ओर से खींचकर एक सामाजिक प्रश्न पर केन्द्रित कर दिया--देश के लिए यह समय ब्रिटिश सरकार के साथ लड़ने का था, न कि हिन्दू-समाज की हजारों बरस की बुराई को दूर करने का। वे लोग समझते थे कि इस तरह यह सत्याग्रह कमजोर कर दिया गया, कांग्रेस के कुछ कार्यकर्ता अछूतोद्धार के काम में लग गये; कुछ तो बाजाब्ता हरिजन-सेवक-संघ के

पदाधिकारी बनकर अपना सारा समय उसी में देने लग गये । यद्यपि यह बात ठीक थी कि ध्यान उस ओर खिंच गया और कुछ काम करनेवाले भी हरिजन-सेवा में लग गये, तथापि यह विचारणीय है कि जो लोग सत्याग्रह का काम छोड़कर इसमें आ सके थे, उनमें थोड़े ही ऐसे थे, जो सत्याग्रह का काम करने के लिए तैयार थे--किसी-न-किसी कारण से उनमें से बहुतेरे अब उस काम से अलग होना ही चाहते थे, और वे यदि इस काम में लगे भी तो इससे सत्याग्रह-सम्बन्धी काम उन्होंने छोड़ा नहीं । यदि यह काम न होता तो भी वे सत्याग्रह छोड़नेवाले ही थे ! यह भी एक बात है कि हरिजन-सेवक-संघ में काम करनेवालों में ऐसे लोगों की बहुत बड़ी संख्या थी जो कांग्रेस और सत्याग्रह में नहीं काम करते थे । इसके सबसे बड़े और उत्कृष्ट उदाहरण तो उस संघ के सभापति सेठ घनश्यामदास बिड़ला और मंत्री श्री ठक्कर बप्पा ही हैं ।

जो हो, कांग्रेसी दल में इस प्रकार का असन्तोष पैदा हुआ । जो लोग इस विचार के थे, वे यह नहीं देख पाते थे कि हमारे देश में विदेशी राज्य का मुख्य और मूल कारण हमारी कमजोरियां हैं, जो हमारे समाज में अथवा व्यक्तिगत रूप से हममें घर कर गई हैं । गांधीजी ने, आरंभ से ही, इन कमजोरियों को दूर करने के लिए ही, रचनात्मक काम पर इतना जोर दिया है । हम जैसे-जैसे आगे बढ़ते हैं, इन कमजोरियों को महसूस करते हैं और देखते हैं कि इनकी वजह से हमारी गाड़ी कदम-कदम पर रूक जाती है । यदि इस कमजोरी को हम दूर कर सकें--करोड़ों भाइयों और बहनों को इनका शिकार होने से बचा सकें, तो यह बहुत बड़ी सेवा होगी । इससे स्वराज्य भी, यदि वह सच्चा है और सबके लिए एक तरह होनेवाला है, नजदीक आ जाता है । मैं तो हमेशा रचनात्मक कार्यक्रम का कायल रहा हूं और यथासाध्य अपनी ओर से प्रयत्न भी करता हूं; पर यह बात कांग्रेस के सभी लोगों की नहीं है । दो विचार-धाराओं का विरोध और टक्कर है । कौन कह सकता है कि कौन-सा विचार ठीक है । हम इतना ही कह सकते हैं कि हम अपने विचार को दृढ़ता और विश्वास के साथ ठीक मानते हैं । हम यह भी समझते हैं कि ऐसा न मानने से ही हमारी बाधाओं को दूर करने का उतना जबरदस्त प्रयत्न नहीं किया जाता जितना किया जाना चाहिए और इसलिए वे दूर नहीं हो रही हैं ।

इन अनपेक्षित विरोधों के अलावा कट्टर सनातनी लोगों का विरोध तो था ही ।

उनका प्रदर्शन कुछ दिनों के बाद देखने में आया जब गांधीजी दौरे पर निकले। कई जगहों में उनपर हमले किये गये। पूना में ही, जहां इस सारे आन्दोलन के उग्र रूप का जन्म हुआ था, सार्वजनिक सभा में जाते समय गांधीजी पर बम फेंका गया। बिहार-जैसे गांधी-भक्त और श्रद्धालु-सूबे में भी गांधीजी की मोटर पर लाठियों के प्रहार हुए। यह काण्ड देवघर-वैद्यनाथ-धाम में हुआ था, जहां मोटर के 'हूड' के कारण ही बापू चोट से बचे, मोटर की छत तो लाठियों से चूर ही हो गई। आज, इतने दिनों के बाद, जब सारी बातों पर मैं विचार करता हूं तो मुझे मालूम पड़ता है कि जो हुआ और किया गया, सब ठीक ही था। इस कुप्रथा के दूर होने में सफलता भी काफी मिली है, यद्यपि अभी हम यह नहीं कह सकते कि इसमें हम पूरे सफल हुए हैं। वास्तव में अभी बहुत सफर करना रह गया है। पर जब हम यह याद करते हैं कि हजारों बरसों की रूढ़ि--जो हमारी नस-नस में समा गई है, जिसका हमारे धर्म के साथ एक प्रकार का अविच्छिन्न संबंध सा जुट गया है--कितनी जबरदस्त है, तो जो प्रगति इसमें अबतक हुई है वह कम नहीं जान पड़ती। कुछ और धक्के लगेंगे और यह पुरानी दीवार गिर जायगी। काम करनेवालों को विश्वास और दृढ़ता के साथ काम करते रहने की जरूरत है।

: १०१ :

प्रयाग का एकता-सम्मेलन

दिल्ली में नव-स्थापित हरिजन-सेवक-संघ की बैठक हुई । यद्यपि मैं उसकी कार्य-कारिणी का सदस्य नहीं था, तथापि बुलाया गया । मैं दिल्ली गया । दुर्भाग्यवश मुझे ज्वर हो गया । दमे का दौरा भी शुरू हो गया । मुझे वहां कई दिनों तक ठहर जाना पड़ा । उन दिनों दिल्ली में श्री ठक्कर बप्पा बिड़ला-मिल्स, सब्जी मंडी में, ठहरा करते थे । मैं भी वहीं ठहरा था; पर जब तबीयत कुछ ज्यादा खराब मालूम पड़ी तो श्री घनश्यामदास बिड़ला ने मुझे नई दिल्ली के बिड़ला-हाउस में, जहां वह खुद रहते हैं, बुला लिया । कलकत्ते में जो होमियोपैथी इलाज मैंने शुरू किया था, अभीतक उसे ही यथासाध्य जारी रखता आया था । इसलिए वहां भी होमियोपैथी इलाज ही कराया । डा० युद्धवीरसिंहजी अच्छे हामियोपैथ डाक्टर हैं, और कांग्रेसी भी हैं । उन्हीं की दवा हुई थी । फायदा भी हुआ । अभी कुछ अच्छा हो ही रहा था कि खबर मिली, इलाहाबाद में युनिटी-कान्फ्रेंस (एकता-सम्मेलन) होने जा रहा है । उसमें शरीक होने के लिए मैं भी बुलाया गया । मैं दिली से सीधे प्रयाग चला आया ।

इस सम्मेलन में मुख्य-मुख्य हिन्दू, मुसलमान, सिख और ईसाई नेता शरीक हुए थे । कांग्रेसी लोग तो अधिकतर जेल में ही थे । पर जो बाहर थे, वे बुलाये गये थे । मौलाना शौकतअली और मौलाना जफरअली भी शुरू में ही आ गये । कुछ दिनों के बाद मौलाना शौकतअली किसी काम से चले गये । पर दूसरे लोग बराबर भाग लेते रहे । मि० मैकडोनल्ड का फैसला तो निकल ही चुका था । उनमें प्रायः सभी मांगे, जो मुसलमानों की ओर से पेश की गई थीं, मान ली गई थीं । एक चीज यह रह गई थी कि केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा में मुसलमानों की संख्या एक-तिहाई होनी चाहिए और सिन्ध को एक अलग सूबा बना देना चाहिए । इन विषयों पर अभी फैसला नहीं हुआ था । कान्फ्रेन्स का काम बहुत लम्बा बढ़ गया । प्रायः तीन हफ्तों तक हम लोग प्रतिदिन सवेरे से दोपहर तक बैठते थे और फिर तीसरे पहर से रात के प्रायः आठ-नौ बजे तक बैठा करते थे । बैठकें डा० कैलासनाथ काटजू के निवास-स्थान पर, उनके मकान के बड़े हाल में हुआ करती थीं । आपस में हर बात पर बहुत बहस होती । जो कुछ मुसलमानों की ओर से कहा जाता अथवा जो कुछ उन्हें मैकडोनल्ड-फैसले से मिला था, सबकी मांग सिखों की ओर से होती ! यदि

मुसलमानों को वायसराय की कौंसिल में जरूर जगह मिलनी चाहिए तो सिखों को भी अवश्य ही ! यदि मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचन-क्षेत्र हैं तो सिखों के लिए भी जरूर चाहिए ! इस तरह सभी बातों पर बहुत जोरदार बहस होती । सिखों और मुसलमानों में बारीकी और उलझन ढूंढ निकालने की होड़-सी लग गई थी । पर लोगों के मिजाज में गर्मी या तुर्शी नहीं थीं । इतने दिनों की गरमागरम बहस में दो-तीन ही ऐसे मौके आये जब किसी ने कुछ आवेश में आकर कोई कड़ी बात कह दी अथवा वहां से उठकर चले जाने की तैयारी दिखलाई । मालवीयजी के धैर्य की सीमा नहीं थी । दूसरे लोग तो बहस से थक जाते थे, चाहते थे कि कुछ भी तय हो जाय अथवा जिस बात पर एकमत न हो उसे छोड़कर अन्य बातों पर विचार किया जाय; पर मालवीयजी छोड़ते ही नहीं थे । आखिर बहुत-सी बातों पर एकमत हो भी गया । पर इस बात पर एकमत नहीं हो सका कि केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा में मुसलमानों के लिए एक-तिहाई जगहें सुरक्षित रहनी चाहिए । इसमें हिन्दुओं की ओर से सबमें तीस जगहें देने की बात कही गई । कई दिनों तक बातें करने के बाद सबमें इकतीस या बत्तीस तक जगहें देने की रजामंदी जाहिर की गई, पर ३३ १/३ तक अभी नहीं पहुंचे थे । उसी तरह सिन्ध के अलग सूबा बनाने के बारे में भी एकमत नहीं हो सका था । पर मालूम होता था कि इसमें रजामन्दी शायद हो भी जाय ।

अन्त में राय ठहरी कि जो दो-तीन बातें इस तरह की अनिश्चित रह गई हैं, उनके सम्बन्ध में एक सप्ताह के बाद कलकत्ते में फिर सब लोग मिलें और वहीं अन्तिम निर्णय किया जाय । मैकडोनल्ड-फैसले में यह बात थी कि वह फैसला रद कर दिया जायगा, यदि हिन्दू, मुसलमान और दूसरे लोग आपस में मिलकर कोई दूसरा समझौता कर लेंगे । इसी शर्त के कारण अस्पृश्य लोगों के अलग निर्वाचन-क्षेत्र को, पूना का समझौता हो जाने पर, मि० मैकडोनल्ड ने हटा दिया । सम्मेलन इसी आशा से किया गया था कि आपस का समझौता यदि हो जायगा तो जो कटुता मैकडोनल्ड-फैसले से पैदा हुई थी वह दूर हो जायगी । पर हम लोग अभी ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के हथकंडों को नहीं समझ पाये थे । जब बहुत बातों में एकमत हो गया और ऐसा मालूम हुआ कि अब केवल केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा की जगहों की बात ही रह गई है और वह भी शायद कलकत्ते में तय हो जायगी, ठीक उसी समय ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने इंगलैंड से एक विज्ञप्ति निकाल दी । हम लोग कलकत्ते जा रहे थे और रास्ते में रेल पर ही यह विज्ञप्ति देखने को मिली । इसमें केन्द्रीय असेम्बली में एक-तिहाई जगह की मांग

मंजूर कर ली गई थी ! जिस चीज पर हम इतनी बहस कर चुके थे तथा जिसपर एक बार और विचार करने के लिए हम कलकत्ते जा रहे थे, वह सरकार ने ठीक इसी अवसर पर दे दी ! हम समझ गये कि अब इस सम्मेलन का काम समाप्त हो गया ! ब्रिटिश गवर्नमेण्ट मैकडोनल्ड-फैसले को किसी तरह बदलना नहीं चाहती है। उसके कायम रहने से ही आपस के झगड़े कायम रहेंगे। वह अगर समझौते के कारण रद कर दिया और उसके स्थान पर हमारा आपस का समझौता रह गया, जिसे सभी मानने के लिए नैतिक रूप से भी बाध्य होंगे, तो फिर ब्रिटिश राज्य को तीतर-बटेरों-जैसी लड़ाई कराने और देखने का मौका नहीं मिलेगा, और न बिल्लियों की लड़ाई में बन्दर को दोनों के हिस्से खाते रहने का ही सुअवसर प्राप्त होगा। इसलिए यह अवसर उस फैसले की एक कमी की पूर्ति के लिए ठीक उपयुक्त समझा गया और वह तुरन्त घोषित कर दिया गया। सम्मेलन समाप्त हो गया ! हम कलकत्ते में मिले, पर इस मिलने में कुछ तथ्य नहीं था।

सम्मेलन का इतना अच्छा असर सारे देश पर पड़ा था कि सभी लोग आशा लगाये हुए थे कि अब मामला तय होकर ही रहेगा। इसकी खबर पाकर अलवर के महाराज प्रयाग आ गये थे। उनकी तथा पं० मालवीयजी की इच्छा थी कि सम्मेलन के अन्तिम अधिवेशन में, जो खुलेआम सभा के रूप में होगा, वह भी बोलें। वह सभा हुई भी, जिसमें बताया गया कि सब बातें तय हो गई हैं और जो दो-एक बात रह गई है, वह भी तय हो जानेवाली है। महाराज का भी अच्छा भाषण हुआ। पीछे जो उनके साथ व्यवहार हुआ उससे मालूम हो गया कि ब्रिटिश सरकार से वह जितना असन्तुष्ट थे, उससे भी अधिक ब्रिटिश सरकार उनसे असन्तुष्ट थी। थोड़े ही दिनों के बाद वह गद्दी से उतारे गये। कुछ दिनों के बाद उन्होंने इंगलैंड में आत्महत्या कर ली।

उस सभा तक हम लोग यही समझ रहे थे कि इस सम्मेलन के द्वारा हम एकता कायम कर लेंगे। मुझे इस सम्मेलन में एक बात से तो आशा हुई, मैंने देखा कि बहुत बातों में एकमत हो गया। पर बहस से मैं भी कभी-कभी ऊब जाता था यद्यपि मैं बहस में बहुत योगदान देता था। कभी कभी कम तो मैं ऐसा अनुभव करता था कि छोटी बातों को लेकर हम आपस में जल्दी एकमत नहीं हो सकते थे। ३२ और ३३ १/३ में बहुत थोड़ा ही फर्क है, पर हम इसको भी न सुलझा सके ! इसके लिए सम्मेलन को स्थगित करना पड़ा, जिसका नतीजा यह हुआ कि ब्रिटिश सरकार ने लकड़ी मार दी और इस गिरह का सुलझना असंभव-सा हो गया।

: १०२ :

दुबारा गिरफ़्तारी और बिहार की युनाइटेड पार्टी

कलकत्ते मैं गया एकता-सम्मेलन के काम से था, पर वहां कुछ ठहर जाना पड़ा। मैंने वहां आन्दोलन के लिए भी कुछ काम कर लिया। उन दिनों रूपये की जरूरत थी। इस जरूरत को पूरा करने में मैंने कुछ हाथ बटा लिया। लोगों में आन्दोलन के प्रति उत्साह और श्रद्धा थी, पर लोग बहुत डर गये थे। इसलिए कोई धनी आदमी खुल्लमखुल्ला मदद करने को तैयार नहीं था। पर चुपचाप पैसे देनेवाले बहुत थे। इसका एक बहुत ही अच्छा दृष्टान्त यहां देना ठीक होगा। जब मैं बनारस में ठहरा हुआ था, एक दिन कहीं जाते समय, सड़क पर एक पुराने परिचित मित्र से मुलाकात हो गई, जो गांधीजी के यहां आया-जाया करते थे। उन्हें देखकर मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। वहां उन्होंने मुझसे इतना ही जान लिया कि मैं बाबू शिवप्रसाद गुप्त के यहां ठहरा हूं। वह आकर मुझसे मिले। उन्होंने कहा--सुना है कि आन्दोलन में रूपयों की जरूरत है और यह जरूरत मद्रास तथा बिहार में विशेष महसूस हो रही है। मैंने कहा, रूपयों की जरूरत तो है ही। रूपये वह साथ लाये थे। आज मुझे ठीक स्मरण नहीं है, पर अखिल भारतीय काम के लिए आठ या दस हजार के नोट मेरे हाथों में उन्होंने रख दिये। मैं बहुत कृतज्ञ हुआ और उनकी इच्छा के अनुसार रूपयों को जहां-तहां भिजवा दिया। इसी तरह लोगों की मदद कलकत्ते में भी मिली। कलकत्ते से मैं पटना वापस आ गया।

मुझे जेल से निकले प्रायः छः महीने बीत चुके थे। दिन बीतते देर नहीं लगती। इसी बीच में दो बार बीमार पड़ा, गांधीजी के उपवास और पूना के समझौते के समय वहां हाजिर रहा, हरिजन-सेवक-संघ-सम्बन्धी यात्राएं और सभाएं कीं, प्रयाग के एकता-सम्मेलन के लम्बे अधिवेशन में काम करना और फिर कलकत्ते में उसी के लिए आना पड़ा। यह सब करता हुआ भी मैं बराबर महसूस किया करता था कि मुझे बाहर नहीं रहना चाहिए। मैं ही कांग्रेस का सभापति अथवा डिक्टेटर समझा जाता था और उस समय की प्रचलित पद्धति के अनुसार अपनी जगह पर किसी को

मनोनीत करना था। प्रयाग में एकता-सम्मेलन समाप्त होने के समय ही मैंने सोच लिया था कि अब मैं कलकत्ते से लौटकर ही जेल-यात्रा कर दूंगा। वहां पर राजाजी और श्री अणे भी थे। उनसे मैंने सलाह ली और राजाजी को मनोनीत करना चाहा। पर उन्होंने अभी कुछ समय हरिजन-सेवा का काम और करने की इच्छा प्रकट की। आपस की राय की बाद मैंने श्री अणे को मनोनीत कर दिया। मेरी गिरफ्तारी के बाद वही डिक्टेटर हुए।

कलकत्ते से लौटकर मैं पटने में उपयुक्त दिन की इन्तजारी कर रहा था। बड़े दिन की छुट्टियां आ गई थीं। मैंने सोच लिया था कि ४ जनवरी (१९३३) को मैं किसी तरह गिरफ्तार हो जाऊंगा। ४ जनवरी को ही १९३२ में सरकार ने गांधीजी को गिरफ्तार करके दमन शुरू किया था। उसकी यादगार में इस वर्ष भी सभी जगहों में एक विज्ञप्ति कांग्रेस की ओर से पढ़ी जानेवाली थी। इसी बीच में एक दिन श्री कृपालानी, जो बाहर थे, मुझसे मिलने आये। वह कुछ रूपयों के बन्दोबस्त के लिए ही आये थे। जो कुछ कलकत्ते में हुआ था, मैंने उनको बतला दिया। किसी मित्र के नाम से, जो मुझे याद नहीं है, उनको एक पत्र भी दे दिया। वह उस पत्र को लेकर जा रहे थे। पटना-स्टेशन पर वह गिरफ्तार कर लिये गये। गिरफ्तार होते ही उन्होंने पत्र को फाड़कर फेंक दिया। पर पुलिस ने टुकड़ों को एकत्र कर साट करके पूरा पत्र फिर तैयार कर लिया। उनपर मुकदमा चला। वह बांकीपुर-जेल के अन्दर ही पेश हुआ। मैं भी पेशी में मुकदमा देखने गया। मुकदमा समाप्त होने पर मैं बाहर निकला। अपनी सवारी पर ज्योंही सवार होना चाहता था कि पुलिस अफसर ने आकर मुझे खबर दी कि मुझे भी यहां रह जाना चाहिए! मैं तुरंत फिर फाटक के अन्दर दाखिल हुआ। कृपालानीजी और बाबू मथुराप्रसाद पहले ही से वहां आ गये थे--मथुराबाबू ४ जनवरी की घोषणा पढ़ने के लिए! मैं भी उनका साथी हो गया। एक-दो दिनों के बाद मुझपर भी मुकदमा चला। मथुराबाबू को १८ महीने कृपालानीजी को ६ महीने और मुझे १५ महीनों की सजा हुई। मुझे आश्चर्य हुआ कि मुझे १५ महीने क्यों मिले, जब मथुराबाबू को अठारह महीने दिये गये। मैंने मज़ाक में मजिस्ट्रेट से पूछा भी। यह वही पूर्व-परिचित मजिस्ट्रेट थे, जिन्होंने मुझे छपरे में सजा दी थी और जो मेरी वकालत के समय के मेरे पुराने मुवक्किल भी थे। खैर, चन्द दिनों के बाद हम लोग हजारीबाग पहुंचा दिये गये।

हजारीबाग में फिर उसी तरह पढ़ने और चर्खा चलाने में समय बीतने लगा। खानसाहब दोनों भाई अभी तक वहीं थे। कुछ दिनों के बाद अखबारों से पता चला कि गांधीजी को हरिजनों के सम्बन्ध में लिखने की जो सुविधा मिली थी, वह बन्द कर दी गई, इसलिए उन्होंने अनशन कर दिया, अन्त में सरकार को सुविधा देनी पड़ी और उनको छोड़ भी देना पड़ा। बाहर निकलकर उन्होंने देश की परिस्थिति देखी। उन्होंने हरिजनों के प्रति सवर्ण हिन्दुओं की ओर से प्रायश्चित्त और उनके कर्तव्यों को जताने के लिए इक्कीस दिनों का उपवास किया। इससे हम लोग बहुत चिन्तित हुए। वहां प्रतिदिन हम लोग प्रार्थना करते। यों तो संध्या के समय, ठीक कोठरी बन्द होने के पहले, सामूहिक प्रार्थना हम लोग बराबर करते ही थे; पर इस उपवास के दिन में और भी अधिक प्रार्थना होती। कोई गीता-पाठ करता, कोई रामायण की आवृत्ति करता, कोई केवल फल खाकर रहता। अपनी रूचि और शक्ति के अनुसार बहुतेरों ने आत्मशुद्धि के लिए वहां कुछ-न-कुछ किया। जिस दिन यह इक्कीस दिनों का व्रत निर्विघ्न समाप्त हुआ, उस दिन हम लोगों ने इकट्ठे होकर विशेष प्रार्थना की और ईश्वर को धन्यवाद दिया।

इस उपवास के असर से अच्छे हो जाने के बाद गांधीजी ने ऐसे कांग्रेसियों का सभा की, जो बाहर थे। उसमें देश की परिस्थिति पर बहुत विचार-विमर्श हुआ। उस समय पं० जवाहरलालजी भी बाहर आ गये थे। हम लोगों को पूरा पता तो नहीं चला; क्योंकि उन दिनों अखबार भी हमें नहीं मिलते थे--केवल 'स्टेट्समैन' का विदेशों के लिए प्रकाशित साप्ताहिक संस्करण ही मिला करता था। पर कोई-न-कोई बाहर से नया गिरफ्तार होकर आ ही जाता था और उससे कुछ-न-कुछ पता लग ही जाता था। हम लोगों ने चाहे 'स्टेट्समैन' में पढ़ा अथवा किसी ने बाहर से वहां पहुंचकर कहा कि सत्याग्रह का रूप व्यक्तिगत कर दिया गया है। सभी सूबों में फिर से कुछ जागृति हुई। कुछ लोग व्यक्तिगत रूप से फिर जेलों में गये। इसमें बिहार ने अच्छा उत्साह दिखलाया। यहां छः-सात सौ से अधिक लोग गिरफ्तार हुए। पर हम लोगों को ऐसा भी मालूम होने लगा कि लोगों में कुछ सुस्ती आ गई है। जनता ने इस सत्याग्रह में भी पूरा उत्साह दिखलाया था और यह सुस्ती आरंभ के प्रायः अठारह महीनों के बाद देखने में आई। मेरा अपना ख्याल था कि इसके कारणों में एक कारण यह भी था कि काम करनेवाले कुछ छुपकर काम करने लगे। सत्याग्रह में जनता की

श्रद्धा तभी तक बनी रहती है जबतक काम कारनेवाले, विशेषकर मुख्य काम करनेवाले, हिम्मत से अपने ऊपर सरकार की मार झेलते रहते हैं, अथवा झेलने के लिए तैयार रहते हैं। जब मुख्य काम करनेवाले, आन्दोलन को चलाने के लिए अपनी हाजिरी जरूरी समझ, बाहर रह जाते--कुछ सरकारी दमन से बचने या भागने के लिए नहीं, तब भी लोगों की कुछ धारणा जरूर हो जाती है कि यह अपने को बचा रहे हैं। इससे जनता में त्याग का उत्साह कम होने लगता है।

जब सरकार ने बहुत सख्ती के साथ दमन करके कांग्रेस के लिए न मकान रहने दिया, न पैसे और न खुले तौर पर काम करनेवाले; तब कुछ लोगों ने संगठन को बनाये रखने के लिए छुप करके ही काम करना शुरू कर दिवा। उन्होंने काम भी किया और कांग्रेस के संगठन को टूटने भी नहीं दिया। प्रायः सभी प्रान्तों की प्रान्तीय कमिटियां काम करती रहीं और उसी तरह जिलों में भी कमिटियों के प्रतिनिधि काम करते रहे। यह श्रृंखला टूट नहीं सकी। अखिल भारतीय कमिटी के आदेश और मन्तव्य सभी प्रांतों में पहुंचते रहे और उनके अनुसार थोड़ा-बहुत काम भी होता रहा। पर साधारण जनता में, जिनमें से नये कार्यकर्ता और सत्याग्रही मिलते, उत्साह कम होने लगा। छुपकर काम करने का असर अन्ततः अच्छा नहीं हुआ। सत्याग्रह की लड़ाई इस सम्बन्ध में अन्य लड़ाइयों से विभिन्नता रखती है। इसमें नेताओं को ही आगे रण में कूदना पड़ता है--अपने को ही उन्हें सबके पहले आग में झोंकना पड़ता है। आजकल की शस्त्र की लड़ाई में जनरल आगे नहीं जाता--बहुत करके तो वह लड़ाई के मैदान में भी नहीं जाता--वह पीछे से ही सेना का संचालन करता है। सेना भी यह आशा रखती है कि जनरल पीछे रहकर अपने को सुरक्षित रखता हुआ सेना का संचालन करेगा। इसलिए उसके पीछे रहने पर भी सेना पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। पर सत्याग्रह में सेना भी आशा रखती है कि सरदार ही सबसे आगे जूझेगा। इसलिए इसमें उसके पीछे पड़ने से सेना में स्वाभाविक असन्तोष और कमजोरी आ जाती है। ऐसा ही १६३३ में भी हुआ।

जब मैं बाहर था, १६३२ में एक बात इस सूबे में हुई। गोलमेज-कान्फ्रेन्स वगैरह की कार्रवाइयों से इतना निश्चित जान पड़ता था कि कुछ-न-कुछ शासन-विधान में सुधार तो होगा ही और चाहे वह सुधार कांग्रेस को सन्तुष्ट करे या न करे, नये चुनाव तो होंगे ही, जिनमें जनता को भाग लेना पड़ेगा। बिहार ही क्या,

सारे देश में किसानों की ही बड़ी संख्या है। उनके हाथों में बहुत वोट होंगे। कांग्रेस का उनमें पूरा प्रभाव था। इसका प्रदर्शन १६१३ और १६२६ के चुनावों में हो चुका था। १६३० और १६३२-३३ के सत्याग्रह के बाद वह प्रभाव बढ़ा ही था, घटा नहीं था। यह समझ करके बिहार के गवर्नर ने बिहार के जमींदारों को किसानों में संगठन करने के लिए प्रोत्साहन दिया था। जाहिर था कि किसानों का झगड़ा अभी जमींदारी के साथ ही हुआ करता था। इसलिए उन्होंने एक नई पार्टी बनाई, जिसमें किसानों को भी मिलाने का प्रयत्न किया गया। पार्टी का नाम 'युनाइटेड पार्टी' पड़ा। उन लोगों की इच्छा थी कि जबतक कांग्रेसवाले लड़ रहे हैं, हम लगान कानून में कुछ ऐसी तब्दीली करेंगे, जिससे किसानों को कुछ सहूलियत मिल जाय और इस तरह उनको मिला लेंगे--जब नया चुनाव आयेगा और कांग्रेस उसमें भाग लेगी, तो यह युनाइटेड पार्टी इतनी मजबूत हो गई रहेगी और किसान इसका इतना साथ देते रहेंगे कि कांग्रेस मुकाबला नहीं कर सकेगी।

इस पार्टी के नियम कुछ बुरे नहीं थे, यद्यपि कांग्रेस की निगाह में वे काफी नहीं थे। इसने भी अपना उद्देश्य (औपनिवेशिक स्वराज्य) मान लिया और जिस तरह के प्रस्ताव लिबरल फेडरेशन में हुआ करते हैं, उस तरह के कुछ प्रस्ताव भी किये। बिहार में कांग्रेस के अलावा कोई दल नहीं था; एक तरफ था सरकार से लड़नेवालों का दल; लिबरल जैसे बीच के विचार रखनेवाला कोई दल नहीं था। इस पार्टी के लोगों से मेरी भेंट और बातचीत भी हुई थी। मैंने समझ लिया था कि यह प्रयत्न कांग्रेस का प्रतिद्वन्द्वी दल खड़ा करने के लिए किया जा रहा है और इसमें गवर्नर का भी इशारा है। तो भी मेरे मन में एक क्षण के लिए भी यह सन्देह न हुआ कि यह दल कांग्रेस का मुकाबला कर सकेगा। कांग्रेस का प्रभाव उसकी सेवा और त्याग का कारण है। इस पार्टी में वह बात नहीं हो सकेगी। मैं यह भी समझता था कि जो पार्टी चुनावों में जगह लेने को ही मुख्य उद्देश्य मानकर बनाई जा रही है, उसमें आपस के झगड़े हुए बिना भी न रहेंगे, क्योंकि पार्टी के अन्दर उम्मीदवारों की संख्या जगहों से कई गुना अधिक हो जायगी। इसके अलावा आपस की प्रतिद्वन्द्विता भी होती रहेगी। इसलिए मुझे इसका डर नहीं था कि यह पार्टी कांग्रेस का मुकाबला कर सकेगी। मैंने यह भी समझा कि यदि एक ऐसी बीचवाली पार्टी हो जाय तो कुछ बुरा भी न होगा; क्योंकि जब कभी सरकार से लड़ाई करने में कांग्रेस लग जाती है तो रचनात्मक काम करनेवाला भी कोई नहीं रह जाता। शायद इस पार्टी से मौके पर

देश की कुछ सेवा हो सकेगी। मैंने यह भी सोचा कि यदि यह किसानों को अपनी ओर से कुछ सहूलियत दे भी देगी तो उससे किसानों को लाभ भी पहुंचेगा, फिर जब कांग्रेस के साथ इसका मुकाबला होगा तो किसान केवल कांग्रेस का ही साथ देंगे और स्वराज्य की बात को नहीं भूलेंगे। इसलिए मैं इस पार्टी के संगठन से बिलकुल निश्चिन्त था। इसके मुख्य काम करनेवालों से बातें हुईं तो मैंने अपने विचार भी कह दिये। उन्होंने इच्छा प्रकट की कि मैं इस सम्बन्ध में एक वक्तव्य प्रकाशित कर दूं। मैं राजी हो गया। एक छोटा-सा वक्तव्य मैंने पत्रों में दे दिया। उसमें इतना ही लिखा कि यह पार्टी यदि अपने प्रकाशित उद्देश्यों के अनुसार काम करती रहेगी तो मैं आशा रखता हूं कि इससे देश का भला ही होगा, बुरा नहीं।

इस वक्तव्य की खबर हजारीबाग में मित्रों को मिल गई थी। कुछ लोग इससे असन्तुष्ट हुए। वहां मेरे पहुंचने पर इस सम्बन्ध में बातें हुईं। मैंने अपने विचार बता दिये। पर शायद वे सन्तुष्ट न हुए। हम लोग वहीं थे जब इस पार्टी की ओर से लगान-कानून में कुछ संशोधन की बात चल पड़ी। मैं तो यह सब जानता ही था और जान करके भी निश्चिन्त था। पर कुछ मित्र इससे और घबराये। वे सोचने लगे, इस तरह पार्टी अपना प्रभाव किसानों में जमा लेगी। उनका विचार हुआ कि इसका विरोध होना आवश्यक है। कांग्रेस तो जेल में थी और गैरकानूनी संस्था भी बना दी गई थी; इसलिए किसान-सभा ही विरोध कर सकती थी। शायद पहले की ही सभा थी, जो कांग्रेस के जोर के कारण कुछ विशेष काम नहीं कर रही थी। उसे कुछ लोग पुनः जीवित करने का प्रयत्न कर रहे थे। वहां से उन लोगों को प्रोत्साहन के सन्देश भेजे गये। स्वामी सहजानन्दजी से विशेष अनुरोध किया गया कि वह किसान-सभा का संगठन करके लगान-कानून के सुधार के प्रस्ताव का विरोध करावें। मैं इसको गैरजरूरी समझता था। कारण ऊपर बता चुका हूं। पर मैं इसका विरोध नहीं कर सकता था। मैं चुप रहा। व्रजकिशोरबाबू भी किसान-सभा-जैसी एक दूसरी संस्था की जरूरत नहीं समझते थे। पर उन्होंने बाहर रहकर भी और मैंने भीतर से इसका विरोध नहीं किया। इस तरह किसान-सभा का जबरदस्त संगठन हम लोगों की गैरहाजिरी में ही होने लगा। लगान-कानून-सुधार का विरोध सख्ती से होने लगा। पहले के कुछ किसान-सभा के प्रमुख कार्यकर्ता इस किसान-सभा का विरोध और सुधार का समर्थन जोरों से करने लगे। यह बात एक-डेढ़ बरस तक चलती रही। जेल से हम लोगों के छूटने तक यह तय नहीं हुई थी।

: १०३ :

मेरी बहुत सख्त बीमारी

मैं १९३३ की जुलाई के पहले सप्ताह में बीमार पड़ गया। कुछ खांसी शुरू हो गई। शायद अचानक ठंड लग जाने से ही ऐसा हुआ। पहले तो मैंने समझा कि यह मामूली खांसी है, जल्द ठीक हो जायगी, पर वह कम न होकर दिन-दिन बढ़ती गई। दमा जोर पकड़ गया। एक बार तो इतने जोर से उठा कि प्रायः दो दिनों तक मैं बहुत परेशान रहा। उसके बाद सुई दी गई। दमा कुछ कम हुआ और तब कुछ खाने के लिए मैं बैठा। जैसे ही चम्मच में लेकर दूध और रोटी का टुकड़ा मुंह में दिया कि फिर दमा बहुत जोरों से शुरू हो गया और सांस इस तरह घुटने लगा कि मानो प्राणान्त हो जायगा। मैं बेहोश-सा हो गया। जेल-डाक्टर ने आकर कुछ सुंघाया, तब होश आया। उसके बाद बहुत जोर मल (आंव) पड़ गया। दिन में चौबीस-पच्चीस बार दस्त होने लगा। कमजोरी बहुत बढ़ गई। शरीर बड़ा दुर्बल हो गया। जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने सरकार को लिखा, यह पटना-अस्पताल में दवा के लिए भेजे जायं। पहले इसपर कुछ ख्याल नहीं किया गया। भाईसाहब को खबर मिली। वह घबराकर वहां पहुंचे। मेरी हालत देखकर बहुत चिन्तित हुए। रांची गये। कुछ मित्रों से मिले। अन्त में गवर्नमेण्ट का हुक्म मुझे पटने भेजने के लिए हुआ। यह हुआ सितम्बर के पहले सप्ताह में, बीमारी शुरू होने के दो महीने बाद! हुक्म यह था कि मैं पटना-जेल भेजा जाऊं और पटना-अस्पताल में बीमारी की जांच की जाय। मुझे जब हुक्म बताया गया तो मैंने कहा कि पटना-अस्पताल में यदि नहीं जाना है--पटना-जेल में ही जाना है, तो बेहतर है कि यहीं रहूं। पर मुझको बताया गया कि यही कायदा है लिखने का, इसका अर्थ यह है कि मैं अस्पताल में भेजा जा रहा हूं।

दूसरे दिन सवेरे किसी तरह मुझे पटने ले आये। भाई भी साथ ही आये। यहां पहले जेल में लाकर वहां से फिर तुरन्त ही अस्पताल ले गये। अस्पताल में मैं उन मकानों में से एक में रखा गया, जिनमें रोगी भाड़े देकर रहते हैं और जिनमें थोड़ी जगह घर के बाल-बच्चों के रहने की भी होती है। मेरी भौजाई, पत्नी और नौकर

भी साथ रहने लगे। डाक्टर बनर्जी ने मेरे पहुंचते ही जांच की। हालत खराब देख तुरन्त अपनी चिकित्सा आरम्भ कर दी। डाक्टर रघुनाथशरण तथा दूसरे डाक्टर भी, जो पहले से मुझे जानते थे, आया-जाया करते थे। पुलिस का पहरा रहता था; पर किसी-के आने-जाने की मनाही न थी। कई दिनों तक तो हालत खराब रही; पर आहिस्ता-आहिस्ता सुधरने लगी। मल और ज्वर कुछ संभाल में आये। खांसी भी कुछ कम हुई। अभी बीमारी गई नहीं थी, उसका उग्र रूप कुछ कम हुआ था। बीमारी को दूर करने के लिए दवा अब शुरू हो रही थी कि एक दिन दोपहर को तीन-चार बजे अचानक खबर मिल--सरकार का हुक्म आया है कि मैं तुरंत बांकीपुर-जेल भेज दिया जाऊं। शायद किसी ने सरकार के पास कुछ खबर दे दी थी या चुगली कर दी थी कि मेरे पास बहुत लोग मिलने आते हैं और मैं वहां खाट पर पड़े-पड़े आन्दोलन चला रहा हूं। बात बिलकुल झूठी थी। मुझसे लोग मिलने आते थे जरूर--और वह बीमारी के कारण स्वाभाविक था; पर मैंने किसी से आन्दोलन के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा था।

जो हो, अस्पताल से तुरन्त मैं बांकीपुर-जेल पहुंचाया गया। डाक्टर बनर्जीसाहब खबर पाते ही आये। उनको बहुत अफसोस हुआ, क्योंकि वह बीमारी का इलाज अब शुरू कर रहे थे, अबतक तो उग्र कारणों को ही कम कर पाये थे। वहां जो दवा इत्यादि वह दे रहे थे, उसे लिखकर उन्होंने एक रिपोर्ट भी साथ कर दी। जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट मेजर स्ट्रिक्लैण्ड, जो जिले के सिविल सर्जन भी थे, उनकी बातें भी हुईं। सुपरिण्टेण्डेण्ट ने उनके ही इलाज को जारी रखने का इरादा बतला दिया। जेल में भी सुधार जारी रहा। सर्दी के दिन आ रहे थे, जब मेरी तबीयत अक्सर खराब हुआ करती है। एक दिन अचानक फिर बड़े जोर का दमा शुरू हो गया। दो दिन में हालत बहुत खराब हो गई। सिविल सर्जन ने बहुत प्रयत्न किया, पर सफल न हुए। हालत देखकर वह भी कुछ घबराये। उन्होंने फिर गवर्नमेण्ट के पास लिखा या टेलीफोन किया; डाक्टर बनर्जी भी मुझे देखने के लिए आये। डाक्टर बनर्जी ने कुछ दवा दी। उस रात को मैं कुछ सो सका, पर बहुत सुधार नहीं हुआ। अन्त में सिविल सर्जन ने फिर गवर्नमेण्ट से बातें करके मुझे जेल से अस्पताल भेजने का प्रबन्ध किया। जब उन्होंने मुझसे यह कहा कि गवर्नमेण्ट का हुकुम मुझे अस्पताल भेजने का आ गया, तो मैंने कहा कि इस तरह जेल से अस्पताल और फिर अस्पताल से जेल

आना-जाना मैं नहीं बर्दाश्त कर सकता--जो होना होगा, यहीं होगा । इसपर उन्होंने आश्वासन दिया कि इस बार जबतक डाक्टर लोग मुझे आराम करके वापस न करेंगे तबतक मैं अस्पताल में ही रखा जाऊंगा ।

बात यह थी कि पहली बार के हुकुम में केवल जांच के लिए ही अस्पताल ले जाने की बात थी; पर वहां डाक्टरों ने दवा करना शुरू कर दिया था, इससे गवर्नमेण्ट ने उनसे कैफियत मांगी थी ! पर जेल के इन्स्पेक्टर-जनरल, सिविल सर्जन और अस्पताल के डाक्टर, सबने जवाब दिया था कि इलाज से अलग जांच के कोई मानी नहीं है और हालत इतनी खराब थी कि दवा देना आवश्यक था । इस बात का रिपोर्ट डाक्टरी भाषा में गवर्नमेण्ट को दी भी गई थी । इससे गवर्नमेण्ट का मुंह बन्द हुआ, पर तुरन्त मुझे वापस भेज देने का हुकुम निकाल दिया गया । जब जेल में दुबारा बहुत बीमारी बढ़ गई तो सबने मिलकर साफ हुकुम कराया कि आराम होने तक मैं वहीं रखा जाऊं । सिविल सर्जन का इशारा इसी की तरफ था जब उन्होंने कहा कि मुझे आराम होने तक वहीं रहना होगा ।

मैं अस्पताल में बहुत बुरी हालत में पहुंचाया गया । इस बार सख्ती भी काफी थी । हुकुम था कि घर की दो स्त्रियो साथ रह सकती हैं और काम के लिए एक या दो नौकर, कोई दूसरा मिलने के लिए नहीं आ सकता, हफ्ते में एक बार घर के लोगों से मुलाकात हो सकती है--वह भी पुलिस और जेल के कर्मचारी की हारीजी में । मुझे इससे कोई खास तकलीफ नहीं थी, क्योंकि मैं पहले भी किसी से आन्दोलन की बातें नहीं किया करता था, और अभी तो इतना बीमार था कि चारपाई से उठकर कुर्सी पर भी नहीं बैठ सकता था । इस बार की बीमारी पहले से भी बहुत कड़ी थी । हजार कोशिश करने पर भी उसमें कमी नहीं आती थी । कभी-कभी तो ऐसा मौका आया कि सुई-पर-सुई देनी पड़ी । सांस का फूलना चार-पांच घंटों के लिए कुछ कम हो जाता, फिर ज्यों-का-त्यों, बस फिर सुई दी जाती । नवम्बर-दिसम्बर बहुत खराब गुजरे । यद्यपि मैं बहुत बीमार पड़ा करता हूं तथापि इतनी सख्त बीमारी कभी हुई नहीं । दिसम्बर में अस्पताल के डाक्टरों ने सरकार को लिखा कि हालत खराब है और बीमारी कब्जे में नहीं आती है, रात को इतनी परेशानी रहती है कि मेडिकल कालेज के दो विद्यार्थी बारी-बारी से जाकर देखभाल करते हैं । पर सरकार का काम जल्दी तो होता नहीं । अन्त में हुकुम हुआ कि मेडिकल बोर्ड मेरी जांच करे । इस

बोर्ड में वही डाक्टर बनर्जी थे, वही सिविल सर्जन थे और एक तीसरे थे मेडिकल कालेज के प्रिन्सिपल। मेरा अनुभव था कि दिसम्बर के अन्त में हर साल बीमारी का जोर कुछ कम हो जाया करता है। इस साल भी वैसा ही हुआ। जब मेडिकल बोर्ड १९३४ की जनवरी के पहले सप्ताह में जांच करने आया, बीमारी में कमी आ गई थी। सब हालत और प्रतिदिन की रिपोर्ट देखकर बोर्ड ने मुझे छोड़ देने की सिफारिश की। मुझसे यह कहा नहीं गया। एक साल से अधिक जेल में हो चुका था--पन्द्रह महीनों की सजा थी। शायद डेढ़-दो महीने मीयाद के बाकी रह गये थे। रिपोर्ट पर सरकार ने १९३४ की १५ जनवरी को विचार किया--मुझे छोड़ देने का निश्चय किया। मैं उस दिन भोजन करके चारपाई पर लेटा हुआ था। एक आदमी ने आकर नौकर को खबर दी कि सर गणेशदत्तसिंह ने संदेश भेजा है--गवर्नमेण्ट ने आज निश्चय किया है कि मैं छोड़ दिया जाऊं और अब एक-आध दिन में यह हुक्म जेल की मार्फत पहुंच जायगा। नौकर ने मेरी भौजाई और पत्नी से यह कहा--फिर उन्होंने मुझे खबर दी।

: १०४ :

बिहार का प्रलयंकर भूकम्प

अस्पताल में चारपाई पर लेटे-लेटे मैं सोच रहा था--जब बीमारी का बहुत जोर था, जिस वक्त अब-तब की नौबत थी, उस वक्त तो सरकार ने कुछ किया ही नहीं, अब जब कुछ अच्छा हो गया हूं, स्वास्थ्य में दिन-दिन उन्नति होने की सम्भावना और आशा है तथा मीयाद भी प्रायः पूरी हो चली है, तब यह मुफ्त का अहसान मुझपर क्यों लादा जा रहा है ! बीमारी की सख्ती के दिनों में तो घर के किसी आदमी से, भाई से भी, हफ्ते में एक ही बार पुलिस के सामने मुलाकात हो सकती थी ! सख्ती इतनी थी कि एक बार मेरी भौजाई चली गईं, और मेरे भतीजे की स्त्री दो-चार दिनों के लिए सेवा करने आई, उसका एक चार साल का बच्चा था जो उससे कहीं अलग नहीं रह सकता था; इसपर भी उज्र हुआ कि हुकुम दो आदमी के रहने का है, यह तीसरा बच्चा साथ नहीं रह सकता ! उसे चला जाना पड़ा ! अब क्यों यह मुफ्त का अहसान लिया जाय ?

मैं इसी उधेड़-बुन में लगा चारपाई पर करवटें बदल रहा था कि चारपाई हिलती हुई जान पड़ी। फिर मकान के दरवाजे और जंगले हिलने लगे। मुझे आभास हुआ कि मैं बीमारी के कारण इतना कमजोर हो गया हूं और इतनी देर से सोच-विचार में लगा रहा हूं, इसलिए मेरे दिमाग में चक्कर आ गया है। मैं सोच ही रहा था कि मेरी भौजाई ने दूसरे कमरे से चिल्लाकर कहा कि धरती डोल रही है। मैं तुरन्त समझ गया। कहा कि सब निकल भागो। तुरन्त चारपाई से उतरकर बाहर निकल गया। सामने के मैदान में जाकर खड़ा हो गया। धरती इतने जोरों से डोल रही थी कि खड़ा रहना कठिन था। साथ ही, भयानक गड़गड़ाहट थी, सैकड़ों रेलगाड़ियों के एक साथ चलने के बराबर आवाज हो रही थी। कुछ दूसरे बीमार, जो आस-पास के मकानों में थे और जो चल सकते थे, मेरे नजदीक ही आकर खड़े हो गये। मैदान में बहुत-सी गायें चर रही थीं, वे पूंछ उठाकर इधर-उधर दौड़ने लगीं। एक बार सब मिलकर जहां हम लोग खड़े थे, वहां इस तरह दौड़ी आईं कि जान पड़ा, हम लोगों पर हमला कर रही हैं ! पर ऐसा कुछ न करके हम लोगों के पास दौड़ती आकर खड़ी

हो गईं, मानो उन्होंने उस स्थान को निरापद समझा अथवा हम लोगों को अपना हितैषी मानकर हमारे पास रहना ही अच्छा समझा। इतने में ही, कुछ दूर पर, नर्सों के रहने का बड़ा दोमंजिला मकान धड़ाम से गिर पड़ा। पर गड़गड़ाहट इतनी थी कि मकान गिरने की आवाज कम ही सुनाई दी, केवल धूल-गर्द को जोरों से उड़ते देखकर ही हमने समझा कि वह मकान गिरा है, अस्पताल के कुछ हिस्से जहां-तहां गिरे, पर सौभाग्यवश कोई मरा नहीं और न कोई घायल ही हुआ। कुछ देर में शान्ति हुई।

मैंने करीब चार मिनट तक भूकम्प जारी रहने का अन्दाजा लगाया था। पीछे सूबे के विभिन्न स्थानों से खबरें आईं तो जान पड़ा कि साढ़े चार मिनट से सात मिनट तक भूकम्प का जारी रहना देखा गया था। सब लोग जहां-तहां से डरे-घबराये निकलने लगे। अब घर के अन्दर जाने की किसी की हिम्मत नहीं होती थी। मैं जबसे अस्पताल आया था, यह पहला ही अवसर था कि कमरे के बाहर निकला था और पहला ही अवसर था जो दूसरे लोगों से बातें हुईं। बातें और क्या हो सकती थीं, भूकम्प के बारे में ही थीं। मित्र लोग शहर से दौड़कर देखने आये कि मेरी क्या हालत है। आहिस्ता-आहिस्ता खबर आने लगी कि शहर में बहुत मकान गिरे हैं। कुछ लोग अस्पताल में घायल लाये भी गये। हम लोगों की चारपाई बाहर मैदान में ही निकाल दी गई थी। वहीं सन्ध्या तक हम पड़े रहे। जनवरी का जाड़ा था। हवा जोरों से चल रही थी। कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। मेरे सामने प्रश्न हुआ कि रात को क्या किया जाय। मकान के अन्दर जाकर लोगों ने देखा तो कई जगह दीवार फट गई थी, पर कोई हिस्सा गिरा नहीं था। मैंने सोचा कि रात मैं बच न सकूंगा, यदि फिर रात में भूकम्प आया तो फिर निकल आयंगे। हिम्मत करके मैं मकान के अन्दर चला गया। देखादेखी कुछ और मरीज गये, पर सब नहीं। पास में बच्चों का वार्ड था, उसका एक हिस्सा गिर गया था, दीवारें कुछ कमजोर हो गई थीं; इसलिए अस्पतालवालों ने सबकी चारपाइयां मैदान में ही रखवा दीं और उसी सर्दी में वे रात काटने लगे। रात को एक बजे भूकम्प का एक धक्का और आया। यह भी जबरदस्त था; क्योंकि चारपाई इतनी हिली कि मैं जाग उठा। सब फिर बाहर निकल आये। पर यह इतनी देर तक न रहा जितनी देर दिन का भूकम्प रहा था। किसी तरह रात कटी। हम लोगों को बाहर की खबर उस दिन कुछ न मिली। शहर की थोड़ी खबर मिली, जिससे मालूम हुआ कि शहर की काफी बर्बादी हुई है।

दूसरे दिन सवेरे दस बजे डाक्टर मुझे देखने आये। मैं उनसे बातें करते-करते बरामदे से नीचे उतर ही रहा था कि एक झटका और आया। हम दोनों बाहर निकल गये। उनसे पहले-पहल मालूम हुआ कि मुंगेर की हालत खराब है, यद्यपि कुछ भी साफ खबर नहीं मिली है। वह मुंगेर के ही रहनेवाले हैं, अतः बहुत चिन्तित थे। उन्होंने यह भी कहा कि सरकार की आज्ञा हुई है कि जितने डाक्टर मिल सकें, तैयार रखे जायं कि जहां जाने का हुकुम मिले, तुरन्त चले जायं और अस्पताल में भी घायलों के लिए जगह तथा दूसरे प्रबन्ध ठीक रखे जायं। अब कुछ पता चला कि यह भूकम्प कुछ दूर तक करामात दिखला गया है। यह भी सुनने में आया कि सरकारी सेक्रेटेरियट का एक हिस्सा गिर गया है, सब काम तितर-बितर है, इसी हल्ले में मेरी रिहाई का हुकुम भी न आ सका। मैं दो दिनों के बाद छोड़ा गया। उस दिन सिविल सर्जन ने आकर मुझसे चार बजे अपराहन को कहा कि मैं छोड़ दिया गया और मैं जो चाहूं कर सकता हूं। पुलिस का पहरा हटा लिया गया। कुछ लोगों की धारणा है कि भूकम्प के कारण सरकार ने मुझे छोड़ दिया। जैसा ऊपर बताया गया है, मुझे बीमारी के कारण छोड़ने का निश्चय भूकम्प के चन्द घंटे पहले ही हो चुका था और उसकी सूचना भी मुझे मिल गई थी। भूकम्प से रिहाई में दो दिनों की देर हो गई; क्योंकि सब मामला ही गड़बड़ में पड़ गया। जब उत्तर बिहार की शोचनीय दशा का पता दो दिनों के बाद कुछ लगने लगा तो सरकार ने उधर के रहनेवाले कुछ सत्याग्रहियों को छोड़ दिया। उन लोगों को मालूम हो गया कि मैं भी मुक्त हूं। मैं सोच ही रहा था कि भूकम्प-पीड़ित लोगों की सहायता के लिए कुछ-न-कुछ करना होगा, तबतक वे लोग आ गये। उनको मैंने तिरहुत के जिलों में भेजा। कुछ रूपये उधार लेकर उनके लिए कम्बल खरीदवाये, उन लोगों के पास ओढ़ने को कुछ नहीं था, वे सब गरमी में गिरफ्तार हुए थे और चलने के वक्त वही गरमी की धोती और कुर्ता वापस लिये थे। कुछ खर्च के साथ किसी तरह चम्पारन, मुजफ्फरपुर, दरभंगा और सारन की खबर लेने के लिए उनको भेजा। रेल, तार सब बन्द थे। इसका भी पता न था कि वे किस तरह जा सकेंगे। उन्होंने हिम्मत करके नाव पर और पैदल जाकर पता लगाना शुरू किया।

मैंने मदद के लिए रूपयों की फिक्र की और एक अपील निकालने का विचार किया। कई दिन बीत चुके थे, अभी तक कुछ भी ठीक खबर नहीं मिली थी। पर

जो थोड़ी-बहुत खबर मिली थी वह बहुत भयानक थी । डाक्टरों ने मुझे अस्पताल में ही रोक रखा था । मैं बहुत कमजोर था, पर न मालूम इस समय कहां से उत्साह और शक्ति आई । मैंने जिद करके काम शुरू कर ही दिया, अस्पताल में से ही । हजारीबाग से मथुराबाबू और सत्यनारायणबाबू छूटकर अस्पताल में मेरे पास आ गये । कुछ मित्र अस्पताल में ही मिले और राय ठहरी कि एक अपील निकाली जाय तथा रिलीफ-कमिटी के नाम से एक कमिटी बना ली जाय । हमने तय कर लिया कि यह कमिटी केवल कांग्रेसी लोगों की ही न होकर सभी दलों के लोगों की होगी । हम बराबर, जब कभी कोई संकट आया, इस तरह का काम करते आये थे । इसलिए इस बार भी वही करना था । पर अभी यह नहीं मालूम था कि यह कितना बड़ा काम होगा । अबतक भी क्षति की पूरी खबर नहीं मिली थी । गवर्नर ने भी एक सार्वजनिक सभा करने की सोची । मि० सैयद अब्दुल अजीज जो उन दिनों एक मिनिस्टर थे, मुझसे अस्पताल में मिले । उन्होंने कहा कि अलग अपील न करके सरकार के साथ मिलकर काम करना ही अच्छा होगा । शफी दाऊदी साहब भी मिले और उनकी भी यही राय हुई । उन्होंने यह भी कहा कि अपील से आये रूपयों के अलावा सरकार अपने रूपये भी खर्च करेगी, और हम लोगों की अपील में बहुत मिलने की आशा नहीं की जा सकती है, क्योंकि सत्याग्रह के कारण कांग्रेस का संगठन तितर-बितर हो गया है तथा काम करनेवाले भी बहुतेरे जेलों में हैं । मैंने उन दिनों सज्जनों से कह दिया कि इस मामले में सरकार जो कुछ भी करेगी, उससे हम लोगों का विरोध तो होगा ही नहीं; पर कुछ ऐसे लोग भी होंगे, जो सरकार को पैसे न देकर यह चाहेंगे कि गैर-सरकारी संस्था भी काम करे; हम लोग हर संकट के समय कुछ इस तरह का करते आये हैं । इसलिए जनता भी कुछ हमसे आशा रखेगी । सरकार से हमारा मुकाबला नहीं है । जो लोग हमको देंगे उसी का अच्छा-से-अच्छा इस्तेमाल करके हम चुपचाप हो जायंगे और सरकार हमसे अगर कुछ काम लेना चाहेगी तो उसके करने में भी हम नहीं हिचकेंगे । ऐसा कहकर मैंने कुछ मित्रों से बातें कीं तो उन्होंने मेरी राय पसंद की ।

एक दिन एक छोटी सभा हुई, जिसमें बिहार-सेण्ट्रल-रिलीफ-कमिटी के नाम से एक संस्था स्थापित की गई । मैं उसका प्रधान बनाया गया और उसी के नाम से मैंने अपील निकाली । उसके बाद सरकार की ओर से सार्वजनिक सभा हुई । उसमें मैं

भी शरीक हुआ। उन्होंने भी अपील निकाली। मेरी अपील पर चारों ओर से रूपये और सामान आने लगे। अखबारों में अब ध्वंस का विवरण भी छपने लगा। उसको पढ़-पढ़कर सारे देश में और विदेशों में भी बिहार के प्रति बहुत सहानुभूति उत्पन्न हो गई। पंडित जवाहरलाल पटने आये। तिरहुत और मुंगेर में जाकर, जहां ध्वंस सबसे अधिक हुआ था, उन्होंने अपनी आंखों हाल देखा। मुंगेर में तो उन्होंने गिरे मकानों का मलबा खोदकर मुर्दे निकालने में भी मदद की और एक तरह से सबके लिए नमूना पेश किया। बंगाल से संकट-त्राण-समिति की ओर से श्री सतीश चन्द्र गुप्त रूपये और माल-असबाब लेकर चले आये। मैंने गांधीजी को भी तार द्वारा सूचना भेजी। वह उन दिनों बहुत दूर मद्रास-प्रान्त में कहीं हरिजन-यात्रा में घूम रहे थे। तार पाते ही उन्होंने भी अपील निकाली, और स्वयं पैसे जमा करने लगे। कमिटी की ओर से सभी जिलों में मुख्य कार्यकर्ता नियुक्त किये गये और उनकी मातहती में अनेकानेक काम करनेवाले काम करने लगे। हिन्दुस्तान के सभी प्रान्तों से रूपये आने लगे-कपड़ा, चावल, दूसरे खाद्य-पदार्थ, बर्तन, कम्बल, दवा इत्यादि पहुंचने लगे। सब चीजों की जरूरत थी। पटने से हम आवश्यकतानुसार सबको पीड़ित जिलों में भेजने लगे। दो-चार दिनों के अन्दर ही काम बहुत बढ़ गया। हमारे साथी बहुतेरे जेलों में थे। सरकार ने प्रायः सबको, जो तिरहुत, भागलपुर और पटना कमिश्नरियों के रहनेवाले थे, धीरे-धीरे छोड़ दिया। वे लोग भी आकर काम में जुट गये।

पंडित जवाहरलालजी ने एक दिन पटने में ठहरकर केन्द्रीय दफ्तर के संगठन और दूसरी बातों में अपनी सलाह से मदद की। वह दो बार इस सूबे में आये और जी-जान से काम में मन लगाने लगे थे; पर खेद है कि इसके बाद ही वह गिरफ्तार कर फिर जेल में बन्द कर दिये गये। इसलिए हमको उनके नेतृत्व का अधिक लाभ न मिल सका। सरदार वल्लभभाई पटेल भी जेल में ही थे। उन्होंने गुजरात में, वहां की प्रलयंकारी बाढ़ के समय, लोक-सेवा का जो प्रबन्ध किया था, उसके अनुभव का भी हमको लाभ नहीं मिला। पर महात्माजी, सेठ जमनालाल बजाज तथा सरदार के सहकारी श्री लक्ष्मीदास पुरूषोत्तम प्रभृति आ गये। युक्त प्रान्त से आचार्य नरेन्द्रदेव और श्री श्रीप्रकाशजी पहुंच गये। सब बाहर के आये भाइयों और बहनों के नाम गिनाना मुश्किल है। यदि किसी का नाम छूट जाय तो हमारे लिए शर्म की बात

होगी। पर कुछ नाम ऐसे हैं, जिनका उल्लेख न करना अत्यन्त कृतघ्नता होगी। इनमें श्री जे० सी० कुमारप्पा हैं। यह हिसाब-जांच का काम किया करते थे, विलायत से इसकी शिक्षा प्राप्त कर बम्बई में बड़ी-बड़ी कम्पनियों के हिसाब जांचा करते थे, गांधीजी के साथ आ जाने पर वह काम छोड़कर गुजरात विद्यापीठ में काम कर रहे थे; जब कांग्रेस ने एक ऐसी कमिटी बनाई, जिसके जिम्मे भारतवर्ष पर लादे हुए कर्ज की जांच करने का भार दिया तो यह भी उसके सदस्य बनाये गये। महात्माजी ने इनको हिसाब की देखरेख के लिए यहां भेज दिया। इतना कहना अत्युक्ति नहीं है कि यदि वह न गये होते और उन्होंने सारे हिसाब का एक अच्छा संगठन न कर दिया होता तो हम मुश्किल में पड़ते। हमारे काम करनेवालों की संख्या प्रायः दो हजार से भी अधिक होगी। वे बारह जिलों में बंटे हुए थे। उनमें थोड़े ही ऐसे थे, जो हिसाब कुछ भी जानते हों। काम भी बहुत प्रकार के थे और सबका हिसाब अलग-अलग रखना पड़ता था। यह काम इतना फैला हुआ था कि उसका संभालना बहुत ही कठिन था। पर इनके बताये तरीके से हिसाब रखने पर सब काम ठीक हुआ।

मैंने शुरू में बिहार-बैंक की कमिटी का खजांची बना दिया था। रूपये कमिटी के पास आते और सीधे बैंक के पास आते थे। एक दिन में दो सौ-तीन सौ मनीआर्डर पहुंचते थे। सैकड़ों पार्सल रोज आते और उनमें हर तरह की चीजें आतीं। सबका हिसाब अलग-अलग रखा जाता। केन्द्रों में पहुंचकर जब रूपयों अथवा चीजों का खर्च होता तो उसका भी हिसाब केन्द्रीय दफ्तर के निरीक्षण में ही रक्खा जाता। कुछ दिनों के बाद जब हमने पहली रिपोर्ट निकाली और उसके साथ पैसे तथा सामान देनेवालों की नामावली छापी तो वह प्रायः चार सौ पन्ने की पुस्तक हो गई। हमने जनता से अपील की कि यदि किन्हीं दाता का नाम उसमें न छपा हो तो वह मुझे सूचना दें। हर्ष का विषय है कि यद्यपि कई हजार दाताओं ने सीधे हमारे पास या बैंक के पास पैसे और सामान भेजे थे तथापि मेरे पास थोड़े ही, शायद दस-बारह ही पत्र आये, जिनमें शिकायत की थी कि उनके नाम नहीं छपे हैं। जब जांच की गई तो उनके नाम भी छपे मिले, केवल गलती यह हुई थी कि किसी दूसरे सूबे या शहर के नीचे उनके नाम छप गये थे। इसीसे सबको सन्तोष हो गया कि हिसाब का काम बहुत पक्का रहा। इसपर मैंने इसलिए यहां इतना जोर दिया कि सार्वजनिक काम में रूपये-पैसों के मामले में सफाई निहायत जरूरी है। काम

करनेवाले ठीक और उचित तरीके से जनता के दिये रूपये खर्च करें भी और हिसाब ठीक न रखें तो बदनामी हो जाती है। अक्सर बदनामी बे-बुनियाद होती है, क्योंकि खर्च तो ठीक हुआ रहता है, पर हिसाब के ज्ञान के अभाव के कारण अथवा काम करनेवालों की सुस्ती या आलस के कारण हिसाब ठीक न रहने से बदनामी हो जाती है। जब आशा से अधिक लोगों में उत्साह दीखा और रूपये बरसने लगे तो मुझे यही चिन्ता थी कि लोगों का विश्वास कहीं झूठा न पड़े। पर ईश्वर की दया से, और खासकर कुमारप्पाजी और उनके अधीन काम करनेवाले कार्यकर्ताओं की चतुरता एवं मुस्तैदी से काम भली-भांति पूरा हो सका। हम कह सकते हैं कि लोगों के दिये हुए रूपये और सामान का अच्छा-से-अच्छा उपयोग हुआ। वास्तव में जैसा सद्व्यय होना चाहिए था वैसा ही हुआ।

: १०५ :

बिहार-सेंट्रल-रिलीफ-कमिटी की सेवाएं

मैं कैद से मुक्त होने के बाद भी दस दिनों तक अस्पताल में रहा। पर बाहर भी आया-जाया करता। दिन-दिन ताकत बढ़ती गई। काम की भीड़ इतनी थी कि सवेरे चार बजे उठ जाता और चारपाई पर से ही लिखने का काम शुरू कर देता। पत्रों की भरमार थी। उनका उत्तर देना, पत्रों में आई हुई खबरों के सरांश को फिर नई अपील के रूप में भेजकर लोगों को यहां की दुर्दशा की सूचना देना तथा अपने केन्द्रों से आये हुए पत्रों के उत्तर देना यह कुछ कम काम नहीं था। मि० अजीज ने अपना एक छोटा मकान दफ्तर के लिए दिया, पर शीघ्र ही काम इतना बढ़ गया कि वहां जगह ना-काफी हो गई। तब हमने एक दूसरा बड़ा मकान भाड़े पर लिया। दफ्तर के कई विभाग कर दिये गये। सबके चार्ज में एक-एक प्रमुख कार्यकर्ता रखा गया। शुरू में श्री जयप्रकाशजी ही दफ्तर के चार्ज में रहे। पीछे जब अनुग्रहबाबू छूटकर चले आये और काम भी बहुत बढ़ गया तो उन्होंने उसे संभाला। जो कमिटी हमने बनाई, उसमें सभी दलों और सूबों के लोगों को, जिन्होंने मदद पहुंचाई थी, सदस्य बना लिया।

थोड़े ही दिनों के बाद गांधीजी आये। उनके आने से पहले मैंने सोचा कि मैं उसके पूर्व ही एक बार उन स्थानों को जाकर देख आऊं, जहां सबसे अधिक नुकसान हुआ है। यह प्रायः भूकम्प के एक महीने बाद हुआ। अबतक मैं दफ्तर में रहकर काम करता था, कुछ तो कमजोरी के कारण और कुछ काम की भीड़ से। अब सहायक लोग आ गये, काम बंट गया और उन लोगों ने उसे संभाल लिया तो मैं बाहर निकला। मैं जहां-जहां गया वहां की हालत देखकर रिपोर्ट भेजता गया, जो छोटी पुस्तिका के रूप में छप भी गई। अपने कार्यकर्ताओं, दाताओं और सहानुभूति दिखवानेवालों को सब बातों से अगाह रखने के लिए हमने एक 'बुलेटिन' निकालना शुरू कर दिया, जो कुछ दिनों तक नियमित रूप से निकाला, पीछे अनावश्यक समझकर बन्द कर दिया गया।

जिन्होंने कमिटी के पास रूपये और सामान भेजे अथवा स्वयं आकर उसके संगठन में योगदान किया, उनके अलावा बहुतेरी दूसरी संस्थाएं निजी तौर से काम करने आई। इन सबका हमारी कमिटी के साथ सहयोग था। हम प्रयत्न करते कि हम सबके काम में विरोध न हो और एक ही काम दो संस्थाओं द्वारा दुबारा किया जाय। इससे यह फायदा हुआ कि सार्वजनिक धन, चाहे वह कमिटी के पास आया हो या किसी दूसरी संस्था के पास, अच्छे व्यवहार में ही आया। ऐसी संस्थाएं तो बहुत थीं, जिनकी पूरी सूची प्रकाशित रिपोर्ट में मिलेगी। पर सबके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए यहां मुख्य के ही नाम दे सकता हूं। वे थीं मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी, मेमन रिलीफ सोसायटी और श्रीरामकृष्ण-मिशन। बाबा गुरूदत्तसिंहजी के दल ने भी अच्छा काम किया। रेडक्रास और इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन ने मदद की। श्री सतीशचन्द्र दास गुप्त की मार्फत बंगाल की संकट-त्राण-कमिटी ने भी दवा, सवारी आदि की भी अच्छी सहायता की।

एक ओर सरकार की अपील थी, दूसरी ओर बिहार-सेण्ट्रल-रिलीफ-कमिटी की। कुछ दिनों तक तो जनता का और दान देनेवालों का इतना उत्साह रहा कि दोनों के फण्ड प्रायः बराबरी में चलते रहे। हम भी रोजाना की आमदनी प्रकाशित करते और सरकार भी करती। महात्माजी जब आ गये और सेठ जमनालाल बजाज अपने साथियों के साथ बिहार में बैठ गये तो मेरे सिर से बोझ कुछ हल्का हो गया। लोगों को राहत पहुंचाने में कठिनाइयां बहुत थीं। पहले तो रेल-लाइनें टूट गई थीं। माल रेल पर नहीं जा सकता था। रास्तों के पुल टूट गये थे। इसलिए बैलगाड़ी और मोटर-लारी पर भी ले जाना आसान नहीं था। रहने के लिए बहुत जगहों में मकान नहीं मिलता था। बहुत जगहों में पानी का कष्ट था। हमको रिलीफ-कमिटी की ओर से कई मोटर-लारी खरीदनी पड़ी। आहिस्ता-आहिस्ता सड़कें कुछ सुधरीं। पुल तो नहीं बने, पर उनके पास से होकर, जहां कोई बड़ी नदी नहीं थी, दूसरा रास्ता निकल गया। नदियों में नाव से भी काम लिया लगा। रिलीफ-कमिटी के झोंपड़े सभी जगहों में बन गये। कार्यकताओं के संगठन में श्री कृपालानी, श्री हार्डीकर और श्रीमती सोफिया सोमजी ने बड़ा काम किया। काम करनेवालों की देख-रेख भी कुछ सहज नहीं थी। कार्यकर्ताओं के लिए हमें सैकड़ों साइकिलें देनी पड़ीं। उनके रहने के लिए झोंपड़े बनाने तथा खाने का प्रबन्ध करना पड़ा। पर यह जानकर आश्चर्य होगा कि

अपने कार्यकर्ताओं के खाने का खर्च दो आने रोज से अधिक हम नहीं देते थे । वे उसी में जो कुछ हो सकता, खाकर काम करते । उतना ही उनके लिए काफी था । महात्माजी भी उन जिलों में गये, जहां बहुत क्षति हुई थी । उनका जाना दो दृष्टियों से आवश्यक था । एक तो क्षति को वह खुद देख लें और जहां इतनी और इतने प्रकार की क्षति हुई है, वहां किसकी पूर्ति करने का हम प्रयत्न करें, यह निश्चय करने में हमारी सहायता करें । दूसरी बात यह भी थी कि उनके जाने से लोगों की हिम्मत बढ़ती और विपत्ति में ढाढ़स होता । इसलिए सभी जगहों से इस बात पर बहुत जोर दिया गया कि महात्माजी सभी जगहों में जायं । यह तो सम्भव नहीं था, पर तो भी बहुत जगहों में वह गये । उन अभूतपूर्व हृदय-विदारक दृश्यों को उन्होंने देखा, जो भूकम्प ने उपस्थित कर दिये थे ।

हमारे सामने दो प्रकार के प्रश्न थे । भूकम्प के कारण लोगों के घर गिर गये, जो कुछ घर में था बर्बाद हो गया । खाने को अन्न नहीं, पहनने को कपड़े नहीं । अन्न मिले भी तो उसे पकाने के लिए बर्तन नहीं । रहने को घर नहीं । कुएं भर गये । तालाबों में बालू भर गई । इसलिए पीने को पानी नहीं । यह सब ऐसी मांगें थीं, जिनका तुरन्त पूरा होना आवश्यक था । इसलिए महात्माजी के आने के पहले ही भोजन, कपड़ा, बर्तन आदि जहां-तक हो सका हमने लोगों को बांटा । उससे भी पहले जहांतक हो सका, मकानों का मलवा हटाने का प्रयत्न किया गया, ताकि उसके नीचे दबे लोग निकाले जायं । इस काम में रिलीफ-कमिटी बहुत-कुछ नहीं कर सकी । यह काम जो कुछ हुआ, स्थानीय लोगों ने ही किया; क्योंकि रिलीफ-कमिटी के संगठित होते और कार्यकताओं के पहुंचते-पहुंचते जो मलवे के नीचे दबे थे, वे या तो निकाल लिये गये थे या मर चुके थे; पर जो बच गये थे उनको तत्काल मदद देने के काम में रिलीफ-कमिटी ने पूरा हाथ बंटाया । महात्माजी के पहुंचते-पहुंचते यह काम भी बहुत-कुछ हो चुका था, यद्यपि अभी एकबारगी खतम नहीं हुआ था । इसमें दो-तीन प्रकार के काम मुख्य थे और हमको निश्चय करना था कि हम कौन काम करें ।

लाखों-लाख मकान गिर गये थे । उनके बनवाने में लोगों की सहायता करना एक बहुत बड़ा काम था । इसी तरह लाखों-लाख कुएं बालू से भर गये थे । बहुतेरे ऐसे गांव थे, जहां कुओं में पानी था ही नहीं, यहांतक कि कहीं-कहीं गहरे गड्ढे इस तरह भर गये थे कि वहां यह पता नहीं चलता था कि यहां कभी गड्ढा रहा है ।

कहीं-कहीं छोटी-मोटी नदियों का पेट बालू से बिलकुल भर गया था। पानी का घोर कष्ट था। यह किसी एक गांव या इलाके की बात नहीं है। गंगा के उत्तर प्रायः सभी जिलों में, सैकड़ों मील की लम्बाई और प्रायः चालीस-पचास मील की चौड़ाई में, थोड़ी या बहुत एक ही हालत थी। पानी किस तरह पहुंचाया जाय, यह बड़ा बीहड़ प्रश्न था। तीसरा प्रश्न, जो हमको बहुत परेशान कर रहा था वह खेतों में बालू का आ जाना था। खेतों में पानी के फौवारे निकले और पानी के साथ-साथ बालू भी निकली। वह इतनी अधिक निकली कि खेत बालू से पट गये। जब पानी सूखा तो मालूम होने लगा कि सारा इलाका बलुकामय मरूभूमि हो गया! यदि यह बालू यों ही छोड़ दी गई तो यहां अब फिर कोई फसल न होगी, ऐसा भय होने लगा। इसलिए यह बालू किसी तरह साफ की जा सकती है या नहीं, यह बात विचारणीय थी। हमने खुद देखा कि कहीं-कहीं बालू पांच-छः फुट गहरी पड़ गई थी। एक जगह थोड़ी जमीन में बालू साफ करने का प्रयोग करके देखा तो इतना ज्यादा खर्च पड़ा कि वह असम्भव जान पड़ने लगा।

एक और तात्कालिक प्रश्न ईख के कारण उठ खड़ा हुआ। उत्तर बिहार में चीनी के बहुत कारखाने हैं। लोग ईख की खेती करते हैं और उन कारखानों के हाथ ईख बेच देते हैं। इससे उनको पैसे मिल जाते हैं। भूकम्प ने प्रायः सभी कारखानों को बेकार कर दिया। वे सब रूक गये। करोड़ों की ईख खेतों में खड़ी थी। अब वह बेकार होने लगी। हमने यह सोचा कि पुराने कोल्हू फिर चालू किये जायं, जिससे कुछ भी तो ईख का गुड़ बन जाय और किसानों को कुछ भी तो बच जाय। सरकार ने भी इसको पसन्द किया। दोनों संस्थाओं की ओर से कोल्हू बांटे गये। पर कोल्हू मिलने में भी कठिनाई थी, क्योंकि वे इतनी अधिक संख्या में तैयार नहीं थे। उनके लिए बाजार ही नहीं था, इसलिए उनका बनना एक प्रकार से बंद हो गया था। तो भी कई हजार कोल्हू हमने और सरकार ने बांटे, और कुछ ईख इस तरह बचाई गई। पर भाग्यवश कुछ दिनों के बाद बहुतेरी मिलों की मरम्मत हो सकी और उन्होंने अपना काम शुरू कर दिया। इस तरह जितनी क्षति हो सकती थी, उतनी नहीं हुई।

इनके अलावा छोटे-मोटे और भी बहुत-से प्रश्न थे। इनपर विचारकर तात्कालिक सहायता का काम समाप्त करके आगे के लिए निश्चय करना था। इसलिए

कमिटी की एक बैठक पटने में की गई। इसमें सभी सूबों के प्रमुख लोग, जो इसके सदस्य थे, आये। इसने प्रस्ताव किया कि सरकार के काम में हम हर तरह के सहयोग देने को तैयार हैं। अपने काम के लिए इसने कार्यकारिणी बना दी। मामूली नियम भी बना दिये। इतनी बड़ी कमिटी का बार-बार इकट्ठा होना मुश्किल था। इसलिए कार्यकारिणी पर ही काम का सारा भार आ पड़ा। वह बराबर मिला करती और सब बातों पर निश्चय किया करती। महात्माजी की राय हुई और हम सब लोग इससे सहमत हुए कि बालू हटाने का काम हमारे लिए असम्भव है, इसलिए उसमें हम हाथ न लगावें; मकान बनवाने के काम में हम सहायता दे सकते हैं, पर उससे भी अधिक आवश्यक और उपयोगी काम पानी पहुंचाने का था; इसमें व्यक्तिगत मदद का भी मौका रहेगा, इसलिए विशेष व्यक्ति के साथ पक्षपात करने का मौका कम आयेगा तथा हमारा काम भी अधिक स्वच्छ होगा; इसलिए हम पहले कुंआ और तालाब बनवायें, जिनसे मनुष्य और पशुओं के लिए पानी की सुविधा हो।

परन्तु यह काम भी इतना बड़ा था कि हमारे सब पैसे खर्च हो जाते तब भी इसका थोड़ा अंश भी पूरा न होता। फिर भी पहले इसीपर जोर देने का निश्चय हुआ। इसमें भी प्रश्न उठा कि हम 'ट्यूब वेल' बनवायें अथवा पक्के। ट्यूब वेल बहुत जल्द तैयार हो सकते थे और यह काम ठेकेदारों के द्वारा आसानी से ही सकता था। हमने कुछ बनवाये भी, पर हमने देखा कि इनसे काम नहीं चलेगा। एक तो यह कि एक ट्यूब वेल से एक घड़ा पानी निकालने में एक आदमी का जितना समय लग जाता है, उतने ही समय में कुंए से चार-पांच आदमी एक साथ ही चार-पांच घड़े पानी निकाल सकते हैं। दूसरे, इनकी मरम्मत का प्रश्न भी विकट था। बिगड़ने पर गांवों के लोग इनकी मरम्मत कैसे करायेंगे। उसके लिए हमको बड़ा 'स्टाक' रखना पड़ेगा। फिर कुछ दिनों के बाद यह बेकार हो जायगा। यह भी देखा गया कि कहीं-कहीं ट्यूब वेल और कुंओं में बराबर ही खर्च पड़ता था। इसलिए हमने कुंआ बनवाने का ही निश्चय किया। सभी जगहों पर कार्यकर्ता लोगों ने गांववालों के सहयोग से कुंआ बनवाना आरम्भ कर दिया। हम चाहते थे कि बरसात के पहले ही अधिक-से-अधिक कुंए बन जायं। इनके अलावा पुराने कुंओं की मरम्मत भी जरूरी थी। बालू निकालकर उनको साफ कर देने से ही बहुत जगहों में काम चल जाता था। इन सब में गांवों के लोग अपने शरीर से मदद कर सकते थे। उसी तरह पुराने

तालाबों को साफ करा देने से मवेशियों के लिए पानी का प्रबन्ध हो जाता था। हमने कई हजार नये कुंए बनवाये और अनेक पुराने कुंओं की मरम्मत-सफाई भी कराई। कई तालाब खुदवाये या बिगड़े हुए तालाबों की मरम्मत कराई। यह सब काम अप्रैल से जुलाई के पहले ही समाप्त हो गया, क्योंकि उसके बाद दूसरा ही प्रश्न आ खड़ा हुआ और हम उसमें लग गये।

पानी पहुंचाने का निश्चय बहुत ही ठीक रहा, क्योंकि उससे हम एक स्थायी काम कर सके। एक कुंए या तालाब से बहुत लोगों को लाभ पहुंचा सके। यह गांधीजी की दूरदर्शिता का ही फल था कि इतना स्थायी काम हो सका, नहीं तो सब रूपये चाहे मकानों की मरम्मत में या बालू साफ कराने में लग जाते, तब भी फल इतना व्यापक न होता। पक्षपात के--गलत चाहे सही--अभियोग से भी हमारी संस्था न बच सकती।

: १०६ :

भूकम्प के बाद बाढ़ की समस्या

इस काम में हम लगे ही हुए थे कि दूसरा प्रश्न आ खड़ा हुआ । सभी जगहों में नदी-नाले भर गये थे । अतः भय था कि गंगा, सरयू, गंडक-जैसी बड़ी-बड़ी नदियों का पेट भी बालू से कुछ भर गया होगा । जमीन की सतह ऊंची-नीची हो गई थी । इनसब कारणों से आशंका हो रही थी कि बरसात के दिनों में बाढ़ के कारण नई विपत्ति आ सकती है । हमको उसके लिए तैयार करनी पड़ी । सरकार ने भी अपनी तैयारी की । हमको बहुतेरी नावें बनवाकर या खरीदकर उन स्थानों में रखनी पड़ीं, जहां बाढ़ का अधिक भय था ।

भूकम्प के बाद गरीबों के लिए, जो मजदूरी किया करते हैं, काम की कमी न रही । किसी-न-किसी तरह का काम उनको मिलता रहा । पर इस बात का भय था कि बरसात में उन्हें काम नहीं मिलेगा । दो-चार दिनों तक विपत्ति-काल में गरीबों को खाना दे देना अच्छा है; पर बिना काम कराये उनको खैरात खिलाना उन्हें निकम्मा और आलसी बनाना है । इसलिए हमने शुरू से ही यही नीति रखी थी कि यथासाध्य बिना काम कराये मुफ्त न खिलाया जाय । जनता को मजदूरों की जरूरत थी ही । सभी लोग, जो काम करा सकते थे, अपने गिरे-पड़े मकानों को साफ या उनकी मरम्मत कराते । बहुतेरे तो नये मकान में भी हाथ लगा देते । खेती का काम भी था ही । रिलीफ-कमिटी ने जो हजारों कुंए बनवाये और जिनकी मरम्मत कराई तथा हजारों तालाब-पोखरे खुदवाये या साफ कराये उनमें भी बहुतेरे मजदूर काम करते रहे । कई जगहों पर हमने नई सड़कें बनवा दीं या पुरानी बिगड़ी सड़कों की मरम्मत करा दी । इस तरह हजारों मील सड़कें सारे सूबे में हमने बनवा डालीं या मरम्मत करा दीं । पानी के नाले भर गये थे । यदि वे बरसात के पहले साफ न कर दिये जाते तो पानी का निकास ही नहीं होता । बरसात में गांवों की हालत दर्दनाक हो जाती । इसलिए इस तरह के नालों को भी हमने बहुत जगहों में साफ कराया ।

मुजफ्फरपुर-जिले में, सीतामढ़ी जाने के रास्ते पर, भरथुआ का एक मशहूर

चंवर है। भूकम्प के पले ही वहां की हालत कुछ ऐसी खराब हो गई थी कि बागमती नदी का पानी हमेशा वहां जमा रहता था। जो पहले हरी-भरी जमीन थी, जहां बहुत अन्न पैदा हुआ करता था, वहां की सारी जमीन इस तरह जलमग्न रहने लगी थी कि कुछ भी पैदा न होता। वह जल भी इतना बुरा था कि वहां के बड़े-बड़े गंछ-वृक्ष भी सूख गये थे। बड़े-बड़े बगीचे यों सूखे खड़े थे कि देखकर आश्चर्य होता था। इस तरह का दृश्य मैंने कोसी नदी के किनारे कुछ गांवों में देखा है, जहां उसी तरह बड़े-बड़े पेड़ बिना पत्ते के सूखे पड़े हैं। गांधीजी सफर में वहां गये थे और वहां की हालत देखकर दुःखी हुए थे। वहां के कार्यकर्ताओं ने इसपर बहुत जोर दिया कि कुछ उपाय होना चाहिए। दरियाफ्त करने से मालूम हुआ कि पहले एक नाला या नहर थी, जिससे वहां का पानी निकल जाया करता था। बागमती ने अपना पुराना घाट छोड़ दिया और यह नाला भर गया। उसी का यह फल था कि वहां पानी जम गया, जो निकल नहीं सकता था। यदि वह नाला किसी तरह फिर खोल दिया जाय तो वहां सैकड़ों वर्गमील फिर हरा-भरा हो जाय।

हम लोगों ने निश्चय किया कि सरकार यदि इसका प्रबन्ध करने को तैयार न हो तो रिलीफ-कमिटी द्वारा यह काम करा दिया जायगा। हमारे अन्दाज से खर्च प्रायः पचास हजार का था। सरकार से लिखा-पढ़ी हुई। उस नहर के खुदवाने का भार ले लिया। इस तरह की छोटी-मोटी नहरें हमने और कई जगहों में खुदवाकर बहुत-सी बर्बाद हो रही जमीन हरी-भरी बनवा दी। जहां गरीब स्त्रियां दूसरा काम नहीं कर सकती थीं, चर्खे के द्वारा उनको काम भी कई जगहों में जारी किया। पीछे जब कमिटी का काम समेटा गया तो यह खादी का सारा काम बिहार-चर्खा संघ के जिम्मे कर दिया गया। मकान इतने बनवाने थे कि लोगों को मकान बनाने के सामान की बहुत जरूरत थी। ईंट, खपड़ा, रस्सी, बांस, लकड़ी और लोहे के सामान इत्यादि की बड़ी मांग थी। हमने बहुत जगहों में कमिटी की ओर से दुकानें खोल दीं, जहां लागत-मात्र दाम पर चीजें दी जातीं। पर इससे भी अधिक हमने यह किया कि ईंट, लकड़ी, सिमेंट इत्यादि के व्यापारियों के साथ बातचीत करके लागत दाम पर अथवा बहुत कम मुनाफे पर सामान बेचने का प्रबन्ध कराया। जो हमारे पुर्जे ले जाते उनको उस नियत दाम पर सामान मिल जाता। कमिटी की ओर से उनको कुछ कमीशन दिया जाता था--कहीं बिना इसके भी काम चल जाता। इस तरह जो हमने कमिटी

की ओर से सीधे तौर पर मदद की, उसके अलावा इनसब-चीजों के दाम के नियंत्रण में बहुत बड़ा भाग लेकर मुनासिब कीमत पर लोगों को सामान मुहैया कराया।

इस बात का पूरा अन्देशा था कि बरसात के महीनों में चावल की कमी सूबे के बहुत भागों में होगी। देखने में आया कि चावल का दाम कुछ चढ़ता जा रहा है। हमने बरमा-प्रान्त से बहुत चावल खरीदकर उन सभी स्थानों में, जहां अभाव का भय था, चावल की रिलीफ-दुकानें खोल दीं। इसका नतीजा यह हुआ कि चावल का दाम नहीं चढ़ा और लोगों को मुनासिब दाम पर चावल मिलता रहा। रिलीफ-कमिटी के रूपये भी चावल बिक जाने पर वापस आ गये। मलेरिया और हैजे के प्रकोप का भय अलग था। कहीं-कहीं यह हुआ भी। इसके लिए कमिटी के डाक्टरी विभाग ने अपनी शाखाएं बहुत जगहों में खोल दीं और उनसे लोगों को बहुत लाभ पहुंचा। बाढ़ के दिनों में बहुत मुश्किल से लोगों की मदद की जा सकी। कमिटी और गवर्नमेण्ट की सलाह से नावें उन स्थानों में रखी गई थीं, जहां बाढ़ का भय था। इन नावों के द्वारा बाढ़-पीड़ितों को मदद पहुंचाने में बहुत सहूलियत हुई।

इसके अलावा हमने बहुत-से लोगों को मकान मरम्मत करने या बनवाने के लिए नगद रूपये भी दिये। कमिटी ने निश्चय कर लिया था कि जो लोग भूकम्प के पहले अच्छे धनी-मानी थे अथवा जिनके बड़े मकान थे अथवा जो बड़ा मकान बनवाना चाहते थे, उनकी मदद करने में कमिटी असमर्थ है; क्योंकि उसके पास इतने पैसे नहीं थे। वह तो गरीब और मझोले दर्जे के लोगों की ही मदद कर सकती थी। इसलिए उसने निश्चय किया कि किसी एक व्यक्ति को ढाई सौ रूपये से अधिक नगद मदद नहीं दी जायगी। इसके अलावा रिलीफ-दर पर ईंट, बांस, लकड़ी, सिमेंट इत्यादि चीजें दी जा सकती हैं। सरकार ज्यादा रकम की मदद देती थी। हमने उस वर्ग के लोगों को मदद का भार गवर्नमेण्ट पर ही छोड़ दिया। इस तरह पाठकों को कुछ अन्दाज मिल गया होगा कि सहायता कितने प्रकार की देनी पड़ी और कितने प्रकार के काम कमिटी को करने पड़े। उसकी रिपोर्ट समय-समय पर छपती गई। वह लोगों में, विशेषकर दान-दाताओं में, वितरित की गई।

एक बहुत महत्त्वपूर्ण अनुभव का उल्लेख आवश्यक है। जब महात्मागांधी भूकम्प-पीड़ित क्षेत्रों में घूम रहे थे, उनके साथ इंगलैंड की दो महिलाएं बहुत जगहों

में गईं। एक थीं कुमारी मुरियल लेस्टर, जिनके अतिथि महात्माजी गोलमेज-कान्फ्रेन्स के समय रह चुके थे। दूसरी थीं वहां की, भारत से सहानुभूति रखनेवाली, सार्वजनिक काम करनेवाली कुमारी अगेथा हरिसन। यों तो और भी बहुत-से विदेशियों ने भूकम्प की क्षति देखी थी। सबने अपने-अपने मित्रों को लिखा था। दीनबन्धु एण्डरूज तो सभी जगहों में, जहां विपत्ति पड़ती थी, जाया ही करते थे; बिहार में भी आये थे। उन्होंने एक पुस्तक लिखकर इंगलैंड और अमेरिका में छपवाई थी। इन सब कामों से वहां के लोगों में भी बिहार के प्रति सहानुभूति पैदा हुई थी। गवर्नमेण्ट की अपील भी वहां पहुंची थी। उसपर लोगों ने पैसे की भी मदद की थी।

यूरोप में एक संस्था है, जिसके सदस्य युद्ध के विरोधी हैं। पर वे मानते हैं कि सेना में जिस प्रकार का नियन्त्रण होता है और लोगों को अपना सर्वस्व अर्थात् जान तक देने का जो अवसर मिलता है, उससे बहुतेरे युवक उस तरफ आकर्षित होते हैं; पर यदि इस उत्साह और त्याग-शक्ति को नरसंहार में न लगाकर जन-सेवा में लगाया जाय तो बहुत बड़ा काम हो जाय। इसलिए, इस संस्था के सदस्य, अपने को सैनिक की भांति नियन्त्रण में रखते हुए, जहां कोई विपत्ति आती है वहां जाकर, जनता की सेवा करते हैं। इसमें वे जाति या देश का विचार नहीं करते। यूरोप में पिछले बड़े युद्ध के बाद कई जगहों में, जहां बहुत विध्वंस हुआ था, उन्होंने जाकर सेवा की थी। इसी तरह कई जगहों में पीड़ित जनता की सेवा करने का अनुभव उनको था। उनके नेता थे स्विट्जरलैंड के पियर सेरेसोल। यह इंजीनियर थे। बड़ें ऊंचे खानदान के थे। इनके घर के लोग अपने देश के शासन-विभाग के उच्च-पदों को--विशेषकर सेना में--सुशोभित कर चुके थे। इनके पिता शायद वहां के प्रजातन्त्र के प्रधान रह चुके थे। इन्होंने युद्ध-विरोधी सिद्धान्त के कारण वह सब छोड़ दिया था और फौजी शिक्षा से इनकार करने कारण सजा भी भोगी थी। बिहार में यह कुछ साथियों को लेकर सेवा के लिए आये।

हम लोगों ने देखा कि कई जगहें इतनी बरबाद हो गई थीं कि वहां के लोगों को वहां से हटाना ठीक ही था। हमने बहुत कोशिश की कि लोग स्थान छोड़कर कहीं दूर जा बसना पसन्द करें। इसके लिए दूसरे स्थानों में जमींदारों से बातचीत करके जमीन का बन्दोबस्त कराने का यत्न भी हम कर रहे थे, पर कहीं कोई अपने घर को

छोड़कर दूर जानेवाला नहीं मिला। इसलिए किसी बड़े पैमाने पर स्थानान्तर अथवा स्थान-परिवर्तन का कार्यक्रम असंभव समझकर हमने छोड़ दिया। पर मुजफ्फरपुर-जिले में कुछ गांवों के लोग बाढ़ से इतने पीड़ित थे कि गांव छोड़कर थोड़ी दूर अलग बस जाने पर राजी हो गये। हमने सोचा कि इसमें मकान बनाने इत्यादि में हम उनकी मदद करें। सरकार भी इस बात पर राजी हो गई कि रिलीफ-कमिटी और सरकार दोनों मिलकर इसमें खर्च करें। काम का भार एक स्थानीय कमिटी को सुपुर्द किया गया। डाक्टर सेरेसोल ने इस काम का भार लिया। हमने रिलीफ-कमिटी की ओर से उनको ही उस कमिटी का सदस्य बना दिया और उनकी मदद के लिए अपने कार्यकर्ता श्री फणीन्द्रमोहन दत्त को दे दिया।

वहांपर कई नये गांव बसाये गये। इसमें एक साल से अधिक समय लगा। डाक्टर सेरेसाल वहां बराबर रहे। बीच में एक बार यूरोप गये भी, तो फिर कुछ दिनों के बाद वापस आकर काम में जुट गये। उनके साथ यूरोप के कई देशों के चार-पांच साथी थे। उन्होंने अपने शरीर से भी बहुत लम्बे-तगड़े थे। यहां की गर्मी से परेशान हो जाते थे, तो भी उस गांव में ही रहते थे। वहां भोजन का कष्ट था, आराम का वहां कोई सामान न था जिसके वह आदी थे। तब भी दिन-रात दौड़-धूप करते रहते। उन्हें परिश्रम करते देखकर दूसरों को भी उत्साह हो जाता था। जो गांव बसाये गये, उनमें मुख्य गांव का नाम शांतिपुर रखा गया। यह सुन्दर-सम्पन्न गांव आज भी आबाद है और एक नमूने की बस्ती है।

भूकम्प और बाढ़ के कारण कई जगहों में मलेरिया का बड़ा प्रकोप हो गया। रिलीफ-कमिटी की ओर से कई जगहों में, मलेरिया से लोगों को बचाने के लिए, विशेष प्रबन्ध करने पड़े। इनमें मुख्य है रामपुरहरि और मनुसमारा का इलाका--मुजफ्फरपुर जिले में, पंडौल और मधुबनी का इलाका--दरभंगा-जिले में तथा सुपौल का इलाका भागलपुर जिले में। यह इतना बड़ा काम हो सका कार्यकर्ताओं के उत्साह और त्याग से ही। उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। अगर पैसा देकर सभी कार्यकर्ता रखने पड़ते तो रिलीफ-कमिटी का बहुत रुपया सिर्फ काम करनेवालों पर ही खर्च हो जाता। हम आरम्भ से ही इस बात पर बहुत ध्यान रखते थे कि असहायों को मदद देने में ही हमारा अधिक-से-अधिक खर्च हो और मदद पहुंचाने के काम में

कम-से-कम खर्च हो। ऊपर कहा गया है कि सेवकों को मोटा-से-मोटा भोजन हम देते थे, जिसका लागत-खर्च दो आने रोज के लगभग पड़ता था। काम प्रायः डेढ़ साल चलता रहा। इसलिए दफ्तर में कुछ लोग ऐसे अवश्य रखे गये, जिनको कुछ निर्वाह-व्यय भी देना पड़ता; पर वह भी हम बहुत ही किफायती दर से देते। इसके अलावा दफ्तर के लिए मकान, सामान इत्यादि का खर्च भी करना पड़ता था। माल ढोने के लिए और कार्यकर्ताओं तथा निरीक्षकों को कम-से-कम समय में अपने स्थानों पर पहुंचाने के लिए हमें लारियां और सवारियां भी खरीदनी पड़ी थीं। यह सब खर्च संस्था के नाम से लिखा जाता। हमेशा हम इस बात पर ध्यान रखते कि संस्था-खर्च और सहायता-खर्च का अनुपात जहांतक कम रह सके, रहे। हम अपनी रिपोर्ट में इसका भी बराबर जिक्र करते। शुरू में जब लोगों को अन्न-वस्त्रादि पहुंचाना था तब केन्द्र से इनको ढोकर सहायता की जगह पर ले जाने और बांटने का खर्च ज्यादा पड़ा। यह स्वाभाविक था। जब कुंआ, पोखरा, तालाब, सड़क, पुल, नहर इत्यादि में हाथ लगाया गया तो संस्था-खर्च कम हो गया। जब मकान के लिए रूपये बांटने का समय आया तो यह खर्च और भी कम हो गया।

यहां एक छोटी घटना का उल्लेख आवश्यक जान पड़ता है। सरकार ने अपने सिविल्-सर्विस के एक सुयोग्य अफसर मि० ब्रेट को रिलीफ-कमिश्नर बनाया था। रिलीफ के सारे काम का भार उन्हीं पर था। उन्होंने रिलीफ-सम्बन्धी एक रिपोर्ट लिखी, जिसमें उन्होंने बिहार-सेण्ट्रल-रिलीफ-कमिटी का भी जिक्र किया और उसके खर्च का सारांश भी उस रिपोर्ट में दिया। वहां उन्होंने लिख दिया कि रिलीफ-कमिटी का संस्था-खर्च ज्यादा पड़ा। वह रिपोर्ट लिखकर, अपना काम खतम करके, छुट्टी पर इंगलैंड चले गये। वह रिपोर्ट उनके चले जाने के बाद छपी। हमने देखा कि यह संस्था-खर्च का हिसाब बिलकुल गलत है। हमने सरकार को लिखा कि हमारे जांचे और छपे हिसाब में संस्था-खर्च तो उतना नहीं है। सरकार के आंकड़े गलत हैं। हमने जानना चाहा कि वे आंकड़े कहां से और कैसे निकले हैं। मि० ब्रेट की गैरहाजिरी में उत्तर मिला कि आंकड़े मि० ब्रेट ने तैयार किये थे और सरकार को मालूम नहीं कि वह कैसे उन आंकड़ों तक पहुंचे थे। ऐसी अवस्था में उचित होता कि सरकार अपनी भूल स्वीकार कर लेती; पर ऐसा भी नहीं किया गया और सरकार की रिपोर्ट में वे गलत अंक आज भी पड़े हैं।

जब रिलीफ का काम खतम हो गया तो जो रूपये बचे थे, वे एक ट्रस्ट के जिम्मे कर दिये गये। जब कभी इस तरह की विपत्ति बिहार में आवेगी तब वे खर्च होंगे। सौभाग्यवश कोई बड़ी विपत्ति तब से नहीं आई है। जहां-तहां छोटी-मोटी बाढ़ आई तो थोड़ी-बहुत सहायता की जरूरत पड़ी। वह सहायता उसी में से दी गई है। ट्रस्टियों ने रूपयों को खाली न रखकर, महात्माजी की सलाह से, अधिकांश चर्खा-संघ को कर्ज दे रखा है। चर्खा-संघ कुछ ब्याज देता है और चर्खा-द्वारा रूपये गरीबों की सेवा में लगे भी हैं। इस तरह एक पंथ दो काज हो रहा है। ट्रस्टी थे सरदार वल्लभभाई पटेल, सेठ जमनालाल बजाज और मैं। सेठजी के स्वर्गवास के बाद अब दो ही रह गये हैं।

: १०७ :

सत्याग्रह स्थगित

रिलीफ-कमिटी के काम से जब महात्माजी ध्वस्त जगहों का दौरा कर रहे थे, एक घटना हुई, जिसका असर यहां की राजनीति पर बहुत पड़ा। १६३३ के मध्य भाग में ही सत्याग्रह-आन्दोलन में सुस्ती आ गई थी, व्यक्तिगत सत्याग्रह से कुछ जागृति देखने में आई, पर वह भी धीरे-धीरे जाती रही। जिस समय भूकम्प हुआ, गांधीजी दक्षिण भारत में हरिजन-सम्बन्धी दौरा कर रहे थे। वहां से ही वह बिहार आये थे। अबतक नये सुधारों की बात इंगलैंड में कुछ आगे बढ़ चुकी थी। दूसरी गोलमेज-कान्फ्रेन्स के बाद कुछ और कार्रवाई हुई और एक श्वेत पत्र (**White Paper**) निकला, जिसमें वे सिद्धान्त निश्चित किये हुए थे, जिनके अनुसार नया विधान बननेवाला था। लोग समझते थे कि शीघ्र ही श्वेत पत्र के अनुसार कानून बन जायगा और नया विधान काम में आने लगेगा। कुछ लोग सोच रहे थे कि यह नया विधान चाहे कितना भी खराब क्यों न हो और चाहे उसके अनुसार काम करना हम स्वीकार करें या न करें, कांग्रेस को चुनाव में भाग लेना चाहिए। इस बात की चर्चा चारों और चलने लगी और कांग्रेसी लोगों में भी यह बात चली। डा० अंसारी, डा० विधानचन्द्र राय और श्री भूलाभाई देसाई ने यह बात कांग्रेसियों में चलाई। मैं तो रिलीफ के काम में ही व्यस्त था। इसलिए मुझे तो इस ओर ध्यान देने का अवकाश नहीं था। महात्माजी शायद कुछ-न-कुछ सोचते रहे होंगे।

उत्तर बिहार के सफर में एक दिन भागलपुर जिले के 'सहरसा' नामक गांव में हम लोग ठहरे। दूसरे दिन सोमवार था, महात्माजी का मौन-दिन। महात्माजी मौन में कुछ लिखते रहे। मैं यों भी कभी उनका समय व्यर्थ नहीं लेता, उस दिन तो वह लिख रहे थे। इसलिए दिन-भर मैं उनसे कुछ बातें न कर सका। संध्या चार-पांच बजे के करीब उन्होंने मेरे हाथ में एक कागज दिया और लिखकर कह दिया कि इसको पढ़कर अपनी सम्मति दो। मैं उसको पढ़ गया। उसमें सत्याग्रह बन्द कर देने की बात थी और चुनाव-सम्बन्धी संकेत था। उन्होंने उसमें यह बताया था कि कुछ उनके विश्वासी लोगों ने, जो जेल से निकले हैं, ऐसी बातें कही हैं जिनसे उनको इस नतीजे

पर पहुंचना पड़ा है । देश में व्याप्त सुस्ती के अलावा मेरे सूबे में भूकम्प के बाद से दूसरा ही वातावरण हो गया था । यहां सत्याग्रह तो हो ही नहीं रहा था । बल्कि हम लोगों के प्रायः सभी साथी जेलों से मुक्त कर दिये गये थे और रिलीफ के काम में उनका अगर पूरा सहयोग नहीं था तो किसी प्रकार का विरोध भी नहीं था । अगर पूरे सहयोग में किसी प्रकार की कमी थी तो वह हमारे कारण से नहीं थी, सरकार ही पूरा सहयोग नहीं चाहती थी और हमारे सभी कामों को सन्देह की दृष्टि से देखती थी । इसलिए आन्दोलन को, जो बहुत-कुछ स्वयं बन्द हो चुका था, बाजाब्ता बन्द कर देने की बात मुझे खटकी नहीं । और बातें भी ऐसी नहीं थीं, जिनसे कुछ चोट लगे । इसलिए ध्यान से पढ़ने के बाद मैंने उस वक्तव्य के साथ अपनी सहमति प्रकट कर दी । तुरन्त उसकी नकल की गई और महात्माजी का विचार हुआ कि उसे अखबारों में भेजा जाय । वहां से तो तार भी नहीं जा सकता था । इसलिए मैं किसी को उसके साथ पटना भेजने का प्रबन्ध कर रहा था कि इतने में एक आदमी पटना से आ गया ।

पटने में डा० अंसारी का तार आया था । उसीको लेकर एक आदमी को वहां के लोगों ने भेज दिया था । पटने में लोगों ने समझा था कि सहरसा में तार नहीं मिल सकेगा । उस तार में डाक्टर अंसारी के पटने आने की बात थी । वह इन्हीं विषयों पर महात्माजी से बातें करने आ रहे हैं । उनके साथ डा० विधानचन्द्र राय और श्री भूलाभाई देसाई भी आवेंगे । यह तार पाकर महात्माजी ने अपने वक्तव्य को अखबारों में भेजने से रोक दिया और पटना जाने का निश्चय किया । डा० अंसारी के पहुंचने के समय हम लोग पटना पहुच गये । डा० अंसारी प्रभृति से महात्माजी की बाते हुईं और उसके बाद वह वक्तव्य अखबारों में भेज दिया गया । इस वक्तव्य के निर्णय से बहुतेरे कांग्रेसी सन्तुष्ट थे; पर जो कारण बताया गया था उसे वे पसन्द नहीं करते थे । इसका नतीजा यह हुआ कि अब प्रमुख कांग्रेसियों का इकट्ठा होकर इस विषय पर विचार करना आवश्यक हो गया । महात्माजी का बिहार का दौरा अभी पूरा नहीं हुआ था; पर गांधीजी ने हरिजन-सम्बन्धी काम से उधर का भी दौरा करना पसन्द किया । वह उधर चले गये । सलाह-मशविरे के लिए प्रमुख कांग्रेसियों को रांची में बुलाया गया । यह कोई बाजाब्ता बैठक नहीं थी, लोगों की राय जानने के लिए ही

बुलाहट हुई थी। वहां मैं भी गया। सभी सूबों से बहुतेरे लोग आये। दो तीन दिनों तक बातचीत हुई। निश्चय हुआ कि पटने में अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी की बाजाब्ता बैठक की जाय। इस बीच में महात्माजी और जगहों का दौरा कर लेंगे। मई (१९३४) के महीने में पटने में यह बैठक हुई।

इस बैठक की विशेषता यह थी कि अबतक सभी कांग्रेस-कमिटियां गैर-कानूनी थीं। उनमें से किसी की भी बैठक गैर-कानूनी होती। पर सरकार ने भी रंगढंग समझ लिया था। उसकी ओर से किसी तरह की रोक-टोक नहीं हुई। श्रीमती राधिकासिंह-हाल में बैठक हुई और संध्या समय उसी के मैदान में। दो प्रकार के लोग थे। जो प्रस्ताव वर्किंग-कमिटी की ओर से पेश किया गया, उसमें सत्याग्रह स्थगित करने का आदेश था, केवल गांधीजी को सत्याग्रह करने का अधिकार दिया गया था। कौंसिल के चुनाव में भाग लेने की भी बात थी। साथ ही, महात्माजी के वक्तव्य का समर्थन था। कुछ लोग, जो सत्याग्रह बन्द करने के विरोधी नहीं भी थे, कौन्सिल-चुनाव में भाग लेने के विरूद्ध थे। बहुत गरमा-गरम बहस के बाद प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। इस विरोध में अधिक भाग उन लोगों का था, जिन्होंने '-कांग्रेस सोशलिस्ट-पार्टी' बनाई। पटने में ही, इसी अवसर पर, सोशलिस्ट लोगों ने अपनी एक अलग कांफ्रेंस की। उन्होंने अपनी पार्टी, कांग्रेस के अन्दर रहकर ही संगठित की। इसके मुख्य कार्यकर्ता और नेता आचार्य श्री नरेन्द्रदेव और श्री जयप्रकाश नारायण थे। अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी में विरोधियों में मुख्य आचार्य नरेन्द्रदेव ही थे।

जो हो, अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी ने सत्याग्रह स्थगित कर दिया। इसके बाद अब सरकार के लिए भी रास्ता खुल गया उसने कुछ दिनों के बाद कांग्रेस-कमिटी पर से गैर-कानूनी होने का हुकुम उठा लिया। कुछ दिनों में वर्किंग-कमिटी की बैठक हुई। उसने आदेश दिया कि कांग्रेस का पुनः संगठन जल्द-से-जल्द कर लिया जाय और सभी कमिटियां बाजाब्ता काम करना शुरू कर दें। इस बार दोनों पक्षों ने अपने-अपने मन्तव्य स्वतंत्र रूप से प्रकाशित कर दिये थे। इसीलिए किसी पर किसी का दावा या बन्धन नहीं था। गांधी-अर्विन-समझौते के बाद उसकी शर्तों को पूरा कराने में बड़ी सरकार ने एक-एक करके सभी आश्रमों और कांग्रेस-भवनों को वापस

कर दिया । वे जिस अवस्था में थे, उसी दशा में उन्हें हमको ले लेना था और फिर मरम्मत वगैरह का सारा काम हमको स्वयं करना था । इसलिए, इस बार लिखा-पढ़ी में न समय लगाना पड़ा और न सिर खपाना पड़ा । वर्धा में वर्किंग कमिटी की बैठक हुई, जिसमें एक कौटुम्बिक विपत्ति के कारण मैं नहीं जा सका । इन दिनों सेठ जमनालाल बजाज स्थानापन्न सभापति बनाये गये और वहां कांग्रेस का संचालन करने लगे । निश्चय हुआ कि कांग्रेस का विशेष अधिवेशन किया जाय । यही अधिवेशन अक्तूबर में बम्बई में हुआ । सभी सत्याग्रही अभी तक छूटे नहीं थे । सरदार वल्लभभाई, पण्डित जवाहरलाल प्रभृति अभी तक जेल में ही थे । सरदार तो बम्बई-कांग्रेस के पहले ही निकल आये थे; पर पण्डित जवाहरलालजी बम्बई-कांग्रेस के बहुत बाद तक जेल में ही रहे ।

: १०८ :

भाई की मृत्यु और ऋण-संकट

इधर मेरे घर में बड़ी विपत्ति आ गई। मैं, इसी कारण से, पटना में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक हो जाने के बाद वर्धा में होनेवाली वर्किंग कमिटी में शरीक न हो सका। अखिल भारतीय कमिटी की बैठक समाप्त होने के बाद बहुत जल्द ही यह विपत्ति आई।

रिलीफ के काम में भाई ने बहुत परिश्रम किया था। छपरे में ही उनको अधिक काम करना पड़ा था। प्रान्तीय काम में भी उन्होंने अच्छा भाग लिया था। उन्होंने आसाम में जो जमीन ली थी, उसे देखने की-कभी वहां भी जाया करते थे। अभी तक उसका कोई समुचित प्रबन्ध न हो सका था। वह मई के महीने में वहां एक बार गये। वहां से लौटकर आये तो उनको ज्वर हो गया। वह जगह बहुत मलेरिया-ग्रस्त थी। उनको मलेरिया ने वहीं पकड़ा, जिसका असर यहां घर लौटने पर मालूम हुआ। पर उससे वह अच्छे हो गये। मैं एक दिन छपरा गया तो उनको अच्छा पाया, पर देखा कि वह बैंक का काम करने लगे हैं। उस समय वह बहुत कमजोर थे। मैंने मना किया, कहा कि अभी कुछ और आराम कर लें, शक्ति हो जाने पर ही काम करें। यह सब कहकर मैं पटने चला आया। मेरे पटना लौटने के दो-चार दिनों के अन्दर ही एक दिन दोपहर को छपरे से तार आया कि उनकी तबीयत खराब हैं, डाक्टर रघुनाथशरण को मैं भेज दूं अथवा साथ लेकर आऊं। तार पढ़कर मेरी चिन्ता बढ़ गई। यह तार छपरे के सिविल सर्जन डाक्टर राजेश्वरप्रसाद की राय से दिया गया था।

डाक्टर शरण से मिलकर छपरा जाने का निश्चय हो ही रहा था कि दोपहर का स्टीमर, जो गंगा-पार जाता है, निकल गया। हम लोगों ने रात तक ठहरना मुनासिब न समझा। मोटर पर डाक्टर शरण के साथ मैं रवाना हो गया। नाव से मोटर को गंगा-पार करके हम लोग आगे चले। भूकम्प के कारण सड़कें तो यों ही खराब हो गई थीं, रेल बन्द हो जाने से जो बहुत बैलगाड़ियां और लारियां चली थीं, उससे सड़कों की हालत और भी रद्दी हो गई थी। हम लोग प्रायः दस बजे रात को छपरा

पहुंचे। वहां के सभी डाक्टर बहुत चाव और प्रेम से चिकित्सा कर रहे थे। डाक्टर राजेश्वरप्रसाद तो दिन-रात वहीं रहते थे। जब उन्होंने हालत काबू के बाहर देखी तभी तार दिया था। ज्वर के अलावा इस समय 'किडनी' की हालत खराब हो गई थी। इसलिए पेशाब और खून का जांचना अत्यन्त आवश्यक था। उनको पहले कुछ चीनी की शिकायत थी और उसकी चिकित्सा भी कराई गई थी, जिससे वह कुछ संभल गई थी; पर कमजोरी की हालत में शायद उसने भी जोर कर दिया था।

रात को ही पेशाब इत्यादि लेकर आदमी पटने भेजा गया। डाक्टरों ने बहुत परिश्रम किया, पर दिन-दिन बीमारी बढ़ती गई। पटने से वैद्यराज पंडित ब्रजबिहारी चौबेजी को भी बुलाया। उन्होंने भी कुछ उपचार किया, पर किसी का कुछ असर न हुआ। अन्त में डाक्टरों की राय हुई कि शायद एक 'किडनी' निकालने से कुछ लाभ हो। डाक्टर राजेश्वरप्रसाद अच्छे सर्जन होते हुए भी यह जवाबदेही अकेले लेना नहीं चाहते थे। डाक्टर बनर्जी के बुलाने का प्रयत्न किया गया, पर वह मेडिकल कालेज बन्द होने के कारण पटने में नहीं थे। मुंगेर के योग्य सिविल सर्जन डाक्टर बटुकदेवप्रसाद वर्मा बुलाये गए, पर उनके हाथ में कोई दूसरा मरीज था, जिसको तुरन्त छोड़कर वह कहीं बाहर जा नहीं सकते थे। लखनऊ तार दिया कि वहां के नामी सर्जन डाक्टर भाटिया बुलाये जायं, पर वह भी न आ सके। कलकत्ते तार दिया तो वहां के मित्रों ने नामी सर्जन डाक्टर पंचानन चटर्जी को भेजा। पटना के कर्नल एलेक्जेण्डर को भी बुलाया। सबने देखकर कहा कि कमजोरी इतनी है कि छुरी लगाना ठीक न होगा। हार मानकर नश्तर की बात छोड़ दी गई। इसके दो दिनों के अन्दर ही उनका स्वर्गवास हो गया!

हमने तार देकर जमशेदपुर से जनार्दन और उनके स्त्री-बच्चे को बुला लिया था। लखनऊ से दामाद और लड़की भी आ गई। शिकारपुर की बबुनी मृत्यु होने पर पहुंची। पटने से साथ-ही-साथ भाई मथुराप्रसादजी आये थे। पूज्य ब्रजकिशोरबाबू भी आ गये। इस तरह सभी इष्ट-मित्रों के बीच, बाल-बच्चों से घिरे हुए, उन्होंने शरीर-त्याग किया। हम सब रामनाम ले रहे थे और गीता-पाठ कर रहे थे। हम सबके लिए तो आफत का पहाड़ टूट पड़ा। हमने घर से कभी सम्बन्ध रखा ही न था। सबकुछ वही करते थे। जब मैं वकालत कर रहा था और रूपये कमा रहा था तब भी वही मेरी देखभाल करते थे। जब मैं असहयोग करके फक्कड़ बन गया तब

भी वही मेरी देखभाल करते थे । मेरी स्त्री और लड़के भी उनके ही साथ बराबर रहे थे । मैं जब कभी जाता था तो उनसे मिल आता था । उन्होंने घर की स्त्रियों को कभी एक-दूसरे से अलग न होने दिया, लड़कों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया । लड़के भी उनको ही पिता जानते और मानते थे । यह विपत्ति अचानक आ पड़ी । वह भी ऐसे समय आई जब मैं दूसरे काम में व्यस्त था ।

हम लोग जल्द दी दाह-क्रिया के लिए सरयूजी चले गये, जो उन दिनों छपरा-शहर से कुछ दूर पर थीं । दाह-क्रिया करते देर हो गई । दूसरे दिन सवेरे, घर के सब लोगों के साथ, मोटर पर हम जीरादेई चले गये । वहीं घर पर श्रद्धादि क्रिया की गई । भाई सारे सूबे में विख्यात थे । वह सार्वजनिक सेवा में बहुत समय लगाते थे । इसके अलावा छपरे में और दूसरी जगहों में भी लोगों की सेवा-सहायता किया करते थे । किसी के घर में यज्ञ हो, वह प्रबन्ध करते । किसी प्रकार का सभा-सम्मेलन कहीं हो, वह प्रबन्ध में जुट जाते थे । व्यक्तिगत व्यवहार लोगों के साथ इतना अच्छा रखते थे कि किसी को कोई जरूरत हो तो उसको पूरा करने में हिचकते नहीं थे । इसलिए उनकी मृत्यु की खबर जब छपी तो सारे सूबे से बहुत मित्रों के सहानुभूति-सूचक तार और पत्र आने लगे । इन सबसे मुझे बड़ा ढाढ़स हुआ । महात्माजी के सांत्वना-सूचक शब्दों का असर तो पड़े बिना रह ही नहीं सकता था ।

यह सब होते हुए भी मेरे लिए यह बहुत ही कठिन और दुःख का समय हुआ । मैं कह चुका हूं कि घर के कारबार से मेरा कुछ सरोकार नहीं रहा करता था । सबकुछ भाई ही देखा करते थे, यहांतक कि जब मैं रूपये पैदा किया करता था तब भी मेरे निजी आराम और जरूरत की चीजों का ख्याल वही किया करते थे । जब पटना आते, नौकर से पूछते कि मेरे कपड़े तो ठीक हैं न, मेरी धोतियां अच्छी हैं या पुरानी हो गई हैं, मेरे पास कुर्ते कितने हैं, मैं नाश्ता क्या करता हूं, इत्यादि । और, जरूरत के मुताबिक उस नौकर को, चाहे मेरे क्लर्क मौलवी शराफत हुसैन को, जिनको हम 'मुंशीजी' कहा करते थे, हिदायत दे जाते । मैं भी, जो कुछ खर्च के बाद बच जाता सब उनके ही हवाले कर देता । घर पर थोड़ी जमींदारी थी, जिससे चार सौ से पांच सौ रूपया तक मासिक बचत होगी । पिताजी, जमींदारी के काम से अलग ही रहते थे, इससे कुछ बदइन्तजामी हो गई थी, जिसके कारण इतनी आमदनी होते हुए भी कभी-कभी कष्ट हो जाया करता । मैं पहले ही लिख चुका हूं कि जब भाई

प्रयाग में बी० ए० में पढ़ रहे थे तब परीक्षा के समय उन्होंने यूनिवर्सिटी-फीस के लिए रूपये मांग भेजे; इतनी रकम कोई बड़ी चीज नहीं थी; पर इन्तजाम का सारा भार दीवान पर था, दीवान जल्दी न दे सके तो पिताजी न कर्ज लेकर रूपये भिजवाये। यह तो एक साधारण उदाहरण है। रूपये की दिक्कत हमेशा रहा करती।

मैं छपरे में जब पढ़ता था, वहां नगद रूपयों की बहुत कम जरूरत होती। दो मोदियों से बात पक्की हो गई थी। मैं पुर्जा लिख देता, वे जरूरत की चीजें दे देते। सब पुर्जे लेकर वे जीरादेई जाते और रूपये वहीं से पाते। केवल स्कूल-फीस और पुस्तक अथवा कपड़ा खरीदने के लिए नगद रूपये की जरूरत होती। जब कोई घर से जमींदारी में मुकदमे की पैरवी के लिए आता तो उससे मैं ले लेता। इसके लिए एक आदमी, जिनका नाम किन्नूराय था, नियुक्त थे। वह हमेशा छपरा आते-जाते रहते। इसलिए मुझे कभी कोई तकलीफ नहीं हुई। पर यह बात भाई के साथ नहीं थी। उनको पटने या प्रयाग में खर्च के लिए हर महीने नगद रूपये चाहिए थे। इसके लिए उनको बहुत कष्ट झेलना पड़ा था। इस बात को वह भूले नहीं थे। इसलिए पिताजी के देहान्त के बाद जब उन्होंने जमींदारी का इन्तजाम संभाला तो मेरे पास खर्च भेजने का बहुत अच्छा प्रबन्ध कर दिया; बल्कि सच तो यह है कि पिताजी के जीवन-काल में ही, जब वह प्रयाग से बी० ए० पास करके आ गये, जमींदारी का काम देखने लगे। प्रबन्ध उन्होंने अच्छा कर दिया।

पिताजी के मरने के समय थोड़ा कर्ज था। उनकी मृत्यु के बाद एक भतीजी की शादी हुई, उसमें भी कुछ कर्ज हो गया। इस तरह कई हजार का कर्ज था। पर इतनी जमींदारी के लिए यह कर्जा कुछ इतना बड़ा न था कि अदा ही न हो सके, विशेषकर अगर कुछ बाहर की नगदी आमदनी हो जाय। भाईसाहब बिहार-बैंक की छपरा-शाखा के मैनेजर थे। पर उनको इतना वेतन नहीं मिलता था कि वहां का सब खर्च चलाकर वह कुछ बचा सकें। मैं कुछ कमाता था जरूर; पर खर्च भी काफी करता था। इसलिए यह कर्ज अदा न हो सका। एक और लड़की की शादी आ गई। उसमें भी खर्च पड़ा। चाची मर गईं। उनके श्राद्ध में खर्च पड़ा। पर इन सबसे कर्ज बढ़ा नहीं; बल्कि आमदनी कुछ बढ़ गई; क्योंकि बारह सौ रूपये की सालाना आमदनी, जो चाची को तीर्थाटन के लिए मिली हुई थी, अब बचने लगी। तो भी किसी तरह बोझ हल्का न हुआ। पर सब लोग बड़े आराम से रहते। ऊपरी ठाठ-बाट बहुत अच्छा था। नाम और यश अच्छा फैला। भाईसाहब बहुत ही उदार थे। खर्च काफी किया

करते थे, किसी व्यसन या शौकीनी में नहीं; पर तरह-तरह के दूसरे खर्चे थे। इसलिए अच्छा प्रबन्ध होने पर भी पहले का कर्ज अदा न हो सका। वह आशा लगाये थे कि मैं इतने पैसे कमा लूंगा कि कर्ज आसानी से अदा हो जायगा। जब मैंने वकालत छोड़ने का निश्चय कर लिया तो उनकी सब आशाओं पर पानी फिर गया। पर कभी उन्होंने एक शब्द भी मुझसे कहा नहीं।

वह जानते थे कि सार्वजनिक सेवा की ओर मेरी अभिरूचि उनके ही प्रोत्साहन से हुई थी। जहांतक हो सका, वह बराबर इसमें मेरी मदद ही करते थे। कभी असन्तोष प्रकट न करते। मुझे इस तरह के काम से रोकने का ख्याल भी अपने मन में न आने देते। इसलिए अपनी सब सांसारिक आशाओं पर पानी फिरते देखकर भी खुश ही रहे और हमेशा मुझे खुश रखने के प्रयत्न में ही लगे रहे। उन्होंने यह सोचा कि बैंक की नौकरी से आमदनी ज्यादा नहीं हो सकती। ज्यादा मुशाहरावाली दूसरी नौकरी चाहते तो मिल जाती; क्योंकि चुस्त मैनेजर होने की उनकी काफी ख्याति थी। पर जिस बैंक के स्थापित होने में उन्होंने मदद की थी, उसको किसी तरह छोड़ना नहीं चाहते थे। इसके अलावा उसमें सुविधा भी थी। वह नौकर की तरह नहीं, मालिक की तरह काम करते। उतना परिश्रम शायद ही कोई नौकर (मैनेजर) किसी बैंक का करता हो। साथ ही, वह प्रायः रविवार को जीरादेई चले जाते और घर का कारबार देख आते। सार्वजनिक कामों में भी वह बहुत समय लगाते। बैंक के अधिकारियों की ओर से इसमें कभी रूकावट नहीं डाली जाती। उन्होंने इन्हीं कारणों से बैंक से अलग होना तो गैरमुनासिब समझा, पर सोचा कि किसी दूसरे उपाय से कुछ आमदनी बढ़ाई जाय। इसलिए उन्होंने चावल की एक मिल खोली।

मैं तो कांग्रेस के काम में व्यस्त था, मिल का काम बहुत आगे बढ़ जाने पर मुझे इसका पता लगा। भाई के हाथ में बैंक का काम, कोआपरेटिव-सोसाइटियों का काम और दूसरे-दूसरे इतने अधिक काम थे कि वह इस मिल की देख-रेख में खुद समय न दे सके। उन्होंने दूसरों पर भरोसा किया। दूसरे लोग, चाहे अनुभव के अभाव से, चाहे सुस्ती से, चाहे और किसी कारण से, ठीक प्रबन्ध न कर सके। मिल में रूपयों की कमी हो गई। धान का मौसम बीतता जाता था। यदि उस समय धान न खरीदा गया तो मुनाफा न होगा। पर आशा की जाती थी कि यदि किसी से रूपये लेकर लगा दिये जायं तो मौसम बीतने पर चावल बिक जाने से रूपये वापस आ जायंगे और महाजन को अदा कर दिये जायंगे। बाजार की हालत ऐसी समझी जाती

थी कि लागत के रूपयों के ब्याज देने के बाद भी अच्छा मुनाफा रहेगा। उन्होंने ऐसा ही समझा और मुझसे कहा कि सेठ जमनालालजी से एक 'सीजन' के लिए कुछ रूपये ला दो। सेठजी ने इस बात को मंजूर कर लिया। रूपये आ गये। मिल खूब जोरों से चलने लगी। तैयार होने के पहले ही चावल बिक जाता। खरीदारों की भीड़ लगी रहती। सब समझते थे कि खूब मुनाफा होगा। मिल के संचालक महाशय ने दाम लगाने में ही भूल कर दी थी। लागत से कम दर पर ही चावल बिक रहा था। ऐसी अवस्था में खरीदारों का टूट पड़ना कोई आश्चर्य नहीं था। जितना ज्यादा चावल बनता और बिकता, घाटे की रकम उतनी ही बढ़ती गई। सेठजी के रूपये आ जाने से मैंने भी थोड़ी दिलचस्पी ली। एक दिन मिल में गया। वहां ठहरकर हिसाब देखा। मालूम हुआ कि लागत से कम पर ही चावल बिक रहा है। मैनेजर मेरी बात मानते नहीं थे। अन्त में भाईसाहब को भी समय लगाना पड़ा। उन्होंने भी हिसाब लगाकर देखा और समझ लिया कि बहुत नुकसान हो चुका है। नतीजा यह हुआ कि सेठजी का रूपया समय पर नहीं दिया जा सका। आहिस्ता-आहिस्ता कुछ-कुछ अदा हुआ, पर बहुत ज्यादा बाकी रह गया।

जब ऐसी अवस्था मालूम पड़ी तो हम दोनों बहुत शर्मिन्दा हुए, पर कुछ कर नहीं सकते थे। तकाजा होता रहा, पर रूपये अदा न हो सके। सेठजी के एक मारवाड़ी मित्र श्री बैजनाथ केडिया बिहार में कहीं थोड़ी जमीन लेकर खेती करना चाहते थे। एक बार सेठजी और केडियाजी दोनों जीरादेई आये। मेरी जमींदारी में सत्तर-अस्सी बीघे जमीन ऐसी है, जो अपने जोत में रहती है। उसमें धान, गेहूं, ऊख इत्यादि सब प्रकार की फसलें पैदा हो सकती हैं। मेरे मकान से प्रायः एक मील के अन्दर ही वह जमीन है। सेठजी के और दूसरे कर्ज मिलकर साठ-पैंसठ हजार होते थे। वह इस पर राजी हो गये कि यह जमीन और मकान उनको हम बेंच दें तो वह सब-का-सब कर्ज चुकता कर देंगे। मकान पक्का है, भड़कदार है; बना तो था दादा के समय में, पर भाईसाहब ने उसमें कई हजार लगाकर उसे बढ़ाया था और कुछ हिस्से को दो-महला बनाया था। यदि मकान और जीरात की जमीन हम उस समय बेंच देते और कर्ज से मुक्त हो जाते तो हर तरह अच्छा होता। इसके बाद भी कम-से-कम पांच सौ रूपये मासिक की आमदनी जमींदारी से बेदाग बच जाती। हां, घर कहीं

अन्यत्र बनाना पड़ता । पर इस समय घर के लोग अधिकतर छपरा रहा करते थे । छोटा घर कहीं अपनी जमींदारी में बना लेना मुश्किल नहीं था । मैंने इस राय को पसन्द किया और इसपर जोर दिया कि कर्ज अदा करने का इससे बेहतर रास्ता इस समय नहीं हो सकेगा । इसलिए इसे तय कर देना चाहिए ।

सेठ लोगों से बातचीत हुई । वे तो राजी थे ही । सेठ जमनालाल बजाज ने भी बहुत जोर दिया कि यह बोझ हटा देना चाहिए, नहीं तो आगे चलकर यह गला दबा देगा । भाईसाहब बाप-दादा के बनाये और हम सबके जन्म-स्थान पुराने मकान को बेचने से बहुत हिचके; पर मजबूरन कुछ-कुछ राजी भी हुए । पीछे घर की स्त्रियों और कुछ मित्रों की राय से, जिनमें बाबू मथुराप्रसाद भी थे, प्रभावित होकर वह मकान और खेत बेचने पर राजी नहीं हुए । मामला खत्म हो गया । पैतृक मकान और जीरात के खेत तो नहीं बिके; पर थोड़े ही दिनों में दूसरे महाजनों का इतना जोर हुआ कि काफी जमींदारी बेचनी पड़ी ।

चावल-कल के घाटे से तो दबे थे ही, उन्होंने कुछ दूसरा व्यापार करना चाहा ! छपरे में बिजली का कारखाना खोलने का प्रबन्ध किया । १९३० में, जब मैं जेल में था, यह बात तय हुई । रूपये अपने पास तो थे नहीं, छपरा-इलेक्ट्रिक -सप्लाई-कम्पनी कायम की गई । गवर्नमेण्ट ने लाइसेन्स उनको ही दिया, कम्पनी को नहीं । इसलिए बिजली-कल उन्होंने ही बनवाई । रूपये कर्ज के थे । कुछ बैंक से लेकर कम्पनी ने दिया । कुछ 'शेयर' बेचकर और कुछ उन्होंने अपनी जवाबदेही पर कर्ज लेकर रूपये लगाये । पहले का और अबका कर्ज मिलाकर बहुत हो गया था । मरने के एक-दो साल पहले ही उनको प्रायः बाईस सौ रूपये सालाना आमदनी की जमींदारी बेच देनी पड़ी । तो भी अभी सब कर्ज अदा न हुआ । सेठ जमनालालजी के रूपये तो बाकी रह ही गये; दूसरे भी कई जगहों के रूपये बाकी थे । मुझे सेठजी के सिवा दूसरों के कर्ज की खबर नहीं थी । जब जमींदारी बिकी तो मैंने सोचा था कि अब बोझ हल्का हो गया होगा । पर यह कहां होनेवाला था । कुछ तो खर्च के कारण और कुछ इस तरह के व्यापार के कारण कर्ज बढ़ता ही गया । कभी-कभी वह कहा करते थे कि बिजली के हिस्से अगर बिक जायं और जो रूपये लगाये गये हैं, वे उतर आवें तो बोझ हल्का हो सकता है । पर यह भी उन्होंने आशावादी होने के कारण ही कहा था । कुछ हिस्से बेचने का प्रयत्न भी किया, पर चूंकि बिजली-कल पर कम्पनी का स्वत्व ही नहीं था, हिस्सा बिकने में कठिनाई हुई । इस तरह अपने

ऊपर कर्ज का भारी बोझ बढ़ता गया। ब्याज भी बढ़ता गया और अदाकारी का कोई सामान नज़र नहीं आता था। लड़के लोगों में मेरा भतीजा इंगलैंड से लोहा बनाने का काम सीखकर आया और टाटा कम्पनी में उसे जगह मिल गई थी। वहां उसको तीन सौ-साढ़े तीन सौ रूपये के लगभग मिलता था; पर वहां का खर्च और घर के लोगों के वहां रह जाने का खर्च इतना अधिक होता कि वह बहुत बचा नहीं सकता। शायद भाईसाहब जिस तरह मुझसे कभी कुछ नहीं मांगते और न मुझे आर्थिक चिन्ता में कभी डालना चाहते, उसी तरह उससे भी कभी कुछ न चाहते और न कहते। उनकी मृत्यु हो जाने के बाद हमको इसका पता लगा कि हम कितने गहरे पानी में उतर गये हैं। लोगों का उनपर इतना विश्वास था कि बिना किसी लिखा-पढ़ी के लोगों ने हजारों-हजार का कर्ज उन्हें दे दिया था। अगर वह जीते रहते तो और भी मालूम कितने हजार उनको लोगों से मिल जाते।

उनके मरने के बाद जब मुझे यह सब देखने की नौबत आई तो पहले मुझे यही नहीं मालूम था कि किसको कितना देना है और किससे कितना पाना है। मैं छपरे में ठहर गया। उनके एक विश्वासी बैंक के नौकर थे, जो उनके निजी लेन-देन की भी पूरी खबर रखते थे। उन्होंने मुझे कुछ बताया और पीछे महाजन लोग एक-एक करके खुद मेरे पास आये और कहने लगे। जब मुझे पूरा पता चल गया कि कितना देना है तो मैं बहुत परेशान हो गया; क्योंकि सब-कुछ बेच देने पर भी सबका कर्ज अदा होना कठिन था। हां, यदि अच्छी कीमत आ जाय तो किसी तरह शायद सब अदा हो सके। पर अब जमींदारी की अच्छी कीमत देता कौन है और वह भी जब जल्दी में बेचना हो! इतने कर्ज का भार सिर पर रखना मेरे लिए असह्य था। मैं चाहता था कि किसी तरह लोग जमींदारी ले लेते और हमको मुक्त कर देते तो बड़ी कृपा होती। पर सभी महाजन जमींदारी लेना नहीं चाहते थे। मैंने सबसे कहा कि मैं कोई-न-कोई प्रबन्ध करके एक साल में रूपये अदा करने का प्रयत्न करूंगा और जो जमींदारी लेना चाहें, उनको तो तत्काल ही लिख देने को तैयार हूं। लोगों का भाईसाहब पर इतना विश्वास था--उनके साथ इतना प्रेम था और मुझपर भी विश्वास था कि सभी बिना हिचक के मेरी बात मान गये। मैं चाहता था कि अब सब काम छोड़-छाड़कर जमींदारी बेचने के प्रबन्ध में लग जाऊं और इस बोझ को हटाकर फिर सार्वजनिक काम में आ लगूं।

: १०६ :

ऋण-मुक्ति और बम्बई-कांग्रेस

बम्बई में होनेवाली कांग्रेस का समय नजदीक आने लगा और सभापति के लिए मेरा नाम आया। करांची-कांग्रेस के बाद उड़ीसा में होनेवाली कांग्रेस के सभापतित्व के लिए भी मेरा नाम आया था और एक प्रकार से मैं चुना भी गया था। पर सत्याग्रह छिड़ जाने के कारण वह कांग्रेस हुई ही नहीं। जब फिर बाजाब्ता कांग्रेस होने लगी तो स्वाभाविक रीति से मेरा ही नाम लोगों को जंचने लगा। इसके अलावा भूकम्प-संकट-निवारण के काम से सारे देश में मेरे प्रति बहुत प्रेम और विश्वास बढ़ गया था। गांधीजी भी चाहते थे कि मैं ही सभापति होऊं।

भाई की मृत्यु के आघात से मैं घायल था ही। उसपर कर्ज के बोझ का पता लगते ही मैं और भी कातर हो गया था। मैंने ऐसी अवस्था में कांग्रेस के सभापतित्व का बोझ लेना अनुचित और असम्भव समझा। महात्माजी की ओर से श्री महादेवभाई देसाई ने लिखा कि भूकम्प-सम्बन्धी काम से सन्तुष्ट होकर देश मेरे प्रति विश्वास और श्रद्धा दिखलाना चाहता है, मुझे इस भार को लेना उचित है, कर्ज के सम्बन्ध में सेठ जमनालालजी से कुछ बातें हुई हैं, वह देखेंगे। शायद वहां यह समझा गया था कि उनका ही अधिक कर्ज है तो वह कोई उपाय सोचकर कोई प्रबन्ध कर देंगे।

सेठजी एक बार मेरे घर के लोगों से मिलने जीरादेई आये। घर के लोगों के साथ भी उनका बहुत प्रेम हो गया था। मेरा भौजाई, मेरी स्त्री और दो पतोहुएं बहुत दिनों तक साबरमती-आश्रम में रहीं थीं। वहीं उनसे सबकी मुलाकात हो गई थी। इसलिए भाई के मरने पर पुछार करने वह आये थे। घर का सब हाल और कर्ज का भी कुछ हाल सुना था। उनका ख्याल था कि सब जमींदारी यदि ठीक कीमत पर बिक जाय तो सब कर्ज अदा हो सकेगा, पर जमींदारी का लालच एकदम छोड़ना पड़ेगा। मैं इसपर राजी था ही। इसलिए महात्माजी ने उनका हवाला दिया और कर्ज की चिन्ता उनपर छोड़कर कांग्रेस का भार उठाने को कहा। यहां महाजनों ने भी एक साल का समय दे ही दिया था। मैंने सभापतित्व का गुरूतर भार स्वीकार कर लिया। सेठजी ने अपने मुनीम को भेज दिया कि सब महाजनों से हिसाब कर लें,

जिससे इसका पूरा पता लग जाय कि कितना देना है और उनसे बातचीत भी करके यह पता लगावें कि उनमें से कौन जमींदारी लेने पर राजी हैं ।

पर मेरी विपत्ति का अभी अन्त नहीं था । मेरे भतीजे जनार्दन का एक बच्चा था । वह करीब छः बरस का हो चुका था । जैसा पहले भी लिख चुका हूं, उसे सभी बहुत प्यार करते थे । मेरी भी बहुत मुहब्बत थी । उसको ज्वर हो गया । उसके सिर में कभी-कभी दर्द हुआ करता था । भाईसाहब की मृत्यु के समय वह अपनी मां के साथ जमशेदपुर से आया था । इलाज कराने के लिए मैं उसे पटने ले आया । यहां उसे टाइफाइड हो गया । अठारह-बीस दिनों तक बीमार रहकर वह भी चल बसा । इसकी चोट हमको बहुत लगी । भाईसाहब तो चले ही गये थे, अब यह होनहार बच्चा भी चला गया । इन सब कारणों से मैं बहुत ही व्यथित था । पर कांग्रेस का सभापतित्व स्वीकार कर लिया, यह एक तरह से अच्छा ही हुआ । उसमें जी लग गया और अब घर की चिन्ता करने का समय ही नहीं रह गया । कांग्रेस के सभापतित्व की बात कहने के पहले घर की बात पूरी कर देना अच्छा होगा, यद्यपि यह अध्याय सभापतित्व के बाद भी कुछ दिनों तक चलता रहा ।

जब कर्ज का सब हिसाब देख लिया गया और सेठजी को रिपोर्ट दी गई तो इस बात का प्रयत्न किया गया कि जो राजी हों, उनको जमींदारी दे दी जाय । कुछ महाजन राजी हुए । उनके हाथ जमींदारी बेच दी गई । महाजन लोगों में प्रायः सभी, एक को छोड़कर, बहुत अच्छी तरह पेश आये । एक महाशय ने कसकर सूद-ब्याज लिये--एक पैसा भी, जैसा सभी महाजन फारखती के समय किया करते हैं, छोड़ा नहीं । और सबों ने, भाईसाहब की मृत्यु के बाद से अदाकारी के दिन तक, जो उसके सात-आठ महीने बाद हुई, ब्याज नहीं लिया । किसी-किसी ने और भी कुछ छोड़ दिया । जमींदारी वगैरह का अधिकांश बेच डालने पर भी, कुछ महाजनों के--जो जमींदारी लेना नहीं चाहते थे--और सेठजी के रूपये बाकी रह गये । मैंने बाकी सारी जमींदारी सेठजी के नाम में जरपेशगी लिख दी और उन्होंने दूसरे महाजनों के नकद रूपये अदा करा दिये । सब रूपये उस समय वह अपने पास से नहीं दे सकते थे, तो उन्होंने सेठ घनश्यामदास बिड़ला से कुछ दिलवाये और कुछ खुद दिये । इस तरह सारा-का-सारा कर्ज अदा हो गया । पर एक धूर जमीन भी अपनी जमींदारी सेठजी के नाम में जरपेशगी लिख दी और उन्होंने दूसरे महाजनों के नकद रूपये अदा करा

दिये। सब रूपये उस समय वह अपने पास से नहीं दे सकते थे, तो उन्होंने सेठ घनश्यामदास बिड़ला से कुछ दिलवाये और कुछ खुद दिये। इस तरह सारा-का-सारा कर्ज अदा हो गया। पर एक धूर जमीन भी अपनी जमींदारी की नहीं रह गई। सेठजी को बिहार में जमींदारी तो लेनी नहीं थी। उस समय उन्होंने उसे इसलिए लिखवा लिया कि आहिस्ता-आहिस्ता जमींदारी बेचकर उनके रूपये अदा कर दिये जायंगे। यही विचार घनश्यामदासजी का भी था। इस तरह मैं कर्ज के बोझ से मुक्त हो गया।

हां, जमींदारी बेचकर सेठों के रूपये अदा करने थे। जबतक अदा न हो, सूद देना था। अब जमींदारी में से एक पैसा भी हम घर-खर्च में नहीं ले सकते थे। जीरात की जमीन भी जरपेशगी में थी। पर सबकी आबादी वगैरह हम लोगों को ही करानी थी और उन लोगों को सूद सालाना अदा करते जाना था। जमींदारी का ठेका उन्होंने मेरे छोटे लड़के धन्नू के नाम से लिख दिया था। इस तरह, यद्यपि कानूनी तौर पर जरपेशगीदार सेठजी हुए, तथापि जमींदारी और जीरात हमारे ही कब्जे में रही। उनको सिर्फ सालाना सूद मिलना था और जैसे-जैसे हो सके असल रूपये भी पाने थे। लड़के लोग कुछ-न-कुछ पैदा कर रहे थे, इसलिए जमींदारी पर भोजन के लिए भरोसा करने की जरूरत नहीं थी। मैंने इस बात की कोशिश की कि बची हुई जमींदारी बिके, पर अब जमींदारी की कीमत और भी घटती गई। कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल ने लगान घटाकर आमदनी भी कम कर दी। अब जमींदारी की न वह कीमत रही और न वह इज्जत। इसलिए जमींदारी अभी तक बिकी नहीं है। पर मैं केवल उसे बेचने के ही भरोसे बैठा न रहा। चम्पारन में कुछ जमीन मैंने वकालत के जमाने में ही ली थी। वहां पास में ही चीनी-कल बन जाने से ऊख से कुछ पैसे मिलने लगे। जीरादेई के पास की जीरात में भी ऊख से कुछ पैदा होने लगा। कुछ जनार्दन की कमाई से, कुछ धन्नू के ऊख के ठेके की बचत से, कुछ घर के पुराने कीमती शालदुशाले बेचकर, हमने सूद और असल अदा करना शुरू कर दिया। यानी जो कुछ आता और बचता, सब इसी काम में लगा दिया जाता। इस तरह अबतक उस कर्ज की अच्छी रकम अदा हो चुकी है। पर अब भी कुछ रकम बाकी है। सूद हमेशा अदा होता गया है। अब ऐसी हालत है कि मैं आशा करता हूं, असल भी कुछ दिनों में इसी तरह से, जमींदारी बिना बेचे ही, अदा हो जायगा। वे दिन मेरे लिए बहुत

ही अन्धकारमय थे, जब अपने ऊपर इतने कर्ज का भार मैंने पाया। सेठ जमनालालजी की चतुरता और उदारता ने रास्ता निकाला और घनश्यामदासजी की सहायता लेकर उन्होंने मेरे सिर के बोझ को हल्का कर दिया। जमीन तो नहीं बची, पर इज्जत बच गई, ईमान बच गया, सब महाजनों को जो हमपर विश्वास था वह भी बच गया--साथ ही, देश के महत्त्वपूर्ण काम का भार उठाने की शक्ति भी बच गई।

भाईसाहब गये। जमनालालजी ने उनका स्थान ले लिया। मैं पहले-जैसा ही निठल्ला बना रहा। उनके प्रति शब्दों द्वारा कृतज्ञता नहीं प्रकट की जा सकती। साथ ही, मैं अपने भतीजे जनार्दन और दोनों लड़के मृत्युन्जय तथा धनन्जय को भी हृदय से आशीर्वाद देता हूं कि ऋणसंकट के इस कठिन समय में वे भी अधीर नहीं हुए। घर का सबकुछ खुशी-खुशी हँसते-हँसते उन्होंने दे डाला। एक प्रकार से पहला काम उनका इस बोझ को ढोना और कर्ज को अदा करने के लिए दस्तावेज पर दस्तखत करना ही हुआ। उन्होंने न कभी शिकायत की और न मुंह बनाया। अब वे अपना कमाते-खाते हैं। जो बोझ अभी रह गया है, उसको भी हटाने की चिन्ता में वे हैं। इस हिम्मत और सब्र के लिए उनको भी बधाई है। ईश्वर उनका भला करेगा। अभी ही अच्छे दिन लौटते दीखने लगे हैं।

बम्बई-कांग्रेस के दिन निकट आ गये। १६३१ के मार्च के बाद कांग्रेस का बाजाब्ता अधिवेशन यहीं होनेवाला था। इस बीच में दूसरी बार का सत्याग्रह हो चुका था। ब्रिटिश सरकार ने सुधार-सम्बन्धी अपनी नीति श्वेत पत्र के रूप प्रकाशित कर दी थी। विलायत में नया विधान उसी के अनुसार बन रहा था। कांग्रेस गैर-कानूनी संस्था अब नहीं थी। वह इन विषयों पर अपनी राय देनेवाली थी। साथ ही, १६३४ के नवम्बर में ही--अर्थात् कांग्रेस-अधिवेशन के चन्द हफ्तों के अन्दर ही, केन्द्रीय असेम्बली के सदस्यों का चुनाव होनेवाला था। इस सम्बन्ध में भी कांग्रेस को अन्तिम फैसला देना था। भावी विधान सम्बन्धी नीति भी निर्धारित करनी थी। इसलिए अधिवेशन का महत्त्व काफी था। मैंने परिपाटी के अनुसार अपना भाषण लिखा। पर वह अभी पूरा न हो पाया था। मैंने सोचा था कि कुछ पहले ही वर्धा चला जाऊंगा और वहां एकांत में बैठकर उसे समाप्त करूंगा। वहां गांधीजी से बातें कर लेने का

मौका मिलेगा। पर जो भाषण मैंने लिखा था, उसमें प्रस्तावित विधान की काफी आलोचना थी। मैंने उसे डाक्टर सच्चिदानन्दसिंह को दिखलाया कि कहीं किसी अंश में, अज्ञान अथवा असावधानी के कारण, मैंने कुछ भूल तो नहीं की है। उन्होंने उसे देखा और मुझे विश्वास दिलाया कि आलोचना ठीक है और कोई भूल नहीं है। मैं पटने से जमशेदपुर गया। वहीं से वर्धा जानेवाला था। पर वहां मुझे ज्वर-दमा का दौरा हो गया। वहीं ठहर जाना पड़ा। अच्छा होकर वर्धा गया। वहां की अच्छी आब-हवा में जल्द ही अच्छा हो गया। भाषण भी वहीं समाप्त कर सका।

: ११० :

बम्बई में कांग्रेस की तैयारी और कार्यवाही

बम्बईवालों को कांग्रेस-अधिवेशन के प्रबन्ध के लिए कम समय मिला था। पर उन्होंने बहुत ही अच्छा और विशाल आयोजन कर लिया था। जैसे रिलीफ-कमिटी के रूपये जमा करने के समय लोगों में उत्साह हो गया था वैसे ही इस अधिवेशन के लिए भी काफी उत्साह हो गया था। लोग समझते थे कि यह दिखला देना चाहिए कि कांग्रेस मरी नहीं है। उन्होंने एक कांग्रेस नगर बसाया था। वहीं समुद्र के किनारे खुले मैदान में, अधिवेशन के लिए आसमान के नीचे, विराट पंडाल बनाया, जिसमें प्रायः एक लाख आदमी बैठ सकते थे। खादी-प्रदर्शनी का भी वैसा ही सुन्दर और विस्तृत प्रबन्ध किया। सभापति के स्वागत के लिए विशेष प्रबन्ध था। 'कल्याण' स्टेशन पर ही मैं नागपुर-मेल से उतार लिया गया। वहां मुंह-हाथ धोकर नाश्ता-पानी करके मैं तैयार हो गया। कल्याण में ही कई संस्थाओं की ओर से मुझे मानपत्र दिये गये। वहां से मैं घर के लोगों और कुछ मित्रों के साथ स्पेशल ट्रेन पर गया। कल्याण स्टेशन पर ही श्री दीपनारायणसिंह उतर पड़े और मेरे साथ हो लिये। उनकी कृपा मुझपर बहुत दिनों से थी। मुझे सभापति होते देखकर उनकी खुशी का ठिकाना न था, खासकर इसीलिए वह वहीं उतरकर मेरे साथ हो गये।

बहुत धूम-धाम से मैं बम्बई पहुंचा। जहां-जहां रास्ते में गाड़ी ठहरी, स्वागत का हजूम रहा। फूल-मालाओं से डब्बा भर गया। रंग-बिरंगी चीजें लोगों ने भेंट कीं। बम्बई स्टेशन पर इतनी भीड़ थी कि मुझे उतारकर सवारी तक ले जाना कठिन था। लोगों ने चार घोड़ों की गाड़ी पर चढ़ाकर मुझे जलूस में ले जाने का प्रबन्ध किया था। मैं कमजोर था। पर लोगों की इच्छा और स्वागतकारिणी के निश्चय तथा प्रबन्ध के प्रतिकूल कुछ भी करना असम्भव था। इसलिए श्रीमती सरोजिनी नायडू, श्री नरीमन और अपनी स्त्री के साथ मैं गाड़ी पर सवार होकर जलूस में चला। उस दिन तक बहुत लोग यह नहीं जानते थे कि मेरी स्त्री हैं; क्योंकि वह कभी मेरे साथ सभा इत्यादि में नहीं जाया करती थीं। उस दिन भी, यदि श्रीमती नायडू उनको न ले लेतीं तो वह शायद और लोगों के साथ सीधे निवासस्थान पर चली जातीं।

जलूस बहुत लम्बा था। शहर की तैयारी भी अनोखी थी। लोगों की भीड़ भी वैसी ही थी। तमाम दुकानें सजाई गई थीं। जगह-जगह लोगों ने सुन्दर मेहराबें बनवाई थीं। बाजार में जहां जिस चीज की मुख्यता थी, वहां उसी चीज की प्रधानता सजावट और मेहराब में नज़र आती। जहां कलों की दुकानें थीं, वहां की सजावट कलों से ही की गई थी। रूई-बाजार की मेहराब रूई की गांठों की थी। मैंने सुना कि उस मेहराब में, जो बहुत ही विशाल थी, लाख रूपये से अधिक की गांठे लगी थीं। रास्ते-भर में अनगिनत स्थानों पर लोगों ने फूल-माला, आरती इत्यादि से स्वागत किये। न मालूम कितनी ही चीजें भेंट देते गये। गाड़ी इन चीजों से बिलकुल भर गई थी। इस जलूस और स्वागत के सम्बन्ध में लोगों का कहना था कि इस तरह का स्वागत किसी का कभी बम्बई में उसके पहले नहीं हुआ था; १६१८ में हसनइमाम साहब का भी बहुत स्वागत हुआ था, जब वह विशेष कांग्रेस के सभापति बने थे; पर इस बार की तैयारी उससे भी कहीं ज्यादा थी, क्योंकि १६१८ के मुकाबले जनता में जाग्रति अब कहीं अधिक थी। जलूस में प्रायः तीन घण्टे से अधिक लगे। अन्त में कांग्रेस-भवन होता हुआ मैं निवास-स्थान पर, जो कांग्रेस-नगर में ही था, पहुंचाया गया। बहुत ही थक गया था, पर बीमार नहीं पड़ा।

दूसरे दिन से अखिल भारतीय कमिटी और विषय-निर्वाचिनी समिति की बैठक होनेवाली थी। महात्माजी तथा दूसरे नेता भी पहुंच गये, विषय-समिति की बैठक में बहस बहुत गरमागरम होती रही। कई बातें ऐसी हो गई थीं, जिनसे ऐसा होना स्वाभाविक था। कांग्रेस के अधिवेशन के कुछ पहले गांधीजी ने एक वक्तव्य निकाला था। उन्होंने उसमें यह कहा था कि वह कांग्रेस से अलग हो जायंगे और उसकी जो कुछ सेवा-सहायता होगी, वह कांग्रेस के बाहर रहकर ही करेंगे। साथ ही, उन्होंने यह भी कहा था कि कांग्रेस का विधान में हेर-फेर करना आवश्यक है, जिसमें वह और भी अधिक चुस्त और जनता का प्रतिनिधित्व करनेवाला संस्था हो जाय। महात्माजी के इस विचार से देश में एक प्रकार की खलबली-सी हो गई थी। यद्यपि महात्माजी ने इस बात का पूरा आश्वासन दिया था कि बाहर से भी वह कांग्रेस की पूरी सहायता कर सकेंगे और उनके इस प्रकार हटने से कांग्रेस में कमजोरी न आकर उसकी शक्ति बढ़ेगी, तथापि लोगों को इस आश्वासन से सन्तोष नहीं होता था। मैंने अपने भाषण में महात्माजी के इस निश्चय का भी समर्थन किया था। पर अखिल भारतीय कमिटी

के लोगों में इससे बड़ा असन्तोष था ।

मैं सोचता था कि महात्माजी का यह निश्चय कांग्रेस को कमजोर करने अथवा उसकी किसी तरह बुराई करने के लिए तो किया नहीं गया था; हम जब चाहेंगे उनसे सलाह-मशविरा कर सकेंगे और सभी महत्त्वपूर्ण बातों में उनका पथ-प्रदर्शन हमेशा हमें मिला करेगा; पर उनके हट जाने से एक बात अवश्य होगी--सभी निश्चयों का भार उनको ही सोचसमझकर लेना होगा, जो लोग रह जायंगे । जबसे महात्माजी कांग्रेस में आ गये हैं, उनके व्यक्तित्व के सामने दूसरे लोग कुछ फीके पड़ जाते हैं । दूसरे लोग कुछ ऐसे-वैसे नहीं हैं । हमारे नेताओं में काफी योग्यता, दूरदर्शिता और त्याग हैं । वे सभी प्रश्नों पर हर पहलू से विचार कर सकते हैं । देश के भले के लिए वे समुचित निश्चयों पर पहुंच सकते हैं । पर गांधीजी के नेतृत्व में हममें से कुछ उनपर इतना ज्यादा भरोसा करते हैं कि वह जो कुछ कह देते हैं, उसे हम मान लेते हैं । हम अपनी बुद्धि और विचार-शक्ति को काम में लाने की जरूरत नहीं समझते । तो भी मैं मानता हूं कि जो निश्चय गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने किये हैं, बिना समझे-बूझे नहीं किये हैं । महात्माजी समझते थे कि वह अलग होकर सोचने-विचारने का भार सब लोगों पर डाल देंगे । और, जो यह देखने में आता है कि जो कुछ होता है उनके कहने से होता है, यह भावना दूर हो जायगी ।

मैंने इन बातों से सहमत होकर ही उनके निश्चय का समर्थन किया था । पर दूसरे लोग इस बात पर इस दृष्टि से विचार नहीं कर रहे थे । कुछ तो घबराते थे कि महात्माजी के हट जाने का अर्थ उनका कांग्रेस से बिलकुल अलग हो जाना है और अब उनकी सलाह-सम्मति भी नहीं मिलेगी । कुछ यह मानते थे कि उनके हट जाने से कांग्रेस पर जनता का उतना विश्वास नहीं रह जायगा जितना आज है, इसलिए कांग्रेस कमजोर हो जायगी । कुछ शायद यह भी समझते थे कि कांग्रेस के भीतर भिन्न-भिन्न विचारवाले लोगों के आ जाने से गांधीजी रूष्ट होकर हटे जा रहे हैं, उनको किसी-न-किसी तरह जरूर रखना ही चाहिए । इन कारणों से विषय-निर्वाचिनी में इस विषय पर बहुत बहस हुई । वहां गांधीजी से अनुरोध किया गया कि वह अपने विचार बदल दें और जिस तरह नेतृत्व करते आये हैं, करते रहें । पर वह अपने निश्चय पर डटे रहे । वह इसी बात पर जोर देते रहे कि उनके हटने से कांग्रेस का कुछ नुकसान नहीं होगा । साथ ही, पूछे जाने पर सलाह-मशविरा देते रहने का

आश्वासन भी देते जाते थे और कांग्रेस के विधान में संशोधन का बात भी करते जाते थे। अन्त में, जब यह स्पष्ट हो गया कि वह अपने निश्चय से किसी तरह डिगनेवाले नहीं हैं तब और चर्चा चलने लगी।

विधान के संशोधन में भी काफी बहस रही। एक सब-कमिटी बनाई गई, जिसने संशोधन का मसविदा तैयार किया। उसमें विशेष हाथ गांधीजी का और नई बनी हुई सोशलिस्ट पार्टी का ही रहा। एक और विवादग्रस्त विषय था, जिसका सम्बन्ध प्रस्तावित भारतीय विधान के साथ था। ऊपर कहा जा चुका है कि गोलमेज-कान्फ्रेन्स के समय प्रधान मंत्री मैकडोनल्ड ने साम्प्रदायिक निर्णय दिया था, जिसके एक अंश के विरूद्ध गांधीजी को अनशन करना पड़ा था और जो हरिजनों के साथ पूना में समझौता करके बदलवाया गया था। उस निर्णय में और भी ऐसी बातें थी, जिनको कोई भी राष्ट्रीय भावना का आदमी स्वीकार नहीं कर सकता था। पर उसमें एक शर्त लगा दी गई थी। वह यह थी कि यदि वे सभी लोग, जिनका सम्बन्ध उससे था अथवा जिनके स्वत्व पर उसका असर पड़ता था, आपस में मिलकर समझौता कर लें और इस समझौते के द्वारा उसे बदलना चाहें तो वह बदल दिया जायगा। इसी शर्त के अनुसार उसका वह हिस्सा, जिसका सम्बन्ध हरिजनों के साथ था--उनके साथ समझौता करके, बदलवा दिया गया था। कांग्रेस की वर्किंग कमिटी ने उस निर्णय को अन्यायपूर्ण मानते हुए भी निश्चय किया था कि वह उसे न तो मंजूर करती है और न उसका विरोध ही करती है।

वर्किंग कमिटी के इस निर्णय का अर्थ यह नहीं था कि वह उसका समर्थन करती है अथवा उसे न्याय-संगत समझती है। उसने उसकी निन्दा कड़े शब्दों में की थी। इसलिए कोई यह नहीं कह सकता था कि वह किसी तरह उसका समर्थन करती है। पर वह उसका विरोध नहीं करना चाहती थी; क्योंकि विरोध का अर्थ होता था दूसरों के साथ खुल्लमखुल्ला झगड़ा, और यह विरोध अनावश्यक भी था। कमिटी ने तो सारे विधान को ही नामंजूर कर दिया था। इसलिए विधान का यह अंश भी सबके साथ ही नामंजूर हो गया था। अलग से नामंजूर करने का अर्थ यह भी होता था कि हम परोक्ष रूप में और अंशों को मान लेते हैं, तभी तो एक अंश को विशेष करके नामंजूर करते हैं। साथ ही, विधान का यही अंश ऐसा था, जिसको बदलने का अधिकार हमारे हाथ में था; दूसरे किसी अंश के बदलने की शक्ति हमको विधान द्वारा

नहीं मिली थी । इन्हीं विचारों से प्रेरित हो वर्किंग कमिटी ने अपना निश्चय प्रकट किया था, जिसका सारांश यह था कि कमिटी सारे विधान को नामंजूर करती है और सारे विधान के साथ-साथ यह अंश भी गिर जायगा । और, यद्यपि वह इसे राष्ट्रीयता की दृष्टि से घातक समझती है तथापि उपर्युक्त कारणों से वह इसे न स्वीकार करती है और न इसका विरोध करती है । इस विषय पर पं० मदनमोहन मालवीयजी और श्री अणे के साथ बहुत बातें हुई थीं । पर न वे गांधीजी को समझा सके और न गांधीजी उनको समझा सके ! कांग्रेस की विषय-निर्वाचिनी में इस विषय पर भी काफी बहस रही । पर यह स्पष्ट था कि वर्किंग कमिटी की राय से ही कांग्रेस सहमत है । कई दिनों तक गरमागरम बहस के बाद प्रस्ताव तैयार हुए और कांग्रेस के आम जल्से का समय आ गया ।

मैं यद्यपि बहुत कमजोर हो गया था तथापि उस समय न मालूम कहां से शक्ति आ गई और सब काम ठीक से अंजाम देता गया । सोशलिस्ट-दल के लोग संगठित रूप से बहस में भाग ले रहे थे । उनमें अच्छे विद्वान् और बोलनेवाले थे । वे सभी बातों में अपने स्वतन्त्र विचार रखते थे । मेरे सामने अक्सर नियम के प्रश्न आते रहे । मैं कभी किसी असेम्बली या कौन्सिल का मेम्बर नहीं रहा था । कांग्रेस की नियमावली में ऐसे विषयों पर नियम नहीं है । वहां जब इस प्रकार के प्रश्न उठते हैं तो उनका निपटारा अंगरेजी पार्लमिण्ट और सभा-सोसाइटियों के नियमानुसार किया जाता है । यहां की सभा-समितियों के नियमों के भी वे ही आधार हैं । उन नियमों से मेरा कोई विशेष परिचय नहीं था । इस मौके पर बहुतेरे प्रश्न उठाये गये, जिनका निर्णय मुझे वहीं तत्काल देना पड़ा । मैंने अपनी बुद्धि से, जो मुझे ठीक मालूम हुआ, निर्णय दिया । पीछे मुझे यह जानकर संतोष हुआ कि मेरे निर्णय नियमानुकूल होते गये ।

मैंने कांग्रेस के अधिवेशन में अपना पूरा भाषण नहीं पढ़ा । गांधीजी की राय से हमने सोच लिया था कि कांग्रेस का अधिवेशन निर्धारित समय के भीतर ही समाप्त करना चाहिए । स्पष्ट था कि जिस तरह के विवादग्रस्त प्रश्न आनेवाले थे उनका निपटारा, यदि समय न बचाया जाता तो, नहीं हो सकता था, मैंने अनुभव से यह भी देखा है कि सभापति के छपे भाषण का वहां पढ़ा जाना लोग बहुत पसन्द भी नहीं करते--उसे ध्यान देकर सुनते भी नहीं; क्योंकि छपी प्रति उनके हाथों में होती है और

उसे वे अपने सुभीते से पढ़ लेते हैं। बेलगांव-कांग्रेस में गांधीजी ने अपने भाषण को अधिवेशन के पहले ही बंटवा दिया था और कह दिया था कि प्रतिनिधिगण उसे पढ़कर अधिवेशन में आवें। मैंने भी, इन विचारों से, भाषण पढ़ने में कांग्रेस का समय नहीं लिया। कुछ अंश पढ़ दिया। उसके बाद मुख्य प्रस्ताव पर बहस छिड़ गई। वह भारतीय विधान-सम्बन्धी प्रस्ताव था। उसमें वर्किंग कमिटी के तत्सम्बन्धी निश्चय का समर्थन था। पं० मालवीयजी ने उसके संशोधनार्थ प्रस्ताव दिया और बहुत जोरदार भाषण भी किया। दूसरे दिन भी उसपर बहुत जोरों से बहस चली।

अन्त में, जब उसपर राय लेने का समय आया, पं० मालवीयजी उसपर फिर कुछ बोलना चाहते थे। नियमानुसार उनको कुछ कहने का अधिकार नहीं था; पर उन्होंने खाहिश जाहिर की। मेरे लिए बड़ी कठिन समस्या खड़ी हो गई। यदि उनके व्यक्तित्व के कारण मैं नियम-भंग करूं तो फिर दूसरे के लिए भी वैसा ही करना पड़ेगा। मैंने निश्चय कर लिया कि उनको मैं इसकी इजाजत नहीं दूंगा। बहुत नम्रतापूर्वक मैंने उनको नियम का हवाला देकर अपनी मजबूरी जाहिर कर दी। उनको जो कुछ कहना था उसका सारांश कांग्रेस को स्वयं कह देने का वचन भी दिया। मैंने ये सब बातें कांग्रेस से भी कह दीं। वहां कांग्रेस में जबरदस्त जोरदार लाउड स्पीकर लगे थे। वहां जो कुछ हो रहा था, महात्मा गांधी अपनी झोंपड़ी में बैठे-बैठे सुन रहे थे। उन्होंने वह बात भी सुनी। उन्होंने दूसरे दिन मुझसे हँसते-हँसते कहा भी कि तुमने मालवीयजी को बोलने से रोक दिया! मुझे इस बात का दुःख हुआ कि ऐसे पूज्य व्यक्ति की बात मैं नहीं मान सका; पर वहां मैं राजेन्द्र नहीं था, कांग्रेस के सभापति की हैसियत से बैठा था, और दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। सम्मति लेने पर बहुत बड़ा बहुमत वर्किंग कमिटी के पक्ष में निकला। पर कुछ लोग, जो उसके विरोधी थे, आपे से बाहर हो गये। दो-चार आदमियों ने जूते दिखलाये, जो तेज रोशनी में मुझे साफ दीख पड़े!

कांग्रेस के दूसरे प्रस्तावों पर बहुत बहस नहीं हुई। कांग्रेस-नियमावलीवाला प्रस्ताव तो एक प्रकार से सबकी राय से बिना बहुत बहस के ही मंजूर हो गया, क्योंकि उसपर बाहर ही बहुत बहस हो चुकी थी। यह प्रस्ताव बड़े महत्त्व का था। अबतक कांग्रेस के प्रतिनिधियों की संख्या प्रदेश की आबादी के हिसाब से होती थी। इसका फल यह होता था कि चाहे किसी प्रदेश में कांग्रेस का काम कुछ होता हो या न होता

हो, चाहे वहां कांग्रेस-कमिटीयां काम करती हों या न करती हों, पर वहां की आबादी के अनुसार प्रतिनिधियों और अखिल भारतीय कमिटी के सदस्यों की संख्या पक्की रहती थी। दूसरे प्रान्त, अधिक काम करके भी, अपनी संख्या से अधिक सदस्य नहीं भेज सकते थे। बम्बई के विधान में प्रतिनिधियों की संख्या कांग्रेस-सदस्यों की संख्या के अनुपात में बना दी गई। यह नियम बन गया कि प्रत्येक प्रतिनिधि के लिए कम-से-कम नियमित संख्या में सदस्य अवश्य होने चाहिए। जहीं उतने सदस्य न हों वहां प्रतिनिधि चुनने का अधिकार न रहे। बम्बई में पांच सौ सदस्यों पर एक प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया गया। यह संख्या पीछे बदल दी गई है। साथ ही, यह भी ख्याल था कि सभी प्रान्तों के प्रतिनिधित्व की संख्या वहां की आबादी के हिसाब से भी रहे। इससे यह हुआ कि यदि सारे सूबे में जितने प्रतिनिधि आबादी के हिसाब से होते थे उतने पांच सौ सदस्य नहीं हुए तो सूबे के प्रतिनिधियों की संख्या कम हो जायगी। यदि प्रत्येक प्रतिनिधि पर पांच सौ से अधिक सदस्य हो गये तो प्रत्येक प्रतिनिधि के चुनाव के लिए पांच सौ से अधिक सदस्यों के क्षेत्र बनाये जायंगे। इस तरह सदस्य बनाने पर जोर डाला गया। साथ ही, आबादी का भी ख्याल रखा गया।

दूसरा महत्त्व का प्रश्न यह था कि अल्पसंख्यक मतवालों का प्रतिनिधित्व कैसे हो। यदि सीधे तौर पर सम्मति ली जाती है तो उनका एक आदमी भी नहीं चुना जा सकता, पर उनके मतवाले सूबों को यदि इकट्ठा किया जाय तो कुछ आदमी उनके चले जाते हैं। सोशलिस्ट लोगों ने, जिनकी संख्या कम थी, परिवर्तनीय सम्मति द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व (**Proportional representation by single transferable vote**) पर जोर डाला। कांग्रेस के प्रतिनिधियों के चुनाव के लिए तो यह सम्भव नहीं था, पर अखिल भारतीय कमिटी के सदस्यों के चुनाव के लिए यह विधान मंजूर कर लिया गया। विधान में जो परिवर्तन किये गये, उनको कार्यान्वित करने पर उनमें कई त्रुटियां जाहिर हुईं। उसके बाद से कई बार परिवर्तन करना पड़ा है। पर नियमों का जो आधार वहां बना, वह अभी तक अपने स्थान पर है। हां, आनुपातिक प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में बहुत मतभेद रहा है; पर अब बहुत लोग इस बात को मानने लगे हैं कि बहुत थोड़े लोगों के हाथ में चुनाव का अधिकार रहने से यह बहुत बुरा परिणाम भी पैदा करता है। कांग्रेस के नियमानुसार आठ प्रतिनिधि पर अखिल भारतीय

कमिटी का एक मेम्बर होता है --अर्थात् यदि आठ आदमी मिल जायं तो एक आदमी को चुन सकते हैं। चुनावों में देखा गया है कि आठ आदमियों को किसी ऐसे व्यक्ति के लिए जुटा लेना कठिन नहीं है, जो अपने को चुनवाने पर उतारू हो जाय। जो इस प्रकार अपने को चुनवाने के काम में दिलचस्पी नहीं लेता, अथवा जिसके मित्र उसे चुनवा देने में दिलचस्पी नहीं लेते, वह चाहे कितना भी अच्छा काम करनेवाला क्यों न हो, नहीं चुना जाता। इससे छोटे-छोटे दलों की वृद्धि होती है, अच्छे-अच्छे लोग नहीं चुने जाते और दलबन्दी करनेवाले चुन लिये जाते हैं। इसलिए, अब बहुतेरे लोग इतने दिनों के अनुभव के बाद, समझ गये हैं कि यह हमारे काम की चीज नहीं है। पर यह अभी तक नियम में है। वहां बम्बई-अधिवेशन के समय यह समझा जाता था कि इसके विरोध का एक ही अर्थ हो सकता है--वह है सोशलिस्टों का अखिल भारतीय कमिटी में घुसने न देने का इरादा। जो हो, वहां तो यह स्वीकृत हो गया।

कांग्रेस का अधिवेशन, निर्धारित समय पर, रात बारह बजे के करीब, तीसरे दिन समाप्त हो गया। मैंने काम पूरा कर दिया। लोग बड़े उत्साह के साथ अपने-अपने स्थान को गये। जाते ही केन्द्रीय असेम्बली के मेम्बरों के चुनाव लड़ने थे। कांग्रेस के उत्साह से वहीं स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस की जीत इन चुनावों में होगी।

मैं कांग्रेस का काम समाप्त करके अपने निवास-स्थान पर गया और रात दो बजे से दमा का दौरा शुरू हो गया। दूसरे दिन कोई दूसरा विशेष काम नहीं था, वर्किंग कमिटी बना लेना था। यह भार मेरे ही ऊपर था। मैंने कुछ तो वहीं निश्चय कर लिया और कुछ पीछे। नाम अखबारों में दे दिये गये। सबसे महत्त्व का प्रश्न मंत्री का चुनाव था। मैं ऐसे आदमी को चाहता था जो अपना पूरा समय इसी काम में दे सके और जिसका मत मेरे साथ सभी बातों में मिलता हो। मैंने बहुत सोचने के बाद आचार्य कृपालानी को नियुक्त किया।

बंगाल से मैं एक आदमी को वर्किंग कमिटी में लेना चाहता था। पर कुछ ऐसा संयोग पड़ा कि मैं किसी को न ले सका। इससे वहां के मित्र मुझसे बहुत रूष्ट हो गये। मुझे बहुत गालियां भी खानी पड़ीं। मेरा बंगाल के साथ पुराना परिचय और घनिष्ट सम्बन्ध था। मैं बंगाल के महत्त्व को भली भांति जानता हूं। बंगालियों में मेरे कई घनिष्ट मित्र भी हैं। पर वहां कुछ ऐसा संयोग हुआ कि बात नहीं बनी। इसका

मुझे पूरा अफसोस रहा। वहां दो दल थे और किसी एक को वर्किंग कमिटी में लेना दूसरे को दुश्मन बनाना था। दो के लिए जगह थी नहीं। यदि होती भी तो वहां का झगड़ा वर्किंग कमिटी में आ जाने का भय था। इसलिए अपने ऊपर बदनामी लेकर भी मैंने वर्किंग कमिटी को इस झगड़े से सुरक्षित रखा।

मैंने बम्बई में ही सोच लिया था कि जब गांधीजी के कथनानुसार हमने उनको कांग्रेस के प्रतिदिन के काम से मुक्त कर दिया है और महत्त्व के प्रश्नों पर ही उनसे राय लेना ठीक है, तो मैं उनको अधिक कष्ट नहीं दूंगा और प्रत्येक वर्किंग कमिटी तथा अखिल भारतीय कमिटी में उनको आने का कष्ट नहीं दूंगा। हां, जो महत्त्व की बातें होंगी उनके सम्बन्ध में उनसे मिलकर बातें कर लिया करूंगा। मैंने अपने सभापतित्व-काल में इसी नीति से काम लिया भी; गांधीजी को कमिटियों में आने का कष्ट नहीं दिया। मैं वर्धा बराबर जाता-आता रहा और वहीं उनसे राय ले लिया करता।

: १११ :

: १११ :

केन्द्रीय असेम्बली का चुनाव-संघर्ष

बम्बई से मैं पटने आया। पहला काम जो कांग्रेस को करना था, वह केन्द्रीय असेम्बली के लिए अपने उम्मीदवारों को खड़ा करना और उनको चुनवाना। सरकार समझती थी कि १९३०-१९३४ के सत्याग्रह के कारण उसने कांग्रेस को इतना दबा दिया है कि वह अब फिर उठ न सकेगी। लार्ड विलिंगडन ने १९३२ के आरम्भ में, जब गोलमेज-परिषद से लौटने के बाद फिर सत्याग्रह पर गांधीजी और वर्किंग कमिटी को मजबूर किया गया था, कहा था कि दो-चार हफ्तों में आन्दोलन दबा दिया जायगा। उन्होंने इसका पूरा प्रयत्न भी किया था। पर दो-चार हफ्तों के बदले दो बरसों तक आन्दोलन चलता रहा और शुरू में तो बहुत जोरों से चला था। तो भी अभी कोई ऐसा मौका नहीं आया था जहां कांग्रेस की लोकप्रियता का पूरा परिचय मिल जाता। भूकम्प की सहायता और बम्बई के अधिवेशन से कुछ-कुछ पता चला था; पर अब भी सब लोगों को और विशेषकर गवर्नमेण्ट के लोगों को इस बात का विश्वास नहीं था कि कांग्रेस सारे देश में लोकप्रिय संस्था है। इस चुनाव में एक प्रकार से इस बात की जांच होनेवाली थी कि कांग्रेस कहांतक जनता का प्रतिनिधित्व करती है। हम भी इस चुनाव को इसी कारण बहुत महत्त्व देते थे।

मद्रास-प्रान्त में १९२० से ही वहां की जस्टिस-पार्टी की मिनिस्ट्री चल रही थी। उसने अपनी शक्ति बढ़ाने और अपने को सुसंगठित करने में कोई बात उठा नहीं रखी थी। उसमें योग्य लोगों की भी कमी नहीं थी। उस दल में ब्राह्मणेतर प्रायः सभी जाति के लोग शरीक होते थे। इसलिए इसमें भी कोई शक नहीं था कि साधारण जनता के ब्राह्मणेतर सभी लोगों की तरफ से वह बोला करती थी। उसने एक प्रकार से ब्राह्मण-अब्राह्मण का इतना झगड़ा खड़ा कर दिया था--लोगों में इतना प्रचार किया था कि मालूम होता था, वहां कांग्रेस का अर्थ ब्राह्मण समझा जाता है, इसलिए वह कांग्रेस को ही अपनी परम विरोधी संस्था मानती थी। सरकार का भी उसपर पूरा भरोसा था, क्योंकि वहां के जमींदार और दूसरे धनी वर्ग तथा साधारण जनता का बहुत बड़ा बहुसंख्यक अंश उन्हीं जातियों का था जो उसमें शरीक समझी जाती थीं और जो ब्राह्मणेतर थीं।

चुनाव तो सारे हिन्दुसतान में होनेवाला था। सभी सूबों में एक दिन चुनाव के लिए नहीं रखा गया था। यह जरूर सोचा गया था कि एक जगह के चुनाव का असर दूसरी जगह पर जरूर पड़ेगा। ऐसा प्रबन्ध तो सम्भव नहीं था कि एक ही सूबे में, अलग-अलग जिलों में चुनावों में समय का इतना अन्तर हो कि एक का नतीजा मालूम होने पर दूसरी जगह में चुनाव हो। पर सारे देश के लिए यह सम्भव था और ऐसा ही इन्तजाम अधिकारियों ने किया भी। चूंकि वे मद्रास पर सबसे अधिक भरोसा रखते थे, उन्होंने सबसे पहले मद्रास-प्रान्त में चुनाव रखा, उसके बाद ही और प्रान्तों में। चुनाव में सभी जगहों में कांग्रेस ने अपने उम्मीदवार खड़े किये और सभी जगहों में विरोधी लोग भी खड़े हुए। वे ऐसे ही लोग थे, जिनकी या तो सरकार के साथ अच्छी बनती थी अथवा जो किसी विशेष दल की ओर से खड़े हुए थे। पर जस्टिस-पार्टी के सिवा दूसरी कोई ऐसी जबरदस्त संस्था नहीं थी जिसकी ओर से कांग्रेस का विरोध करने के लिए उम्मीदवार खड़े किये गये हों।

मैं तो बम्बई से बीमार ही लौटा और हस्ब-मामूल दिसम्बर तक बीमार ही पड़ा रहा। इसी बीच सारा चुनाव हो गया। मैं उसमें कोई विशेष भाग न ले सका। पर दूसरों ने, विशेषकर सरदार वल्लभभाई पटेल ने, बहुत सिरतोड़ परिश्रम किया। वह बिहार में भी दौरे पर आये। दूसरे कई सूबों में भी गये। मैं बिहार में ही दो-चार जगहों में जा सका, ज्यादा कुछ नहीं कर सका। मद्रास में चुनाव का नतीजा सबसे पहले मालूम होने लगा; क्योंकि वहीं सबसे पहले चुनाव हुआ। वह नतीजा सरकारी हलकों में बहुत ही अचम्भा उत्पन्न करनेवाला हुआ। वहां केवल इतना ही न हुआ कि सभी जगहों में कांग्रेसी चुने गये, बल्कि सभी कांग्रेसी बहुत बड़े बहुमत से चुने गये। जो ऐसी जगहें थीं, जिनके सम्बन्ध में जस्टिस-पार्टीवालों को कोई सन्देह नहीं हो सकता था और जिनको जीतना हम भी मुश्किल समझते थे, वहां भी कांग्रेस की भारी जीत हुई। उदाहरणार्थ, दो जगहें ऐसी मानी जाती थीं। एक जगह थी वह जिसमें श्री सत्यमूर्त्ति चुने गये। इनके विरोधी एक अत्यन्त योग्य और जस्टिस-पार्टी के नामी मुख्य आदमी सर रामस्वामी मुडेलियर थे। दूसरी जगह वहां के व्यापारियों के प्रतिनिधि की थी। वहां से कांग्रेस के विरोध में खड़े हुए थे श्री (अब सर) षण्मुखम् चेट्टी और कांग्रेस की ओर से श्री वेंकटाचलम् चेट्टी। श्री षण्मुखम् चेट्टी पहले पंडित

मोतीलालजी के साथ कांग्रेस की ओर से चुने जाकर केन्द्रीय असेम्बली के मेम्बर रह चुके थे और कांग्रेस-सदस्यों में भी उनकी योग्यता को लोग मानते थे। उन्होंने काम भी अच्छा किया था। पर सत्याग्रह के समय वह कांग्रेस से अलग हो गये थे। अब इस चुनाव में उन्होंने कांग्रेस का विरोध किया। वह चेट्टी जाति के थे। चेट्टी लोग ही मद्रास प्रान्त में व्यापार का काम अधिक करते हैं। वह अब्राह्मण भी थे। जस्टिस-पार्टी ने उनको अपनी ओर से उम्मीदवार बना लिया था। फिर क्या था! सफलता के सभी कारण उनके साथ मौजूद थे। इसके अलावा, कहा जाता था कि लार्ड विलिंगडन उनको बहुत मानते थे। पर उन्होंने भी बड़ी गहरी हार खाई।

जैसे ही मद्रास के नतीजे अखबारों में निकलने लगे, विशेषकर कांग्रेस के पक्ष के मतों की संख्या, देश में उत्साह बढ़ता गया। सभी सूबों में कांग्रेस की बड़ी जीत हुई। बिहार में भी वैसी ही हुई। यहां एक बड़े मार्के की बात यह हुई कि एक बहुत ही बड़े सेठ से मुकाबला हो गया। वह थे सेठ रामकृष्ण डालमियां। इनकी सहानुभूति कांग्रेस के साथ रहा करती थी। पहले जब-तब पैसे से सहायता भी किया करते थे। इस चुनाव में इन्होंने खड़ा होने का निश्चय कर लिया। पीछे मुझसे कहा कि कांग्रेसी उम्मीदवार श्री अनुग्रहनारायणसिंह हटा लिय जायं। यह सम्भव नहीं था, क्योंकि कांग्रेस की नीति थी कि यथा-साध्य सभी जगहों पर उम्मीदवार खड़े किये जायं। श्री डालमियां कांग्रेस के अनुशासन के अन्दर आना भी नहीं चाहते थे। पर उनके साथ हम सबकी व्यक्तिगत सद्भावना बनी रही। उन्होंने बहुत खर्च किया, पर वह भी करारे ढंग से हारे।

एक तरफ तो इस तरह की सफलता हुई, जिससे सभी लोगों को बहुत आनन्द हुआ, दूसरी तरफ एक ऐसी बात भी इस चुनाव में हुई जो बहुत दुःखद थी। पहले कहा जा चुका है कि बम्बई-कांग्रेस के पूर्व से ही प्रधान मन्त्री मैकडोनल्ड के साम्प्रदायिक निर्णय के कारण कांग्रेसी लोगों में मतभेद हो गया था और बम्बई-कांग्रेस में पंडित मालवीयजी ने उस प्रस्ताव का विरोध किया था, जिसमें कांग्रेस का नव-विधान-सम्बन्धी मत प्रकट किया गया था--उनका संशोधन-प्रस्ताव बहुत बड़े बहुमत से नामंजूर किया गया था। उस विचार के लोगों ने अपनी ओर से उम्मीदवार खड़े किये। बिहार में भी श्री जगतनारायणलाल खड़े हुए। बंगाल में तो प्रायः सभी जगहों के लिए उम्मीदवार खड़े किये गये। और सूबों में भी कुछ लोग खड़े हुए।

ये लोग यों तो और सब बातों में कांग्रेस से सहमत थे, पर एक इसी विषय पर ये कांग्रेस से अलग थे। कांग्रेस ने श्री अणे के विरूद्ध कोई उम्मीदवार नहीं खड़ा किया और वह निर्विरोध चुने गये; पर और जगहों में दो प्रकार के कांग्रेसियों में मुठभेड़ हो गई। बिहार में तो कांग्रेस से कोई नहीं जीता, पर बंगाल में प्रायः सभी जगहों में कांग्रेस को हार खानी पड़ी और उस दल के लोगों की जीत हुई। इसका विशेष कारण यह था कि श्री मैकडोनल्ड के निर्णय से बंगाल के सवर्ण हिन्दुओं की सबसे अधिक हानि हुई थी। वहां मुसलमानों की संख्या प्रायः पचपन-छप्पन और हिन्दुओं की चौवालीस प्रतिशत के लगभग होती है। अल्प-संख्यक होने के कारण हिन्दुओं को वहां कुछ सुविधा मिलनी चाहिए थी। पर उस निर्णय के अनुसार दस प्रतिशत स्थान यूरोपियनों को मिल गये और बाकी नव्वे के बंटवारे में ५१ मुसलमानों को और ३६ प्रतिशत हिन्दुओं को मिले, अर्थात् अपनी संख्या के अनुपात से भी उनको कम जगहें धारा-सभाओं में मिलीं। इसके बाद जब अछूतों से, महात्माजी के उपवास के बाद पूना में, समझौता हुआ तो हरिजनों के लिए सुरक्षित स्थानों की संख्या भी बहुत बढ़ गई, जो हिन्दुओं के स्थानों में से ही हो सकती थी। इसलिए वहां सवर्ण हिन्दुओं में बहुत असन्तोष था। वे चाहते थे कि इस निर्णय का जबरदस्त विरोध किया जाय। इसमें कांग्रेसी और गैरकांग्रेसी सभी हिन्दू शरीक थे। इसलिए वहां के चुनाव में कांग्रेस की हार हुई और इस नये दल की जीत हुई, जिसमें कांग्रेसी लोग ही चुने गये, जो और बातों में कांग्रेस का ही साथ देनेवाले थे। नवम्बर के अन्त तक सारे देश में चुनाव हो गया और कांग्रेस की बहुत बड़ी जीत हुई। कांग्रेस ने अब नीति भी निर्धारित कर दी थी। उसीके अनुसार केन्द्रीय असेम्बली में काम होनेवाला था।

: ११२ :

जिन्ना से समझौते की चर्चा : देश का दौरा

यद्यपि चुनाव में कांग्रेस की जीत हुई थी और दूसरे प्रकार से भी मालूम पड़ता था कि कांग्रेस जीवित है, तथापि हम यह आवश्यक समझते थे कि उसका संगठन मजबूत बना दिया जाय, क्योंकि चार बरसों की लड़ाई में, जब कांग्रेस-कमिटियां गैरकानूनी संस्था करार दे दी गई थी, कांग्रेस का संगठन तितर-बितर हो गया था। उसको एक बार पुनजीर्वित और सुसंगठित करना आवश्यक था। इसलिए एक बार सभी जगहों का दौरा करना आवश्यक जान पड़ा। प्रान्तीय कमिटियों की ओर से इस बात का तकाजा भी हुआ कि मैं सभापति की हैसियत से दौरा करूं। जाड़ों में तो मेरे लिए यह सम्भव नहीं था, पर मैंने सोचा कि जाड़ा कम होते ही मैं बाजाब्ता सिलसिलेवार दौरा शुरू करूंगा--इस बीच में, अपने स्वास्थ्य को ध्यान में रखते हुए, अगर हो सका तो जहां-तहां जाऊंगा।

दिल्ली में असेम्बली का काम जनवरी में शुरू होनेवाला था। वहीं वर्किंग कमिटी की बैठक भी की गई। वहां महात्माजी भी इत्तफाक से आ गये थे। वहां के लोगों की इच्छा थी कि कांग्रेस के सभापति का दौरा वहीं से शुरू किया जाय। इसलिए जब मैं वहां पहुंचा तो वहां के लोगों ने भी बड़ी शान से स्वागत किया। बम्बई ने स्वागत का एक खासा नमूना कायम कर दिया था। दिल्ली में भी उसी प्रकार का स्वागत बहुत बड़े जलूस में किया गया। शहर के लोगों ने बहुत उत्साह दिखलाया। मैं अभी तक कमजोर ही था, इसलिए स्वागत की भीड़ बर्दाश्त करना कुछ आसान नहीं था; पर मैंने उसे किसी तरह संभाल लिया।

मैं जलूस के कुछ बाद ही महात्माजी से मिला। उनको सब खबर मिल चुकी थी। उन्होंने एक मार्के की बात कही, जिसका जिक्र शायद मैंने स्वतंत्र रूप से ऊपर किया है। उन्होंने कहा कि अन्त में हमको मजबूरन सत्याग्रह बन्द करना पड़ा था, क्योंकि जनता का उसमें उत्साह नहीं रह गया था और लोग कुछ दब-से गये थे। पर कांग्रेस के प्रति उनका प्रेम कम नहीं हुआ था, लोग चाहते थे कि कोई मौका मिले तो उसे दिखलावें; इसीलिए इस प्रकार के स्वागत में इतना उत्साह देखने में आता है,

जैसा तुमने बम्बई में देखा अथवा दिल्ली में देख रहे हो--ऐसा ही स्वागत जहां जाओगे लोग करेंगे ।

मैं इस प्रकार के भीड़-भड़क्के से बहुत घबराता हूं । विशेषकर स्वागत और जलूस से तो बहुत डरता हूं । पर मैंने इसे पद की खातिर बर्दाश्त करना मंजूर कर लिया । महात्माजी ने मेरी इस राय को पसन्द किया कि मैं सभी सूबों में दौरा करूं । मैंने यह कांग्रेस के संगठन के विचार से जरूरी समझा । मैंने देखा कि जहां १९३२-३३ में बहुत जगहों में लोग कांग्रेसी कार्यकर्ताओं को अपने यहां ठहराने से भी हिचकते थे वहां १९३५ में कांग्रेस के अध्यक्ष का इतने जोर-शोर से स्वागत करने पर तैयार थे । सभी जगहों से इस दौरे के सम्बन्ध में मेरे साथ पत्र-व्यवहार होने लगा । तिथियां सोची जाने लगीं । इस यात्रा को शुरू करने के पहले अपने साथ निजी काम के लिए श्री चक्रधरशरण को रख लिया । वह मुजफ्फरपुर-जिले के बेलसंड थाने के अन्तर्गत परतापुर गांव के रहनेवाले हैं । १९२० से ही वह कांग्रेस का काम करते आये हैं । भूकम्प के समय मुजफ्फरपुर में उन्होंने अच्छा काम किया था रिलीफ में भी बड़े उत्साह और ईमानदारी से काम किया था ।

पर इस यात्रा को शुरू करने के पहले एक दूसरा प्रश्न था, जिसका हल आवश्यक था । श्री मैकडोनल्ड ने साम्प्रदायिक निर्णय देकर मुसलमानों को बहुत खुश कर दिया था ! पर हिन्दू उनसे बहुत क्षुब्ध थे । सभी समझदार लोग मानते थे कि यदि कोई समझौता हो जाय तो वह सबसे अच्छा होगा । इसके लिए डाक्टर अंसारी बहुत ही उत्सुक थे । उन्होंने श्री जिन्ना से लिखा-पढ़ी शुरू की थी । दिल्ली में वर्किंग कमिटी के सामने उन्होंने यह बात पेश की । वर्किंग कमिटी ने कहा कि यदि कोई रास्ता निकल सके तो उसे जरूर ढूंढ़ निकालना चाहिए । इसी बीच श्री जिन्ना भी दिल्ली पहुंच गये । एक दिन डाक्टर अंसारी के मकान पर वर्किंग कमिटी के सदस्यों से उनकी मुलाकात और कुछ बातचीत हुई । पर वह बातचीत ऐसी नहीं थी कि इतने लोग एक साथ ठीक तरह से कर सकें और वह इतनी जल्द तय हो जाय । अन्त में श्री जिन्ना की राय हुई कि वह और कांग्रेस के अध्यक्ष ही बातें करें । अगर कुछ रास्ता निकल आवे तो अपनी-अपनी संस्था से उनकी मंजूरी करा लेवें । डाक्टर अंसारी के घर पर पहले दिन जो बातें जिस ढंग से हुईं उनसे और उस ढंग से मुझे कुछ विशेष आशा नहीं मालूम हुई, तो भी यह बात ऐसी थी कि इसमें अपनी ओर

से किसी तरह की कोताही नहीं की जा सकती थी, इसलिए मैं इसमें दिलोजान से पड़ गया। मुझे इस बात का शक था कि मैं इस तरह के काम के लिए कहांतक योग्य हूं। पर मुझे डाक्टर अंसारी और सरदार वल्लभभाई पटेल की पूरी मदद थी। महात्माजी का आशीर्वाद भी था। इससे मैं समझता था कि कोई भूल न होने पावेगी। बातचीत बहुत लम्बी चली। मुझे कई हफ्तों तक दिल्ली में रह जाना पड़ा। श्री जिन्ना और मैंने बड़ी स्पष्टता और सफाई से बातें कीं। जहांतक मैं समझ सका, हम दोनों का एक-दूसरे के प्रति भाव भी अच्छा ही रहा। मैं बातचीत के बाद जो कुछ बातें हुईं रहतीं, उनका खुलासा उसी दिन लिख लिया करता। उस समय के लिए हुए नोट आज भी कहीं मौजूद मिलेंगे। मंत्री श्री कृपालानी भी प्रायः बराबर दिल्ली में ही रहे। उनसे तथा डाक्टर अंसारी से सभी बातें मैं बता दिया करता। श्रीमती सरोजनी नायडू भी बहुत करके दिल्ली में रहीं। उनको भी सब बातें मालूम हो जातीं। महात्माजी तथा सरदार को भी मैं पत्रों द्वारा सब बातों से आगाह रखता। सब बातों को यहां विस्तार से देना अनावश्यक है।

अन्त में बात खत्म करनी पड़ी। समझौता नहीं हो सका। इसका मुझे बहुत अफसोस रहा; क्योंकि मैं समझता था कि हम जिन शर्तों पर समझौता करना चाहते थे और जिनपर हमने श्री जिन्ना को राजी कर लिया था, वे शर्तें देश के लिए हितकर होतीं। इससे भी अधिक अफसोस इसलिए हुआ कि जिस कारण समझौता न हो सका वह ऐसी बात थी, जिसका कोई विशेष महत्त्व नहीं था--उसको न मानना अथवा उसपर जिद करना, मेरे ख्याल से, दोनों ही बेकार था।

मैंने बातचीत शुरू करने के पहले ही यह साफ कर लिया था कि मैं केवल कांग्रेस की ओर से बातें कर रहा हूं; मुझे किसी दूसरे दल की ओर से बातें करने का अधिकार भी नहीं है और मैं दूसरों की जवाबदेही ले भी नहीं सकता--हां, हम जो कुछ तय करेंगे वह कांग्रेस से हम मंजूर करा लेंगे। उसी तरह श्री जिन्ना से भी हम यही आशा रखेंगे कि वह भी मुस्लिम लीग से समझौते को मंजूर करा देंगे। उन्होंने यह मंजूर किया था। वह देख चुके थे कि अभी हाल में ही हमने कांग्रेस में साम्प्रदायिक निर्णय के सम्बन्ध में अपना न्यारा रूख रखा था और उसके लिए हमको पं० मालवीयजी-जैसे मान्य एवं धुरन्धर नेता का भी विरोध करना पड़ा था। वह यह भी देख चुके थे कि हम एक सूबा छोड़कर प्रायः सभी सूबों में चुनाव में भी जीते

हैं। इसलिए वह इसपर राजी थे। मैंने यह भी साफ कह दिया था कि यदि वह मुसलमानों के लिए अलग चुनाव-क्षेत्रों को कायम रखने पर तुले होंगे तो बातचीत का कोई गुंजाइश नहीं है; क्योंकि हम अलग चुनाव को राष्ट्रीयता की दृष्टि से इतना घातक मानते हैं कि यदि वह रह जाय तो किसी समझौते से कोई काम न होगा। इसलिए बातचीत इसी आधार पर शुरू होगी कि वह अलग निर्वाचन-क्षेत्र छोड़ने पर तैयार हो जायं। इसपर उनकी ओर से यह प्रश्न हुआ कि यह चीज मुसलमानों को मिल चुकी है और वे इसे कुछ दिनों से काम में लाते रहे हैं; इसके बदले में उनको जबतक कुछ निश्चित रूप से न मिले तबतक उनको मनाना और राजी करना संभव न होगा।

मैंने उनके लिए उतने ही सुरक्षित स्थान मान लिये, जितने उनको साम्प्रदायिक निर्णय से मिले थे। हम दोनों ने इन दो बातों को मान करके ही आगे बात चलाई थी। उनकी ओर ये यह मांग हुई कि उन चुनाव-क्षेत्रों में जहां मुसलमान मतदाताओं की संख्या उनकी आबादी के अनुपात से कम हो, मताधिकार के लिए आवश्यक गुण को कम करके भी मुसलमान मतदाताओं की संख्या उनकी आबादी के अनुपात के अनुसार बना दी जाय। वह कहते थे कि मुसलमान गरीब हैं और बहुत जगहों में उनमें शिक्षा भी कम है, इसलिए जहां टैक्स देना ही मताधिकार की पहचान होगी वहां बहुतेरे मुसलमान छंट जायंगे और मतदाताओं में उनकी संख्या आबादी के अनुपात से बहुत कम हो जायगी; इसलिए यह होना आवश्यक है। पंजाब के सम्बन्ध में जो कुछ भी आंकड़े मिल सके, मैंने उनका खूब अच्छी तरह से अध्ययन किया। मुझे जहांतक पता चला, उनमें मतदाताओं की संख्या आबादी के अनुपात से कई जगहों में कुछ कम होती थी, पर यह बहुत बड़ा फर्क नहीं था--शायद दो प्रतिशत या इससे भी कम ही का फर्क था। जब हिन्दू और मुसलमान दोनों का संयुक्त चुनाव-क्षेत्र होनेवाला था तो मुसलमानों की यह मांग कि मतदाताओं में उनकी संख्या आबादी के अनुपात में हो, मुझे न्याय-युक्त मालूम पड़ी और मैंने इसे मान लिया--विशेषकर जब कांग्रेस ने यह निश्चय कर लिया था कि चुनाव का मताधिकार सभी बालिग लोगों को दिया जाय तो यह मांग मान लेने में मुझे कोई आपत्ति नहीं मालूम हुई। पर जब सिखों और हिन्दुओं से मैंने बातें कीं तो सिखों ने इसका जबरदस्त विरोध किया। पंजाब के हिन्दुओं से बातें होने पर उनमें से कतिपय मुख्य व्यक्तियों ने इसे मान लिया; पर बंगाल के हिन्दू इसे किसी तरह मानने पर तैयार न हुए। जो लोग बंगाल

से केन्द्रीय असेम्बली में चुनकर गये थे, उनसे मेरी पहले बातें हुईं। उन्होंने सब बातें सुन-समझकर समझौते को पसन्द किया, पर वे बंगाल के और लोगों की राय लेना आवश्यक समझते थे।

पंडित मालवीयजी से बातें हुईं तो उन्होंने सिखों और बंगाल के हिन्दुओं का हवाला देकर कहा कि जबतक वे न मानेंगे; तबतक वह कुछ नहीं कर सकते। मैंने बंगाल के आंकड़े बहुत खोजे; पर मुझे सरकार की किसी रिपोर्ट अथवा पुस्तक से कुछ भी पता न चल सका कि वहां की वस्तु-स्थिति इस सम्बन्ध में क्या होगी। इसलिए, जिस तरह मैं पंजाब के हिन्दुओं के सामने आंकड़े रखकर बहस कर सका उस तरह बंगाल के हिन्दुओं के साथ नहीं। तब मैंने श्री जिन्ना से बहस की कि वह इस मांग पर न अड़ें; क्योंकि इसमें कोई तत्त्व की बात नहीं है। जहां मुसलमानों का बहुत बड़ा बहुमत है वहां सैकड़े एक या दो की कमी से चुनाव के नतीजों पर कोई विशेष प्रभाव या फर्क नहीं पड़ेगा। पर वह इसपर राजी नहीं होते थे। कांग्रेस की ओर से मैं उसे मान लेने पर भी राजी था। पर उन्होंने इसपर जोर दिया कि पंडित मालवीयजी की अनुमति भी आवश्यक है; क्योंकि समझौता अगर हुआ भी और पंडित मालवीयजी के नेतृत्व में साम्प्रदायिक निर्णय के विरूद्ध आन्दोलन होता ही रहा तो मुसलमानों को इस समझौते से कोई लाभ न होगा।

उधर उन्हीं दिनों दिल्ली में साम्प्रदायिक-निर्णय-विरोधी एक सम्मेलन हुआ, जिसमें बंगाल के कुछ लोग आये। उन्होंने इसका पूरा विरोध किया। मैं पंडित मालवीयजी को किसी तरह राजी न कर सका। अन्त में उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि जितनी जगहें मुसलमानों को मिली हैं, विशेषकर बंगाल और केन्द्र में, उन्हें भी घटाना चाहिए और जबतक वे घटाई न जायंगी तबतक वह राजी नहीं हो सकते। उधर श्री जिन्ना भी इस बात पर तुल गये कि जबतक पंडित मालवीयजी के हस्ताक्षर नहीं होंगे, तबतक वह राजी नहीं होंगे। अपनी ओर से वह यह कहते थे कि मुसलमान नेताओं की मंजूरी वह दे सकेंगे। इस प्रकार, यद्यपि यह बातचीत कांग्रेस की ओर से मैंने शुरू की थी--तथापि अन्त में यह इसलिए टूट गई कि श्री जिन्ना केवल कांग्रेस के साथ समझौते पर राजी नहीं हुए और हिन्दू-सभा की अनुमति जरूरी समझने लगे।

वह चाहते थे कि कांग्रेस, मुस्लिम लीग को, मुसलमानों की एकमात्र

प्रतिनिधि-संस्था मान ले और स्वयं हिन्दुओं की ओर से समझौता करने पर राजी हो जाय ! कांग्रेस न उस समय केवल हिन्दुओं की संस्था थी और न आज है। वह हमेशा से राष्ट्रीय संस्था रही है, जिसमें सब जातियों और सब धर्मों के लोगों के लिए स्थान है और रहेगा। उसकी नीति भी वैसी ही राष्ट्रीय नीति है और रहेगी। उस दिन समझौता नहीं हुआ। यह दुःख की बात है, क्योंकि उसके बाद परिस्थिति बराबर बिगड़ती ही गई है, और आज तो वायुमंडल भी विषाक्त है।

जबतक यह बातचीत चलती रही, मैं दिल्ली में ही रहा। पर बीच-बीच में जहां-तहां एक-दो दिनों के लिए चला जाता। मैं इलाहाबाद और आगरा इन्हीं दिनों में हो आया। मार्च से बाजाब्ता सिलसिलेवार दौरा करने का निश्चय किया। सबसे पहले पंजाब जाने का निश्चय किया। मार्च में वहां गया। सबसे पहले मैं जालन्धर में उतारा गया। वहां से कुछ दूर पर खादी की मुख्य केन्द्र आदमपुर में है। वहां गया और वहां का काम देखा। जालंधर से लाहौर गया। वहां से दूसरे स्थानों में जाने का कार्यक्रम बना था। लाहौर में मेरे रेल से उतरने पर हस्ब-मामूल बड़ा जलूस निकाला गया। कुछ दूर जलूस जाने के बाद ही बहुत जोरों से पानी बरसने लगा। मैं खूब भींग गया। पर जलूस समाप्त करके ही मुझे फुर्सत दी गई। जलूस समाप्त होते कुछ रात हो गई। मैं लोक-सेवक-समिति (**Servants of People Society**) के लाजपतराय-भवन में भोजन करने के लिए गया। भोजनोपरान्त डाक्टर सत्यपाल के घर पर ठहरने के लिए गया। पानी में भींगना और उसके बाद रात की सर्दी लग जाना मुझसे बर्दाश्त न हो सका। दूसरे दिन सवेरे ही खांसी-दमा शुरू हो गया। मैंने उम्मीद की कि मेरे स्वास्थ्य के लिए अच्छे दिन आ गये और वह व्यतिक्रम दो-एक दिनों में ठीक हो जायगा। पर वैसा न हो सका, मैं बीमार पड़ गया। नतीजा यह हुआ कि मुझे सारे कार्यक्रम को बदल देना पड़ा। लाहौर में मैं कई दिनों तक पड़ा रहा। पानी भी कुछ-न-कुछ कई दिनों तक बरसता रहा। मेरे अच्छा होते-होते वह सारा समय, जो मैंने पंजाब-भ्रमण के लिए दिया था समाप्त हो गया। पंजाब का दौरा स्थगित करके मैं सीधे बिहार वापस आ गया।

यह दुःख की बात है कि पंजाब-जैसे सूबे में कांग्रेसी लोगों में आपस का मतभेद बहुत है। यह सब उस समय भी बहुत जोर पर था। मुझे कुछ हद तक इसका शिकार भी बनना पड़ा था। यह बात विनोदपूर्ण है, इसलिए यहां कह देना बुरा न

होगा। इसमें किसी पर दोष लगाने का अभिप्राय नहीं है। पाठकों के मनोविनोद और उन्हें यह जता देने के लिए कि आपस के मतभेद से आगन्तुक अतिथि को भी कहीं-कहीं असुविधा हो सकती है, यह लिख रहा हूं।

पहले से निश्चित था कि हमको जालन्धर उतरना है। हम जिस गाड़ी से गये थे, वह सवेरे तीन-चार बजे के करीब वहां पहुंचती थी। जालन्धर में दो स्टेशन हैं--एक सिटी और दूसरा छावनीवाला। मुझे मालूम नहीं था कि किस स्टेशन पर उतरना है; पर मैं समझता था कि जहां-कहीं उतरना होगा, कुछ लोग आवेंगे ही और उतार लेंगे। इसलिए मैं इस विषय में निश्चिन्त था। जो स्टेशन पहले मिला, वहां कुछ लोग आये और उन्होंने मुझे उतरने को कहा। मेरे साथ कृपालानीजी भी थे। हम लोग वहां उतर गये। वे लोग हम लोगों को स्टेशन के मुसाफिरखाने में ले गये और वहां मुंह-हाथ धोकर तैयार हो जाने को कहा। हमने समझा कि लोगों का विचार है कि सवेरा हो जाने पर वहां से ले जायंगे। पर हमको आश्चर्य हुआ कि जिन सज्जन के यहां हम ठहरना चाहते थे और जिनको हमने तार दे दिया था वह (रायजादा हंसराज) स्टेशन पर नहीं आये हैं। हमने सोचा कि शायद वह सवेरा होने पर आयेंगे और तब हमें साथ ले जायंगे। हम लोग मुंह-हाथ धो ही रहे थे कि कुछ देर बाद मोटर पर रायजादा साहब आ गये। मालूम हुआ कि वह दूसरे स्टेशन पर इन्तजार कर रहे थे, जब हम लोग वहां नहीं पहुंचे तो वह यहां तलाश करने आये; जिन साहबों ने हमको उतार लिया था वे दूसरे दल के थे, जो यह नहीं चाहते थे कि हम रायजादा साहब के साथ ठहरें--उन्होंने कहीं अन्यत्र हमें ठहराने का प्रबन्ध किया था! दोनों में कुछ बातें आपस में हुईं। हम अतिथि कुछ मुश्किल में थे! अन्त में तय हुआ कि हम रायजादा साहब के यहां दोपहर का भोजन करें और सवेरे उन महाशय के यहां नाश्ता करें, जिनके यहां ठहराने का दूसरे लोगों ने निश्चय किया था। मैं रायजादा साहब को पहले से खूब जानता था। इसीलिए उनको तार दे दिया था। वहां के लोगों की यह हालत देखकर जो प्रबन्ध उन्होंने किया वही मानना पड़ा। हम लोग रायजादा साहब के यहां गये। मुंह-हाथ धोकर नाश्ता करके दूसरी जगह गये। वहां से आदमपुर गये। फिर लौटकर रायजादा साहब के यहां भोजन करके रेल से लाहौर के लिए रवाना हो गये।

पर हमारी दिक्कतें यहीं समाप्त न हुईं। लाहौर में कहां ठहरना होगा, यह

समस्या अभीतक हल नहीं हुई थी। रेल में एक आदमी डाक्टर सत्यपाल की पत्नी का पत्र लेकर आया और मिला। डाक्टर साहब उस समय जेल में थे। वही प्रान्तीय कमिटी के सभापति थे। यदि वह बाहर रहते तो सारा प्रबन्ध उनका ही होता। उनके न रहने से दूसरों ने प्रबन्ध किया था। मुझे मालूम हुआ कि लोक-सेवक समिति के सदस्यों ने, जिनमें कई परिचित मित्र थे, सभा-भवन में ठहराने का प्रबन्ध किया है। श्रीमती सत्यापाल ने लिखा कि उनके पति जेल में हैं, अतः वह आशा रखती हैं कि और कुछ नहीं तो इस कारण से भी मैं उन्हीं के यहां ठहरने का निश्चय करूंगा। मैं फिर संकट में पड़ गया। दोनों पक्षों के लोगों के बीच रेल में ही कहा-सुनी होने लगी। कृपालानीजी अपने उग्र स्वभाव के अनुसार बिगड़े! उन्होंने दोनों को डांटा कि तुम लोग आपस में बातें तय नहीं कर लेते और अतिथि को संकट में डालते हो। यह भी मालूम हुआ कि उस दिन संध्या के भोजन के लिए लोक-सेवक-समिति ने शहर के कितने ही माननीय पुरूषों को भी निमन्त्रित कर लिया है और यदि मैं वहां नहीं गया तो उनके प्रति भी अनादर होगा। अन्त में बात यह तय पाई गई कि संध्या का भोजन तो लाजपतराय-भवन में हो, पर मैं जाकर ठहरूं डाक्टर सत्यपाल के घर पर ही। जलूस में भींगने का कारण भी कुछ ऐसा ही था। प्रबन्धकों ने निश्चय कर लिया था कि जलूस किन सड़कों से जायगा। वे जलूस के रास्ते को, कुछ सड़कों को छोड़कर, कुछ छोटा न बना सके।

मैं डाक्टर साहब के घर पर ठहरा। दुर्भाग्यवश बीमार पड़ गया। अब जरूरत पड़ी किसी डाक्टर या वैद्य की; यह बात भी तय न हो सकी। पहले जो डाक्टर आये उनसे दूसरे दल को सन्तोष न था; वे अपना डाक्टर बुलाना चाहते थे! अन्त में ऐलोपैथिक छोड़कर होमियोपैथिक पर बात गई। कुछ अच्छा होते ही मैं बिहार वापस चला आया।

अप्रैल से जो यात्रा-क्रम बना था, उसे मैं निर्विघ्न प्रायः जून के अन्त तक ठीक-ठीक पूरा करता रहा। अप्रैल में जबलपुर में अखिल भारतीय कमिटी की एक बैठक की गई। इस बैठक के लिए कोई विशेष कार्यक्रम अथवा महत्त्व का प्रश्न नहीं था। पर मैंने सोचा था कि साल में दो-तीन बार अखिल भारतीय कमिटी को अवश्य मिलना चाहिए ताकि सदस्यों को कांग्रेस-सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करने का अवसर मिले। मध्यप्रदेश में बहुत दिनों से अखिल भारतीय कमिटी नहीं हुई थी। इसलिए

मैंने वहां के लोगों की इच्छा के अनुसार वहीं बैठक बुलाई। वह सफलतापूर्लक समाप्त हुई। वहां से मैं यात्रा पर निकल गया। यात्रा का आरम्भ बरार प्रान्त में हुआ। वहां प्रान्तीय राजनैतिक कान्फ्रेन्स थी, जिसके सभापति पंडित गोविन्दवल्लभ पन्त थे। कान्फ्रेन्स समाप्त करके मैं बरार के सभी जिलों में गया।

सभी जगहों में सभाएं होतीं, स्वागत होता, जलूस निकलता; लोगों में उत्साह काफी दीखता। मेरे लिए इस प्रकार की यात्रा का, अपने सूबे के बाहर, यह पहला ही अनुभव था। वह अनुभव अच्छा और सुखद था; क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रान्तों को देखने के अलावा कांग्रेस के संगठन को सुदृढ़ बनाने का कुछ मौका मिलता और जन-साधारण से सम्पर्क बढ़ता।

बरार की यात्रा समाप्त करके मैं सीधे कर्नाटक चला गया। यहां के सभी जिलों में दौरा किया। उसके बाद सारे महाराष्ट्र में गया। मैं सवेरे उठता और नहा-धोकर प्रायः सात बजे मोटर पर निकल जाता। स्थान-स्थान पर सभा करता हुआ दिन के बारह बजे तक कहीं पहुंचता, जहां भोजनादि का प्रबन्ध रहता। भोजन और विश्राम के बाद प्रायः दो बजे फिर निकल जाता और रात के आठ-नौ बजे तक सभा करता। रात को विश्राम के स्थान पर पहुंच जाता। रेल पर कम चलता, अधिकतर मोटर पर ही सारी यात्रा समाप्त हुई। बरार, कर्नाटक और महाराष्ट्र की यात्रा में ही प्रायः आधा अप्रैल, पूरा मई और प्रायः पूरा जून समाप्त हो गया। इस बीच केवल दो-तीन दिनों के लिए मैं एक बार अपने घर गया--भाईसाहब के वार्षिक श्राद्ध के लिए, जून के आरम्भ में।

सभी जगहों में बड़े-बड़े जलूस निकले, बड़ी-बड़ी सभाएं हुईं। छोटे-छोटे कस्बों और गांवों तक में मुझे जाने का और लोगों से मिलने का मौका मिला। कर्नाटक के जंगलों और पहाड़ों से होते हुए समुद्र के किनारे से लेकर मैसूर तक गया। फिर वहां से लौटते वक्त शोलपुर, सतारा, पूना, बेलगांव, मालवन, रत्नागिरि, नासिक, अहमदनगर इत्यादि नगरों में भी जाने का मौका मिला। सुन्दर-से-सुन्दर प्रदेश और दृश्य देखने को मिले। पहाड़ों की प्राकृतिक छटा, जंगलों के सुन्दर-सुहावने दृश्य, दक्षिण भारत की हरियाली और समुद्र की अनन्त जलराशि, सबके दर्शन हुए। मोटर पर जाने के कारण इन दृश्यों के देखने की और भी सुविधा हुई। लोगों की रंग-बिरंगी वेशभूषा तथा भाषा की विभिन्नता देखी। पर इन सबकी तह में भारत की एकता झलक रही

थी । वह कहीं भी खो नहीं सकती थी । एक तरफ सतारा और शोलपुर की तपती धूप मिली तो दूसरी ओर मैसूर और कुर्ग के जंगलों की ठंडी हवा शरीर को सुख पहुंचाती मिली । मरकरा में ऊंची पहाड़ी के समतल पर सभा के लिए एक अत्यन्त मनोरंजक स्थान है । वहां हजारों फुट की ऊंचाई तक एक ओर सभा होती थी और दूसरी ओर हजारों फुट नीचे, जहांतक नजर पहुंच सकती थी, हरा-भरा जंगल दीख रहा था । जमीन कहीं ऊंची कहीं नीची, पर सभी जगह सब्ज-सब्ज ही नजर आती । वहां के लोगों की पोशाक भी अपने ढंग की निराली थी । स्त्रियां सिर पर एक बेनी बांधती हैं । पुरूष अंगरखा पहनते और एक प्रकार की कुकड़ी या तलवार कमर में बांधते हैं । जंगल इतने घनघोर हैं कि सुना वहां हाथी भी होते हैं और शेर वगैरह तो होते ही हैं ।

महाराष्ट्र की यात्रा में एक बात हुई, जिसका जिक्र कर देना ठीक मालूम होता है । मैंने देखा कि वहां के लोगों को फूलों का बहुत शौक है । स्वागत के लिए वे फूल की मालाएं बहुत लाते । वहां का यह भी रिवाज है कि जब कोई प्रतिष्ठित अतिथि आता है तो उसके स्वागत में बहुत-सी संस्थाएं शरीक होती हैं और सभी की ओर से अलग-अलग हार दिये जाते हैं । इस तरह एक-एक सभा में कितने ही हार मुझे दिये जाते । फूल के हार कुछ ठहरनेवाले तो होते नहीं, दिन समाप्त होते-होते मुरझा जाते और उनको फेंक देना पड़ता; रास्ते में वे गाड़ी के लिए भी बोझ बढ़ा देते । जहां स्थानीय बाजार में हार न मिलते वहां लोग दूर-दूर से पार्सल करके हार मंगवाते । इसमें पैसे भी लगते और उनसे कोई काम भी पूरा न होता । इसलिए मैंने एक अपील निकाल दी कि लोग यदि स्वागत-सम्मान करना चाहते हैं तो बेहतर हो कि फूल के हार न देकर हाथ के कते सूत का हार मुझे दें । श्री शंकरराव देव ने मेरी इस उक्ति को पसन्द किया । उन्होंने भी इसपर जोर दे डाला । इसका नतीजा यह हुआ कि महाराष्ट्र और दूसरे प्रान्तों में, जहां-जहां मैं सफर में गया, सूत के हार मुझे दिये गये । मैं सूत की मालाओं को जमा करके साथ ले आया । बुनवाने पर इतना ज्यादा कपड़ा हुआ कि मित्रों को कुछ बांटने के बाद भी मुझे कई वर्षों तक खादी खरीदने की जरूरत नहीं पड़ी ।

महाराष्ट्र-कमिटी ने यह भी निश्चय किया कि मैं जहां जाऊं, लोग कुछ पैसे भी भेंट करें । उसी प्रान्त में यह बात आरम्भ की गई । छोटी-छोटी सभाओं में लोग

कुछ-न-कुछ पहले से जमा करके रखते, थैली भेंट देते। छोटे-छोटे गांवों में भी इस तरह की भेंट मिलती। कहीं-कहीं रास्ते में भी गाड़ी रोककर भेंट दी जाती। इस तरह प्रायः बीस-बाईस हजार रूपये जमा हो गये। इसका थोड़ा अंश अखिल भारतीय कमिटी के लिए कृपालानीजी ने ले लिया और प्रायः तीन-चौथाई से भी अधिक वहीं की प्रान्तीय कमिटी को वहां के काम के लिए दे दिया गया। इस सारे सफर में महाराष्ट्र के कार्यकर्ताओं की कार्य-कुशलता और कारबारी तरीके से मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। यात्रा-क्रम ऐसा बनाया गया था कि मुझे ठीक समय से सभी स्थानों में पहुंचने का मौका मिला। श्री शंकरराव देव मुझे यह भी कह देते कि किस स्थान पर कितनी देर ठहरना है और मैं उसी के अनुसार अपने भाषण में भी समय लगाता। अगर कुछ भी देर होने लगती तो वह छड़ी दिखला देते। चाहे सवेरे रवाना होने में, चाहे दोपहर के आराम के बाद चलने में, चाहे किसी स्थान का सभा समाप्त करने में, वह सर्वत्र पूरी कड़ाई से समय पर काम करते-कराते। इससे यह हुआ कि बिना कष्ट के सारा कार्यक्रम दिनभर में समाप्त होता और भोजन तथा आराम के लिए यथोचित समय मिल जाता।

ऐसा सभी सूबों में नहीं हुआ। कहीं-कहीं तो रात में एक या दो बजे भी जाकर सभा करनी पड़ी। हमारे अपने प्रान्त में ही, जब १६३७ में पंडित जवाहरलालजी आये, बांकीपुर में रात के बारह बजे और पटना-सिटी में रात के दो बजे--जनवरी के महीने में--सभा हुई। जनता उस कड़ी सर्दी में, संध्या छः बजे से दो बजे रात तक, खुले मैदान में बैठी रही! जब मैं महाराष्ट्र का वह संगठन स्मरण करता हूं तो वहां के लोगों की कार्य-दक्षता की सराहना किये बिना नहीं रह सकता। पर अपने सूबे की अव्यवस्था के लिए क्या कहूं! जनता का उतनी देर इन्तजार करना उसके उत्साह और धैर्य का सूचक था, तो अतिथि के पहुंचने में उतनी देर हमारी अव्यवहार्यता का सूचक था। पर मैंने देखा है कि इस देर के कारण में जनता का भी पूरा हाथ रहता है। जन-समूह भारी संख्या में जमा होता है। वह यदि पहले से अपने स्थान पर ठीक नियन्त्रण में बैठा रहे तो अतिथि को मंच तक पहुंचने में कठिनाई न हो और वहां पहुंचकर वह अपना काम भी जल्द-से-जल्द समाप्त कर सकता है। पर ऐसा होता नहीं। जनता की भीड़ अतिथि को घेर लेती है। उसका आगे बढ़ना कठिन हो जाता है। उसके बाद मंच तक पहुंचने में भी काफी समय लग जाता है। फिर उसके बाद भी कुछ समय जनता को बैठाने और शान्त करने में लगता

है। कार्यक्रम बनाने में हम इन सबकी गुंजाइश नहीं रखते। यदि उन जगहों के लिए, जहां सभाएं होनेवाली है, गुंजाइश रखें भी, तो रास्ते में भीड़ गाड़ी रोक लेगी, और जो जगह कार्यक्रम में नहीं है वहां भी अतिथि को कुछ कहने के लिए मजबूर करेगी! इसको तो हम न पहले से जानते हैं और न इसके लिए कार्यक्रम में समय ही देते हैं। इसलिए समय पर कहीं भी पहुंचना कठिन हो जाता है।

मैंने महाराष्ट्र की जनता में संयम भी देखा। उन्होंने कार्यक्रम के विरूद्ध कहीं भी रोका नहीं। न कहीं लोगों ने इस तरह की भीड़ ही की कि व्यर्थ समय नष्ट करना पड़े। इसका एक सुन्दर नमूना शोलापुर में देखने को मिला। वहां लोगों ने स्वागत के लिए बड़ी तैयारी की थी, सारा शहर सजाया था। वहां पहुंचने पर मालूम हुआ कि सरकार ने जलूस रोक दिया। कार्यकर्ताओं ने हुकुम तो मान लिया, पर सब लोगों को मुझे देख लेने का सुन्दर प्रबन्ध कर दिया। यह सब चन्द घन्टों में ही कर दिया गया। लोगों को कह दिया गया कि सब अपने-अपने स्थान पर--सड़कों पर या दुकानों पर और मकानों में--ठहरे रहें। मुझे उन सभी रास्तों से वे ले जायंगे जिधर से जलूस निकलने की बात थी। इस तरह लोग मुझे देख भी सकेंगे और लोगों ने जो स्वागत की तैयारी की थी, उसे मैं भी देख सकूंगा। लोगों के प्रबन्धकों का आदेश अक्षरशः माना। मैं निवास-स्थान में एक खुली गाड़ी में, जो सुगन्धित फूलों से खूब सजाई गई थी, चला। आहिस्ता-आहिस्ता उन सभी सड़कों से गुजरा जहां जलूस जानेवाला था। गाड़ी के साथ केवल एक-दो और गाड़ियां थीं, जो आगे और पीछे चलती थीं। सड़कें और मकानों तथा दुकानों के बरामदे लोगों से ठसाठस भरे हुए थे। पर कोई अपने स्थान से हमारी गाड़ी के पीछे या बगल में नहीं दौड़ा। गाड़ी धीरे-धीरे चली, इसलिए सभी मुझे अच्छी तरह देख सके। गाड़ी के धीरे चलने पर भी इस चक्कर में उससे कम समय लगा जितना जलूस में लगता। जहां लोग चाहते, गाड़ी रोक दी जाती, लोग हार इत्यादि से स्वागत कर लेते। इस तरह मुझे शहर देखने का भी अच्छा मौका मिला। साथ-साथ दौड़ती हुई भीड़ की गर्द से और कान फाड़नेवाले शोर-गुल से मैं एकबारगी बच गया। लोग भी दौड़-धूप के कष्ट से बच गये। सरकार ने जलूस रोका था कि लोग स्वागत में शरीक न हो सकें और भीड़-भाड़ न हो। अच्छी सूझवाले कार्यकर्ताओं की प्रवीणता और जनता के संयम का फल यह हुआ कि लोगों पर जलूस से जितना असर पड़ता, उससे कहीं अधिक असर

पड़ा ।

सभी जगहों में, हर हालत में, जहां सरकार की रूकावट न हो वहां भी क्या ऐसा नहीं हो सकता है ? हो सकता है, और अवश्य होना भी चाहिए । हमारे काम करनेवालों का बहुत समय भीड़ के संभालने में लग जाता है । कुछ मनचले लोग जलूस का प्रबन्ध बिना किसी अधिकार के अपने हाथों में ले लेते हैं । इसका नतीजा यह होता है कि कुछ लोग अतिथि की गाड़ी के साथ-साथ चलते हैं, जिससे वह छुप जाता है और बगल में खड़े लोग उसे देख नहीं पाते । तब फिर न देख सकनेवाले भी कुछ दूर तक साथ हो जाते हैं । इस तरह जलूस में गड़बड़ी मच जाती है । इतने लोगों के एक साथ ही चलने से खूब धूल उड़ती है । साथ के लोग हमेशा नारे लगाते चलते हैं । अतिथि की नाक गर्द से और कान नारों से फटने लगते हैं । वह यदि मेरे-जैसा दमा की मरीज हुआ तो उसे इसका नतीजा अगर उस दिन नहीं तो शीघ्र ही भोगना पड़ता है । जलूस में अधिक समय लगने के कारण वे लोग, जो अतिथि को देखने की इच्छा से सचमुच दूर से आते हैं, महरूम रह जाते हैं और आगे के कार्यक्रम में भी देर हो जाती है ।

मैंने इसी यात्रा में कहीं क्वेटा में भयंकर भूकम्प की खबर सुनी । शुरू में कई दिनों तक वहां का पूरा हाल नहीं मिला । पर जब तफसील अखबारों मे आने लगी तो मालूम हुआ कि वहां की स्थिति भी कुछ बिहार-जैसी ही होगी । मैंने एक रिलीफ-कमिटी बना दी और मैं ही उसका सभापति बना । रूपये जमा होने लगे । बिहार और क्वेटा में दो बातों का बड़ा अन्तर था । क्वेटा का भूकम्प क्वेटा शहर और आस-पास के लिए उतना ही प्रलयकारी था जितना बिहार का । पर उसका क्षेत्र बिहार-सा विस्तृत नहीं था । क्वेटा एक फौजी छावनी है । इसलिए वहां फौज मौजूद थे, जो लोगों को मदद पहुंचाने के काम में लगाई गई । पर इसी कारण वहां कोई भी गैर-सरकारी संस्था काम न कर सकी । अखबारों पर रोक लगा दी गई कि वे सरकारी मंजूरी के बिना कोई खबर न छापें । एक-दो पत्रों के साथ, खबर छाप देने के कारण, बहुत सख्त व्यवहार किया गया ! बाहर से लोगों का वहां जाना एकदम बन्द कर दिया गया । इसलिए वहां की वास्तविक स्थिति क्या थी, इसका पता किसी को न लगा । जो खबर मिली, वह केवल सरकारी विज्ञप्तियों द्वारा ही, दूसरा कोई चारा न था । इस बात को लेकर अखबारों में जोरों की चर्चा हुई । पर सुननेवाला

कोई न था ! फौज और सरकारी अफसरों ने जो मुनासिब समझा, किया। वहां के सरकारी कर्मचारियों और फौज के विरूद्ध बहुत तरह की शिकायतें, वहां से आये हुए लोगों को जबानी, सुनने में आईं। पर इनको कोई प्रकाशित न कर सका और न इसकी सचाई के सम्बन्ध में किसी ने जांच ही की। पर इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार वहां अखबारों का जाना रोक देना और किसी भी बाहरी आदमी के वहां जाने की मनाही कर देना एक अजीब बात थी। इससे आम लोगों ने यह अर्थ निकाला कि शिकायतें सही हैं और उन्हींपर परदा डालने के लिए यह कार्रवाई की गई है। लोगों की इच्छा थी और बहुत संस्थाएं तैयार थीं कि वहां जाकर पीड़ितों की सहायता करें; पर किसी को वहां जाने की इजाजत ही न मिली।

वहां बहुत-से लोग सिन्ध और पंजाब के थे। जो बचे उनमें बहुतेरे सिन्ध और पंजाब वापस आ गये। उन लोगों से ही तरह-तरह की खबरें फैलीं। बाहर के लोगों ने ऐसे निराश्रय लोगों की ही सहायता की। इनकी भी सहायता जरूरी थी; क्योंकि इनका सर्वस्व वहां खो गया था। बहुतेरों के कारबारी और कमानेवाले कुटुम्बी वहां मर गये थे। उनको पहले तो किसी ऐसे स्थान पर पहुंचा देना जरूरी था, जहां वे रह सकें। परन्तु वैसे स्थान में पहुंचने पर भी उनको कोई ठिकाना मिलने की आशा नहीं थी। इसलिए उन्हें कहीं भी ले जाकर कुछ दिनों के लिए उनके रहने और खाने-पाने का मेरी बहुत इच्छा थी कि मैं वहां जाऊं और जो थोड़ा-बहुत अनुभव बिहार के भूकम्प में काम करने से मिला था, उसका लाभ वहां के लोगों को देकर उनकी सहायता करूं। पर सरकार ने इजाजत न दी। इस बात पर समाचार-पत्रों ने सरकार की निन्दा की; पर वह टस-से-मस न हुई।

मैं करांची चला गया, जहां बहुतेरे लोग क्वेटा से भागकर आये थे। सिन्ध के उन शहरों में भी गया, जहां ऐसे पीड़ित लोगों के आने की खबर मिली। हजारों शरणार्थियों से मुलाकात की। उनकी दुःख-गाथा सुनी। तब सरकार को एक पत्र लिखा। उसमें उन सभी शिकायतों को जिक्र किया, जो सुनने में आई थीं। वहां जाने की इजाजत भी मांगी। इसका उत्तर उस समय के भारत-सरकार के गृहसचिव श्री हैलेट-युक्तप्रान्त के गवर्नर सर मौरिस हैलेट--ने दो सतरों के पत्र में दिया कि इजाजत नहीं मिल सकती और शिकायतों को भी सरकार जांच करने के योग्य नहीं समझती। इसलिए मुझे बाहर से ही सेवा-कार्य करना पड़ा। मैं क्वेटा तो नहीं गया, पर करांची, जैकोबाबाद, सक्खर, शिकारपुर आदि सिन्ध के शहरों में गया।

डेरागाजीखां, मुलतान, लाहौर इत्यादि पंजाब के शहरों में भी गया, जहां लोग भागकर वहां से आये थे। मैंने सभी जगहों में उनकी सहायता के लिए कमिटियां बना दीं। कमिटियों ने उनकी यथासाध्य सहायता की। क्वेटा-रिलीफ कमिटी की अपील पर कई लाख रूपये भी आ गये, जिनका वितरण किया गया। यहां सहायता का रूप बिहार से बिलकुल भिन्न था। बिहार में की गई विविध सहायता का वर्णन पहले किया जा चुका है। यहां क्वेटा में उस स्थान पर तो हम पहुंचे ही नहीं जहां सहायता की जरूरत थी। इसलिए खास क्वेटा जाकर हम कुछ करने से मजबूर रहे। इधर ही कुछ रूपये शरणार्थियों को खिलाने-पिलाने और उनके दवादारू में खर्च हुए। पर अधिक खर्च उनको व्यक्तिगत रूप से कहीं फिर जीवन आरम्भ करने के साधन पहुंचाने में ही किया गया। इस काम का भार सिन्ध में श्री जयरामदास और पंजाब में डाक्टर गोपीचन्द भार्गव ने ही उठाया। उनके सहायक स्थानीय लोग थे, जिन्होंने बड़ी तत्परता से काम किया।

ऊपर कहा गया है कि सफर में ही मुझे क्वेटा की खबर मिली। कुछ दिनों तक तो मैंने दौरा रोका नहीं, पर जब वहां की स्थिति की भयंकरता का ठीक पता चला तो मुझे दौरा रोककर उधर जाना पड़ा। उस समय मैं नागपुर में दौरा कर रहा था। उसके बाद ही, बरसात के कारण, दौरा रोकना था ही। इसलिए चन्द जगहों का दौरा ही रोकना पड़ा। बरसात शुरू हो गई। मैं सिन्ध और पंजाब में चला गया। वहां बरसात बहुत कम होती है। जो होती भी है, वह देर करके होती है। इसलिए कुछ हिस्सा जून का और पूरा जुलाई का महीना उन प्रान्तों में बीता। वहां के दौरे के कारण में और कार्यक्रम में, दोनों में, कुछ फर्क पड़ गया। जहां गया वहां पहले अस्पताल में जाकर क्वेटा के घायलों को देखता। फिर उनके लिए जो छावनी बनी होती वहां जाता और आश्रयी लोगों से मिलता। वहां के लोगों से कुछ रूपये जमा करता। रिलीफ के काम की निगरानी भी करता और सार्वजनिक सभा में भाषण भी। सिन्ध और पश्चिम पंजाब में तो केवल यही काम हुआ। पर जैसे-जैसे क्वेटा से दूर पूरब-पंजाब पहुंचता गया, दूसरा काम भी कुछ कर सका। इस तरह वे महीने, जिन्हें दूसरे सूबों के दौरे में बरसात के कारण नहीं बिता सकता था, सिन्ध और पंजाब में बिताये। वहीं जो कुछ हो सका, किया। इस यात्रा में भी, विशेषकर पंजाब में, बहुत करके मोटर पर ही घूमना पड़ा। इसलिए बीच और पूरब के पंजाब में कई जिलों के अन्दर घुसकर वहां की हालत अच्छी तरह देख सका।

: ११३ :

कांग्रेस का इतिहास : देशी राज्यों की समस्या

कांग्रेस का जन्म १८८५ के दिसमबर में हुआ था, जब उसका पहला अधिवेशन बम्बई में किया गया था। १६३५ के दिसम्बर में उसके पचास वर्ष पूरे होते थे। इसलिए यह निश्चय किया गया था कि कांग्रेस की अर्ध-शताब्दी (स्वर्णजयन्ती) धूमधाम से मनाई जाय। इसके लिए कार्यक्रम बनाया गया था, जिसका जिक्र आगे आवेगा; पर एक बात यहाँ कह देना आवश्यक हे यद्यणि कांग्रेस के प्रायः पचास बरस बीत चुके थे तथापि कांग्रेस का कोई ठीक इतिहास, शुरू से आजतक का इकट्ठा, लिखा नहीं मिलता था। डाक्टर पट्टाभि सीतारमैया ने एक इतिहास लिख रखा था, पर वह अभी छपा नहीं था। राय हुई कि इस जयन्ती के अवसर पर एक इतिहास भी प्रकाशित किया जाय। डाक्टर सीतारमैया से मैंने अनुरोध किया कि अपने लिखे इतिहास को वह पूरा कर दें और कांग्रेस की ओर से वह छपवाया जाय। उन्होंने इतिहास पूरा कर दिया। बरसात में, मैं और वह, वर्धा में बैठकर, उसे दुहरा गये। इसमें कई दिन लगे। जो-कुछ बाकी रह गया था, उसे मैं इलाहाबाद में स्वराज्य-भवन में बैठकर दुहराया।

वह इतिहास अंगरेजी में लिखा गया था। हमने यह भी निश्चय किया कि देशी भाषाओं में भी उसके संस्करण उसी समय निकाले जायं। इसलिए हिन्दी, मराठी, कन्नड़, तेलुगू, तमिल, उर्दू आदि भाषाओं में उसका अनुवाद छापने का भी प्रबन्ध कर दिया गया। अंगरेजी संस्करण के छापने के खर्च का भार तो अखिल भारतीय कमिटी ने लिया, क्योंकि हम जानते थे कि इसमें जो पैसे लगेंगे वे पुस्तक के बिक जाने पर वापस आ जायेंगे। दूसरी देशी भाषाओं में अनुवाद कराने और उन्हें छापने का भार कुछ प्रकाशकों ने अथवा उन प्रान्तों की कमिटियों ने ले लिया, जहां की भाषा में अनुवाद हुआ था। जिस दिन कांग्रेस की जयन्ती मनाई गई उस दिन--जहांतक मुझे स्मरण है--अंगरेजी, हिन्दी, मराठी, कन्नड़, तेलुगू, तमिल और उर्दू के संस्करण छपकर तैयार हो गये थे। उस अवसर पर जो खरीदना चाहते थे, उनको पुस्तक मिल सकी थी। यदि पुस्तकें कुछ और पहले छपकर तैयार हो सकी होती तो और भी बहुत

प्रतियां बिक सकतीं। तो भी हिन्दी और मराठी के दो संस्करण पूरा-का-पूरा बिक गया और कुछ दुबारा छापना पड़ा, जिसकी कुछ प्रतियां पीछे तक बची रहीं। मुझे इस पुस्तक के दुहराने में काफी समय लगाना पड़ा था और इसके लिए एक भूमिका भी लिखनी पड़ी थी।

इस जयन्ती के अवसर पर कांग्रेस-सम्बन्धी छोटी-मोटी और भी बहुतेरी पुस्तकें छपीं। एक में कांग्रेस के सभी स्वीकृत प्रस्ताव इकट्ठे करके छापे गये थे। एक दूसरी में सभी नहीं, पर मुख्य-मुख्य प्रस्ताव छापे गये थे। मद्रास के श्री जे० ए० नटेशन् ने कांग्रेस के सभापतियों के भाषणों को इकट्ठा करके पहले ही छापा था। उन्होंने उसे १६३४ तक के भाषण के साथ छापकर पूरा कर दिया। इस तरह इस साल में कांग्रेस-सम्बन्धी साहित्य बहुत छपा और बिका।

बरसात की हवा मेरे स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं होती। इस साल भी कुछ तबीयत खराब रही। पर कोई विशेष तकलीफ नहीं हुई। मेरा काम नहीं रूका। काम भी एक स्थान में बैठकर अधिक करना पड़ा। इसलिए दौड़-धूप के कारण जो व्यतिक्रम हुआ करता है वह नहीं हुआ। मैंने पहले से ही सोच रखा था कि बरसात के बाद दक्षिण भारत की यात्रा करूंगा। इसलिए मद्रास-प्रेसिडेंसी के तीन सूबों--तमिलनाड, केरल और आन्ध्र--के लिए यात्राक्रम बनाया गया। मैंने सोचा कि दशहरे के बाद यह यात्रा शुरू करने के पहले मद्रास में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक करने का निश्चय किया। वह एक विशेष कारण से आवश्यक हो गया था।

कांग्रेस की नीति शुरू से यह रही थी कि देशी रजवाड़ों और नियासतों के अन्दरूनी मामलों में वह हस्तक्षेप नहीं करेगी। पहले चाहे जिस कारण से यह नीति मानी गई हो, अब इसके सम्बन्ध में बहुत मतभेद होने लगा था। देशी रियासतों में प्रजातन्त्र नहीं है। राजाओं का मनमाना ही चलता है। कहीं-कहीं अच्छे दीवान सलाहकार मिल गये तो राज्य-प्रबन्ध अच्छा हुआ और प्रजा का कुछ लाभ भी हुआ। पर कहीं भी राज्य-शासन में प्रजा को अधिकार नहीं था। इन छः-सात सौ रजवाड़ों में कुछ तो बीघे के क्षेत्रफल और चन्द आदमियों को आबादीवाले छोटे राज्य से लेकर हजारों वर्गमील के विस्तार और करोड़ों की जनसंख्या वाले बड़े-बड़े राज्य तक थे। इनके अधिकार भी इसी तरह भिन्न थे। जो बड़े-बड़े राज्य हैं, वे अन्दरूनी मामलों में प्रायः स्वतन्त्र हैं। वे अपनी अदालत, कचहरी, थाना, पुलिस वगैरह सबकुछ

रखते हैं । जो बहुत छोटे हैं, वे जमींदार वा जागीरदार के समान ही हैं । इनमें से कुछ का सम्बन्ध ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के साथ सुलहनामे के जरिये बना हुआ है और बहुतेरों का सम्बन्ध सनद द्वारा निर्धारित किया गया है । आरम्भ में चाहे जो सम्बन्ध रहा हो, अब तो ब्रिटिश सरकार सबकी सिरताज है । वह यद्यपि उनके प्रतिदिन के कारबार में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप नहीं करती, तथापि ब्रिटिश-रेजिडेण्ट या दूसरा नियुक्त अफसर अपने हलकेवाले राज्य पर काफी असर रखता है । खासकर दीवान और मन्त्री की नियुक्ति में उसकी बात खूब चलती है । इस तरह, ब्रिटिश-गवर्नमेण्ट परोक्ष रीति से, उनके अन्दरूनी मामलों में भी, काफी दिलचस्पी लेती है ।

किसी भी देशी राज्य में ब्रिटिश-सरकार का मर्जी के खिलाफ कोई महत्त्वपूर्ण काम नहीं हो सकता था । इसके अलावा जब कोई राजा या नवाब ब्रिटिश-सरकार को नाखुश कर देता है, चाहे वह जिस कारण से हो, तो उसकी खैर नहीं होती । उसे शीघ्र ही अपनी गद्दी छोड़नी पड़ती है । उसके लिए कोई-न-कोई कारण आसानी से सामने आ जाता है । यों तो कहा जाता है कि ब्रिटिश-सरकार ने अपने हाथों में इस बात का अधिकार रखा है कि यदि कोई राजा कुशासन करे प्रजा पर जुल्म करे, तो वह पदच्युत किया जा सकता है । पर अधिकतर बात ऐसी हुई है कि ब्रिटिश गवर्नमेन्ट को नाखुरा करने पर ही कुशासन की खोज की जाती है और कुशासन के नाम पर वह पदच्युत किया जाता है ! यदि कुशासन के साथ-साथ कोई राजा ब्रिटिश-गवर्नमेण्ट को खुश भी रख सका, तो वह निर्भय और निरंकुश है ! पर यदि कुशासन के साथ वह ब्रिटिश-गवर्नमेण्ट को भी नाखुश करता है तो उसके लिए फिर कहीं कोई जगह नहीं रह जाती । इस तरह प्रायः प्रतिवर्ष एक-आध राजा पदच्युत होते देखे जाते हैं । इतने पर भी इन राज्यों का दावा है कि वे अपना सम्बन्ध केवल ब्रिटिश ताज के साथ रखेंगे और वे स्वतन्त्र हैं ! यह दावा बिलकुल खोखला है; क्योंकि जब भारतीयों के खिलाफ उनको खड़ा करना होता है तो ब्रिटिश-सरकार उनके साथ सुलहनामों की दुहाई देती है; पर जब उसे उनके साथ अपनी मनमानी करनी होती है तो वह जो चाहती है कर गुजरती है--उनकी तथा उनकी प्रजा की एक भी नहीं सुनती ! ब्रिटिश-सरकार के साथ ऐसा सम्बन्ध रखते हुए भी इन राज्यों का दावा है कि राज्य में वे जो चाहेंगे, करेंगे । इसलिए वे अपने यहां प्रजातन्त्र को फटकने नहीं देना

चाहते ।

फिर भी ब्रिटिश-भारत में पचास बरसों से अधिक काल से राजनैतिक सभाएं होती रहीं । यहां जनता में काफी जाग्रति आ गई । ब्रिटिश-सरकार को मजबूर होकर तथा ब्रिटिश राजनीति की प्रजातंत्रात्मक पद्धति के कारण भारत के लिए प्रजातन्त्र स्थापित करने की घोषणा करनी पड़ी । जो विधान समय-समय पर बनते गये वे भारत को उसी ओर ले जाते रहे । यह दूसरी बात है कि हम जहांतक जाना चाहते थे वहांतक वह हमें नहीं पहुंचने देती थी । तो भी इससे इन्कार नहीं कि यहां के विधान का रूख उस ओर था । ब्रिटिश-भारत और देशी रियासतें, दोनों इस तरह मिले-जुले थे कि कोई उनमें मामूली तौर पर भेद नहीं देख सकता था । भेद शासन-पद्धति में था, पर दोनों की जनता में भेद नहीं था । वही लोग जो सरहद के एक तरफ रहते हैं, सरहद के दूसरी तरफ भी बसते हैं; आपस में लेन-देन और शादी-ब्याह भी किया करते हैं । पर शासन-प्रणाली में बहुत फर्क पड़ जाता था । इसलिए जब ब्रिटिश-भारत में जाग्रति हुई तो उसका असर देशी रजवाड़ों की प्रजा पर पड़े बिना नहीं रह सकता था । उन लोगों में भी अपने राज्य-शासन में अधिकार पाने की इच्छा और अभिलाषा उत्पन्न हुई । वहां की नादिरशाही के कारण इस अधिकार की आवश्यकता भी खूब महसूस होने लगी । वहां भी लोगों ने कुछ संगठन शुरू किया । वे लोग भी ब्रिटिश-भारत के राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेने लगे । इस तरह यहां के विचारों को अपने राज्य के अन्दर अपने साथ ले जाने लगे । इसलिए कांग्रेस की पुरानी नीति कि वह देशी राज्यों के भीतरी मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी, लोगों को खटकने लगी ।

नागपुर-कांग्रेस के समय, १९२० के दिसम्बर में, जब कांग्रेस ने नये सिरे से कांग्रेस का विधान बनाया, और भाषाओं के अनुसार कांग्रेसी सूबों का संगठन किया, तो उसने देशी रजवाड़ों की प्रजा को अपने पास के ब्रिटिश-भारतीय कांग्रेस-सूबों की कमिटियों में शरीक होने का अधिकार दे दिया । इस तरह उन सभी देशी रजवाड़ों की प्रजा को, जहां गुजराती बोली जाती है, गुजरात-प्रांतीय कांग्रेस-कमिटी के मातहत कमिटियों में मेम्बर बनने और चुने जाने का अधिकार मिला । गुजरात प्रांतीय कमिटी को अखिल भारतीय कमिटी के लिए अथवा कांग्रेस-अधिवेशन के लिए उतने ही सदस्य या प्रतिनिधि चुनने का अधिकार मिला जितने ब्रिटिश-गुजरात और रजवाड़ोंवाले

गुजरात (काठियावाड़) की आबादी के अनुपात से मिलना चाहिए था--अर्थात् गुजरात की आबादी केवल ब्रिटिश-गुजरात की ही आबादी नहीं मानी गई, उसके साथ रजवाड़ोंवाले गुजरात की भी आबादी जोड़ दी गई, जहां गुजराती बोली जाती है। इसी तरह, अजमेर एक छोटी जगह है, जो ब्रिटिश-सरकार के अन्दर है। कांग्रेस-विधान में वह भी एक सूबा है और उसकी आबादी केवल उस छोटे हलके की आबादी नहीं मानी गई, बल्कि उसके साथ पूरे राजपूताने की आबादी भी जोड़ दी गई, जिससे अजमेर को बहुत अधिक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिल गया।

कांग्रेस देशी राज्यों के भीतर कांग्रेस-कमिटियां स्थापित करना नहीं चाहती थी; क्योंकि यदि ऐसा किया जाता और वहां के शासन से किसी बात में मतभेद हो जाता, अथवा वे कांग्रेस-कमिटियां स्थापित होने देना पसन्द न करते तो उनके साथ मुठभेड़ हो सकती थी। कांग्रेस इसे पसन्द नहीं करती थी। जब देशी रियासतों की जनता में जाग्रति होने लगी तो उनकी ओर से कांग्रेस में मांग हुई कि कांग्रेस अपनी नीति को बदल दे और रियासतों में भी प्रजातन्त्र के लिए कांग्रेस उसी तरह से प्रयत्न करे जिस तरह ब्रिटिश-भारत के लिए करती है। उनकी यह मांग न्यायसंगत थी; क्योंकि दोनों की जनता में कुछ भेद नहीं था। कांग्रेस के लिए भी दोनों में अन्तर करना ठीक नहीं था। कांग्रेस दोनों में अन्तर करना चाहती भी नहीं थी, पर वह इस झगड़े को भी हाथ में लेकर अपनी कठिनाइयों को बढ़ाना नहीं चाहती थी। वह यह भी मानती थी कि यदि हम ब्रिटिश भारत में ब्रिटिश सरकार की शक्ति के साथ कुछ कर लेंगे और यहां प्रजातन्त्र स्थापित कर सकेंगे तो देशी राज्यों में भी यह आसनी से हो जायगा; क्योंकि वे भी ब्रिटिश सरकार की शक्ति पर ही बहुत-कुछ अवलम्बित थे। यह सब होते हुए भी इधर कई बरसों से इस विषय में रियासती प्रजा में काफी खलबली हो रही थी। इसके कई कारण थे।

गोलमेज-कान्फ्रेन्स में ब्रिटिश सरकार ने रजवाड़ों के प्रतिनिधियों को भी बुलाया था। वहां सारे भारत के लिए विधान बनाने का प्रयत्न किया गया था, जिसके अन्दर ब्रिटिश भारत और देशी भारत दोनों का ही समावेश था। दोनों के लिए एक ही विधान बनाने का आरंभ तभी हो सका जब गोलमेज परिषद् में उपस्थिति राजाओं ने इसे मंजूर किया कि यदि संतोषप्रद विधान बना और उनके स्वत्व उसमें सुरक्षित रहे, तो वे भी उस विधान के अन्दर अपनी रियासतों को ला सकेंगे। १९३५ के विधान

में जो केन्द्रीय असेम्बली बननेवाली थीं, उसमें दो-तिहाई प्रतिनिधि ब्रिटिश भारत के और एक-तिहाई प्रतिनिधि देशी रियासतों के रखे जानेवाले थे। पर इसमें एक बहुत बड़ा अन्तर होगा कि ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि तो वहां की प्रजा द्वारा चुने जायेंगे; पर रजवाड़ों के प्रतिनिधि वहां के राजा द्वारा नामजद किये जायंगे ! यह बात वहां की प्रजा को तो खटकती ही थी, हम सबको भी बहुत बुरी लगती थी; क्योंकि हम समझते थे कि इस तरह से ब्रिटिश-सरकार कहने के लिए केन्द्रीय असेम्बली को प्रतिनिधित्व का हक देती है; पर वास्तव में उसके एक-तिहाई सदस्यों की नियुक्ति में, रेजिडेण्टों की मार्फत, वह पूरा-पूरा हाथ बंटा सकेगी। यह भी एक विशेष कारण था, जिससे कांग्रेस पर जोर दिया जाने लगा कि अब देशी रजवाड़ों के अन्दर भी कांग्रेस उसी तरह काम करे जिस तरह वह ब्रिटिश भारत के अन्दर जन-संगठन का काम करती है।

देशी राज्यों में कहीं-कहीं के शासकों ने आधुनिक वायु-मण्डल से प्रभावित होकर कुछ सुधार किया और कहीं-कहीं सिर्फ नाम के लिए बहुत कम अधिकारों के साथ धारा-सभाएं भी कायम हो गईं। पर उनमें से किसी में भी अभी तक उतने अधिकार नहीं मिले हैं, जितने ब्रिटिश भारत में १९२० के विधान के अनुसार प्रान्तों को मिले थे। पर कहीं-कहीं--जैसे बड़ोदा, मैसूर, ट्रावनकोर आदि राज्यों में--शिक्षा--सम्बन्धी और कुछ दूसरे सुधार ऐसे हुए हैं, जो किसी-किसी बात में ब्रिटिश राज्य से भी आगे हैं। पर प्रजा को शासन में अधिकार अभी तक वहां भी नहीं मिले हैं। इस तरह के सुधार भी अभी तक इने-गिने चन्द राज्यों में ही हो पाये हैं। प्रजा में, बहुत जगहों में, जाग्रति हो रही है। ब्रिटिश भारत तथा कुछ देशी राज्यों की हालत देखकर सब राज्यों की प्रजा अपनी-अपनी रियासतों में भी सुधार चाहती है।

१९३०-१९३४ के सत्याग्रह-आन्दोलन में देशी राज्यों की प्रजा ने बहुत जगहों में काफी भाग लिया था। गुजराती लोग और मारवाड़ी लोग व्यापार में बहुत आगे बढ़े हुए हैं। वे बम्बई, कलकत्ता आदि बड़े-बड़े नगरों में व्यापार के लिए जाते हैं। वहां जो आन्दोलन बढ़ा तौ वे उससे अपने को अलग न रख सके। जब बम्बई और कलकत्ता-जैसे शहरों के गुजराती और मारवाड़ी वहां के सत्याग्रह में शरीक हुए, तो वे अपनी रियासतों में भी स्वभावतः इस आन्दोलन को उन्हीं अधिकारों के लिए ले जाना चाहते थे जिनके लिए वे ब्रिटिश-भारत में, कांग्रेस में शरीक होकर, लड़ रहे

थे । इस तरह कांग्रेस के अन्दर एक खासा बड़ा दल तैयार हो गया था, जो कांग्रेस की नीति में परिवर्तन कराना चाहता था । कांग्रेस के अन्दर ब्रिटिश-भारत के रहनेवालों में भी बहुतेरे ऐसे थे, जो ब्रिटिश-भारत और देशी भारत में कोई अन्तर देखना नहीं चाहते थे । इसलिए बम्बई-कांग्रेस के समय ही यह आवाज उठाई गई कि कांग्रेस की नीति बदली जाय ।

स्वयं महात्मा गांधी का जन्म एक देशी राज्य में हुआ था । वह काठियावाड़ के राज्यों से अच्छी तरह परिचित हैं । ब्रिटिश-गुजरात देशी राज्यों से केवल घिरा ही हुआ नहीं है, बीच-बीच में दोनों के गांव एक-दूसरे से इस तरह मिले-जुले हैं कि यह कहना कठिन होता है कि कहां ब्रिटिश राज्य है और कहां किसी देशी राज्य का शासन है । इस तरह, उनको और सरदार वल्लभभाई पटेल को, दोनों को, देशी रजवाड़ों की स्थिति का पूरा अनुभव है । वहां की प्रजा से भी उनका काफी परिचय है । महात्माजी का विचार था कि यदि हम ब्रिटिश-भारत से देशी रजवाड़ों में काम करना शुरू करेंगे तो वहां काम ठीक न हो सकेगा; वहां की प्रजा को अपने पैरों पर खड़ा होने का वह सुअवसर भी न मिलेगा, जिससे उसमें आवश्यक शक्ति पैदा हो सके । इसलिए, वह देशी राज्यों की प्रजा के साथ काफी सहानुभूति रखते हुए भी यह नहीं चाहते थे कि कांग्रेस अपना काम रजवाड़ों में भी उसी तरह जारी करे जिस तरह वह ब्रिटिश भारत में करती है । हां, वहां की प्रजा इस तरह का आन्दोलन अवश्य कर सकती है और कांग्रेस की सहानुभूति उसके साथ अवश्य है तथा रहेगी--वह सहानुभूति, आवश्यकता और सुविधा के अनुसार, क्रियात्मक भी हो सकती है और होगी; पर वहां के आन्दोलन और संगठन का भार कांग्रेस अपने ऊपर अभी नहीं ले सकती ।

महात्माजी ने अपने एक वक्तव्य में यह मत प्रकाशित कर दिया । पर उन लोगों को इससे संतोष न हुआ, जो देशी राज्यों के मामले में कांग्रेस का सीधा हस्तक्षेप चाहते थे । मैंने कांग्रेस के सभापति की हैसियत से एक बयान निकाला, पर उससे भी लोग संतुष्ट न हुए । अन्त में, वर्किंग कमिटी ने भी एक वक्तव्य निकाला । इसलिए मद्रास में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक करने का एक कारण यह भी था कि वर्किंग कमिटी के निश्चय पर वह विचार कर सके । अखिल भारतीय कमिटी ने वर्किंग कमिटी के वक्तव्य को मंजूर कर लिया और यह झगड़ा कांग्रेस के अन्दर चलता रहा ।

पर इन सबका एक नतीजा वह है, जो हर तरह से वांछनीय था और जो गांधीजी की नीति का उद्देश्य था। अब रजवाड़ों के अन्दर वहां की प्रजा ने अपनी संस्थाएं स्थापित कर ली हैं। बहुतेरे रजवाड़ों में प्रजामण्डल या किसी दूसरे नाम की संस्थाएं बन गई हैं। अखिल भारतीय देशी राज्य चलाने लगे हैं। कांग्रेस भी, जहां आवश्यकता होगी, जरूर उनकी मदद करेगी। इस स्थिति तक पहुंचने में कई साल लग गये हैं। १९३५ में अभी बहुत जोरदार बहस चल रही थी। इसलिए नीति निर्धारित करके घोषणा करना आवश्यक था। यह मतभेद केवल राजनैतिक आन्दोलन के सम्बन्ध में ही था। जहांतक वहां की प्रजातन्त्रात्मक शासन-पद्धति की बात थी, कांग्रेस भी उसे पूर्णरूपेण उसी तरह अपना उद्देश्य समझती थी जिस तरह वह ब्रिटिश भारत के लिए समझती थी। इसकी घोषणा भी वह कर चुकी थी। रचनात्मक काम के सम्बन्ध में भी कोई मतभेद न था। कई रियासतों के अन्दर अछूतोद्धार-सम्बन्धी कार्य, और खादी की उत्पत्ति तथा उसके प्रचार का काम, कई वर्षों से खूब चलता रहा है; इसमें भी कोई मतभेद न था।

: ११४ :

दक्षिण भारत का दौरा

मैं वर्धा से मद्रास के लिए रवाना हुआ। वहांपर अखिल भारतीय कमिटी की बैठक के बाद दक्षिण भारत की यात्रा आरम्भ की गई। यहां का भी कार्यक्रम वैसा ही था--दिन-भर मोटर पर चलना, रास्ते में स्थान पर भाषण देते जाना, दोपहर को कहीं कुछ देर के लिए भोजन और विश्राम के वास्ते ठहर जाना, फिर रात के नौ-दस बजे तक वही सिलसिला जारी रखना। प्रायः संध्या तक किसी बड़े स्थान पर पहुंच जाता था, जहां रात को रहता और जहां संध्या के बाद ही सभा होती।

दक्षिण भारत की उस यात्रा में भाषा का प्रश्न उपस्थित हुआ। मध्यप्रदेश और प्रायः महाराष्ट्र तक में मैंने हिन्दी में ही भाषण किये। कहीं-कहीं खासकर गांवों में, श्री शंकरराव देव मेरे भाषण का उल्था कर देते; पर अधिकाशं जगहों में हिन्दी से ही काम चल जाता। पर तमिलनाड में यह बात नहीं थी। वहां तो मद्रास से ही मुझे अंगरेजी में भाषण करना पड़ा। मैं जो कुछ कहता, उसके प्रत्येक वाक्य का भाषान्तर कोई स्थानीय सज्जन कर दिया करते।

दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार का काम १९१८ से ही, महात्मा गांधीजी की प्रेरणा से, हो रहा है। तामिल-प्रदेश में ही हजारों स्त्री-पुरूष ऐसे हो गये हैं, जो हिन्दी बोल और समझ लेते हैं। मैं जिस बड़े शहर में पहुंचता, हिन्दी-प्रचारकों से मुलाकात हो जाती। कुछ तो वहां के ही निवासी थे, जिन्होंने हिन्दी सीख ली है; कुछ उत्तर भारत के रहनेवाले हैं, जो बिहार तथा युक्तप्रान्त से जाकर वहां उस काम में लगे हुए हैं। वहां के लोगों का हिन्दी के प्रति प्रेम और श्रद्धा अवर्णनीय है हिन्दी-प्रचार का काम विशेषकर पढ़े-लिखे लोगों में ही अधिक हुआ है। स्त्रियों ने इसमें उतना ही रस लिया है जितना पुरूषों ने। हिन्दी-पाठशालाओं में बूढ़े और बच्चे, स्त्रियां और पुरूष, एक साथ शिक्षा पाते हैं। जब मैं एक बार और दक्षिण में गया था तो मैंने देखा था कि एक ही सभा में पिता और पुत्र, माता और पुत्री को हिन्दी-परीक्षा पास करने के प्रमाणपत्र एक साथ ही दिये गये थे। यह सिलसिला अभी तक जारी है। लाखों लोगों ने हिन्दी का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। तो भी हिन्दी में भाषण करना अभी सम्भव

न था; क्योंकि हजारों की संख्या में जो लोग जमा होते, उनमें हिन्दी समझनेवाले थोड़े ही होते। अंगरेजी जाननेवालों की संख्या हिन्दी जाननेवालों से कहीं ज्यादा होती। तो भी सारी जनता में उनकी गणना भी बहुत थोड़ी ही होती। इसलिए, मैं चाहे अंगरेजी में बोलता या हिन्दी में, सभा में उपस्थित सौ आदमियों में प्रायः नव्वे ऐसे होते ही, जो न हिन्दी समझते थे, न अंगरेजी, और उनके लिए भाषण का भाषान्तर हर हालत में आवश्यक होता।

मद्रास-जैसे बड़े शहर में शायद अंगरेजी जाननेवालों की संख्या गांवों की अपेक्षा बहुत अधिक होगी; पर वहां भी अंगरेजी में भाषण समझनेवालों की गिनती थोड़ी ही होगी। पर जो थोड़े-बहुत अंगरेजी जाननेवाले होते उनके बराबर भी हिन्दी जाननेवाले न होते। किन्तु इससे भी अधिक बड़ा कारण अंगरेजी में भाषण करने का यह होता कि अंगरेजी से तमिल में उल्था करनेवाला आसानी से सभी जगहों में मिल जाता; किन्तु हिन्दी से तमिल में उल्था करनेवाला मिलना कठिन होता। इसलिए मुझे तमिलनाड में और केरल प्रदेश में अधिकतर अंगरेजी में ही भाषण करने पड़े। बहुत दिनों से अंगरेजी अधिक बोलने की आदत छूट गई थी; पर दो-चार सभाओं के बाद ही फिर मुंह खुल गया और मैं अच्छी तरह से भाषण कर सका।

एक और चीज थी, जिसका जिक्र कर देना अच्छा होगा। मद्रास में 'हिन्दू' नामक अंगरेजी दैनिक पत्र बहुत पुराना और प्रतिष्ठित है। इसकी बिक्री बहुत काफी है। छपाई इत्यादि भी बहुत सुन्दर है। इसका सम्पादन और समाचार-संग्रह भी बहुत ही अच्छा होता है। यदि यह कहा जाय कि हिन्दुस्तान के सभी हिन्दुस्तानी पत्रों में, जो अंगरेजी में छपते हैं, यह सबसे अच्छा है तो अतिशयोक्ति न होगी। इसका मुझे अनुभव वहां पूरी तरह से हो गया। मैं जिस दिन मद्रास पहुंचा, स्टेशन पर लोगों ने स्वागत किया। वहीं एक छोटी-सी सभा हो गई--छोटी इस माने में कि जो सभा समुद्र के किनारे होती उसके मुकाबले में वह छोटी ही थी। पर तो भी वहां हजारों आदमी मौजूद थे। वहां मुझे सम्मान के साथ उतारकर लोग ले गये। वहीं मुझे पहले-पहले उस प्रान्त में कुछ कहना पड़ा। वहां से जलूस निकला, जो शहर के कई हिस्सों से गुजरता हुआ मैलापुर गया, जहां मुझे ठहरना था। रास्ते में 'हिन्दू' का आफिस पड़ता था। जलूस जब 'हिन्दू'-आफिस के सामने पहुंचा--'हिन्दू' का एक अंक, जो उन दिनों संध्या के समय निकला करता था, मेरे हाथ में दिया गया। उसमें

मैंने स्टेशन के स्वागत का वर्णन और वहां के दृश्य का चित्र तथा अपना भाषण भी देख लिया। मैं ज़हां-कहीं गया, 'हिन्दू' का संवाददाता मौजूद मिला करता। वह मेरे पूरे भाषण को, जो अंगरेजी में ही हुआ करता था, पूरा-पूरा अपने पत्र के पास लिख भेजा करता। इस तरह तमिलनाड में और केरल में मेरे भाषणों की जैसी पूरी और अच्छी रिपोर्ट छपी वैसी और कहीं नहीं। 'हिन्दू' के संवाददाता सभी जगहों में होते। ऐसा नहीं था कि कोई संवाददाता मेरे साथ-साथ सफर में फिरता रहा हो। स्थानीय संवाददाता भी शीघ्रलिपि जानते थे, अंगरेजी की अच्छी लियाकत रखते थे और अपने काम में इतने तत्पर होते थे कि मद्रास से किसी को मेरे साथ घूमने की जरूरत न हुई।

उन सभी स्थानों का नाम देना तो कठिन है, जहां-जहां मैं गया। यदि मैं ऐसा कहूं कि सारे सूबे में शायद ही कोई तालुका या शहर होगा जहां मैं नहीं गया, और एक तालुके से दूसरे तालुके तक के रास्ते में शायद ही कोई मुख्य स्थान होगा जहां मैं कुछ देर के लिए न ठहरा होऊं, तो अत्युक्ति नहीं होगी। इस सफर में भी प्रायः सारा रास्ता मोटर पर ही कटा। कहीं-कहीं ऐसा हुआ कि एक रास्ते पर दो बार जाना पड़ा, तो वहां एक ओर से रेल पर सफर किया गया।

मैंने ऊपर कहा है कि मद्रास में ब्राह्मण-अब्राह्मण का झगड़ा कुछ वैसा ही है जैसा उत्तर भारत में हिन्दू-मुसलमान का अथवा बंगाल-बिहारी का बिहार में। जस्टिस-पार्टी अब्राह्मणों का दल है। वहां मेरे जाने के एक वर्ष पहले ही वह केन्द्रीय असेम्बली के चुनाव में कांग्रेस से हार चुकी थी। पर उसका असर तो अभी बहुत-कुछ बाकी था। इसलिए कहीं-कहीं इस तरह के सवाल किये जाते थे, जिनसे यह टपकता था कि वे लोग कांग्रेस को ब्राह्मणों की संस्था समझते हैं। मैंने कई जगहों में साफ-साफ कहा कि कांग्रेस में सबके लिए स्थान है और आज भी उसकी वर्किंग कमिटी में बहुत-से अब्राह्मण हैं। उदाहरणार्थ--महात्मा गांधी, सरदार वल्लभभाई पटेल, आचार्य कृपालानी और अपना नाम भी मैंने लिया। मैंने देखा कि कारण चाहे जो हो, इस तरह के प्रचार का यह बुरा फल हुआ है कि कांग्रेस-जैसी संस्था के सम्बन्ध में भी लोगों में सन्देह पैदा कर दिया गया है।

पर इससे भी अधिक एक दिलचस्प चीज और कहीं-कहीं देखने में आई। वहांपर एक दल अब्राह्मणों का कायम हुआ था, जो अपने को स्वाभिमानी दल (सेल्फ

रिस्पेक्ट पार्टी) कहा करता था । उस दल की ओर से कहीं-कहीं कुछ लोग स्वागत के समय, काले झंडे दिखलाते और 'गो-बैक'--'लौट जाओ' का नारा लगाते । पर यह दल इतना छोटा होता कि केवल एक मज़ाक की चीज ही बन जाता । मुझे याद है कि एक सभा में कुछ लोग 'गो-बैक' के नारे लगाकर शोर मचा रहे थे । मैंने हँसकर सभा से पूछा कि कितने लोग चाहते हैं कि मैं वापस चला जाऊं और कितने चाहते हैं कि मैं न जाऊं । लोगों ने जो हाथ उठाकर अपनी राय बतलाई तो साफ हो गया कि 'गो-बैक' कहनेवालों की संख्या बहुत थोड़ी थी । मैंने भाषण इसी प्रश्न से शुरू किया--इतने अधिक लोग चाहते हैं कि मैं न जाऊं और इतने थोड़े लोग चाहते हैं कि मैं जाऊं, तो ऐसी अवस्था में मैं क्या करूं ? मेरे प्रश्न करते ही सारी सभा में हँसी हुई । लोग इतना हँसे कि 'गो-बैक' कहनेवाले भी अपनी हँसी न रोक सके, वे भी उस हँसी में शरीक हो गये । उसके बाद सभा शान्ति से हुई ।

एक दूसरे स्थान में रात को सभा हो रही थी । कुछ लोग शोर मचाने लगे । पर सभा बहुत बड़ी थी । मुझ तक शोर का असर नहीं पहुंचा था । पर वहां के लोग उससे ऊब गये । पुलिसवाले भी गुस्से में आ गये । शोर मचानेवालों की संख्या बहुत थोड़ी थी । पुलिस ने उनको पकड़कर पास के ही एक मकान में बन्द कर दिया । जबतक सभा होती रही, उनको बन्द ही रखा । इसकी खबर मुझे पीछे लगी । पर मैंने यह देखा कि जो काले झंडे दिखलाने के लिए आते, वे भी कुछ देर तक शोरगुल मचाकर भाषण होने लगने पर चुप हो जाते और उसे ध्यान से सुनते । बीच-बीच में, विशेषकर जलूस और स्वागत के समय ही, वे अपनी शक्ति खर्च करते, मेरे भाषण के समय नहीं ।

तमिलनाड, केरल और आन्ध्र प्रदेशों में बहुत जबरदस्त स्वागत हुआ । प्रचार-कार्य भी काफी हुआ । आन्ध्र में मैं सबसे पीछे आया । वहांपर एक नई बात यह हुई कि मेरे पूरे सफर में हिन्दी-प्रचार-सभा के श्री सत्यनारायण साथ रहे । वह आन्ध्र के रहनेवाले हैं । पर हिन्दी का ज्ञान उनका इतना अच्छा है कि यदि वह भाषण देने लगें तो किसी हिन्दी-भाषी को यह सन्देह न होगा कि वह हिन्दी-भाषी नहीं हैं । इसलिए वहां मेरे भाषणों के भाषान्तर का प्रश्न बहुत आसान हो गया । आन्ध्र में तमिल की अपेक्षा हिन्दी-प्रचार अधिक भी हुआ है । वहां मैंने यह भी देखा कि बहुत जगहों में लोग मेरा भाषण हिन्दी में ही सुनना चाहते थे । इसलिए, आन्ध्र में कुछ

स्थानों को छोड़कर और सब जगहों में मैंने हिन्दी में ही भाषण किया। सत्यनारायणजी-जैसा भाषान्तरकार साथ में था। जहांतक मैं समझ सकता था, मेरे भावों का वह बहुत सुन्दर रीति से तेलुगू में उल्था करके बता देते थे। बात तो यह है कि वहां भी सौ में नव्वे ऐसे ही लोग हुआ करते थे, जो न हिन्दी जानते थे और न अंगरेजी; उनको तेलुगू-उल्था के लिए हर हालत में इन्तजार करना पड़ता था--चाहे मैं अंगरेजी में बोलूं या हिन्दी में। यही बात तमिलनाड में भी थी। पर आन्ध्र के जो थोड़े अंगरेजी जाननेवाले होते, वे भी या तो हिन्दी समझ लेते या तेलुगू-भाषान्तर के लिए इन्तजार करने को तैयार होते। तमिलनाड के अंगरेजी जाननेवाले इतना सब्र नहीं कर सकते।

इस यात्रा से मुझे इस बात का पता चला कि हिन्दी-प्रचार-सभा ने कितने महत्त्व का काम किया है और वह काम राष्ट्र-निर्माण में कितना सहायक हुआ है तथा आगे कितना सहायक होगा। एक बात और देखने में आई। मैं जहां गया वहां जो थोड़े मुसलमान मिले, उनमें बहुतेरे टूटी-फूटी हिन्दी कुछ-न-कुछ समझ लेते थे। उनकी बोली तो शायद उस स्थान की ही बोली होगी, पर वे न मालूम किस तरह कुछ-कुछ ऐसी बोली समझ लेते, जिसे मैं समझ सकता। वह न शुद्ध हिन्दी होती और न फारसी-मिश्रित शुद्ध उर्दू। वह तो होती एक ऐसी सरल भाषा जिसे प्रत्येक हिन्दी-भाषी समझ सकता है। इस भाषा को वहां के लोग 'मुसलमानी' कहा करते थे। इससे अनुमान हुआ कि इसे मुसलमान ही उत्तर भारत से उस तरफ ले गये थे।

तमिलनाड की यात्रा में मैं दो स्थानों का उल्लेख जरूरी समझता हूं। मैं तिरूवन्नमलय में जब पहुंचा तो मालूम हुआ कि यहीं रमण महर्षि निवास करते हैं। यात्रा का क्रम इतना कड़ा था कि वहां मैं ठहर न सका। चन्द मिनटों के लिए उनका दर्शनमात्र कर सका। पर मेरी इच्छा हो गई कि यदि हो सका तो कभी आकर अच्छी तरह से दर्शन करूंगा। कुछ दिनों के बाद श्री शंकरलाल बैंकर ने भी मुझे वहां जाने की सलाह दी। वह स्वयं वहां कई बार गये थे और उनके हृदय पर अच्छा प्रभाव पड़ा था। इसलिए कई बरसों के बाद एक बार सेठ जमनालालजी के साथ मैं वहां गया। कई दिनों तक वहां ठहरकर महर्षि के दर्शन करता रहा। दूसरी जगह, जिसका उल्लेख करना चाहता हूं, चिदम्बरम् है। वहींपर अन्नमलय-यूनिवर्सिटी राजा

अन्नमलय चेट्टियर के दान से बनी है। उन दिनों श्रीनिवास शास्त्री वहां के वाइस-चांसलर थे। उन्होंने मुझे लिखा था कि जब मैं वहां जाऊं तो उनके ही साथ ठहरूं। मुझे यह बात बहुत पसन्द आई। मैं दो दिनों तक उनका अतिथि रहा। यों तो श्री शास्त्रीजी से मेरा पहले का परिचय था; पर यह पहला ही अवसर था जब मैं उनके साथ एक-दो दिनों तक ठहरा। इसका असर यह हुआ कि मेरी श्रद्धा उनके प्रति और भी बढ़ गई।

केरल-प्रान्त में मैं कोचीन भी गया। वहां तातापुरम् में तेल के बड़े कारखाने को देखा। पर मैं ट्रावनकोर-राज्य में दो-एक स्थानों को ही देख सका। इनमें एक कन्याकुमारी है। वहांपर जाकर कुछ समय मैंने बिताया। हिन्दुस्तान का सबसे दक्षिणी अन्तरीप, जहां बंगाल-उपसागर और अरबसागर मिलते हैं, भारत के लिए और संसार के लिए, एक विशेष महत्त्व रखता है। लोगों ने भारत के नक्शे पर भारत-माता को एक स्त्री के रूप में चित्रित दिखलाने का प्रयत्न किया है। चित्र में माता के चरण यहीं पड़ते हैं। मैंने सुना है कि जब स्वामी विवेकानन्द इस स्थान पर पहुंचे और यहां की चट्टानों को, जो माता के चरण हैं, देखा--जिनको समुद्र बराबर अपनी लहरों से धोता रहता है--तो वह अनायास वहां साष्टांग दण्डवत् करके माता के चरणों में गिर पड़े। मेरी भावना भी उस स्थान पर कुछ वैसी ही हुई। फिर जब मैंने यह सोचा कि कन्याकुमारी के सामने दक्खिन में दक्षिण-ध्रुव तक कोई दूसरा टापू अथवा जमीन का टुकड़ा नहीं मिलता, तो यह भावना और भी दृढ़ हुई कि प्रकृति ने यहींपर एक प्रकार से पृथ्वी का अन्त किया है। जमीन उत्तर ध्रुव से साइबीरिया, चीन, तिब्बत, हिमालय होते भारत को पार करके वहां (कन्याकुमारी) तक फैली है। वहीं उसका अन्त हो जाता है। उनके दक्खिन में केवल जल-ही-जल है, जो दक्षिणी-ध्रुव तक पवित्र स्थान है, जिसको देखकर कोई भारतवासी भारत की एकता और एकसूत्रता को भूल नहीं सकता।

कन्याकुमारी से उत्तर प्रायः श्री जगन्नाथपुरी तक मैं बराबर मोटर पर घूमा। यह तो भारत से पूर्वी हिस्से में समुद्र के किनारे-किनारे भ्रमण हुआ। उसी तरह, पश्चिमी किनारे पर भी कर्नाटक और महाराष्ट्र की यात्रा में, बंगलौर से लेकर गुजरात तक, मोटर पर भ्रमण कर चुका था। बीच के शहरों में भी वहां के प्रायः सभी मुख्य स्थानों को देखने का अवसर मिला था। जो थोड़े स्थान ऐसे थे, जहां नहीं जा सका था,

वहां पीछे गया । इस प्रकार, केवल हैदराबाद-राज्य के अन्दर के स्थानों को छोड़कर, मैं बिन्ध्य के दक्षिण सारे भारत का पूरा दौरा कर चुका हूं ।

कार्यक्रम ऐसा बना था कि दिसम्बर की २० या २१ तारीख तक मैं प्रायः तीन महीनों में सफर समाप्त करके वर्धा पहुंच जाऊं और वहां से बम्बई जाऊं, जहां कांग्रेस की जयन्ती मनाने का प्रबन्ध किया गया था । मैं आन्ध्र में सबसे पीछे विशाखापट्ट (विजगापट्टम्) में पहुंचा । वहां से ट्रेन पर सवार होकर रायपुर आया । रायपुर में, श्री पंडित रविशंकर शुक्लजी के आग्रह से, वहां की सेवा-समिति के उत्सव में शरीक होने का, पहले से ही वचन दे चुका था । उस उत्सव को देखकर वर्धा गया । वर्धा में एक या दो दिन ठहरकर बम्बई चला गया ।

: ११५ :

कांग्रेस की स्वर्ण-जयन्ती

कांग्रेस-जयन्ती के अवसर पर सारे देश में उत्सव मनाने का प्रबन्ध किया गया था। मुख्य उत्सव बम्बई में ठीक उसी स्थान पर होनेवाला था, जहां कांग्रेस का पहला अधिवेशन सन् १८८५ के दिसम्बर में हुआ था। बम्बई की प्रान्तीय कमिटी ने इस उत्सव के लिए समुचित प्रबन्ध किया था। जब मैं बम्बई पहुंचा, मुझे यह मालूम हुआ कि सर दिनशा वाचा बहुत बीमार हैं। उस समय शायद वही एकमात्र जीवित व्यक्ति थे, जिन्होंने कांग्रेस के पहले अधिवेशन में भाग लिया था। पंडित मदनमोहन मालवीयजी शायद एक या दो वर्ष बाद से कांग्रेस में आने लगे। सर दिनशा वाचा केवल सबसे पुराने कांग्रेसी ही नहीं थे, वह कांग्रेस के सबसे बूढ़े सभापति भी थे, जो उस समय जीवित थे। इसलिए मैंने अपना कर्तव्य समझा कि उत्सव का कार्यारम्भ उनके दर्शन करके और उनके आशीर्वाद के साथ करूं। इधर कई बरसों से उनका कांग्रेस के साथ बहुत गहरा मतभेद हो गया था। वह कांग्रेस से बहुत दूर हो गये थे। तो भी उनकी सेवाओं को, कांग्रेस के इतिहास से परिचय रखनेवाला, कोई भी भारतीय भुला नहीं सकता। उनके दर्शन मैंने प्रायः उनकी बेहोशी की हालत में किये, पर यह भी मेरे लिए सौभाग्य की बात थी।

जयन्ती का उत्सव बड़े समारोह से बम्बई में हुआ। भारत में प्रायः सभी शहरों में वह बहुत धूमधाम से मनाया गया। लोगों ने दिवाली मनाई, बड़ी-बड़ी सभाएं कीं, कांग्रेस के इतिहास-सम्बन्धी भाषण किये। एक विशेष वक्तव्य जो निकाला गया था, उसे पढ़कर सर्वत्र लोगों को बतलाया गया। मैंने और कहीं के उत्सव को तो नहीं देखा, पर उसके वर्णन पढ़े। पटने लौटने पर पटने में मनाये गये उत्सव का हाल साथियों से सुना। शायद इस तरह का उत्सव इसके पहले कभी सारे देश में जनता ने इतने उत्साह से नहीं मनाया था। उसी साल ब्रिटिश बादशाह पंचम जार्ज के राज्य के पच्चीस वर्ष पूरे हुए थे, जिसके लिए रजतजयन्ती मनाई गई थी। लोगों के दिल में शायद यह भी स्पर्धा थी कि राष्ट्रीय महासभा की जयन्ती भी शान-शौकत से मनाई जाय। इस भावना को उन्होंने इस उत्सव के अवसर पर कार्य-रूप में प्रदर्शित किया।

इस सफर में मेरे भाषणों का लक्ष्य और तात्पर्य एक ही था--कांग्रेस के संगठन को मजबूत बनाना चाहिए। जहांतक मैं समझ सका, इस दौरे का असर अच्छा ही पड़ा; क्योंकि जनता चाहती थी कि १९३०-३४ के सत्याग्रह के बाद, जब सरकार ने अपने जानते कांग्रेस को खूब दबा डाला था, उसे यह दिखलाने का मौका मिले कि वह अब भी कांग्रेस के प्रति वही प्रेम और श्रद्धा रखती है। मैंने अपने सभापतित्व-काल को इस तरह बहुत दौड़-धूप करके बिताया। शायद मेरे पहले किसी सभापति ने इतना लम्बा-चौड़ा सफर नहीं किया था। पंडित जवाहरलालजी ने, जो मेरे बाद ही फिर दूसरी बार सभापति हुए, इस सिलसिले को जारी रखा। अपनी जबरदस्त शारीरिक शक्ति से उन्होंने इससे भी ज्यादा कठिन यात्रा की।

१९२९ के दिसम्बर में लाहौर-कांग्रेस में निश्चय हुआ था कि कांग्रेस का अधिवेशन फरवरी या मार्च में हुआ करे। इसी निश्चय के अनुसार करांची का अधिवेशन १९३० के दिसम्बर में न होकर १९३१ के मार्च में ही होना था। १९३० के दिसम्बर में सत्याग्रह चल रहा था, इसलिए उस समय अधिवेशन नहीं हो सकता था। पर नियमानुकूल उसे १९३१ के मार्च में ही होना था और वह करांची में हुआ भी। १९३२-३३ में सत्याग्रह के कारण बाजाब्ता अधिवेशन नहीं हुआ। पर पुलिस की आज्ञा के विरूद्ध, दिल्ली और कलकत्ते में, नियमानुसार समय पर, लाठियों के प्रहारों के बीच, अधिवेशन हुए। १९३४ में बाजाब्ता अधिवेशन हुआ, पर मार्च में नहीं; क्योंकि उस समय कांग्रेस गैर-कानूनी संस्था थी। वह अधिवेशन अक्तूबर में बम्बई में हुआ। अब १९३५ के मार्च में यदि अधिवेशन होता तो वह पिछले अधिवेशन के पांच महीने बाद ही पड़ता। इसलिए निश्चय किया गया कि १९३५ के बाद ही अधिवेशन किया जाय--१९३६ के फरवरी-मार्च में। पंडित जवाहरलालजी बम्बई-अधिवेशन के समय जेल में थे। बाद में जेल से छूटने पर, श्रीमती कमला नेहरू की बीमारी के कारण, वह उनके पास यूरोप चले गये, जहां देवीजी का देहान्त हो गया। पंडित जवाहरलालजी ही कांग्रेस के सभापति चुने गये थे। इसलिए उनके वापस आ जाने पर और आ जाने के बाद देश की परिस्थिति समझ लेने पर ही अधिवेशन हो सकता था। इसलिए दूसरा अधिवेशन १९३६ के अप्रैल में लखनऊ में हुआ। १९३५ के अन्त तक मैं सफर और जयन्ती में लगा रहा। उसके बाद सर्दी के कारण कुछ अस्वस्थ हो गया। कुछ आराम कर लेना आवश्यक था। इसलिए

ज्यादा लम्बा सफर नहीं कर सका ।

जिस दिन पंडित जवाहरलालजी यूरोप से कमलाजी के 'फूल' लेकर हवाई जहाज से उतरे, मैं उनके स्वागतार्थ प्रयाग गया । वह शोक का दिन था; क्योंकि कमलाजी-जैसी निपुण काम करनेवाली और देश के साथ प्रेम रखनेवाली स्त्री विरले ही मिलती है । इसपर उनका विदेश में देहान्त और जवाहरलालजी का उनकी राख के साथ वापस आना--सभी दुःख बढ़ानेवाली बातें थीं । बड़े समारोह के साथ उनका अस्थि-विसर्जन त्रिवेणी संगम पर किया गया । इसके बाद से ही लखनऊ-कांग्रेस की तैयारी होने लगी ।

एक प्रश्न जवाहरलालजी के सभापतित्व के सम्बन्ध में उठा था । उस समय तक कांग्रेस का एक अलिखित नियम माना जाता था कि जिस सूबे में सालाना अधिवेशन हो, उस सूबे का आदमी सभापति नहीं हो सकता । जवाहरलालजी युक्त प्रान्त के रहनेवाले ही नहीं थे, वहां की प्रान्तीय कमिटी के प्रधान या सभापति नहीं तो प्रधान काम करनेवालों में जरूर थे । इसलिए कुछ लोगों ने यह प्रश्न उठाया कि वह सभापति हो सकते हैं या नहीं । पर गांधीजी ने राय दी कि ऐसी कोई बात विधान में नहीं है और इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं है । इसलिए पंडितजी के सभापति चुने जाने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए ।

: ११६ :

लखनऊ-कांग्रेस

लखनऊ के अधिवेशन के पहले वर्किंग कमिटी की एक बैठक दिल्ली में हुई, जिसमें महात्माजी भी आये। जवाहरलालजी बहुत दिनों के बाद लौटे थे और विलायत जाने के पहले भी बहुत दिनों से जेल में थे। इसलिए उनकी इच्छा थी और यह मुनासिब भी था कि भावी सभापति वर्किंग कमिटी से, कांग्रेस के अधिवेशन के कुछ पहले ही, मिल लें और अधिवेशन के विचारार्थ विषयों पर भी विचार-विनिमय कर लें। जवाहरलालजी के विचार पहले से ही साम्यवाद के पक्ष में हैं और यूरोप की यात्रा के बाद उनके विचार अधिक पुष्ट हो गये थे। हम सब उस विषय को न तो बहुत समझते थे और न मानते थे। देश में कांग्रेस के अन्दर सोशलिस्ट-पार्टी का जन्म हो ही गया था। पंडितजी यद्यपि उस पार्टी में शरीक नहीं हुए तथापि बहुत-से विषयों में एक विचार होने के कारण उनकी राय उस पार्टी के साथ मिल जाती थी। दिल्ली के बैठक में हमने देखा कि कई विषयों पर उनका और मेरा मतभेद है। यह मतभेद कार्यक्रम के सम्बन्ध में उतना नहीं होता जितना दृष्टिकोण के संबंध में। हम दोनों यदि किसी कार्यक्रम के संबंध में एक राय भी रखते तो उस नतीजे पर हम दो रास्ते से पहुंचे होते। यदि एक ही बात को कहना भी चाहते तो दो प्रकार की भाषा में कहते। यदि एक ही रास्ते पर चलना भी चाहते तो दो प्रकार की सवारियों पर चलना चाहते। यदि एक ही प्रस्ताव करना चाहते तो उसकी अलग-अलग भूमिका बनाते। इतनी भूमिका यहां दे देना आवश्यक है; क्योंकि पीछे चलकर वह मतभेद प्रकट हो गया और लखनऊ-कांग्रेस में तो सर्वथा स्पष्ट हो गया।

लखनऊ-अधिवेशन के कई दिन पहले प्रयाग में वर्किंग कमिटी की बैठक हुई। अनुभव से देखा गया है कि वर्किंग कमिटी में कांग्रेस के लिए प्रस्तावों के तैयार करने में काफी समय लगता है। शुरू में तो हम सुस्ती से काम करते हैं, अर्थात् छोटी-मोटी बातों में भी अधिक समय लगाते हैं; पर जब विषय-निर्वाचिनी की बैठक का समय पहुंच जाता है तो जल्दी-जल्दी उसके लिए प्रस्ताव तैयार करने पड़ते हैं। इसका नतीजा होता है कि सब प्रस्ताव ठीक समय कांग्रेस पर तैयार नहीं हो पाते या ठीक

समय से छपकर सदस्यों में बांटे नहीं जा सकते और इस बात की उनकी शिकायत रह जाती है। इसीलिए लखनऊ के कुछ पहले सोचा गया कि वर्किंग कमिटी की बैठक कुछ पहले ही हो और प्रस्ताव तैयार करके प्रकाशित कर दे अथवा छपवा ले, ताकि विषय-निर्वाचिनी के समय जल्दी न करनी पड़े। हां, अगर कोई नई बात पैदा हो जाय अथवा कोई ऐसा विषय उपस्थित हो जाय, जिसपर विचार करना आवश्यक है तो उसपर उस समय भी विचार किया जा सकता है। इसलिए, यद्यपि नियमावली में कोई ऐसी बात नहीं थी तथापि यह बैठक कई दिन पूर्व ही की गई। वहीं कुछ प्रस्ताव तैयार किये गये और कुछ लखनऊ के लिए छोड़ रखे गये।

लखनऊ-अधिवेशन में, जैसा ऊपर कहा गया है, मतभेद रहा। यदि कोई यह कहे कि किस विषय में मतभेद रहा, तो शायद इसे उस रीति से बता देना कठिन है; पर जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि बम्बई-कांग्रेस के समय सुधार-सम्बन्धी ब्रिटिश सरकार के प्रस्ताव मालूम हो चुके थे, यद्यपि अभी पूरा कानून नहीं बना था। बम्बई-कांग्रेस ने उसे नामंजूर कर दिया था। मेरे दक्षिण भारत के दौरे में मुझसे इस सम्बन्ध के प्रश्न किये जाते--विशेषकर यह कि कांग्रेस नये विधान के अनुसार मंत्रिपद ग्रहण करेगी या नहीं। कांग्रेस के अन्दर एक दल पैदा हो गया था, जो यह कह रहा था कि कांग्रेस को मंत्रिपद ग्रहण करना चाहिए, दूसरा दल इसके विरूद्ध था। विरोधियों में सबसे अधिक बोलनेवाले सोशलिस्ट लोग ही थे। कांग्रेस ने यद्यपि विधान को नामंजूर कर दिया था तथापि उसने इस बात का निश्चय नहीं किया था कि वह अपनी नामंजूरी को किस तरह व्यक्त करेगी। कांग्रेस के नामंजूर कर देने से वह कानून रद नहीं हो जाता था। इसलिए, उसके अनुसार जो चुनाव होंगे, उनमें कांग्रेस भाग लेगी या नहीं; चुनाव का बहिष्कार उस तरह करेगी या नहीं जिस तरह उसने १९२० के चुनाव का किया था ? यदि चुनाव में भाग लेगी तो उसके बाद वह क्या करेगी ? यदि कांग्रेस को बहुमत मिल जाय तो उस हालत में क्या वह स्वयं मंत्रिमंडल न बनाकर दूसरों को भी न बनाने देगी अथवा वह किसी दूसरे प्रकार से अड़ंगानीति द्वारा उस विधान को बेकार बनावेगी ? उसकी नीति का सफल होना या न होना बहुत करके उसके सदस्यों के बहुमत से चुने जाने पर ही निर्भर था; इसलिए चुनाव के पहले कुछ भी निश्चित रूप से तय कर देना सम्भव और उचित नहीं था। अतः मुझसे जब कोई प्रश्न करता तो मुझे यही कहना पड़ता कि कांग्रेस ने

विधान को नामंजूर कर दिया है, पर वह नामंजूरी किस तरह कार्यान्वित होगी, इसका निश्चय अभी नहीं हुआ है, समय आने पर ही निश्चय किया जायगा। इस उत्तर के लोग तरह-तरह के अर्थ लगाते। पर बात यह थी कि कांग्रेस ने इससे ज्यादा अभीतक निश्चय किया ही नहीं था। यदि मैं सभापति की हैसियत से कुछ कह देता तो अभी से आपस का मतभेद इस विषय पर केन्द्रित हो जाता--दिन-रात यही बहस चलने लगती।

एक दूसरा प्रश्न था, जिसके सम्बन्ध में यद्यपि मतभेद मौलिक नहीं था तथापि जब-तब सामने आ जाता था। यूरोप में युद्ध का वातावरण पैदा हो गया था। इटली ने अबीसीनिया पर चढ़ाई करके उसे दखल करने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया था। इंगलैंड ऊपर से शायद इटली की उस कार्रवाई को नापसन्द करने योग्य बताता था--अथवा इंगलैंड के कुछ लोग इसकी निन्दा करते थे। पर वह सचमुच इस बात को लेकर इटली से भिड़ना नहीं चाहता था। राष्ट्रसंघ (**League of Nations**) ने अबीसीनिया के साथ सहानुभूति दिखलाई; पर इससे कुछ अधिक नहीं किया। कुछ दिनों तक इंगलैंड ने इटली पर आर्थिक दबाव डालने का भी प्रयत्न किया। पर वह भी कुछ ऐसे ही वैसे। हमारे कांग्रेसी सोशलिस्ट चाहते थे कि हम इस प्रकार का प्रस्ताव पास करें कि भारतवर्ष किसी लड़ाई में अंगरेजों की मदद नहीं करेगा और साथ ही वे अबीसीनिया के साथ हमदर्दी भी दिखलाना चाहते थे। जहांतक सताये हुए मुल्क के साथ हमदर्दी का सवाल था, किसी प्रकार का मतभेद नहीं था; पर और तरह से इस प्रकार के अन्तरराष्ट्रीय विषय पर अपनी राय दे देना मुझे कांग्रेस के लिए समय से पहले जान पड़ता था। पर इसका अर्थ यह नहीं था कि मैं ब्रिटिश सरकार को लड़ाई में मदद करने के पक्ष में था। इसलिए यदि ऐसे विषय पर कोई प्रस्ताव मुझे बनाना पड़ता तो मैं केवल सहानुभूतिसूचक प्रस्ताव बनाता। पर दूसरे पक्ष के लोग सहानुभूति के साथ युद्ध-विरोधी राय भी प्रकट करना चाहते थे।

जो हो, पंडित जवाहरलालजी की राय हमारी राय से नहीं मिलती थी। पर अंतरराष्ट्रीय विषयों में हम मानते थे कि वह हमसे कहीं अधिक जानकारी रखते हैं और उनके विचारों की हम बहुत कद्र करते थे। इसलिए उनकी ही बात मान लेते। मंत्रिमंडल के सम्बन्ध में भी उनकी स्पष्ट राय थी कि वह मंत्रिमंडल में कांग्रेस का शिरकत नहीं चाहते थे। हमने अभी तक अपनी राय पक्की नहीं की थी। हम

सचमुच इस प्रश्न को उस समय तक उठाना नहीं चाहते थे जबतक हमारे सदस्यों की संख्या और शक्ति का ठीक पता न लग जाय। जवाहरलालजी ने अपने विचारों को जाहिर कर दिया--यद्यपि उसके साथ-साथ उन्होंने यह भी कह दिया कि ये उनके निजी विचार हैं, कांग्रेस ने अभीतक कोई निश्चय नहीं किया है।

आज यह कहना मुश्किल है कि लखनऊ में किन बातों पर मतभेद हुआ। पर इतना निश्चय है कि कई विषयों पर हुआ और कमिटी में कई बातों में बहुमत हमारे साथ रहा। पर जैसा ऊपर कह चुका हूं, वे कोई मौलिक बातें नहीं थीं, जिनके कारण हम दोनों का अलग हो जाना अनिवार्य हो जाय-जैसा गया में स्वराज्य-पार्टी और अपरिवर्तनवादियों के लिए हो गया था, विशेषकर कार्यक्रम में कोई मौलिक भेद नहीं था। हम लोग जवाहरलालजी की कार्यदक्षता, त्याग, परिश्रम और विचार-गाम्भीर्य के कायल थे। उनसे अलग होना हम हरगिज किसी तरह पसंद नहीं करते थे। वह भी समझते थे कि सूबों में काम करनेवालों और असर रखनेवालों में शायद हम लोग ज्यादा जबरदस्त थे, इसलिए वह भी हमको अलग करना यह हमसे अलग होना नहीं चाहते थे। बात यह थी कि दोनों पक्ष परस्पर पूरा सम्मान का भाव रखते थे और जानते थे कि देश के लिए आपस की जुदाई हितकर नहीं होगी। शायद हम यह भी समझते थे कि हम एक-दूसरे की कमियों को पूरा करते थे। हम यह भी समझते थे कि चाहे हममें जितना भी मतभेद हो, देश यह नहीं बर्दाश्त करेगा कि हम एक-दूसरे से अलग हो जायं। यहांपर मैंने एक ही जगह कितनी बातें कह दीं। इससे यह न समझना चाहिए कि उसी समय कोई दो दल बन गये थे। दो विचारधाराएं मात्र थीं-किसी ने कोई दलबन्दी नहीं की थी और न नये मतभेद उसी दिन इतने स्पष्ट हो गये थे कि हमारे लिए अलग होने की बात उठ खड़ी हुई हो। एक तरह से यह विचार-भेद की धारा भीतर-भीतर तबसे आजतक चली आ रही है। गांधीजी उस समय लखनऊ-कांग्रेस में आये तो जरूर थे, पर उन्होंने इस बहस में बहुत भाग नहीं लिया और जो कुछ हमने किया, अपनी समझ के अनुसार ही किया। पीछे जब यह बहुत बड़ा लोकव्यापी युद्ध खड़ा हुआ तो कुछ बातों में गांधीजी के साथ भी मतभेद मालूम हो गया।

कांग्रेस के बाद जब वर्किंग कमिटी के संगठन का समय आया तो जवाहरलालजी को कुछ कठिनाई अवश्य हुई। वह नये विचारवाले लोगों को उसमें लेना चाहते

थे । हम भी इसके विरोधी नहीं थे; पर हम यह अवश्य चाहते थे कि यदि हम वर्किंग कमिटी में रहें तो उसका संगठन ऐसा हो कि हमारी बातें भी सुनी जायं । महात्माजी ने इस विषय में जवाहरलालजी को राय दी की वह जिनको उचित समझें, समाजवादियों में से वर्किंग कमिटी में ले लें और शायद उन्होंने उनके नाम भी बताये । हमने भी इसे मान लिया । वर्किंग कमिटी बनी, जिसमें दो प्रकार की विचार-धाराएं चलतीं, यद्यपि अभी कार्यक्रम में कोई अन्तर नहीं था । समाजवादियों से जो भी मतभेद हो, उसके कारण काम में बाधा नहीं आती थी, पर उनके प्रचार की रीति कुछ ऐसी थी कि हमें वह अच्छी नहीं लगती थी । बहुत बातों में जो नीति गांधीजी ने कांग्रेस में १६२० से ही चला रखी थी, उसका वह प्रत्यक्ष और परोक्ष रीति से विरोध करते और हमपर यह असर होता कि वह उस सारे कार्यक्रम और नीति को तहस-नहस करना चाहते हैं, जिसको गांधीजी ने चलाया था--जिसपर कांग्रेस काम करती आ रही थी और जिसपर चलकर वह देश को इतना आगे ले जा चुकी थी । इस विषय में, जहांतक मैं समझता हूं, जवाहरलालजी भी उन लोगों के साथ सहमत नहीं थे; क्योंकि बहुत-सी बातों में गांधीजी से मतभेद होने पर भी वह उनके नेतृत्व के महत्त्व को जानते और मानते थे--उसे किसी तरह कमजोर करना नहीं चाहते थे । यह बात दूसरों में नहीं थी । यही कारण था कि मतभेद होते हुए भी हम जवाहरलालजी के साथ काम कर सकते थे और दूसरों के साथ चलना कठिन हो जाता था । जो हो, कांग्रेस का अधिवेशन समाप्त हुआ । सब लोग अपने-अपने स्थान के लिए रवाना हुए ।

: ११७ :

राष्ट्र-भाषा का प्रश्न

मुझे लखनऊ से ही नागपुर जाना था। वहां अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन होनेवाला था, जिसका मैं सभापति निर्वाचित हुआ था और वह ठीक कांग्रेस के बाद तीन-चार दिनों के अन्दर ही होनेवाला था। इसलिए मैं उसी गाड़ी से गया, जिससे महात्माजी गये। उनके साथ ही वर्धा गया और वहां से सम्मेलन के दिन नागपुर आया।

वर्धा में बैठकर मैंने भाषण लिखा। कुछ दिनों से इस बात पर बहस चल रही थी कि हिन्दी की शब्दावली में विदेशी भाषाओं के शब्दों को लेना चाहिए या नहीं। सच पूछिये तो प्रश्न को यह रूप देना भी उचित नहीं है; क्योंकि कोई भी हिन्दी का लेखक--चाहे वह कितना भी विदेशी शब्दों का विरोधी क्यों न हो--सभी विदेशी शब्दों का बहिष्कार नहीं करना चाहता, और न अपने लेखों अथवा भाषणों में उनका बहिष्कार करता है। यह झगड़ा हिन्दी और उर्दू का है। हिन्दी में, जैसा उसका रूप आज हो गया है और होता जा रहा है, संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य होता है। उर्दू में, जिस तरह वह आज बढ़ और फूल-फल रही है, अरबी और फारसी शब्दों की बहुतायत हुआ करती है। दोनों में कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो संस्कृत, फारसी या अरबी शब्दों को देख करके घबड़ाते और डरते हैं कि इनसे हिन्दी का रूप विकृत हो जायगा और वह उर्दू बन जायगी तथा उर्दू बिगड़कर हिन्दी बन जायगी। कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो हिन्दी को हिन्दुओं की और उर्दू को मुसलमानों की भाषा मानते हैं। इस तरह इस झगड़े में कुछ साम्प्रदायिकता भी आ गई है--यद्यपि बहुतेरे मुसलमान कवि और लेखक हुए, जिन्होंने हिन्दी की सेवा की है तथा उसी तरह बहुतेरे हिन्दुओं ने उर्दू की सेवा की है।

कांग्रेस के विधान में जहां भाषा का जिक्र है, वहां न 'हिन्दी' शब्द का व्यवहार किया गया है न 'उर्दू' शब्द का, बल्कि वहां 'हिन्दुस्तानी' शब्द का ही इस्तेमाल हुआ है। जब गांधीजी ने दक्षिण भारत में राष्ट्र-भाषा का प्रचार १९१० में आरम्भ किया था तब हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के तत्त्वावधान में ही आरम्भ कराया था। उसी समय

वह इन्दौर में साहित्य-सम्मेलन के सभापति हुए थे। कांग्रेस के विधान में 'हिन्दुस्तानी' शब्द का व्यवहार महात्माजी और श्री पुरूषोत्तमदास टंडन ने ही किया था। उनके ही शब्द को कांग्रेस ने मान लिया था। दक्षिण भारत में जिस सभा के द्वारा राष्ट्रभाषा-प्रचार का काम आज भी लिया जा रहा है, उसका नाम दक्षिण-भारत-भाषा-प्रचार-सभा है। इससे स्पष्ट है कि गांधीजी ने जबसे इस काम को हाथ में लिया है, उन्होंने हिन्दी और उर्दू को दो भिन्न-भिन्न भाषाएं नहीं माना है। यद्यपि दोनों की शब्दावली में अन्तर है और वह अन्तर दिन-दिन बढ़ता जा रहा है, तथापि दोनों का व्याकरण प्रायः एक ही है और वह व्याकरण दूसरी किसी भाषा के व्याकारण से पूरा-पूरा नहीं मिलता। भाषातत्त्वविदों का कहना है कि भाषा की विभिन्नता शब्दावली से उतनी नहीं होती जितनी उसके वाक्यों की गढ़न और व्याकरण के नियमों के कारण होती है। इसलिए यह मानना अनुचित और भाषा-विज्ञान के नियमों के प्रतिकूल नहीं है कि हिन्दी और उर्दू एक ही भाषा का नाम है अथवा एक ही भाषा की दो शैलियां हैं--दो विभिन्न भाषाएं नहीं। 'हिन्दुस्तानी' हिन्दी भी है और उर्दू भी; क्योंकि वह प्रायः क्लिष्ट शब्दों को काम में नहीं लाती। वह अपना रूप ऐसा रखती है, जिसको हिन्दीवाले और उर्दूवाले दोनों ही अपना समझ सकें।

मैं इस बात की हिमायती हूं कि जिस भाषा का शब्द-भण्डार जितना भरा-पूरा होगा वह भाषा उतनी ही अधिक उन्नत होगी। यदि एक ही अर्थ में कई शब्द होंगे तो समय पाकर उनके अर्थ में थोड़ा बहुत भेद होता जायगा और उसमें बारीकियां आती जायंगी। विचार की सूक्ष्मता को व्यक्त करने की शक्ति ऐसी भाषा में अधिक होती जायगी। जीती-जागती भाषा दूसरी भाषाओं के सम्पर्क से, यदि उसमें ग्रहण और संग्रह करने की शक्ति है तो, लाभ उठाती जायगी और उसका शब्द-भण्डार बढ़ता जायगा। वह इस बात से डरकर घोंघे की तरह अपनी खपड़िया के अन्दर घुसकर अपने को बन्द नहीं कर लेती कि बाहर की हवा से, बाहर के शब्दों से, वह पिस जायगी और अपना अस्तित्व ही खो देगी। वह हिम्मत के साथ खुलेआम संघर्ष में आवेगी और दूसरी भाषाओं के अच्छे भावग्राही शब्दों को अपने में मिला लेगी। हां, ऐसा करने में वह अपने नियमों को, अपने रूप को, नहीं बदलेगी--अपनी पोशाक और अपनी सजावट को भले ही बदल ले और उसमें भले ही विचित्रता लावे।

मैंने अपने भाषण का यही विषय रखा और हिन्दी-साहित्य-सेवियों के विचारार्थ

यह प्रश्न उपस्थित किया। मेरा कहना था कि हिन्दी को विदेशी शब्दों के ग्रहण करने में हिचकना नहीं चाहिए--चाहे वे फारसी और अरबी के हों या अंगरेजी के, पर जो शब्द हिन्दी में आवें, उन्हें हिन्दी बन जाना चाहिए--अर्थात् हिन्दी में आकर वे अपने साथ अरबी-फारसी या अंगरेजी का व्याकरण हिन्दी में दाखिल न करें, बल्कि वे हिन्दी-व्याकरण के अनुशासन के अधीन होकर रह जायं। मेरा यही विचार आज भी है। उस समय से आजतक इस बात पर बहुत बहस छिड़ी रही है; पर मैं अपने विचार में अधिक दृढ़ होता गया हूं। और, केवल इन तीन भाषाओं के ही शब्द नहीं लेने पड़ेंगे, हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनते-बनते बहुतेरे ग्रामीण शब्दों को भी अपने में ले लेना पड़ेगा--जो प्रान्तीय भाषाएं हैं, उनकी शब्दावली के भी बहुतेरे शब्द ले लेने पड़ेंगे।

इस सम्बन्ध का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी है, जिसपर विचार कर लेना आवश्यक है। क्या आज की आधुनिक हिन्दी और उर्दू एक हैं या हो सकती हैं? व्याकरण प्रायः एक होते हुए भी शब्दावली का अन्तर बहुत बढ़ता जा रहा है। आज केवल हिन्दी अथवा उर्दू जाननेवालों की सभा में ऐसी भाषा बोली जा सकती है, जिसे वहां के श्रोता न समझ सकें--ऐसी संस्कृत-मिश्रित हिन्दी, जिसको उर्दू जाननेवाले न समझ सकें और ऐसी फारसी-अरबी-मिश्रित उर्दू जो हिन्दी-दां के लिए आम-फहम न हो। यह भी संभव है--बहुत कठिन नहीं है--कि ऐसी भाषा बोली जाय जिसको केवल हिन्दी जाननेवाले और सिर्फ उर्दू जाननेवाले अच्छी तरह समझ जायं। मैं इसीको 'हिन्दुस्तानी' अथवा 'हिन्दुस्थानी' नाम देता हूं। बड़ी-बड़ी सभाओं के लिए, साधारण समाचारपत्रों के लिए, किस्से-कहानियों के लिए और दिल पर असर करनेवाली कविता के लिए भी इस तरह की सुगम भाषा हो सकती है, इसमें सन्देह नहीं है। हां, जब उच्च कोटि की वैज्ञानिक पुस्तक लिखनी हो तो उसके लिए बहुतेरे वैज्ञानिक और पारिभाषिक शब्दों की जरूरत पड़ सकती है। ऐसे शब्द हमेशा सहज और सुबोध नहीं हो सकते। यह किसी भी भाषा में नहीं हैं। अंगरेजी एक उन्नत भाषा समझी जाती है। यदि अंगरेजी में लिखी विज्ञान की कोई पुस्तक अंगरेजी के अच्छे ज्ञाता को भी दी जाय, तो वह उसे ठीक समझ न सकेगा; क्योंकि उसमें--पंक्ति-पंक्ति में इस तरह के पारिभाषिक शब्द मिलेंगे, जिनको केवल अंगरेजी साहित्य का जाननेवाला साधारणतः नहीं जानता--जानता केवल वही है, जो उस विज्ञान-विद्या से परिचित

है । यों तो अब इस प्रकार की कहानियां और ऐसे उपन्यास भी लिखे जाते हैं, जिनमें बहुत-सी वैज्ञानिक बातें रहती हैं--वैज्ञानिक शब्द आ जाते हैं । पर मैं इस समय इस प्रकार की विशेष पुस्तकों पर विचार नहीं कर रहा हूं । साधारणतया किसी भी मामूली अंगरेजी जाननेवाले के सामने भौतिक विज्ञान की अथवा चिकित्सा-विषय की कोई अंगरेजी पुस्तक रख दी जाय, तो वह उसे प्रायः ठीक-ठीक नहीं समझेगा, यद्यपि उसका व्याकरण उसके लिए सरल होगा । पर उसके बहुतेरे शब्द ऐसे होंगे, जो उसके लिए अपरिचित-से होंगे ।

इसी तरह, यदि हिन्दी और उर्दू में इस प्रकार के वैज्ञानिक और दार्शनिक ग्रंथ लिखे जायं तो उनकी भाषा एक भिन्न प्रकार की होगी । पारिभाषिक शब्द किसी संस्कृत (अथवा संस्कारयुक्त) भाषा से ही लिये जा सकते हैं, अथवा किसी संस्कृत या संस्कारयुक्त भाषा की मदद से बनाये जा सकते हैं--वह भाषा चाहे संस्कृत हो या अरबी । अंगरेजी में भी इस प्रकार के शब्द बहुतायत करके लैटिन से ही बने होते हैं । यहांपर मैं मानता हूं कि इन वैज्ञानिक और पारिभाषिक शब्दों के लिए हमको संस्कृत अथवा अरबी की ओर जाना होगा--हो सकता है कि यूरोपीय भाषा के बहुतेरे शब्दों को ज्यों-का-त्यों ले लेना पड़े । किन्तु भारतवर्ष में तो इस प्रकार के शब्द यदि अधिकतर संस्कृत के ही होंगे तो उनका ज्यादा प्रचार होगा; क्योंकि यहां की जितनी प्रान्तीय भाषाएं हैं, सभी संस्कृत के साथ गहरा सम्बन्ध रखती हैं । यहांतक कि दक्षिण भारत की भाषाएं भी संस्कृत से बहुत ज्यादा प्रभावित हुई हैं । यदि उनको भी नये शब्द लेने पड़ें, जिन्हें वे स्वयं नहीं बना सकतीं, तो वे संस्कृत से ही लेना पसन्द करेंगी । उदाहरणार्थ, यदि हमको 'ज्योतिष' शब्द लेना पड़े तो वह 'इल्मनजूम' की अपेक्षा अधिक सुगमता से हिन्दी-भाषी प्रान्तों में समझा जायगा--बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र, तमिल, तेलुगू, केरल, पंजाब इत्यादि में भी लोगों की समझ में आवेगा । उसी विज्ञान के शब्द 'नक्षत्र' और 'ग्रह' को भी लोग सारे भारतवर्ष में अधिक सुगमता से समझ लेंगे । इसलिए मैं समझता हूं कि इन पारिभाषिक शब्दों के लिए राष्ट्रभाषा को, चाहे हम उसे जिस नाम से पुकारें, हमको संस्कृत पर ही निर्भर करना होगा । हो सकता है कि विदेश से कुछ शब्द ऐसे आ गये हों, जो प्रचलित हो गये हैं । उनको वैसे ही रहने देना उचित और अनिवार्य है । पर जहां नये शब्द गढ़ने हों वहां संस्कृत की सहायता लेना ही उचित और सुकर है । इसमें उर्दूवालों का यदि आग्रह हो तो वे जैसे चाहें अपने शब्द बना लें । पर वे ध्यान रखें कि उनके शब्द सार्वदेशिक न

हो सकेंगे--सिर्फ उर्दू के ही रह जायंगे । इसलिए, जहांतक मामूली बोलचाल और समाचार-पत्रों की भाषा का सम्बन्ध है, हम ऐसी ही भाषा व्यवहार में ला सकते हैं जो हिन्दी और उर्दू दोनों के लिए ग्राह्य हो । पर जहां पारिभाषिक शब्दों का काम पड़ेगा वहां दोनों विलग हो सकती हैं--यद्यपि यह भी आवश्यक या अनिवार्य नहीं है । और, जैसा ऊपर कहा गया है, वह (पारिभाषिक) तभी सर्वमान्य और सार्वदेशिक शब्द हो सकता है जब वह संस्कृत की सहायता से बना हो ।

राष्ट्रभाषा का सम्बन्ध विशेषकर प्रतिदिन के कारबार से ही रहता है । इसीलिए, जहांतक मैं समझ सकता हूं, वह ऐसी होनी चाहिए जिसे हिन्दी और उर्दू दोनों ही अपनी समझ सकें । वैज्ञानिक और दार्शनिक ग्रंथों की, शायद उच्च्य कोटि के साहित्य की भी, भाषा हिन्दी और उर्दू में अलग-अलग होगी । यदि हम इस विभेद को मान लें तो हिन्दी-उर्दू का झगड़ा बहुलांश में मिट सकता है । हम तो सारे भारत के आपस के व्यवहार के लिए एक राष्ट्रभाषा चाहते हैं--वह अंगरेजी नहीं हो सकती, वह हिन्दी ही हो सकती है, चाहे उसे हम हिन्दुस्तानी कहें या हिन्दी कहें अथवा उर्दू कहें । आज की प्रचलित प्रान्तीय भाषाओं के स्थान को उसे नहीं लेना है; वे अपने-अपने स्थान पर ज्यों-की-त्यों कायम रहकर प्रान्तीय काम में और प्रान्तीय साहित्य में व्यवहृत होती रहेंगी । सार्वदेशिक व्यवहार के लिए ही हमको राष्ट्रभाषा चाहिए । यदि उसको हम फारसी-अरबी के बहुत-से प्रचलित शब्दों से भरकर कठिन बना देंगे तो वह बंगाल, आसाम, उत्कल, आन्ध्र, तमिल, केरल, कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात इत्यादि में मुश्किल से प्रवेश पा सकेगी । अतएव उसको वहां के लिए सुगम बनाने में जहांतक हो सके इन प्रान्तीय भाषाओं के प्रचलित शब्दों को लेना हितकर और सहायक होगा । साथ ही, हम यह भी नहीं भूल सकते कि पंजाब, सीमा-प्रान्त और कुछ पश्चिमी युक्तप्रदेश की भाषा में भी उर्दू का पुट अधिक है--विशेषकर शिक्षित मुसलमानों में वहां फारसी-अरबी के शब्द अधिक आसानी से बोले और समझे जाते हैं । राष्ट्रभाषा ऐसे लोगों को भी अपने दायरे के बाहर नहीं कर सकती । इसलिए राष्ट्रभाषा को उदार नीति ग्रहण करनी पड़ेगी और बहिष्कार-नीति छोड़नी पड़ेगी ।

मैंने स्वयं अपने देशव्यापी दौरे में देखा है कि मुझे दो प्रकार की हिन्दी बोलनी पड़ती है । जब मैं सीमाप्रान्त और पंजाब में गया--विशेषकर ऐसी सभाओं में जहां मुसलमानों की संख्या अधिक थी--तो मैं फारसी-मिश्रित हिन्दी बोलकर अपने विचारों को व्यक्त कर सका । बंगाल, महाराष्ट्र इत्यादि और दक्षिण भारत में भी, जहां कुछ

हिन्दी समझी जाती थी, मैं संस्कृत-बहुल हिन्दी ही बोलकर अपना काम कर सका। मैं न तो अरबी-फारसी का आलिम हूं और न संस्कृत का पण्डित। अरबी का ज्ञान तो बिलकुल नहीं है। फारसी का थोड़ा ज्ञान है। संस्कृत का भी वैसा ही अन्दाज का परिचय है। पर मैं दोनों प्रकार ही भाषाएं कुछ-कुछ बोल सकता हूं। दोनों प्रकार के श्रोताओं में मेरे भाषण आसानी से समझ लिये जाते हैं। इसका एक विशेष कारण इन भाषाओं का अपना अज्ञान ही मैं समझता हूं। इसलिए, मैं मानता हूं कि मेरे-जैसे लोगों के लिए--और ऐसे लोगों की संख्या अधिक है और रहेगी--ऐसी राष्ट्रभाषा का प्रयोग सहज है। आलिमों और पण्डितों के लिए उसमें अधिक कठिनाई है और रहेगी; क्योंकि जहां कहीं शब्द की कमी मालूम हुई, वे झट संस्कृत या अरबी का शरण में दौड़ जाते हैं और मेरे-जैसे लोगों की वहांतक पहुंच नहीं होती; इसलिए हम अपनी छोटी निधि में से ही काम की चीज खोज निकालने को बाध्य होते हैं, जो अधिकतर मेरे-जैसे लोगों के लिए विशेष परिचित ही होगी।

मैंने यहांपर राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी अपने विचारों को विस्तारपूर्वक कह दिया; क्योंकि सम्मेलन से इनका सम्बन्ध है। मैंने इसी प्रकार के विचारों को अपने भाषण में रखा। सम्मेलन राष्ट्रभाषा-प्रचार का काम भी करता आया है। इसलिए उसे दो बातों पर ध्यान रखना पड़ता है। एक ओर उसे हिन्दी साहित्य में उच्च कोटि के ग्रंथों के निर्माण पर और दूसरी ओर भाषा के प्रचार पर भी दृष्टि रखनी पड़ती है। इन दोनों उद्देश्यों में प्रायः पार्थक्य अथवा विरोध न होना चाहिए, पर कहीं-कहीं होना असम्भव भी नहीं है। आगे चलकर सम्मेलन ने राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति भी नियमानुसार हुआ करती है। नागपुर-सम्मेलन के अन्दर कुछ इस विषय पर मतभेद हुआ भी। नागपुर में ही वह मतभेद दीखने लगा पर वहाँ के कार्यक्रम मे कोई अन्तर नहीं आया सम्मेलन ने महसूस किया कि प्रचार-समिति बना दी जिसका सभापति मैं बनाया गया। सम्मेलन में एक प्रचार-समिति हिन्दी-भाषी प्रान्तों में साहित्य-प्रचार का काम किया करे और राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति उन प्रान्तों में राष्ट्रभाषा का प्रचार करे, जहां की भाषा हिन्दी नहीं है। दक्षिण भारत में--आन्ध्र, तमिल, केरल और कर्नाटक में--दक्षिण भारत-हिन्दी-प्रचार-सभा बहुत अच्छा काम करती आ रही है और उसके द्वारा प्रचार का काम खूब जोरों से चलाया गया है। पर दूसरे अ-हिन्दी प्रान्तों में यह प्रचार-व्यवस्था नहीं हुई थी। इसलिए गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल, आसाम, उत्कल इत्यादि प्रान्तों में प्रचार-कार्य करने का भार इस राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति को सौंपा

गया। मैं इसका सभापति तो बना; पर इसके नीति-निर्देश का काम गांधीजी ने लिया और अर्थ-संग्रह का सेठ जमनालाल बजाज ने। इसमें सम्मेलन के कई प्रमुख व्यक्ति--श्री पुरूषोत्तमदास टण्डन, पंडित दयाशंकर दुबे, डाक्टर बाबूराम सक्सेना प्रभृति--सदस्य बनाये गये। कुछ अ-हिन्दी प्रान्तों के प्रतिनिधि-स्वरूप वहीं के हिन्दी प्रेमी सम्मिलित किये गये। यह समिति तीन बरसों के लिए ही बनाई गई थी। पर वह तीन बरस बीतने पर फिर मनोनीत कर दी गई। १६३६ से १६४२ तक, छः बरसों में, इस समिति ने अ-हिन्दी प्रान्तों में--विशेषकर गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश के महाराष्ट्री जिलों, उत्कल और आसाम में--बहुत काम किया। विद्यार्थियों के लिए पुस्तकें बनवाईं, परीक्षाएं लीं। हजारों की संख्या में विद्यार्थियों ने परिक्षाए दीं, और उत्तीर्ण भी हुए। सेठ पनपत सिंघानियां ने पांच बरसों तक पन्द्रह हजार रूपये वार्षिक--कुल पचहत्तर हजार रूपये--का दान देकर इसके अर्थाभाव को बहुत कुछ दूर कर दिया। श्री काका कालेलकर, श्री सत्यनारायण, श्री श्रीमन्नारायण और दादा ध र्माधिकारी के परिश्रम तथा उत्साह ने, गांधीजी के वरद हस्तों के नीचे, इसे एक व्यापक प्रभाववाली, उच्चाकांक्षावाली, सफल संस्था बना दिया।

नागपुर में एक और सम्मेलन हुआ। गांधीजी ने देखा था कि हिन्दी-उर्दू का पारस्परिक वैमनस्य बढ़ता जाता है। वह चाहते थे कि इन दोनों का समन्वय का प्रयत्न किया जाय। इसके लिए एक ऐसी संस्था की जरूरत थी, जिसमें दोनों भाषाओं के विद्वान् शरीक हों और जो बिना किसी खींचतान के केवल भाषा की अभिवृद्धि की दृष्टि से काम करें। उन्होंने इसमें श्री कन्हैयालाल मुन्शी को, जो गुजराती साहित्यकारों में बहुत ऊंचा स्थान रखते हैं, लगाना चाहा। मुन्शी प्रेमचन्द और मौलवी अब्दुल हकसाहब की सहायता भी लेनी चाही। संस्था (राष्ट्रभाषा-परिषद्) का अधिवेशन नागपुर में ही किया गया। उपर्युक्त सज्जन तथा दूसरे लोग निमन्त्रित किये गये। उसी सभा में मौलवी अब्दुल हकसाहब से मतभेद हो गया। उन्होंने सम्मेलन के बाद कुछ ऐसे लेख लिखे, जिनमें गांधीजी पर भद्दा आक्रमण किया गया। इसलिए यह परिषद् मुसलमानों की सहायता न कर सकी। पर मुन्शी प्रेमचन्द और श्री कन्हैयालाल मुन्शी ने, काशी के हिन्दी-मासिक-पत्र 'हंस' को परिषद् की ओर से कुछ दिनों तक चलाया। दुःख की बात है कि मुन्शी प्रेमचन्द थोड़े ही दिनों के बाद स्वर्गवासी हो गये। परिषद् बहुत दिनों तक जीवित न रह सकी।

: ११८ :

प्रान्तीय धारा-सभाओं का चुनाव

१९३६ का साल १९३७ में होनेवाले प्रान्तीय धारा-सभाओं के नये विधान के अनुसार चुनाव की तैयारी में बीता। लखनऊ में निश्चय हो चुका था कि कांग्रेस अपनी ओर से उम्मीदवार खड़ा करे और चुनाव लड़े। यह पहला अवसर था जब इस नये विधान के अनुसार करोड़ों स्त्री-पुरूषों को चुनाव में भाग लेने का अवसर मिला था। उन करोड़ों मतदाताओं का इस प्रकार संगठन करना कि वे कांग्रेस के सभी उम्मीदवारों को वोट दें, कोई आसान काम नहीं था। कांग्रेस १९३५-३६ में पुनः संगठित हो गई थी। १९३४ में वह केन्द्रीय असेम्बली के लिए चुनाव लड़ चुकी थी। उसमें वह बहुत बड़े अंश में विजय भी प्राप्त कर चुकी थी। पर उस चुनाव के मुकाबले में यह चुनाव कहीं अधिक विस्तृत था। उसमें करीब सौ सदस्यों के चुनाव की बात थी। इसमें प्रायः दो हजार जगहों के लिए आदमी चुनवाने थे। इसमें खर्च भी बहुत पड़नेवाला था। उम्मीदवारों को नामजद करना भी कोई आसान काम न था।

सबसे पहला काम था एक ऐसा घोषणा-पत्र तैयार करना, जो कांग्रेस की ओर से मतदाताओं के सामने रखा जाय अबैर जिसको पूरा करने के लिए उनसे वोट मांगा जाय। कांग्रेस के प्रस्तावों और इस प्रकार की घोषणाओं का मसविदा पहले महात्माजी तैयार किया करते थे। इधर जबसे पं० जवाहरलालजी सभापति हुए, यह काम उनको ही अधिक करना पड़ता था। उन्होंने दिल फड़कानेवाली भाषा में एक बहुत सुन्दर घोषणा तैयार की। अखिल भारतीय कमिटी ने उसे मंजूर कर लिया।

हमारे सामने एक दिक्कत थी। कांग्रेस ने अभीतक यह निश्चय नहीं किया था कि वह अपने सदस्यों को मन्त्रिमण्डल में शरीक होने देगी या नहीं। कुछ लोग चाहते थे कि प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनें और जो-कुछ भी अधिकार विधान द्वारा मिले हैं, उनका वे इस्तेमाल करें। दूसरे लोग ऐसे थे, जो चाहते थे, कि कांग्रेसी केवल अड़ंगा-नीति से ही काम लें--न मन्त्रिमण्डल बनावें और न बनाने दें, यदि वे बन भी जायं तो उनके कामों में अड़ंगा लगाते रहें। कांग्रेस ने विधान को नामंजूर कर दिया था, पर साथ ही चुनाव में भाग लेने की इजाजत दी थी। हां, यह नहीं बतलाया था

कि चुने जाने के बाद सदस्य क्या करेंगे। इसलिए इस घोषणा-पत्र में यह साफ कहा नहीं जा सकता था कि हम मन्त्रिमण्डल बनावेंगे और वहां रहकर अमुक-अमुक काम करेंगे। उसमें यह भी कहना मुश्किल था कि हम वहां कुछ नहीं करेंगे और न किसी को कुछ करने देंगे। उसमें बड़ी होशियारी से ऐसी बातें कहीं गईं, जो कराची-कांग्रेस में अपने मौलिक और आर्थिक अधिकारोंवाले प्रस्ताव में मंजूर की गई थीं। ऐसा करने से बिना इस बात का वादा किये कि हम मन्त्रिपद ग्रहण करेंगे या नहीं करेंगे, कौंसिल के लिए कार्यक्रम बतला दिया गया। यह घोषणा सारे देश के लिए थी। इसके अनुसार सभी कांग्रेसी सदस्य, चाहे वे जिस सूबे में हों, काम करेंगे। इसके अलावा, प्रान्तीय कमिटियों को अधिकार दिया गया कि वे अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार यदि वहां के लिए कोई घोषणा निकालना चाहें तो निकाल सकती हैं।

इस घोषणा-पत्र में अधिकतर किसानों की दशा सुधारने की बात कही गई थी। उसके लिए लगान कानून में तरमीम करके उनको अपनी जमीन पर, जिसे वे जोतते-बोते हैं, स्थायी स्वत्व देने की बात थी। लगान कम करने पर भी जोर था। मजदूरों की भी दशा सुधारने का वादा था--उनकी नौकरी को स्थायी बनाकर उनकी रहन-सहन की सुव्यवस्था कराकर और उनकी मजदूरी में वृद्धि कराकर। साथ ही, मजदूर-संघों के स्थापित और संगठित करने के अधिकार दिलवाने तथा दूसरे प्रकार से अनकी अवस्था सुधारने की बात भी कही गई थी। देश में मद्यनिषेध कराने का वादा था; अर्थात इसमें वे सब बातें थीं जो कोई भी लोकप्रिय मन्त्रिमण्डल कर सकता है। हम समझते थे कि यदि हमने मन्त्रिपद ग्रहण किया तो ये सब काम करेंगे ही; पर यदि न भी किया तो इस तरह की बातें, जो भी मन्त्रिमण्डल हो, उसके द्वारा करा सकेंगे और करायेंगे।

दूसरा कठिन कार्य था इतने अधिक उम्मीदवारों को चुनना। स्पष्ट है कि यह काम अखिल भारतीय कमिटी की वर्किंग कमिटी सारे देश के लिए नहीं कर सकती थी। एक तो उसके पास इतना मसाला न होगा कि वह यदि स्वयं इस बात पर विचार करने बैठे कि दो उम्मीदवारों में से किसको कांग्रेस-टिकट देनी चाहिए तो इसका निर्णय वह कर सके। उसको ख्वाहमखाह प्रांतीय कमिटियों अथवा उनकी कार्यकारिणी पर ही अधिक भरोसा करना पड़ता। तो भी यह स्पष्ट था कि कहीं-कहीं स्थानीय कमिटियों में दलबन्दियां थीं, और हो सकता है कि इस दलबन्दी के कारण किसी

उम्मीदवार के साथ बेइंसाफी हो जाय, अथवा ऐसे उम्मीदवार चुन लिये जायं जो जनता के समाने जवाबदेह या कामयाब न हो सकें। कहीं-कहीं की प्रान्तीय कमिटियां चाहती भी थीं कि अंतिम निर्णय अखिल भारतीय कमिटी के ही हाथों में रहे तो अच्छा होगा। इसलिए यह निश्चय हुआ कि अन्तिम निर्णय अखिल भारतीय कमिटी ही करेगी। पर वर्किंग कमिटी ने भी इस काम के लिए अपने सभी सदस्यों को एकत्र करना मुश्किल समझा। इसलिए उसने तीन सदस्यों की एक पार्लमेण्टरी कमिटी बना दी जिसके जिम्मे यह सब काम सौंप दिया गया। इस पार्लमेण्टरी कमिटि के प्रमुख बनाये गये सरदार वल्लभभाई पटेल। इसके सदस्य हुए मौलाना अबुलकलाम आजाद और मैं। जब चुनाव का समय नजदीक आया तब अनुभव से पता चला कि इन सदस्यों का भी हमेशा मिलकर किसी बात का फैसला करना, समय का कमी और एक से दूसरे की दूरी के कारण, असम्भव हो जाता था। यदि सारा वर्किंग कमिटि के जिम्मे यह काम रहता तो शायद उसे महीनों एक स्थान पर बैठे रहना पड़ता। शुरू में मुझे बम्बई में कुछ दिनों तक इस कमिटी के काम से रहना पड़ा था। पर वहां के जलवायु की प्रतिकूलता के कारण मैं बरसात में वहां न रह सका। हम तीनों ही अपने-अपने स्थान से काम करने लगे।

सदस्यों की नामजदगी प्रांतीय कमिटियों की कार्यकारिणी कमिटी ही करती। पर वह अपने मन से मंजूर किये गये सभी नामों को पार्लमेण्टरी कमिटी के पास भेज देती। कोई आदमी, जो प्रान्त के फैसले से नाराज हो, पार्लमेण्टरी-कमिटी के पास अपील कर सकता था और उस सम्बन्ध के सभी कागज-पत्र, रिपोर्ट इत्यादि प्रान्त से उसके पास जाते। जिस स्थानों के सम्बन्ध में कोई भी अपील या नाराजगी न होती तो वे बिना संकोच प्रांतीय कमिटी के निश्चयानुसार ही रह जाते। पर जिसके संबंध में अपील होती, पार्लमेण्टरी कमिटी उसकी जांच करती। यदि आवश्यकता पड़ती तो उसके सदस्य उस स्थान पर जाकर, वहां के लोगों से मिलकर और उनसे दरियाफ्त करने के बाद, अंतिम फैसला कर देते। यह काम आसान नहीं था। पर सन्तोष की बात है कि बहुत कम निश्चयों के सम्बन्ध में ही पार्लमेण्टरी कमिटी तक अपील पहुंची। जो अपीलें पहुंचीं भी उनमें से बहुतेरों का निबटारा लिखा-पढ़ी करके सबकी रजामन्दी से हो गया। थोड़े ही ऐसे स्थान थे, जिनके लिए किसी एक आदमी या दल के खिलाफ फैसला देना पड़ा।

चुनाव के मामले में दो बातें मुख्य थीं। एक तो यह थी कि मनोनीत उम्मीदवार,

कांग्रेस के कार्यक्रम के अनुसार, ठीक सचाई और ईमानदारी के साथ, काम करेगा या नहीं। दूसरी बात यह थी कि उसके चुने जाने की पूरी आशा है या नहीं। एक तीसरी बात और थी, जो इन दो बातों के मुकाबले में गौण समझी जा सकती है, पर जो अपना काफी महत्त्व रखती थी। वह यह कि उम्मीदवार चुनाव के लिए जरूरी खर्च खुद कर सकेगा या नहीं, और यदि नहीं तो उसके लिए पार्लमेण्टरी कमिटी को क्या मदद देनी पड़ेगी। पहली बात का निर्णय उम्मीदवार की पूर्वसेवाओं और कांग्रेस के साथ उसके सम्बन्ध तथा उसकी कार्रवाइयों पर विचार करके ही हो सकता था। दूसरी बात का निर्णय जनता में उसकी लोकप्रियता पर निर्भर था। इस लोकप्रियता के बहुतेरे कारण हो सकते थे। कोई आदमी कांग्रेस द्वारा सेवा के कारण बहुत लोकप्रिय है; कोई किसी विशेष क्षेत्र में दूसरे प्रकार की सेवाओं द्वारा लोकप्रिय हो गया है। क्षेत्र ऐसा था जहां किसी खास जाति अथवा समाज के लोगों का बाहुल्य था। वहां सेवा के अलावा उस विशेष जाति अथवा समाज का आदमी होना ही लोकप्रियता का--अर्थात वोट पाने की शक्ति का--कारण हो सकता था। कोई क्षेत्र ऐसा हो सकता था जहां अधिक काम नहीं हुआ है और जहां कांग्रेस का प्रभाव बहुत नहीं है, वहां और कारणों से ही उम्मीदवार के चुने जाने की आशा हो सकती थी। इन सभी बातों का निर्णय अधिकतर प्रांतीय कमिटियां ही कर सकती थीं। इसलिए उनकी ही बातें मान्य होतीं।

सबसे बड़ी कठिनाई वहां पड़ती जहां कांग्रेस के दो सेवक एक ही स्थान के लिए उम्मीदवार हो जाते और उनमें से कोई हटने को तैयार न होता। सेवा की दृष्टि से दोनों से भेद करना असंभव नहीं तो कठिन जरूर होता। जनता में भी दोनों के प्रति प्रेम और श्रद्धा होती। ऐसी अवस्था में किसी एक को नाराज करके ही फैसला देना पड़ता। पैसे का सवाल भी कुछ हल्का न था। दो हजार स्थानों के लिए चुनाव का खर्च बहुत पड़ता है। थोड़ा-थोड़ा भी खर्च पड़े तो बहुत हो जाता है। प्रतिद्वंद्विता के कारण भी कुछ खर्च बढ़ जा सकता है। यदि प्रतिद्वंद्वी धनी हुआ और अधिक खर्च करने पर उतारू हो गया, तो अपनी ओर से भी खर्च की मात्रा बढ़ा देनी पड़ती है; क्योंकि प्रतिद्वंद्वी के प्रचार का प्रतिकार करना आवश्यक है।

इस बात का संतोष है कि इन सब कठिनाइयों का पार्लमेण्टरी कमिटी, सरदार वल्लभभाई के नेतृत्व में, हल कर सकी। मुझे अखिल भारतीय चुनावों के अलावा अपने सूबे का काम भी देखना था। मैं जबसे कांग्रेस का सभापति हुआ था, सूबे में

कांग्रेस का काम कुछ भी नहीं कर सकता था। जैसा पहले कहा है, बराबर सारे देश में दौड़-धूप करता रह गया। अपने सूबे में तो उस दौरे में भी नहीं आ सका था। १६३० से ही सत्याग्रह के काम में हमारा सूबा संलग्न था। उस समय मुझे अपने सूबे में बहुत घूमने का मौका मिला था। एक बार १६३१ में गांधी-आर्विन-पैक्ट के समय में भी कुछ स्थानों में भ्रमण कर सका था। १६३४ में, केवल भूकम्प -सम्बन्धी काम के लिए ही, जहां जा सका वहां गया। उसके बाद सभापति बनकर तो और-और सूबों में ही घूमता रहा। इस तरह प्रायः पांच-छः बरसों से मेरा और सूबे का सम्पर्क बहुत कम हो गया था। तो भी मुझे यह काम तो देखना ही था। शायद मैं इस साल सूबा-कमिटी का सभापति भी चुना गया था। इसलिए सूबे के उम्मीदवारों के चुनाव में मुझे बहुत समय देना पड़ा और बहुत कष्ट भी उठाना पड़ा। ऊपर जितनी बातें मैंने कही हैं, सबका अनुभव और सब पर निर्णय सूबे का वर्किंग कमिटी को करना पड़ा, जिसका मैं सभापति था !

हमारे सूबे में एक और बात है जो प्रायः दूसरे सूबों में शायद बहुत मात्रा में नहीं देखी जाती है। जिला-कमिटियां अधिकतर निर्णय प्रान्तीय वर्किंग कमिटी पर ही छोड़ना चाहती थीं; क्योंकि वे समझती थीं कि यदि वे फैसला करेंगी तो आपस के मतभेद बढ़ जायंगे और इस कारण चुनाव में कठिनाई भी बढ़ जायगी। पर प्रान्तीय वर्किंग कमिटी के लिए फैसला देना आसान नहीं था; क्योंकि वह भी स्थानीय परिस्थिति से पर्याप्त परिचय नहीं रखती थी। तो भी मैं समझता हूं कि प्रान्तीय कार्यकारिणी के जिम्मे यह काम छोड़ना अच्छा न हुआ। उसके प्रायः सभी निर्णय सर्वसम्मति से हुए। कुछ में मतभेद हुआ और कभी-कभी यह मतभेद तीव्र भी हो गया; पर अन्त में सभी बातें सबकी राय से तय हो सकीं। मुझे कई निश्चयों के सम्बन्ध में बड़ी कठिनाई से अपने को मनाना पड़ा। पर मैंने अपने निजी विचारों को--जिनका सम्बन्ध व्यक्ति से ही था--दवा दिया और कमिटी के बहुमत को ही मान लिया। जहांतक मुझे स्मरण है, मैंने कभी यह नौबत भी न आने दी कि मेरे किसी नाम के सम्बन्ध में मत लेने की जरूरत पड़े। हां, जहां जरूरत होती, अपनी राय बता देता; पर उसको संयत भाषा में बतलाता जिसमें कटुता न आने पावे। जो हो, सूबे की नामजदगी एक प्रकार से हो गई।

सूबे में हमने इस बात पर जोर दिया कि ऐसे ही लोग विशेषकर लिये जायं जो

कांग्रेस के काम करनेवाले सेवक हैं। एक तो ऐसे ही लोगों पर अधिक भरोसा किया जा सकता था; क्योंकि उन्होंने अपने काम से अपनी विश्वसनीयता का परिचय दे दिया था और उनसे आशा भी थी कि कांग्रेस की जैसी आज्ञा होगी वैसा ही वे करेंगे। पर कहीं-कहीं परिस्थिति ने इसके लिए भी मजबूर किया कि ऐसे लोग भी लिये जायं, जो कांग्रेस के साथ सहानुभूति तो रखते थे और जिन्होंने उसकी सेवा भी कुछ की थी, पर जो कार्यकर्ताओं में नहीं समझे जा सकते थे--यह स्थानीय दिक्कतों के कारण, और कहीं-कहीं खर्च के ख्याल से भी, करना पड़ा।

एक विशेष अवस्था हमारे सूबे में थी। यहांपर किसान-सभा काम करती आ रही थी। वह १९३३-३४ में, स्वामी सहजानन्द सरस्वती के अधिनायकत्व में प्रोत्साहित की गई। वह इन तीन-चार बरसों में कहीं-कहीं गया और पटना जिलों में विशेषकर--जनता में जोरों से काम कर सकी थी। कांग्रेस का और किसान-सभा का विरोध नहीं था। दोनों के अनेकानेक और प्रभावशाली कार्यकर्ता एक ही थे। जहां जैसी जरूरत पड़ती, कांग्रेस उनकी मदद भी करती थी। जब चुनाव के लिए उम्मीदवार नामजद किये जाने लगे तो स्वामी सहजानन्द, जो प्रान्तीय वर्किंग कमिटी के सदस्य थे, कुछ ऐसे लोगों के ले लिये जाने पर जोर देने लगे जो किसान-सभा से विशेष सम्बन्ध रखते थे। और सदस्यों का ऐसे लोगों से कोई विशेष विरोध नहीं था; पर कहीं-कहीं ऐसा मौका आया कि किसान-सभा के कार्यकर्ता और कांग्रेस के कार्यकर्ता में ही मुकाबला हो गया। तो भी, कार्यकारिणी और कांग्रेस के कार्यकर्ता में ही मुकाबला हो गया। तो भी, कार्यकारिणी ने इस बात को भी संभाल लिया। अन्त में जो बातें तय हुईं, वे ऐसी ही हुईं जिनको सब लोगों ने पसन्द और मंजूर किया।

एक और चीज है, जिसका जिक्र करना आवश्यक है। उम्मीदवारों के चुनने में हमको इस बात पर ध्यान रखना पड़ा कि कौन उम्मीदवार किस जाति का है। कांग्रेस के लिए यह कोई सन्तोष की बात नहीं थी; पर परिस्थिति के कारण हम इससे अपने को अलग नहीं रख सकते थे। इस सूबे के लिए यह दुःख और शर्म की बात है कि हम इस नामजदगी में जाति को एकदम भूल न सके और हमें यह सोचना पड़ा कि अमुक स्थान में अमुक जाति के उम्मीदवार के चुने जाने की अधिक सम्भावना है तथा यह भी देखना पड़ा कि यदि अमुक उम्मीदवार को हम नहीं नामजद करते तो इसका असर उस जाति के लोगों पर तो बुरा पड़ेगा ही, चुनाव के लिए भी बुरा होगा। हमको

यह भी सोचना पड़ता था कि जितने उम्मीदवार नामजद किये गये उनमें सभी जातियों के उम्मीदवार लिये गये वा नहीं--यदि लिये गये तो इतनी संख्या में लिये गये या नहीं कि हम उस जाति के लोगों को सन्तुष्ट कर सकें । ये बातें राष्ट्रीय संस्था के लिए गौरवप्रद नहीं हैं । पर हमको चुनाव भी जीतना था और साथ ही हमको इस बात का सन्तोष भी था कि सभी जातियों में कांग्रेसी काम करनेवाले ऐसे मौजूद थे कि उनको हम कांग्रेस की नीति की दृष्टि से चुन भी सकते थे । इसलिए किसी के चुनने में हमें अधिक चोट भी नहीं लगती; क्योंकि जिनको हम नामजद करते, वे प्रायः और विचारों से भी योग्य होते । पर सिद्धान्त की दृष्टि से इस विचार का आने देना ठीक न था ।

पूना में जो समझौता दलित जातियों (हरिजनों) के साथ हुआ था, उसमें यह निश्चय हुआ था कि हरिजनों के निमित्त सुरक्षित स्थानों के लिए एक प्राथमिक चुनाव हो जिसमें केवल हरिजन ही भाग लेंगे । इस चुनाव में यदि चार या इससे कम हरिजन उम्मीदवार हुए तो वोट लेने की जरूरत नहीं होगी, सबके सब नामजद समझे जायंगे । यदि इससे अधिक हुए तो केवल हरिजन लोग वोट देकर जिन चार को चाहें चुन लेंगे । फिर दूसरे चुनाव में हरिजन और दूसरे सभी लोग वोट देंगे और जिसको सबसे अधिक वोट मिलेगा वही चुना जायगा । इसका नतीजा यह होता था कि सवर्ण हिन्दुओं को अन्तिम चुनाव में भाग लेने का मौका मिलता था, पर वे जिसको चाहें उसे नहीं चुन सकते थे, वे उन्हीं चार में से एक को वोट दे सकते थे, जिनको हरिजनों ने पहले चुनाव में चुन लिया है । इस समझौते का यह फल होता था कि हरिजनों को दो बार वोट देने का हक मिल जाता था । साथ ही, हरिजन उम्मीदवारों को एक बार केवल हरिजन मतदाताओं में और दूसरी बार हरिजन मतदाताओं तथा सवर्ण मतदाताओं में प्रचार करना पड़ता जो आसान नहीं था, क्योंकि इसमें खर्च बहुत पड़ता इस सूबे में हरिजनों की सोलह जगहें थीं । हमने प्रयत्न किया कि उन सभी जगहों पर कांग्रेसी उम्मीदवार खड़े किये जायं और वे ही जतीते भीं । इसलिए जो उनके प्रमुख काम करनेवाले और प्रभाव वाले लोग थे, उनसे राय ले करके ही हमने अपने हरिजन उम्मीदवार खड़े किये । इसका नतीजा यह हुआ कि कांग्रेस को ऐसे हरिजन मिल गये जो उसके नियमानुकूल काम करना चाहते थे । हरिजनों ने भी उन्हें पसन्द

किया; क्योंकि वे उनकी राय से ही चुने गये थे। इसमें खर्च भी बहुत कम हो गया; क्योंकि अधिकांश स्थानों में केवल एक ही हरिजन उम्मीदवार खड़ा हुआ जो पहले चुनाव में बिना विरोध चुना गया और दूसरे चुनाव में एक ही उम्मीदवार होने के कारण उसके नाम पर वोट लेने-देने की बात ही नहीं हुई। हां, चन्द जगहें ऐसी हुईं जहां चुनाव लड़ना पड़ा, पर अन्त में सोलह में से पन्द्रह जगहें कांग्रेस उम्मीदवारों को ही मिलीं। और सूबों में यह इतनी खूबी से न हो सका, जिसका नतीजा यह हुआ कि हरिजनों के एक से अधिक दल हो गये। कुछ कांग्रेस के साथ हुए और कुछ कांग्रेस के विरोधी। इस विरोध के कारण हरिजनों को कांग्रेस के प्रति अश्रद्धा भी हुई। हम इनसब कठिनाइयों से बच गये। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि यहां उनमें शिक्षा का बहुत अभाव है; इसलिए उनमें ऐसे लोग बहुत नहीं थे, जो अपनी महात्त्वाकांक्षा के लिए अपना अलग संगठन आवश्यक समझते।

नामजदगी हो जाने के बाद सारे देश में प्रचार का काम संगठित करना आवश्यक था। इसके लिए पैसे जमा करने का काम भी पार्लमेण्टरी कमिटी के ही जिम्मे था। यह काम विशेषकर सरदार वल्लभभाई ने ही किया। आवश्यकतानुसार प्रान्तीय कमिटियों को मदद दी गई। प्रान्तीय कमिटियों ने अपना-अपना अलग प्रबन्ध भी यथासाध्य किया। बिहार में, जैसा ऊपर कहा गया है, अधिक उम्मीदवार ऐसे ही थे, जो कांग्रेस कार्यकर्त्ता थे। कांग्रेस कार्यकर्त्ता, विशेषकर बिहार में, पैसेवाले नहीं हैं। जिनके पास घर के कुछ खाने-पीने लायक है भी, वे भी चुनाव के लिए बहुत ज्यादा खर्च करने योग्य नहीं हैं। तो भी, जिससे जहांतक हो सका उसने अपना खर्च किया। प्रान्त की ओर से वहीं मदद दी गई जहां बहुत जरूरत समझी गई। सारे सूबे में जो प्रचार हुआ, उसका खर्च प्रान्त ने दिया और विशेष क्षेत्रों का खर्च वहां के उम्मीदवार ने। जिस उम्मीदवार को मदद की जरूरत हुई, प्रान्त ने उसको मदद दी। इस तरह से प्रान्त को खर्च तो करना पड़ा, पर यदि हम विचार करें कि कितने क्षेत्रों में प्रान्त ने कितने खर्च से सफलता प्राप्त की, तो वह खर्च बहुत नहीं जान पड़ता। कुछ खर्च तो अनिवार्य हैं। क्षेत्र बहुत विस्तृत हैं। इतना तो अवश्य करना ही चाहिए कि उम्मीदवार और दूसरे कांग्रेसी कार्यकर्ता सभी जगहों में जाकर वहां की जनता तक कांग्रेस का सन्देशा पहुंचा दें तथा मतदाताओं के साथ उम्मीदवार की मुलाकात हो जाय। इसमें ही बहुत खर्च पड़ता था।

कांग्रेस का घोषणापत्र और कांग्रेस-सम्बन्धी दूसरा साहित्य छापकर बांटना भी आवश्यक है। वह केवल चुनाव के लिए ही नहीं, जनता की शिक्षा और ज्ञानवृद्धि के लिए भी। इस प्रकार के खर्च तो हर हालत में अनिवार्य हैं। पर इसकी भी जरूरत थी कि केवल सभाओं द्वारा ही प्रचार न किया जाय। वोट के लिए प्रत्येक मतदाता तक भी कहीं-कहीं पहुंचना अधिक आवश्यक था--विशेषकर जहां कोई जबरदस्त प्रतिद्वन्द्वी था। इसमें बहुत खर्च पड़ता था। आजकल के चुनाव मोटर के बिना तो हो ही नहीं सकते; क्योंकि बिना तेज सवारी के सभी जगहों में पहुंचना असम्भव-सा है। जब प्रतिद्वन्द्वी वहां बार-बार पहुंच रहा है तो हमको भी वैसा ही करना पड़ता है। तो भी मेरा अनुमान है कि बिहार में खर्च बहुत अधिक नहीं पड़ा और हमने अपना काम किफायत से निबाहा। फिर भी हमें यह तो मानना ही पड़ेगा कि हमने चाहे जितना भी कम खर्च किया, गांधीजी के आदर्श से तो वह बहुत नीचे ही दीख पड़ा।

गांधीजी का विचार तो यह था कि कांग्रेस पर लोगों का इतना विश्वास होना चाहिए--यह विश्वास कांग्रेस अपनी निःस्वार्थ सेवा द्वारा ही अर्जित कर सकती है--और उसके उम्मीदवार ऐसे सच्चे और लोकप्रिय सेवक होने चाहिए कि कांग्रेस को अपनी ओर से केवल घोषणा-पत्र छापकर बांट देना और अपने उम्मीदवारों के नाम प्रकाशित कर देना ही काफी हो--जनता में इतना उत्साह होना चाहिए कि वह, बिना किसी प्रेरणा और प्रोत्साहन के, ठीक समय पर जाकर अपना वोट कांग्रेस के उम्मीदवारों के पक्ष में दे दे। इसका अर्थ यह है कि चुनाव के समय का प्रचार उतना अधिक आवश्यक नहीं जितना जनता के बीच हमेशा रहकर उसकी सेवा करना जनता की सेवा ही प्रचार का सबसे अधिक बलवान साधन होना चाहिए।

बात तो ठीक है; पर अभी हमने इतनी सेवा नहीं की है। जिस हद तक हमारी सेवा पहुंची है उसी हद तक हम लोकप्रिय बन चुके हैं और उसी अनुपात से चुनाव में हमको कम कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। पिछले बीस बरसों की सेवा बेकार नहीं गई है, पर उसको अधिक विस्तृत और स्थायी होना चाहिए। इसमें जहां स्वार्थ की मात्रा आती जायगी, हमारी कठिनाइयां आगे बढ़ती जायंगी।

यह खेद के साथ लिखना पड़ता है कि चुनावों के अनुभव ने मुझे यह मानने पर मजबूर कर दिया है कि बहुतेरे कांग्रेसी कार्यकर्ता अपनी सेवाओं का मूल्य आंकने लगे

हैं--उनके बदले में कुछ-न-कुछ खोजने लगे हैं--चाहे वह असेम्बली या कौन्सिल की मेम्बरी हो, चाहे वह जिला-बोर्ड या म्युनिसिपैलिटी की सदस्यता या कोई दूसरा पद हो, चाहे और कुछ न हो तो कांग्रेस-कमिटियों के अन्दर ही कोई प्रतिष्ठा और अधिकार का स्थान हो। इसमें कोई शक नहीं कि इन स्थानों पर जाकर मनुष्य सेवा कर सकता है--कहीं-कहीं तो सेवा की शक्ति बढ़ भी जाती है। यदि इस भावना से उन पदों या स्थानों की इच्छा की जाय तो ठीक है। पर कौन कह सकता है कि इस इच्छा में सेवा-भाव का प्राबल्य है अथवा अपनी महत्त्वाकांक्षा का? यह तो शायद मनुष्य का हृदय भी ठीक नहीं बता सकता; क्योंकि वह अपने को अक्सर ऐसे मामलों में धोखा दे देता है और इस प्रकार मनुष्य अपने मन को ही समझा लेता है कि वह महत्त्वाकांक्षा से प्रभावित न होकर सेवा के लिए ही लालायित है।

गांधीजी ने एक अवसर पर कहा था कि जो आदमी कांग्रेस के सभापतित्व के लिए लालायित हो, उसे सभापति नहीं बनाना चाहिए। जो इसे प्रतिष्ठा के लिए नहीं, सेवा के लिए स्वीकार करता है, वह इसके लिए इच्छा नहीं करता--अवसर आ जाने पर उसे शिरोधार्य कर लेता है। यही बात उस सभी स्थानों के लिए होना चाहिए, जिनके लिए जनता चुनकर सेवक नियुक्त करती है। पर आज प्रचलित पद्धति ऐसी है कि अपना ढोल अपने राम को ही पीटना पड़ता है! स्वभाव का स्थान महत्त्वाकांक्षा लेती है। हम इन स्थानों को अपने जीवन में अपने लिए उन्नति का साधन मानते हैं और संसार ही होड़ में इन्हें अपने को आगे बढ़ाने का एक जरिया समझते हैं। यह हमारी सभ्यता और संस्कृति के प्रतिकूल है; पर आधुनिक पाश्चात्य विचारों के अनुकूल ही है। आज इससे बचना कठिन हो गया है। हम देखते हैं कि हमारे समाने आज यह आदर्श रखने में भी संकोच होता है। कि चुनाव के लिए किसी को स्वयं नहीं खड़ा होना चाहिए--जिनको चुनने का अधिकार है उनपर ही योग्य व्यक्ति को खोज निकालने का भार डाल देना चाहिए--यदि उनकी दृष्टि हमपर पड़ जाय और वे हमें चुन लें तो उनकी आज्ञा मानकर अपनी शक्ति-भर उनकी सेवा, जो उस स्थान से सम्भव हो, कर देनी चाहिए। संसार में सच्ची प्रजातांत्रिक व्यवस्था तबतक नहीं हो सकती जबतक कुछ इस प्रकार की बात न चलाई जाय। इसके लिए त्याग की भावना दृढ़ होनी चाहिए, भोग की भावना कमजोर करनी चाहिए; हमारा ध्येय होना चाहिए--सेवा, न कि प्रतिष्ठा अथवा दूसरे प्रकार का स्वार्थ।

इधर पार्लेमेण्टरी कमिटी इस तरह से चुनाव की तैयारी में लगी थी, उधर पंडित जवाहरलालजी देश के भिन्न-भिन्न स्थानों का दौरा करके लोगों में उत्साह पैदा कर रहे थे। उन्होंने इस समय जैसे परिश्रम और उत्साह से दौरा करके लोगों को जगाया, शायद वैसा जबरदस्त प्रचार किसी सभापति ने अपने सभापतित्व-काल में न किया होगा। उनका कहना था, और वह ठीक ही था, कि इस प्रकार के चुनाव में, जहां करोड़ों आदमियों से वोट लेने थे, एक-एक वोटर तक पहुंचने की आशा व्यर्थ है; और अगर हम पहुंच भी सकें तो इसका भरोसा नहीं किया जा सकता कि ठीक समय पर हमारे पहुंचने का फल मिलेगा। सबसे अधिक आवश्यकता है वायुमण्डल को बदल देने की, जिससे यदि कोई बाहर निकलने का प्रयत्न भी करे तो न निकल सके। उन्होंने ऐसा ही वायुमण्डल तैयार करने में अथक परिश्रम किया। नतीजा बहुत अच्छा हुआ।

: ११९ :

कांग्रेस का पहला ग्रामीण अधिवेशन

लखनऊ का अधिवेशन अप्रैल में हुआ था। वहां एक निश्चय यह भी हुआ था कि कराची का वह नियम बदल दिया जाय, जिसके अनुसार दिसम्बर में कांग्रेस का सालाना जल्सा न करके फरवरी-मार्च में करने का निश्चय किया गया था। इसलिए इसके बाद का वार्षिक अधिवेशन १९३६ के दिसम्बर में ही होने को था। यह केवल आठ महीनों के भीतर ही पड़ता था। देश ने जवाहरलालजी को तीसरी बार सभापति फिर चुना। यह अधिवेशन फैजपुर में हुआ। यह स्थान बम्बई प्रान्त--कांग्रेसी महाराष्ट्र प्रान्त--के पूरब खानदेश-जिले में है। यह एक गांवमात्र है या कस्बा कहें तो एक छोटा कस्बा। गांधीजी ने विचार प्रकट किया था कि कांग्रेस का अधिवेशन गांवों में हुआ करे तो जनता को उससे विशेष लाभ पहुंच सकता है। पहली बात तो यह होगी कि गांव के लोगों को उससे विशेष लाभ पहुंच सकता है। पहली बात यह होगी कि अतिथियों के स्वागत-सत्कार और रहन-सहन के लिए जो इन्तजाम किया जायगा, उससे गांववालों को अर्थिक लाभ भी पहुंचेगा। गांधीजी चाहते थे कि प्रबन्ध भी ऐसा हो कि उसमें गांव की चीजों से ही काम लिया जाय। इस तरह वह ग्रामोद्योगों के प्रोत्साहन का कारण भी हो। उन्होंने महाराष्ट्र के लोगों से अनुरोध किया कि वे इस कांग्रेस का प्रबन्ध यथासाध्य ग्रामोद्योगों द्वारा उत्पन्न या उपस्थित की हुई वस्तुओं से ही करें। काम कठिन था, पर स्वागत-समिति ने यथासंभव प्रयत्न किया।

आजकल कांग्रेस का अधिवेशन एक बहुत बड़े पैमाने पर करना पड़ता है। जहां-कहीं भी वह किया जाय, बहुत विशाल आयोजन करना पड़ता है। गांवों में इस आयोजन का विस्तार और भी बढ़ जाता है। वहां तो कोई चीज मिलती नहीं, सबकुछ जुटाना ही पड़ता है। जहां लाखों आदमी जमा होनेवाले हैं, वहां उनके लिए केवल पानी ही जुटाना एक मुश्किल काम हो जाता है। उनके ठहरने और खाने का, रोशनी और सफाई का प्रबन्ध कुछ कम कठिन नहीं होता। साथ ही, जहां इतने लोग इकट्ठे हों वहां उनके देखने योग्य कला की चीजों का होना भी आवश्यक होता है। गांधीजी

की आज्ञा से वहां यथाशक्ति गांव की चीजों का ही व्यवहार किया गया ।

बंगाल की 'विश्वभारती' के प्रसिद्ध कलाकार श्री नन्दलाल वसु ने वहां जाकर कांग्रेस-नगर और पंडाल तथा प्रदर्शनी की सजावट इत्यादि का बहुत सुन्दर इन्तजाम कराया । तारीफ की बात यह थी कि सजावट के लिए गांव में मिलनेवाले बांस और लकड़ी से ही काम लिया गया था । जो फाटक बने थे या दूसरी सजावट की चीजें बनी थीं उनकी सादगी में भी बड़ी खूबसूरती थी । यह देखकर लोगों को आश्चर्य हुआ कि इन छोटी-मोटी मामूली चीजों से कलाकार कितनी विवित्रता और रोचकता पैदा कर सकता है । आखिर प्रकृति की सुन्दरता तो इन्हीं चीजों की बनी होती है । हम क्या प्रकृति से भी अधिक सुन्दर कोई चीज बना सकते हैं ? पर हमारी दृष्टि आज दूषित हो गई है । हम प्रकृति के सौन्दर्य को ठीक समझ नहीं सकते । हम कला को प्रकृति से कोई अलग वस्तु मान बैठते हैं । जो हो, फैजपुर की विशेषता वहां की सरलता की सुन्दरता थी ।

पानी के लिए वहां लोगों ने बहुत बड़ा कुंआ खुदवाया, जो कांग्रेस के बाद भी वहां की जनता को लाभ पहुंचाता रहेगा । रहने के लिए झोंपड़ें बनवाये, जिनमें गांव के ही खर-पात, बांस, चटाई इत्यादि का उपयोग हुआ था । इस प्रकार फैजपुर का अधिवेशन पहला ग्रामीण अधिवेशन हुआ, जिसमें ग्रामोद्योगों की ही प्रधानता रही । इनमें खादी का स्थान तो प्रमुख रहता ही, और खादी का ही सभी जगहों में बोलबाला रहा ।

पर अधिवेशन दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में हुआ, जब बहुत सर्दी पड़ा करती है । इसलिए बाहर के आये हुए हजारों-हजार लोगों को बहुत कष्ट हुआ; क्योंकि उस छोटे स्थान में ऐसे आगन्तुकों के ठहरने के लिए भी कोई मकान या धर्मशाला या झोंपड़े तक भी नहीं मिल सकते थे । वे हजारों की संख्या में यों ही खुले मैदान और खेतों में रात को पड़ रहते थे । गांधीजी को यह बात बहुत खटकी । उन्होंने उस नियम को फिर बदलवा दिया । तब से फिर कांग्रेस मार्च (वसन्त) में होती आ रही है ।

फैजपुर का अधिवेशन चुनाव के चन्द दिन ही पहले हुआ था । इसलिए यहां चुनाव के सम्बन्ध में बहुत उत्साह था । कई जगहों के कितने ही प्रमुख कार्यकर्ता,

अपने स्थान पर चुनाव के प्रबन्ध में लगे रहने के कारण, नहीं आये । यहां भी नये विधान को नामंजूर करने तथा चुनाव में भाग लेने की बात की गई । इस चीज को अखिल भारतीय कमिटी के लिए छोड़ दिया गया कि चुनाव के बाद वह निश्चय करे कि मंत्रिमण्डल में शरीक होने के सम्बन्ध में कांग्रेस की क्या नीति होगी । जवाहरलालजी के विचार इसके विरोधी थे और मालूम थे; पर वहीं पता लग गया कि कांग्रेस मंत्रिमण्डल बनाने के पक्ष में है और यदि प्रस्ताव उपस्थित होता तो उसे वह मंजूर करती । परन्तु अभी यह समय उस निश्चय तक पहुंचने का नहीं था; इसलिए वह अधिकार अखिल भारतीय कमिटी को ही देकर रख छोड़ा गया ।

इसी अधिवेशन से कुछ पहले, श्री एम० एन० राय (मानवेन्द्रनाथ राय), विदेश से लौटने के बाद, सजा काटकर जेल से निकले थे । वह इस अधिवेशन में पहले-पहल शरीक हुए । हो सकता है कि जब वह इतने विख्यात नहीं थे, विदेश जाने के पहले, कांग्रेस में शरीक हुए हों; पर इधर यह उनका पहला ही अवसर उसमें शरीक होने का था । हमसे भी पहले-पहल वहीं मुलाकात हुई । अभी उनके विचारों से देश परिचित नहीं था और कांग्रेस में स्वाभाविक कौतूहल था । वह संयुक्तप्रदेश की ओर से प्रतिनिधि और अखिल भारतीय कमिटी के सदस्य चुन लिये गये थे । इस तरह उनको कांग्रेस में अच्छी तरह भाग लेने का सुअवसर मिल गया था ।

: १२० :

चुनाव का दौरा और नतीजा

कांग्रेस के बाद सब लोग अपने-अपने सूबे के चुनाव में भाग लेने के लिए गये। वहीं हमने पंडित जवाहरलाल से बिहार के कुछ भागों में दौरा करने का वचन ले लिया। वह चन्द दिनों के बाद बिहार में दौरा करने आये। मैं भी दौरा करने योग्य हो गया था। अपने लिए भी मैंने यात्राक्रम बनाया। सभी जगहों में जवाहरलालजी का जाना सम्भव नहीं था; क्योंकि उनको तो सारे देश में दौरा करना था। इसलिए हमने ऐसा प्रबन्ध किया कि जहां वह न जायं, वहां मैं जाऊं। मैं उनके साथ दौरे में नहीं गया। मैंने अपना दौरा अलग आरम्भ किया। इस तरह, हम दोनों ने मिलकर प्रायः सारे सूबे का दौरा कर लिया। पंडित गोविन्दवल्लभ पंत प्रभृति दूसरे नेता भी आये। जहां-जहां कमजोरी दीख पड़ी, वहां वे गये। जनता में अपूर्व उत्साह था। दौरे के बाद हमारे दिल में सफलता के सम्बन्ध में किसी प्रकार का शक-शुबहा नहीं रह गया। जब चुनाव का नतीजा निकला तब मालूम हो गया कि हमने जितनी आशा की थी, उससे भी अधिक सफलता मिली। हरिजनों के सोलह सुरक्षित स्थानों में से पन्द्रह कांग्रेसी उम्मीदवार चुने गये। स्त्रियों के लिए जो सुरक्षित स्थान हैं उनमें तीनों गैर-मुस्लिम जगहें कांग्रेस को नहीं मिलीं। पर एक के सिवा और किसी के लिए कांग्रेस ने उम्मीदवार भी नहीं खड़ा किया था, उसमें भी कांग्रेस की हार हुई। हम यह जानते भी थे, इसलिए हताश होने का यह कोई कारण न हुआ।

बिहार की असेम्बली में मुसलमानों के लिए उनचालीस या चालीस जगहें सुरक्षित हैं। चुनाव के बहुत पहले से ही कांग्रेसी मुसलमानों और दूसरे राष्ट्रीय विचारवाले मुसलमानों में बातचीत चलती रही। कुछ का विचार था कि जहांतक हो सके, कांग्रेस की ओर से ही सभी जगहों पर उम्मीदवार खड़े किये जायं। कुछ का विचार था कि राष्ट्रीय मुस्लिम जमायतों--जैसे जमीअत-उलेमा--के साथ समझौता कर लिया जाय, जिससे कांग्रेसी और दूसरे दल में कोई विरोध न हो। परन्तु कांग्रेसी मुसलमान ही एकमत नहीं थे, इसलिए कांग्रेस-कमिटी कुछ मुश्किल में थी। तो भी चन्द जगहों के लिए कांग्रेसी उम्मीदवार खड़े किये गये। इनमें से चन्द के लिए राष्ट्रीय मुसलमानों

ने मुकाबले में उम्मीदवार नहीं खड़े किये । चन्द जगहों में मुकाबला हुआ भी । पर राष्ट्रीय मुसलमानों के अलावा कुछ दूसरे मुसलमान-दल भी थे--उन्होंने भी चुनाव में भाग लिया । मुस्लिम लीग का कोई जोर नहीं था । जहांतक मुझे याद है, लीग की ओर से शायद ही कोई उम्मीदवार खड़ा किया गया था । जमीअत-उलेमा के मान्य नेता और इमातत-शरायत के नायब-अमीर मौलाना अबुल मुहासिन मुहम्मद सज्जाद । इसी दल में मिस्टर मुहम्मद यूनुस शरीक हुए । मुसलमानों का यही दल सबसे जबरदस्त दल मालूम पड़ता था । इसी दल के साथ कांग्रेस की बातचीत हुई, जिसका नतीजा यह हुआ कि कांग्रेस ने चन्द जगहों के लिए ही उम्मीदवार खड़े किये । कई ऐसे मुसलमान, जो हर तरह से कांग्रेसी समझे जा सकते थे और जिन्होंने कांग्रेस के कार्यक्रम के अनुसार जेल-यात्रा तक की थी, उस दल की ओर से खड़े हुए । उस दल को काफी सफलता मिली । असेम्बली में मुसलमानों की सबसे अधिक संख्या इसी दल की थी । पीछे जब मुस्लिम लीग का जोर बढ़ा तो शायद अब यह बात नहीं रह गई है; पर वह तो असेम्बली की बैठक होने पर ही मालूम होता कि किसके साथ अधिक मुसलमान सदस्य हैं । यूनिवर्सिटी की जगह श्री सच्चिदानन्दसिंह ने कांग्रेस-उम्मीदवार को हराकर ले ली ।

बिहार का चुनाव पहले ही समाप्त हो गया । इसलिए यहां के कतिपय कार्यकर्ता संयुक्त-प्रांत में चले गये । यहां की सफलता की बात वहां पहले पहुंच चुकी थी और इन लोगों ने भी जाकर कुछ काम किया । मैं भी चन्द दिनों में वहां गया । चन्द दिनों के लिए मध्यप्रदेश में भी गया । वहां के लोगों ने जहां मुझे ले जाना मुनासिब समझा, ले गये । मध्यप्रदेश में विलासपुर-जिले में मुझसे अधिक काम लिया गया । वहां से एक दिन के लिए जबलपुर-जिले के कटनी के पास के क्षेत्र में भी जाना पड़ा । वहां विलासपुर के एक क्षेत्र में श्री राघवेन्द्रराव कांग्रेस के उम्मीदवार का मुकाबला कर रहे थे । उसमें कांग्रेस की हार हुई; पर दूसरी जगहों में जहां मैं गया, कांग्रेस की जीत हुई । उसी तरह कटनी में भी कांग्रेस की जीत रही । संयुक्त प्रांत में अवध के कई जिलों में मैं गया । फिर धामपुर-जिले में गया, जहां बहुत जोरदार मुकाबला था । धामपुर से कुछ दूर तराई में जाना था, जहां मुश्किल से मोटर पहुंच सकी । लोगों का कहना था कि वहां कोई कांग्रेसी नेता पहले नहीं आया था । इसलिए वहां बहुत भीड़ जमा हुई थी । लोगों में काफी उत्साह था । जाना अच्छा रहा; क्योंकि वहां कांग्रेस

की जीत महज चन्द वोटों से ही हुई ।

युक्तप्रदेश से मैं फिर महाराष्ट्र और कर्नाटक चला गया । महाराष्ट्र में कई दिनों तक दौरा किया । पर वहां उतनी सफलता नहीं मिली जितनी और जगहों में । एक स्थान पर तो प्रतिद्वन्द्वी ने हमारे पहुंचने के पहले ही सभा में, जो मेरे लिए एकत्र हुई थी, भाषण करके लोगों को अपने-अपने घर चले जाने के लिए कह दिया । उन्होंने कृपा करके कारण भी बता दिया कि मैं नहीं पहुंच सका और वहां नहीं आनेवाला हूं । शायद यह भी कह दिया हो कि कोई कांग्रेसी कार्यकर्ता ही यह सन्देश लेकर आया है तो आश्चर्य नहीं ! पर और जगहों में सभाएं खूब हुईं । बहुतेरी जगहें मिलीं भी; पर जितनी आशा थी उतनी नहीं । सबसे अधिक हार रत्नागिरि में हुई, जहां से लोग बहुत आशा, रखते थे । महाराष्ट्र से मैं कर्नाटक चला गया । कई जिलों में घूमा । वहां अच्छी सफलता मिली । एक स्थान में हार हुई, जहां के सम्बन्ध में वहां के लोग बहुत आशा रखते थे । वहां के उम्मीदवार भी कांग्रेस के अच्छे कार्यकर्ता श्री हनुमन्तराव कौजलजी थे । पर चुनाव में इस तरह की बातें हुआ ही करती हैं ।

इस समय तक और जगहों में चुनाव का काम प्रायः समाप्त हो चुका था । मैं आन्ध्र के एक ही जिले--'बेलारी'--में जा सका । वहींपर दौरा समाप्त करके वापस आ गया । इस तरह मेरा दूसरा दौरा महाराष्ट्र और कर्नाटक प्रदेशों के कई जिलों का हुआ । कई परिचित स्थानों को दुबारा देखने का अवसर मिला । इस तरह सारे देश में चुनाव-संघर्ष समाप्त हुआ । कांग्रेस की जीत बम्बई, मद्रास, मध्यप्रदेश, युक्त प्रदेश, बिहार, उड़ीसा और आसाम में काफी हुई । पंजाब, बंगाल और सिन्ध में भी कांग्रेसी लोग चुने गये; पर उनकी संख्या इतनी नहीं थी कि और दलों से वह अधिक हो । सीमाप्रान्त में भी कांग्रेस का सबसे बड़ा दल रहा । पर एकबारगी बहुमत कांग्रेस को उस समय नहीं मिला ।

चुनाव के बाद अब यह निश्चय करने का अवसर आ गया कि कांग्रेस मन्त्रिपद लेगी या नहीं । इतने सूबों में बहुमत पाकर क्या वह मन्त्रिपद लेकर काम करेगी या बिना पद लिये ही--इस विषय पर विचार करने के लिए अखिल भारतीय कमिटी की बैठक दिल्ली में की गई । सभापति का विचार हुआ कि सभी कांग्रेसी मेम्बर वहां उस अवसर पर बुलाये जायं और सभी कांग्रेस-सदस्यों का भी एक जल्सा किया जाय, जिसमें वे कांग्रेस के प्रति अपनी श्रद्धा और वफादरी की सौगन्ध लें । यह परिषद

(Convention) बड़े उत्साह के साथ हुई । इस परिषद में सभी उपस्थित सज्जनों ने एक साथ कांग्रेस के आज्ञापालन और देशोद्धार के काम में लगे रहने की प्रतिज्ञा की । वहीं अखिल भारतीय कमिटी की भी बैठक हुई, जिसमें यह निश्चय हुआ कि कांग्रेस मन्त्रिमण्डल तभी बनायगी जब गवर्नर इस बात का वादा कर दें कि जो विशेष अधिकार उनको विधान द्वारा दिये गये हैं, उनका वह व्यवहार न करेंगे, बल्कि सब बातों में मन्त्रियों की सलाह से ही काम करेंगे । गांधीजी ने इस बात पर बहुत जोर दिया कि इस प्रकार का वादा कराये बिना कांग्रेस को मन्त्रिपद नहीं लेना चाहिए; क्योंकि विधान में गवर्नरों के लिए बहुत अधिकार सुरक्षित रखे गये हैं--यदि वे उनका व्यवहार करेंगे तो कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल कोई बड़ा और महत्त्व का काम नहीं कर सकेगा; इसलिए यद्यपि कांग्रेस को मन्त्रिमण्डल बनाने से इनकार नहीं करना चाहिए तथापि वह तभी स्वीकार करे जब गवर्नर उपर्युत वादा कर दें ।

जिस समय विधान बन रहा था, इन सुरक्षित अधिकारों के सम्बन्ध में बहुत टीका-टिप्पणी हुई थी । उस विधान के नामंजूर होने के कारणों में गवर्नर के इस प्रकार के अधिकार का विशेष कारण थे । उस समय ब्रिटिश-सरकार ने भारत के इस विचार पर ध्यान नहीं दिया और अपनी इच्छा के अनुसार विधान बना दिया । अब गांधीजी की इस सूझ ने प्रान्तीय गवर्नरों के इन अधिकारों को निकम्मा कर देना चाहा; क्योंकि पुस्तक में यदि ये अधिकार लिखे रह भी जायं और गवर्नर इन्हें काम में न लावें, तो विधान की एक बहुत बड़ी शिकायत की बात दूर हो जाय । हममें से जो लोग मंत्रिपद लेने के जबरदस्त हिमायती थे, वे भी इससे नाराज हुए; क्योंकि वे समझते थे कि इस अपरोक्ष रीति से ब्रिटिश सरकार विधान की उन धाराओं को रद नहीं करेगी और यदि कांग्रेस इस शर्त पर अड़ी रही तो मंत्रिमंडल नहीं बनेंगे । पर जो लोग मंत्रिमण्डल बनने के विरोधी थे, वे खुश थे; क्योंकि वे भी समझते थे कि ब्रिटिश सरकार इस शर्त को नहीं मानेगी और इस तरह मंत्रिमण्डल नहीं बनेगा । गांधीजी इसपर अड़े रहे । उन्होंने साफ कह दिया कि आपके मत में मंत्रिपद न लेना बड़ी भूल होगी; पर उससे भी बढ़कर यह भूल होगी कि मंत्रिपद बिना इस शर्त के लिये जायं । अन्त में यही बात मंजूर हुई । कांग्रेसी मेम्बरों को आदेश दिया गया कि वे अपने नेता चुन लें--जब नेता को गवर्नर मंत्रिमण्डल बनाने के लिए बुलावें तो वही यह शर्त पेश करें और कहें कि गवर्नर यदि अपने विशेष अधिकारों को व्यवहार में

न लाने का प्रकाश्य रूप से वादा करें तो वह मंत्रिमण्डल बनाने के लिए तैयार हैं, अन्यथा नहीं ।

१९३७ की पहली अप्रैल से नये विधान के अनुसार मंत्रिमण्डल बन जाने चाहिए थे । उसी दिन सभी सूबों का शासन भी उस विधान के अनुसार आरम्भ हो जाना चाहिए था । कांग्रेस के इस निश्चय के बाद, गवर्नरों को और विधान के अनुसार उन्हें उस दल के नेता को, जो सबसे बड़ा वहां की असेम्बली में था, कह देना था कि वह मंत्रिमण्डल बनावें । असेम्बली के पार्टी-मेम्बरों के लिए यह आवश्यक था कि अपने-अपने स्थान पर एक बार मिलकर नेता चुन लें । बिहार में पार्टी और प्रान्तीय कमिटी की बैठक एक ही दिन हुई, जिसमें नेता का चुनाव करना था । मैं नहीं चाहता था कि इस विषय में आपस में दलबन्दियां हों । मैं समझता था कि सर्वसम्मति से नेता का चुना जाना ही सबसे अच्छा होगा । मैंने देखा कि कुछ लोग किसी व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध में आपस में बातें कर रहे थे । मेरे पास भी कुछ लोग आये । मैंने दलबन्दी करने की मनाही की और यही राय दी कि जिस किसी के सम्बन्ध में वे बातें करते हों, पहले उससे ही पूछ लें कि इस बात को क्या वह पसन्द करते हैं । जब सभा बैठी तो उसने यह निश्चय किया कि मैं ही हर जिले के प्रमुख लोगों से अलग-अलग बातें कर लूं और जैसी लोगों की राय मालूम हो उसके अनुसार निर्णय दे दूं तो वोटावोटी की नौबत न आवे ।

मैंने विचार कर अपनी राय निर्धारित कर ली थी कि श्री श्रीकृष्णसिंह ही पार्टी के नेता बनाये जायं । यह निश्चय करने में मुझे इस बात से काफी मदद मिली थी कि दूसरे व्यक्ति भी--श्री अनुग्रहनारायण सिंह, जिनके सम्बन्ध में कुछ लोग बातें कर रहे थे--मुझसे निजी तौर पर कह चुके थे कि वह इस पद को नहीं चाहते और जो लोग उनके बारे में औरों से कह रहे हैं, वे उनकी इच्छा के अनुसार काम नहीं कर रहे हैं । तीसरे सज्जन, जिनके सम्बन्ध में कुछ विचार होता था, डाक्टर सैयद महमूद थे । वह कई बरसों से अखिल भारतीय कमिटी और वर्किंग कमिटी के मेम्बर रह चुके थे । खिलाफत कमिटी के दिनों में उसके प्रधानमंत्री भी रहे थे । अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के मंत्री रह चुके थे । राष्ट्रीय विचारों के वह पक्के और पुराने पोषक तथा समर्थक रहे हैं । उनका त्याग किसी से कम नहीं रहा है । तथापि, वह बिहार सूबे में, विशेषकर सूबे के कांग्रेसी कार्यकर्ताओं में, उपर्युक्त दो सज्जनों के मुकाबले

कम लोकप्रिय रहे हैं। सूबे के बाहर अधिक काम करने के कारण उनसे सबका उतना परिचय नहीं है जितना इन दो सज्जनों से। इन दोनों में भी बाबू श्रीकृष्णसिंह अपनी वक्तृत्व-शक्ति के द्वारा अपने को अधिक लोकप्रिय बना सके हैं। त्याग की मात्रा और निर्भीकता में भी वह लासानी हैं। अनुग्रहबाबू की संगठन-शक्ति और आफिस चलाने की शक्ति के सभी कायल हैं। इन्हीं कारणों से मेरा विचार श्रीकृष्णबाबू के पक्ष में था। जब मैंने सभी जिलों के लोगों से बातें कीं तो अधिकांश लोगों की भी राय मेरी राय से मिल गई। श्री रामदयालुसिंह भी प्रान्त के एक ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं कि उनके सम्बन्ध में भी कुछ लोगों का विचार हो सकता था; पर इसमें शक नहीं कि कुछ लोग उनका काफी विरोध भी करनेवाले थे, जिनमें उनके अपने जिले के लोगों से उनको मनवा लिया। बात ऐसी नहीं थी; पर यदि होती भी तो मुझे इसका अफसोस या इसकी शर्म नहीं होती; क्योंकि जहांतक मैं समझ सकता और देख सकता था, जिले के लोग श्रीकृष्णबाबू और अनुग्रहबाबू में से ही एक को नेता बनाना चाहते थे, पर अनुग्रहबाबू इस होड़ में पड़ना नहीं चाहते थे। इसलिए, यदि मैंने कुछ किया भी हो तो उसका असर इतना ही मात्र था कि मैंने नाम प्रस्तावित नहीं होने दिये। अन्त में एक ही नाम आया और वह श्रीकृष्णबाबू का, जिसको लोगों ने सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया।

पीछे इस बात से मुसलमानों में--विशेषकर कांग्रेस के बाहर के मुसलमानों में--कुछ कटुता बढ़ी। उन लोगों ने अपनी यह राय भी जाहिर की कि डाक्टर महमूद केवल मुसलमान होने के कारण नेता नहीं बनाये गये--यद्यपि वह अखिल भारतीय कमिटी में औरों के मुकाबले अधिक विख्यात थे और अधिक काम कर चुके थे। यह बात मौलाना अबुल कलाम आजाद साहब तक पहुंचाई गई। मैं आज भी जब सब बातों पर विचार करता हूं तो मुझे ऐसा नहीं मालूम होता कि डाक्टर साहब को नेता न बनाने में मैंने कुछ भूल की। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके प्रति मेरा वह प्रेम और आदर नहीं है जो श्रीकृष्णबाबू के प्रति है। मैं उनके गुणों का कायल हूं। पर जब ऐसा समय आ जाता है कि दो या अधिक मित्रों में से किसी एक को ही किसी स्थान के लिए देश की दृष्टि से चुनना पड़ता है, तो उनमें से भी एक को निकाल लेना ही पड़ता है। पर यदि कोई यह कहे कि एक-एक करके वे सब बातें बता और सुझा दी जायं, जिनके कारण 'क' लिया गया और 'ख' नहीं, तो यह असंभव नहीं तो

कठिन अवश्य है। यह कठिनाई इस कारण से नहीं होती कि हम सब बातें किसी के सम्बन्ध में कहना नहीं चाहते। मेरा अनुभव है कि ऐसे मामलों में सब सोच-विचार करके आदमी एक निश्चय पर पहुंचता है और उसके सब कारणों को वह स्वयं इतना नहीं जानता कि स्पष्ट रूप से सबके सामने उन्हें रख सके--तब भी उसके अपने हृदय में सन्तोष रहता है कि वह ठीक कर रहा है। यही बात यहां भी है। मुझे इस बात का सन्तोष है कि जब पीछे यह बात शिकायत के रूप में मौलाना अबुलकलाम आजाद के सामने रखी गई तो उन्होंने शिकायत करनेवालों से यही कहा कि यदि वह मेरे स्थान पर होते तो वह भी सब विचार करके शायद वही फैसला करते जो मैंने किया था।

बिहार में यह पहला मसला खूबी के साथ तय हो गया। पर सभी सूबों में ऐसा नहीं हुआ। कई जगहों में, जैसे मध्यप्रदेश और उड़ीसा में, आपस में काफी मनोमालिन्य हो गया, जिसका नतीजा पीछे मालूम हुआ जब आपस की दलबन्दियां फूटकर निकल आईं। संयुक्तप्रान्त में शायद किसी किस्म का मतभेद न हुआ। बम्बई में एक ऐसे सज्जन नेता बनाये गये, जिनके चरित्र और योग्यता के बारे में तो किसी को सन्देह न था, पर जो वहां के अधिक विख्यात लोगों में नहीं थे। यह थे बालासाहब खेर। यह हमेशा अपने को पीछे रखा करते थे। यद्यपि विचार के पक्के और काम में निपुण थे तथापि इनको बाहर के लोग कम ही जानते थे। इसका एक घटना से प्रमाण मिलता है। फैजपुर-कांग्रेस के समय इनके जिम्मे स्टेशन पर कांग्रेस-यात्रियों से मिलने और उनका स्वागत करने का काम था। वहां भी जो लोग इनको पहले से नहीं जानते थे, वे शायद ही जान सके कि बम्बई-सूबे के भावी प्रधानमंत्री--वह भी एक अत्यन्त सफल और कार्यदक्ष प्रधानमंत्री--उनका स्वागत कर रहे हैं, उनके असबाब को गाड़ियों पर लदवा रहे हैं अथवा खुद आगे बढ़कर उनको गाड़ियों पर सवार करा रहे हैं। युक्तप्रदेश में भी पं० गोविन्दवल्लभ पंत को सभी जानते और चाहते थे। केन्द्रीय असेम्बली में उन्होंने जिस तरह काम किया था, उससे वहां या दूसरे सूबे के लोगों के दिल में यह ख्याल ही नहीं उठ सकता था कि उनके सिवा वहां कोई दूसरा इस पद पर चुना जा सकता है। यही बात मद्रास प्रान्त के मंत्री श्री राजगोपालाचारी के सम्बन्ध में थी।

गवर्नरों ने अपने-अपने सूबे में, जहां कांग्रेस का बहुमत था अथवा जहां सबसे

बड़ा दल कांग्रेसियों का था, कांग्रेस-पार्टी के नेता को बुलाया और विधानानुसार उनको मंत्रिमण्डल बनाने में सहायता देने को कहा। उन नेताओं ने अपनी ओर से वही बात पेश की, जिसका आदेश अखिल भारतीय कमिटी से उनको मिला था। गवर्नर कहीं भी इस बात पर राजी नहीं हुए कि वे अपने विशेष और सुरक्षित अधिकारों को काम में नहीं लावेंगे। उनका कहना था कि विधान के बदलने का अधिकार उनको नहीं था और वे उसे इस तरह वादा करके परोक्ष रीति से नहीं बदल सकते। जहांतक मुझे मालूम है, सबसे पहले मद्रास के गवर्नर ने ही राजाजी को बुलाया। जो बात वहां हो गई वही सभी जगहों में दुहराई गई। वहां की खबर अखबारों में छप गई कि राजाजी ने गवर्नर के इनकार करने पर मंत्रिमण्डल बनाने से इनकार किया। यही सब जगहों में हुआ।

पर ब्रिटिश सरकार ने इस तरह से इस विधान को, जिसके बनाने में उसने कई साल लगाये थे और जिसके सम्बन्ध में इतना प्रचार किया गया था, जन्म लेने के पहले ही मरने देना पसन्द नहीं किया। उसके कर्मचारियों के हृदय में शायद आशा लगी थी कि कांग्रेसवाले मंत्रिपद के लोभ का संवरण नहीं कर सकेंगे; इसलिए अगर १ अप्रैल को नहीं तो कुछ दिनों में उनमें फूट डालकर पीछे उनका बहुमत इधर-उधर कर दिया जा सकेगा। इसलिए उन्होंने निश्चय कर लिया कि चाहे जिस तरह से हो, जिस-किसी-का हो, चन्द दिनों के लिए ही सही, असेम्बली के बहुमत के विरूद्ध ही क्यों न हो, मंत्रिमण्डल बन जाना चाहिए--किसी-न-किसी को प्रधानमंत्री और उसके साथ कुछ औरों को जुटाकार १ अप्रैल को मंत्रिमण्डल के नाम अवश्य प्रकाशित करा देने चाहिए। अब यही कोशिश सभी सूबों में होने लगी। किन्तु यह कांग्रेस के लिए बड़े गौरव की बात रही कि किसी भी सूबे में एक भी कांग्रेसी ऐसा न मिला जो इस चकमे में आकर मंत्रिपद स्वीकार करे! इसलिए, कांग्रेस के बाहर के लोगों में से ही कुछ लोगों को नियुक्त करना अत्यावश्यक हो गया। गवर्नर ऐसा कर भी सकते थे; क्योंकि विधान के अनुसार, छह महीनों तक, असेम्बली की बैठक कराये बिना भी, शासन का काम, गवर्नर की अनुमति और उनके बजट मंजूर कर देते से, चल सकता था। उन्होंने इसी आशा से सभी जगहों में मंत्रिमण्डल बना दिये कि इन पांच-छः महीनों में शायद हवा बदल जाय--शायद कांग्रेसियों का कुछ दाव बदल जाय।

बिहार सूबे में गवर्नर ने यह काम मि० मुहम्मद यूनुस को सुपुर्द किया। यह

सज्जन मुसलमानों की इण्डिपेण्डेण्ट पार्टी की ओर से चुने गये थे, जिसके प्रमुख सहायक थे मौलाना अबुल मुहासिल मुहम्मद सज्जाद। मौलाना सज्जाद जमीअत-उलेमा के प्रमुख व्यक्ति थे। समझा जाता था कि कांग्रेस के साथ उनकी पूरी हमदर्दी है। चुनाव में भी उनसे यदि सुलह नहीं तो कोई झगड़ा भी नहीं हुआ था। कितने ही कांग्रेसी मुसलमानों ने उनकी पार्टी में इसलिए अपने नाम लिखाये थे कि वे उस तरह आसानी से चुने जा सकेंगे--विशेषकर जब वे यह समझते थे कि कांग्रेस की नीति से मौलाना सज्जाद बहुलांश में सहमत हैं। पर इस मौके पर मौलाना चूके। उन्होंने अपनी पार्टी में निश्चय किया कि वह मंत्रिमण्डल बनाये। मालूम नहीं कि वहां क्या बातें हुईं। तरह-तरह की बातें उस समय की हवा में थीं। कुछ लोग कहते थे, कांग्रेसी विचारवाले मुसलमानों ने विरोध किया, पर उनकी संख्या औरों के मुकाबले एक या दो घटती थी। कुछ लोग कहते थे, पार्टी को आखिरी फैसला देने का मौका ही नहीं मिला; क्योंकि जब एक जगह में बैठकर पार्टी इस विषय पर विचार कर रही थी कि वह मंत्रिमण्डल बनावे या न बनावे तब मि० यूनुस गवर्नर के पास जाकर वादा कर आये कि वह मंत्रिमण्डल बनाने के लिए तैयार हैं तथा गवर्नर ने मंजूर कर लिया, और तब उन्होंने आकर पार्टी का सभा में--जो उनका इंतजार कर रही थी--यह खबर दी कि मंत्रिमण्डल की नियुक्त हो गई ! पार्टी इसके बाद कुछ न बोल सकी--शायद उसने भी अब इस विषय पर कुछ कहना फिजूल समझा। मालूम नहीं, सच क्या है !

इस सम्बन्ध में बिहार में एक बड़ी बात हो गई। हमको खबर मिली कि मि० यूनुस कांग्रेस के दूसरे मेम्बरों को तो नहीं फोड़ सके हैं, पर वह हरिजन-मेम्बर पर बहुत जोर डाल रहे हैं और उन्होंने श्री जगजीवनराम को मंत्रिमण्डल में एक स्थान देना मंजूर किया है। यह भी खबर लगी कि वह श्री जगजीवनराम को साथ लेकर गवर्नर के पास गये भी हैं अथवा कहीं अन्यत्र उनसे बातें करने के लिए उन्हें ले गये हैं ! सब लोग कुछ चिन्तित होने लगे कि शायद एक कांग्रेसी आदमी को भी फोड़ने में वह सफल न हो जायं ! पर मुझे इस बात की चिन्ता नहीं थी; क्योंकि मुझे पहले ही खबर मिल चुकी थी कि मि० यूनुस की कोशिश जरूर है, मगर श्री जगजीवनराम इस तरह बहकावे में आनेवाले नहीं हैं। अन्त में ऐसा ही हुआ। मंत्रिमण्डल बना; पर उसमें शामिल होने से श्री जगजीवनराम ने साफ इनकार कर दिया--कोई भी

दूसरा कांग्रेसी शरीक न हुआ। इस तरह यह पहला जबरदस्त प्रयत्न असफल रहा। मंत्रिमण्डल बनने से हमें कोई चिन्ता नहीं थी; क्योंकि हम जानते थे कि छह महीनों के अन्दर या तो मंत्रिमण्डल टूटेगा या विधान ही रद होगा या उसे बदलना पड़ेगा। कारण यह कि इतने अधिक बहुमत से कांग्रेसी चुने हैं कि कोई दूसरी पार्टी या सभी दूसरे लोग मिलकर भी असेम्बली में कांग्रेस का मुकाबला नहीं कर सकेंगे--यदि असेम्बली और दोनों का संयुक्त अधिवेशन भी हो तो भी कांग्रेस का ही बहुमत रहेगा। जिस दिन मंत्रिमंडल बना उस दिन पटने में कुछ लोगों ने मि० यूनुस के विरूद्ध प्रदर्शन किया, जिनमें मुख्य थे श्री जयप्रकाशनारायण। वह गिरफ्तार कर लिये गये। उनपर मुकदमा चलने के बाद उनको कुछ सजा भी मिली। पर पीछे मि० यूनुस ने म्याद पूरी होने पर पहले ही उनको छोड़ दिया।

इसी तरह और सूबों में भी मंत्रिमण्डल बन गया। कम-से-कम यह दिखलाने के लिए हो गया कि नये विधान के अनुसार शासन होने लगा। पर यह बात गवर्नर लोग जानते थे और मंत्री लोग भी कि यह चन्दरोजा तमाशा है। वे लोग इस प्रयत्न में थे कि यदि वे फोड़फाड़कर बहुमत न बना सकेंगे तो कोई-न-कोई रास्ता कांग्रेस के साथ मेल करने का निकालना ही चाहिए। कांग्रेस में जो लोग मंत्रिमण्डल बनाने के विरोधी थे, खुश थे कि किसी तरह कांग्रेस तो इसमें नहीं पड़ी और उनकी अड़ंगा-नीति के काम में आने का अब भी मौका है। जो पक्ष में थे, वे यह समझते थे कि आज नहीं तो चन्द दिनों के बाद कांग्रेसी मंत्री होंगे ही और जब होंगे तब गवर्नर के विशेषाधिकारों को स्थगित करा करके ही होंगे। इसलिए, इस समय, इस सम्बन्ध में, कांग्रेसी निश्चिन्त थे। मंत्रिमण्डल अपने को लोकप्रिय बनाने की फिक्र में था और गवर्नर लोग तथा वायसराय इस चीज के हल निकालने में लगे थे। गवर्नमेण्ट की ओर से जब-तब विज्ञप्तियां निकलती और कांग्रेस की ओर से उनको ना-काफी बताकर छोड़ दिया जाता।

तीन महीनों के बाद वायसराय ने एक विज्ञप्ति निकाली, जिसपर वर्किंग कमिटी ने विचार करके कुछ और स्पष्टीकरण चाहा तथा कांग्रेस-पार्टी के नेताओं को आदेश दिया कि वह स्पष्टीकरण उनको संतोषदायक मालूम हो तो वे मंत्रिपद ग्रहण कर सकते हैं। बात यह थी कि ब्रिटिश सरकार यह बात साफ-साफ शब्दों में तो कह नहीं सकती थी कि विधान की कुछ धाराएं उड़ा दी गईं; क्योंकि उसको यह कहने का अधिकार

भी नहीं था। पर उसने अपनी नीति घुमा-फिराकर बता दी कि अधिकार रखते हुए भी गवर्नर उनसे काम नहीं लेंगे। चूंकि यह बात स्पष्ट शब्दों में नहीं कही गई थी, स्पष्टीकरण आवश्यक था। वर्किंग कमिटी के इस निश्चय के बाद मालूम हो गया कि अब शीघ्र ही फिर कांग्रेसी लोग मंत्रिमण्डल बनाने के लिए बुलाये जायंगे।

इसी समय बिहार-प्रान्तीय कान्फ्रेन्स का अधिवेशन सारन जिले के 'मसरक' गांव में करने का निश्चय हुआ था। प्रोफेसर अब्दुल बारी इसके सभापति मनोनीत हुए थे। वहां हम सब गये और कान्फ्रेन्स का काम समाप्त करके छपरे पहुंचे। वहीं मालूम हुआ कि मंत्रिमण्डल के सम्बन्ध में हम कुछ बातें कर लें। पर अभीतक हम यही निश्चय कर सकते थे कि वर्किंग कमिटी के आदेशानुसार यदि स्पष्टीकरण संतोषजनक होता है तो हम मंत्रिमण्डल बनाने के लिए तैयार हैं--यदि गवर्नर मंत्रिमण्डल बनाने को कहें तो इसके लिए समय लेकर श्रीकृष्णबाबू वापस आ जायंगे और तब हम लोग एकत्र बैठकर विचार कर लेंगे कि कौन-कौन मंत्रिमण्डल में लिये जायं। छपरे में कुछ आरम्भिक बातें हो गईं। विचार-विनिमय भी हो गया, जिसके आधार पर हम चन्द आदमी, जो वहां मिले थे, इस बीच में सोच सकेंगे।

मंत्रियों को चुनना कठिन समस्या थी। पहली बात तो यह थी कि कितने मंत्री हों। मेरा विचार था कि इसके पहले चार आदमी थे, जो शासन के सारे काम को संभालते थे और जो सभी विभागों की निगरानी कर लिया करते थे। इनमें दो तो गवर्नर के एक्जिक्यूटिव-कौन्सिल-मेम्बर हुआ करते थे और दो मंत्री। इसलिए मैं समझता था कि जब इस नये विधान के पहले चार आदमी सब काम संभाल लेते थे तो अब भी चार मंत्रियों को ही सब काम संभाल लेना चाहिए। अधिक मंत्री बनाने से खर्च अधिक होगा और कुछ ऐसा मालूम होगा कि ये लोग अपने लिए पद पाने की अभिलाषा से आये हैं तथा जितना हो सकता है उनने पद पैदा करके आपस में बंटवारा कर रहे हैं। जहां-जहां मंत्रिमंडल पक्के तौर पर बना था, मंत्रियों की संख्या अधिक रखी गई थी और हमने इस बात पर कुछ टीका भी की थी। यद्यपि कांग्रेस के मंत्रियों के लिए अखिल भारतीय कमिटी ने मकान और सवारी के अलावा पांच सौ रूपये मासिक नियत कर दिया था, और इस तरह खर्च बहुत कम हो जाता था, तो भी मैं इस विचार में दृढ़ था कि मंत्रियों की संख्या अधिक न होनी चाहिए--विशेषकर बिहार में चार से अधिक की गुंजाइश नहीं है। मुझे यह कह देना उचित मालूम होता

है कि पीछे मैंने देखा कि मेरा विचार गलत था; क्योंकि हमारे सभी मंत्री इस प्रकार के काम में अभी नौसिखिए थे और पहले का कुछ विशेष अनुभव नहीं रखते थे। इसके अलावा हमारे मंत्रियों को पहले के चलाये हुए ढर्रे पर ही काम नहीं करना था--लकीर नहीं पीटनी थी; उनको बहुतेरे नये प्रोग्राम चलाने थे, इसलिए उन प्रोग्रामों के सम्बन्ध में जानकारी हासिल करने और विचार निश्चित करने में समय लगनेवाला था। अतः कुछ दिनों के अनुभव के बाद मैंने सोचा कि शायद चार से अधिक मंत्री रखना ही अच्छा होता। पर उस दिन मैं अपने विचार में दृढ़ था और सोचता था कि चार से अधिक मंत्री रखना बिहार के लिए उचित न होगा।

इसके अलावा एक बात और थी, जिसका कुछ-न-कुछ असर इस निश्चय पर पहुंचने में जरूर पड़ता था। हम लोग सोच रहे थे कि प्रान्त में कुछ ऐसे प्रमुख व्यक्ति हैं, जिनके सम्बन्ध में किसी किस्म का मतभेद नहीं हो सकता; पर जब हम उनसे आगे बढ़ते थे तो कुछ ऐसे लोग सामने आ जाते थे जिनमें से चुनाव करने में--किनको लेना, किनको न लेना, यह निश्चय करने में--काफी कठिनाई सामने आती थी। इसलिए भी विचार होता कि उन प्रमुख व्यक्तियों तक ही यदि हम अपना चुनाव परिमित रखें तो बुरा न होगा।

एक-दो और बातों का भी उल्लेख उचित होगा। इस विषय में प्रायः सभी सहमत हो गये थे कि एक हरिजन का मंत्री बनना आवश्यक है। यदि और विचारों को छोड़ भी दिया जाय, तो भी उन्होंने मि० यूनुस की बात न मानकर--बहुत बड़े प्रलोभन का लोभ संवरण करके--मंत्रिपद के लिए अपना दावा साबित कर दिया है। इसलिए यह एक निर्विवाद बात सबके मन में खुद-बखुद तय हो चुकी थी।

हजारीबाग के श्री रामनारायणसिंह चाहते थे कि छोटा नागपुर की ओर से वहां का कोई मंत्री अवश्य नियुक्त किया जाय। उनका कहना था कि सूबे का वह हिस्सा पिछड़ा हुआ माना जाता है और कांग्रेस भी उसकी ओर पूरा ध्यान नहीं देती। इसकी शिकायत वह हमसे मित्र भाव से बराबर किया करते थे कि मैं भी उस हिस्से पर काफी ध्यान नहीं देता हूं। इसके समर्थन में वह कहा करते थे कि मैं वहां जाकर कभी कुछ दिनों के लिए नहीं रहता हूं। मैं भी उनसे मजाक में कहा करता था कि पिछले बीस-बाईस बरसों में जितना मैं एकसाथ छोटानागपुर में रहा हूं उतना किसी दूसरे एक स्थान में नहीं; क्योंकि जेल-जीवन बराबर हजारीबाग में ही काटना पड़ा है। यह

मजाक के लिए तो ठीक उत्तर होता; पर उनको इससे संतोष नहीं हो पाता। इसलिए उन्होंने जोर लगाया कि छोटा नागपुर का भी एक मंत्री अवश्य होना चाहिए। वह स्वयं वहां के प्रमुख काम करनेवाले थे। उस समय वह केन्द्रीय असेम्बली के मेम्बर थे। प्रान्तीय चुनाव के समय वह प्रान्तीय असेम्बली के लिए खड़े नहीं हुए थे। इसलिए, यदि वह मंत्री बनाये जाते तो इसका यह अर्थ होता कि कहीं जगह खाली करके उनके स्थान पर कुछ दिनों के अन्दर प्रान्तीय असेम्बली का मेम्बर भी बनवाना पड़ता। जो चुने हुए कांग्रेसी लोग थे, वे इसे बहुत बुरा मानते; क्योंकि वे यह मानते, और ठीक ही मानते कि उनमें कोई इस पद के योग्य नहीं समझा गया, इसलिए चुने हुए लोगों को छोड़कर बाहर से एक आदमी लेना पड़ा है। इन विचारों से उनको मंत्रिमण्डल में लेना असम्भव हो गया। इससे वह बहुत असन्तुष्ट हुए। उन्होंने मेरे पास कई पत्र भी भेजे जिनका मैंने उत्तर तो दिया, पर शायद उन्हें सन्तोष न दे सका। सार्वजनिक जीवन में ऐसा कभी-कभी करना पड़ता है। मुझ-जैसे आदमी के लिए, जैसे किसी के साथ कटुता पैदा करने में बहुत दुःख होता है, ऐसा अनचाहा काम भारी मुश्किल पेश कर देता है। पर कर्तव्य की दृष्टि से आज भी मैं समझता हूं कि इस सम्बन्ध में मेरा जो निश्चय हुआ वह ठीक ही हुआ।

अन्त में, हमको एक और कठिनाई सुलझानी थी। हरिजनों में दो प्रमुख कांग्रेसी थे--एक श्री जगलाल चौधरी, जो १९२० में कलकत्ता-मेडिकल-कालेज के अन्तिम दर्जे में पढ़ रहे थे और कुछ महीनों में ही एम० बी० पास करके डाक्टर हो जानेवाले थे। वह कांग्रेस की पुकार पर परीक्षा छोड़कर, तब से बराबर एकचित्त हो कांग्रेस की सेवा में, विशेषतः रचनात्मक काम में लगे रहे--वह सत्याग्रह में भी भाग लेकर जेल-यात्रा कर आये थे; दूसरे थे श्री जगजीवनराम, जो बड़े उत्साही और सुयोग्य कार्यकर्ता थे, थोड़े दिनों से ही कांग्रेस का काम करने पर भी काफी प्रभाव रखते थे और मि० यूनुस की दी गई मिनिस्ट्री ठुकरा चुके थे। सब बातों पर बहुत सोचने के बाद हमने श्री जगलाल चौधरी को मंत्री और श्री जगजीवनराम को पार्लमेण्टरी सेक्रेटरी बनाने का निश्चय किया।

: १२१ :

कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों का निर्माण

इस तरह, हमने निश्चय कर लिया कि श्री श्रीकृष्णसिंह प्रधान मंत्री हों । उनके साथ डाक्टर सैयद महमूद, श्री अनुग्रहनारायणसिंह और श्री जगलालचौधरी मंत्री हों तथा चार मंत्रियों के साथ आठ पार्लमेण्टरी सेक्रेटरी हों । श्री रामदयालुसिंह स्पीकर मुकर्रर हो ही चुके थे और प्रो० अब्दुल बारी डिप्टी-स्पीकर । पार्लमेण्टरी सेक्रेटरियों में श्री कृष्णवल्लभसहाय, श्री शारंगधरसिंह, श्री जीमूतवाहन सेन, श्री विनोदानन्द झा, श्री शिवनन्दन मंडल, श्री जगजीवनराम और श्री सदीदुल हक नियुक्त किये गये । उस समय मैंने समझा कि ये नियुक्तियां ठीक की गई थीं और पीछे भी मुझे अपनी राय बदलने का मौका न हुआ--यद्यपि कुछ लोगों का विचार था कि इससे बेहतर चुनाव हो सकते थे । जहांतक मैं समझ सका, सभी मन्त्रियों की भी इस बात में मेरे साथ सहमति थी ।

मैं दो बातों का कहना भूल गया--यद्यपि उनको पहले की कहना चाहता था । एक बात का सम्बन्ध था प्रान्तीय लेजिसलेटिव-कौन्सिल के चुनाव के साथ और दूसरी बात थी असेम्बली के सभापति या स्पीकर के चुनाव की । कौन्सिल के मतदाता अधिकतर ऐसे ही लोग हैं, जो धनी-वर्ग के हैं, अर्थातं जिनमें जमींदारी का अधिक मालिया देनेवालों अथवा काफी इनकम-टैक्स देनेवालों की ही संख्या ज्यादा है । इसलिए हमको जैसे जमींदारी की जगहों के चुनाव में जीतने की आशा नहीं थी, वैसे ही इन जगहों के जीतने में भी कम आशा थी । पर इसमें दो तरह से सदस्य चुने जाते हैं--कुछ तो ऐसे होते हैं जो मतदाता द्वारा चुने जाते हैं और कुछ असेम्बली के मेम्बरों द्वारा । असेम्बली द्वारा चुने जानेवाले लोगों में तो कांग्रेसी लोग काफ़ी लोगों को चुन ले सकते थे; पर मतदाताओं में उनके उतने अधिक मददगार शायद नहीं थे । इसलिए हमने पहले से ही सोच रखा था कि हम सभी जगहों के लिए उम्मीदवार नहीं खड़े करेंगे । पर जो चन्द जगहें मिल सकती थीं, उनके लिए हमने खड़े किये और जीते भी; पर हमारी शक्ति असेम्बली द्वारा ही प्रदर्शित हो सकती थी ।

स्पीकर का चुनाव करने के लिए एक दिन असेम्बली की बैठक हुई । उस दिन

के लिए गवर्नर ने श्री सच्चिदानन्दसिंह को सभापति नियुक्त कर दिया था। मैं भी उसी एक दिन असेम्बली में गया। उसके बाद भी फिर कभी जाने का सुअवसर नहीं मिला। खैर, श्री रामदयालुसिंह चुने गये। चुनाव के बाद श्री सच्चिदानन्दसिंह ने एक मजेदार भाषण किया, जिसमें उन्होंने रामदयालुबाबू का स्वागत करते हुए मेरे एक भाषण का उद्धरण दिया था। उस उद्धरण में कहा गया था कि जो उम्मीदवार कांग्रेस की तरफ से चुने जाते हैं वे तो कांग्रेस के नियन्त्रण में और उसकी नीतियों तथा नियमों के बन्धन में रहेंगे; पर जो स्वतन्त्र रूप से चुने जाने के लिए खड़े हुए हैं, वे छुट्टे सांड़ हैं, जिनपर किसी प्रकार का बन्धन अथवा नियन्त्रण नहीं है। मेरे इसी वाक्य को लेकर उन्होंने बड़ा मजाक किया था।

इस तरह मन्त्रिमण्डल मुकर्रर हो गया। मैंने नियुक्ति के दिन ही मन्त्रियों से कहा कि सबसे अच्छा तो यह होगा कि कुछ दिनों तक सभी मन्त्री एक ही साथ रहें, यदि ऐसा न हो सके तो किसी-न-किसी बहाने वे प्रतिदिन आपस में मिलकर अपने सभी विभागों के सम्बन्ध में बेजाब्ता तरीके पर विचार-विनिमय कर लिया करें; इस तरह सभी विभागों के काम से सबका परिचय रहेगा और सभी को किसी भी महत्त्वपूर्ण निश्चय पर पहुंचने के पहले दूसरों के विचारों एवं अनुभवों का लाभ मिल जायगा--विशेषकर जब कभी कोई महत्त्वपूर्ण विषय उपस्थित हो अथवा किसी विशेष स्थान के लिए कोई नई नियुक्ति करनी हो तो आपस में जरूर विचार-विमर्श कर लिया करें। यह इसलिए भी आवश्यक था कि अभी इस तरह के काम में सभी अनुभवहीन थे और सबके लिए यह आवश्यक था कि हमेशा चौकन्ने रहकर एक-दूसरे के अनुभवों से लाभ उठाते रहें। पर खेद है कि ऐसा हो नहीं सकता! पीछे मालूम हुआ कि सब मन्त्रियों को अपने विभाग के सिवा दूसरे विभागों की जानकारी नहीं रहती थी। इससे कहीं-कहीं कुछ शिकायतें भी पैदा हो गईं। बम्बई में श्री खेर ने इस नीति को शुरू से ही बर्ता। वहां के मन्त्री प्रायः प्रतिदिन एकत्र मिल लिया करते और इस प्रकार एक-दूसरे की कार्रवाइयों से पूरी तरह परिचित रहते। युक्त-प्रदेश और मद्रास में तो श्री गोविन्दवल्लभ पन्त और श्री राजगोपालाचारी का ऐसा व्यक्तित्व ही था कि वे स्वयं मन्त्रियों की कार्रवाइयों से अपने को पूरी तरह परिचित रखते; इस तरह वहां भी ठीक काम चलता रहा।

मुझे मिनिस्ट्री के सिलसिले में उड़ीसा भी जाना पड़ा। वहां पार्टी के नेता के

चुनाव के समय आपसं का मतभेद मालूम हुआ था। यह बात पार्लमेण्टरी कमिटी तक आई थी। पं० नीलकण्ठदास उड़ीसा के प्रमुख व्यक्तियों में हैं। १६२१ से ही उन्होंने कांग्रेस में बहुत काम किया था। वह स्वर्गीय पं० गोपबन्धुदास के सहकर्मियों में से थे। १६३०-३४ के सत्याग्रह-आन्दोलन में हम लोगों के साथ ही वह हजारीबाग-जेल में थे। उन दिनों भी उनकी राय मालूम होती थी कि जो नया विधान बने, उसमें कांग्रेस को मन्त्रिपद स्वीकार करना चाहिए। जब १६३४ में केन्द्रीय असेम्बली के लिए चुनाव हुआ तो वह उड़ीसा के क्षेत्र से कांग्रेसी सदस्य चुने गये थे। १६३७ में नये विधान के अनुसार जब बिहार से उड़ीसा अलग हो चुका था, उसकी असेम्बली के लिए सदस्यों का चुनाव हुआ तो वह स्वयं किसी क्षेत्र से प्रान्तीय असेम्बली के लिए खड़े नहीं हुए। पर जब कांग्रेस मन्त्रिपद लेगी तो असेम्बली का नेता ही प्रधानमन्त्री होगा, तब उन्होंने वहां के मेम्बरों से नेता चुने जाने की इच्छा प्रकट की। प्रान्तीय चुनाव में उन्होंने परिश्रम भी किया था। उस चुनाव की सफलता में उनका हाथ था। पर वहां के सदस्यों के सामने अब यह प्रश्न उपस्थित हो गया कि किसी ऐसे आदमी को, जो असेम्बली का सदस्य नहीं था, असेम्बली पार्टी का नेता कैसे चुनें। असेम्बली-पार्टी के नेता को असेम्बली में हाजिर रहना चाहिए। वहां रहकर ही वह अपना काम पूरा कर सकता है। इसके अलावा, यदि गवर्नर बुलावेगा तो वह असेम्बली के किसी सदस्य को ही बुलाना चाहेगा, और किसी बाहर के व्यक्ति को बुलाने में उसे दिक्कत होगी। यह दूसरी बात है कि बाहर का आदमी भी इस शर्त पर मंत्री हो सकता है कि छः महीनों के अन्दर वह कहीं से सदस्य चुना जायगा। पर पं० नीलकण्ठदास केवल मंत्री होना नहीं चाहते थे। वह प्रधानमन्त्री ही हो सकते थे; क्योंकि वही पद उनके योग्य था। पार्लमेण्टरी कमिटी की राय हुई थी कि मेम्बरों में से ही कोई नेता चुना जा सकता है। इसलिए श्री विश्वनाथदास ही नेता चुने गये, जो ब्रह्मपुर जिले के रहनेवाले हैं और जो पहले मद्रास-असेम्बली के मेम्बर रह चुके थे जब उनका यह जिला मद्रास-प्रान्त का भाग था।

मुझे इसलिए जाना पड़ा कि वहां आपस के इन झगड़ों से कुछ मतभेद होने का भय था। मैं वहां गया। सबसे नाजुक प्रश्न यह उठा कि मुसलमानों में मंत्री कौन बनाया जाय।वहां की असेम्बली में मुसलमानों की संख्या बहुत थोड़ी है। जो चन्द-रोजा मंत्रिमंडल बना था, उसमें एक मुसलमान सज्जन थे। दूसरा कोई ऐसा

व्यक्ति नहीं नजर आया जो कांग्रेस की ओर से चुना गया हो और मंत्री का काम कर सकता हो। जो ऐसे व्यक्ति थे, जिनमें काम चलाने की योग्यता थी, कांग्रेस-टिकट पर चुने नहीं गये थे और अब भी कांग्रेस में शरीक होने के लिए तैयार न थे। मैं दो या तीन दिनों तक कटक में ठहरा रहा। इस बात की पूरी कोशिश हुई कि कोई उपयुक्त मुसलमान मंत्री बनाया जाय; पर इसमें सफलता नही हुई। अन्त में, बिना किसी मुसलमान के ही उस समय मंत्रिमण्डल बना दिया गया; पर इस बात का अन्तिम निर्णय पीछे मौलाना आजाद से पूछ करके करने पर छोड़ दिया गया।

संयुक्त-प्रदेश में भी मुसलमान मंत्री के सम्बन्ध में दिक्कत थी; क्योंकि वहां भी कांग्रेस-टिकट पर एक ही दो मुसलमान चुने गये थे, दूसरे लोग स्वतन्त्र रूप से चुने गये थे। मौलाना आजाद ने वहां के सम्बन्ध में बातें की थीं। कुछ मुसलमान--जो कांग्रेस से सहानुभूति रखते थे, पर कांग्रेस की ओर से चुने नहीं गये थे--मौलाना के साथ कुछ समझौते के लिए तैयार थे। यदि वह समझौता हो गया होता, तो शायद जो झगड़ा लीग के साथ उठ खड़ा हुआ वह नहीं होता। पर उस समय प्रान्त के प्रमुख कांग्रेसी इस बात पर राजी नहीं हुए। मौलाना को भी वहां ठहरने का पूरा समय न मिला--बम्बई चला जाना पड़ा। इसलिए वहां के मंत्रिमण्डल में एक कांग्रेसी मुसलमान श्री रफीअहमद किदवई और--दूसरे जो कांग्रेस-टिकट पर नहीं चुने गये थे--हाफिज अहमद इब्राहिम मंत्री बनाये गये। यहां यह कह देना उचित है कि हाफिजसाहब ने असेम्बली से इस्तीफा दे दिया और फिर कांग्रेस-टिकट पर चुन लिये गये। बम्बई की दिक्कत मौलाना की राय से तय हो गई और मिस्टर नूरी मंत्री बने। इसी तरह मध्यप्रदेश में भी मि० शरीफ मंत्री हुए।

मुसलमान-मंत्रियों के सम्बन्ध में इतना लिखना इसलिए आवश्यक हो गया कि पीछे चलकर मुस्लिम लीग ने इस विषय को लेकर बहुत हो-हल्ला मचाया। उस समय तक कांग्रेसी और दूसरे लोग, चुनावों में तथा विधान के अनुसार बन हुए मंत्रिमंडलों में, इंगलैंड के मंत्रिमंडल-जैसा ही चित्र देख रहे थे। वे लोग वहां की रीति-नीति के अनुसार ही यहां के मंत्रिमण्डल का भी संगठन और उसकी कार्रवाइयां करना चाहते थे। इसी कारण सभी नये दल भी बने थे, जैसे बिहार की इंडिपेण्डेण्ट-पार्टी। चुनाव के बाद जब एक पार्टी यानी कांग्रेस का बहुमत कई सूबों में जबरदस्त हो गया तो उसको अपने दल के बाहर से किसी मंत्री बनाने की बात इस प्रकार की

विधानकार्य-प्रणाली के विरूद्ध मालूम हुई। साथ ही, कांग्रेस-दल में भी मुसलमान थे। उनको छोड़कर बाहर जाना उनके प्रति अन्याय होता था। चुनाव तक मुस्लिम लीग का कुछ वैसा जोर भी नहीं था। बहुत कम जगहों के लिए मुस्लिम लीग ने उम्मीदवार खड़े किये थे। जहां उसके उम्मीदवार खड़े हुए, बहुत सफल भी नहीं हुए थे। इस कारण, मुस्लिम लीग के लिए, मंत्री बनाना, प्रायः सभी जगहों में, जहां कांग्रेस का बहुमत था, अवैध होता। कांग्रेस ने एक घोषणा-पत्र के अनुसार चुनाव को लड़कर जीता था। उसके अनुसार काम करना उसका कर्तव्य था। उसी के सभी मेम्बरों ने सौगन्ध ली थी कि उसके आज्ञानुसार वे काम करेंगे और अब आज्ञा होगी तब पद-त्याग कर देंगे।

कांग्रेस के पास पद-त्याग का एक अस्त्र था, जिसके द्वारा वह, वैध रीति से मतभेद होने पर, गवर्नर को दबा सकती थी। यदि वह किसी गैर-कांग्रेसी को, बिना इन शर्तों को कबूल कराये, मंत्री बना देती तो उसके हाथ में कोई दूसरा अस्त्र रह ही नहीं जाता, जिसके द्वारा गवर्नर पर वह अपना प्रभाव जता सकती। वैधानिक मंत्रिमंडल में सभी की समान जवाबदेही मानी जाती है, जिसका अर्थ यह होता है कि चाहे किसी भी मंत्री ने कोई भी काम किया हो उसकी जवाबदेही उसके सभी साथियों पर है। इस तरह सभी एक-दूसरे की मदद करते हैं और एक-दूसरे की कार्रवाइयों पर अंकुश भी रखते हैं। यदि मतभेद हो गया तो जो बहुमत से अलग राय रखता है, उसे हट जाना पड़ता है। यदि दो संस्थाओं की आज्ञाओं को मानने के लिए बाध्य अथवा बचनबद्ध मंत्री कहीं किसी मंत्रिमंडल में हो, और उन दोनों संस्थाओं के एकसाथ मिलकर काम करने का निश्चय और प्रबन्ध न कर लिया हो, तो हो सकता है कि दोनों संस्थाओं की विरोधी आज्ञाएं आवें और मंत्री लोग अपनी-अपनी संस्था की आज्ञा का पालन करें, तो मंत्रिमण्डल की कार्रवाइयों में ही विरोध पैदा हो जाय। इसलिए, यह आवश्यक था कि मंत्रिमण्डल के सभी मंत्री किसी एक ही संस्था के हुकुम मानने के लिए बाध्य या वचनबद्ध हों, अथवा आपस में कम-से-कम कुछ ऐसा समझौता हो जिससे इस प्रकार के विरोधी कार्यक्रम उपस्थित न हो सकें, और अगर हों भी तो उनका निपटारा शीघ्रता और बिना कटुता के हो जाय। जब किसी धारा-सभा में, जहां इस तरह का वैधानिक मंत्रिमंडल काम करना हो किसी एक दल का बहुमत नहीं होता और मंत्रिमण्डल एक से अधिक दलों में से लिये हुए लोगों से

बनता है, तब वहां पहले से उन दलों में बातचीत करके इसके लिए रास्ता तय कर लिया जाता है। फिर जब कभी मतभेद हुआ तो जिस दल के मंत्री से मतभेद होता है वह मंत्रिमंडल से अपने मंत्री को हटा लेता है और दूसरे मंत्रियों को अपने दल की सहायता से वंचित कर देता है। यहांपर यह बात इसलिए नहीं हुई कि यहां कांग्रेस का इतना बड़ा बहुमत था कि और सभी दल यदि एकसाथ मिलते तो भी कांग्रेस अकेले ही उन सबसे कहीं अधिक सदस्यों को अपनी तरफ से खड़ा कर सकती और सबको अकेले ही वोट में हरा देती। यहां किसी दूसरे दल के साथ समझौते का प्रश्न उठता ही नहीं था। तो भी जहांतक मुसलमानों का सवाल था, हमने प्रयत्न किया कि दूसरे दल के मुसलमानों के साथ हम समझौता कर लें, पर हुआ नहीं।

हमने उस समय समझा था और आज भी मेरी वही राय है कि वैधानिक विचार से कांग्रेस ने कोई गलती नहीं की। हां, यह दूसरी बात है कि उसको इंगलैंड के विधान का अनुसरण नहीं करना चाहिए था और जो प्रजातंत्र के प्रचलित नियम तथा रीति-नीति हैं, उनसे अलग अपना नियम और अपनी नीति-रीति बनानी चाहिए थी। किसी ने उस समय इस तरह की बात कही भी नहीं और मैं नहीं जानता कि मुस्लिम लीग के सिवा आज भी कोई विचारशील व्यक्ति अथवा संस्था है, जो यह कहे कि भारतवर्ष में प्रजातन्त्र नहीं चल सकता और नहीं चलना चाहिए। यदि प्रजातन्त्र न चलना हो तो देश कोई दूसरा विधान, जो उचित समझे, बनावे। पर जब-तक प्रचलित प्रजातन्त्रों के रास्ते पर हमको चलना है, उस प्रजातन्त्र के नियमों और रीति-नीति से हम अपने को अलग नहीं कर सकते। मैं यह भी मानता हूं कि देश कभी प्रजातन्त्र को छोड़ किसी अन्य प्रकार के विधान को मानेगा और इसमें, मैं मानता हूं, हिन्दू और मुसलमान तथा सभी दूसरे लोग सहमत होंगे। प्रजातन्त्र को छोड़ने का अर्थ होता है किसी एक व्यक्ति अथवा किसी एक गुट के हाथों में भारत के भाग्य का निर्णय सौंप देना--भारत के शासन की बागडोर दे देना। मैं नहीं मानता कि मुसलमान भी यह चाहते हैं कि जनता के हाथों में अधिकार न देकर किसी एक व्यक्ति या गुट के हाथों में दे दिया जाय। दूसरे किसी की ओर से किसी संस्था ने आजतक इस तरह की बात कही भी नहीं है कि भारत में प्रजातन्त्र नहीं होना चाहिए और ना ही चल सकता है। वह थोड़े दिनों से केवल मुस्लिम लीग ने कहा है, और वह भी पूरे भारतवर्ष के लिए ही, केवल उसके सूबों के ही लिए नहीं; क्योंकि जबसे पाकिस्तान

की बात उठाई गई है, तबसे उसमें भी यह बात नहीं कही गई है कि पाकिस्तान में अथवा उस दूसरे हिस्से में--जिसे लीग के लोग हिन्दुस्तान कहते हैं--प्रजातन्त्र से अलग कोई दूसरा शासन-विधान होगा। पाकिस्तान और हिन्दुस्तान, दोनों में वहीं की जनता द्वारा मनोनीत सदस्य ही शासन करेंगे--कोई एक व्यक्ति अथवा गुट नहीं। जो हो, मन्त्रिमण्डल बनने के बाद--सच पूछिये तो कांग्रेस-मंत्रिमण्डल के इस्तीफा के बाद--इस तरह की बातें बहुत अधिक होने लगी हैं।

ठीक जुलाई १९३७ में तो नहीं--जब और सूबों में चन्दरोजा मन्त्रिमण्डलों ने इस्तीफे दे दिये और कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बन गये; पर उसके कुछ बाद सीमा-प्रान्त में भी, वहां के मन्त्रिमण्डल को इस्तीफा देना पड़ा। उन सूबे में, चुनाव के समय, कांग्रेस-दल के लोग ही सबसे अधिक चुने गए थे; पर उनकी संख्या इतनी ज्यादा नहीं थी--जैसा दूसरे सूबों में हुआ था--कि वह अकेले ही और सभी दलों को वोट में हरा दे। इसलिए वहां का मन्त्रिमण्डल और लोगों को मिलाकर कुछ देर तक चलता रहा; पर वह भी देर तक टिक न सका--उसे असेम्बली की बैठक के बाद इस्तीफा देना पड़ा। दूसरे सूबों में असेम्बली की बैठक के पहले ही चन्दरोजा मन्त्रिमण्डलों ने इस्तीफे दे दिये। मौलाना अबुलकलाम आजाद के साथ मुझे वहां भी जाना पड़ा और वहां के मन्त्रिमण्डल के संगठन में मदद करनी पड़ी। इसमें कुछ अधिक कठिनाई नहीं पड़ी। जो कुछ करना था, मौलाना साहब ने ही किया। सबसे बड़ी बात यह थी कि डाक्टर खान साहब और खान अब्दुल गफ्फार खां के रहते कुछ अधिक करने की जरूरत ही नहीं थी। मैंने तो इस अवसर को उसे सूबे में जाने के लिए एक बहाना मात्र माना।

: १२२ :

सीमा-प्रान्त की यात्रा

सरहदी सूबे में मेरे जाने का यह पहला ही अवसर था। हम लोग पहले सीधे एबटाबाद गये, जहां उन दिनों गवर्नर रहते थे और जहां मन्त्रिमण्डल बनने की बातें हो रही थीं। यह एक पहाड़ी स्थान है, जहां गर्मियों के कारण वहां की असेम्बली की बैठक होती है। जाने के समय वहां पहुंचने पर बाजाब्ता जलूस की तैयारी थी। मौलानासाहब तो जलूस में शरीक नहीं हुए--मुझे होना पड़ा। पर रास्ते में ही पानी जोरों से बरसने लगा। हम सब भींग गये। जलूस भी तितर-बितर हो गया। मन्त्रिमण्डल के संगठन का काम पूरा करके हम लोग चन्द जगहों में चले गये। मानसेहरा एक जगह है, जो पहाड़ पर है और जहांपर डाक-बंगले से चारों ओर का बहुत ही सुन्दर दृश्य देखने में आता है। हम लोग वहां थोड़ी देर के लिए गये। वहां से हम पेशावर आये। फिर खान साहब के गांव 'उत्मानजई' में, चरसद्दा होते हुए गये। उनके बंगले पर कुछ देर तक ठहरे। वहां से आजाद इलाके को देखते हुए फिर पेशावर लौटे। दूसरे दिन हम दूसरी तरफ एक चक्कर लगा आये। फिर खैबर की घाटी पार करके अफगानिस्तान की सरहद तक पहुंचे, जहां ब्रिटिश-सरकार और अफगान-सरकार के सन्तरी अपनी-अपनी सरहद पर डटे पहरा देते रहते हैं। खैबर की घाटी एक विचित्र सौन्दर्य से पूर्ण घाटी है--यों तो पहाड़ बिलकुल बिना घास-पात और पेड़-पौधे के हैं, गर्मियों में मानों आग-से जलते रहते हैं; पर पहाड़ों के बीच होकर रास्ता बहुत ही सुन्दर और सुहावना मालूम होता है।

तमाम घाटी-भर में, जो कई मील लम्बी है, बचाव के लिए फौजी प्रबन्ध है। एक बड़ा किला बीच में है और एक जमरूद में जहां घाटी आरम्भ होती है। सड़क के पास-ही-पास रेल भी चलती है, जिसके बनाने में बहुत बुद्धि, कौशल और पैसे लगे होंगे। सारी घाटी में, सड़क को छोड़कर, ब्रिटिश की कोई चीज नहीं है। सुना कि केवल सड़क और उसके आसपास दोनों ओर की कुछ फुट चौड़ी जमीन ही ब्रिटिश की है तथा पास की आबादी सारी-की-सारी आजाद कौमों की है, जो अपने स्थान पर स्वतन्त्र हैं। उस आजाद इलाके में ब्रिटिश कानून नहीं चलता। इसलिए सड़क

से चन्द फुट बाहर यदि कोई वाकया हो जाय तो उसकी जांच ब्रिटिश अधिकारी नहीं कर सकते । सुनने में आया कि कभी-कभी ऐसा भी होता है कि यदि कोई यात्री सड़क से हटकर आजाद इलाके में चला जाता है तो उसे वहां के लोग अपने हक को कायम रखने और जताने के लिए, गोली मार देते हैं । हमने यह भी देखा कि आजाद इलाके के लोग जब घर से बाहर जाते हैं तो अपने साथ बन्दूक उसी तरह ले जाते हैं जिस तरह हमारे सूबे में कहीं-कहीं लोग लाठी-डण्डे लेकर निकलते हैं ।

वहां के गांव भी कुछ अनूठे ढंग के हैं । हर गांव में एक ऊंचा स्थान बना होता है, जो प्रायः किसी मकान में एक गुम्बद-जैसा रहता है जहां से आदमी चारों तरफ दूर तक देख सकता है । कबीले के लोग वहां से बराबर इस बात को देखा करते हैं कि कहीं किसी तरफ से कोई गांव पर हमला करने तो नहीं आ रहा है । वहां के लोग देखने में बहुत गरीब मालूम होते थे; क्योंकि जमीन उस पहाड़ी इलाके में कुछ बहुत अच्छी नहीं मालूम होती थी । पानी की बहुत दिक्कत थी । ये आजाद कबीले विशेषकर इस पहाड़ी इलाके में ही रहते हैं । पेशावर जिले के चरसद्दा के आसपास की जमीन, जहां स्वात और दूसरी नदियां हैं, बहुत अच्छी मालूम होती थी; मगर पहाड़ी जमीन उपजाऊ नहीं है । आजाद कबीलों की गरीबी ही उनकी अव्यवस्थित दशा का विशेष कारण है । मैं नहीं जानता कि उनकी आर्थिक दशा सुधारकर कभी उनके जीवन को सुव्यवस्थित बनाने को कोई भी प्रयत्न किया गया है । शायद ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की नीति उनको सदा अव्यवस्थित रहने देने की ही है; क्योंकि यदि इस ओर ध्यान दिया गया होता तो जितना खर्च वहां फौजी काम के लिए किया है और किया जाता रहता है, उतने खर्च में अबतक वह भू-भाग हरा-भरा बन गया होता--कबीलेवाले दूसरे सूबों के लोगों के साथ सभी बातों में मुकाबला करते होते । शायद जब-तक वे आजाद हैं तबतक ऐसा करना ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के लिए सम्भव नहीं । पर सुव्यवस्थित जीवनवाले आजाद अच्छे पड़ोसी भी तो हो सकते हैं । उन्हें आजाद रहने देकर भी उनकी शिक्षा और सुव्यवस्था में वह खर्च किया जा सकता था, जो खर्च उनको समय-समय पर तोपों और हवाई-जहाजों के गोलों का शिकार बनाकर दबाने में किया जाता है । वह खर्च उनके और भारत के--दोनों के लिए--ज्यादा लाभदायक होता ।

सीमाप्रान्त से लौटते समय मैं और मेरे साथी बाबू मथुराप्रसाद, जो मेरे साथ वहां गये थे, दोनों ही, रास्ते में पड़े तक्षशिला के खुदे हुए खंडहरों को देखने गये। वहां खुदाई से निकली हुई चीजों को वहां के अजायबघर में देखा। खंडहरों को तो घूम-घूमकर देखा। देखने से मालूम हुआ कि एक बहुत ही विस्तृत शहर वहां था, जिसमें चौड़ी सड़कें थीं और सड़कों के दोनों बगल मकान बने थे--मकानों में रहन-सहन और आराम के लिए सभी प्रकार का प्रबन्ध था। सबकुछ देखने से मालूम होता था कि ये एक अत्यन्त उन्नत स्थान के खंडहर हैं। ये प्राचीन भारत के उन स्मारकों में हैं, जिनके कारण आज भी हम अपना सिर ऊंचा रख सकते हैं। वहां एक जगत-प्रसिद्ध विद्यापीठ स्थापित था, जहां भारतवर्ष के सभी स्थानों में जाकर अपनी कीर्ति फैलाये हुए थे। हमने यह भी सुना कि सारे सीमाप्रान्त में बौद्धकालीन स्मारक पाये जाते हैं। यदि हम वहां कुछ दिन ठहर सकते तो इस प्रकार के स्मारकों को देख सकते, पर इसके लिए समय नहीं था। हमको इसके लिए भी समय न मिला कि हम कोहाट और डेरा-इस्माइल-खां के इलाके तक जा सकें। इसलिए हम केवल हजारा और पेशावर के कुछ हिस्सों को देखकर ही अफसोस के साथ वापस आये।

हम-जैसे बिहारी के लिए, जिसको दानापुर की फौजी छावनी के सिवा और कहीं कोई विशेष फौजी सामान या सैनिक पड़ाव देखने का मौका नहीं मिलता, सीमाप्रान्त एक बड़े फौजी अड्डे के समान जान पड़ा। जहां जाइये, जिधर जाइये, फौजी छावनी मौजूद है--फौजी सड़कें और फौजी अड्डे हर तरफ सामने आ जाते हैं। यह सिलसिला पंजाब से ही शुरू होता है और जैसे-जैसे पश्चिम की ओर बढ़ते जाइये, यह फौजी नजारे बढ़ते जाते हैं। सीमाप्रान्त तो मानो सारा-का-सारा फौजी अड्डा ही है।

खैबर की घाटी देखकर एक बात मन में आये बिना नहीं रह सकती। यह एक ऐसी घाटी है जहां बचाव बहुत आसानी से किया जा सकता था--विशेषकर जब हवाई जहाज नहीं थे। ईश्वर ने इस देश के उत्तर की ओर हिमालय खड़ा करके, पूर्वी और पश्चिमी सीमाओं पर पहाड़ी श्रेणियों की दीवारें खड़ी करके, एक ऐसी हदबन्दी कर दी है, जिसे तोड़कर कोई मनुष्य बाहर से भारत पर हमला नहीं कर सकता। इस तरह, एक तरफ प्रकृति ने जमीनी हमले से इस देश को सुरक्षित बना दिया और दूसरी तरफ समुद्र ने इसके लिए एक जबरदस्त खाई का काम किया। पर, तो भी, हम इस

देश के लोग इतने अभागे हैं कि इस बनी-बनाई घाटी की भी, आपस की फूट के कारण, रक्षा न कर सके। अंगरेजों के पहले, आज तक जितनी चढ़ाइयां भारत पर हुईं, प्रायः सभी इस घाटी के द्वारा ही हुई हैं। अंगरेज भी बराबर डरते रहे हैं कि कहीं रूस उस रास्ते से भारत पर चढ़ाई न कर दे। इसीलिए वहां फौज की इतनी तैयारी है। रूस का भय कम होने पर उनको जर्मनी का डर बना रहता है। शायद मुसलमानी देशों से भी वे डरते हैं! शायद अब, जब हवाई जहाजों का बोलबाला हो गया, उस घाटी का महत्त्व उतना न रहे: परन्तु इसपर दुःख हुए बिना नहीं रह सकता कि रक्षा की सभी सामग्रियां ईश्वर जुटा भी दे और मनुष्य अपने निकम्मेपन से उनका सदुपयोग न कर सके, तो उसकी रक्षा नहीं हो सकती। खैबर की घाटी और भारत का इतिहास इसके साक्षी हैं कि जो अपनी मदद नहीं करता उसकी मदद ईश्वर भी नहीं कर सकता, और जो ईश्वर-प्रदत्त साधनों को भी काम में लाने की योग्यता नहीं रखता, उसका पतन अवश्यम्भावी है। जैसे कन्याकुमारी में पहुंचकर भारत की महत्ता का आभास आंखों के सामने झलक गया था, वैसे ही खैबर की घाटी को देखकर भारतवासियों की अकर्मण्यता का चित्र आंखों के सामने नाचने लगा।

: १२३ :

मन्त्रिमण्डल की कुछ वैधानिक कठिनाइयां

मन्त्रिमण्डल का काम आरम्भ हो गया और चलने लगा। बिहार में एक प्रश्न शीघ्र ही सामने आया, जिसका सुलझाना कुछ कठिन था और जिसने पीछे हमारे लिए दिक्कतें पेश कीं। जब मिस्टर यूनुस मन्त्री हुए, उन्होंने सर सुलतान अहमद को बिहार का एडवोकेट-जनरल नियुक्त कर दिया। सर सुलतान कई वर्षों से सरकारी एडवोकेट थे। नये विधान में गवर्नमेण्ट-एडवोकेट की जगह एडवोकेट-जनरल नियुक्त करना था। वह उसी समय गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया में कुछ दिनों के लिए वायसराय के एक्जिक्यूटिव कौंसिल के मेम्बर नियुक्त हो गये। सुना गया कि उन्होंने वायसराय की कौंसिल में कांग्रेस के साथ समझौता कर लेने की बात पर जोर भी दिया था। जब वायसराय का वक्तव्य निकलने के बाद कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बना तब भी वह वाइसराय की कौन्सिल के मेम्बर थे। बिहार-मन्त्रिमण्डल के सामने यह प्रश्न आया कि वह नये सिरे से एडवोकेट-जनरल की नियुक्ति करे अथवा मिस्टर यूनुस की नियुक्ति को ही बहाल रखे।

एडवोकेट-जनरल सरकार और मन्त्रिमण्डल का प्रधान कानूनी सलाहकार होता है। नये विधान में उसको बिना मेम्बर हुए ही असेम्बली और कौन्सिल में किसी विषय पर भाषण करने का अधिकार है। यह अधिकार इसलिए दिया गया कि कोई कानूनी बहस उठ जाने पर एक ऐसा आदमी होना चाहिए, जो अधिकारपूर्वक सरकार और मन्त्रिमण्डल की ओर से बातें कर सके। इंगलैंड में सबसे बड़ा कानूनी अफसर, जो सभी जजों के भी ऊपर समझा जाता है, लार्डचान्सलर होता है। वह लार्ड-सभा में सभापति का काम करता है। जब उस सभा के सामने कानूनी तौर पर अपील पेश होती है तब भी वह सभापतित्व करता है। इसलिए वह हमेशा एक नामी कानूनदां आदमी हुआ करता है। यह तो हुई जजों के सरदार की बात। सबसे बड़ी कानूनी सलाह देनेवाला अटर्नी-जनरल भी मन्त्रिमण्डल का एक सदस्य हुआ करता है। वह कामन्स-सभा का मेम्बर होता है। इन दोनों स्थानों पर मंत्रिमण्डल के साथ ही नियुक्ति हुआ करती है, अर्थात जो प्रधानमन्त्री होता है, वही अपने अन्य साथी

मन्त्रियों के साथ-साथ इनकी नियुक्ति के लिए भी नाम दिया करता है और उन्हें ही सम्राट मुकर्रर कर देते हैं ।

हमारे यहां लोगों का विचार हुआ कि इंगलैंड में जो अटर्नी-जनरल का स्थान है, वही स्थान एडवोकेट-जनरल का भी होना चाहिए, उसकी नियुक्ति और इस्तीफा भी मन्त्रिमण्डल के साथ ही होना चाहिए । यदि गवर्नर के साथ मतभेद होने के कारण, अथवा असेम्बली के अविश्वास प्रकट करने के कारण, मन्त्रिमण्डल इस्तीफा दे तो उसे भी हटाना चाहिए । और, जो नया मन्त्रिमण्डल बने उसे नये आदमी को उस स्थान पर नियुक्त करने का अधिकार होना चाहिए--जैसा इंगलैंड में है । इसके लिए काफी कारण भी हैं । मन्त्रिमण्डल को ऐसा कानूनदां सलाहकार रखने का अधिकार होना चाहिए, जिसपर उसका विश्वास तो हो ही, वह उसके विचारों तथा कार्यक्रम से पूरी तरह परिचित एंव सहमत हो, ताकि वह मंत्रिमण्डल के कार्यक्रम चलाने में, कानूनी तौर पर हर तरह से, पूरी मदद कर सके । बिहार में मन्त्रिमण्डल के आगे सबसे बड़ा प्रश्न लगान-कानून के संशोधन का था । इस विषय में मतभेद का काफी जगह थी । मन्त्रिमण्डल का विचार था कि कोई पक्का कांग्रेसी जिसका विचार मंत्रिमण्डल के विचारों से मिलता हो, एडवोकेट-जनरल होना चाहिए । सर सुलतान कुछ ऐसे आदमी नहीं थे जो मन्त्रिमण्डल के 'हां' के 'हां' मिलाया करेंगे । यदि कहीं किसी विषय में मन्त्रिमण्डल से उनका मतभेद हो गया तो फिर मंत्रिमण्डल को उनके विचारों और उनकी योग्यता का लाभ नहीं मिलेगा । इसी कारण, इंगलैंड में भी अटर्नी जनरल मंत्रिमण्डल की पार्टी का ही आदमी हुआ करता है । यह सोचकर मन्त्रिमण्डल ने मेरी राय से निश्चय किया कि वह अपना एडवोकेट-जनरल नियुक्त करेगा । वह इस परिपाटी को चलाना भी चाहता था कि उसको अपना कानूनी सलाहकार चुनने और मुकर्रर करने का अधिकार होना चाहिए । यदि यह परिपाटी चल जाय तो वह केवल कांग्रेस के लिए ही नहीं होगी--चाहे जिस दल के लोग हों, जब अपना मन्त्रिमण्डल बनावेंगे तब अपना सलाहकार मुकर्रर करेंगे, इस परिपाटी से लाभ उठायेंगे ।

यही प्रश्न बम्बई प्रान्त में भी उपस्थित हुआ । वहां एक अंगरेज एडवोकेट-जनरल थे । कांग्रेस जिनको नियुक्त करना चाहती थी, वह सज्जन उस समय कहीं विदेश गये हुए थे । जब यह बात गवर्नर से कही गई तो उन्होंने यह मंजूर करना नहीं चाहा

कि मन्त्रिमण्डल को एडवोकेट-जनरल नियुक्त करने का अधिकार है। पर उन्होंने सर सुलतान को शायद सब बातें लिख भेंजी। सर सुलतान ने शिमले से इस्तीफा लिख भेजा। इत्तिफाक से केन्द्रीय सरकार में काम करनेवाली उनकी अवधि भी किसी कारण से बढ़ गई। इसलिए, देखने में तो मामला सुलझ गया और कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल ने श्री बलदेवसहाय को एडवोकेट-जनरल नियुक्त कर दिया; पर आगे चलकर मुसलमानों ने इस बात को हिन्दू-मुसलमान झगड़े का रूप दे दिया। कुछ कहने लगे कि सर सुलतान केवल इसलिए हटा दिये गये कि वह मुसलमान हैं। मैं तो इस विचार-विमर्श के समय मन्त्रिमण्डल के साथ बराबर रहा इसलिए मैं कह सकता हूं कि इस नियुक्ति के समय हिन्दू-मुस्लिम-प्रश्न किसी के ध्यान में एक मिनट के लिए भी न आया। प्रश्न यही था कि राजनैतिक दृष्टि से, और विशेषतः लगान-कानून के सुधार को सामने रखते हुए, किससे अधिक मदद मिलेगी तथा कानूनी सलाहकार की नियुक्ति में इंगलैंड की परिपाटी चलाना अच्छा होगा या नहीं। उसी परिपाटी के अनुसार विधान में ऐसे संशोधन कराने का सबका विचार था कि गवर्नर केवल वैधानिक गवर्नर रह जाय और सभी अधिकार मंत्रिमण्डल के हाथ में आ जाय। जब विधान में संशोधन अभी नहीं हो सकता तो कांग्रेस ने गर्वनरों से 'विशेष अधिकारों को न बर्तने का' वादा लेकर उस कमी को एक प्रकार से दूर कराया था। यह एक विषय और था, जिसमें यहां का विधान इंगलैंड के विधान के नजदीक पहुंचाया जा सकता और कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल ने उसी उद्देश्य से इस बात पर जोर दिया।

बम्बई में अंगरेज एडवोकेट-जनरल ने इस्तीफा दे दिया। किसी ने फिर इसकी कुछ शिकायत नहीं सुनी। पर बिहार में इसका वैधानिक रूप तह में डाल दिया गया, इसका साम्प्रदायिक महत्त्व हो गया। अफसोस की बात है; पर हम इस बात को आज भी मानते हैं कि ऐसा करने में मन्त्रिमण्डल ने साम्प्रदायिक विचारों को अपने नजदीक नहीं आने दिया। जब लगान-कानून का संशोधन पेश हुआ तो यह बात स्पष्ट हो गई। पर जहां साम्प्रदायिक बातें उठा दी जाती हैं, वहां हमारी आंखें और सब चीजों को देखने में असमर्थ हो जाती हैं।

: १२४ :

किसानों और जमींदारों का समझौता

मंत्रिमण्डल बनाने के बाद मेरे ऊपर इसकी जवाबदेही रही कि यथासाध्य मैं उनकी, विशेषकर बिहार में, आवश्यकतानुसार सहायता करूं। शुरू में ही मेरे सामने दो प्रश्न आ गये। संयुक्त प्रदेश में प्रधानमंत्री पंडित गोविन्दवल्लभ पन्त ने चाहा कि कानपुर में मिल-मजदूरों की स्थिति के सम्बन्ध में जांच की जाय और उनकी हालत सुधारने का भी प्रयत्न किया जाय। इसके लिए वह एक कमिटी बनाना चाहते थे। उन्होंने मुझे उसका अध्यक्ष बनाना चाहा। काम जरूरी था, पर मुझमें इसके लिए कोई विशेष योग्यता नहीं थी; क्योंकि मैंने न तो कभी मजदूरों के बीच कुछ काम किया था और न उनके विशेष प्रश्नों का अध्ययन ही। पन्तजी का विचार था कि एक प्रकार से यही मेरी विशेष योग्यता थी; क्योंकि मैं सब बातों को जानकर जो मुझे उचित जान पड़ेगा, कह सकूंगा और पूर्वार्जित कर्मों या विचारों के बन्धन से मुक्त होने के कारण मैं परिस्थिति के अध्ययन के आधार पर ही अपनी राय कायम करूंगा। इसके अलावा, वह यह भी समझते थे कि मुझमें मजदूर और मिल-मालिक दोनों पक्षों का विश्वास होगा और मेरी नियुक्ति से दोनों सन्तुष्ट होंगे। मैं पहले तो बहुत इनकार करता रहा, पर अन्त में मुझे इस पद को स्वीकार करना पड़ा। जिस समय मैं सीमाप्रान्त में वहां के मंत्रिमण्डल के संगठन के लिए जा रहा था, मैं लखनऊ में कुछ देर के लिए ठहर गया। एक प्रकार से इस कमिटी के काम का श्रीगणेश उसी समय हो गया, यद्यपि कार्यारम्भ उधर से लौटने के बाद ही हुआ।

दूसरा काम जो मुझे शीघ्र शुरू करना पड़ा, वह था अपने सूबे के किसानों और जमींदारों से बातचीत करके, लगान-कानून के संशोधन के लिए, यदि हो सके तो दोनों को एकमत कर देना। इसका आरम्भ भी मन्त्रिमण्डल बनने के थोड़े ही दिनों के बाद हुआ। जिस समय हम लोग १९३०-३४ के सत्याग्रह में लगे थे, बिहार के गवर्नर के प्रोत्साहन से यहां एक पार्टी बनी थी जिसका नाम था युनाइटेड-पार्टी। उस समय नये विधान के सम्बन्ध में इंगलैंड में बातें चल रही थीं। यह समझा जाता था कि नये विधान में कुछ-न-कुछ अधिकार तो जनता के प्रतिनिधियों को मिलेगा ही। इसलिए

यदि कोई ऐसी पार्टी बने, जो जनता द्वारा निर्वाचित हो सके और जो कांग्रेस-जैसी बिलकुल स्वतन्त्र न हो, तो सरकार के लिए भी वह सुविधाजनक होगी। इसी विचार से उस पार्टी के जन्म देने में उस समय के गवर्नर ने हाथ बंटाया था। उसी उद्देश्य से उस समय की कौन्सिल में जमींदारों की ओर से एक बिल पेश किया गया था, जिसके द्वारा लगान-कानून में कुछ संशोधन पेश किये गये थे। ये संशोधन किसानों के हक में ठीक थे। उम्मीद की गई थी कि इस तरह किसान, जिनकी संख्या स्वभावतः मतदाताओं में बहुत अधिक होगी, युनाइटेड-पार्टी के पक्ष में कर लिये जायेंगे और वह पार्टी चुनाव में सफल हो सकेगी। कुछ दूरदर्शी जमींदार यह भी जरूर सोचते थे कि जब इस प्रकार से किसानों के हाथ में अधिकार जा ही रहा है तो उनको खुश रखना ही हमारे लिए हितकर होगा। कुछ ऐसे भी जमींदार होंगे, जो किसानों की मांगों को न्याय मानते होंगे और इसलिए कानून में संशोधन जरूरी समझते होंगे। जो हो, कुछ ऐसे लोग भी, जो पहले किसानों में कुछ काम किया करते थे और जो किसानों के पथ-प्रदर्शक तथा नेता समझे जाते थे, इस पार्टी में शरीक हो गये।

स्वामी सहजानन्द ने किसान-सभा को जाग्रत बनाकर इसी बिल का विरोध किया। उस विरोध के लिए किसान संगठित भी हो गये। उन दिनों कांग्रेस गैरकानूनी संस्था थी। उसके नाम से कोई काम नहीं हो सकता था। उसके कार्यकर्ता भी बहुत बड़ी संख्या में, जो इस काम को कर सकते थे, जेलों में बन्द थे। इस विरोध का नतीजा यह हुआ कि संशोधनों में और संशोधन हुआ। अन्त में, जब हम लोग १९३४ में जेल से बाहर निकले तो हम लोगों से भी बातें हुईं कि संशोधन सबकी राय से किये जायं। हम लोगों के आदमी उन दिनों कौन्सिल में नहीं थे। बात इतनी आगे तक पहुंच गई थी कि हम कांग्रेस की ओर से विशेष कुछ कर भी नहीं सकते थे। जो कुछ संशोधन हुआ और उससे जो कुछ लाभ पहुंचा सकता था, वह किसानों को मिला, पर मामला तय नहीं हुआ। चुनाव के समय तक पार्टी भी कुछ असंगठित हो गई। चुनाव से यह भी पता चल गया कि किसानों को जमींदारों से मिलाने का प्रयत्न भी सफल नहीं हुआ। कांग्रेस के घोषणा-पत्र में किसानों की दशा सुधारने पर जोर दिया गया था। जमींदार भी जानते थे कि इस विषय में मन्त्रिमण्डल जरूर और जल्दी कुछ-न-कुछ करेगा ही। वे भी चाहते थे कि यदि सलाह से कोई बात हो जाय तो

उनके लिए भी अच्छा होगा; क्योंकि तब वे इस बदनामी से बच जायेंगे कि वे अपने स्वत्वों पर चिपके रहे और कांग्रेस ने जबरदस्ती कानून बनाकर किसानों की भलाई की। मंत्रिमंडल बनने के बाद ही उनके कुछ मुखिया मंत्रिमण्डल से मिले। उन्होंने यह सवाल पैदा किया कि लगान-कानून और किसानों की दशा सुधारने के सम्बन्ध में सरकार जो कुछ करना चाहे, उसके लिए जमींदारों से बातें कर ले। वे तैयार भी थे कि यथासाध्य वे सहायता करेंगे। मंत्रिमण्डल की राय हुई, जिससे मैं भी सहमत था कि लगान-कानून के संशोधन के सम्बन्ध में यदि कोई चीज बातचीत से तय हो जाय तो अच्छा होगा; क्योंकि उस हालत में जो भी कानून बनेगा वह जल्द और आसानी से असेम्बली तथा कौन्सिल में पास हो सकेगा। उससे किसानों को सरकार जल्द-से-जल्द लाभ भी दिलवा सकेगी और आपस का वैमनस्य भी घटेगा। जमींदार विरोध करके कानून का बनाना रोक तो नहीं सकेंगे; क्योंकि कांग्रेस का बहुत बड़ा बहुमत था, पर हर कदम पर हर वैध तरीके से बहस-मुबाहसे के द्वारा कुछ समय तक रोक सकेंगे।

कांग्रेस का निश्चय था नये विधान को नामंजूर करने अर्थात उसे विफल बनाने का। हो सकता है कि जल्द ही कुछ अनुभव के बाद मंत्रिपद छोड़ देने का निश्चय करना पड़े, इसलिए जो कुछ हो सके और जहांतक जल्द हो सके, जनता की सेवा और भलाई हो जाय तो ठीक रहेगा। इसके अलावा जमींदार धनी हैं, अपना प्रबन्ध कर लेने की शक्ति रखते हैं; पर किसान गरीब हैं और उतने संगठित नहीं हैं। कानून बनने पर भी उसको बेकार बनाने के हजारों तरीके वकील निकाल सकते हैं। यदि संशोधन झगड़े के बाद होगा तो सरकार की कोशिशों के बाद भी उससे लाभ उठाने में किसानों को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है। इन्सब विचारों से मंत्रिमण्डल ने, मेरी सम्मति से, चाहा कि यदि कोई बात सुलह से तय हो सके तो अच्छा होगा। हां, यदि सुलह के प्रयत्न से कोई सन्तोषजनक फल न निकले तो फिर जैसा मुनासिब होगा, किया जायगा। सुलह के प्रयत्न से, विशेषकर जब जमींदार भी उसे चाहते थे, लाभ ही होगा। इसलिए सोचा गया कि समय पाकर मैं उनसे बातचीत आरम्भ करूं। पार्लमेण्टरी-कमिटी के एक सदस्य मौलाना आजाद भी थे। जमींदार उनसे भी मिले। उन्होंने भी इस बात को पसन्द किया। इस तरह मौलाना आजाद और मैं, दोनों मिलकर, पटना में जमींदारों के प्रतिनिधियों से बातें

करने लगे ।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न यह भी था कि किसान-सभा अथवा उसके मुख्य कार्यकर्ताओं से हमारा क्या सम्बन्ध रहेगा । हम यह मानते थे कि कांग्रेस के प्रति किसानों का पूरा विश्वास था और हम भी उनके हितों का विचार करके, उनकी भलाई के लिए, जो कुछ हो सकता था, कर सकेंगे । हम जमींदारों और किसानों को छोड़ दें और वे आपस में समझौता कर लें तो यह सबसे अच्छा होगा । पर जहांतक हम देख और समझ सकते थे, इसकी आशा नहीं होती थी कि दोनों पक्ष किसी बात पर राजी हो सकेंगे । इसलिए हमको बीच में पड़ना ही पड़ेगा । हम कांग्रेस को इसके लिए योग्य भी समझते थे । हम जानते थे कि जब कोई बात समझौते से तय होती है तो उसमें किसी पक्ष की पूरी बात नहीं मानी जा सकती, दोनों को कुछ-न-कुछ उतरना या झुकना पड़ता है । इसलिए उन दोनों पर भार न छोड़कर यदि कांग्रेस ही यह काम कर ले तो बुरा न होगा । इसका एक नतीजा तो किसानों के हक में यह जरूर रहेगा कि जो रियायत उनको मिलेगा उसे वे खुले पेशानी ले सकेंगे और उससे जो ज्यादा वे जरूरी समझेंगे उसे मांगते रहेंगे; क्योंकि वे किसी समझौते के बन्धन से बंधे नहीं होंगे । यह बात जमींदारों से भी कह दी गई । उन्होंने भी इसे समझ लिया कि हम किसान-सभा की ओर से बातें नहीं कर रहे हैं, यद्यपि उनके नेताओं से भी हम सभी बातों में बराबर राय लेते रहेंगे ।

एक दूसरी बात और तय कर लेनी थी । क्या यह समझौता केवल लगान-कानून के सम्बन्ध में ही होगा अथवा यह अन्य विषयों से भी सम्बन्ध रखेगा ? सरकार की आमदनी बढ़ाने की जरूरत थी । इसके लिए वह एक नया 'कर' बैठाना चाहती थी, जिसमें जमींदारों को विशेष देना पड़ेगा । हमने सोच लिया कि हो सके तो उसको भी हम समझौता द्वारा ही तय कर लेंगे । कई दिनों तक बातचीत चली । सदाकत-आश्रम में ही बैठक होती । मैं कुछ अस्वस्थ भी था; इसलिए लोग मुझे आने-जाने के कष्ट से बचा देना भी चाहते थे । सभी प्रश्नों पर हम जमींदारों की राय सुन लेते, किसानों के नेताओं से भी बातें करके उनकी राय भी जान लेते । इस तरह, सब दृष्टिकोणों से पूरी तरह विचार करने के बाद, कुछ तय कर लेते, जिसे हम और जमींदार दोनों स्वीकार करते ।

तीन-चार प्रश्न मुख्य थे । लगान में जो कमी होनी चाहिए, वह किस तरह और

किस परिमाण में हो कि किसी के साथ बेइन्साफी न हो और सबको लाभ भी पहुंच सके। यह सरसरी तौर पर रूपये में कुछ आने लगान कर देने से हो सकता था। पर सारे सूबे की एक-सी स्थिति नहीं थी। सूबे में काश्तकारी जमीन पर चार आने से बीस-पच्चीस रूपये बीघे तक लगान लगता है। कहीं हाल में ही मालगुजारी में बढ़ती या इजाफा हुआ है और कहीं नहीं हुआ है--कहीं इजाफा बहुत अधिक हुआ है, कहीं बहुत थोड़ा और कहीं बिलकुल नहीं। कहीं भावली लगान बदलकर नकदी कर दिया गया है और कहीं तो ऐसा हुआ ही नहीं है। यदि सभी जगहों में हरसट्टे एक ही दर से लगान घटा दिया जाय तो कुछ किसान बहुत मुनाफे में रह जायंगे, कुछ को केवल नाम-निहादी रियायत मिलेगी, कुछ जमींदारों के प्रति अन्याय हो जायगा और कुछ मजे में बच जायेंगे। खासकर जो किसान, बहुत कड़ा लगान होने के कारण बहुत कष्ट में हैं, उनको बहुत थोड़ी रियायत मिलेगी; या इसे यों कहें तो अत्युक्ति न होगी कि जिस किसान पर अधिक बोझ है, वह तो प्रायः वैसा-का-वैसा ही बोझ ढोता रह जायगा और जिसपर बोझ कम है, उसपर और भी कम हो जायगा--जिसको रियायत की सबसे अधिक जरूरत है उसे वह नहीं के बराबर मिलेगा और जिसपर पहले से ही किफायती लगान है, उसको और भी अधिक रियायत मिल जायगी। इसलिए सरासरी लगान घटाने की बात जमींदारों ने और हमने नामंजूर कर दी। एक ऐसा नुस्खा निकाला गया, जिससे खासकर वहां अधिक रियायत मिले जहां बहुत अधिक लगान हो गया है, चाहे वह इजाफा के कारण हो या भावली से नकदी लगन कर देने के कारण; और जहां कम है, वहां कम रियायत मिले या बिलकुल न मिले। हमने मोटामोटी हिसाब लगाकर सोचा था कि इस तरह सारे सूबे के लगान में एक रूपये में चार आना घट जायगा। कहीं-कहीं तो रूपये में आठ-दस आने तक की कमी होगी और कहीं-कहीं बिलकुल नहीं। जिस जमींदार ने जितनी शक्ति से काम लिया होगा और जितना लगान बढ़ाया होगा, उसकी आमदनी उसी मात्रा में अधिक या कम होगी। जिसने कम बढ़ाया होगा उसकी आमदनी कम घटेगी। अन्त में, जब सरकार के कर्मचारियों ने लगान में कमी की कार्रवाई की और लगान में कमी की गई तो मालूम हुआ कि हम लोगों का वह अन्दाजी हिसाब--कि सूबे में एक-चौथाई लगान कम हो जायगा--प्रायः ठीक ही निकलेगा।

दूसरा प्रश्न था किसानों के अपनी काश्तकारी हस्तान्तरित करने का।

बंगाल-लगान-कानून के अनुसार, जो बिहार में भी लागू होता था, यह हम उनको मामूली तौर पर नहीं था। इसलिए कोई काश्तकार काश्तकारी बेच नहीं सकता था। पर वकीलों की बुद्धि और जजों के फैसले ने कानून को घोल-मट्ठा बना रखा था। जो आदमी कानूनदां न होता उसके लिए यह समझ लेना आसान न था कि काश्तकारी जमीन किस हालत में किस तरह से हस्तान्तरित की जा सकती है--एकबारगी बेचकर या सूद-भरना लगाकर या जरपेशगी करके; और यदि हस्तान्तरित की जा सकती है तो किस मात्रा में--सब-की-सब जमीन या उसका कुछ हिस्सामात्र, और यदि हिस्सामात्र हो तो वह भी कितना ? ऐसे बहुतेरे जटिल प्रश्न उठे थे। समय-समय पर हाइकोर्ट के फैसले भी हुए थे; कभी दो जजों ने फैसला किया तो उसपर पुनर्विचार तीन या पांच जजों ने किया, कभी फैसला बदला गया तो कभी उसमें कुछ और नई बारीकी ला दी गई। बंगाल से बिहार के अलग हो जाने पर यहां के हाइकोर्ट ने अपना ही विचार रखा, जो हमेशा कलकत्ते के विचार से नहीं मिलता था। इसलिए यह आवश्यक था कि इस विषय में कानून साफ़ हो जाय, जिसे सभी लोग, विशेषकर किसान, आसानी से समझ सकें। इसके दो तरीके थे, या तो हस्तान्तरित करने का अधिकार बिलकुल न दिया जाय और कानूनन इसे एकबारगी बन्द कर दिया जाय, या यह अधिकार पूरा-पूरा दे दिया जाय और इसमें किसी प्रकार की रूकावट न रहे। किसान-सभा के लोग निर्विवाद रूप से जमीन बेचने की मुकम्मिल आजादी चाहते थे। जमींदार इसे मंजूर नहीं करते थे; क्योंकि उनका दावा था कि जमीन उनकी है और उन्होंने केवल आबाद करने के लिए ही उसे किसानों को दी है, इसलिए किसानों को हक बेचने का नहीं है--हां, यदि जमींदार बेचने की अनुमति दे दे तो वे बेच सकें। इस विषय में किसान-सभा का बहुत ही जोर था।

मेरा अपना विचार था, और आज भी है कि बिना रोक-टोक यदि जमीन बेचने का हक किसानों को दे दिया जाय, तो इसका नतीजा यह होगा कि छोटे-छोटे किसानों के हाथ से जमीन निकलकर दूसरे के हाथ में चली जायगी; इसलिए उनकी रक्षा के ख्याल के उनको यह अधिकार पूरी तरह नहीं मिलना चाहिए। मैं समझता हूं कि आज भी इस बात की यदि जांच की जाय तो पता लग जायगा कि इस तरह बहुत-सी जमीन कुछ दिनों के बाद गरीबों के हाथ से निकलकर धनी लोगों के हाथों में चली जायगी और खेत-हीन मजदूरों की संख्या बहुत बढ़ जायगी। यह मेरा व्यक्तिगत

विचार था। पर मैं जानता था कि जितने बोलनेवाले किसान थे, इसके विरोधी थे। जमींदारी ने भी अपने संशोधनवाले कानून में एक प्रकार से हस्तान्तरित करने के अधिकार को पूरा-पूरा मान लिया था--केवल एक शर्त रखी थी कि जमीन बिक्री करने पर उनको कुछ मिल जाया करे। हमने भी उनसे तय किया कि बेचने का अधिकार अवैध हो जाय, पर जो सलामी जमींदार को मिलती थी, वह और भी कम हो जाय।

तीसरी बात यह थी कि लगान यदि बाकी रह जाय तो जमींदार को बिहार में यह हक नहीं था कि लगान बाकी रखने के कारण किसान को वह खेत से बेदखल कर दे। वह अदालत में बाकी लगान के लिए नालिश करके डिग्री हासिल कर सकता था और उस डिग्री को जारी कराकर उसके सारे जोत को नीलाम करवा सकता था। किसानों की शिकायत थी कि थोड़ा माल बाकी रह जाने पर भी सारा जोत नीलाम हो जाया करता है जिससे उनका बहुत नुकसान होता है। जमींदारों का कहना था कि बगल के सूबे संयुक्तप्रदेश में बाकी लगान के लिए रैयत अपनी जमीन से बेदखल किया जा सकता है, यहां तो उसे बहुत कम कड़ाई होती है; यदि किसानों पर इतना दबाव भी न रहेगा तो वे लगान देने में बहुत आनाकानी करेंगे और वसूल करने में जमींदार की दिक्कत और भी बढ़ जायगी। इसके बारे में यह तय हुआ कि लगान जितना बाकी पड़े उतनी ही कीमत की जमीन नीलाम की जाय, सारा जोत नहीं। हां, जो रैयत बराबर लगान बाकी रखता चले और अदालत उसे इस तरह का हमेशा बाकी लगानवाला असामी करार दे तो उसका सारा जोत नीलाम किया जा सकता है।

चौथी बात भावली के सम्बन्ध में थी। बिहार के पटना, गया और कुछ हिस्सा मुंगेर के जिलों में बहुत करके यह प्रथा जारी थी कि पैदा हुए गल्ले के एक हिस्से के रूप में लगान नकदी होकर मिलता था। अक्सर आधी पैदावार जमींदार को और आधी किसान को बांट दी जाती थी। बांटने के भी दो तरीके थे। खेत में जो कुछ गल्ला पैदा होता था, जमींदार के सामने ही दौंनी-ओसौनी करके खलिहान में तैयार किया जाता था। फिर तौल कर उसके दो हिस्से कर दिये जाते थे जिनमें से एक किसान लेता था और दूसरा जमींदार; इसे भावली-बटाई कहते थे। दूसरा तरीका यह था कि जब फसल पककर करीब-करीब तैयार हो जाती तो जमींदार का एक गुमाश्ता

या खुद जमींदार खेत के एक छोटे हिस्से की फसल काटकर देख लेता कि कितना गल्ला हुआ और उसी हिसाब से सारे खेत की पैदावार कूत ली जाती, जिसका आधा जमींदार का समझा जाता जो वह समय पर वसूल कर लेता। इसे दानाबन्दी कहते थे। बटाई में रैयतों की शिकायत थी कि जबतक जमींदार का आदमी हाजिर न रहे, वे फसल को काट नहीं सकते, जब जमींदार उनको कष्ट पहुंचाना चाहते तब दानाबन्दी करने जाते ही नहीं अथवा और किसी कारण से यदि देर कर देते हैं तो वे (किसान) अपने खलिहान में तैयार गल्ला रखकर भी अन्न के बिना कष्ट पाते हैं, और यदि वे जमींदार की गैरहाजिरी में गल्ला तैयार करके अपने घर उठा ले जायं तो जमींदार उनपर दबाव डालकर उनसे मनमाना वसूल कर लेते हैं, और दबंग जमींदार तो कई तरह के झूठे दावे भी कर देते हैं। दानाबन्दी के सम्बन्ध में भी रैयतों की शिकायत होती कि हमारे खेतों की पैदावार का मनमाना तखमीना लगाकर दानाबन्दी कर दी जाती है और नाम के लिए तो पैदावार का आधा ही जमींदार को देने की बात होती है, पर वास्तव में हमें उनको बहुत अधिक देना पड़ता है। कानून में पहले एक दफा थी उसके द्वारा रैयत और जमींदार दोनों को यह हक दिया गया था कि अगर वे भावली रखना न चाहें तो अदालत के द्वारा भावली को नकदी बनवा सकते हैं। अदालत सब बातों पर विचार करके, जिनमें पिछले कई वर्षों की वसूली का औसत भी एक मुख्य जुज था, जो मुनासिब समझे, नकदी लगान मुकर्रर कर दे सकती है।

१९१४-१८ के यूरोपीय महायुद्ध के बाद बड़ी महंगी का समय आया। किसानों को गल्ले का आधा हिस्सा देना जब्र मालूम हुआ। बहुतेरों ने अदालत द्वारा नकदी लगान मुकर्रर करा लिया। पर महंगी में गल्ले की कीमत ज्यादा होने के कारण वसूली का औसत भी ज्यादा हुआ। जब १९२९-३० के बाद बहुत सस्ती आ गई तो वह नकदी लगान किसी तरह अब पैदावार से अदा नहीं हो सकता था। लगान घटाने के कारणों में यह एक मुख्य कारण था। ऊपर कहा गया है कि जहां लगान ज्यादा हो गया था वहां ज्यादा घटाया गया। अब इस संशोधन से निश्चय किया गया कि रैयत की दर्खास्त पर भावली के बदले नकदी लगान जरूरी कर दिया जाय और मालिक का हिस्सा भी आठ आने के बदले कुछ कम कर दिया जाय। कुछ कम कर भी दिया गया।

लगान-कानून के मुख्य संशोधन यही थे । इसके अलावा सरकार एक नया 'कर'--एग्रिकल्चरल इन्कम टैक्स--लगाना चाहती थी । उसके सम्बन्ध में जमींदारों से समझौता हुआ कि वह किसपर लगाया जायगा, उनकी क्या दर होगी और उससे कौन बच सकेंगे । यह सब मैंने मोटा-माटी बतला दिया । पर इन सबमें तफसीली बातें बहुत थीं, जिनके तय करने में बहुत समय लगा । मेरे और मौलाना आजाद के साथ बातें तय हो जाने के बाद कानून बनाने और कानून के शब्दों को ठीक करने में भी बहुत समय लगा । बहुत बातचीत भी करनी पड़ी । प्रधानमंत्री ने कानून बनाते समय उन लोगों से बातचीत तय की । इस समझौते का यह असर हुआ कि यह कानून दोनों पक्षों की सम्मति से चन्द महीनों के अन्दर ही पास हो सके, और १६३८ में ही सरकार ने अपने बहुतेरे अफसरों को--जो बिलकुल नये थे और केवल इसी काम के लिए बहाल किये गये थे--तैनात कर दिया कि वे नये कानून के अनुसार रैयत के लगान घटाकर उनके खतियान (**Records of right**) को दुरूस्त कर दें ।

जब १६३८ के नवम्बर में कांग्रेसी मंत्रिमण्डल ने इस्तीफा दे दिया तो बिहार में लगान घटाकर खतियान दुरूस्त करने का काम प्रायः पूरा हो चुका था और नया 'कर' भी जमींदारों पर लग चुका था । ऐसा और किसी सूबे में नहीं हो पाया । युक्तप्रान्त में सुलह नहीं हुई । वहां कानून बनाने में कदम-कदम पर जमींदारों के विरोध का मुकाबला करना पड़ा । यद्यपि इस्तीफा के कुछ पहले तक कानून वहां पास हो चुका था तथापि उसपर सरकार की मंजूरी इस्तीफा के बाद मिली । मुझे नहीं मालूम कि उसके अनुसार कहांतक और कब कार्रवाई की गई । उड़ीसा में कानून पास ही न हो सका । मद्रास में मंत्रिमण्डल ने एक कमिटी मुकर्रर की । उसने बहुत परिश्रम से रिपोर्ट तैयार की । लेकिन इसपर काम होने के पहले ही मंत्रिमण्डल ने इस्तीफा दे दिया । वह रिपोर्ट ज्यों-की-त्यों पड़ी रह गई । बंगाल में यद्यपि कांग्रेसी मंत्रिमण्डल नहीं था तथापि वहां भी एक कमिटी बनी । उसने भी रिपोर्ट दी, जिसपर अभीतक कोई काम नहीं हुआ है । बिहार में इस समझौते से किसानों को जल्द-से-जल्द रियायत दी जा सकी । चूंकि सब बातें समझौते से तय हुई थीं, इसलिए आपस में वैमनस्य बहुत नहीं बढ़ा--यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि मंत्रिमण्डल पर दोनों पक्ष वार करते रहे, जमींदार भी शिकायत करते और किसान-सभा के लोग भी ! मेरा विश्वास है कि यदि किसान-सभा के लोग बुद्धिमानी से काम लेते और मंत्रिमण्डल की कार्रवाई

से लाभ उठाते हुए अपनी और-और शिकायतों के भी दूर करने के प्रयत्न में लगे रहते, तो मंत्रिमण्डल और भी काम कर सकता। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। वे जमींदारों से भी अधिक मंत्रिमण्डल पर ही वार करते रहे। उसकी दिक्कतों के बढ़ाने में उनका काफी हाथ रहा।

एक चीज के बारे में कोई माकूल बात तय नहीं हो पाई थी, जिसके कारण मंत्रिमण्डल को काफी तकलीफ उठानी पड़ी और किसान-सभा को भी उसकी शिकायत या बदनामी करने का काफी मौका मिला। जो जमीन बाकी लगान के लिए नीलाम कराकर जमींदार खरीद लेता है, वह अगर किसी भी काश्तकार रैयत के साथ बन्दोबस्त कर दी जाय, तो बन्दोबस्त के साथ ही उस रैयत की काश्तकारी का हक हो जाता है। कई जगहों में जमींदारों के पास इस तरह की नीलाम में खरीदी हुई रैयती जमीन बहुत पड़ी थी। इसे कानूनी भाषा में 'बकाश्त मालिक' कहते हैं। वे रैयतों को काश्तकारी हक नहीं देना चाहते थे; क्योंकि एक बार काश्तकारी हक हो जाने पर रैयत का जमीन पर पूरा हक हो जाता है। वह उसके मरने के बाद उसके वारिस को भी मिलता है। मालिक केवल लगान वसूल कर सकता है; रैयत को बेदखल नहीं कर सकता और अब तो वसूली में सारे जमा को नीलाम नहीं करा सकता था। इसलिए जमींदार, यदि हो सके तो, उसे स्वयं जोतना चाहते थे अथवा किसी-न-किसी उपाय से बाजाब्ता बन्दोबस्त करके रैयत को काश्तकारी हक हासिल होने देना नहीं चाहते थे। उधर रैयत देखते थे कि अगर हम काश्तकारी हक पर बहुत जोर देते हैं तो जमींदार जमीन देता ही नहीं, अपने कब्जे में रख लेता है। इसलिए बहुतेरे रैयत इस हक की ओर ध्यान न देकर, साल-भर के लिए ही सही, जोतने के लिए जमीन लेते और फिर जमींदार साल के अन्त में चाहे वापस ले लेता या इस शर्त पर छोड़ देता कि वे हक-काश्तकारी का दावा न करें। इस तरह, ऐसी जमीन बहुत थी जिसपर कानूनी तौर से तो हक-काश्तकारी हो गया होगा, पर उस हक के साबित करने का कोई साधन या प्रमाण रैयत के पास नहीं था। बड़ी जमींदारियों में, नीलाम में खरीदी हुई जमीन अक्सर फिर बन्दोबस्त कर दी जाती होगी; क्योंकि वे सारी जमीन को खुद आबाद कराने का भार नहीं ले सकतीं। पर छोटे-छोटे जमींदार इसे आसानी से कर सकते थे। कुछ बड़े जमींदार भी अब

मोटरवाले हलों के द्वारा बड़े पैमाने पर खेती करने की बातें सोच रहे थे। इसलिए वे बकाश्त जमीन को किसानों के कब्जे में नहीं जाने देना चाहते थे। इस झगड़े का कोई निपटारा उस समय नहीं हो सका। कई जगहों में किसानों ने इस तरह की बकाश्त जमीन पर जाकर सत्याग्रह द्वारा कब्जा करना चाहा। सरकार को यह रोकना पड़ा। जबतक कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल रहा, यह झगड़ा जारी रहा। इसके कारण उसे बहुत शिकायतें और गालियां सुननी पड़ीं। पर कांग्रेसी मंत्रिमण्डल के इस्तीफा देने के बाद यह झगड़ा खुद-बखुद खत्म हो गया-सा मालूम पड़ता है; क्योंकि इसके बाद सत्याग्रह की बात कहीं सुनने में नहीं आई। इस समझौते के आधार पर किसान-सभा के कुछ लोगों ने मन्त्रिमण्डल के साथ मेरी भी काफी शिकायत जहां-तहां फैलाई। पर मैं समझता हूं कि इस समझौते के द्वारा हमने किसानों के लिए जितनी रियायत दिलवा दी उतनी किसी सूबे में नहीं मिली।

किसान-सभा समझौते में शरीक नहीं थी। उसको पूरा हक था कि इससे जो लाभ हो उसे वह ले ले और बाकी के लिए अपनी मांगें बनाये रखे, मन्त्रिमण्डल और जमींदारों पर उनके लिए तकाजा करती रहे और बेकार झगड़े में अपनी शक्ति का अपव्यय न करके उसे रचनात्मक रीति से किसानों की दशा सुधारने में लगावे। पर दुर्भाग्यवश उसकी शक्ति का बड़ा हिस्सा मन्त्रिमण्डल के विरोध में ही खर्च हुआ। जहां सत्याग्रह ठाना गया, वहां मन्त्रिमण्डल को काफ़ी कष्ट उठाना पड़ा, बदनामी भी उठानी पड़ी।

: १२५ :

कानपुर की मजदूर-कमिटी व मेरी सख्त बीमारी

इन समझौते को पूरा करते-करते मैं बीमार पड़ गया। कुछ दिनों के लिए, १६३७-३८ के जाड़ों में, अपने गांव चला गया। कुछ आराम करके मुझे फिर मजदूर-कमिटी के काम में लगना था, जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है। मैं वर्किंग कमिटी की बैठक में वर्धा गया। वहीं से कानपुर आनेवाला था। रास्ते में शायद कुछ खाने में गलती हो गई। पीछे शक हो गया कि खाने में जहर का असर आ गया था। जब लखनऊ होते हुए कानपुर पहुंचा तो तबीयत खराब हो गई। पर कमिटी का काम करता गया। जहां तक जांच का काम था, समाप्त किया। इस कमिटी में कुछ मुझ-जैसे तटस्थ लोगों के अलावा मिल-मालिक और मजदूर दोनों के प्रतिनिधि भी मेम्बर थे। जल्दी ही हमें इस बात का अनुभव हुआ कि दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों को साथ लेकर कमिटी का काम पूरा करना कठिन होगा; यदि ऐसे लोग मेम्बर होते जो मिल-मालिकों और मजदूरों की बात समझ-बूझकर अपनी राय दे सकते--जो सीधे उनके ऐसे प्रतिनिधि न होते, जिनको उनके कहने के मुताबिक ही राय देनी पड़े, तो इतनी कठिनाई न होती। वहां भी शायद उनपर ऐसी मजबूरी नहीं थी। पर सारी जांच एक ही जगह और उस जगह के भी एक ही प्रकार के कारखानों के सम्बन्ध में थी। वहीं के मिल-मालिकों और वहीं के मजदूरों के प्रतिनिधियों के लिए अपनी नैतिक जिम्मेदारी भी आ जाती थी कि वे उनके ही विचारों का प्रतिनिधित्व करें। इन विचारों से सरकार ने श्री शिवराव को एक सदस्य मुकर्रर कर दिया, जिनको मद्रास-प्रान्त में मजदूर-संगठन का काफी अनुभव था। प्रो० रूद्र पहले से ही मेम्बर थे। यद्यपि मिल-मालिक और मजदूर-सभा के प्रतिनिधि जांच-कमिटी के सामने पेश होनेवाले कागजों और गवाहियों के सम्बन्ध में पूछ-ताछ और जिरह वगैरह कर सकते थे, और उन्होंने किया भी, तथापि अन्तिम रिपोर्ट का भार हम तीनों पर ही रह गया। मैं बीमार होने पर भी इजहार लेने वगैरह का काम समाप्त कर सका। हां, मिलों में घूमकर मैं सब बातें देख न सका; क्योंकि बहुत कमजोर हो गया

था। इसलिए काम समाप्त करके मैं पटने आया। सोचा कि कुछ आराम करके, और मेम्बरों से मिलकर, रिपोर्ट तैयार की जायगी।

पटना में प्रान्तीय कमिटी की बैठक थी। उसमें उस लगान-कानून-सम्बन्धी समझौते पर विचार होनेवाला था। वहां बहुत बहस हुई। प्रान्तीय कमिटी ने उसे बहुत बड़े बहुमत में मंजूर किया। पर मुझे अभी कानपुर की कमजोरी सता रही थी। यहां भी काफी परिश्रम पड़ा। मैं प्रायः दो बार काम करते-करते बेहोश हो गया। पर मैंने अपनी इस दशा को किसी पर जाहिर नहीं होने दिया। मैं चाहता था कि उसी दिन काम पूरा करके आराम करने के लिए, जीरादेई चला जाऊं। उसी इरादे से चला भी। अनुग्रहबाबू गया जिले में किसी काम में गये थे। वहां दाऊदनगर के पास, रात के समय, उनकी मोटर सड़क की पटरी से उतरकर दरख्त से लड़ गई। वह बहुत सख्त घायल हो गये। उनके साथ पंडित पारसनाथ त्रिपाठी थे, जो वहीं मर गये। मोटर चलानेवाला भी घायल हुआ, पर विशेष नहीं, अनुग्रहबाबू किसी तरह पटना लाकर अस्पताल में रखे गये। मेरे कानपुर जाने के पहले ही यह घटना हो चुकी थी। मैं उनके कष्ट को देखकर बहुत दुःखी रहता। मैंने सोचा कि जीरादेई जाने के समय उनको अस्पताल में देखकर उधर ही से स्टीमर पर चला जाऊंगा--ऐसा ही किया भी। पर स्टीमर पर पहुंचते-पहुंचते कुछ ऐसा परेशान हो गया कि वहां जाकर तुरन्त लेट गया। बड़ी कठिनाई से किसी तरह सोनपुर की गाड़ी में सवार हो सका। पर इत्तिफाक से मेरे भतीजे जनार्दन जमशेदपुर से छुट्टी से उसी गाड़ी से घर आ रहे थे। उन्होंने मेरे लिए जगह बनाई।

हम दोनों भंटापोखर-स्टेशन पर रात के नौ बजे पहुंचे। वहां रेल से उतरते ही जोरों से कै आना शुरू हो गया, जैसा कानपुर में भी हुआ था। मैं किसी तरह पालकी पर जीरादेई पहुंचा। सोचता था कि वहां कुछ दिन आराम कर लेने से सब अच्छा हो जायगा। पर रात को हालत बिगड़ती देख पटने में खबर कर दी। सीवान के डाक्टर सवेरे पहुंचे। कुछ देर बाद छपरे से भी डाक्टर सूर आ गये। सबको शक था कि खाने में जहर का असर था। वे उसी की चिकित्सा करने लगे। रात में पटने से डाक्टर बनर्जी और डाक्टर शरण भी पहुंच गये। दो-तीन दिनों में हालत सुधरी। मगर अब जोरों से दमा का दौरा शुरू हो गया। डाक्टर घोषाल भी पटने से पहुंच गये थे। एक सप्ताह तक वहींपर दवा होती रही। ज्योंही डाक्टरों ने देखा

कि मैं पटना लाने लायक हो गया हूं, वे मुझे पटना ले आये । वहां मैं अस्पताल में ही रखा गया । घर के लोग भी साथ थे । बीमारी कुछ दिनों तक जोर पर रही । पर आहिस्ता-आहिस्ता कम हुई । कुछ दिनों में मैं भी उसी काटेज में ले जाया गया जहां अनुग्रहबाबू थे । यद्यपि हम दोनों एक ही जगह थे--वह नीचे के कमरे में और मैं ऊपर के, तथापि हम लोग कई दिनों तक मिल नहीं सके । वह तो चारपाई पर करवट भी नहीं बदल सकते थे । मैं सीढ़ी पर उतर-चढ़ नहीं सकता था । वहीं प्रायः दो महीनों तक मैं रहा । आहिस्ता-आहिस्ता कुछ शक्ति भी शरीर में आई । कुछ दिनों के बाद मैं नीचे उतरकर आता और अनुग्रहबाबू के पास बैठता । वह चारपाई पर लेटे-लेटे सरकारी कागजों को देखकर उनपर हुक्म लिखा करते । शुरू के चन्द दिनों को छोड़कर, जब वह एकदम लाचार थे और कुछ काम नहीं कर सकते थे, उन्होंने बराबर काम जारी रखा ।

: १२६ :

मंत्रिमण्डल का इस्तीफा और हरिपुरा-कांग्रेस

जब हम दोनों उसी मकान में थे, हरिपुरा-कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। हम दोनों नहीं जा सके। कांग्रेस ने जुलाई १९३७ में मन्त्रिमण्डल बनाया था। हरिपुरा-अधिवेशन १९३८ की फरवरी में हुआ। उन सात-आठ महीनों में मंत्रिमण्डल ने अपना काम सभी सूबों में जोरों से शुरू कर दिया था। पर अभीतक कोई काम पूरा नहीं हो सका था। इसी समय एक अड़चन आ पड़ी। कांग्रेस के चुनाव-पत्र में एक वादा यह भी था कि हम राजबन्दी लोगों को छुड़ायेगे। इसका प्रयत्न वे करने लगे, पर पूरी सफलता न होती। इसी बीच अण्डमन-टापू के राजबन्दियों ने अनशन आरम्भ कर दिया। बहुत कष्ट के बाद भारत-सरकार इस बात पर राजी हुई कि वे टापू से हटाकर हिन्दुस्तान में अपने-अपने सूबे में भेज दिये जायं। जब वे यहां आ गये तो अब प्रायः प्रान्तीय सरकारों के अधिकार में हो गये। इस तरह उनको मुक्त करने का प्रश्न आया। मंत्रिमण्डल उन्हें छोड़ना चाहता था। पर गवर्नर इसपर राजी नहीं होते थे। मेरी बीमारी की हालत में ही मौलाना अबुलकलाम आजाद पटने आकर मुझसे अस्पताल में मिले। मैं उनसे बहुत बातें न कर सका। वह यहां से जाकर सरदार वल्लभभाई और महात्माजी से मिले। सबका फैसला हुआ कि गवर्नर यदि राजबन्दियों को छोड़ने पर राजी न हों तो मंत्री लोग इस्तीफा दे दें। संयुक्तप्रदेश और बिहार में, मंत्रिमण्डल ने बहुत जोर लगाया, पर गवर्नर राजी न हुए। अन्त में, हरिपुरा-कांग्रेस में जाने के पहले, मंत्रिमण्डल ने दोनों जगहों में इस्तीफा दे दिया। उसे गवर्नर ने उस समय मंजूर नहीं किया। यह कहकर बात टाल रखी कि जबतक वह इस बात पर विचार करते हैं और दूसरे मंत्री ढूंढ़ते हैं, तब तक वे काम जारी रखें। बिहार के और मंत्री लोग तो हरिपुरा चले गये, सिर्फ अनुग्रहबाबू चारपाई पर पड़े काम करते रहे। मैं भी वहीं उनका साथ देता रहा।

इस इस्तीफे का असर देखना था। यद्यपि एक प्रकार से वायसराय और गवर्नरों ने अपने विशेष अधिकार को काम में न लाने का वचन दे दिया था तथापि यह पहला ही अवसर था, जब उन्होंने उसे काम में लाना चाहा। कांग्रेसी मंत्रिमण्डल ने,

युक्तप्रान्त और बिहार में, उसे नहीं माना, पदत्याग कर दिया। यह बात सारे देश में और ब्रिटिश सरकार पर भी जाहिर हो गई कि कांग्रेसी मंत्रिमण्डल अपनी बात पर अड़ा रहेगा, यदि वह ऐसा न करने पावेगा तो पद-त्याग कर देगा--अपनी बात न छोड़ेगा। वह पहला इम्तहान था जिसमें ब्रिटिश सरकार और मंत्रिमण्डल दोनों की परीक्षा हो रही थी। ब्रिटिश सरकार ने मंत्रिमण्डल की बात मान ली और राजबन्दियों को छोड़ने का भार उनपर ही दे दिया। वहां हरिपुरा में इस्तीफा की खबर पहुंचते ही वायुमण्डल एकदम बदल गया। जो लोग मंत्रिपद के विरोधी थे, और कहा करते थे कि मंत्रि-पद ग्रहण कर लेने पर ये लोग अपनी जगहों के साथ चिपके रह जायेंगे तथा अपने वादे भी भूल जायेंगे, उनकी भी आंखें खुल गईं--यदि वे सचमुच ऐसा मानते थे तो उनको भी अपने विचार बदलने पड़े। मैं तो कांग्रेस में जा ही न सका; पर जो कुछ सुना उससे मालूम हुआ कि इस इस्तीफा के कारण जो थोड़ा-बहुत विरोध मंत्रिपद ग्रहण करने के सम्बन्ध में था, वह अब जाता रहा।

हरिपुरा-कांग्रेस का समारोह भी अपूर्व था। श्री सुभाषचन्द्र बोस सभापति थे। वहां का प्रबन्ध इतने बड़े पैमाने पर और इतने खर्च के साथ किया गया था कि उसका मुकाबला अभीतक और किसी अधिवेशन ने नहीं किया। हम लोगों के अस्पताल में रहते-रहते ही हरिपुरा से लोग वापस आ गये। इस्तीफे भी वापस हो गये। मंत्रिमण्डल फिर काम करने लगा। अभीतक जो कार्यक्रम बन चुके थे, उनका काम सात-आठ महीनों में पूरा नहीं हो पाया था, इसलिए मंत्रिमण्डल का फिर अपनी जगह पर आ जाना अच्छा ही हुआ। अब अधिक उत्साह के साथ काम होने लगा; क्योंकि कोई कह नहीं सकता था कि कब और किस विषय को लेकर फिर इस्तीफा देना पड़े, इसलिए जो कुछ हो सके, कर गुजरना ही अच्छा होगा।

: १२७ :

बिहार की मजदूर-कमिटी

मंत्रिमण्डल ने निश्चय किया कि बिहार के मजदूरों की हालत जांचने और सुधारने के लिए एक कमिटी बनाई जाय। कानपुर का काम एक प्रकार से समाप्त हो चुका था। इसलिए मैं अब इस काम को अपने हाथ में ले सकता था। कमिटी नियुक्त हुई। मैं उसका अध्यक्ष बनाया गया। अपनी अस्वस्थता के कारण कानपुर का काम मैं अपने सन्तोष के लायक नहीं कर सका था। वहां की रिपोर्ट पर जब सरकार ने कार्रवाई करनी चाही तो मिल-मालिकों को विरोध हुआ। मजदूरों की ओर से हड़तालें हुईं। नतीजा यह हुआ कि बहुत दिनों तक कशमकश चलती रही। मुझे मालूम नहीं कि हमारी सिफरिशों में कितनी मंजूर हो सकीं। मुझे इसका अफसोस बना ही रह गया कि यदि मैं स्वस्थ होता और समय कुछ अधिक लगा सकता तथा कानपुर जाकर रिपोर्ट देने के पहले दोनों पक्षों से खुलकर बातें कर लेता, तो शायद रिपोर्ट का इतना जबरदस्त विरोध न होता; हो सकता है कि सिफारिशों में भी कुछ हेरफेर होता--कम-से-कम जो भी सिफारिशें होतीं, मिल-मालिकों में इतना कड़वापन नहीं आता।

जो हो, अब तो वह बात बन नहीं सकती थी। पर बिहार में फिर उसी प्रकार का काम मुझे करना पड़ा और वहां से भी यहां की समस्या अधिक जटिल थी; क्योंकि वहां तो केवल एक ही शहर के एक ही प्रकार के कारखानों के मजदूरों की हालत जांचनी थी। पर यहां कमिटी के जिम्मे सभी प्रकार के मजदूरों की--जो कारखानों में काम कर रहे थे--हालत जांची गई। जहांतक मैं समझता हूं, जितने प्रकार के कारखाने हिन्दुस्तान में हैं, प्रायः सभी प्रकार के बिहार में मौजूद हैं। शायद बहुत चीजों में बिहार और सभी सूबों से इस बात में बढ़ा हुआ है। यहांपर खानों का काम बहुत फैला हुआ है। कोयले की खानें इतनी हैं जितनी किसी भी दूसरे प्रदेश में नहीं, या यों कहें कि कोयले की जितनी खानें बिहार में हैं उतनी सारे हिन्दुस्तान के अन्य सभी सूबों को मिलाकर भी नहीं हैं तो ठीक ही होगा। यही हालत लोहे और तांबे

की खानों की है। अबरक की खानें भी इतनी हैं कि और किसी भी सूबे में उतनी नहीं हैं, सब सूबों को मिलाकर भी नहीं--शायद सारे संसार के और किसी देश में इतनी नहीं जितनी बिहार में हैं। और कई चीजें भी थोड़ी-बहुत बिहार की खानों से ही निकलती हैं।

ऊख की खेती भी यहां काफी होती है। पिछले बारह वर्षों में चीनी के कारखाने भी बहुत बन गये हैं। संयुक्त प्रदेश को छोड़कर और किसी सूबे में उतने कारखाने नहीं हैं, जितने बिहार में। जमशेदपुर में टाटा-कम्पनी का लोहे का कारखाना हिन्दुस्तान का ही नहीं, एशिया का सबसे बड़ा कारखाना माना जाता है और संसार के बड़े-से-बड़े कारखानों में एक है। वहां और भी बहुत किस्म के कारखाने हैं-टिन के पत्तर बनाने के लिए--तार, टेलीफोन और बिजली के तार बनाने के लिए--खेती के औजार (फावड़ा, गैंता वगैरह) बनाने के लिए-लोहे के तार और कांटे बनाने के लिए, अनेकानेक कारखाने हैं। कई तो जमशेदपुर के आस-पास भी बने हैं। इसके अलावा और भी लोहे के कारखाने दूसरे स्थानों में हैं। लाह की खेती छोटा नागपुर के जंगलों में विशेष होती है। जितनी लाह बिहार में पैदा होती है उतनी और कहीं नहीं। लाही से लाह बनाने के कारखाने स्वाभाविक रीति से छोटा नागपुर और संथाल-परगने में हैं, जहां जंगलों से काफी लाही मिलती है। जहां-तहां जूट बुनने और रूई से कपड़ा बनाने के कुछ कारखाने भी हैं; पर और सूबों के मुकाबले में कम हैं।

इस तरह बिहार की कमिटी को प्रायः सभी प्रकार के मजदूरों की हालत जांचनी थी। जमशेदपुर के कारखानों के मजदूर एक आधुनिक ढंग के नये बने हुए बड़े शहर में रहते हैं। वहां के कारखाने दिन-रात चौबीसों घंटे काम करते हैं, साल में एक दिन भी बन्द नहीं होते। कुछ मजदूर ऐसे हैं, जो गांवों में अपने-अपने घरों में रहते हैं और साल में चार-पांच महीने ही चीनी के कारखानों में काम करते हैं। कुछ मजदूर और जगहों की तरह विभिन्न कारखानों में आवश्यकतानुसार बराबर कुछ-न-कुछ करते रहते हैं। फिर खानों के अन्दर काम करनेवालों की हालत इन सबसे भिन्न है; क्योंकि वहां का काम ही दूसरे ढंग का है। खानों में भी सब काम करनेवाले न तो एक तरह का काम करते हैं और न उनके रहन-सहन का एकसा तरीका ही है। झरिया में कोयले की खानों का जमघट है। चन्द मीलों के अन्दर बहुतेरी खानें हैं

। इसलिए वहां मजदूरों की आबादी कुछ मिली-जुली-सी है । अबरक की खानें, एक-दूसरी से अलग, जंगलों में और पहाड़ियों पर दूर-दूर हैं । इसलिए उनके मजदूरों के रहने का किसी एक स्थान में प्रबन्ध नहीं है । झरिया में तमाम कारखानों के मजदूरों के लिए एकही पानी-कल से पानी मिलने का प्रबन्ध है । ऐसा अबरक-खानवालों के लिए नहीं है और शायद हो भी नहीं सकता है । इस तरह बहुत प्रकार के कामों के कारण बहुत तरह के मजदूर हैं । उनके रहन-सहन के प्रबन्ध में और मजदूरी में भी स्वभावतः बहुत अन्तर है । बिहार-कमिटी को इन सबकी जांच करके सिफारिश करनी थी । काम के विस्तार और गुरूता को देखकर मैं सहम गया, पर छुटकारा न पा सका । मैंने भी सोच लिया था कि समय अधिक लगे तो लगे, पर इसे अच्छी तरह से और पूरा-पूरा करना चाहिए । ऐसा ही किया भी गया ।

इसके अलावा और भी प्रश्न उपस्थित थे, जिनके सम्बन्ध में मुझे कुछ-न-कुछ करना पड़ा । मंत्रिमण्डल बनते ही ऊख-सम्बन्धी एक प्रश्न उसके सामने उपस्थित हो गया, जिसपर उसे शीघ्रता से कुछ करना ही था । बिहार में चीनी के बहुतेरे कारखाने बन जाने के कारण यहां के किसान ऊख की खेती बहुत करते हैं और ऊख को कारखानों के हाथ बेच देते हैं । कारखानों के बनने के पहले काश्तकार उतनी ही ऊख की खेती करता था जितनी को वह खुद अपने कोल्हू से पेरकर गुड़ बना सकता था । खेती के काम का कुछ ऐसा सिलसिला है कि जिन दिनों में ऊख पेरने का काम होता है उन दिनों में बैलों को और दूसरा काम बहुत नहीं रहता; क्योंकि ऊख पेरने का काम कार्तिक के बाद शुरू होता है, जब रबी बोने का काम खत्म हो गया रहता है । इसलिए किसान उतने ही अन्दाजे से ऊख बोया करते थे, जितने को वे अपने बैलों से पेर सकें । इस तरह ऊख की खेती का दूसरी फसलों के साथ एक स्वाभाविक निपात हो जाया करता था । जबसे कारखाने बन गये, किसान ऊख पेरने के झगड़े से छुट्टी पा गये । वे उसे कारखाने तक या नजदीक के स्टेशन तक पहुंचा देने का ही काम करते और पेरने का काम कारखाने कर लेते । ऊख से नकद पैसे भी मिलते हैं । इसलिए ऊख की खेती बहुत बढ़ गई । अगर किसी कारण कारखाने ऊख न लें तो किसान बिलकुल बेबस हो जाते हैं । उनकी साल-भर की कमाई बरबाद हो जाती है । ऐसी परिस्थिति १६३४ में हुई थी जब भूकम्प के कारण बहुतेरे कारखाने बेकार हो गये थे । सरकार और रिलीफ-कमिटी को, खेतों में लगी ऊख की फसल

बचाने के लिए, काश्तकारों को फिर कोल्हू चलाने के लिए प्रोत्साहन देना पड़ा था। लाखों रूपये खर्च करके कोल्हू बांटे गये थे। तो भी इन कोल्हुओं से काम पूरा होनेवाला न था। पर कुछ दिनों के बाद कारखानों की मरम्मत हो सकी। वे चालू हो गये। किसानों की फसल का कुछ हिस्सा बच सका। किसानों को ऊख का दाम कारखानेवाले दिया करते हैं। सरकार ने देखा कि किसान कारखानों के इतने परवश हैं कि वे जब चाहें तब दाम घटा सकते हैं। इसलिए कांग्रेसी मंत्रिमण्डल बनने के बहुत पहले से ही ऊख का दाम मुकर्रर करने का अधिकार कानून द्वारा सरकार ने अपने ही हाथ में ले रखा था। वह कह दिया करती कि इतने आने फी मन से कम दाम पर कोई ऊख नहीं खरीद सकता--हां, कोई यदि अधिक देना चाहे तो दे सकता है। इस तरह किसानों को एक रकम अवश्य मिल जाती। यदि कारखानों में होड़ हुई तो उससे अधिक भी मिल सकती थी।

१६३६ में किसी कारण ऊख की खेती कम हुई। कारखानों में खूब होड़ हुई। इससे किसानों को अधिक दाम मिले। उन्होंने दूसरे साल ऊख की खेती अधिक कर दी। १६३७ में इतनी ऊख थी कि मालूम होता था, कारखाने सब ऊख नहीं ले सकेंगे। चीनी का दाम भी इतना गिर गया कि सरकार का मुकर्रर किया हुआ दाम भी बहुत कम था; कारखाने उतने दाम पर भी ऊख लेने को तैयार नहीं थे। नतीजा यह हुआ कि किसान बहुत तबाह हुए। उसी समय चन्दरोजा मंत्रिमण्डल बना था। उसने भी कुछ कोशिश की थी, पर वह अप्रैल में आया, जब ऊख का काम प्रायः समाप्ति पर रहता है। उसके पहले से ही हमने कारखानेवालों से बातचीत करनी शुरू कर दी थी कि वे किसी तरह से ऊख जरूर ले लें। कुछ राजी भी हुए। अपने इलाके की ऊख उन्होंने ले ली। जबतक वह खत्म न हुई, कारखाने चलते रहे, यद्यपि मामूली तौर पर आधे अप्रैल के बाद ऊख से चीनी की मात्रा कम निकलती है। जब जुलाई में कांग्रेसी मंत्रिमण्डल बना तो उसे इस विषय पर विचार करना था कि जो अनुभव किसानों को १६३७ के मार्च-अप्रैल में हुआ था और उन्हें जो कार्रवाई उस समय करनी पड़ी थी, उसका सामना उनको फिर न करना पड़े। इस सम्बन्ध में मेरी और इस विभाग के मन्त्री डाक्टर महमूद से बातें हुईं और फिर कान्फ्रेन्स भी की गई। देखा गया कि ऊख की खेती सबसे अधिक युक्तप्रान्त और बिहार में ही होती है। इसलिए जो-कुछ करना हो, दोनों सूबे मिलकर करें तो ठीक होगा। दोनों के सामने

समस्या एक थी। दोनों कांग्रेसी मंत्रिमण्डल थे। इसलिए दोनों सूबे के मंत्रिमण्डलों ने मिलकर एक कान्फ्रेन्स की। उसी में अपना कार्यक्रम भी ठीक किया। मुझे भी उसमें भाग लेना पड़ा था। चूंकि हिन्दुस्तान में जितनी चीनी बनती है, उसका तीन-चौथाई से भी ज्यादा हिस्सा इन्हीं दोनों प्रान्तों में बनता है, इसलिए लोगों ने सोचा कि ये दोनों मिलकर जैसा प्रबन्ध चाहेंगे, कर सकेंगे।

दोनों सूबों ने कानून बनाये। उसके अनुसार केवल ऊख का ही नहीं चीनी का भी दाम ठीक करने का अधिकार सरकार ने अपने हाथों में लिया। कुछ कारखानेवालों ने विरोध किया। पर अन्त में सब राजी हुए। कारखानेवालों का एक संघ बना। वही सभी कारखानों पर नियन्त्रण रखता। जो कारखाना संघ में शरीक न हो, उसे ऊख पेरने की सनद (लाइसेंस) सरकार न देगी। इस तरह जो न भी चाहते थे, उनको भी मजबूरन उस संघ में शरीक होना पड़ा। किसानों को उस साल दाम ठीक मिले। मेरे दिल में कुछ सन्देह था; क्योंकि मैं समझता था कि कारखानों के साथ यदि ज्यादा सख्ती की जायगी तो हो सकता है कि वे इन दो सूबों के बाहर के कारखानों के साथ, जहां किसी तरह का हस्तक्षेप या प्रतिबन्ध नहीं था, मुकाबला न कर सकें। इसलिए मैंने कहा कि बेहतर हो यदि सभी सूबों के साथ मिलकर कुछ किया जाय। भारत-सरकार कुछ करने पर तैयार नहीं थी। इसलिए सूबों के साथ ही बातचीत हो सकती थी। दूसरे सूबों के मंत्रिमण्डल--कांग्रसी मंत्रिमण्डल भी--इन दोनों के साथ मिलकर अपने यहां के कारखानों को नियन्त्रित करने पर राजी न हुए। इसका नतीजा यह हुआ कि उन सूबों के कारखानों को, विशेषकर देशी रियासतों के कारखानों को, बहुत सुविधा मिल गई। वहां नये कारखाने बने। पुरानों ने बहुत मुनाफा किया। बिहार के एक-दो कारखाने बिककर सूबे से बाहर चले गये। पर इसमें कुछ सन्देह नहीं कि जो-कुछ कांग्रेसी मंत्रिमण्डल ने किया, उससे किसानों को उस समय बहुत लाभ पहुंचा। और, जबतक कांग्रेसी मंत्रिमण्डल रहा, लाभ होता रहा।

: १२८ :

बिहार में शिक्षा-सम्बन्धी कार्य और बाढ़-सम्मेलन

शिक्षा का विषय अत्यन्त महत्त्व रखता है। डाक्टर महमूद इस विभाग के चार्ज में थे। उन्होंने चाहा कि मुझे वह पटना-यूनिवर्सिटी के सिनेट का मेम्बर बना दें। मैंने सिनेट की मेम्बरी से सन् १९२१ में इस्तीफा दे दिया था। उन्होंने बहुत जिद की कि मुझे यह फिर से स्वीकार कर लेना चाहिए। श्री सच्चिदानन्दसिंह वाइस-चान्सलर थे। उन्होंने भी आग्रह किया। इसलिए मैंने मेम्बरी स्वीकार कर ली। सिनेट की बैठक में मैंने एक प्रस्ताव पेश किया। उसका आशय यह था कि सरकार शिक्षा की योजना सुधारने के प्रश्न पर विचार करे और इसके लिए एक कमिटी नियुक्त करे जो प्राथमिक से लेकर उच्च शिक्षा तक की योजना बनावे। इस प्रस्ताव के उपस्थित करने के समय मैं बीमार था। बड़ी मुश्किल से सिनेट की बैठक में जा सका। पर मैंने अपना भाषण लिख लिया था। एक मित्र ने उसे पढ़ दिया। उसमें प्रचलित शिक्षा-पद्धति की कड़ी अलोचना थी। कुछ सदस्यों ने, जिसमें विशेष शिक्षक ही थे, टीका की। पर प्रस्ताव सर्वसम्मति से मंजूर हुआ। कुछ दिनों के बाद जब वह प्रस्ताव सरकार के पास भेजा गया तो उसे मंजूर करके मंत्रिमण्डल ने एक कमिटी बना दी। मैं भी उसका एक सदस्य बनाया गया। अध्यक्ष बनाये गये बम्बईवाले श्री के० टी० शाह।

मेरे प्रस्तावच के उपस्थित होने के पहले ही महात्मा गांधी ने एक योजना उपस्थित करके शिक्षा-सम्बन्धी प्रश्न को सारे देश की जनता के सामने ला दिया था। उन्होंने कई लेख 'हरिजन' में लिखे। उनकी योजना की मुख्य बात यह थी कि बच्चों की शिक्षा, जो आज केवल अक्षरों द्वारा दी जाती हैं, केवल अक्षरों अर्थात् पुस्तकों द्वारा ही न दी जाकर कुछ हुनर या हाथ की कला द्वारा दी जाय। उनका कहना था कि यदि ऐसा किया जायगा तो बच्चे जो काम करके कमायंगे उसी से प्राथमिक शिक्षा का खर्च भी निकल आवेगा। उन्होंने इस तरह एक तीर से दो शिकार

करने की योजना बना दी । उसके अनुसार शिक्षा भी आज की शिक्षा से बेहतर होगी और उसके लिए खर्च भी सरकार को नहीं करना पड़ेगा । इसके पहले जब कभी यह प्रश्न उठाया जाता था कि सभी बच्चों की निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय तो सरकार की ओर से यही उज्र पेश किया जाता था कि उसके पास इतने रूपये नहीं कि वह इसे कर सके । स्वर्गीय गोखले के समय से ही इस बात पर जनता की ओर से जोर दिया जाता रहा और सरकार द्रव्याभाव के बहाने से विरोध करती आ रही थी । कहीं-कहीं निःशुल्क शिक्षा का और कहीं-कहीं निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा का भी प्रयोग किया गया था । पर वह इतने कम स्थानों में और इतने छोटे पैमाने पर ब्रिटिश भारत में हुआ था कि उससे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि यह प्रयोग सारे भारत में कभी पूरा हो सकेगा ।

बिहार के छपरा-जिले में कुछ हद तक निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध किया गया था । इसमें मुख्य दिलचस्पी लेनेवाले दो व्यक्ति थे, मेरे भाईसाहब बाबू महेन्द्रप्रसाद और छपरा-जिले के स्कूलों के उन दिनों के डिस्ट्रिक्ट-इंस्पेक्टर बाबू राधिकाप्रसाद । पर सरकार ने यद्यपि इसे नामंजूर नहीं किया तथापि कभी इसे बहुत प्रोत्साहन भी नहीं दिया । किसी तरह से यह प्रयोग चल रहा था । गांधीजी ने अपनी योजना से हलचल-सी मचा दी । उन्होंने कुछ ऐसे लोगों का, जो शिक्षा से प्रेम रखते हैं और उसके प्रचार में तत्पर रहते हैं, एक सम्मेलन वर्धा में किया । वहां उनकी योजना पर विचार हुआ । सम्मेलन ने एक उपसमिति बना दी । जामिया-मिलिया (दिल्ली) के प्रमुख डाक्टर जाकिर हुसेन उसके अध्यक्ष हुए । सब कमिटी ने एक योजना तैयार की । वह वर्धा-योजना ने नाम से प्रख्यात हुई । गांधीजी की योजना का ही उस सब-कमिटी ने बहुत अंशों में समर्थन किया और प्राथमिक शिक्षा दस्तकारियों द्वारा देने की सिफारिश की । सब-कमिटी खर्च के सम्बन्ध में उस हद तक जाने को तैयार नहीं थी, जहांतक गांधीजी का विचार था; पर वह भी इसका विरोध नहीं करती कि खर्च का कुछ अंश यदि बच्चों की दस्तकारियों से निकल आवे तो निकाल लेना चाहिए ।

इस तरह जो शिक्षा-शास्त्रो वहां जमा हुए, उन्होंने यूरोप और अमेरिका के

शिक्षा-शास्त्रियों के विचारों से गांधीजी के विचारों को पुष्टि दी। और मालूम हुआ कि बिना उनके विचारों और पुस्तकों का मनन किये ही गांधीजी ने जो कुछ कहा है, वही आधुनिक शिक्षा-शास्त्रियों के भी विचार हैं। इसलिए जब मैंने अपना प्रस्ताव पेश किया था तो मेरे दिल में यह बात भी थी कि वर्धा-योजना पर भी यह कमिटी विचार करेगी। यदि इसकी राय भी उससे मिल गई तो गांधीजी जो कराना चाहते थे, वह बिहार में सरकार आसानी से कर सकेगी। मैंने इस कमिटी का मेम्बर होना स्वीकार कर लिया। इसका काम भी जारी हो गया। पर इस कमिटी के काम का भार इसके अध्यक्ष श्री के० टी० शाह पर ही अधिक रहा।

बिहार-सरकार के शिक्षा विभाग ने एक और कमिटी मुकर्रर की। उनका भी मैं एक सदस्य बनाया गया। हिन्दी-हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध में, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के नागपुर-अधिवेशन में, मैंने अपने विचार प्रकट किये थे। बिहार में यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि यहां की पाठ्य-पुस्तकों में ऐसी भाषा कहांतक चल सकती है, जिसे हिन्दी और उर्दू जाननेवाले दोनों ही मान्य समझें, और इसके लिए शब्दकोश बनाने का भी प्रयत्न किया जाय। डाक्टर महमूद ने मुझे ही इसका प्रमुख बनाया; पर मैंने इसे स्वीकार नहीं किया; क्योंकि मेरे पास दूसरे काम बहुत हो गये थे, इसलिए मैं इसमें न तो काफी समय दे सकता था और न ऐसे गुरूतर काम की योग्यता अपने में समझता था। इसलिए इसके अध्यक्ष मौलाना अबुलकलाम आजाद साहब बनाये गये। इसका काम भी आरम्भ हुआ। इस प्रकार मेरे जिम्मे अपने सूबे में बहुत काम आ गया। वर्किंग कमिटी द्वारा नियुक्त पार्लमेण्टरी कमिटी का मेम्बर तो मैं था ही। १९३७ से १९३९ तक का बहुत समय प्रायः इन्हीं कामों में लगा। समय काफी लगा; क्योंकि जिन प्रश्नों पर विचार करना था, वे गम्भीर थे और उनका निपटारा आसानी से नहीं किया जा सकता था। जो सिफारिशें होतीं उनका भी असर काफी पड़ता। इसलिए यद्यपि मैं मंत्रिमण्डल में नहीं था तथापि अपनी शक्ति और बुद्धि के अनुसार यथासाध्य मदद देना मेरा आवश्यक कर्तव्य हो गया था।

एक और विषय था, जिसपर बहुत विचार किया गया, पर कुछ रास्ता अभीतक नहीं निकला। वह है बिहार के कुछ हिस्सों में बाढ़ के प्रकोप का। छपरा और पटने के बीच में सरयू, गंगा, सोन और गंडक नाम की चार बड़ी-बड़ी नदियों का संगम है। जब कभी इन नदियों के उद्गम-स्थान अथवा रास्ते में लगातार बहुत बरसात

हो जाती है तो इनमें एक साथ ही बाढ़ आ जाने से इनके आसपास के स्थानों की हालत बहुत ही खराब हो जाया करती है। ऐसा पहले से ही होता चला आ रहा है। पर १६३४ के भूकम्प बाद से बाढ़ का प्रकोप बढ़ गया है। कुछ लोगों का अनुमान है कि भुकम्प के कारण नदियों की गहराई कम हो गई है, उनमें उनका पानी निकाल ले जाने की अब शक्ति नहीं रह गई, जितना वे पहले निकाल ले जाया करती थीं। इसलिए अब पानी दूर तक बाहर फैल जाता है और जहां जाता है, वहां पानी की गहराई भी अधिक होती है। पर इस इलाके के अलावा, जहां नदियों के जमघट के कारण अक्सर बाढ़ आया करती है, बिहार के--विशेषकर उत्तर बिहार के--और भी हिस्से हैं, जहां बाढ़ बहुत आया करती है। बाढ़ के कारणों में, लोगों का मत है, एक जबरदस्त कारण रेलवे के बांध भी हैं, जो पानी को रोक देते हैं और उसे आसानी से बहकर निकलने नहीं देते। इन बांधों में काफी पुल और पानी के निकास के रास्ते नहीं हैं। कहीं-कहीं तो इन बांधों के कारण बहुत अनर्थ हो जाया करता है। रेलवेवाले लोगों की कुछ सुनते नहीं। रेलवे के अलावा दूसरे भी बांध हैं, जो खास तौर से पानी रोकने के लिए ही बनाये गये हैं। उनके असर के सम्बन्ध में भी मतभेद की गुंजाइश है। इसमें सन्देह नहीं कि बाढ़ का प्रश्न बिहार के लिए बहुत महत्त्व रखता है। मैंने इस सम्बन्ध के कुछ लेख लिखे थे और जब कांग्रेसी मंत्रिमण्डल बना तो उसको इस प्रश्न पर भी विचार करना आवश्यक जान पड़ा। उसने एक सम्मेलन किया, जिसमें अनुभवी इंजीनियरों और जनता के प्रतिनिधियों को बुलाया। बहुत विचार-विमर्श हुआ; पर कोई सन्तोषजनक फल नहीं निकला; क्योंकि न तो कारण के सम्बन्ध में सब एकमत हो सके और न उपाय के सम्बन्ध में। कान्फ्रेन्स में मैं बीमारी के कारण शरीक न हो सका। पर मेरे विचार वहां पेश हुए थे। बिहार के ये बड़े-बड़े प्रश्न थे, जिनसे मेरा विशेष सम्बन्ध था। इनके अलावा और बहुतेरे छोटे-मोटे प्रश्न हुआ करते, जिनके सम्बन्ध में मेरा राय लोग पूछ लिया करते। दूसरी जगहों के मंत्रिमण्डलों से मेरा उतना सम्बन्ध न रहा जितना बिहार के। यह स्वाभाविक था।

: १२६ :

गांधी-सेवा-संघ

मैं अस्पताल में मार्च के अन्तिम सप्ताह तक रह गया। तब तबीयत कुछ अच्छी हो गई और ताकत भी आ गई तो वहां से निकला। गांधी-सेवा-संघ का वार्षिक सम्मेलन उस साल उड़ीसा में पुरी के पास 'डेलांग' गांव में, होनेवाला था। वहीं मैं सीधे चला गया। महात्माजी भी वहां आनेवाले थे। मेरी बहन, मृत्युन्जय की मां और मेरी भौजाई भी साथ गईं। वहां हम लोग कई दिनों तक रहे। दूसरे सम्मेलनों की तरह यहां भी तात्त्विक विषयों पर चर्चा होती रही। सब लोग मिलकर एक साथ चर्खा चलाते। संध्या के समय जनता जमा हो जाती तो कुछ लोग व्याख्यान देते। गांधी-सेवा-संघ-सम्मेलन चार-पांच ही बार हुए, पर इनका महत्व यह था कि वहां गांधीजी के समक्ष सभी सदस्यों को कई दिनों तक रहने का सुअवसर मिल जाता। सिद्धान्त की बातों पर आपस में बहुत बहस होती। उपस्थित विषयों पर गांधीजी की सम्मति मिल जाती। जो सदस्य जहां और जिस काम में लगा रहता, वहां उत्साह के साथ जाकर फिर काम करता।

संघ के सदस्य अधिकतर रचनात्मक काम में ही लगे थे। कोई चर्खासंघ द्वारा अथवा स्वतन्त्र रूप से खादी और चर्खे के प्रचार-कार्य में लगा था, तो कोई हरिजन-सेवा में अपना समय लगा रहा था। कोई ग्राम्य उद्योगों को ही पुनः जीवित और संगठित करना अपना मुख्य कर्तव्य मानकर उसी में संलग्न था, तो कुछ लोग वर्धा-योजना के प्रचारार्थ स्थापित तालीमी संघ में शिक्षा-प्रचार का काम कर रहे थे। कुछ लोग गो-सेवा में लगे थे, जिसमें मुर्दा पशुओं की खाल निकालने, पकाने और उससे जूते, बाक्स इत्यादि सामान बनवाना भी शामिल थे। विशेषकर इन्हीं सब प्रवृत्तियों में, जिनके लिए गांधीजी ने प्रेरणा दी थी, संघ के लोग दत्तचित्त थे। कुछ ऐसे भी जरूर थे, जो कांग्रेस के संगठन का काम करते थे, जहां-तहां कांग्रेस-कमिटियों की सेवा कर रहे थे। पर ऐसे सदस्यों की संख्या बहुत कम थी। वहां भी उनसे अधिकतर रचनात्मक काम करते रहने की ही अपेक्षा रहती थी। जब कौन्सिलों का चुनाव होने लगा और कुछ सदस्य उम्मीदवार बनाये गये तो इस विषय पर संघ के

सम्मेलन में बहुत चर्चा हुई थी। कुछ लोगों का विचार था कि संघ के लोगों को इस काम में नहीं पड़ना चाहिए। पर संघ ने कुछ को इजाजत दी थी। इस विषय पर, मुझे जहांतक स्मरण है, दो सम्मेलनों में विचार होता रहा। अब तो उसके सदस्य श्री जगलाल चौधरी मंत्री और श्रीकृष्णवल्लभ सहाय पार्लमेण्टरी सेक्रेटरी हो गये थे। संघ ने उनसे वादा ले लिया था कि संघ से उनको जो निर्वाह-व्यय मिलेगा उसी से उनको सन्तुष्ट रहना पड़ेगा। इसलिए जब उनको कुछ वेतन के रूप में मिलने लगा तो उन लोगों का निर्वाह-व्यय संघ की ओर से बन्द कर दिया गया। जो वेतन उन्हें मिलता था, उसका भी पूरा-पूरा हिसाब वे संघ को देने लगे। संघ की सदस्यता, नैतिक दृष्टि से, मनुष्य को--यदि वह सचाई से काम लेता--ऊंचा उठा सकती थी। उससे आशा रखी जाती थी कि गांधीजी के सत्य-अहिंसा-सम्बन्धी सिद्धान्तों को वह यथासाध्य अपने जीवन में उतारने और प्रचारित करने का प्रयत्न करेगा। संघ-सदस्यों में से बहुतेरों का जीवन हम सबके लिए आदर्श हो सकता है।

इस संघ का उद्देश्य कभी कोई राजनैतिक दल तैयार करने का नहीं था। इसने कभी ऐसा किया भी नहीं। कभी इस संघ की ओर से किसी ने किसी चुनाव में भाग नहीं लिया, चाहे वह कांग्रेस का हो या म्युनिसिपैलिटी या डिस्ट्रिक्टबोर्ड या असेम्बली या कौन्सिल का। अधिकांश तो इन सभी संस्थाओं से अपने को अलग रखते थे। वे किसी चुनाव से सम्बन्ध नहीं रखते थे। अगर कहीं कोई चुनाव में आता भी तो व्यक्तिगत रूप से, अपनी सेवा के बल पर, न कि संघ की सदस्यता से लाभ उठाकर। संघ में सेठ जमनालाल बजाज, सरदार वल्लभभाई पटेल और मुझ-जैसे लोग भी थे, जो कांग्रेस की वर्किंग कमिटी के सदस्य थे तथा अपने-अपने स्थान में कांग्रेस के काम में प्रमुख भाग लेते थे। स्वयं गांधीजी सदस्य तो नहीं थे, पर मार्ग-प्रदर्शक तो थे ही। तो भी यह कहना बिलकुल बेबुनियाद था कि जैसे कांग्रेस के अन्दर स्वराज्य-पार्टी अथवा कांग्रेस-सोशलिस्ट-पार्टी बनी थी, वैसी ही संस्था यह भी थी। इसका उद्देश्य सेवक तैयार करना था, उनके द्वारा रचनात्मक काम में यथासाध्य मदद पहुंचाना था। उन सेवकों से अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने जीवन और उदाहरण से गांधीजी के सिद्धान्तों का यथासाध्य प्रचार करते रहेंगे। पर कुछ लोगों ने उसपर यह आक्षेप लगाया कि वह भी एक दल है। रामगढ़-कांग्रेस के कुछ पहले, जो संघ का वार्षिक अधिवेशन बंगाल में हुआ था, उसमें संघ को विघटित करने का निश्चय कर लिया गया।

: १३० :

ग्रामसुधार-योजना और नासिक में निवास

उड़ीसा में ही हम लोगों को मालूम हुआ कि वहां की असेम्बली की कांग्रेस-पार्टी के अन्दर बहुत मतभेद चल रहा है--मंत्रिमण्डल के विरूद्ध कुछ लोगों को शिकायतें हैं। सरदार वल्लभभाई और मैं, पार्लमेण्टरी कमेटी के दो मेम्बर वहां मौजूद थे। हमने उचित समझा कि दोनों पक्षों से बातें कर ली जायं और हो सके तो इस झगड़े को तय कर दिया जाय। एक तरफ मन्त्रिमण्डल था और दूसरी ओर पंडित नीलकण्ठदास, पंडित गोदावरीश मिश्र प्रभृति थे। श्री गोपबन्धु चौधरी किसी दल के नहीं थे। वहांपर हमने सभी बातें सुनकर अपनी राय दे दी। श्री गोपबन्धुदास को, जो गांधी-सेवासंघ की ओर से वहीं कटक में आश्रम बनाकर रचनात्मक काम में लगे हुए थे और कांग्रेस-कमिटी से अलग हो गये थे, कांग्रेस का काम संभालने के लिए, दोनों पक्षों की राय से, कहा गया। हम समझते थे कि झगड़ा शांत हो जायगा। पर ऐसा हुआ नहीं। पीछे इसके बहुत बुरे फल देखने में आये, जिसका जिक्र समय पर आवेगा।

एक घटना वहां हो गई, जो वर्णनीय है। जो लोग सम्मेलन में गये थे, उनमें से कुछ श्री जगदीश के दर्शनीर्थ पुरीचले गए। उनमें हमारे घर की स्त्रियां भी थीं। उनके संबंध में तो नहीं, पर दूसरों के संबंध में महात्माजी को इससे बहुत दुःख हुआ। श्री जगन्नाथजी का मन्दिर अभी तक हरिजनों के लिए नहीं खुला है, अर्थात् हरिजन वहां उस तरह दर्शन-पूजा नहीं जा सकते हैं। जिस तरह सवर्ण हिन्दू। महात्माजी स्वयं ऐसे मन्दिर में नहीं कर सकते, उनका विचार है कि यदि उनको दर्शन-पूजा का अधिकार नहीं है, तो हमें भी नहीं होना चाहिए। इसलिए जब सम्मेलन में आये हुए निकटवर्ती लोगों के सम्बन्ध में उन्होंन सुना कि वे भी दर्शनार्थ गये तो उनको चोट लगी। पुरी जाना वह बुरा नहीं मानते थे और न दर्शन-पूजा ही। पर दर्शन-पूजा हम वहींतक करें जहांतक करने का अधिकार हरिजनों को भी है। इस बात की चर्चा वहां चली। जो लोग अपने को गांधीजी का अनुयायी समझते हैं, उनको

भी इतनी सख्ती कुछ खटकी, पर इससे हरिजनों के प्रति गांधीजी के प्रेम और सहानुभूति की गहराई का पता लग गया।

अस्पताल से निकलने पर डाक्टरों की राय थी कि मुझे अभी कुछ और आराम कर लेने की जरूरत है। इसलिए जब गर्मी शुरू हुई तो मैंने निश्चय किया कि कुछ दिनों तक किसी स्वास्थ्यकर स्थान में जाकर रह जाऊं। इसलिए मैंने नासिक में जाकर रहने का निश्चय किया। वहांपर सेठ बिड़ला का एक मकान था, जिसका वह 'खासकर हवा बदलने के लिए निवासस्थान' की तरह इस्तेमाल करते हैं। मैंने वहीं जाकर ठहरने का निश्चय किया। सेठ रामेश्वरदास बिड़ला ने बम्बई से ही सब प्रबन्ध कर दिया। नासिक जाने का विचार एक और कारण से हुआ। मई के महीने में बम्बई में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक होनेवाली थी। सोचा कि नासिक बम्बई के नजदीक है, वहां से आसानी से सभा में शरीक हो सकूंगा।

नासिक जाने के पहले एक और काम था, जिसके सम्बन्ध में मुझे कुछ कर लेना था। बिहार-मंत्रिमण्डल का विचार था कि गांवों के सुधार के लिए सरकारी तौर पर कुछ काम किया जाय। इसके लिए वह एक विभाग बनाना चाहता था। इसके लिए एक ऐसी योजना बनानी थी, जिंसके अनुसार काम किया जाय। इस काम के लिए एक ऐसा आदमी भी चाहिए था, जो उस दृष्टि से इस काम को चलावे, जिसे मंत्रिमण्डल पसन्द करता था। अबतक ग्राम-सुधार का काम सरकार की ओर से कुछ भी नहीं हुआ था। यह पहला कार्यक्रम था। इसमें विशेषकर गांवों के रहनेवालों की हालत हर तरह से सुधारने का ही विचार था। अबतक जो लोग सरकारी काम किया करते थे, वे एक प्रकार से जनता के मालिक और शासक बनकर ही किया करते थे। जरूरत थी कि कुछ लोग सेवक बनकर काम करें। यही काम इस विभाग के जिम्मे लगाने का निश्चय किया गया। मैंने एक योजना बनाई। सरकार ने पंडित प्रजापति मिश्र को इस विभाग का चार्ज दिया। दूसरे कार्यकर्ताओं की नियुक्ति भी हुई। इनमें बहुतेरे कांग्रेसी कार्यकर्ता नियुक्त किये गये। इसका यह कारण नहीं था कि कांग्रसी लोगों को नौकरी देनी थी। वह काम ही ऐसा था, जिसका थोड़ा-बहुत अनुभव अगर किसी को था तो कांग्रेसी कार्यकर्ताओं को ही, दूसरों को नहीं; क्योंकि किसी ने बिहार-प्रान्त में इस प्रकार का कोई काम किया ही न था। पर इनके साथ-साथ दूसरे लोग भी नियुक्त किये गये। समझा गया कि सबको कुछ दिनों के लिए शिक्षा देकर

तैयार कर दिया जायगा। जो यौजना मैं बना रहा था, वह पूरी नहीं हो पाई थी, इसलिए पंडित प्रजापति मिश्र नासिक में जाकर मुझसे मिले। वहीं पर हमने उसे पूरा किया। जबतक यह विभाग काम करता रहा, उसी सांचे पर काम हुआ। मेरा विचार है कि इससे जनता की भलाई हो रही थी; पर मंत्रिमण्डल के इस्तीफा देने के बाद इसका रूख आहिस्ता-आहिस्ता बदलने लगा। अन्त में सरकार ने इसे तोड़ दिया।

नासिक-यात्रा में मेरे साथ श्री चक्रधरशरण नहीं जा सके। उनका स्थान श्री अम्बिकादत्तसिंह ने लिया। एक और साथी मिले, जिनका कुछ जिक्र कर देना आवश्यक मालूम होता है। वह थे एक सज्जन, जिनका नाम था, श्री देवरातजी ब्रह्मचारी। वह कर्नाटक-प्रदेश में समुद्र के किनारे पर बसे गोकर्ण नामक तीर्थस्थान के ब्राह्मण थे। मुजफ्फरपुर में सुहृद-संघ के वाषिकोत्सव में मैं गया था। वहीं उनसे पहली मुलाकत हुई थी। वहां उन्होंने एक प्रशस्ति की तरह की चीज तैयार की थी, जिसको पढ़-सुनाया था। संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। पर वहां उनसे अधिक बातें या परिचय नहीं हो सका था। एक दिन मैं सदाकत-आश्रम में बैठा था। मेरी बहन भी थीं। उस दिन कोई पुण्य-तिथि थी, जिस कारण बहुत लोग गंगास्नान के लिए आये थे। मैंने देखा कि वह सज्जन भी उनमें थे। बहन का ख्याल उनकी ओर गया। उनका आदर-सत्कार उन्होंने किया। जब बातें हुईं तो विद्वत्ता इत्यादि का कुछ पता चला। मैंने उनको निमन्त्रण दिया कि आप मेरे साथ कुछ दिनों तक रहें। उन्होंने उसे स्वीकार किया। वह योंही भ्रमण करते-करते बिहार आ गये थे। मैं जीरादेई गया। वह भी वहां आये। कुछ दिनों तक हम लोग साथ रहे। उनको मैंने नासिक भी बुला लिया। वह वैदिक ब्राह्मण थे। वेद उनको प्रायः मुखस्थ थे। उपनिषद् तो वह बिना पुस्तक देखे ही सुना जाते थे। उनसे मालूम हुआ कि कर्नाटक में आज भी यह परिपाटी है। वहां ब्राह्मण वेदों और उपनिषदों को कंठस्थ कर लेते हैं। वे अपना काम करते हुए, खेती करने के समय भी, इनका पाठ किया करते हैं। उस समय वह एक नक्शा बना रहे थे, जिसमें वह वेदों के अनुसार सृष्टि-क्रम एक चन्द्रमा के रूप में दिखलाना चाहते थे। उसीमें वह उपयुक्त ऋचाओं और मन्त्रों को इस प्रकार लिखते थे कि समझनेवाला पुरूष मंत्रों को भी पढ़ सके और बहुत-कुछ उस चित्र से भी समझ ले। उनका कहना था कि इस काम में उन्होंने कई बरस लगाये हैं, पर वह अभीतक पूरा नहीं हुआ था। वह इस काम को अपने पर्यटन में ही कर रहे थे।

उनकी अद्‌भुत स्मरण-शक्ति और विद्वत्ता का यह एक दृश्य प्रमाण था; क्योंकि उनके पास एक भी पुस्तक नहीं थी और उन्होंने सब-कुछ अपनी स्मृति से ही तैयार किया था। नासिक में हम लोग घूमते-फिरते, खूब टहलते और वह संध्या के समय उननिषद् की व्याख्या करते। वह योगी थे। उनका विचार था कि मैं यदि कुछ क्रिया नियमपूर्वक किया करूं तो दमा छूट जाय। मैंने धौति-क्रिया उनकी देख-रेख में आरम्भ की। पर नासिक में कुल पन्द्रह-सोलह दिन ही रह सका। उसके बाद बम्बई जाना पड़ा। वहां बहुत बीमार पड़ गया।

देवरातजी का समागम बहुत ही अच्छा रहा। वहीं मालूम हुआ कि वह पहले कुछ दिनों तक श्री रमण महर्षि के साथ तिरूवन्नमलय में भी रह चुके हैं। श्री महर्षि की जीवनी में उनकी विद्वत्ता और उनके प्रेममय नाटक का जिक्र है। वह महर्षि के साथ रहनेवाले उद्‌भट विद्वान गणपति शास्त्री के शिष्य थे। इसी सम्पर्क से वहां आश्रम में जाकर कुछ बरस पहले रहे थे। वह गोकर्ण में एक पाठशाला और गोशाला चला रहे हैं। उत्तर भारत में तो भ्रमण के लिए वह चले आये थे। हिन्दी उन्होंने अच्छी सीख ली थी। उनकी भाषा सुनकर उनके सम्बन्ध में कोई ऐसा नहीं कह सकता था कि वह दक्षिण भारत के रहनेवाले हैं। उनके साथ नासिक से हम त्रयम्बक भी दर्शनार्थ गये। यह स्थान गोदावरी का उद्‌गम-स्थल समझा जाता है। पहाड़ पर मुझे कुर्सी पर बिठाकर ले गये; क्योंकि मैं इतनी ऊंचाई पर चढ़ नहीं सकता था। आसपास की पहाड़ियों में पुरानी गुफाएं हैं, जिनको मैंने जाकर देखा। इनसे ही उन पुराने दिनों की कला के साथ उस युग के तपस्वियों के जीवन का भी कुछ पता चलता है। मैंने इस तरह बहुत जगहों का भ्रमण किया है और उन्हें देखा है; पर मेरा काम दूसरा है और जी हमेशा उसीकी ओर लगा रहता है। इसलिए इन दृश्यों पर न तो मैं बहुत ध्यान देता हूं और न मुझे इनका बहुत स्मरण ही रहता है।

नासिक में कई और चीजें देखने को मिलीं। वहीं वह सरकारी छापा-खाना है, जहां नोट, सभी प्रकार के अदालती और पोस्ट-आफिस के स्टाम्प छपते हैं। कारखाना बहुत बड़ा है। पहरा सख्त है। कागज की कीमत बहुत है; क्योंकि कागज के टुकड़ों से ही ये सब बनते हैं। वहां एक अंगरेज अफसर था, जो योरपवाली १६१४-१८ की बड़ी लड़ाई में फौजी था। वहां घायल होकर लंगड़ा हो गया था। उसने हमको सभी जगहों में ले जाकर सबकुछ एक-एक करके दिखलाया। हमने

पोस्ट-कार्ड और लिफाफे छपते और बनते देखे । पोस्ट-आफिस के टिकट भी बनते देखे । नोट छपते देखे । उस सारी प्रक्रिया को देखा, जहां सबसे पहले नोट का मानचित्र बनाया जाता है । इसके लिए कलाकार लोग नियुक्त हैं, जो हमेशा इसी काम में लगे रहते हैं । उसी मानचित्र के आधार पर, जब वह मंजूर हो चुकता है, नोट छापने का सामान तैयार किया जाता है ।

दूसरी एक और चीज देखी, जो छोटी है, पर जिसका महत्त्व भी इन्हीं चीजों-जैसा है । दियासलाई पर 'कर' लगाया गया है । उसके वसूल करने का तरीका यह है कि प्रत्येक दियासलाई की पेटी या डिब्बी पर एक कागज की पतली धारी-सी साट दी जाती है और जबतक वह न तोड़ी जाय, अन्दर से सलाई नहीं निकाली जा सकती । कारखाने से कोई पेटी उस धारी के साटे बिना बाहर नहीं जा सकती । कारखानेवाले 'कर' अदा करते ही उस धारी को सरकार से खरीदा करते हैं । वह धारी भी, जो लम्बे फीते के रूप की होती है, इसी कारखाने में छपती है । मैंने ऊपर कहा है कि यहां कागज की बहुत कीमत है । कागज का हिसाब बड़ी कड़ाई से रखा जाता है । एक इंच कागज भी इधर से उधर नहीं हो सकता; क्योंकि यदि ऐसा न किया जाय तो कौन कह सकता है कि खोये हुए कागज पर नोट छपकर निकल नहीं गया है । इसलिए यदि कहीं छपाई की गलती से या किसी दूसरे कारण से कोई टुकड़ा खराब भी हो जाता है तो वह भी उतनी ही हिफाजत से रखा जाता है जितनी हिफाजत से ठीक छपा हुआ नोट । सभी काम करनेवालों को कारखाने में जाने के समय और वहां से निकलने के समय सब कपड़ा खोलकर अपनी पूरी जामा-तलाशी देनी पड़ती है । कोई आदमी बिना वैसी तलाशी के अन्दर नहीं जा सकता है । हमारे साथ उन्होंने इस नियम का सख्ती से बर्ताव नहीं किया; पर हमारे हाथ भी उनके कई अफसर सभी जगहों में रहे । एक विचित्र बात यह थी कि यद्यपि वहां काम करनेवाले न मालूम कितने लाखों-करोड़ों के नोट छापते होंगे और प्रतिदिन छापकर जहां-तहां भेजते होंगे; पर उन विचारों की मजदूरी प्रायः वही है, जो दूसरे कारखानों में मिलती है । उनमें बहुतेरे काफी गरीबी की जिन्दगी काटते हैं । जो प्रतिदिन लाखों का कागजी नोट बनाता है वह शायद एक रूपया रोजाना पाता होगा । कैसी विचित्र लीला है ! कैसा आज का संसार है !

मध्यप्रदेश के मंत्रिमण्डल का दुःखद झगड़ा

नासिक से मैं बम्बई गया। हां वर्किंग कमिटी और अखिल भारतीय कमिटी की बैठक होनेवाली थी। हरिपुरा-कांग्रेस के बाद अखिल भारतीय कमिटी का यह पहला अधिवेशन था, जिसमें श्री सुभाषचन्द्र बोस सभापतित्व करनेवाले थे। आठ-दस महीनों से कांग्रेसी-मंत्रिमण्डल काम करते आ रहे थे। कुछ लोग उसकी कड़ी टीकाएं करते आ रहे थे। कहीं-कहीं कांग्रेसी लोग ही उनके विरूद्ध आपस में दलबन्दी कर रहे थे, जिससे उनके काम में कुछ कठिनाई भी पड़ रही थी। मुमकिन था कि इस विषय पर वहां विचार हो, यद्यपि हरिपुरा के समय दो सूबों में उनके इस्तीफा देने से वायुमण्डल में बहुत फर्क पड़ गया था। तो भी, जो लोग असन्तुष्ट थे, अपनी हरकतों से बाज नहीं आ रहे थे। मैं तो वहां जाकर बीमार हो गया। अधिवेशन में शरीक न हो सका। एक काम महत्त्व का हुआ। वहीं निश्चय हुआ कि सारे देश-भर के लिए एक प्लानिंग कमिटी बनाई जाय, जो सभी सूबों से राय और मदद लेकर कार्यक्रम बनावे, जिसके अनुसार सभी सूबों में मंत्रिमण्डल काम करें। पंडित जवाहरलाल नेहरू इसके सभापति और प्रोफेसर के० टी० शाह मंत्री बनाये गए। सभी सूबों के कांग्रेसी मंत्रिमण्डल इस कमिटी की पूरी मदद करने लगे। दूसरे सूबों के लोगों ने भी मदद देना मंजूर किया। यह कमिटी कई उपसमितियों में बंटकर काम करती रही। इसकी रिपोर्ट प्रायः तैयार हो चुकी थी। पर पूरी तैयारी होने के पहले ही कांग्रेस का सरकार से झगड़ा छिड़ गया। वह रिपोर्ट पास होकर देश के सामने न आ सकी।

बम्बई में मुझे 'ब्रोडकों न्युमोनिया' हो गया। ज्वर बहुत बढ़ गया। खांसी भी काफी जबरदस्त हो गई। मैं वहां बिड़ला-हाउस में ठहरा था। उन लोगों ने हर तरह से मेरी शुश्रूषा का प्रबन्ध किया। एक छोटी घटना उल्लेखनीय है। उन दिनों हिटलर द्वारा निकाले गये बहुतेरे यहूदी इधर-उधर देश छोड़कर चले गये थे। इनमें कुछ डाक्टर थे, जो बम्बई आकर अपना पेशा कर रहे थे। उनमें से एक बिड़ला-हाउस में आया-जाया करता था। उसीने मेरी चिकित्सा आरम्भ की। दो-तीन दिनों तक उसकी दवा हुई। पर अभी कुछ आराम नहीं हो रहा था। सुना कि बम्बई के कुछ मित्र डाक्टर, जिनमें श्री पुरूषोत्तम पटेल भी थे, यह जानकर कुछ रूष्ट हुए हैं कि

उन लोगों को न बुलाकर एक जर्मन डाक्टर की चिकित्सा हो रही है। जब यह खबर मिली तो वे बुलाये गये। पीछे डाक्टर गिल्डर भी आये, जो उन दिनों बम्बई के एक मंत्री थे। उन लोगों की दवा होने लगी। जब मैं अच्छा न हुआ तो महात्माजी की राय हुई, और मैं भी उससे सहमत हुआ कि मैं वर्धा चला जाऊं। बम्बई की हवा में नमी रहती है, जो मैं बर्दाश्त नहीं कर सकता। इसलिए मैं वर्धा चला गया। डाक्टरों की रंजिश इस बात से थी कि उन लोगों के रहते किसी अनजान विदेशी डाक्टर की चिकित्सा क्यों कराई गई। इसमें उनका प्रेम टपकता था। साथ ही यह भी इससे जाहिर होता था कि वहां के डाक्टर अपने कौशल पर इतना विश्वास रखते हैं और इतने देशाभिमानी हैं कि वे मेरे-जैसे एक देश-सेवक की चिकित्सा दूसरों के हाथों देखना सहन नहीं कर सके। वर्धा में पहुंचकर मैं तुरन्त अच्छा नहीं हुआ। वहां से तार देकर पटने से डाक्टर बनर्जी और डाक्टर शरण को बुलाना पड़ा। डाक्टर शरण तो नहीं आ सके, पर डाक्टर दामोदरप्रसाद के साथ डाक्टर बनर्जी वर्धा आये। वे दो या तीन दिनों तक वहां ठहरे। तबीयत अच्छी होने पर मैं वहीं ठहर गया।

बम्बई में ही मालूम हुआ था कि मध्यप्रदेश के मंत्रिमण्डल में आपस का बहुत मतभेद हो गया है। एक-दूसरे की शिकायतें करते हैं। उसी समय पार्लमेण्टरी कमिटी ने निश्चय किया कि वह इस बात की जांच करेगी। उन दिनों पचमढ़ी में सरकार रहा करती थी। इसलिए सरदार वल्लभभाई और मौलानासाहब वहां गये। मैं नहीं जा सका; क्योंकि मैं बीमार था। झगड़ा प्रधान-मंत्री डाक्टर खरे और पंडित द्वारकाप्रसाद मिश्र में था। हिन्दुस्तानी मध्यप्रदेश में मंत्रिमण्डल बनने के पहले दो दल थे--एक में पंडित द्वारकाप्रसाद मिश्र समझे जाते थे, और दूसरे में पंडित रविशंकर शुक्ल। जिस समय १९३७ में असेम्बली का चुनाव हुआ था, उसी समय एक मुकदमा पंडित द्वारकाप्रसाद के खिलाफ चलने की खबर निकली। उन्होंने वर्किंग कमिटी को खबर दे दी कि चूंकि उनके विरूद्ध मुकदमे की बात चल रही है, इसलिए जबतक वह उससे निकलकर अपने चरित्र की सफाई न दे दें, तबतक वह कांग्रेस के सभी पदों से अलग रहने को तैयार हैं। वहां कोई भी कांग्रेस-पार्टी का नेता नहीं हो सकता था जबतक उसे हिन्दुस्तानी विभाग के मेम्बरों की पूरी सहायता न मिले। पंडित द्वारकाप्रसाद ने डाक्टर खरे की मदद की, उनकी मदद से ही वह नेता चुने गये। जब मंत्रिमण्डल बनने का समय आया तो उनको ही गवर्नर ने मंत्रिमण्डल बनाने का

आदेश किया। जो मुकदमा पंडित द्वारकाप्रसाद पर चलनेवाला था, उसे बेबुनियाद समझकर वहां के हाकिमों ने उठा लिया। उसके बाद पंडित द्वारकाप्रसाद भी मंत्रिमण्डल में आये। इस तरह यह समझा जाता था कि उनकी और डाक्टर खरे की बड़ी मित्रता थी। बात भी ऐसी ही थी। पंडित रविशंकर शुक्ल भी मंत्री बने थे। कांग्रेस के काम में वह पंडित द्वारकाप्रसाद के प्रतिद्वन्द्वी समझे जाते थे। मंत्रिमण्डल के काम में शुक्लजी और मिश्रजी की राय बहुत-सी बातों में एक हुई। दोनों का डाक्टर खरे से मतभेद हुआ। यदि इतना ही रहता तो कोई हर्ज नहीं; क्योंकि मित्रता एक अलग चीज है और देश-सेवा-सम्बन्धी मतभेद दूसरी चीज। डाक्टर खेर ने मिश्रजी की शिकायत की और मिश्रजी ने भी डाक्टर साहब की।

इन्हीं शिकायतों को दूर करने के लिए सरदार पचमढ़ी गये। वहांपर कुछ बातें तय हुईं। आशा की गई कि मामला तय हो जायगा और दोनों काम चलाने लगेंगे। पर बात ऐसी नहीं हुई। डाक्टर ख़रे अपना विचार नहीं बदल सके। उन्होंने सोच लिया कि मिश्रजी के साथ उनकी नहीं निभेगी। उधर मिश्रजी के साथ काम करते-करते शुक्लजी उनके साथ अधिक मिल-जुल गये। ऐसा मालूम हुआ कि डाक्टर खरे इन दोनों को किसी-न-किसी तरह मंत्रिमण्डल से हटावेंगे। पर जो प्रयत्न इस झगड़े को हटाने का हुआ वह विफल हुआ। आपस का वैमनस्य बढ़ता ही गया। मैं अच्छा होकर वर्धा में ही आराम कर रहा था कि एक दिन अचानक खबर मिली कि झगड़े ने उग्र रूप धारण कर लिया है! पार्लमेण्टरी कमिटी और वर्किंग कमिटी की बैठक उसके दो ही दिनों के बाद होनेवाली थी। डाक्टर खरे उसके पहले ही मंत्रिमण्डल तोड़कर अपनी पसन्द का नया मंत्रिमण्डल बना लेना चाहते थे। उन्होंने इसके लिए गवर्नर की मदद ली। जब मुझे खबर मिली तो मैंने उनको एक पत्र लिखा कि वह ऐसी कोई कार्रवाई न करें--दो ही दिनों में होनेवाली पार्लमेण्टरी कमिटी और वर्किंग कमिटी का इन्तजार कर लें। वह पत्र उनके पास रात को गया। उस रात को उन्होंने मंत्रिमण्डल का इस्तीफा देकर गवर्नर से मंजूर करा लिया और नया मंत्रिमण्डल बना भी लिया। मेरा पत्र उनके पास किसी तरीके से रात में पहुंचने न पाया। दूसरे दिन सवेरे नया मंत्रिमण्डल बन गया। उसमें पहले के ये दोनों मंत्री नहीं थे। कुछ नये लोग लिये गये थे। सब बातें इतनी जल्दबाजी में रातों-रात हुईं कि नागपुर के नजदीक रहते हुए भी हमको पूरी खबर मंत्रिमण्डल के पुनः संगठित हो जाने के बाद मिली। जब दूसरे दिन पार्लमेण्टरी कमिटी की बैठक हुई तो इसे सब

लोगों ने बहुत बुरा माना । दोनों पक्षों के लोग बुलाये गये । जो नये मंत्री बने थे, वे भी बुलाये गये । श्री सुभाषचन्द्र बोस भी पहुंच गये थे । यद्यपि वह पार्लमेण्टरी कमिटी के मेम्बर नहीं थे तथापि वह कांग्रेस के अध्यक्ष थे, इसलिए सबके ऊपर थे । उनकी हाजिरी में दोनों पक्षों की बातें सुनी गईं । कमिटी का विचार हुआ कि इस तरह से नया मंत्रिमण्डल बना लेना बेजा हुआ है, विशेषकर जब तुरत ही पार्लमेण्टरी कमिटी और वर्किंग कमिटी की बैठक होनेवाली थी । नये मंत्रिमण्डल के मंत्रियों से कहा गया कि वे इस्तीफा दे दें । ये बातें होते-हवाते रात बहुत बीत गई थी । पर उसी समय टेलीफोन द्वारा डाक्टर खरे ने गवर्नर को खबर दे दी कि वह और उनके साथ नये मंत्री इस्तीफा दे रहे हैं । दूसरे दिन उन्होंने इस्तीफा लिखकर भेज भी दिया । वैसा ही दूसरों ने किया । अब नया मंत्रिमण्डल बनाने का निश्चय हुआ । उसमें पंडित रविशंकर शुक्ल प्रधान-मंत्री बने और पंडित द्वारकाप्रसाद भी एक मन्त्री हुए । डाक्टर खरे उसमें नहीं आये । वहां की असेम्बली की कांग्रेस-पार्टी की बैठक वर्धा में हुई, जिसमें सुभाषबाबू और हम लोग भी हाजिर थे । उसने शुक्लजी को ही अपना नेता चुना, इसलिए वही प्रधान-मंत्री बने ।

इस सारी कार्रवाई से वहां बड़ी हलचल मच गई । डाक्टर खरे बहुत गुस्से में आ गये । उन्होंने बहुत जोरों से पार्लमेण्टरी कमिटी और महात्माजी की शिकायत की । सारी कार्रवाई की कड़े शब्दों में निन्दा भी की । वह अ-महाराष्ट्री ब्राह्मण हैं । शुक्लजी और मिश्रजी उत्तर भारत के हिन्दीभाषी कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं । वहां और दूसरे स्थानों में भी महाराष्ट्री और अ-महाराष्ट्री का झगड़ा उठ खड़ा हुआ । कुछ दिनों तक ऐसा मालूम होता था कि कांग्रेस के अन्दर बड़ी भारी फूट फैल जायगी । डाक्टर खरे की कार्रवाइयां ऐसी हुईं कि कुछ दिनों बाद उनपर अनुशासन की कार्रवाई करनी पड़ी । उनको कांग्रेस से बहिष्कृत करना पड़ा । यह झगड़ा चल ही रहा था कि एक पुस्तिका निकली । उसमें डाक्टर खरे की बातों का समर्थन किया गया था । सारी बातें अखिल भारतीय कमिटी के सामने आनेवाली थीं । सुभाषबाबू कई दिनों तक वर्धा में और उसके बाद नागपुर में ठहरे रहे । उन्होंने एक बहुत बड़ा बयान तैयार किया, जिसमें सारी बातें लिखी हुई थीं । वह बयान एक पुस्तक के रूप में छाप दिया गया । अखिल भारतीय कमिटी की बैठक के समय वह बांटा भी गया । इस सारे मामले पर विचार हुआ । डाक्टर खरे को कांग्रेस से निकालने का निश्चय हुआ । मैं डाक्टर खरे को १९३४ से ही अच्छी तरह जानने लगा था, जब उन्होंने केन्द्रीय

असेम्बली के चुनाव में डाक्टर मुंजे का मुकाबला किया था। उस समय उन्होंने बहुत जोश के साथ कांग्रेस के पक्ष का समर्थन किया था। जब श्री अभ्यंकर का स्वर्गवास हो गया तो मराठी-भाषी मध्यप्रदेश के वही नेता माने जाने लगे। हम सबके साथ उनका बहुत अच्छा व्यवहार था। प्रान्तीय असेम्बली के चुनाव के समय उनकी ही राय से सब बातें पार्लमेण्टरी कमिटी ने कीं। मंत्रिमण्डल के संगठन में भी वही बराबर मुख्य समझे जाते रहे । इस प्रकार पार्लमेण्टरी कमिटी के लोगों का उनपर विश्वास था और उनके साथ व्यवहार भी अच्छा था। जब मैं सभापति की हैसियत से उनके सूबे में गया था तो उन्हीं के यहां ठहरा था। उन्होंने ही दौरे में मेरा साथ दिया था। इस तरह वह सबके मान्य थे। पर इस मामले में, न मालूम क्यों उन्होंने ऐसा विचार बना लिया। जो झगड़ा उनका मिश्रजी के साथ हुआ, उसमें पार्लमेण्टरी कमिटी को भी घसीटकर उन्होंने नाथ दिया। महात्मा गांधी को भी उन्होंने अछूता न छोड़ा। यह सारी घटना बड़ी दुःखद हुई, क्योंकि उनके जैसा एक योग्य आदमी कांग्रसी का विरोधी बन गया। उसके बाद उन्होंने कांग्रेस को हर मौके पर नीचा दिखाने का प्रयत्न किया है। उनके ऐसे-ऐसे बयान हुए हैं और ऐसी-ऐसी बातें उन्होंने कांग्रेस के सम्बन्ध में कही हैं, जैसी शायद कांग्रेस के कट्टर विरोधी भी नहीं कहते होंगे। हम लोगों की नजरों के सामने कांग्रेस की प्रतिष्ठा और उसके अनुशासन की रक्षा के सिवा कोई दूसरी बात नहीं थी। सच पूछिये तो मैं जितना डाक्टर खरे को जानता था और उनके प्रति जितनी श्रद्धा रखता था, उतनी मिश्रजी के प्रति नहीं; क्योंकि मिश्रजी के साथ काम करने का उतना मौका नहीं आया था। डाक्टर खरे भी मिश्रजी के बड़े श्रद्धालु थे और उनपर बहुत भरोसा किया करते थे। पर कुछ विषयों में मतभेद हो जाने के कारण वह उनसे इतने बिगड़ गये कि दोनों का एक मंत्रिमण्डल में रहना असम्भव हो गया। उनको वहां से निकलवा देने पर वह तुल गये और वह निकलवाना भी गवर्नर की मदद से ! जो हो, इस दुःखद घटना का परिणाम अच्छा नहीं हुआ। जो झगड़ा उस समय खड़ा हुआ वह अभीतक खत्म नहीं हुआ है--यद्यपि अब वह मराठी और अ-मराठी झगड़े का रूप नहीं रह गया है। हां, दूसरे तरीके से समय बीतते-बीतते बातें ठण्डी पड़ गईं। पर डाक्टर खरे कांग्रेस से अलग हो ही गये हैं और शायद रहेंगे ही।

: १३२ :

आसाम-उड़ीसा के मंत्रिमण्डल की कुछ बातें

अखिल भारतीय कमिटी की उसी बैठक में, जिसमें डाक्टर खरे के हटाये जाने का प्रस्ताव पास हुआ, कुछ बहस मंत्रिमण्डलों के सम्बन्ध में भी हुई थी। इससे यह पता चला कि कुछ लोग कांग्रेस के अन्दर भी मंत्रिमण्डलों से नाखुश थे और चाहे जिस तरह हो उनपर कुछ-न-कुछ आरोप लगाना ही चाहते थे। पर यद्यपि उस बहस में बहुत बातें कही गईं और जो लोग अपने को वामपन्थी कहा करते थे, उन्होंने बहुत जोर लगाया, तथापि अखिल भारतीय कमिटी ने मंत्रिमण्डलों की निन्दा नहीं की और काम चलने दिया।

एक तरफ तो जहां मंत्रिमण्डल बन गये थे वहां इस तरह उनपर हमले किये जा रहे थे, दूसरी तरफ जहां कांग्रेसी मंत्रिमण्डल नहीं था, वहां कांग्रेसी मंत्रिमण्डल बनाने का प्रयत्न भी चलता रहा। आसाम उन सूबों में है, जहां विधान के अनुसार हिन्दू और मुसलमान के अलावा अंगरेजों और आदिवासियों की खासी संख्या असेम्बली में है। कांग्रेस ने अ-मुस्लिम जगहों में काफी सफलता चुनाव के समय पा ली थी, कांग्रेसी लोग ही सबसे अधिक संख्या में चुने गये थे, सारी असेम्बली में उनकी ही पार्टी सबसे बड़ी थी; पर सारी असेम्बली में उनका अकेला बहुमत नहीं था। जब और कांग्रेसी सूबों में चन्दरोजा मंत्रिमण्डल बना था तब वहां भी बना था; पर और जगहों से वहां यह विभिन्नता थी कि अकेले कांग्रेसी लोग वहां बहुमत नहीं रखते थे, इसलिए यदि दूसरे लोग सबके-सब मिल जायं तो वे अल्पमतवाले हो जाते थे। अतः जब कुछ महीनों के बाद दूसरी जगहों में मंत्रिमण्डल बने, तब वहां नहीं बन सका और कुछ दिनों तक वहां का गैर-कांग्रेसी मंत्रिमण्डल दूसरों को मिलाकर अपना बहुमत कायम रख सका। यह बहुमत स्थायी नहीं था। १९३८ के पिछले भाग में वहां की स्थिति ऐसी हो गई कि उस मंत्रिमण्डल के साथ बहुमत नहीं रह गया। वहां भी ऐसा मौका आ गया कि दूसरे दलों के लोगों के साथ मिलकर कांग्रेस अपना बहुमत बना सकती थी और इस तरह कुछ दूसरे लोगों के साथ वह मंत्रिमण्डल भी बना

सकती थी। ऐसी स्थिति उपस्थित होने पर वहां के लोगों ने पार्लमेण्टरी कमिटी और कांग्रेस के सभापति की आज्ञा जाननी चाही। स्वयं सभापति सुभाषचन्द्र बोस और पार्लमेण्टरी कमिटी के सदस्य मौलाना आजाद, जिनके जिम्मे उस सूबे की देखभाल सौंपी गई थी, वहां गये। मंत्रिमण्डल बनाने के पक्ष में श्री सुभाषचन्द्र बोस बहुत जोरों से थे। पर मौलानासाहब इसे नापसन्द करते थे। मुझसे और सरदार वल्लभभाई पटेल से टेलीफोन द्वारा राय पूछी गई। हम दोनों दो स्थानों में थे। इसलिए बातें करके कोई राय नहीं दे सकते थे। जो जहां था, वहीं से उसने अपनी राय दे दी। मैंने मौलानासाहब के साथ अपनी राय दी। सरदार ने सुभाषबाबू की बात मान ली। हमारे सामने प्रश्न सिद्धान्त का था। कांग्रेस ने मंत्रिपद सिद्धान्ततः लिया था। वह केवल पद के लिए पद नहीं लेना चाहती थी। जहां उसका अपना बहुमत नहीं था, वहां उसे दूसरे विचारवाले लोगों के ऊपर भरोसाा करना पड़ता था। हम समझते थे कि वहां उस तरह स्वतंत्रता और निर्भीकता के साथ काम नहीं हो सकता था, जिस तरह उन सूबों में जहां कांग्रेस के पास अपना बहुमत था। इसी बहुमत के बल पर बिहार और युक्तप्रान्त में इस्तीफा देकर मंत्रिमण्डल राजबंदियों को रिहा करा सका था। इसी बहुमत के बल पर उड़ीसा में सर जौन डेन को गवर्नर होने से रोक दिया था। क्या ऐसा अवसर आने पर आसाम में दूसरों के बल पर कांग्रेस इस तरह का कोई जबरदस्त काम कर सकेगी ? इसमें सन्देह था। इसलिए मैं समझता था कि वहां पद तो मिलेगा और हो सकता है कि मामूलीतौर पर मंत्रिमण्डल का काम भी चले; पर किसी गंभीर अवसर पर हम कांग्रेस की नीति को न चला सकेंगे। पर सुभाषबाबू का विचार था कि पद ले लेने से कांग्रेस की शक्ति बढ़ जायगी और जो लोग उस समय अलग थे, वे उसके साथ आ जायंगे, इसलिए पद ले लेना ही ठीक होगा। सरदार ने सभापति की बात रख दी। वहां ठीक उसी समय मंत्रिमण्डल बना, जब दो-चार दिनों के अंदर ही अखिल भारतीय कमिटी की बैठक होनेवाली थी। आसाम से लौटते रास्ते में सुभाषबाबू की तबीयत कुछ खराब हो गई। वह उस बैठक में देर करके पहुंचे थे।

ऊपर उड़ीसा का जिक्र आया है। वहां मि० डेन सिविल सर्विस के ऊंचे पदाधिकारी थे। वहां के गवर्नर छुट्टी पर जाने लगे; मि० डेन की नियुक्ति उनके स्थान

पर कुछ महीनों के लिए की गई । मंत्रिमण्डल ने कहा कि जो अफसर हमारे अधीन काम करता रहा है और हो सकता है कि गवर्नरी की अवधि पूरी हो जाने पर फिर उसे हमारी अधीनता में ही काम करना पड़े, उसे गवर्नर हीं बनाना चाहिए; क्योंकि जो आज हमारे अधीन है, वह कल हमारे ऊपर हो जाय तो उसी के अधीन हमें काम करना पड़ेगा, यह ठीक नहीं है--काम करने में कठिनाई आ सकती है और सिविल सर्विस के लोगों पर मंत्रिमण्डल का अनुशासन ठीक नहीं चल सकेगा । मंत्रिमण्डल ने धमकी दी कि यदि मि० डेन गवर्नर नियुक्त किये जायेंगे तो मंत्री अपने पद पर नहीं रह सकेंगे, मंत्रिमण्डल इस्तीफा दे देगा । मि० डेन से मंत्रियों का कोई व्यक्तिगत झगड़ा नहीं था, यद्यपि कुछ दिन पहले उनसे किसी विषय पर मतभेद हो गया था । वे इस बात का केवल सिद्धान्ततः विरोध कर रहे थे । नतीजा यह हुआ कि गवर्नर ने छुट्टी नहीं ली । अतः स्थानापन्न गवर्नर की नियुक्ति का मौका उस समय नहीं आया । दूसरे सूबों में, जहां-कहीं गवर्नर ने छुट्टी ली और स्थानापन्न गवर्नर की नियुक्ति का मौका आया, उस सूबे के सिविलियन को यह पद न मिला; दूसरे सूबे से ही कोई लाया गया । खैर, सिद्धान्त की बात तो ठीक थी । पर यह विचारने की बात है कि यदि किसी सिविलियन को ही गवर्नर होना है तो चार महीनों के लिए । इतने दिनों के लिए ही अक्सर गवर्नर छुट्टी लिया करते हैं । दूसरे सूबे से किसी सिविलियन को लाकर गवर्नर बनाना सूबे के लिए कहांतक हितकर है ? चार महीनों में तो वह सूबे की हालत की वाकफियत भी नहीं हासिल कर सकता है । इसका नतीजा यही होगा कि वह केवल जगह टांड़कर बैठेगी, कुछ कर नहीं सकेगा । सबसे अच्छा तरीका तो यह होगा कि उसी सूबे का कोई गैर-सरकारी आदमी गवर्नर बन जाय, जो सूबे की सब बातें जानता हो और अन्य प्रकार से भी योग्य हो । पर यह तो एक छोटी त्रुटि विधान में हैं--इससे बहुत बड़ी-बड़ी त्रुटियां उसमें हैं, जिनके कारण वह सारा-का-सारा बदलना ही पड़ेगा ।

: १३३ :

त्रिपुरी-कांग्रेस के पहले और बाद

अखिल भारतीय कमिटी की बैठक समाप्त हुई, पर अभी वर्किंग कमिटी के सदस्य वहीं थे--जब यूरोप की खबर आई कि हिटलर चेकोस्लोवाकिया पर चढ़ाई करना चाहता है और इंगलैंड के प्रधान मंत्री मि० चेम्बरलेन वहां हिटलर से मिलने गये हैं। जो समाचार मिले, उनसे इसका भय हुआ कि इंगलैंड और जर्मनी में कहीं युद्ध न छिड़ जाय। वर्किंग कमिटी इसीलिए वहां ठहर गई और इस बात पर विचार करने लगी कि लड़ाई यदि छिड़ जाय तो कांग्रेस को क्या करना चाहिए। इसमें शक नहीं मालूम होता था कि हिटलर का चेकास्लोवाकिया पर चढ़ाई करना अनुचित है। यह उतना ही अनुचित है जितना इटली का अबीसीनिया पर चढ़ाई करना अनुचित था--यद्यपि यहां हिटलर को यह कहने का बहाना था कि कुछ जर्मन चेकोस्लोवाकिया में हैं, जिनके साथ वहां की सरकार का बर्ताव ठीक नहीं था और जो जर्मनी के साथ रहना चाहते थे। चेकोस्लोवाकिया में तीन प्रकार के लोग बसते थे--कुछ जर्मन, कुछ चेक, कुछ स्लावेक। यह देश प्रथम युरोपीय महासमर के पहले आस्ट्रिया के साम्राज्य के अधीन था। उस युद्ध के बाद यह स्वतन्त्र हुआ था। वह साम्राज्य जब टुकड़े-टुकड़े किया गया था, तब यह एक टुकड़ा अलग स्वतन्त्र देश के रूप में कायम कम दिया गया था। जिस समय अबीसीनिया की लड़ाई चल रही थी और इटली उसपर आक्रमण करके उसे अपने कब्जे में कर लेने के प्रयत्न में लगा था, कांग्रेस ने अबीसीनिया के साथ हमदर्दी दिखाई थी। हमदर्दी तो ब्रिटिश-सरकार भी दिखलाती थी! कांग्रेस ने निश्चय किया था कि साम्राज्य की लड़ाई में वह ब्रिटेन की मदद नहीं करेगा। उस समय भी प्रश्न उठा था कि यदि ब्रिटिश साम्राज्य अबीसीनिया-जैसे कमजोर देश की मदद के लिए इटली से युद्ध ठान दे तो कांग्रेस मुश्किल में पड़ेगी; क्योंकि कांग्रेस को अबीसीनिया की सहायता अभीष्ट थी, पर ब्रिटिश साम्राज्य की सहायता नहीं। वही प्रश्न इस समय फिर उपस्थित हुआ। साथ ही, यह भी विचारने की बात थी कि कांग्रेस क्या मदद दे सकती है। एक तो कांग्रेस ने अहिंसा के

सिद्धान्तों को मान लिया है । उस सिद्धान्त को मानते हुए वह सशस्त्र युद्ध में मदद कर सकती है या नहीं, यह जटिल प्रश्न उपस्थित होता था । साथ ही, हम यह भी देखते थे कि कांग्रेसी मंत्रिमण्डल कई सूबों में काम कर रहे हैं और उनका सारा काम अहिंसा के सिद्धान्त पर नहीं चल रहा है । कहीं-कहीं बलवा फसाद के समय कांग्रेसी मंत्रिमण्डल के आधिपत्य में भी गोली चलानी पड़ी थी । पुलिस और जेलखाने अपने-अपने काम कर ही रहे थे । भारतीय शासन में कांग्रेस का अधिकार नहीं था, पर वहां भी उसकी ओर से फौज का विरोध इस आधार पर कभी नहीं किया गया था कि हम अहिंसा के माननेवाले हैं और सशस्त्र फौज हमको नहीं चाहिए । इसके अलावा, यदि सचमुच लड़ाई छिड़ जाय तो वह हमारे काबू के बाहर की चीज होगी और कांग्रेस को मजबूरन उसकी मदद या विरोध करना ही पड़ेगा । ये सब प्रश्न एकसाथ अचानक हमारे सामने आ गये । महात्माजी भी वहां उपस्थित थे, पर उन दिनों पं० जवाहरलाल नेहरू यूरोप गये हुए थे । इसलिए महात्माजी की राय तो मिल सकती थी, पर जवाहरलालजी की राय नहीं मालूम हो सकती थी । सब पहलुओं पर विचार होता रहा । विशेषकर यह सवाल तो सामने था ही कि हम कांग्रेसी मंत्रिमण्डल को क्या आदेश देंगे । उसी समय वर्किंग कमिटी के मेम्बरों के बीच इस विषय पर मतभेद मालूम हुआ । पर बहुत कोशिश के बाद भी सभापति की क्या राय थी और वह क्या आदेश देते, हम नहीं जान सके । हम अभी विचार कर ही रहे थे कि उधर से खबर आ गई कि उस समय इंगलैंड और फ्रान्स ने किसी तरह जर्मनी के साथ अपनी बात बना ली और अब लड़ाई नहीं छिड़ेगी ।

यह वर्ष भी प्रायः समाप्त होने पर आ गया । इस वर्ष में कांग्रेस के लोग विशेषकर मंत्रिमण्डल के काम में ही लगे रहे । जहां-तहां कांग्रेस-कमिटियों में भी झगड़े हुए । कांग्रेस के चुनाव बहुत जोश के साथ लड़े गये । इन दो-तीन वर्षों में कांग्रेसी मेम्बर खूब बने; क्योंकि कार्यकर्ताओं ने इसमें बहुत जोर लगाया । पहले तो कुछ दिनों तक कांग्रेस गैर-कानूनी हो गई थी, इसीलिए जब वह फिर काम करने लगी तो लोगों में बहुत जोश था । उसके बाद नये विधान के अनुसार असेम्बली का चुनाव होनेवाला था । कांग्रेस की ओर से नामजदगी के लिए लोगों ने उत्साह दिखलाया । कुछ ने यह भी शायद सोचा कि उनके विचारवाले यदि कांग्रेस में आ जायेंगे तो वे अपने विचारवालों को नामजद करा सकेंगे । इसी तरह के और कारण भी होते गये

और कांग्रेस की मेम्बरी बहुत बढ़ गई थी । अब कांग्रेस के प्रतिनिधियों, अखिल भारतीय कमिटी और कांग्रेस के सभापति के चुनाव का समय भी नजदीक आ गया । कुछ लोगों का विचार था कि इस बार मौलाना अबुलकलाम आजाद ही सभापति चुने जायं । कुछ लोग सुभाषबाबू को चाहते थे कि वही फिर चुने जायं । सुना गया कि सुभाषबाबू की भी इच्छा थी कि वह दुबारा चुने जायं । पर यह बात वर्किंग कमिटी के सदस्यों के सामने नहीं आई थी । हरिपुरा-कांग्रेस के पहले सबकी राय से और विशेषकर महात्माजी की अनुमति तथा आशीर्वाद के साथ सुभाषबाबू सर्व-सम्मति से चुने गये थे । यदि वह अपनी इच्छा महात्माजी से प्रकट करते और हम सब मिलकर राय करते तो शायद कोई रास्ता निकल गया होता और बात आगे न बढ़ती । पर उन्होंने या उनके समर्थकों ने ऐसा नहीं किया । पीछे इस कारण बहुत बुरी तरह झगड़ा उठ खड़ा हुआ ।

१९३९ के मार्च में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन मध्यप्रदेश में, जबलपुर के नजदीक त्रिपुरी में, होनेवाला था । जनवरी में वर्किंग कमिटी की एक बैठक बारदोली में हुई । महात्माजी इधर कई वर्षों से हर साल के जाड़े का एक महीना बारदोली में बिताते हैं । उन दिनों वह वहीं थे । इस लिए बैठक भी वहीं की गई । जहांतक मुझे स्मरण है, वहां कोई विशेष महत्त्व का प्रश्न उपस्थित नहीं था । वहां से रवाना होने के समय हमने जो थोड़ी-बहुत आपस में चर्चा की, उससे मैंने समझा कि इस बार मौलाना साहब को ही सभापति हम लोग चुनें । सुभाषबाबू से इस सम्बन्ध में कोई बात नहीं हुई थी । शायद उन्होंने महात्माजी से भी बातें नहीं कीं । पर हमने यह सुना कि वह जहां-कहीं गये थे, अपने विचारवाले कांग्रेसी लोगों से वह अपने सम्बन्ध में बातें करते थे । महात्माजी से मौलाना की बातें हुईं और वह राजी भी हुए कि वही सभापति चुने जायं । पर हमने सुना कि पीछे उन्होंने अपनी राय बदल दी और महात्माजी से अपनी अनिच्छा प्रकट की । मैं पटने में पहुंच गया था । सरदार वल्लभभाई का तार मिला कि डाक्टर पट्टाभि सीतारमैया के समर्थन के लिए वक्तव्य पर मेरा दस्तखत चाहिए । मैंने मंजूर कर लिया । तब मुझे मालूम हुआ कि डा० पट्टाभि ही चुने जाने चाहिए । यह निश्चय सरदार ने महात्माजी की सम्मति से किया था । अब बात जाहिर हो गई कि मौलाना सभापति होना नहीं चाहते और मुकाबला डा० पट्टाभि सीतारमैया और श्री सुभाष बोस में है ।

यों तो हर साल दो-चार नाम सभापति के चुनाव के लिए उपस्थित किये जाते हैं और उन्हीं में से एक चुना जाता है; पर इधर कई वर्षों से कभी दो का मुकाबला नहीं होता था। प्रायः सभी सूबों के लोग, योंही बिना किसी के बतलाये, मान लेते थे कि इस बार अमुक व्यक्ति को चुनना चाहिए; वही चुना भी जाता था। जो दूसरे नाम रहते थे, उनके सम्बन्ध में कोई खास प्रयत्न नहीं किया जाता था। जहां-तहां कुछ वोट उनको मिल भी जाते तो उसका अर्थ कोई यह नहीं लगाता कि दूसरे के मुकाबले में एक आदमी चुना गया है। इस बार चुनाव का रूप दूसरा हो गया। मालूम हुआ कि दो आदमियों में मुकाबला है। इतना ही नहीं, कुछ ऐसा भी मालूम हुआ कि एक ओर उस विचार के लोग हैं, जो गांधीजी के विचारों के सहमत हैं और दूसरी ओर वे लोग हैं जो गांधीजी के कार्यक्रम में विश्वास नहीं रखते। यद्यपि गांधीजी बम्बई-कांग्रेस के समय से ही कांग्रेस से अलग हो गये थे तथापि अभीतक उनकी ही विचारधारा कांग्रेस में काम कर रही थी, सब बातों में उनकी राय से ही काम होता आ रहा था। जब कभी मतभेद होता तो वही सब मुश्किलों का हल निकालने और अन्त में सभी झगड़ों का वही निपटारा करते। इस बार मालूम हुआ कि मानो कुछ नया होनेवाला है और इसीलिए ऐसे आदमी का चुनाव होना चाहिए जो अपना कार्यक्रम खुद बतावेगा और अपने बनाये रास्ते में कांग्रेस को ले चलना चाहेगा। ये बातें थीं तो सही, पर चुनाव के समय स्पष्ट नहीं हुईं। गांधीजी ने अपनी ओर से कोई वक्तव्य नहीं निकाला। यदि मौलाना रह गये होते तो इसमें कोई सन्देह नहीं था कि वह बहुत बड़े बहुमत से चुने जाते; क्योंकि साधारण कांग्रेसी लोग उनको चाहते थे और वह गांधीजी के कार्यक्रम से अलग होना भी नहीं चाहते थे। उन्होंने यह नहीं समझा कि इस चुनाव में डाक्टर पट्टाभि सीतारमैया एक विचारधारा और एक कार्यक्रम के प्रतीक-स्वरूप चुनाव के उम्मीदवार हैं। खैर, चुनाव हुआ। नतीजा यह हुआ कि एक बड़े बहुमत से श्री सुभाषचन्द्र बोस चुने गये।

कई बरसों से कांग्रेस के कुछ पहले वर्किंग कमिटी की बैठक हुआ करती है, जिसमें कांग्रेस के समय होनेवाली विषय-निर्वाचिनी के लिए प्रस्तावों का मसविदा तैयार किया जाता है। इस बार भी वैसा ही होना था। वर्किंग कमिटी में जो लोग थे, उनमें बहुत ज्यादा ऐसे ही लोग थे, जो सुभाषबाबू की राय से--जहांतक वह मालूम

थी--सहमत नहीं थे । हमने सोचा कि अच्छा हो यदि सुभाषबाबू अपने विचार के लोगों से सलाह करके प्रस्ताव तैयार करें; क्योंकि उनको ही कांग्रेस का भार लेना होगा और उनके लिए भी, जो गांधी-विचारधारा में विश्वास करनेवाले थे, यही अच्छा होगा । वर्किंग कमिटी के सदस्य रहकर और उन प्रस्तावों के तैयार करने में मदद देकर यदि हम कांग्रेस के अधिवेशन के समय उन प्रस्तावों का विरोध करेंगे तो यह हमारे लिए अनुचित होगा । सुभाषबाबू को भी हमारी हाजिरी से संकोच होगा और अपनी इच्छा के अनुसार वह प्रस्ताव नहीं बनवा सकेंगे; क्योंकि वर्किंग कमिटी में हम लोगों का बहुमत था । इसलिए हमने वर्किंग कमिटी से इस्तीफा दे दिया और इस तरह उनको पूरा मौका दे दिया कि वह अपनी इच्छा के अनुसार अपनी वर्किंग कमिटी बना लें और उसी की मदद की प्रस्ताव भी तैयार करें । ऐसा होने से, उन प्रस्तावों को देखने के बाद यदि हम भी उनसे सहमत न होंगे, तो कांग्रेस में उनका विरोध करने के लिए स्वतन्त्र रहेंगे । प्रजातन्त्र का साधारण नियम भी यही है कि जिसके साथ बहुमत हो, वही उसके चलाने का भार ले और बहुमत की मर्जी के मुताबिक कार्यक्रम बनावे ।

हम लोग वर्धा गये, जहां वर्किंग कमिटी होनेवाली थी । गये भी समय पर ताकि सब बातें मुकाबले में हो जायगी और हमारी इस कार्रवाई से कोई गलतफहमी नहीं होगी । पर अभाग्यवश सुभाषबाबू बीमार हो गये, वहां गये ही नहीं । वर्किंग कमिटी के सदस्यों का इस्तीफा ज्यों-का-त्यों पड़ा रहा । यदि चाहते तो उनकी गैरहाजिरी में हम अपने विचार के अनुसार प्रस्ताव तैयार कर लेते और उन्हें विषय-निर्वाचिनी के सामने उपस्थित करने का प्रयत्न करते । पर हमने यह मुनासिब नहीं समझा; क्योंकि सभापति के चुनाव का अर्थ हमने यह समझा कि प्रतिनिधियों का बहुमत सुभाषबाबू से सहमत है और हमारे लिए उचित है कि हम उनको पूरा मौका दें, ताकि वह जिस तरह मुनासिब समझें, काम चलावें । नतीजा यह हुआ कि वर्किंग कमिटी की बैठक स्थगित करनी पड़ी । हम त्रिपुरी का इन्तजार करने लगे । कांग्रेस के लोगों में इस चुनाव और उसके बाद की घटनाओं के सम्बन्ध में चर्चा और वाद-विवाद हो रहा था ।

उधर काठियावाड़ में एक दूसरी परिस्थिति पैदा हो रही थी । वहां कई रियासतों

में प्रजा और राजा के बीच मन-मुटाव हो गया था । सरदार वल्लभभाई इसमें दिलचस्पी ले रहे थे । वहां के लोग उनकी राय से ही काम कर रहे थे । कांग्रेस की नीति अभीतक यही थी कि वह स्वयं सीधे तौर पर रजवाड़ों के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी; पर देशी राज्यों की जनता की प्रजातन्त्रात्मक इच्छा के साथ वह सहानुभूति रखती है और कांग्रेसी लोग व्यक्तिगत रूप से उनकी सहायता भी कर सकते हैं। इसी नीति के अनुसार डा० पट्टाभि सीतारमैया रियासती प्रजामण्डल के सभापति हुए थे और पण्डित जवाहरलालजी भी सभापति । महात्माजी तो मानो सभी बातों में पूछे जाते थे और अपनी सम्मति तथा आदेश से उनको चलाते थे । गुजरात और काठियावाड़ की रियासतों में सरदार वल्लभभाई बड़ी तत्परता और लगन से काम करते थे । जहां जरूरत पड़ती वहां जाते भी थे । सेठ जमनालालजी विशेषकर राजपूताने के रजवाड़ों के सम्बन्ध में काम करते और प्रजामण्डल स्थपाति कराने में सहायता देते ।

इस समय काठियावाड़ की रियासत राजकोट में जो राजा-प्रजा में अनबन हुई, उसमें सरदार वल्लभभाई पड़े । उनके मध्यस्थ होने से कुछ बातें तय हुईं, जिन्हें राजा ने मंजूर किया । इस समझौते से महात्माजी भी सहमत थे । पीछे राजा और राज्याधिकारी समझौते की शर्तों को पूरा करने से मुकर गये । महात्माजी को यह बात बुरी मालूम हुई । वह प्रतिज्ञा और वचन की बड़ी मर्यादा रखते हैं । किसी की हुई प्रतिज्ञा को भंग होते देख उनको आन्तरिक कष्ट होता है । विशेषकर सार्वजनिक मामलों में की गई प्रतिज्ञाओं की प्रतिष्ठा और भी ज्यादा है । उन्होंने चाहा कि जो बात एक बार तय हो गई है, उसे रियासत को पूरा करना चाहिए । इसके लिए उन्होंने पूरा प्रयत्न किया । स्वयं राजकोट चले गये । जब वह सफल नहीं हुए तो उन्होंने अनशन आरम्भ कर दिया । अनशन उनके लिए कोई नई चीज नहीं थी । जब वह दक्षिणी अफ्रीका से लौटकर हिन्दुस्तान में काम शुरू कर रहे थे तब अहमदाबाद के मजदूरों ने हड़ताल की थी । उस हड़ताल में मजदूरों ने प्रतिज्ञा की थी कि जबतक उनकी मांगें पूरी न होंगी, वे काम नहीं करेंगे । प्रतिज्ञा करते समय शायद मजदूरों ने प्रतिज्ञा का महत्त्व नहीं समझा था । भारतवर्ष के लिए भी गांधीजी बिलकुल नये थे । किसी ने प्रतिज्ञा पर इतना जोर उस समय तक नहीं दिया था । जब मजदूरों को कष्ट होने लगा तो वे काम पर वापस जाने लगे । गांधीजी इस बात को बर्दाश्त नहीं कर सके । उन्होंने अनशन शुरू कर दिया । इसका नतीजा यह हुआ कि एक ओर मजदूर

भी अड़ गये और दूसरी और मिल-मालिक भी नरम हो गये। संतोषप्रद समझौता हो गया। उसी नीति के अनुसार उन्होंने राजकोट-राज्य से प्रतिज्ञा पूरी कराने के लिए अनशन आरम्भ कर दिया। यह अनशन ठीक उन्हीं दिनों में हुआ जब त्रिपुरी में कांग्रेस हो रही थी। इसी कारण गांधीजी त्रिपुरी में नहीं आ सके। वहां जो कुछ हुआ, उनकी गैरहाजिरी में ही हुआ।

गांधीजी के अनशन का नतीजा यह हुआ कि इस मामले में वायसराय लार्ड लिनलिथगो पड़े। एक तरह से उस समय मामला तय हो गया। गांधीजी ने अन्न-ग्रहण किया; पर उन्होंने इस अनशन से मार्मिक नैतिक सिद्धान्त निकाले, जिनका जिक्र उन्होंने अधिकतर 'हरिजन' साप्ताहिक में किया। उनका विचार हुआ कि यह अनशन अहिंसात्मक नहीं था। उन्होंने पुनर्विचार के बाद अपनी भूल समझी और इस बात को प्रकाशित भी कर दिया। जिस सूक्ष्मता के साथ वह ऐसे नैतिक प्रश्नों पर विचार करते हैं और जहां-कहीं उनके हृदय में किसी विषय की कोई कार्रवाई बाल-भर भी सत्य से हटी हुई मालूम होती है, उसे तुरन्त स्वीकार करके उससे बाज आने में ज़रा भी नहीं हिचकते। यह वही करते हैं और कर सकते हैं; दूसरा कोई राजनैतिक पुरूष इन विषयों पर उस उच्च्व नैतिक दृष्टिकोण से न तो नज़र डालता है और न छोटी-से-छोटी त्रुटि के कारण कार्यक्रम को बदल देता है।

त्रिपुरी-कांग्रेस का अधिवेशन एक अजीब और दुःखद स्थिति में हुआ। चुनाव के बाद समाचार-पत्रों में जो वाद-विवाद हुआ, उससे आपस में काफी कटुता आ गई थी। सुभाषबाबू के समर्थक हम लोगों पर यह दोषारोपण कर रहे थे कि उनके बहुमत से चुने जाने के कारण हम लोग रूष्ट हो गए हैं, उनको नीचा दिखाना चाहते हैं, इसीलिए हमने वर्किंग कमिटी से इस्तीफा दे दिया है और हर तरह उनके रास्ते में अड़ंगा लगा रहे हैं। हम यह समझते थे कि यदि सचमुच बहुमत उनके साथ है तो कांग्रेस चलाने का पूरा भार उनको नीचा दिखाना चाहते हैं, इसीलिए हमने वर्किंग कमिटी से इस्तीफा दें दिया है और हर तरह उनके रास्ते में अड़ंगा लगा रहे हैं। हम यह समझते थे कि यदि सचमुच बहुमत उनके साथ है तो कांग्रेस चलाने का पूरा भार उनको उठाना चाहिए और ऐसे ही लोगों की वर्किंग कमिटी बनाकर कार्यक्रम निश्चित करना चाहिए जो उनसे पूरी तरह सहमत हों; हम उनसे बहुत बातों में सहमत नहीं थे और हमारे लिए उनके साथ मिलकर काम करना कठिन था--यदि सिद्धान्त और

कार्यक्रम में हमारे साथ उनका मतभेद नहीं था तो उनको चुनाव में लड़ना ही उचित नहीं था--यदि उनके साथ बहुमत नहीं था और वह लोगों की गैर-समझ के कारण अथवा किसी दूसरे कारण से चुने गये थे तो वह चुनाव ही गलत था । जो हो, हम चाहते थे कि कार्यक्रम वह और उनके विचार के लोग बनावें, और उसकी जवाबदेही हमारे सिर पर रहे; हम यह भी न कह सकें कि हम उससे सहमत नहीं हैं । इन्हीं विचारों से हमने कांग्रेस के जल्से से पहले ही इस्तीफा दे दिया था । पर जैसा ऊपर कहा गया है, वह इस्तीफा मंजूर नहीं हुआ; त्रिपुरी-कांग्रेस के समय पुरानी वर्किंग कमिटी बनी रही ।

त्रिपुरी में अधिवेशन के पहले और अधिवेशन के समय आपस में बहुत कशमकश थी । कार्यकर्ताओं में तीव्र मतभेद था । दुर्भाग्यवश सुभाषबाबू बीमार भी थे । त्रिपुरी में वह खिन्नावस्था में पहुंचे थे । वहां की स्वागतकारिणी ने बहुत बड़े समारोह का प्रबन्ध किया था । सभापति के जलूस के लिए सारे सूबे से उतने हाथी जमा किये थे, जितने वर्षों से कांग्रेस के अधिवेशन होने जा रहे थे । बहुतेरे हाथी उस सूबे के रजवाड़ों के थे । प्रतिनिधियों के रहने आदि का भी अच्छा प्रबन्ध हुआ था । सभापति के लिए एक अलग ही कैम्प था, जिसमें काफी लोग ठहरे थे । वर्किंग कमिटी के सदस्य दूसरे कैम्प में ठहराये गये थे और प्रतिनिधि अपने-अपने सूबे के लिए बने कैम्पों में ठहरे थे । प्रतिनिधियों के कैम्पों में गरमागरम बहस चल रही थी । वर्किंग कमिटी की बाजाब्ता बैठक होनी भी कठिन थी; क्योंकि मनोनीत सभापति बीमार थे और आपस का मनमुटाव भी काफी बढ़ गया था । हमने वहां भी बहुत प्रयत्न किया कि मनोनीत सभापति नई कार्यकारिणी बना लें और हम लोगों को मुक्त कर दें; ताकि हम स्वतन्त्रतापूर्वक कांग्रेस के काम में भाग ले सकें । पर ऐसा नहीं हुआ । जो कार्यक्रम वह देना चाहते थे, वह पहले तो हमको पूरा मालूम ही नहीं था और जहांतक मालूम था, हम उससे सहमत नहीं थे । ऐसी अवस्था में कार्यकारिणी को अपना प्रस्ताव तैयार करना पड़ा । उसमें हमने सारी स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए यही कहा कि सभापतिजी यदि चाहें तो अपनी मर्जी के अनुसार कार्यकारिणी बनाकर अपना कार्यक्रम कांग्रेस में मंजूर करा लें, और यदि वह ऐसा करने को तैयार नहीं हैं तो कार्यक्रम और कार्यकारिणी गांधीजी की राय से बनावें । इन दोनों में से वह कोई भी नहीं करना चाहते थे; क्योंकि वह जानते थे कि यद्यपि बहुमत से वह चुने

गये हैं तथापि उनके कार्यक्रम को खुली कांग्रेस मंजूर नहीं करेगी । ऐसी स्थिति में उनको या तो फिर गांधीजी के कार्यक्रम को स्वीकार करके उसी के अनुसार चलना होगा या इस्तीफा देना पड़ेगा । वह गांधी-मतवालों के कार्यक्रम को भी स्वीकार नहीं करना चाहते थे और उनको छोड़ना भी नहीं चाहते थे । वह चाहते थे कि वे लोग उनके कार्यक्रम की जवाबदेही ले और उसे चलावें । हम लोगों में से कुछ आदमी जब-तब जाकर इन बातों के सम्बन्ध में उनसे परामर्श करते; पर कोई रास्ता न निकला और अन्त में यही निश्चय हुआ कि हम लोग अपना प्रस्ताव विषय-निर्वाचिनी समिति के समाने रख दें--सभापति जो उचित समझें करें ।

विषय-निर्वाचिनी की बैठक में सुभाषबाबू अस्वस्थावस्था में किसी तरह लाये गए । वह मंच पर लेटे रहे । उनकी पूजनीया माता और उनके परिवार की लड़कियां उनकी देखभाल करती रहीं । उनके भाई डाक्टर सुनील बोस तथा दूसरे डाक्टर भी बराबर उन्हें देखते रहे । उन्होंने लेटे-लेटे छोटा-सा भाषण भी दिया जिसमें अपनी राय और अपना दृष्टिकोण बतला दिया । हम लोगों का प्रस्ताव भी रखा गया और बहुमत से वहीं स्वीकृत हुआ । बात स्पष्ट हो गई कि विषय-निर्वाचिनी समिति में, जिसके सदस्य अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के सदस्य ही हुआ करते हैं, उनका बहुमत नहीं है और उन्हीं लोगों के साथ अखिल भारतीय कमिटी के रूप में जबतक दूसरा अधिवेशन न हो और नये सदस्य न चुन लिये जायं, सभापति को काम करना होगा । पर अभी कांग्रेस के खुले अधिवेशन में प्रतिनिधियों का क्या रूख होगा--मालूम नहीं था । हम जानते थे कि वहां भी बहुत बड़ा बहुमत हमारे साथ होगा, तो भी, जबतक अधिवेशन न हो ले, इसको कोई निश्चित रूप से नहीं कह सकता था । अब अधिवेशन के समय दो प्रस्ताव पेश होंगे--एक सभापति की ओर से, दूसरा हम लोगों की ओर से, और यही देखना था कि खुले जल्से में क्या नतीजा निकलता है ।

खुले अधिवेशन का समय आ गया । सुभाषबाबू अधिवेशन में शरीक नहीं हुए । इसलिए उनके स्थान पर मौलाना अबुलकलाम आजाद बैठे । यह तभी हुआ जब बहुत इन्तजार के बाद भी मनोनीत सभापति नहीं पहुंचे । उनकी अस्वस्थता का हाल सब लोगों को मालूम था और वहां भी सब बातें बता दी गईं । अधिवेशन आरम्भ हुआ । सभापति का भाषण पढ़कर सुना दिया गया । मिस्त्र से कुछ प्रतिनिधि कांग्रेस देखने आये थे, उनका स्वागत किया गया । उन्होंने मिस्त्र की ओर से कांग्रेस के प्रति

और भारत के आजादी-आन्दोलन के साथ सहानुभूति दिखलाई। उसके बाद बाजाब्ता कार्यक्रम होने को था जब कुछ लोगों की ओर से कहा गया कि सभापति की गैरहाजिरी में प्रस्ताव न पेश किया जाय। सारे देश के लोग एकत्र थे। इतने बड़े अधिवेशन को स्थगित करना ठीक नहीं मालूम पड़ा। सभापति ने कहा कि प्रस्ताव उपस्थित कर दिया जायगा और ज्यादा बहस तथा मत-प्रदर्शन दूसरे दिन होंगे, जब आशा की जाती थी कि सभापति आ जायेंगे। उनकी इस बात को कुछ लोगों ने पसन्द नहीं किया। कुछ लोगों ने शोर मचाना शुरू किया। शोर करनेवालों की संख्या बहुत नहीं थी। पर बड़ी सभा को भी थोड़े लोग गड़बड़ी में डाल दे सकते हैं। उस समय पं० जवाहरलालजी मंच पर खड़े थे। उन्होंने लोगों को शान्त करने का पूरा प्रयत्न किया। पर शोर मचानेवाले शान्त होने के बदले अपने स्थान से आगे बढ़ने लगे और मंच के नजदीक आ पहुंचे तथा अधिक शोर मचाने लगे। जवाहरलालजी अपने स्थान से हटे नहीं। वह लाउड-स्पीकर द्वारा पचास हजार उपस्थित जनता से और दूसरे प्रतिनिधियों से आग्रह करते रहे कि अपने-अपने स्थान पर शान्त बैठे रहें। इसका नतीजा यह हुआ कि जो थोड़े लोग शोर मचा रहे थे, वे आगे तो बढ़े, पर उनका साथ दूसरों ने नहीं दिया और उस समूह में वे मुट्ठी-भर दीखने लगे। वे मंच के नजदीक पहुंचकर कुछ देर तक शोर करते रहे; पर जवाहरलालजी अपने स्थान से डिगे नहीं। अन्त में वे लोग थककर चुप हो गये। उसके बाद सभा की कार्रवाई ठीक चली। दोनों प्रस्ताव उपस्थित कर दिये गये। बहस और मत लेने की बात दूसरे दिन के लिए रख छोड़ी गई।

हमने देखा कि इस प्रदर्शन से उपस्थित जनता और दूसरे प्रतिनिधि रूष्ट हुए। जिन लोगों ने प्रदर्शन द्वारा जनता और प्रतिनिधियों को अपनी ओर खींचने की बात सोची थी उनका प्रयत्न केवल निष्फल ही नहीं हुआ, बल्कि उनके लिए हानिकारक भी हुआ; क्योंकि जो थोड़े लोग उनका साथ भी देनेवाले थे वे भी उनकी इस कार्रवाई से रंज होकर दूसरी ओर चले गये। दूसरे दिन इस विषय पर विचार करने के लिए अधिवेशन उस खुले पंडाल में न करके विषय-निर्वाचिनी के खीमे में किया गया। वहां केवल प्रतिनिधि ही आने दिये गये जिससे मत लेने में सुविधा हो और किसी को शिकायत न रह जाय। वहां पूरी बहस के बाद मत लिया गया। बहुत बड़े बहुमत से हम लोगोंवाला प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। खुले अधिवेशन में दूसरे प्रस्ताव, जिनके

सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं था, पास करके अधिवेशन समाप्त हुआ।

अधिवेशन तो समाप्त हुआ पर कटुता और भी बढ़ गई। किसी बात को हम तय नहीं कर सके। कांग्रेस के अधिवेशन ने ऐसा प्रस्ताव स्वीकार किया, जिसको सभापति नहीं चाहते थे। इतना ही नहीं, उसने सभापति के प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया। अब प्रश्न यह था कि सभापति क्या करते हैं। यदि उस प्रस्ताव को वह मान लेते हैं तो उनको नई कार्यकारिणी ऐसी बनानी होगी, जिसपर गांधीजी का विश्वास हो और जिससे वह सहमत भी हों। त्रिपुरी में बीमार रहने के कारण सुभाषबाबू ने वहां नई कार्यकारिणी नहीं बनाई, जैसा सभापति किया करते हैं। वह तथा हम सब लोग अपने-अपने स्थान को वापस गये।

त्रिपुरी में जो निश्चय हुआ, उसके अनुसार सुभाषबाबू काम नहीं करना चाहते थे। उनका स्वास्थ्य भी ऐसा नहीं था कि इस विषय में कुछ दिनों तक उनके साथ विचारकर कोई फैसला किया जा सके। शायद महात्माजी के साथ उनका कुछ पत्र-व्यवहार होता रहा, पर कोई बात तय नहीं हो पाई। उन्होंने अखिल भारतीय कमिटी की बैठक करनी चाही, जो कलकत्ते में होनेवाली थी। उसके पहले मैं उनके एक बार उनकी बीमारी की हालत में, झरिया के जामादूवा-कोलियरी में जाकर, मिला भी जहां वह अपने भाई के साथ स्वास्थ्य सुधार रहे थे। पर मुझसे कोई खुलकर बातें नहीं हुईं। अखिल भारतीय कमिटी कलकत्ते में हुई। महात्माजी भी कलकत्ते गये, यद्यपि वह कमिटी की बैठक में शरीक नहीं हुए। महात्माजी सोदपुर के खादी-प्रतिष्ठान में ठहरे और हम लोग शहर में, सुभाषबाबू और महात्माजी में कई बार बातें हुईं, जिनमें हम भी अक्सर शरीक रहे। पर कोई नतीजा नहीं निकला। साफ हो गया कि सुभाषबाबू सभापति नहीं हो सकेंगे, क्योंकि अखिल भारतीय कमिटी का बहुमत उनके साथ नहीं था। अब प्रश्न हुआ कि सभापति बने कौन। सरदार वल्लभभाई से सुभाषबाबू तथा दूसरे लोग भी असन्तुष्ट थे; क्योंकि वह सबसे साफ-साफ बातें करते थे। और किसी की खुशामद करके उसे सन्तुष्ट करने की कला कभी उन्होंने सीखी ही नहीं है। पं० जवाहरलालजी इन सारी बातों से कुछ ऊब-से गये थे। यद्यपि उनके सामने भी कोई दूसरा रास्ता नज़र नहीं आता था, तथापि वह सभापतिं का पद लेना पसन्द नहीं कर सकते थे। मौलाना अबुलकलाम आजाद हम लोगों के विचारों से पूरा सहमत थे; पर दुर्भाग्यवश प्रयाग-स्टेशन प्लेटफार्म पर गिर जाने से पैर के

जख्मी होने के कारण चारपाई पर पड़े थे। उनपर भार डालना मुनासिब नहीं मालूम होता था और इस अस्वस्थता में वह उसे स्वीकार भी नहीं करते।

लोगों का ख्याल हुआ कि सुभाषबाबू के इस्तीफा देने पर मैं ही सभापति बनाया जाऊं। मुझे यह बात बिलकुल पसन्द नहीं थी। एक तो मैं इस तरह के झगड़े से हमेशा बचना चाहता हूं--मैं समझता था कि जबतक फिर कांग्रेस न हो और नया सभापति न चुन लिया जाय तबतक गड़बड़ी मचती ही रहेगी और मैं इस झंझट को नहीं संभाल सकूंगा, क्योंकि मेरा मिजाज ही ऐसा नहीं है कि झगड़े कर सकूं; दूसरे त्रिपुरी के बाद बिहार में ही कांग्रेस आमन्त्रित थी और मुझे उसके लिए भी प्रबन्ध करना था, मुझे उसी में समय लगाना पड़ेगा, और यदि मैं अखिल भारतीय काम में ही फंसा रहा तो अपने सूबे का काम बिगड़ जायगा। इन सब विचारों से मैं नहीं चाहता था कि सभापति मैं बनाया जाऊं। पर जब महात्माजी ने दूसरा कोई उपाय न देखकर मुझे आज्ञा दी कि मुझे यह भार उठाना ही पड़ेगा तब मैं इनकार नहीं कर सका।

अखिल भारतीय कमिटी की पहले दिन की बैठक किसी तरह समाप्त हुई, जिसमें कोई विशेष काम नहीं हुआ। हम सब जब पंडाल से अपने-अपने स्थान के लिए रवाना हो रहे थे तो हमने सुना कि पंडित गोविन्दवल्लभ पंत के साथ, जिन्होंने त्रिपुरी का प्रस्ताव कांग्रेस के सामने उपस्थित किया था, और श्री भूलाभाई देसाई के साथ कुछ लोगों ने बुरा बर्ताव किया तथा श्री कृपालानीजी को भी कुछ लोगों ने घेर लिया था और मालूम होता था कि उनके साथ भी कुछ बुरा बर्ताव करेंगे। इन बातों की खबर मुझे उस समय तो नहीं मिली, पर शहर में यह खबर फैल गई। उत्तर भारत के रहनेवाले बहुत रोष में आ गये। जवाहरलालजी को इसका पता लग गया और उन लोगों ने समझा-बुझाकर रोक लिया, नहीं तो दूसरे दिन सभा के पहले ही मारपीट हो जाती। दूसरे दिन सभा में सुभाषबाबू नहीं आये। उन्होंने अपना इस्तीफा भेज दिया। कमिटी ने उसे मंजूर कर मुझे सभापति चुन लिया। मैं ज्योंही खड़ा हुआ और आगे की कार्रवाई शुरू ही करनेवाला था कि कुछ लोग जोरों से शोर मचाने लग गये। जो दृश्य त्रिपुरी में हुआ था वही फिर छोटे पैमाने पर होने लगा। मैं अपने स्थान पर खड़ा रहा। जबतक शोरगुल खत्म नहीं हुआ, मैं खड़ा ही रह गया। जब शोरगुल खत्म हो गया, तो कुछ थोड़ा काम करके मैंने सभा बर्खास्त कर दी। वहां

से चलने के समय कुछ वालण्टियर मेरी रक्षा के लिए मेरे चारों ओर हो लिये। उनमें से एक-दो ने रक्षा के बहाने मेरी बंडी पकड़ ली और खींचातानी करने लगे। तबतक दूसरे बचाने लगे। मुझे कुछ चोट नहीं लगी, परन्तु बंडी का बटन टूट गया। मैं गाड़ी पर सवार कर अपने स्थान पर पहुंचा दिया गया। मैंने इसका जिक्र किसी से नहीं किया; क्योंकि इससे वैमनस्य और बढ़ता। रात की गाड़ी से जब मैं रवाना हुआ तो मुझे स्टेशन पर मालूम हुआ कि डाक्टर विधानचन्द्र राय के घर पर कुछ लोगों ने जाकर शोरगुल मचाया और चीजें तोड़-फोड़ भी दीं। जो नई वर्किंग कमिटी बनी, उसके सदस्यों में बंगाल के डाक्टर विधानचन्द्र राय और डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र घोष थे। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने उस समय सदस्य होना स्वीकार नहीं किया, यद्यपि उन्होंने हर तरह से मदद देने का वचन दिया।

: १३४ :

एक अत्यन्त अप्रिय कार्य

कलकत्ते की बैठक में कोई विशेष काम नहीं हो सका था। इसलिए अखिल भारतीय कमिटी की एक दूसरी बैठक करना आवश्यक था। एक बैठक बम्बई में थोड़े ही दिनों के बाद की गई ! त्रिपुरी में, जैसा ऊपर कहा गया है, मुख्य प्रस्ताव में पंडित गोविन्दवल्लभ पंत ने मुख्य भाग लिया था। पंतजी संयुक्तप्रान्त के प्रधान मन्त्री थे। हम लोगों के विरोधियों ने इस बात का वहां और पीछे भी बहुत प्रचार किया था कि कांग्रेसी मंत्रिमण्डल सुभाषबाबू के विरोधी थे और उन लोगों ने ही त्रिपुरी में अपने प्रभाव से तथा अपनी पद-मर्यादा से अनुचित लाभ उठाकर त्रिपुरी का प्रस्ताव पास कराया है। कुछ और कारणों से कुछ लोग मंत्रिमण्डलों से असन्तुष्ट थे। इस प्रकार से एक दल ऐसा पैदा हो गया था, जो मंत्रिमण्डलों की शिकायत और उनके रास्ते में अड़चनें पैदा किया करता था। मंत्रिमण्डल सभी प्रान्तों में जहां कांग्रेसी मेम्बरों का बहुमत था, कांग्रेस की आज्ञा के अनुसार काम कर रहे थे। पार्लमेण्टरी कमेटी कभी उनके कामों में हस्तक्षेप नहीं करती थी, पर इस बात पर निगहबानी रखती थी कि जो घोषणा और वादा हमने चुनाव के पहले कांग्रेस की ओर से किया था वह पूरा किया जाय। मंत्रिमण्डल भी यथासाध्य इस प्रयत्न में लगे हुए थे। मेरा विचार है कि अपने अधिकार के अन्दर और विद्यमान परिस्थिति में जो कुछ हो सकता था, वे कर रहे थे। पर कांग्रेस के अन्दर के लोगों में से ही कुछ उनका विरोध करने लगे थे। वह विरोध क्रियात्मक रूप धारण करता जाता था। हम लोग कांग्रेस विरोधियों के विरोध को समझ सकते थे। कांग्रसियों के विरोध-विचार भी समझ में आते थे। यथासाध्य उनको मिलाने का प्रयत्न मंत्रिमण्डल किया करते थे। पर अब परिस्थिति कुछ इस तरह की पैदा कर दी गई कि सुभाषबाबू के सभी अनुयायी और मंत्रिमण्डलों के विरोधी एक साथ होकर काम करने लगे। लोगों की मनोवृत्ति ऐसी दीखने लगी कि कांग्रेस के अन्दर जो झगड़ा त्रिपुरी के पहले और बाद में हुआ, उसको मंत्रिमण्डलों के विरूद्ध काम में लाकर मंत्रिमण्डलों को तिरस्कृत किया जाय और इस तरह उनकी

अप्रतिष्ठा की जाय। इसमें डाक्टर खरे और उनके कुछ साथी भी, जैसे मध्यप्रदेश के मंत्रिमण्डल के विरोधी, शरीक हो गये। कुछ लोगों का विचार दीखने लगा कि मंत्रिमण्डलों को तोड़ना सुभाषबाबू के विरोधियों को नीचा दिखाना होगा। हम लोगों के खिलाफ कुछ कहना-करना मुश्किल था, पर मंत्रिमण्डलों के खिलाफ कुछ कह देना और कर देना आसान था; क्योंकि उनको दिन-रात कुछ-न-कुछ करना पड़ता था, और किसी चीज को लेकर उसमें छिद्र निकालना कुछ मुश्किल नहीं है। हम लोगों का कहना था कि यदि मंत्रिमण्डल के विरूद्ध किसी कांग्रेसी को कोई शिकायत हो तो कांग्रेस की कमिटियों के सामने पेश करें। पार्लमेण्टरी कमिटी, वर्किंग कमिटी और जरूरत पड़ने पर अखिल भारतीय कमिटी भी उन शिकायतों की जांच करके उन्हें दूर करने के लिए तैयार थीं। पर उन शिकायतों को लेकर केवल मत ही प्रकट करना नहीं, बल्कि मंत्रिमण्डल को नीचा दिखाने की कार्रवाई करना किसी भी कांग्रेसी के लिए अनुचित था। इस तरह के प्रदर्शन देश में बढ़ते जा रहे थे, जिससें मंत्रिमण्डलों को और उनके साथ-साथ कांग्रेस की प्रतिष्ठा को भी धक्का पहुंचता था।

बम्बई की बैठक में एक प्रस्ताव रखा गया, जिसमें इस तरह के क्रियात्मक विरोध की निन्दा की गई और उसे न करने का कांग्रेसियों को आदेश दिया गया। इस प्रस्ताव का जोरों से विरोध सुभाषबाबू और उनके अनुयायियों ने किया। पर प्रस्ताव बहुत बड़े बहुमत से स्वीकार हो गया। हम समझते थे कि कार्रवाई अब नहीं होगी। पर ऐसा हुआ नहीं। बहुत जल्द इस तरह की बातें हुईं, जिनसे हमको अनुशासन-भंग के लिए सुभाषबाबू के विरूद्ध कार्रवाई करनी पड़ी।

इस दुःखद कहानी के पहले एक सुखद घटना का उल्लेख आवश्यक है। इधर कई वर्षों से गांधी-सेवा-संघ का एक सालाना उत्सव हुआ करता था, जिसमें उसके सभी सदस्य सभी प्रान्तों से एक निश्चित स्थान पर इकट्ठे होकर कई दिनों तक महत्त्व के सिद्धान्तों और प्रश्नों पर चर्चा किया करते थे। इसमें गांधीजी भी शरीक होते थे। जहां बैठक होती थी उस स्थान में सदस्य लोग कुछ सार्वजनिक सेवा का काम किया करते थे। खादी, सूतकताई आदि का प्रदर्शन भी हुआ करता था। इस बार गांधी-सेवा-संघ का अधिवेशन बेतिया (चम्पारन) के पास वृन्दावन में होनेवाला था। वहां कुछ दिनों से पंडित प्रजापति मिश्र ने एक आश्रम खोल रखा था। उसी

इलाके में वर्धा-योजना के अनुसार, बिहार-सरकार की ओर से, प्राथमिक पाठशालाएं भी खोली गई थीं। वहां के कार्यकर्ताओं ने बड़े उत्साह के साथ अधिवेशन के लिए बड़ी तैयारी की थी। महात्माजी को एक थैली भेंट करने की योजना बनाई गई थी। इस अधिवेशन की तिथि इस तरह रखी गई थी, कि कलकत्ते से अखिल भारतीय कमिटी की बैठक के बाद महात्माजी और हम सब सीधे वहां आ जायं। इसीलिए अखिल भारतीय कमिटी की बैठक समाप्त करके महात्माजी के साथ ही मैं भी कलकत्ते से बेतिया के लिए रवाना हुआ। बहुतेरे सदस्य, जो गांधी-सेवा-संघ के मेम्बर नहीं थे, अधिवेशन में शरीक होने के लिए आये। उस अवसर पर संघ के अधिवेशन के अलावा तालीमी संघ की भी जो वर्धा-शिक्षा-योजना को कार्यान्वित करने में लगा था, बैठक वहां की गई थी। उसके सभापति होनेवाले थे बम्बई प्रान्त के प्रधान और शिक्षा-मंत्री श्रीयुत खेर। वह भी हमारे साथ कलकत्ते से वहां आये थे। अधिवेशन बड़े समारोह से हुआ। लोगों ने भी बड़ा उत्साह दिखाया। एक तो गांधीजी को चम्पारन की जनता खूब प्रेम और भक्तिभाव से देखती है; दूसरे, इस प्रकार की इतनी बड़ी कोई दूसरी सभा वहां कभी हुई नहीं थी, इतने लोग बाहर से वहां कभी आये नहीं थे। दोनों पक्षों में, आनेवालों और स्वागत करनेवालों में, काफी उत्साह था। सभी बातें बहुत अच्छी तरह से समाप्त हुईं। गांधीजी को थैली भी दी गई, जिसको उन्होंने कुछ हरिजन-सेवा और कुछ दूसरे कामों के लिए बांट दिया। हरिजन-सेवा के लिए रूपये तो हरिजन-सेवक-संघ को दे दिये गये। स्थानीय कामों के लिए जो था, वह स्थानीय आदमियों के हाथों में दे दिया गया। एक अच्छी रकम बिहार में मजदूर-संगठन करने के लिए अलग करके रख दी गई।

अखिल भारतीय कमिटी की उस बैठक के थोड़े ही दिनों के बाद, जिसमें निश्चय किया गया था कि कोई भी कांग्रेसी किसी ऐसे क्रियात्मक कार्य में भाग न ले जिससे कांग्रेस तथा मंत्रिमण्डलों की प्रतिष्ठा में ठेस लगे, श्री सुभाषचन्द्र बोस ने घोषणा की कि कांग्रेस-कमिटी ने इस निश्चय के विरूद्ध सारे देश में जबरदस्त प्रदर्शन किया जाय। ऊपर कहा जा चुका है कि यह निश्चय बहुत बड़े बहुमत से स्वीकृत हुआ था। अब उस निश्चय की सीधी अवहेलना कर प्रदर्शन कनेवाले तुल गये। घोषणा समाचार-पत्रों में पढ़कर मैंने सभापति की हैसियत से सुभाषबाबू को तार दिया कि इस प्रकार की अवहेलना उचित नहीं है और वह इससे बाज आयं। पर उन्होंने ऐसा

करने से इनकार कर दिया और अपने निश्चय के अनुसार इस प्रकार के प्रदर्शन कराये, जिनमें कांग्रेसी कार्यकर्ता भी बहुत जगहों में शरीक हुए। हमारे सामने अब यह विकट प्रश्न उपस्थित हो गया कि इस तरह की अवहेलना कांग्रेस कबतक बर्दाश्त कर सकती है। कांग्रेस के अन्दर मतभेद निपटाने का एकमात्र रास्ता यह है कि उस प्रश्न पर सम्मति ले ली जाय। पर जबतक उसका निश्चय बहुमत द्वारा बदलवा न दिया जाय तबतक किसी कांग्रेसी को, कांग्रेस के निश्चय के विरूद्ध विचार रखते हुए और मतभेद प्रदर्शित करते हुए भी, कोई विरोधी कार्रवाई नहीं करनी चाहिए--विशेषकर ऐसी कोई कार्रवाई, जिससे कांग्रेस की प्रतिष्ठा को ठेस लगती हो। इस प्रदर्शन में भाग लेनेवालों ने ठीक ऐसा ही किया था। हमारे लिए अनिवार्य हो गया कि हम अनुशासन की कार्रवाई करें।

वर्किंग कमिटी की बैठक की गई। सुभाषबाबू से कैफियत मांगी गई। उन्होंने कैफियत में अपनी कार्रवाई की पुष्टि की और उसका समर्थन किया। वर्किंग कमिटी ने बहुत विचार के बाद निश्चय किया कि सुभाषबाबू का काम ऐसा है, जिसपर उसको मजबूरी अनुशासन की कार्रवाई करनी चाहिए। यह निश्चय कुछ आसान नहीं था; क्योंकि सुभाषबाबू कांग्रेस के एक प्रमुख व्यक्ति थे। वह कांग्रेस के सभापति दो बार चुने गये और हो चुके थे। मतभेद के कारण इस समय वह उस पद से हट गये थे। पर उनकी देश-सेवा, निर्भीकता और त्याग के सभी कायल थे। ऐसे आदमी पर अनुशासन की कार्रवाई कैसे की जाय? सबको खटकता था। न मालूम क्यों, मेरा कुछ भीतरी प्रेम भी उनके साथ था, यद्यपि मुझे उनके साथ मिलकर कोई काम करने का मौका नहीं मिला था और न हम दोनों में किसी समय उतनी घनिष्ठता हुई थी। हां, उनके भाई श्री शरत्चन्द्र बोस को मैं पढ़ने के समय से ही जानता था; क्योंकि हम दोनों एक ही समय प्रेसिडेंसी-कालेज में पढ़ते थे और एक ही होस्टल में रहा करते थे--उनके साथ कुछ घनिष्ठता थी और उनके प्रति मेरा कुछ आदर और प्रेम भी था। पर प्रश्न यह था कि कांग्रेस के सारे संगठन में इस प्रकार के धक्के लगने देना क्या उचित होगा--क्या अपने व्यक्तिगत भावों के कारण इस सार्वजनिक और सार्वदेशिक संस्था की प्रतिष्ठा को धक्का पहुंचानेवाले के साथ अनुशासन की कार्रवाई न की जाय? जैसा ऐसे अवसरों पर हुआ करता है, संस्था के प्रति कर्तव्य-पालन की भावना व्यक्तिगत भावों को दबाने के लिए मजबूर करती है। हम

सबने बहुत दुःख के साथ, पर कर्तव्य-भावना की प्रेरणा से विवश होकर, सुभाषबाबू को कांग्रेस-कमिटी से एक अवधि के लिए खारिज कर दिया। जिन दूसरे लोगों ने उनका उस प्रदर्शन में साथ दिया था, उनके साथ भी कुछ कार्रवाई करना आवश्यक था। पर वर्किंग कमिटी ने इसको खुद न करके प्रांतीय कमिटियों पर छोड़ दिया कि वे जांच कर जहां जैसा मुनासिब समझें कार्रवाई करें।

सुभाषबाबू त्रिपुरी के समय से ही नये दल का संगठन कर रहे थे, जिसको उन्होंने 'फारवर्ड ब्लाक' नाम दिया था। अब वह अधिक जोरों से संगठित किया गया। इसके बाद उस दल और कांग्रेस के बीच खुल्लम-खुल्ला विरोध चलने लगा। प्रांतीय कमिटियों ने भी जहां-तहां कुछ लोगों पर अनुशासन की कार्रवाइयां कीं। आपस का झगड़ा और भी बढ़ गया। कांग्रेस का विरोध उस दल की ओर से सब जगहों में होने लगा।

: १३५ :

उड़ीसा और मध्यप्रदेश के मंत्रिमण्डल

मेरा इस बार सभापति होना मेरे लिए दुःखद रहा; क्योंकि ऐसा वातावरण पैदा हो गया कि सभी जगहों में झगड़े ही चलते रहे और दूसरा काम कठिन हो गया। दो झगड़े और हुए, जिनका जिक्र कर देना अच्छा होगा। एक उड़ीसा का और दूसरा मध्यप्रदेश का। इनके सम्बन्ध की कुछ बातों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। यह बतलाया गया है कि कुछ लोग जहां-तहां मन्त्रिमण्डलों के विरूद्ध बहुत बातें करने लग गये थे। इसी तरह के कुछ लोग उड़ीसा में थे, जिन्होंने वहां के मंत्रिमण्डल की शिकायत शुरू कर दी थी। यह भी मैं ऊपर कह चुका हूं कि जब 'डेलांग' में, १९३८ के मार्च या अप्रैल में, हरिपुरा-कांग्रेस के बाद ही, गांधी-सेवा-संघ की वार्षिक बैठक हुई थी, तो इस तरह की शिकायतें आई थीं। वहां सरदार वल्लभभाई मौजूद थे। मैं भी था। हमने दोनों पक्षों को बुलाकर आपस में मेल-मिलाप करा देने का प्रयत्न किया। जो कुछ शिकायतें थीं, उनकी थोड़ी-बहुत सरसरी जांच भी कर ली। हम आशा करते थे कि मामला निबट जायगा; पर भीतर-ही-भीतर आग सुलगती रही। पार्लमेण्टरी कमिटी के सामने बात आई। उसके सभापति सरदार पटेल ने अन्त में यह कहा कि शिकायत करनेवाले शिकायतें ठीक-ठीक लिखकर दें तब वह जांच करायेंगे, पर दोनों पक्षों को समझ लेना चाहिए कि शिकायत यदि ठीक निकलेगी तो मंत्री पर और अगर झूठी साबित होगी तो शिकायत करनेवाले पर कार्रवाई की जायगी। त्रिपुरी-कांग्रेस के कुछ पहले कांग्रेस के प्रेसिडेंट के नाते सुभाषबाबू के पास भी शिकायत पहुंची। इन सब कारणों से जांच करना आवश्यक हो गया। सुभाषबाबू ने जांच करने का काम मेरे सुपुर्द किया। मैंने जांच शुरू की, पर वह पूरी नहीं हो सकी। मुझे एक बार से अधिक उड़ीसा जाना पड़ा। कई दिनों तक दोनों पक्षों की शिकायतें सुननी पड़ीं। गवाहियां लेनी पड़ीं। बहुत कागजों को पढ़ना पड़ा। जब मेरी रिपोर्ट तैयार हुई, सुभाषबाबू सभापतित्व से इस्तीफा दे चुके थे--मैं प्रेसिडेंट हो चुका था। मेरी लम्बी रिपोर्ट एक अदालती फैसले का रूप रखती थी। उसे पार्लमेंटरी

कमेटी और वर्किंग कमिटी ने मंजूर किया। मुख्य शिकायतें गलत साबित हुईं। शिकायत करनेवालों पर कार्रवाई की गई। पर कुछ दिनों के बाद उनके माफी मांग लेने पर अनुशासन की सजा उठा दी गई।

इस चीज को यहां इतने विस्तार के साथ लिख देना इसलिए आवश्यक था कि शिकायत करनेवालों के पीछे जो लोग मददगार थे, उन्होंने पीछे चलकर कांग्रेस के विरूद्ध खुलेआम काम किया। पंडित नीलकंठदास और पंडित गोदावरीश मिश्र उनमें मुख्य थे। वे श्री विश्वनाथदास प्रधान मंत्री की विरोध आरम्भ से ही करते थे। ये दोनों सज्जन १६२०-२१ से ही कांग्रेस की सेवा करते आ रहे थे। उड़ीसा-प्रान्त के लोगों में दोनों की प्रतिष्ठा थी। जब १६३८ में प्रान्तीय असेम्बली के लिए चुनाव हुआ, पंडित नीलकंठदास केन्द्रीय असेम्बली के मेम्बर थे। उन्होंने प्रान्तीय असेम्बली के लिए उम्मीदवारी की दर्खास्त नहीं दी, पर चुनाव में उन्होंने पूरा भाग लिया। कांग्रेस की ओर से प्रचार में काम भी किया। पंडित गोदावरीश मिश्र प्रान्तीय असेम्बली के लिए खड़े और चुने भी गये। चुनाव हो जाने के बाद जब मंत्रिमण्डल बनने का अवसर आया तो वहां असेम्बली के सदस्यों ने पंडित नीलकंठदास को, जो उस समय असेम्बली के सदस्य नहीं थे, नेता न चुनकर श्री विश्वनाथदास को नेता चुन लिया। जब मंत्रिमण्डल बना तब नेता चुने जाने के कारण स्वभावतः वही प्रधान मंत्री बने। पंडित नीलकंठदास इससे बहुत रूष्ट थे। जो शिकायतें आती थीं, वे ऐसी होती थीं जिनसे श्री विश्वनाथदास के नैतिक चरित्र और ईमानदारी पर हमला होता था। इसीलिए जांच के पहले इस बात की चेतावनी देनी पड़ी थी कि यदि शिकायत साबित न होगी तो मुद्दई पर कार्रवाई की जायगी। शिकायत करनेवाले मुद्दई पंडित नीलकंठदास के साथ काम करनेवाले सज्जन थे, पीछे शायद वह उनसे अलग हो गये। उस समय उन लोगों का कुछ बस न चला; क्योंकि शिकायत गलत और बेबुनियाद साबित हो गई। कांग्रेस से सुभाषबाबू के अलग हो जाने पर पंडित नीलकंठदास ने उनका साथ दिया और केन्द्रीय असेम्बली में भी उनकी कार्रवाई ऐसी हुई जैसी कांग्रेसी सदस्य द्वारा नहीं होनी चाहिए थी। वह कांग्रेस के प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करके केन्द्रीय असेम्बली के सदस्य चुने गये थे। उसमें उन्होंने वादा किया था कि वह कांग्रेस के अनुशासन को मानेंगे। पर कुछ दिनों के बाद उन्होंने ऐसा करने से इनकार कर दिया। कांग्रेस पार्टी से वह अलग हो गये। जब यूरोपीय महायुद्ध

आरम्भ होने के बाद कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों ने इस्तीफा दिया तो उड़ीसा का मंत्रिमण्डल भी, और जगहों की तरह टूट गया। पंडित नीलकंठदास और पंडित गोदावरीश मिश्र इस बात की चिन्ता में लगे रहे कि किसी-न-किसी तरह वहां मंत्रिमण्डल बने। पर जब कांग्रेसी सदस्यों के बहुमत ने उनका साथ नहीं दिया तो वहां की जमींदार-पार्टी के साथ मिलकर, जिसके नेता पारलाकिमेडी के महाराज बहादुर थे, उन्होंने मंत्रिमण्डल कायम कराया, जिसमें श्री गोदावरीश मिश्र मंत्री हुए और महाराजा प्रधान मंत्री ! कुछ कांग्रसी लोगों को उन्होंने फोड़ लिया, पर अधिकांश को जेलों में बन्द करके किसी प्रकार उन्होंने अपना बहुमत कर लिया है और अब भी मंत्रिमण्डल कायम है। पर जिस समय ये पंक्तियां लिखी जा रही हैं (१६ जून, १६४४), समाचार-पत्रों से मालूम होता है कि महाराज और मिश्रजी में कुछ अनबन हो गई है और मंत्रिमण्डल संकट में है। सुना है कि पंडित नीलकंठदास और पंडित गोदावरीश मिश्र में भी अब वह सद्भाव नहीं है, जो कांग्रेस के प्रति विरोध करके मंत्रिमण्डल बनाने के समय दोनों में था।

मध्यप्रदेश की भी कुछ इसी प्रकार की शिकायतें थीं, जिसका संकेत पहले दे चुका हूं। कुछ तो ऐसा बातें थीं जो मंत्रिमण्डल बनने के पहले की थीं। मंत्रिमण्डल बनने के समय डाक्टर खरे और पंडित द्वारकाप्रसाद मिश्र एक साथ थे, दोनों में काफी घनिष्ठता थी; प्रतिद्वंद्वी उस समय समझे जाते थे श्री रविशंकर शुक्ल। पर डाक्टर खरे की नीति और तौर-तरीके से मिश्रजी तथा दूसरे इतने ऊब गये थे और डाक्टर खरे उनसे इतने विरक्त हो गये थे कि अब मिश्रजी और शुक्लजी एक साथ होकर काम कर रहे थे और डाक्टर खरे उनके विरूद्ध ! इसी कारण से वहां का मंत्रिमण्डल टूटा था। डाक्टर खरे हट तो गये थे, पर उनके कुछ साथी और सहयोगी अभी तक उस झगड़े को चलाये जा रहे थे। उसमें से कुछ लोगों ने पुरानी गन्दी शिकायतों और कुछ नई बातों को लेकर, पार्लमेण्टरी कमिटी तथा वर्किंग कमिटी के सामने, मंत्रिमण्डल और विशेषकर मिश्रजी के विरूद्ध, शिकायतें पेश कीं। पहले श्री भूलाभाई देसाई को इन शिकायतों की जांच का भार सौंपा गया। पर उनसे मुद्दई लोगों का मतभेद हो गया। अन्त में मुझे प्रेसिडेंट की हैसियत ने इस मामले को भी देखना पड़ा। मैंने इसमें भी दोनों पक्षों की बातें सुनकर, बहुत-से कागजों को देखकर, फैसला दिया जो वर्किंग कमिटी के सामने पेश होकर मंजूर किया गया। कुछ लोग

फैसले के बाद भी बहुत-कुछ लिखते-बोलते रहे, पर एक बार फैसला हो जाने और पत्रों में छप जाने पर मामला ठंडा पड़ गया ।

मेरा अधिक समय इस प्रकार के कामों में ही लगा, जिससे जी घबराता था और ठीक तरह से रचनात्मक काम करने का मौका नहीं मिलता था । इस बार प्रेसिडेण्ट होने का एक और नतीजा यह निकला कि अपने सूबे के साथ जो घनिष्ठ सम्बन्ध रहा करता था, वह कम हो गया । समयाभाव से मैं सूबे के कामों और बातों में उतनी दिलचस्पी न ले सका और न सूबे का दौरा कर सका । १९३४-३५-३६ में भी जब प्रेसिडेण्ट था और सूबे के दौरे में ही सारा समय लगा दिया था, बिहार में कुछ भी समय न दे सका । वही बात इस बार भी हुई, यद्यपि इस बार दौरा करने का मौका नहीं मिला । किन्तु इस बार बिहार में कांग्रेस का अधिवेशन होनेवाला था । इसलिए, रूपये जमा करने के लिए कहीं-कहीं जरूर जाना पड़ा । जब अखिल भारतीय काम से छुट्टी मिलती, इधर दौड़ जाता, या यों कहिये कि दोनों के बीच में मैं इधर-उधर दौड़ता रहा ।

: १३६ :

रामगढ़-कांग्रेस के लिए स्थान का चुनाव

त्रिपुरी से लौटते ही हमको यह सोचता था कि बिहार में कांग्रेस का अधिवेशन कहां किया जाय। इधर कई बरसों से जल्सा किसी गांव में हुआ करता था। हम भी चाहते थे कि कहीं गांव में ही करें। मेरा विचार पहले यह हुआ कि अधिवेशन सोनपुर में किया जाय। वह तीन जिलों के सीवाने पर है। वहां प्रतिवर्ष बहुत बड़ा, भारत-प्रसिद्ध मेला लगा करता है। उसमें देश-भर से लाखों आदमी आते हैं। लाखों की संख्या में मवेशी, घोड़े-हाथी और दूसरे जानवर, बिक्री के लिए लाये जाते हैं। इसीलिए वहां बहुत बगीचे हैं। लाखों लोगों के लिए जल का प्रबन्ध आसान नहीं है, इसीलिए बहुतेरे कुएं बनाये गये हैं। मेले के समय पानीकल भी जारी किया जाता है, जिसको जिला बोर्ड ने बना रखा है। मेला कार्तिकी पूर्णिमा को हुआ करता है। कांग्रेस का अधिवेशन प्रायः तीन महीने बाद होता। इसलिए मेले में हम बांस, खर, चटाई इत्यादि बहुत सामान सस्ता खरीद सकते थे। प्रतिनिधियों के निवास-स्थान का निर्माण मेले के बाद भी शुरू करके आसानी से पूरा कर सकते थे। इन सुविधाओं के सिवा गण्डक नदी के किनारे होने के कारण बांस, लकड़ी, फूस वगैरह नदी द्वारा आसानी से लाये जा सकते थे। गंगा से उत्तर के जिले, बिहार में कांग्रेस के कार्य-कलाप के लिए, बहुत जानदार जिले समझे जाते हैं। पहले दो बार कांग्रेस के अधिवेशन बिहार में हो चुके थे; पर दोनों बार गंगा से दक्षिण ही--पटने और गया में। उत्तर के लोग बहुत चाहते थे कि उत्तर बिहार में भी एक अधिवेशन हो। इनसब विचारों से मेरा ख्याल था कि यहीं अधिवेशन किया जाय। पर सबकी राय लेनी थी। सबसे अधिक यह देखना था कि जो नगर हम बसायंगे उसके बसाने में स्वास्थ्य की दृष्टि से कहां अधिक सुविधा होगी। इसलिए त्रिपुरी से लौटकर हम दो-चार आदमी उन सभी जगहों को देखने गये, जो अधिवेशन के लिए उपयुक्त समझी जाती थीं। त्रिपुरी में ही मैंने एक अनुभवी इंजीनियर श्री रामदास गुलारी को आमन्त्रित कर दिया था कि बिहार के कांग्रेस-नगर-निर्माण में सहायता देने के लिए उनको आना चाहिए। उन्होंने इस निमन्त्रण को सहर्ष स्वीकार कर लिया था। फैजपुर में जब

पहले-पहल देहात में कांग्रेस का अधिवेशन करने का महात्माजी का विचार हुआ तो वहां निर्माण-कार्य में मदद देने के लिए गुलारीजी ही गये थे। त्रिपुरी में भी उन्होंने ही कांग्रेस-नगर निर्माण का कार्य कराया था। उनके अनुभव से लाभ उठाने के लिए ही मैंने उनको निमन्त्रण दे दिया था। वह ठीक समय पर आ गये। स्थान चुनने में भी शरीक रहे। वह भी उन सभी जगहों पर गये, जिनको हम उपयुक्त समझते थे।

हम लोगों ने पटना जिले में राजगृह को भी इस काम के लिए देखा। वह बहुत ही प्राचीन और ऐतिहासिक स्थान है। उसको जरासंध की राजधानी और बुद्धदेव का निवास-स्थान होने का गौरव प्राप्त है। बौद्ध और जैन-काल में भी उसे बड़ी प्रसिद्धि मिल चुकी है। नालन्दा का वह महान् विद्यापीठ भी वहां से थोड़ी ही दूर है जहां किसी समय हजारों विद्यार्थी और भिक्षु विद्याभ्यास किया करते थे--जहां से विद्वान् भिक्षु और परिव्राजक प्रचारक बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ तिब्बत, चीन प्रभृति देशों में गये थे--जहां के ध्वस्त बिहारों और भग्नावशेषों की खुदाई से निकली हुई इमारतें और किस्म-किस्म के सरंजाम आज भी लोगों को चकित करते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से जगह बहुत ही उपयुक्त और प्राकृतिक दृष्टि से भी रमणीय तथा स्वास्थ्य-प्रद थी, पर आधुनिक सुविधाओं का अभाव! सबसे अधिक वहां पहुंचने की कठिनाई! पानी की भी कमी! इन कारणों से उसे छोड़ देना पड़ा। पीछे यह भी ख्याल हुआ कि पटने के पास ही फुलवारी-शरीफ में अधिवेशन किया जाय। पर यह स्थान पटने के इतना निकट था कि वह शहर का ही अधिवेशन समझा जाता, पर शहर की सुविधाएं वहां नहीं मिलतीं।

उधर छोटा नागपुर के लोगों का, विशेषतः हजारीबाग के बहादुर कांग्रेसी बाबू रामनारायणसिंह का, बहुत जोर था कि कोई स्थान छोटा नागपुर में ही चुना जाय। उनकी हमेशा शिकायत रहा करती थी कि हम लोग छोटा नागपुर के साथ लापरवाही बरतते हैं। छोटा नागपुर भी ध्यान में रखा गया। हम लोगों ने अन्त में हजारीबाग जिले के रामगढ़ को ही पसन्द किया। इसका विशेष यश श्री रामदास गुलारी को ही है; क्योंकि उन्होंने इस स्थान को स्वास्थ्य की दृष्टि से अधिक उपयोगी समझा। मेरी भी धारणा थी कि उन सुन्दर सुहावने जंगलों के बीच दामोदर नदी के किनारे का अधिवेशन अपने ढंग का निराला होगा।

स्थान चुन तो लिया गया पर अधिवेशन के लिए निश्चित स्थान पर जंगल था ! उसको साफ कराना था और वहां प्रायः सबकुछ जुटाना था । आरम्भ से ही मैंने श्री अम्बिकाकान्तसिंह को वहां भेज दिया और वह वहां रहकर बड़े परिश्रम और लगन के साथ काम करने लगे । मैं भी कुछ दिनों तक रांची में ठहरा रहा, जहां से रामगढ़ प्रायः तीस-बत्तीस मील की दूरी पर है । नक्शा वगैरह गुलारीजी बनाने लगे । जंगल कटने लगा । काम आगे बढ़ने लगा । मैं इधर-उधर रूपया जमा करने के लिए और-और भाइयों के साथ घूमने लगा । उनमें मुख्यतः, मेरे साथ प्रायः सभी जगहों में जानेवाले, बाबू मथुराप्रसाद थे । दौड़-धूप करता रहा । बरसात में काम बहुत आगे नहीं बढ़ सकता था । पर तो भी सबका खाका तो तैयार की कर लिया गया । मैं रामगढ़ में ही था । उस समय भी दमा से रूग्ण था । उसी जगह यह खबर मिली कि जर्मनी ने पोलैंड पर चढ़ाई कर दी और इंगलैंड तथा फ्रान्स के साथ भी उसकी लड़ाई छिड़ गई ! उस समय जर्मनी ने, लड़ाई के कुछ दिन पूर्व, रूस के साथ समझौता कर लिया था ।

: १३७ :

कांग्रेस और यूरोप का दूसरा महायुद्ध

इस विषय पर बहुत विचार करने के बाद, १६३८ के सितम्बर में, बिना किसी फैसले पर पहुंचे हुए ही, वर्किंग कमिटी ने बात वहीं छोड़ दी थी, क्योंकि लड़ाई छिड़ी नहीं और चेम्बरलेन ने चेकोस्लोवाकिया को हिटलर का शिकार छोड़कर सुलह कर ली। अब कांग्रेस को कुछ निश्चय करना होगा ! उधर जवाहरलालजी इस समय चीन गये हुए थे। गांधीजी की वाइसराय से मुलाकात हुई। वर्किंग कमिटी की बैठक वर्धा में की गई। मैं बीमार तो था, पर किसी तरह से वर्धा पहुंच गया। महात्माजी ने श्री महादेव देसाई को भेजा कि चाहे जिस तरह हो सके, मुझे वह जरूर वर्धा ले आवें। वर्किंग कमिटी की बैठक कई दिनों तक चली। इसी बीच श्री जवाहरलाल नेहरू भी चीन से वापस आ गये। मामला बहुत गहन था। यह सोचा गया कि यद्यपि श्री सुभाषचन्द्र बोस कांग्रेस से अलग हैं तो भी इस मौके पर उन्हें भी बुलाना चाहिए और उनकी राय भी लेनी चाहिए। कांग्रेस के दूसरे प्रमुख व्यक्ति भी, जो वर्किंग कमिटी के सदस्य नहीं थे, बुला लिये गये।

गांधीजी ने वाइसराय से मुलाकात के बाद एक वक्तव्य प्रकाशित किया था, जिसमें उन्होंने इंगलैंड के प्रति सहानुभूति दिखलाई थी और यह भी कहा था कि हमको इंगलैंड की मदद बिना शर्त करनी चाहिए। इससे कुछ लोगों को गलतफहमी हुई। पीछे जब कांग्रेस-कमिटी की ओर से इस बात की मांग पेश की गई कि ब्रिटिश सरकार युद्ध-विषयक और युद्धोत्तर शान्ति-सम्बन्धी अपने विचार तथा उद्देश्य साफ बतला दे तभी हिन्दुस्तान दिल खोलकर मदद कर सकेगा, तो अंगरेजों को यह कहने का मौका मिला कि गांधीजी अपने प्रकाशित वक्तव्य से हट गये। कांग्रेसियों में बहुतों को यह बात पसन्द नहीं आई कि इस तरह बिना शर्त मदद इस साम्राज्यवादी लड़ाई में देना उन्होंने स्वीकार कर लिया था। बात यह थी कि दोनों पक्षों का विचार आंशिक था। गांधीजी ने यह कभी नहीं सोचा था कि हिन्दुस्तान से रूपये और आदमी की मदद दी जायगी। वह समझते थे कि इस युद्ध में हिन्दुस्तान-ऐसे पराधीन देश की सहानुभूति अंगरेजों के लिए एक ऐसी कीमती चीज होगी जो सारे संसार की

सहानुभूति उनके साथ ला सकेगी। उन्होंने इसी सहानुभूति की बात सोची थी, पर इसमें शक नहीं कि उस समय इस तरह के बयान से लोगों में कुछ खलबली पैदा हुई थी।

वर्किंग कमिटी के सामने प्रश्न था कि वह इस युद्ध के सम्बन्ध में क्या रूख रखेगी; कांग्रेस युद्ध में मदद करेगी कि नहीं, यदि करेगी तो बिना शर्त के अथवा किसी शर्त के पूरा होने पर ? मदद का रूप क्या होगा ? कांग्रेस ने अपने ध्येय में अहिंसा को ही साधन माना है। इस हिंसात्मक युद्ध में एक अहिंसक संस्था कैसे और कौन-सी मदद कर सकती है ? इत्यादि-इत्यादि। कमिटी कई दिनों के विचार के बाद एक निश्चय पर पहुंची और एक ठहराव स्वीकार किया। उसमें नात्सीवाद और फासिस्टवाद के प्रति अपना विरोध प्रकट करते हुए कमिटी ने साम्राज्यवाद के प्रति भी अपना विरोध जताया और ब्रिटिश-राज्य से आग्रह किया कि भारतवर्ष की जनता को इस युद्ध में दिल से मददगार बनाने के लिए वह युद्ध-सम्बन्धी अपने उद्देश्यों को साफ-साफ बतला दें।

इस प्रस्ताव की भाषा बहुत ही सुन्दर और भाव भी अत्यन्त परिष्कृत तथा उपयुक्त थे। इसका श्रेय विशेषकर पं० जवाहरलाल को ही था, जिन्होंने मसविदा तैयार किया था। उसी अधिवेशन में यह स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस अपनी अहिंसा की नीति के कारण इस युद्ध में ब्रिटिश सरकार की मदद करने से इनकार नहीं कर सकती और यदि मौका मिला तो वह हथियार की मदद करने से भी नहीं हिचकेगी। यह कह देना इसलिए आवश्यक है कि इसके बाद जब-जब मौका आया, कांग्रेस के अंग्रेज विरोधी--विशेषकर भारतमंत्री मि० एमरी और भारत-सरकार के उच्च कर्मचारी, जिनमें लार्ड लिनलिथगो भी शामिल थे--यह कहने से न हिचके कि गांधीजी की अहिंसा के कारण ही कांग्रेस मदद नहीं देती। यह ठीक है कि उस बैठक में यह बात इतनी स्पष्ट नहीं हुई थी, पर उस प्रस्ताव से यह स्पष्ट था कि ब्रिटिश-सरकार यदि सन्तोषजनक तरीके से अपने उद्देश्यों को प्रकट कर देगी तो कांग्रेस को मदद देनी ही पड़ेगी और उस मदद का रूप हिंसात्मक हुए बिना नहीं रहेगा। उस समय सारे देश में--विशेषकर कांग्रेसी लोगों में से बहुतेरों में--ब्रिटेन के प्रति सहानुभूति थी और यदि ब्रिटिश साम्राज्यवादी इसका थोड़ा भी परिचय दे देते कि वे सचमुच यह लड़ाई प्रजातंत्र के लिए कर रहे थे, जैसाकि उस समय इंग्लैंड के कुछ प्रमुख राजनीतिज्ञ और

समाचारपत्र गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रहे थे, तो भारत के प्रायः सभी लोग उनके साथ दिल खोल करके हो जाते। परन्तु दुनिया की सहानुभूति पाने के लिए तो यह लड़ाई प्रजातन्त्र स्थापित करने के लिए की जा रही थी, और वास्तविक रूप में ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा तथा पुष्टि के लिए ही की जा रही थी, जैसा पीछे स्पष्ट होता गया!

इस प्रस्ताव के बाद मुझे प्रेसिडेण्ट की हैसियत से दो बार लार्ड लिन-लिथगो से मिलने का मौका मिला--एक बार पं० जवाहरलालजी के साथ और दूसरी बार महात्मा गांधी तथा मि० जिन्ना के साथ। उस समय लार्ड लिनलिथगो भारत के सभी दलों और सभी तरह के विचारवाले लोगों से मिलकर लड़ाई में हिन्दुस्तान की मदद की बात करते थे और चाहते थे कि हिन्दुस्तान के लोग राजी-खुशी से मदद करें और किसी प्रकार की गड़बड़ी न होने दें। लड़ाई शुरू होते ही बिना किसी से पूछे और परामर्श किये ही उन्होंने ब्रिटिश सरकार की ओर से घोषणा कर दी थी कि हिन्दुस्तान भी लड़ाई में शरीक है! हिन्दुस्तान की धारा-सभा कायम थी। सभी सूबों में १९३५ के विधान के अनुसार मंत्रिमण्डल काम कर रहे थे, जिनमें ग्यारह में से आठ सूबों में कांग्रेसी मंत्रिमण्डल स्थापित थे। किसी से न पूछा गया और न राय ली गई, मानो हिन्दुस्तान की किसी संस्था अथवा किसी व्यक्ति का इस लड़ाई से कोई सम्बन्ध ही न था! बिना पूछताछ के ही हिन्दुस्तान को भी लड़ाकों में दाखिल कर दिया गया! कांग्रेस-कमिटी भी बहुत क्षुब्ध थी। हिन्दुस्तान के दूसरे लोग भी इसे पसन्द नहीं करते थे। ऐसी अवस्था में जबतक उनका मतलब स्पष्ट न हो जाय, कुछ भी किसी के लिए करना न सम्भव था और न उचित। लार्ड लिनलिथगो पीछे इसीलिए लोगों से रायबात करने लगे। उन्होंने देश की राजनैतिक संस्थाओं को सन्तुष्ट करने के लिए यह योजना भी रखी कि उनकी (वाइसराय की) कार्यकारिणी परिषद की सदस्य-संख्या बढ़ा दी जायगी और उसमें अधिक हिन्दुस्तानी ले लिये जायेंगे, पर साथ ही वह इस बात पर दृढ़ रहे कि उनके नये या पुराने सदस्यों के अधिकार में कोई परिवर्तन नहीं होगा, उनके विचार से ये सदस्य अपने-अपने विभाग के सरदारमात्र हैं, उनको कोई स्वतन्त्र अधिकार प्राप्त नहीं हैं और कौंसिल की बैठक तो केवल सभी सदस्यों को एक-दूसरे विभाग की कार्रवाईयों से परिचित कराने के लिए ही होती है, वहां कुछ बातों पर वे

सिर्फ विचार कर सकते हैं, पर सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के निपटारे का भार अन्त में वाइसराय पर ही है और उनको ही अधिकार भी प्राप्त है--लड़ाई के जमाने में वह कोई वैधानिक परिवर्तन करने की सम्भावना नहीं देखते थे और इसलिए जो कुछ हो सकता था वह १६३५ के विधान के अन्दर ही हो सकता था।

कांग्रेस की मांगें दो थीं। ब्रिटिश-सरकार के लड़ाई के उद्देश्यों के स्पष्टीकरण के साथ-साथ भारत की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में कांग्रेस चाहती थी कि भविष्य की योजना के लक्ष्य को स्पष्ट तरीके से स्वतन्त्रता का रूप दे दिया जाय और साथ-ही-साथ अभी तत्काल भारत के प्रतिनिधियों को ऐसे शासन-सम्बन्धी अधिकार मिल जायं, जिनके द्वारा वे सचमुच भारत की इच्छा के अनुसार यहां प्रबन्ध कर सकें और लड़ाई में भी सच्ची मदद कर सकें। भविष्य की घोषणा के महत्त्व को कुछ कम भी कर दिया जाय तो भी जबतक तत्काल अधिकार न मिल जायंगे, लड़ाई में जनता की दिलचस्पी न होगी और वह दिल से मदद नहीं कर सकेगी। उस समय से आज तक कांग्रेस की नीति लड़ाई में बाधा पहुंचाने की कभी नहीं रही है। कांग्रेस ब्रिटिश साम्राज्यवाद को भी संसार के लिए कोई श्रेयरकर वस्तु नहीं मानती है। उसे कम-से-कम पिछले बीस पच्चीस बरसों में कभी नहीं माना है-- वह साम्राज्यवाद के बदले में सच्चे प्रजातन्त्रवाद की हिमायती रही है और है--यह चाहती है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद परिवर्तित होकर सच्चे प्रजातन्त्रवाद का रूप उन देशों और उपनिवेशों के लिए धारण कर ले जो आज इस साम्राज्यवाद की एड़ियों के नीचे कुचले जा रहे हैं, जिनमें भारत मुख्य है और स्वाभाविक रीति से भारत की राष्ट्रीय संस्थाएं इसी उद्देश्य को प्राप्त करना अपना कर्तव्य मानती है। अंगरेज भी इस उद्देश्य की निन्दा नहीं करते, वे भी इनकी स्वतन्त्रता अपना उद्देश्य मानते हैं। वे केवल यह कहते हैं कि अभी भारत तथा दूसरे देश, जो उनके कब्जे में हैं, इस योग्य नहीं हुए हैं कि उनको स्वतन्त्रता दी जा सके और इसलिए अंगरेज अपना कर्तव्य समझते हैं कि उनको जबतक यह योग्यता प्राप्त न हो जाय तबतक उनके शासन का भार अपने ऊपर वे रखें। हम भारतवासी इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हैं और यही हमारे मतभेद तथा संघर्ष का कारण है। लड़ाई के आरम्भ में प्रजातन्त्र की लम्बी-चौड़ी बातें की गईं, कांग्रेस ने एक प्रश्न करके इस प्रचार का भंडाफोड़ कर दिया। प्रश्न केवल

इतना ही था कि क्या यह प्रजातन्त्र भारत के लिए भी होगा--अथवा केवल अंगरेजों और युरोपनिवासियों के लिए होगा--यदि एशिया और अफ्रीका के लोगों के लिए भी होगा तो खुलकर स्पष्ट शब्दों में कह दिया जाय, और इसका आश्वासन अभी यथासाध्य अधिकार सौंपकर अमली तरीके से सभी लोगों को दे दिया जाय ।

१९३९ के नवम्बर से १९४२ तक इसी प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर कांग्रेस और हिन्दुस्तान को नहीं मिला । शब्दों के आडम्बर में पहले असली मकसद को छुपा रखने का प्रयत्न किया गया । वह मकसद था ब्रिटिश साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखने का । जैसे-जैसे समय बीतता गया, यह बात साफ होती गई । उस समय लार्ड लिनलिथगो ने हजार कोशिशें कीं; पर कोई भी राजनैतिक दल उनके प्रस्ताव से सन्तुष्ट नहीं हुआ । हां, मुस्लिम लीग को खुश करने के लिए उन्होंने कुछ दिन के बाद एक घोषणा कर दी कि १९३५ के विधान पर लड़ाई के बाद नये सिरे से विचार किया जायगा । उस विधान का कांग्रेस ने भी जबरदस्त विरोध किया था और शायद कुछ नरमदलवालों के सिवा किसी राजनैतिक दल ने उसके अनुसार काम करने की रजामन्दी जाहिर नहीं की थी । इसलिए, लड़ाई के बाद उसको एक प्रकार से आमूल संशोधित और परिवर्तित करने का वादा करके उन्होंने केवल मुस्लिम लीग को ही नहीं, शायद दूसरों को भी सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया हो । पर ऐसा मालूम नहीं होता; क्योंकि उनकी उस समय की और पीछे की कार्रवाइयों से एक ही नतीजा निकलता है । वह चाहते थे कि कांग्रेस के मुकाबले में वह एक दूसरी संस्था खड़ी कर दें और इधर हिन्दुस्तान से कहें कि जबतक ये दोनों मिलकर एक मांग पेश नहीं करतीं, हम कुछ भी करने से मजबूर हैं तथा उधर दूसरी ओर दुनिया को भी बता सकें कि अंग्रेज तो अधिकार देने के लिए तैयार हैं, मगर हिन्दुस्तान के लोग इतने नालायक हैं कि वे आपस में मेल ही नहीं कर सकते, इसलिए वहां ब्रिटिश सरकार का अधिकार अक्षुण्ण रखना आवश्यक एवं अनिवार्य है । इसमें लार्ड लिनलिथगो अपने समय में बहुत हद तक सफल भी हुए हैं । उस समय इन मुलाकातों का नतीजा यही निकला कि कोई सन्तोषजनक उत्तर हमको ब्रिटिश सरकार की ओर से नहीं मिला । जो घोषणा उन्होंने सरकार की तरफ से निकाली थी, उसके सम्बन्ध में हमको साफ-साफ कह देना पड़ा कि उससे हम सन्तुष्ट नहीं हैं ।

वायसराय से मिलने के बाद हमको यह भी निश्चय करना पड़ा कि कांग्रेसी लोग मंत्रिमण्डल में नहीं रह सकते और शासन का भार सूबों में भी अपने ऊपर नहीं रख सकते । इस निश्चय पर बहुत सोच-विचार के बाद ही वर्किंग कमिटी और अखिल भारतीय कमिटी पहुंची थीं । कुछ लोग कांग्रेस के अन्दर ऐसे थे जो इस नीति को पसन्द नहीं करते थे । उनका विचार था कि जो थोड़े-बहुत अधिकार हमारे हाथ में आये हैं, उनको छोड़ना नहीं चाहिए । वे यह भी सोचते थे कि अपने हाथ में इन अधिकारों को रखकर हम देश की अधिक सेवा कर सकेंगे और लड़ाई से जो नुकसान हमें पहुंच सकता है उससे बचने में अथवा लड़ाई से जो लाभ हम उठा सकते हैं उसे प्राप्त करने में--दोनों ही में अधिकार रखकर ही हम अधिक कारगर हो सकते हैं । पर ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम थी । अधिक लोगों का विचार था कि जैसे-जैसे लड़ाई बढ़ती जायगी, सूबों के अधिकार केन्द्रीय सरकार अपने हाथों में लेती जायगी; मंत्रिमण्डल अपने सूबों में कुछ काम बनाने का अधिकार तो रख नहीं सकेंगे, पर जो-कुछ बिगड़ेगा उसकी जवाबदेही उनके सिरपर आती जायगी-केन्द्रीय सरकार में हिन्दुस्तानीयों को कोई अधिकार मिलता नहीं दीखता, इसलिए वहां से जो-कोई भी हिन्दुस्तानी सदस्य वाइसराय के साथ काम करेगा उसे युद्धमन्त्री और वाइसराय की 'हां' में 'हां' मिलाने के सिवा और कुछ करने का मौका नहीं मिलेगा, वह चाहे भी तो प्रान्तीय मंत्रिमण्डलों की कोई विशेष मदद न कर सकेगा; लड़ाई के लिए जनता से पूरी मदद की आशा की जायगी, जनता खुशी से मदद देगी नहीं, क्योंकि उसके सामने न तो भविष्य की कोई उज्ज्वल आशा है और न वर्तमान में उसके प्रतिनिधियों को कोई अधिकार है, इसलिए जब वह ब्रिटिश सरकार के आज्ञानुकूल मदद नहीं दे सकेगी तो मंत्रिमण्डलों को जनता के साथ कुछ जोर-जबरदस्ती भी करनी पड़ेगी, यह कोई भी सच्ची लोकसेवा का व्रत लेनेवाली संस्था ऐसी अवस्था में नहीं करेगी; इसलिए कांग्रेसी मंत्रिमण्डल भी ऐसा करने में असमर्थ होंगे--ब्रिटिश गवर्नमेण्ट को भी लड़ाई लड़नी ही है और उसे मदद-चाहे वह खुशी से दी जाय अथवा जबरदस्ती ली जाय-मिलनी ही चाहिए, वह मंत्रिमण्डलों से इस मदद की आशा रखेगी ही और यदि उसकी आशा पूरी न होगी तो स्वभावतः क्षोभ होगा-अतः अच्छा यही होगा कि हम इस सूखी जवाबदेही को अपने ऊपर न लें, नहीं तो हमको जनता और ब्रिटिश

सरकार दोनों के लात-जूते सहने पड़ेंगे और अगर वह न सहना पड़ा तो कम-से-कम दोनों की फटकार अवश्य खानी पड़ेगी-विशेषकर ऐसी दशा में जब हम कांग्रेसी लोग उस परिस्थिति को, जो आज कायम है और जो लड़ाई के कारण और भी जटिल हो जानेवाली है, संभालने की शक्ति से वंचित रखे जा रहे हैं; और यदि किसी का यह विचार हो कि ब्रिटिश सरकार सचमुच भारतवर्ष के साथ न्याय करना तथा उसे स्वतंत्र बना देना चाहती है, तो इसका सबूत उसकी कार्रवाइयों से मिल जायगा और यदि वह नहीं चाहती है तो कांग्रेस का हट जाना ही ठीक होगा ।

वर्किंग कमिटी और अखिल भारतीय कमिटी ने निश्चय कर लिया कि कांग्रेस के प्रश्नों का यदि सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला तो उसे कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों को इस्तीफा देकर हट जाने के लिए मशविरा देना पड़ेगा । वर्धा में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक हुई । उसने वर्किंग कमिटी को अधिकार दे दिया कि इस बात का वह निर्णय करे और आवश्यकता पड़ने पर मंत्रिमण्डलों को इस्तीफा देने का आदेश दे । जब वाइसराय से बातचीत और सरकार की घोषणा के बाद से वर्किंग कमिटी को सन्तोष नहीं हुआ तो उसने कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों को सूचना दे दी कि अपने-अपने प्रान्त की धारा-सभाओं में वे देश की मांग का समर्थन करायं और उसके बाद इस्तीफा दे दें । उन्होंने ऐसा ही किया । १६३६ के नवम्बर में सभी सूबों के कांग्रेसी मंत्रिमण्डल टूट गये । कांग्रेस का बहुमत इतना था कि कोई दूसरा मंत्रिमण्डल बन नहीं सकता था; क्योंकि बनते ही उसपर अविश्वास प्रकट किया जा सकता था । साथ ही, शायद गवर्नर लोग और वाइसराय यही पसन्द करते थे कि इस प्रकार के मंत्रिमण्डल के बनिस्बत, जो कभी चूं-चें ही कर सकते थे, किसी भी मंत्रिमण्डल का न रहना ही उनके लिए अच्छा होगा-उनको अपनी मनमानी करने का पूरा मौका रहेगा । इसलिए उन्होंने उन सभी सूबों में विधान की ९३वीं धारा के अनुसार अनुशासन अपने हाथों में ले लिया । अब केवल काम-काज चलाने का ही नहीं, नये कानून बनाने और पुराने को बदलने या रद करने का भी पूरा अधिकार गवर्नरों के हाथ में आ गया । लड़ाई आरम्भ होते ही ब्रिटिश सरकार ने १६३५ के विधान में एक दिन में संशोधन कर लिया था, जिसका नतीजा यह होता था कि जब कभी वाइसराय चाहें, प्रान्तीय सरकारों के अधिकार अपने हाथों में कर सकते हैं अथवा उनसे अपनी आज्ञाओं का पालन करा सकते हैं । यह युद्ध की नाजुक परिस्थिति के नाम पर किया गया था, पर मतलब

साफ था और जब मंत्रिमण्डलों ने इस्तीफा दे दिया तो उनका रास्ता और भी साफ हो गया ।

कुछ लोग आज भी जोर देकर कहते हैं कि यदि मंत्रिमण्डलों ने इस्तीफा न दिया होता और अपने स्थानों पर डटे रहते तो जो धांधली और ज्यादतियां लड़ाई के नाम पर सूबों में हुई हैं और की गई हैं वे नहीं होने पातीं । जो लोग इस तरह की बातें करते हैं वे विधान के इस संशोधन को भूल जाते हैं और यह भी भूल जाते हैं कि जहां मंत्रिमण्डल कायम रहे हैं वहां भी केन्द्रीय सरकार की धांधली चली है--बंगाल का मंत्रिमण्डल इसका जीता-जागता सबूत है । वहां मंत्रिमण्डल बनाने और तोड़ने में गवर्नर ने पूरा हाथ बंटाया है । वहां की जनता लाखों की संख्या में दाने-दाने के लिए मोहताज होकर मरी है--मंत्रिमण्डल न उन कारणों को ही दूर कर सका, जिनसे वहां का भयंकर दुर्भिक्ष पैदा हुआ और न अकाल पड़ जाने पर तबतक जनता की कुछ सहायता ही कर सका जबतक केन्द्रीय सरकार ने इसमें हाथ नहीं लगाया--सब तथाकथित अधिकारों के रहते हुए भी न श्री फजलुल हक का और न सर नाजिमुद्दीन का मंत्रिमण्डल बंगाल को इस विपत्ति से बचा सका । इसी सिलसिले में पंजाब और सिन्ध के मंत्रिमण्डलों की बेकसी भी साफ साबित हो गई । उनको केन्द्रीय सरकार ने दबाकर उनसे मंहगी और गल्ले ने निर्यात के सम्बन्ध में कार्रवाई कराई । जब हम सूबा-सरकार के अधिकार के विषय में विचार करते हैं तो हमें इससे मतलब नहीं है कि वह सरकार सही काम कर रही थी या गलत । अगर अधिकार है तो सही करने का है और गलत करने का भी । गलत करने पर ही, अधिकार है या नहीं, ठीक पता चलता है । हो सकता है जिन मामलों में केन्द्रीय सरकार ने उनको दबाया, उसने ठीक ही दबाया और वह गलत काम कर रही थी । पर इससे बात साबित हुए बिना नहीं रह सकती कि प्रान्तीय सरकारों के अधिकार सीमित हैं और लड़ाई के आर्डिनेंसों के जमाने में केन्द्रीय सरकार उनसे जो चाहे करा सकती है । याद रहे, ये मंत्रिमण्डल ब्रिटिश सरकार की मदद करने का दावा बराबर करते रहे हैं और मदद करते भी रहे हैं । तो भी केन्द्रीय सरकार ने उनको दबाने में हिचक नहीं दिखलाई । कांग्रेसी मंत्रिमण्डल अगर अपनी जगह पर रह गये होते और कांग्रेस का ब्रिटिश सरकार के साथ समझौता सन्तोषप्रद नहीं हुआ होता--जैसा नहीं हो सका--तो इसमें ज़रा भी सन्देह की गुंजाइश नहीं है कि उनको बहुतेरे ऐसे कामों के करने पर मजबूर किया

जाता, जिनको न तो कांग्रेस और न वे स्वयं पसन्द करते। उनको मजबूर होकर कुछ दिनों में ही इस्तीफा देना पड़ता और नहीं तो गवर्नर के 'हां' में 'हां' मिलाकर अपने विचार और सिद्धान्तों के विरूद्ध उनकी फरमा-बरदारी करनी ही पड़ती।

इस निश्चय के प्रायः पांच बरसों के बाद जब ये पंक्तियां लिखी जा रही हैं, उन घटनाओं का और ब्रिटिश नीति का सिंहावलोकन करके हम एक ही नतीजे पर पहुंच सकते हैं और वह यह कि इंगलैंड साम्राज्यवाद की लड़ाई लड़ रहा है, दूसरे जो चाहे समझते हों। उसका उद्देश्य है--श्री चर्चिल के शब्दों में, 'जो उसका है उसे अपने कब्जे में रखना।' इतना ही नहीं, ब्रिटिश साम्राज्यवाद यदि जर्मनी को हराकर निष्कंटक, एकछत्र और अधिक जबरदस्त न बनाया जा सके, तो कम-से-कम इसको अपना स्थान यूरोप, एशिया और अफ्रीका में ज्यों-का-त्यों कायम रखना चहिए। ऐसी अवस्था में भारत के लिए कौन-सी आशा हो सकती थी ? कांग्रेस के दिल में जो सन्देह १६३६ में था, उसका समर्थन उसके बाद की घटनाओं ने और ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के शब्दजालों ने-विशेषकर श्री चर्चिल और श्री एमरी के कलाबाजीभरे उद्गारों ने--स्पष्ट रूप से गला फाड़-फाड़कर किया है। इसलिए मैंने उस समय मंत्रिमण्डल में रहकर देश का हित करने में बिलकुल असमर्थ थे--हम अपने को देश के लिए अनर्थ का साधन ही बना सकते थे। इन धारणाओं के बावजूद मैं यह नहीं कर सकता कि मैं उन दिनों इंगलैंड की हार को पसंद करता। चाहे जिन कारणों से हो, जर्मनी की जीत मंजूर नहीं थी। उसने चेकोस्लोवाकिया के साथ ज्यादती की थी, इसलिए कि वह उसके मुकाबले कमजोर देश था। जब जर्मनी ने उस देश के साथ ज्यादती की तब दूसरे लोग भी कुछ-न-कुछ लाभ उठाने के लोभ का संवरण न कर सके। उनमें हंगरी और पोलैंड मुख्य थे। इसलिए जब जर्मनी ने उलटे पोलैंड पर भी ज्यादती शुरू कर दी तब मन में कुछ ऐसा भी भाव उठता था कि ठीक ही किया--पोलैंड को, 'जैसे को तैसा' मिला ! फिर जब उसने हालैंड, बेलजियम, डेनमार्क और नार्वे पर भी चढ़ाई कर दी तो मेरे दिल पर इसका बहुत असर पड़ा। मुझे मालूम होने लगा कि किसी भी कमजोर देश को जर्मनी स्वतन्त्र नहीं रहने देगा। अंगरेजों के प्रति जो थोड़ा-सा गुस्सा था वह कम हो गया और मुझे ऐसा भान होने लगा कि हमको ब्रिटिश की मदद करनी चाहिए, जिससे वह जर्मनी को हरा सके और इस अन्यायी शक्ति का दमन कर सके। यह भाव इतना प्रबल हो गया कि मैंने एक

छोटे बयान में अपने उद्गार को प्रकाशित भी कर दिया। मेरा ख्याल है कि बहुतेरे दूसरे कांग्रेसी लोगों के विचार भी इसी प्रकार के थे। हम ब्रिटिश सरकार की त्रुटियों और हिन्दुस्तान के प्रति उसके अन्यायों को याद रखते हुए भी जर्मनी की धांधली से इतने स्तम्भित हो गये कि ब्रिटिश साम्राज्य की करतूतों को प्रायः भूल-सा गये। इसलिए यह कहना--जैसा आज बहुतेरे अंगरेज और उनके पिट्ठू कह दिया करते हैं--कि कांग्रेस के लोग इंगलैंड की कमजोरी का महसूस करके अपने पुराने वैर का बदला लेना और उसकी विपत्ति से लाभ उठाना चाहते थे, बिलकुल असत्य है। बावजूद हजार शिकायतों के, लड़ाई के आरम्भ के समय से १६४० की जुलाई तक--जब बम्बई में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक में कांग्रेस की ओर से यह कहा गया कि अगर ब्रिटिश सरकार हिन्दुस्तान की भावी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दे और उसे शासन में तत्काल अधिकार दे दे तो भारत एकमत होकर लड़ाई में मदद करेगा--प्रायः किसी कांग्रेसी के दिल में ब्रिटिश सरकार के प्रति कटुता नहीं थी और उस समय तक सभी कांग्रेसी लोग ब्रिटेन की मदद करना अपना कर्तव्य ही मानते थे। हां, उस कर्तव्य की पूर्ति के लिए अधिकार चाहते थे, जिसके बिना जनता को उत्साहित करना संभव नहीं था।

जब बम्बई की उस बैठक के बाद, जिसके कारण गांधीजी को कांग्रेस से अपने को अलग कर लेना पड़ा था और उनको अलग करके भी वर्किंग कमिटी तथा अखिल भारतीय कमिटी ने लड़ाई में सक्रिय मदद की प्रतिज्ञा की थी, ब्रिटिश सरकार ने उस प्रस्ताव को इतनी जल्दी में ठुकरा दिया, तब बहुतेरों के दिल में क्षोभ पैदा हुआ, और वह क्षोभ श्री एमरी तथा श्री चर्चिल की बातों से दिन-दिन बढ़ता ही गया है। इसमें भी सन्देह नहीं कि जितने कम दाम पर इंगलैंड उस वक्त सौदा कर सकता था उतने पर शायद फिर कभी न कर सकेगा। हां, दूसरी बात है कि अपने पशुबल से वह भारतवर्ष को कुछ दिनों तक दबाये रखे। यदि उस समय समझौता हो गया होता तो शायद जापान को भी इस लड़ाई में कूदने के पहले कुछ और विचार कर लेना पड़ता। यदि जापान को यह विश्वास हो जाता कि हिन्दुस्तान ब्रिटिश सरकार के साथ हर तरह से, तन-मन धन से, है तो उसकी हिम्मत पूर्व एशिया पर एकबारगी धावा बोलने की उसी तरह नहीं होती जिस तरह हुई। यदि वह ऐसी हिम्मत करता भी तो कौन कह सकता है कि उसे उतनी सफलता मिलती जितनी मिली। हिन्दुस्तान की

आजादी के साथ-साथ बरमा की स्वतन्त्रता का मसला भी तय हो गया होता। यदि बरमा की बात हो गई होती तो मलाया और सिंगापुर की वह दशा न होती, जो हुई। इसलिए, मैं मानता हूं कि जितनी अदूरदर्शिता ब्रिटेन ने उस समय की उतनी शायद उसने अपने इतिहास में एक अवसर को छोड़कर और कभी नहीं की वह अवसर था जब उसने अमेरिका के उपनिवेशों की मांग अठारहवीं शताब्दी में ठुकराई थी। उसका नतीजा उनके लिए अच्छा नहीं हुआ, यद्यपि वह संसार के लिए शायद अच्छा ही हुआ। और, इसका नतीजा, कौन कह सकता है, क्या होगा ? हो सकता है, इंगलैंड के लिए यह उससे भी बुरा हो जो अमेरिका में हुआ और संसार के लिए भी उसके अधिक लाभकर। अस्तु, यह तो भविष्य की बात है, संस्मरण की नहीं, और इसके लिए यह स्थान भी नहीं है। यहां तो इतना ही कह देना काफी है कि प्रचार के लिए चाहे कांग्रेस पर जो भी दोष लगाया जाय, सत्य का तकाजा यही रहेगा कि कांग्रेस ने हर कदम पर इस बात की कोशिश की है कि भारत प्रजातन्त्रवादी देशों की सहायता देने के योग्य बना दिया जाय, लेकिन हर कदम पर उसको केवल नकरात्मक उत्तर ही मिला, हमेशा उसका तिरस्कार ही किया गया। अन्त में, ऊबकर उसे १९४२ के अगस्त का निश्चय करना पड़ा, जिसका जिक्र आगे आयगा।

लड़ाई आरम्भ हो जाने के बाद कुछ समय तक यह अनिश्चित-सा हो गया कि कांग्रेस का अधिवेशन होगा कि नहीं और होगा तो कब होगा। कांग्रेस का नियम फिर बदल गया था और निश्चय हो गया था कि दिसम्बर में ही सालाना बैठक हो। यह साफ हो गया कि अब दिसम्बर में बैठक नहीं होगी। पर थोड़े ही दिनों में यह भी साफ हो गया कि बैठक अवश्य करनी चाहिए। इसलिए, अब निश्चय हुआ कि मार्च में सालाना इजलास किया जाय। रामगढ़ में अब फिर जोरों से तैयारी होने लगी। मैं वहां बहुत समय नहीं दे सकता था; क्योंकि मुझपर अखिल भारतीय कमिटी के काम का बोझ भी था। पर अब वहां केवल श्री अम्बिकाकान्त ही नहीं रह गये, मंत्रिमण्डल के इस्तीफा के बाद दूसरे लोग भी वहां जाने के लिए फुर्सत पा गये--विशेषकर अनुग्रहबाबू, श्री कृष्णवल्लभसहाय और श्री रामनारायणसिंह की सेवा भी उपलब्ध हो गई। इसलिए मैं बहुत हद तक निश्चिन्त भी हो गया।

: १३८ :

रामगढ़-कांग्रेस का बरसाती अधिवेशन

रामगढ़ में लकड़ी-बांस की कमी नहीं थी। मजदूर भी काफी मिलते थे। इसलिए जंगल साफ करके झोंपड़ी बनवाने का काम जोरों से जारी हो गया। पर श्री रामदास गुलारी अस्वस्थ हो गये। अब उनका वहां रहना कठिन हो गया। सौभाग्य से ठीक उसी समय विलायत से इंजीनियरी का उच्च परीक्षा पास करके श्री रामजीप्रसाद वर्मा वापस आ गये। यह लड़कपन से ही-कांग्रेस के साथ थे। १६३० में जेल गये थे। वहां बेंत भी खाये थे। पढ़ने में तेज थे, इसलिए कालेज के प्रिंसिपल ने उनको फिर इंजीनियरिंग कालेज में, जहां वह पहले पढ़ रहे थे, भरती कर लिया। वहां से अच्छी तरह से अन्तिम परीक्षा में उत्तीर्ण होकर इंजीनियर हो गये। कुछ दिनों तक, इधर-उधर कुछ पैसे कमाकर, अधिक शिक्षा के लिए इंगलैंड जाने का इनका विचार हुआ। वहां जाकर खूब अच्छी तरह से बड़ी-बड़ी परीक्षाएं पास कर लीं। ठीक वहां से इनके चलने के समय ही लड़ाई शुरू हो गई। पर किसी तरह हिन्दुस्तान पहुंच गये। पहुंचते ही रामगढ़ के मुख्य इंजीनियर का काम इन्होंने संभाल लिया। इसलिए जो चिन्ता और दिक्कत श्री गुलारीजी के चले जाने पर होती वह बहुत अंशों तक न होने पाई। रहने के लिए झोंपड़े, खुले अधिवेशन के लिए पंडाल और विषय-निर्वाचिनी के लिए भी पंडाल बनवाने के अलावा प्रदर्शनी के लिए भी झोंपड़े बनवाने थे। पानी का प्रबन्ध करना था। रोशनी के लिए इन्तजाम करना था। प्रत्येक का भार किसी-न-किसी पर दिया गया। पर निर्माण का सारा काम इंजीनियरिंग-विभाग पर ही रहा। वह ठीक तरह से समय के अन्दर पूरा भी हो गया।

हमने जिस जगह को कांग्रेस के लिए चुना था वहां एक-दो छोटे-मोटे कुएं तो थे, पर इस योग्य नहीं थे कि जितने आदमी आयेंगे उतने में से शतांश के लिए भी पूरा पानी दे सकेंगे। दामोदर नदी के किनारे पर स्थान था, पर दामोदर उन दिनों प्रायः सूखी-सी रहती है--वही दामोदर जो बाढ़ आने पर भंयकर रूप धारण कर लेती है और बिहार से निकलकर बंगाल में, विशेषकर बर्दवान-जिले में, भारी विपत्ति और

संकट का कारण बन जाती है । रामगढ़ में, जाड़े और गर्मियों में, एक पतली धारा द्वारा ही--जिसे आदमी बिना धोती भिगाये आसानी से पार कर सकता है--वह अपना अस्तित्व जताती रहती है । पर यद्यपि ऊपर की धारा पतली और छिछली रहती है तथापि बालू के नीचे जल की मात्रा काफी रहती है । यदि पानी निकालने और रोकने का प्रबन्ध किया जा सके तो वह स्रोत अटूट होता है । इसलिए यह निश्चय किया गया कि नदी से ही पानी का प्रबन्ध किया जाय । कुएं द्वारा भी शायद हो सकता था, पर पथरीली पहाड़ी जमीन होने के कारण यह निश्चय करना कठिन था कि वह कुंआ कहां खोदा जाय और खोदने पर भी उसमें काफी पानी मिलेगा । नदी में कुंआ खोदना आसान था और बहुत नजदीक पानी मिल जाता था, इसलिए नदी में कुंआ खोदकर पम्प लगाया गया । पानी साफ करने के लिए बड़ी-बड़ी टंकियां पक्की बनाई गई, जिनमें एक समय एक लाख आदमियों के लिए दो या तीन दिनों तक के खर्च-भर को काफी पानी रह सके । सारे 'नगर' में पाइप लगाकर पानी पहुंचाने का प्रबन्ध किया गया । इस प्रबन्ध के लिए गया-म्युनिसिपैलिटी और भागलपुर-म्युनिसिपैलिटी के पानी-कल के विशेषज्ञ इंजीनियरों ने बहुत परिश्रम से काम किया । पानी का प्रबन्ध ठीक हुआ । उसमें केवल एक त्रुटि रह गई । वह यह थी कि कुएं नदी में थे और नदी में अचानक पानी आ जाने पर कुएं और पम्प दोनों बेकार हो जा सकते थे । पर यह कौन जानता था कि मार्च में इतनी वर्षा होगी कि दामोदर में बाढ़ आ जायगी !

पानी के ख्याल से, और शोभा बढ़ाने के लिए भी, हमने एक और प्रबन्ध किया । जहां कांग्रेस-नगर बसा था, उसके पास होकर एक छोटी नदी 'हुरहुरी' वहीं दामोदर में मिलती थी । इस नदी को हम लोगों ने पक्के बांध से बांध दिया । नतीजा यह हुआ कि एक ओर खूब तैरने लायक गहरा पानी जमा हो गया और दूसरी ओर बांध की ऊंचाई पर से जो पानी बहता वह एक छोटे जल-प्रपात की शोभा के साथ-साथ नहानेवालों के लिए एक कौतूहल का वस्तु भी हो गया ।

इरादा तो था कि गांव की कांग्रेस में, जहांतक हो सके, गांव की चीजों का ही इस्तेमाल किया जाय; पर ऐसा न हो सका । इस नियम का उल्लंघन सबसे पहले जल-कल द्वारा किया गया । अब रह गई रोशनी की बात । इसके लिए या तो बिजली का प्रबन्ध किया जाता या किटसन-बत्तियों का । दोनों में से एक भी देहात की चीज

नहीं थी। तेल की मशालों, पनसाखों और गेंदों से काम चलाना कठिन मालूम हुआ। पर हमने यथासाध्य कोशिश की कि कोई ऐसा ही प्रबन्ध किया जाय। किन्तु न हो सका। अन्त में बिजली की शरण लेनी पड़ी। इसमें एक सुविधा भी अनायास और अचानक मिल गई। गया-कॉटन-मिल्स के मालिकों ने ठीक उसी समय नया इंजन और डाइनमो वगैरह मंगाया था। उन्होंने उन सब चीजों का बंधा-बंधाया और लदा-लदाया पार्सल गया में न खोलकर अपने इंजीनियर के साथ सीधे रामगढ़ भेज दिया! काम आसान हो गया। बिजली लग गई।

प्रदर्शनी का काम कठिन हुआ करता है; क्योंकि उसमें बहुत चीजें जुटानी पड़ती हैं। चर्खा-संघ के मंत्री श्री लक्ष्मीनारायण ने इसका भार उठाया। उन्होंने अखिल भारतीय चर्खा-संघ तथा ग्रामोद्योग-संघ की सहायता से खासा इन्तजाम कर लिया। हां, उन्होंने सिद्धान्ततः प्रदर्शनी के अहाते के अन्दर बिजली नहीं जाने दी; क्योंकि प्रदर्शनी एकमात्र ग्रामोद्योग पर ही निर्भर थी।

कुछ मित्रों का विचार था कि आनेवाले प्रतिनिधियों के लिए बिहार का एक इतिहास हिन्दी में तैयार करा दिया जाय। मुझे यह बात पसन्द आई। त्रिपुरी में भी इस प्रकार का इतिहास तैयार हुआ था। बिहार का इतिहास तो गौरवपूर्ण है। यह काम श्री जयचन्द्र विद्यालंकार के जिम्मे किया गया। उसके छापने का भार लहेरियासराय के श्री रामलोचनशरण बिहारी ने लिया। इतिहास छपकर तैयार हो गया।

बिहार में कुछ होनहार चित्रकार तैयार हो रहे हैं। सबकी इच्छा हुई और मेरी भी राय हुई कि बिहार के इतिहास की कुछ गौरवपूर्ण घटनाएं चित्रों द्वारा चित्रित कर दिखलाई जायं। इस काम को वयोवृद्ध सिद्धहस्त-कलाकार बाबू ईश्वरीप्रसाद वर्मा के नेतृत्व का लाभ मिला। वह कलकत्ता-आर्ट-स्कूल के वाइस प्रिंसिपिल थे। अब वह वहां पेन्शन पाकर अपने जन्मस्थान पटना में रह रहे हैं। कुछ सुन्दर मौलिक चित्र बनाये और प्रदर्शनी में रखे गये। उनकी प्रतिलिपियां पुस्तकाकार प्रकाशित की गईं, जिनमें चित्रित दृश्यों का ऐतिहासिक विवरण दे दिया गया। यह पुस्तक लोगों को बहुत पसन्द आई। चित्रों को लोगों ने बहुत चाव से देखा।

कांग्रेस का आयोजन बहुत बड़े पैमाने पर, जैसा हुआ करता है, किया गया। मौलाना अबुलकलाम आजाद प्रायः एकमत से सभापति चुने गये--प्रायः एकमत से

इसलिए कहा कि श्री मानवेन्द्रनाथ राय (एम० एन० राय) भी उम्मीदवार थे ! पर उनको थोड़े ही वोट मिले । बहुत बड़ा बहुमत मौलाना के पक्ष में था ।

कांग्रेस के अधिवेशन के कुछ पहले ही पटने में वर्किंग कमिटी की बैठक हस्बमामूल की गई । यह बैठक इसलिए की जाती है कि कांग्रेस में उपस्थित करने के लिए कुछ प्रस्तावों का मसविदा पहले से तैयार कर लिया जाय ताकि ठीक कांग्रेस के समय इस काम में जल्दी न करनी पड़े । इस बैठक के बाद ही मैं रामगढ़ के लिए रवाना हो गया । मुझे लोगों ने स्वागत-समिति का अध्यक्ष चुन लिया था । वह भी कुछ अजीब ढंग से हो गया था । स्वागत-समिति के लोगों को ऐसा मालूम हुआ कि स्वागताध्यक्ष के चुनाव के लिए कई नाम पेश किये जा सकते हैं । यह बात लोगों को पसन्द नहीं थी; क्योंकि वे इस मामले में मतभेद का प्रदर्शन करना नहीं चाहते थे । किसी व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध में कुछ कहना उचित नहीं है, इसलिए मैं नाम नहीं देता हूं । इस प्रकार के मतभेदों में कोई डरने की बात नहीं होनी चाहिए--विशेषकर स्वागताध्यक्ष की जिम्मेदारी केवल स्वागत और प्रबन्ध की होती है । कांग्रेस की नीति से उसका कोई, स्वागताध्यक्ष की हैसियत से, सम्बन्ध नहीं होता । तो भी कुछ लोगों की राय हुई कि मैं यदि इस पद को स्वीकार कर लूं तो मतभेद नहीं होगी । मजबूरी मुझे मान लेना पड़ा । अस्तु, मैं पटने से मोटर पर रवाना हुआ । रास्ते में नालन्दा में उतर गया । वहां की खुदाई से निकली हुई इमारतों और म्युजियम में संग्रह की हुई चीजों के देखने का सुअवसर प्राप्त हो गया । मुझे खेद और लज्जा से कहना पड़ता है कि नालन्दा यद्यपि पटना-जिले में ही है, जहां मैं रहा करता हूं, मैंने इसके पूर्व उन इमारतों और सामग्रियों को नहीं देखा था । मुझे देखकर आश्चर्य ही नहीं हुआ, बिहार के अतीत गौरव के प्रति श्रद्धा और भी बढ़ गई । नालन्दा से कुछ आगे बढ़कर रजौली-डाक-बंगला पर मैं दो दिनों के लिए ठहर गया । वहां ठहरने के दो कारण थे--एक तो कुछ आराम कर लेना जरूरी था, दूसरा था स्वागत का भाषण तैयार कर लेना । जगह भी अपने ढंग की अच्छी मिल गई । थोड़ी ही दूर पर जंगल और पहाड़ उस स्थान की शोभा बढ़ाते हैं । हम लोगों के मित्र और पुराने कांग्रेसी श्री गौरीशंकरशरणसिंह का घर उसी गांव में है । इसलिए बिना तरद्दुद और चिन्ता के वहां एकांत में रहकर भाषण लिखने में सुविधा हुई । भाषण में मैंने बिहार के

इतिहास का ही थोड़ी-सा सिंहावलोकन किया था । चलते प्रश्नों और मसलों के सुलझाने अथवा उनपर मत प्रकट करने का प्रयत्न मैंने जानबूझकर छोड़ दिया था ।

रामगढ़ पहुंचकर, तैयारी में जो कमी थी उसको पूरा कराने में ही दिन-रात लगा रहा । महात्माजी समय से पहुंच गये । उनको प्रदर्शनी का उद्घाटन करना था । इसलिए वह कुछ पहले ही आये । उनके पहुंचने के एक दिन पहले बहुत पानी बरस गया । कुछ आंधी भी आ गई । प्रदर्शनी के काम में कुछ बाधा पड़ी । पर बात संभाल ली गई । महात्माजी ने समय पर उद्घाटन किया । आशा की जाती थी कि अब इस वर्षा के बाद आसमान साफ रहेगा और जो कुछ होना था, हो चुका । पर होनेवाला कुछ दूसरा ही था ।

हुरहुरी और दामोदर के किनारे नेताओं के लिए झोंपड़े बने थे, जिनमें से एक में महात्माजी, दूसरे में सभापतिजी और अन्यान्य झोंपड़ों में और-और लोग ठहराये जानेवाले थे । झोंपड़ों की बनावट अच्छी और सुन्दर थी । बांस की चटाई की दीवार, होगला की छाजन और साखू के खम्भे । इसी तरह सभी झोंपड़ों का निर्माण किया गया था--चाहे वह ठहरने के लिए हो अथवा प्रदर्शनी के लिए या कमिटी की बैठक के लिए । बीच में अच्छी चौड़ी सड़क बनाई गई थी । बीच-बीच में आवश्यकतानुसार गलियां बनी थीं ।

यह स्थान पटना-रांची के रास्ते पर ही था । उसपर दामोदर नदी पर एक बड़ा पुल बना हुआ है । पुल और सड़क से नगर की शोभा खूब देखने में आती थी । सड़क बराबर चलती रहती है । उस समय तो और भी अधिक चालू थी । वहां रेल के दो स्टेशन हैं--एक बी० एन० आर० का स्टेशन रामगढ़, नगर से आधा मील दक्षिण; दूसरा स्टेशन ई० आई० आर० का रांची-रोड, जो वहां से प्रायः चार मील उत्तर था । दोनों रेलवे के अधिकारियों ने, भीड़ की सुविधा के लिए, स्टेशनों पर काफी प्रबन्ध किया था । महात्माजी रामगढ़-स्टेशन पर उतरे और सभापतिजी रांची-रोड स्टेशन पर । बड़े जलूस के साथ सभापति कांग्रेस-नगर में पहुंचाये गये । नगर का नाम स्वर्गीय मजहरूलहक साहब के नाम पर रखा गया था । एक विशेष फाटक स्वर्गीय दीपनारायणसिंह के नाम पर था ।

अखिल भारतीय कमिटी और विषय-निर्वाचिनी की बैठकें दो-तीन दिन पहले ही

आरम्भ हुईं। उन्होंने अपना काम प्रायः कांग्रेस के खुले अधिवेशन के दिन तक पूरा कर लिया था। जन-समूह वहां एकत्र हो गया था। पंडाल बहुत सुन्दर बना था। उसको प्रकृति ने ही सुन्दर बनाया था। हमारा काम तो था स्थान चुनकर जमीन बराबर करा देना, नेताओं का मंच अर्थात् प्लाटफार्म बनवा देना, रोशनी लगा देना और चारों ओर घेरा बनवा देना। पंडाल के पास में ही घनघोर जंगल प्रायः दो तरफ था। जंगल था पहाड़ पर, इसलिए वहां से दोनों ओर सुन्दर उठते हुए पहाड़ और जंगल, जहांतक आंखें जा सकती थीं, नजर आते थे। दूसरी ओर कांग्रेस के प्रतिनिधियों के निवास-स्थान आदि दूर तक फैले हुए थे, जो रात के समय रोशनी से जगमग-जगमग करने लगते। प्लाटफार्म सबमें नीचे था और प्रतिनिधियों तथा दर्शकों के बैठने की जगह प्राकृतिक गलरी-जैसी बनी थी। चाहे कोई भी दर्शक कितनी ही दूरी पर क्यों न हो, वह मंच पर बैठे सभापति तथा दूसरे नेताओं को ठीक देख सकता था। लाउड-स्पीकर के कारण उनकी बातें सुनने में कोई कठिनाई तो थी ही नहीं।

कांग्रेस के अधिवेशन का दिन आ गया। दर्शकों के टिकट धड़ाधड़ बिक रहे थे। शायद घंटे में छः-सात हजार या इससे भी अधिक आमदनी हो रही थी। अधिवेशन संध्या-समय पांच या छः बजे से होनेवाला था। मैं सभापतिजी को लाने के लिए चला गया। पंडाल के अहाते में एक सायादार झोंपड़ा कुछ दूर पर बना था, जहां से मुख्य नेताओं को सभापति के साथ जलूस बनाकर ले जाने का प्रबन्ध था। कुछ लोग वहांतक पहुंच गये, कुछ लोग आ ही रहे थे कि इतने में अचानक आकाश के एक कोने में बादल उमड़ आया और पानी बरसना आरम्भ हो गया! सभापतिजी उस झोंपड़े तक पहुंच गये थे, पर अभी जलूस नहीं निकला था। पानी पड़ने लगा। चन्द मिनटों के अन्दर इतने जोर की मूसलाधार वर्षा होने लगी कि वह नीची जमीन पानी से भर गई। सभी दर्शक और प्रतिनिधि अपने-अपने स्थान पर बैठे रहे--भींगते रहे--इस आशा से कि अब पानी रूक जायगा और अधिवेशन हो सकेगा। पर ऐसा नहीं हुआ। वर्षा का जोर बढ़ता ही गया। अन्त में मंच के पास नीची जमीन में इतना पानी भर गया कि वहां लोगों का खड़ा रहना भी कठिन हो गया। लाउड-स्पीकर का सारा प्रबन्ध उसी स्थान पर था। इसलिए वह बिलकुल बेकार हो गया। अन्त में उसी वर्षा में सभापतिजी मंच पर गये। मैं भी साथ गया। मैंने दो-चार शब्दों में स्वागत कर दिया--भाषण पढ़ने का न कोई मौका था और न कोई

उसे सुन ही सकता । सभापतिजी ने भी दो-चार शब्द कहकर उस दिन का अधिवेशन समाप्त कर दिया । जिन लोगों ने महीनों से दिन-रात परिश्रम करके इस शुभ दिन की तैयारी की थी, वे लोग बहुत निराश हुए, पर करना क्या था ? अब तो देखना यह था कि प्रतिनिधियों के रहने के स्थान का क्या हाल है । यह सन्तोष का विषय है कि झोंपड़े इस मूसलाधार पानी को भी बर्दाश्त कर गये । प्रतिनिधि उनमें रात को पानी बरसते रहने पर भी सो सके । उनको कष्ट तो अवश्य हुआ, पर मैं समझता हूं कि हम लोगों के साथ सबकी सहानुभूति रही, किसी को हमसे या हमारे प्रबन्ध की त्रुटियों से रंज नहीं हुआ ।

दूसरे दिन पानी नहीं बरसा, यद्यपि कुछ बूंदाबांदी होती रही । झंडा-अभिवादन के लिए खुले मैदान में एक स्तम्भ बनाया गया था, जो पक्का सीमेण्ट का था । उसके सिरे पर अशोक-स्तम्भ की तरह सिंहों की मूर्ति थी । उसी स्तम्भ के चारों तरफ लोग जमा हो गये । कांग्रेस का अधिवेशन वहीं किया गया । पंडाल में तो पानी जमा होने के कारण बैठना या खड़ा रहना भी असम्भव था । इस खुले मैदान में स्तम्भ के चबूतरे पर सभापति, महात्माजी तथा कुछ दूसरे मुख्य लोग बैठे और सब लोग चारों और जमीन पर बैठ गये । जो प्रस्ताव विषय-निर्वाचिनी ने उपस्थित किये थे, बाजाब्ता उपस्थित किये गये । पूरी बहस के बाद वे स्वीकृत हुए । जो कुछ बाजाब्ता अधिवेशन में होता वह सब किया गया, पर कुछ कम पैमाने पर; क्योंकि हमेशा आसमान का डर बना रहता था कि कहीं फिर पानी न बरसने लगे । महात्माजी का भी भाषण हुआ । अन्त में मैंने सब लोगों से असुविधाओं के लिए माफी मांगते हुए निवेदन किया कि लोग अब अपने-अपने स्थान को चले जायं; क्योंकि नदी में पानी आ जाने के कारण हमारा पानी-कल का प्रबंध बेकार हो गया था, लोगों को अब नदी में गंदले पानी पर भरोसा करना पड़ेगा, हमारे खजाने में चौबीस घंटे से अधिक के लिए अब पानी नहीं रह गया था ! लोगों ने बात मान ली । अधिवेशन समाप्त होते ही लोग जहां-तहां के लिए रवाना होने लगे । उसी दिन, रात की गाड़ी से, सभापतिजी तथा मुख्य-मुख्य नेता भी जहां-तहां चले गये ।

रामगढ़-कांग्रेस का निश्चय भी महत्त्व रखता है । लड़ाई के आरम्भ से जो नीति वर्किंग कमिटी और अखिल भारतीय कमिटी ने कांग्रेस की ओर से बरती थी उसका समर्थन कांग्रेस ने कर दिया । साथ ही, यह भी साफ बात दिया कि भविष्यमें स्वराज्य

के लिए हमें कुछ करना पड़ेगा, उसके लिए अभी से रचनात्मक कार्यक्रम को जोरों से चलाकर लोगों को तैयार किया जाय।

रामगढ़-कांग्रेस के समय रामगढ़ में ही एक दूसरी बड़ी सभा भी हुई। उसका नाम था समझौता-विरोधी-सभा (**Anti-compromise conference**)। उसके मुखिया थे श्री सुभाषचन्द्र बोस। इस सूबे के प्रबन्धकों में मुख्य थे श्री स्वामी सहजानन्द सरस्वती और धनराज शर्मा। जबसे सुभाषबाबू से मतभेद हो गया था, उन्होंने एक दूसरा नया दल कायम किया था, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। वे लोग कांग्रेस-कार्यकारिणी-समिति के विरूद्ध यही प्रचार कर रहे थे कि वह ब्रिटिश सरकार के साथ समझौता करने पर तुली हुई है और देश का अहित करके भी समझौता कर लेगी। इस दल में बहुत प्रकार के लोग शरीक थे, जिनमें कुछ ऐसे लोग भी थे जो सुभाषबाबू के मत और विचारों से कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे, पर जो कार्यकारिणी से रूष्ट थे और यह अच्छा मौका देखकर उसके विरोध में लग गये थे। कांग्रेस न समझौते से कुछ डरती थी और न उसके लिए देश का अहित करना चाहती थी। यदि उसमें किसी प्रकार की उत्सुकता थी तो सिर्फ इतनी ही कि देश का हित हो। पर उस समय इस 'स्लोगन' को खूब चलाया गया। वह कांफ्रेन्स भी अच्छे समारोह से हुई। उसमें और कांग्रेस के अधिवेशन में यह अन्तर रहा कि उसका अधिवेशन, कांग्रेस के पहले होने के कारण, वर्षा शुरू होने के पहले ही समाप्त हो चुका था।

: १३९ :

बिहार की तीन महत्त्वपूर्ण कमिटियां

रामगढ़ के निश्चय के अनुसार हम लोगों को रचनात्मक काम पर जोर देना जरूरी था। इसलिए वहां का काम समाप्त होते ही हमने सोच लिया कि अपने सूबे में इसका प्रबन्ध करना चाहिए। महात्माजी के आदेशानुसार हमारे सभी स्वयंसेवकों को चर्खा चलाने इत्यादि की शिक्षा ले लेनी चाहिए और संगठित जीवन बिताने का भी पाठ सीख लेना चाहिए। इसलिए हमने निश्चय कर लिया कि एक शिविर खोला जाय, जिसमें प्रान्तभर से प्रमुख लोग आकर एकसाथ कम-से-कम एक सप्ताह रहें। जो चर्खा चलाना इत्यादि पूरी तरह न जानते हों, उनको इसकी शिक्षा मिल जाय और प्रतिदिन विचार-विमर्श करके अपने विचार भी सुस्पष्ट तथा दृढ़ बना लिए जायं और साथ ही, शिविर-विमर्श से जो ऐक्य और समता का सबक मिलता है वह भी ले लिया जाय। इसके लिए स्थान हमने सोनपुर चुन लिया। तिथि मुकर्रर कर दी गई, जिस दिन वहां शिविर खोला जायगा। वहां के लोगों को इससे सन्तोष भी हुआ; क्योंकि वे कांग्रेस के पहले ही आशा करते थे कि अधिवेशन यहीं होगा। वह तो न हुआ; पर शिविर से ही उनको कुछ सन्तोष मिल गया।

मैं समझ गया था कि हो-न-हो, कुछ-न-कुछ करना ही पड़ेगा। इसलिए अपने हाथ के कामों को जल्द-से-जल्द समाप्त करके छुट्टी पा लेना आवश्यक समझता था। कांग्रेस-मंत्रिमण्डल ने तीन भारी कामों में मुझे लगा दिया था। बिहार-मजदूर-जांच-कमिटी मुकर्रर करके उसके जिम्मे बिहार के मजदूरों की हालत जांचने और तत्सम्बन्धी सिफारिशें करने का भार सुपुर्द कर दिया था। मैं ही उसका प्रमुख था। शिक्षामंत्री डाक्टर महमूद के बहुत जोर लगाने से पटना-यूनिवर्सिटी में फिर सीनेट का सदस्य होना पड़ा, जिससे मैं १९३० के नवम्बर से ही अलग हो गया था। इसका कुछ जिक्र पहले भी आ चुका है। सीनेट में शिक्षा-सुधार-सम्बन्धी प्रस्ताव उपस्थित करते समय वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की तीव्र आलोचना करते हुए मैंने बताया था कि इस सूबे में, विशेषकर शिक्षा में, हम हर तरह से पीछे हैं--कुछ कानूनदां और

क्लर्की-पेशावालों तथा डाक्टरों को छोड़कर हम और किसी तरह के लोगों को तैयार नहीं कर रहे हैं और न किसी विषय में कोई नई खोज करके अपनी बुद्धि की तीक्ष्णता का ही परिचय देते हैं--कृषिप्रधान प्रदेश होने पर भी यहां वनस्पति-शास्त्र की पढ़ाई और कृषि-सम्बन्धी शिक्षा की कोई प्रधानता अथवा व्यवसथा नहीं है-खनिज पदार्थों में भारत-वर्ष में, सबसे अधिक धनी होने पर भी इस सूबे के लोगों को न तो तत्सम्बन्ध ी शिक्षा की कोई विशेष सुविधा प्राप्त है और उन पदार्थों से लाभ उठाने की कोई प्रेरणा ही दी जाती है। खैर, प्रस्ताव पास हुआ और सरकार ने एक कमिटी भी बना दी, जिसका पूरा विवरण पहले दिया जा चुका है। एक तीसरी हिन्दुस्तानी कमिटी भी मेरे सभापतित्व में थी, पर जिससे मैंने अपने हाथ में बहुत काम होने के कारण इस्तीफा दे दिया था और मौलाना अबुलकलाम आजाद उसके सभापति बनाये गये थे। इसकी भी चर्चा पहले हो चुकी है। इन तीनों कमिटियों के काम को पूरा कर देना था। शिक्षा-समिति के प्रमुख बम्बई के अर्थशास्त्री और शिक्षाशास्त्री श्री के० टी० शाह महाशय बहुत ही परिश्रमी और विचारशील पुरूष हैं और उन्होंने ही उसके तथा दूसरे सदस्यों के सहयोग से परिश्रम बंट जाने के कारण मैंने उतना अधिक महसूस नहीं किया। शिक्षा-कमिटी की रिपोर्ट तीन भागों में तैयार की गई। पहले भाग में प्रारम्भिक शिक्षा के सम्बन्ध में सिफारिश की गई। हमारी मुख्य सिफरिश वर्धा की शिक्षा-योजना से मिलती-जुलती थी--या यों कहें कि वर्धा-योजना की नींव पर ही बनी थी तो अतिशयोक्ति न होगी। ऐसा होना स्वाभाविक भी था; क्योंकि चाहे वर्धा-योजना गांधीजी के अपने मस्तिष्क की उपज ही क्यों न हो, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि आधुनिक प्रगतिशील शिक्षाशास्त्र उसी का समर्थन करता है। शिक्षा-शास्त्रियों में डाक्टर जाकिर हुसेन, प्रोफेसर सैयदैन और स्वयं श्री के० टी० शाह उसके मुख्य सिद्धान्त के हामी थे; और जब यूरोप तथा अमेरिका के शिक्षाशास्त्री भी उसी सिद्धान्त के समर्थक हैं तो कोई कारण नहीं था कि कमिटी के दूसरे सदस्य उसे मंजूर न करें। मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि गांधीजी की यह योजना इस प्रकार सबके द्वारा समर्थित हो सकी। केवल एक विषय में मेरा मतभेद रहा। मैं गांधीजी के साथ इस बात को भी मानता था कि भारत-जैसे गरीब देश में विद्यार्थियों के हुनर और कला से जो कुछ स्कूलों में हम पैदा कर सकेंगे वह इतना काफी होगा कि उसकी आमदनी से ही पूरा नहीं तो अधिकांश खर्च निकल आयेगा। दूसरे सदस्य इतना मानने को

तैयार नहीं थे। कुछ का तो यह भी विचार था कि यदि हम आमदनी पर नजर रखेंगे तो उन कलाओं की ओर से ध्यान खिंचकर आमदनी पर ही केन्द्रित हो जायगा और शिक्षा से बच्चों को यथोचित लाभ नहीं पहुंच सकेगा। जो हो, इस सम्बन्ध के मतभेद को भी हमने इस तरह मिटा दिया कि यद्यपि आमदनी की उपेक्षा नहीं की जा सकती तथापि वह हमारा उद्देश्य नहीं है--हुनरों का सीखना शिक्षा के लिए ही होगा न कि आमदनी के लिए। दूसरा भाग स्कूली शिक्षा से सम्बन्ध रखता था और तीसरा यूनिवर्सिटी की ऊंची शिक्षा के साथ। तीनों भागों को तैयार करने के लिए अलग-अलग उपसमितियां बना दी गई थीं, जिनमें से प्राथमिक शिक्षा और यूनिवर्सिटी की शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाली उपसमितियों का सदस्य मैं था। उपसमितियों की रिपोर्ट पूरी कमिटी के सामने पेश होकर मंजूर की जाने पर सरकार के पास भेज दी गई।

श्री शाह से मेरी पहले की अधिक मुलाकात नहीं थी। इसी सिलसिले में उनको अधिक जानने का सौभाग्य हुआ। उनकी विद्वत्ता, परिश्रमशीलता और सौहार्द से तबीयत खुश हो गई। इसी प्रकार डाक्टर जाकिर हुसैन और प्रो० सैयदैन से, विशेषकर प्रो० सैयदैन से, इसी विषय को लेकर अधिक मुलाकात हुई। डाक्टर जाकिर हुसैन से मिलने के और भी मौके मिलते रहे हैं। इन दोनों के प्रति भी प्रेम और प्रतिष्ठा के भाव उत्पन्न हो गये। डाक्टर सच्चिदानन्दसिंह के सम्बन्ध में कुछ कहना मुश्किल है। वह मेरे विद्यार्थी-जीवन के समय से ही मेरे अभिभावक की तरह रहे हैं। उन्होंने मुझे हमेशा छोटे भाई-सा प्यार किया और स्नेह दिया है। राजनैतिक विषयों में हजार मतभेद होने पर भी उनकी इस स्नेहमयी कृपा में कुछ भी अन्तर मैंने नहीं आने दिया है। इस कमिटी में एकसाथ काम करने से भी हम दोनों में इससे और अधिक क्या हो सकता था। वही बात श्री बदरीनाथ वर्मा के साथ भी है। यदि डा० सिंह बड़े भाई की तरह रहे हैं तो श्री वर्मा छोटे भाई की तरह उनसे राजनैतिक प्रश्न पर भी कोई मतभेद नहीं हुआ है। उनसे राजनैतिक प्रश्न पर भी कोई मतभेद नहीं हुआ हैं। उनसे भी केवल इसी कार्य के कारण कोई विशेष परिचय की बात नहीं थी। डाक्टर अमरनाथ झा से इस कमिटी में कम ही काम पड़ा। कमिटी के मंत्री श्री भवनाथ मुखर्जी मेरे पुराने परिचित सज्जन थे। जब मैं कुछ दिनों के लिए

मुजफ्फरपुर के भूमिहार-ब्राह्मण-कालेज में अध्यापक था वह तब वहां विद्यार्थी थे। मैंने भी कुछ उनको पढ़ाया था। अब भी वह मेरे प्रति वही भाव रखते हैं, जिसका बहुत परिचय कमिटी के कामों में मिला। इस कमिटी का काम तो समाप्त हो गया।

मजदूर-जांच-कमिटी का काम अभी पूरा नहीं हुआ था। इसके सम्बन्ध में कमिटी के सदस्यों को प्रायः उन सभी जगहों में जाना पड़ा था, जहां बड़े-बड़े कारखाने हैं और जहां बहुत मजदूर काम करते हैं। यदि विचार देखा जाय तो मालूम होगा कि जितने प्रकार के और जिस पैमाने पर रंग-बिरंग के काम इस सूबे में मजदूर करते हैं उतने शायद ही किसी दूसरे प्रान्त में करते हों। खेतिहर मजदूर की बात अलग है--वे इस कमिटी के बाहर रखे गये थे--इसको केवल कारखानों के मजदूरों की हालत की जांच करने का अधिकार दिया गया था। पर कारखाने भी अनेक प्रकार के हैं। उत्तर-बिहार में ऊख से चीनी बनाने के कारखाने अधिक हैं। दूसरे प्रकार के कारखाने विशेषकर शहर में या उसके आस-पास रहते हैं अथवा मजदूरों के जमाव के कारण स्वयं शहर बना लेते हैं, जो कारखानों के साथ-साथ बढ़ते और उन्नति करते जाते हैं; क्योंकि देखादेखी और सुविधाओं की उपलब्धि के कारण एक बड़े कारखाने के खुलते ही अनेकानेक कारखाने उस स्थान पर खुल जाते हैं। किन्तु ऊख के कारखाने इसके ठीक विपरीत अलग-अलग गांवों में होते हैं; क्योंकि उनको ऊख से काम चलाना पड़ता है और वह छोटे दायरे में पैदा नहीं की जा सकती है और न बहुत दूर से लाई जा सकती है। इसलिए कारखाने को कच्चे माल के पास जाना पड़ता है अर्थात् ऐसे स्थान में कारखाना कायम करना पड़ता है, जहां कच्चा माल पैदा हो सकता है; क्योंकि वह बहुत दिन ठहर नहीं सकता और बहुत दूर से ढोकर लाया नहीं जा सकता। कारखाना भी साल-भर नहीं चलता, प्रायः चार-पांच महीनों तक ही चलता है। गांव में कारखाना होने के कारण अधिकतर मजदूर अपने गांवों में जाकर ही काम करते हैं और छुट्टी के समय अपने घर चले जाते हैं। यह हुई एक किस्म। दूसरी किस्म बिहार की कोयला-खानों में पाई जाती है। वहां का काम साल-भर चलता है। बहुतेरे मजदूर कुछ दूर से आकर खानों के नजदीक ही झोंपड़ों में रहते हैं, जो उनके निमित्त खानों के मालिक बनवाते हैं। यह काम भी कुछ फैला हुआ है, यद्यपि यह फैलाव ऊख की खेती के मुकाबिले नहीं के बराबर है। तीसरी

किस्म जमशेदपुर के बड़े कारखाने में पाई जाती है। इसमें प्रायः सभी प्रान्तों के लोग काम करते हैं, जो वहीं रहते हैं। वहां उनकी सुविधा के लिए कम्पनी की ओर से प्रबन्ध है। प्रान्त के दूसरे हिस्सों में कुछ और भी कारखाने हैं, जो तरह-तरह की चीजें बनाते हैं। जैसे--लोहा और लाह के, कपड़ा और पाट बुनने के, चावल और तेल के इत्यादि। अबरख की खानें और कारखाने भी बहुत हैं। दूसरी धातुओं की खाने भी हैं। इन सब प्रकार के कारखानों के मजदूरों की हालत जानने और जांचने के लिए सभी प्रकार के कारखानों और खानों को कमिटी के सदस्यों ने जाकर देखा। मजदूरों और पूंजीपतियों की बातें सुनीं तथा उनके बयान लिये। मैं ऊख के और कुछ दूसरे प्रकार के कारखानों को छोड़कर प्रायः सभी जगहों में कमिटी के साथ गया। बयानों और इजहारों के लेने में शरीक रहा। यह काम खत्म करके रिपोर्ट-सम्बन्धी बहुत बातें भी हो चुकी थीं। रिपोर्ट लिखने का भार कमिटी के मंत्री प्रोफेसर राजेन्द्रकिशोरशरण को दिया गया था। उन्होंने उसे तैयार किया था; पर उसपर कमिटी ने बैठकर अभीतक विचार नहीं किया था। रामगढ़-कांग्रेस समाप्त होते ही इस कार्य को पूराकर देने का निश्चय मैंने कर लिया था इसलिए कमिटी की बैठक कांग्रेस-अधिवेशन के तीन-चार दिन बाद ही मुकर्रर कर दी गई थी। रामगढ़ से मैं पटने आया और इस कमिटी के काम में लग गया।

कमिटी की बैठक प्रायः चौदह-पन्द्रह दिनों तक चलती रही। सवेरे साढ़े सात बजे से एक बजे तक और फिर ढाई बजे से संध्या सात-आठ बजे तक प्रतिदिन हम बैठते। इसके अलावा रात को अथवा सवेरे और दोपहर को जो थोड़ा समय मिल जाता, उसमें अकेले तत्सम्बन्धी अध्ययन करते। इस सिरतोड़ परिश्रम के बाद रिपोर्ट मंजूर हुई। मुझे इस बात से बहुत प्रसन्नता हुई कि रिपोर्ट की सभी बड़ी सिफारिशें सर्वसम्मति से हुईं। कुछ छोटी-मोटी बातों में चाहे थोड़ा-बहुत मतभेद रहा हो, पर रिपोर्ट एक स्वर से पास हुई। इसका महत्त्व इस कारण से बढ़ जाता है कि उसमें पूंजीपतियों के प्रतिनिधि भी थे और मजदूर-संघों के भी। कुछ लोग तटस्थ समझे जानेवाले भी थे। तीनों का मतैक्य यह बतलाता है कि हम सब इसपर तुले हुए थे कि हम ऐसी सिफारिशें करें, जिनको एक तरफ से मजदूर और दूसरी तरफ से कारखानों के मालिक एकबारगी अयोग्य अथवा समझकर नामंजूर न कर दें। इसमें

सबने पूरी मदद की। सबकी सदिच्छा और सद्भावना का ही फल यह मतैक्य हुआ। हम जानते थे कि लड़ाई के कारण स्थिति में बहुत परिवर्तन हो सकता है और यद्यपि अभी उस समय तक (१६४० के अप्रैल तक) भारत में कोई उतना बड़ा अर्थिक परिवर्तन देखने में नहीं आता था, पर इसकी सम्भावना आंखों से ओझल नहीं थी। इसलिए हम जानते थे कि शायद ही हमारी सिफारिशें पूरी तरह काम में लाई जायं, तो भी हमने अपना कर्तव्य पूरा किया। हमने सोचा कि जो मसाला हमने तैयार किया है, जो जानकारी हासिल की है, वह इस विषय पर विचार करनेवालों के लिए काम की अवश्य होगी और यदि कांग्रेस को फिर अधिकार मिल सकेगा तो वह जरूर कुछ-न-कुछ करेगी। हमारी उम्मीदें पूरी नहीं हुईं। जहांतक मैं जानता हूं, कमिटी की सिफारिशें दफ्तर में ही रह गईं, उनपर कोई काम नहीं किया गया। हमने मजदूर-विभाग की स्थापना की सिफारिश की थी। सुना कि इस विषय में कुछ किया जा रहा है, पर वह भी शायद अधूरा और नाम के वास्ते ही। मजदूरों की सुविधा-सम्बन्धी एक भी सिफारिश शायद काम में नहीं लाई गई। सरकार इस विषय को शायद कुछ महत्व नहीं देती। इस कमिटी के मेम्बरों में श्री हेमैन पहले से मुझसे बिलकुल अपरिचित थे। उन्होंने रेलवे-बोर्ड में काम करके, अवसर प्राप्त कर, टाटा-कम्पनी के हिसाब-विभाग के प्रधान निरीक्षक का काम उठाया था। इस तरह वह उस बड़े कारखाने के मुख्य लोगों में एक थे। कमिटी में मैंने देखा कि उनकी परिश्रम-शक्ति अद्भुत है और उनके विचार भी प्रगतिशील हैं। यदि वह और श्री एम० बी० गांधी, जो पूंजपतियों के प्रतिनिधि-स्वरूप थे, साथ न देते तो मतैक्य न होता। उसी तरह प्रो० अब्दुल बारी यदि मजदूरों की ओर से हमारी बात को न मानते तो मतैक्य दुर्लभ हो जाता। इसलिए इन लोगों के प्रति विशेष कृतज्ञता का कारण है। अन्य लोगों में भी श्री राधाकमल मुखर्जी और श्री राजेन्द्रकिशोर ने अपनी विद्या और अपने अध्ययन से कमिटी की रिपोर्ट से बहुत मदद पहुंचाई। इसके अलावा श्री वाखले के बम्बई मजदूर-संघ के अनुभवों का और श्री जगतनारायणलाल तथा श्री हरेन्द्रबहादुरचन्द्र के बिहार-सम्बन्धी ज्ञान से लाभ उठाकर कमिटी ने रिपोर्ट तैयार की थी।

इस प्रसंग में एक दुःखद घटना हो गई। कमिटी की रिपोर्ट तैयार होने के थोड़े

ही दिनों बाद प्रोफेसर राजेन्द्रकिशोर का अचानक देहान्त हो गया। उनको पेट की बीमारी पहले ही से थी। हम जानते थे कि वह बहुत तकलीफ सहा करते हैं। कमिटी के काम में उनको काफी परिश्रम करना पड़ा था। उस काम को बहुत योग्यता और उत्साह से उन्होंने किया था। बीमारी बढ़ जाने के कारण वह चिकित्सा के लिए बम्बई गये। सुना कि वहीं पेट चीरा गया और उसके बाद वह जाते रहे। मुझे यह बात रह-रहकर पीड़ा पहुंचाती है कि शायद कमिटी के परिश्रम ने ही बिहार के एक होनहार, योग्य और उत्साही विद्वान को हमसे इतना जल्द अकाल में ही अलग कर दिया !

तीसरी कमिटी थी हिन्दुस्तानी कमिटी जिसका काम लम्बा था; क्योंकि वह एक पारिभाषिक शब्दों का कोश, और दूसरे ऐसे शब्दों का कोश, जो हिन्दी और उर्दू दोनों में ग्राह्य है, तैयार करने में लगी थी। इसके अलावा ऊंचे दर्जों की पाठ्य-पुस्तकें तैयार कराने और हिन्दुस्तानी की व्याकरण बनाने का काम भी उसने अपने हाथों में लिया था। यह सब अलग-अलग उपसमितियों को सौंपा गया था और उस समय तक पूरा नहीं हो सका था। यह काम १९४३ में जाकर समाप्त हुआ। १९४२ के अगस्त से ही जेल में रहने के कारण मैं कमिटी के कामों में शरीक न हो सका। प्रायः उस प्राथमिक कार्य के सिवा, जिसको उपसमितियों को नियुक्ति के सम्बन्ध में करना पड़ा था, और किसी महत्त्व के काम में भाग न ले सका। महत्त्व के काम थे दोनों कोशों और व्याकरण की तैयारी। मैं इनमें से किसी एक को भी न देख सका। इस हिन्दुस्तानी कमिटी के सम्बन्ध में हमारे प्रान्त में और उसके बाहर भी बहुत तरह की बातें हुईं और की गईं। हिन्दीवालों ने इसको हिन्दी का विरोधी समझा और पीछे उर्दूवालों ने भी उसका अनुसरण किया। मैं इस बात को नहीं मान सकता कि मैं हिन्दी की विरोधी हूं और उसका अहित चाहता हूं। इसी तरह उर्दूवाले भी डा० अब्दुल हक को उर्दू का विरोधी किसी तरह नहीं कह सकते; क्योंकि वह उर्दू के केवल बड़े हामी ही नहीं हैं, उन्होंने उसकी बहुत सेवा भी की है। एक प्रकार से वह उर्दू-सम्बन्धी सभी आन्दोलनों के प्रमुख कहे जा सकते हैं। तो भी दोनों पक्षों के लोगों ने कमिटी का विरोध किया। विरोध की कोई शिकायत नहीं, पर इस बात की शिकायत जरूर है कि बहुत बातें अनर्गल और बेबुनियाद कही गईं और उन निर्मूल

बातों से जनता में बुद्धि-भेद पैदा किया गया । जो हो, उसका काम भी समाप्त हो गया है । मालूम नहीं, जो कोश और व्याकरण बने उनके सम्बन्ध में लोकमत क्या कहेगा । मैं यह भी नहीं कह सकता कि मैं खुद ही क्या कहूंगा; क्योंकि उनको देखने का अभीतक मौका नहीं मिला है ।

मजदूर-जांच-कमिटी का काम समाप्त करके मैं सीधे वर्धा चला गया जहां वर्किंग कमिटी की बैठक होनेवाली थी । पहले कह चुका हूं कि सोनपुर में शिविर खोलने का विचार हो गया था और तिथि भी निश्चित हो गई थी । मैं वर्धा से ठीक उसी दिन वापस आया, जिस दिन शिविर खोलना था और सीधे सोनपुर चला गया । वहां एक सप्ताह तक रहा । सूत कातने के अलावा वहां एकत्र हुए लोगों के साथ प्रतिदिन बहुत बातें करनी पड़तीं । इस तरह वह समय भी परिश्रम का ही समय रहा । प्रायः १५०-२०० प्रमुख कार्यकर्ता वहां ठहरे थे । जब-तब संध्या को सार्वजनिक सभा भी हो जाती, जिसमें आस-पास के गांवों के लोग भी आ जाते । मुख्यतः रचनात्मक कार्यक्रम पर ही जोर दिया गया; क्योंकि उसी को तैयारी का साधन हम मानते हैं । हम साधन इसलिए नहीं मानते कि हम उसके द्वारा लोगों को विद्रोह सिखाते हैं, पर इसलिए कि उसके द्वारा कार्यकर्ताओं में वह संयम आता है जो सत्याग्रह के लिए अनिवार्य है और जनता के साथ वह सम्पर्क पैदा होता है, जो किसी भी जनसमूह को साथ लेकर काम करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है ।

शिविर का काम समाप्त करके मैं पटने लौटा । वहां एक दूसरा काम करने में लग गया, जिसको पूरा कर देना मैं अपना कर्तव्य समझता था । यह काम था एक पंचायत का, जिसको मैंने कबूल कर लिया था । सार्वजनिक दृष्टि से इसका महत्त्व उतना ही है जितना किसी पंचायत का हो सकता है । पर इसमें जो परिश्रम पड़ा वह मेरे स्वास्थ्य के लिए असह्य हो उठा । रामगढ़ के परिश्रम के बाद से ही जो लगातार अथक परिश्रम करना पड़ा था--मजदूर-जांच-कमिटी, वर्किंग कमिटी, सोनपुर-शिविर और पंचायत में--उसने मुझे क्लान्त कर दिया; काम करते-करते सिर में चक्कर के कारण मैं बेहोश-सा हो गया । डाक्टर शरण और डाक्टर बनर्जी आये । हालत देखकर कुछ चिन्तित हो गये । कई दिनों तक मैं सिर के चक्कर से परेशान रहा । कुछ स्वस्थ होने पर आराम करने के लिए जीरादेई चला गया । वहां प्रायः एक महीने तक पड़ा रहा । जब जाकर फिर कुछ काम के लायक हो सका ।

: १४० :

मुस्लिम लीग की कुछ बातें

कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों के जमाने में ही मुस्लिम लीग ने उनका जोरों से विरोध करना आरम्भ कर दिया था। उसने यह बात उठाई कि मंत्रिमण्डल मुसलमानों के साथ न्याय नहीं करते, ज्यादतियां किया करते हैं। उसने एक कमिटी मुकर्रर की, जिसके सभापति पीरपुर के राजा थे। उस कमिटी ने एक रिपोर्ट तैयार की, जिसमें कांग्रेस द्वारा किये गये यथा-कथित जुल्मों की तालिका दी गई। बिहार में मि० शरीफ बैरिस्टर ने इस प्रकार की रिपोर्ट दो जिल्दों में दो बार करके प्रकाशित की। इन रिपोर्टों में बहुतेरी गलत, बेबुनियाद और अनर्गल बातें लिखी थीं। मंत्रिमण्डलों ने इनका खण्डन छपवाया। जहां असेम्बली में बातें पेश हुईं, इनका पूरा-पूरा उत्तर दिया। पर मंत्रिमण्डल जो कुछ करता या कहता उसका तो प्रचार मुसलमानों में हो नही पाता और लीग जो चाहती और करती उसका प्रचार जोरों से होन लगता ! लीग ने हिटलर की उसी नीति का अवलम्बन किया, जिसमें प्रतिद्वन्द्वी के विरूद्ध झूठी शिकायतों का--और अगर उनमें कुछ सत्य भी हो तो उसे बहुत बढ़ा-चढ़ाकर तथा बार-बार दुहराकर--प्रचार किया जाता है, और वह प्रचार इतना जबरदस्त होता है कि जनता उससे प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकती। इस तरह कांग्रेस के प्रति और हिन्दुओं के प्रति मुसलमानों में विद्वेष का विष फैलाया गया--इनके बीच एक बड़ी खाईं बनाई गई। जिस समय चुनाव हुआ था और जिस चुनाव के फलस्वरूप कांग्रेसी मंत्रिमण्डल बने थे, लीग का जोर बहुत कम था। बिहार में तो लीग की ओर से कोई उम्मीदवार ही न हुआ। इसी तरह बहुत सूबों में लीग का अस्तित्व ही नहीं था। जहां था भी वहां एक कमजोर संस्था थी। इसलिए जब कांग्रेस को मंत्रिमण्डल बनाना पड़ा तो वह लीग के लोगों को मंत्रिमण्डल में न ले सकी; दूसरे मुसलमानों में से ही उन लोगों को, जो चुने गये थे, मंत्रिमण्डल में शरीक होने का आमंत्रण दिया।

संयुक्त-प्रदेश में इस बात की कोशिश हुई कि लीग के सदस्य मंत्रिमण्डल में लिये

जायं और आज ऐसा अनुमान होता है कि ऐसा अगर कर लिया गया होता तो शायद लीग को इतनी शक्ति नहीं मिलती । पर कांग्रेस के अन्दर ही कुछ लोग इसको पसन्द नहीं करते थे, इसलिए लीग के साथ समझौता नहीं हो सका । लीग इससे बहुत क्षुब्ध हुई । कांग्रेस के विरूद्ध प्रचार करना उसने अपना मुख्य कर्तव्य बना लिया । जो शिकायतें पीरपुर-रिपोर्ट और शरीफ-रिपोर्ट में छपी थीं, उनकी जांच कभी किसी निष्पक्ष अदालत अथवा व्यक्ति द्वारा नहीं हुई थी । मैंने कांग्रेस के प्रधान की हैसियत से मि० जिन्ना को लिखा कि हम इस बात पर तैयार हैं कि इनकी जांच फेडरल-कोर्ट के चीफ-जस्टिस सर मौरिस ग्वायर अथवा किसी ऐसे ही दूसरे निष्पक्ष व्यक्ति द्वारा कराई जाय और वह अपनी शिकायतें उनके पास पेश करें । उत्तर में उन्होंने इसे मंजूर नहीं किया और कहा कि मामला वाइसराय के सामने पेश है, वही जो मुनासिब समझेंगे करेंगे ।

वाइसराय कांग्रेस से कुछ खुश नहीं थे । वह तो मुस्लिम लीग की सहायता करके उसे कांग्रेस के विरूद्ध खड़ा करने और इस तरह उसे शक्तिशाली बनाने के लिए तैयार बैठे थे । उन्होंने इस शिकायत के सम्बन्ध में जांच कराने की बात पर कुछ कहा ही नहीं और न शायद मि० जिन्ना ने ही इसपर जोर दिया । बात जहां-की-तहां रह गई । पर अखबारों, परचों और व्याख्यानों में उन अप्रमाणित शिकायतों के प्रचार का सिलसिला जारी रहा । लार्ड लिनलिथगो ने लीग की यह बात मान ली थी कि १६३५ के बाद फिर नये सिरे से विचार किया जायगा और उसमें जो सारे भारत के लिए एक संघ बनाने की बात कही गई है, वह छोड़ दी जायगी । मुस्लिम लीग इसी संघ का विरोध कर रही थी और उसे मनचाहा आश्वासन ब्रिटिश सरकार ने दे दिया । इनसब बातों से प्रोत्साहित होकर, जब कांग्रेसी मंत्रिमण्डल ने इस्तीफा दे दिया तो, मि० जिन्ना ने मुस्लिम लीग की ओर से खुशियां मनाने की आज्ञा दी और मंत्रिमण्डलों का इस्तीफा मुसलमानों का नजात (छुटकारा) समझा गया । इस प्रचार का इतना असर समझदार मुसलमानों पर भी पड़ा था कि बिहार के मंत्रिमण्डल के इस्तीफा दे देने के बाद मौलवी खुरशीद हसनैन ने मेरे पास मुबारकबाद का तार भेजा !

लीग ने अभीतक भारत के विभाजन की बात मंजूर नहीं की थी । पर बहुतेरे मुसलमान इस बात को कई रूपों में पेश कर रहे थे । जब मैं १६३६ के

नवम्बर-दिसम्बर में वर्धा में ठहरा था तब मैंने इस विषय का विशेष अध्ययन किया। उस समय तक मैं पाकिस्तान के सम्बन्ध में कुछ विशेष रूप से नहीं जानता था। वहांपर इस विषय के साहित्य को मंगाया और पढ़ा। फिर एक लम्बा नोट तैयार किया, जो रामगढ़-कांग्रेस के समय 'हिन्दुस्तान-टाइम्स' में एक विशेष लेख के रूप में छपा। पीछे वह एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ। बहुतेरों ने उसे पढ़कर पाकिस्तान की बात जानी। उधर मुस्लिम लीग भी चुप नहीं बैठी थी। रामगढ़-कांग्रेसी के चन्द दिनों के बाद ही, १९४० के मार्च में ही, लीग का सालाना जल्सा लाहौर में हुआ। वहांपर लीग ने पाकिस्तान के पक्ष में प्रस्ताव स्वीकार किया। उसके बाद से पाकिस्तान ही मुस्लिम लीग का मुख्य उद्देश्य रह गया। एक बरस बाद मद्रास के सलाना जल्से में उसने पाकिस्तान को मुस्लिम लीग का उद्देश्य मान लिया। इस उद्देश्य को नियमावली में भी ध्येय के रूप में शामिल कर लिया।

: १४१ :

वैयक्तिक सत्याग्रह : कारण और परिणाम

यूरोपीय युद्ध का रूप इंगलैंड के लिए भंयकर होता जा रहा था। जर्मनी बड़े वेग से यूरोप के एक देश के बाद दूसरे पर कब्जा करता जा रहा था। पोलैंड, बेलजियम, हालैण्ड, डेनमार्क, नार्वे इत्यादि १९४० की गर्मी के पहले ही उसके कब्जे में आ गये। अब फ्रान्स की बारी थी। फ्रान्स भी बहुत दिनों तक टिक न सका। अन्त में उसे भी हथियार डाल देने पड़े। डंकर्क से अंग्रेजों की सेना बहुत नुकसान उठाकर किसी प्रकार इंगलैंड भाग सकी। इंगलैंड के लोगों में इससे बहुत क्षोभ पैदा हुआ। चेम्बरलैन की मिनिस्ट्री गिर गई। उसके स्थान पर सर्वदल मंत्रिमण्डल कायम हुआ, जिसके प्रधान मंत्री विन्स्टन चर्चिल हुए और भारत मंत्री मि० एमरी। इंगलैंड बहुत बहादुरी के साथ जर्मनी के हवाई हमलों का मुकाबला कर रहा था। इटली ने, यह समझकर कि अब इंगलैंड हार ही जायगा और फ्रान्स ने हथियार डाल ही दिया है, युद्ध में शरीक हो जाना मुनासिब समझा। इंगलैड के लिए यह बहुत ही कठिन घड़ी थी। अभीतक अमेरिका लड़ाई में नहीं आया थी और न रूस से ही जर्मनी का युद्ध छिड़ा था।

हमारी वर्किंग कमिटी में इस गम्भीर स्थिति पर विचार होता रहा। वहां यह राय ठहरी कि एक बार और साफ-साफ इंगलैंड से कहा जाय कि वह हिन्दुस्तान का मामला निपटा ले तो यथासाध्य हर प्रकार से कांग्रेस उसकी मदद करेगी। वर्किंग कमिटी में इस विषय पर बहुत वाद-विवाद हुआ। महात्माजी युद्ध में क्रियात्मक रूप से मदद करने के पक्ष में नहीं थे। वह समझते थे कि ऐसा करना कांग्रेस के अहिंसा के ध्येय के विरूद्ध होगा। उन्होंने जो इंगलैंड की मदद की बात कही थी, वह केवल नैतिक मदद की थी। उनका मानना था और इसमें कोई सन्देह नहीं था कि इंगलैंड यदि भारतवर्ष को स्वतन्त्र बना देता तो उसका नैतिक स्थान इतना ऊंचा हो जाता और संसार के सामने उसका प्रभाव इतना बढ़ जाता कि कोई उसका मुकाबला न कर सकता--कांग्रेस का इतना कहना मात्र कि इंगलैंड का हिन्दुस्तान के साथ समझौता हो गया और भारतवर्ष सन्तुष्ट है, काफी होता--यों तो ब्रिटिश सरकार बिना कांग्रेस की

सक्रिय मदद के भी जो कुछ चाहेगी हिन्दुस्तान से ले सकेगी और लेगी, जैसा वह कांग्रेस के तटस्थ रहने पर भी कर रही थी; अतएव हमारे लिए अपने ध्येय को छोड़ना उचित नहीं, इसके अलावा यदि हिन्दुस्तान अपने ध्येय पर डटा रहेगा तो युद्धोत्तर काल में सारे संसार पर इसका गहरा असर पड़ेगा। उधर दूसरों का विचार था कि हम यदि अपनी आजादी की मांग पेश करते हैं तो साथ ही हमको मदद भी करनी चाहिए; कांग्रेस का ध्येय केवल इतना ही था कि अंगरेजों से स्वराज्य लेने के प्रयत्न में वह अहिंसात्मक उपायों से ही काम लेगी। उसमें किसी विदेशी शक्ति के आक्रमण करने पर--अथवा भारत के स्वतन्त्र हो जाने के बाद भी--अहिंसात्मक रहने की न तो कोई बात थी और न हमको अपनी कार्रवाई से देश के हाथ को किसी प्रकार बांधना ही चाहिए; ऐसा करने का हमको हक भी नहीं है। किन्तु एक बात पर सभी सहमत थे कि स्वराज्य-प्राप्ति के काम में और आपस के झगड़ों में अहिंसा को नहीं छोड़ना चाहिए।

इस प्रकार, कुछ लोग अहिंसा के सिद्धान्त को सीमित और मर्यादित करके ब्रिटिश सरकार को मदद देने के लिए तैयार थे। पर गांधीजी और कुछ दूसरे लोग अहिंसा को अक्षुण्ण रखना भारत और संसार के लिए आवश्यक समझते थे। मेरा निजी विचार इसी पक्ष में था, यद्यपि मुझे भी युद्ध की स्थिति से कुछ घबराहट तो थी और कभी-कभी शंका भी उठती थी कि हम कुछ कर सकेंगे या नहीं। खान अब्दुलगफ्फार खां बहुत ही दृढ़ता-पूर्वक अहिंसा के सिद्धान्त पर डटे रहे। जब वर्किंग कमिटी ने दिल्ली की बैठक में निश्चय कर लिया कि इस शर्त पर कि भारत की आजादी की घोषणा की जाय और तत्काल सरकार को ऐसा रूप दिया जाय कि भारतीय नेताओं के हाथ में अधिकार आ जायं कांग्रेस सक्रिय मदद लड़ाई में देगी, तो खां साहब ने और मैंने तथा कुछ और मित्रों ने वर्किंग कमिटी से इस्तीफा दे दिया। परन्तु प्रेसिडेंट मौलाना अबुलकलाम आजाद के इस आश्वासन पर कि अभी जबतक ब्रिटिश सरकार हमारी मांग मंजूर नहीं करती तबतक सक्रिय मदद की और अहिंसा छोड़ने की बात नहीं आती, इसलिए हमको इस्तीफा वापस ले लेना चाहिए और जब ब्रिटिश सरकार हमारी यह मांग मान लेगी और हमको मदद करनी पड़ेगी तब हम इस्तीफा दे सकते हैं--मैंने और कुछ साथियों ने इस्तीफे वापस ले लिये; पर खां साहब इससे सन्तुष्ट नहीं हुए। महात्माजी ने निश्चय कर लिया कि उनका अब

कांग्रेस के साथ सम्बन्ध नहीं रहेगा। इससे वर्किंग कमिटी में तथा बाहर भी लोगों के दिल में बड़ी खलबली मची।

वर्किंग कमिटी की एक दूसरी बैठक वर्धा में बुलाई गई। उसी के बाद पूना में, इस विषय पर विचार करने के लिए, अखिल भारतीय कमिटी की बैठक बुलाई गई। मतभेद रह ही गया और जब पूना में बैठक हुई तो वर्किंग कमिटी के प्रस्ताव को उसने बहुमत से मंजूर कर लिया। उस बैठक में हम लोग भी शामिल थे। गांधीजी पूना नहीं गये थे। हमने मित्रों की ओर से अपनी राय बता दी और यह भी कह दिया कि हम वर्किंग कमिटी के प्रस्ताव का विरोध नहीं करेंगे, तटस्य रह जायेंगे। ऐसा होने पर भी बहुत लोगों ने विरोध किया ही। यदि हम तटस्थ न रह गये होते तो शायद वह प्रस्ताव गिर गया होता। इस तरह ब्रिटिश सरकार को कांग्रेस की ओर से बाजाब्ता मदद देने का प्रस्ताव भेजा गया। आशा की जाती थी कि वह उसपर विचार करेगी और कुछ बातचीत फिर हमारे साथ करेगी। पर ऐसा नहीं हुआ। प्रस्ताव पास होने के चन्द दिनों के बाद ही उसकी ओर से उसकी नामंजूरी की घोषणा कर दी गई। लार्ड लिनलिथगो ने एक विज्ञप्ति में यह कहा कि ब्रिटिश सरकार लड़ाई के जमाने में कानून नहीं बदल सकती; पर उसके अन्दर रहकर वह वाइसराय की कार्यकारिणी परिषद् में हिन्दुस्तानियों में से--विशेषकर प्रमुख राजनैतिक दलों के मुख्य लोगों में से--चुनकर नये मेम्बर नियुक्त करेंगे तथा कौन्सिल में अधिकांश मेम्बर हिन्दुस्तानी होंगे, पर उनके अधिकार वही होंगे जो अब तक कौन्सलरों के रहे हैं; इसके अलावा युद्ध-सम्बन्धी बातों में राय-मशविरा देने के लिए एक दूसरी कमिटी वह बनायेंगे, जिसमें भी ऐसे प्रमुख भारतीयों को स्थान देंगे। इस विज्ञाणि से यह बात स्पष्ट हो गई कि वह भारतीयों को कोई अधिकार नहीं देना चाहते हैं, सब अधिकारों को अपने ही हाथों में रखना चाहते हैं। कांग्रेस की मांग के मानने की तो कोई बात ही नहीं थी। इस तरह जो नक्शा वर्किंग कमिटी और अखिल भारतीय कमिटी ने बनाया था वह बात की बात में टूट-फूट गया!

हिंसा-अहिंसा-सम्बन्धी वाद-विवाद बहुत हो चुका था। इसलिए पूना में अखिल भारतीय कमिटी ने इस सम्बन्ध में भी एक प्रस्ताव पास किया। उसमें यह बात साफ-साफ कह दी गई कि जहांतक स्वराज्य-प्राप्ति के लिए ब्रिटिश सरकार के साथ हमारा प्रयत्न चल रहा है, उसमें तथा भारत के अन्दर आपस के झगड़ों के

सम्बन्ध में कांग्रेस अपने अहिंसात्मक उपायों के अवलम्बन की नीति और ध्येय पर कायम है और उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन अथवा हेरफेर न समझा जाय। यद्यपि यह प्रस्ताव सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुआ, मुझे सन्देह है कि कांग्रेस के अन्दर बहुत लोगों को इसका स्मरण होगा, और युद्ध-सम्बन्धी प्रस्ताव के कारण अहिंसा की नीति में जो ढील आ गई, उसका असर दिन-दिन बढ़ता ही गया है। ऐसा होना भी स्वाभाविक है। अहिंसा का सिद्धान्त अनोखा सिद्धान्त है। इतने बड़े पैमाने पर--विशेषकर एक बड़ी शक्ति के हाथों से स्वराज्य प्राप्त करने में--उसका उपयोग और भी अनोखा है। बहुतेरों ने इसे नीति-रूप से माना है और वे सचाई से इसे बर्तते हैं। थोड़े ही लोग इसे एक धार्मिक विश्वास रूप से मानते हैं। इसलिए इसपर लोगों को अटल रखना कुछ सहज काम नहीं है। चूंकि अबतक कांग्रेस के अन्दर सक्रिय रूप से इसके सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं हुआ था, इसलिए जन-साधारण में इसके प्रति किसी तरह का बुद्धि-भेद नहीं पैदा हुआ था। अब, जब वर्किंग कमिटी और अखिल भारतीय कमिटी में ही मतभेद पैदा हो गया और वह स्पष्ट रीति से लोगों को दीखने भी लगा तब, जन-साधारण में और विशेषकर साधारण कांग्रेसी कार्यकर्ताओं में बुद्धि-भेद होना आश्चर्य की बात नहीं है। ऐसे मामलों में ठीक वही हाल होता है, जो जल-राशि को बांध द्वारा रोक रखने के बाद उस बांध में एक छोटा छेद हो जाने पर होता है, अर्थात् जल उस छेद को खुद-ब-खुद बढ़ाता जाता है और थोड़े ही काल में जो रोक जल पर रहती है वह हट जाती है, फिर तो एक प्रकार से बाढ़-सी आ जाती है। ऐसा ही हुआ भी।

मैं पूना में ही बहुत बीमार पड़ गया। न्यूमोनिया-जैसा कुछ हो गया। किसी तरह वर्धा पहुंचा। बरसात के दिन थे, जो मेरे लिए बराबर खराब हुआ करते हैं। वहां कुछ दिनों में आराम हुआ तो सेठ जमनालालजी का विचार हुआ कि आराम करने के लिए मैं कुछ दिन राजपूताना की सूखी हवा में जाकर रहूं। उन्होंने वहां खुद मुझे ले जाने का प्रबन्ध कर लिया। पूज्य बापू ने भी उसे अच्छा समझा। मैं सेठजी के साथ जयपुर गया। इत्तफाक से वहां भी उस समय पानी पड़ रहा था। रास्ते की गड़बड़ी और बरसात के कारण कुछ तबीयत खराब हो गई। इसलिए जयपुर में मुझे कुछ दिनों तक ठहर जाना पड़ा। पहले तो डाक्टरों की और फिर वैद्य श्रीनन्दकिशोर शर्मा की दवा होने लगी। सबकी राय हुई कि जयपुर से अधिक लाभ सीकर-जैसे

बालुकामय स्थान में ठहरने से होगा । इसलिए सेठजी के साथ मैं सीकर चला गया । वहां प्रायः एक महीना रहा । सीकर में ही इन आत्म-संस्मरणों का लिखना आरम्भ हुआ । उसी सहवास में मुझे सेठ जमनालाल बजाज के जन्मस्थान को, काशीकेवास नामक गांव में जाकर, देखने का सुअवसर मिला । वहां से नजदीक ही एक स्थान है लोहागरजी, जिसे लोग तीर्थस्थान मानते हैं । वह पहाड़ियों के बीच बहुत सुन्दर बसा हुआ है । जमनालालजी एक दिन वहां हमको ले गये । तबीयत बहुत सुधार गई । हर तरह से चंगा ही गया, ऐसा मालूम पड़ने लगा । वहां हमारे रहते-रहते ही बम्बई में अखिल भारतीय कमिटी की फिर बैठक हुई, जिसमें ब्रिटिश सरकार की घोषणा पर विचार किया गया और यह निश्चय हुआ कि इसे कांग्रेस मंजूर नहीं कर सकती; अब कांग्रेस को क्रियात्मक रूप से संसार के सामने अपनी नीति बता देनी चाहिए । और, वैयक्तिक सत्याग्रह का भी निश्चय हुआ ।

सत्याग्रह के संचालन का भार गांधीजी पर दिया गया । उन्होंने निश्चय किया कि यद्यपि यह सत्याग्रह वैयक्तिक होगा, सामूहिक नहीं, तथापि कोई व्यक्ति उनसे मंजूरी पाये बिना सत्याग्रह नहीं कर सकेगा और वह अनुमति ऐसे ही लोगों को देंगे, जिन्होंने रचनात्मक कार्यक्रम के किसी भी एक अंग को अपनाया हो तथा उसमें काम किया हो । साथ ही, यह भी निश्चय हुआ कि ऐसे ही लोगों को अनुमति दी जायगी जो प्रतिनिधित्व कर रहे हों--अर्थात् जिनकी हैसियत ऐसी हो कि वह केवल व्यक्ति न हों, अनेकों के प्रतिनिधि हों, जैसे असेम्बली और कौन्सिल के मेम्बर, जिला और म्युनिसिपल बोर्डों के मेम्बर, कांग्रेस कमिटियों के पदाधिकारी और चुने हुए मेम्बर इत्यादि । नतीजा यह हुआ कि केवल ऐसे ही लोगों को अनुमति मिली, जो स्वयं सुत कातते हों, अछूतपन की भावना से अपने को मुक्त कर चुके हों और कहीं-न-कहीं के चुने हुए सदस्य हों । आरम्भ में असेम्बली और कौन्सिलों के मेम्बरों तथा कांग्रेस-कमिटी के पदाधिकारियों को ही इजाजत मिली । प्रान्तीय कमिटियां ऐसे लोगों की सूची तैयार करतीं और गांधीजी के पास मंजूरी के लिए भेज देतीं । जब वह मंजूर कर लेते तभी सूची में दर्ज लोग सत्याग्रह करते ।

सत्याग्रह का रूप यह होता कि सत्याग्रही घोषणा करते कि हम युद्ध में किसी प्रकार से मदद नहीं कर सकते । लोगों ने इसके लिए एक नारा बना लिया--'न एक भाई न एक पाई' अर्थात् न हम अपने में से एक भाई को भी लड़ाई में भेजना चाहते

हैं और न लड़ाई के लिए एक पाई की भी आर्थिक सहायता देना चाहते हैं । लोगों को इस बात की कड़ी ताकीद कर दी गई थी कि सत्याग्रह में कोई प्रदर्शन न किया जाय, क्योंकि हम सत्याग्रह द्वारा अपने लिए यह स्वत्व प्राप्त करना चाहते हैं कि हम जो भी उचित समझें, देश के सामने प्रचार कर सकतें हैं, और हमारे इस स्वत्व में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़नी चाहिए; यहांतक कि लड़ाई के नाजुक जमाने में भी हम चाहें तो हमको उसके विरूद्ध प्रचार का हक होना चाहिए ।

इस सत्याग्रह का कुछ लोगों ने तो विरोध किया और कुछ लोगों ने मजाक उड़ाया । गर्म विचारवाले वामपंथी लोगों का कहना था कि इस प्रकार के ठंडे सत्याग्रह से कोई लाभ नहीं पहुंच सकता, इससे ब्रिटिश सरकार किसी प्रकार प्रभावित नहीं हो सकती और न उसके काम में हम इसके द्वारा कोई अड़चन ही पेश कर सकते हैं । कुछ लोग कहते थे कि प्रचार-स्वातन्त्रय और विचार-स्वातन्त्रय की बात केवल धोखे की टट्टी है--हम लड़ाई का विरोध करना चाहते हैं, पर हमको खुलकर ऐसा करने की हिम्मत नहीं होती है, इसलिए यह ढकोसला फैला रखा गया है । बात यह थी कि हमें संसार को दिखलाना था कि हम ब्रिटिश सरकार की लड़ाई में उसका साथ नहीं दे रहे हैं और यह हम बिना किसी प्रकार के शोर-गुल और हंगामा के दिखला देना चाहते थे । यदि सामूहिक सत्याग्रह किया जाता तो बहुत शोर-गुल के बिना काम होना कठिन था, और प्रतिनिधित्व करनेवालों को ही सत्याग्रह की अनुमति देकर हम यह दिखला रहे थे कि वह केवल एक व्यक्ति नहीं है, उसके पीछे उसे चुननेवाले लोग अर्थात् असंख्य नर-नारी भी हैं और यह सत्याग्रह सब कर रहे हैं । इन्हीं कारणों से प्रदर्शन सख्ती से रोका गया था । साथ ही, प्रतिनिधियों के चुनने में भी पूरी कड़ाई बरती गई थी । ऐसे लोग, जिनका जाना अपेक्षित था, पर जो किसी कारण से सत्याग्रह में शरीक नहीं हो सकते थे, दर्खास्त देकर छुट्टी ले लेते थे ।

बिहार में, अपने स्वास्थ्य के कारण, मेरे लिए सत्याग्रह में शरीक होने का अर्थ अपनी बीमारी की देखभाल का भार सरकार के ऊपर डालना था । इसलिए गांधीजी ने मुझे स्वयं रोक लिया । पहले दिन, जब श्रीबाबू अनुग्रहबाबू का, पटना में दो स्थानों पर, एक के कुछ देर बाद दूसरे का, सत्याग्रह करना निश्चित हुआ था और निश्चय के अनुसार श्रीबाबू सत्याग्रह करने के लिए बांकीपुर के मैदान में पहुंचे, तो वहां बहुत लोग जमा हो गये, जिनमें विद्यार्थी अधिक थे । वहांपर कुछ शोर-गुल हुआ, जो जेल

के फाटक तक, जहां श्रीबाबू को गिरफ्तार करके ले गये, जारी रहा। मैंने देखा कि यह आरम्भ गांधीजी की हिदायतों के खिलाफ हुआ, और यदि इसे प्रोत्साहन मिला तो पीछे इसे संभालना मुश्किल हो जायगा तथा अपने ही लोग अनुशासन की धज्जी उड़ा देंगे। यह सोचकर मैंने अनुग्रहबाबू के सत्याग्रह को और सारे सूबे के सत्याग्रह को उस समय तक के लिए बन्द कर दिया जबतक लोग सत्याग्रह के मर्म को पूरी तरह समझ न लें और गांधीजी के आज्ञानुसार अक्षरशः सब बातें ठीक-ठीक करने को तैयार न हो जायं। यह बात सारे सूबे में फैल गई। लोगों ने समझ लिया कि इस तरह की बातें नहीं चलने पावेंगी। मेरे पास दूसरे ही दिन लोगों ने आकर बतलाया कि अब वैसी गलती नहीं होने पायेगी और सारे सूबे में सत्याग्रह स्थगित हो जाने से सारे सूबे की बदनामी होगी। मैंने देख लिया कि वातावरण दुरूस्त हो गया, दो दिनों के बाद से ही फिर इजाजत दे दी। इसका फल यह हुआ कि सारे सूबे में पूरी शान्ति के साथ, जैसा गांधीजी चाहते थे, सत्याग्रह चलता रहा।

प्रधान मंत्री (श्रीबाबू) से आरम्भ करके असेम्बली और कौन्सिलों के अधिकांश मेम्बर, जिला-बोर्डों और म्युनिसिपैलिटियों के बहुतेरे सदस्य, कई हजार की संख्या में, सत्याग्रह करके जेल चले गये। सरकार की कुछ ऐसी नीति थी कि प्रायः सभी लोगों को एक बरस की सजा दी जाती थी। इसमें से प्रायः सभी लोगों को तीन महीने की माफी, जिसको जेल की भाषा में 'मार्का' कहते हैं, मिलती गई! सभी लोग सजा पाने के प्रायः नौ महीनों के बाद छूटते गये। मैं तो बाहर रह गया था और अधिक समय गांधीजी के साथ ही वर्धा में बिताना पड़ा। इसका एक कारण यह भी था कि कांग्रेस के प्रेसिडेण्ट के जेल चले जाने के बाद कांग्रेस के संगठन का सारा भार एक प्रकार से उनपर ही आ पड़ा--यद्यपि मंत्री आचार्य कृपालानीजी भी बाहर रख लिये गये थे। काम में सहायता पाने के लिए कृपालानीजी के और मेरे वहीं रहने का आग्रह महात्माजी करते थे। हमने ऐसा ही किया भी।

कांग्रेस के लोगों ने मंत्री का पद तो छोड़ ही दिया था। अब, जहां-जहां पहले कांग्रेसी मंत्रिमण्डल थे वहां दफा ६३ के अनुसार गवर्नर शासन कर रहे थे। कुछ दिनों तक उन्होंने रास्ता देखा कि शायद कांग्रेसवाले फिर वापस आ जायं, पर जब इसकी कोई आशा नहीं दीख पड़ी तो असेम्बली इत्यादि के मेम्बरों को जो वेतन मिलता था, उसे उन्होंने बन्द कर दिया। यद्यपि असेम्बली के स्पीकर लोगों के साथ के

चपरासी इत्यादि नहीं हटाये गये और वे कुछ-न-कुछ काम भी करते रहे तथापि उनके भी मुशाहरे बन्द कर दिये गये। कांग्रेस ने जिला-बोर्डों और म्युनिसिपैलिटियों से कांग्रेसी लोगों को हट जाने का आदेश नहीं दिया था। बहुतेरी जगहों में कांग्रेसी लोग इनके चेयरमैन और वाइस-चेयरमैन थे। इनका काम सभी कांग्रेसी सदस्य मिलकर करते रहे। ऐसा भी देखा गया कि कुछ लोग, सत्याग्रह के कारण अच्छे सदस्यों के हट जाने से नाजायज लाभ उठाकर उनके स्थानों पर जा बैठे ! कुछ हम लोगों की ऐसी भूल भी हुई कि जहां हमारे चेयरमैन इत्यादि के सत्याग्रह में चले जाने के कारण जगह खाली हुई वहां हमने उन रिक्त स्थानों को ऐसे लोगों से भर देने की इजाजत दे दी, जिनसे आशा की जाती थी कि वे हमारे अनुशासन को मानेंगे। कहीं-कहीं नये चुनाव भी हुए और उन स्थानों पर, अगर साफ-साफ नहीं तो परोक्ष रीति से, कांग्रेसी लोग आ गये। नतीजा यह हुआ कि इन बोर्डों पर जैसा चाहिए वैसा कांग्रेस का अनुशासन नहीं रह सका। बहुत तरह की शिकायतें भी सुनने में आने लगीं। कांग्रेस के अन्दर जो दलबन्दियां थीं, वे भी अब बाहर फूट पड़ीं। इस प्रकार कांग्रेस की बदनामी होने लगी।

मेरे अपने सूबे में सबका भार मेरे ऊपर था। मैं अधिकतर वर्धा में रहने के कारण बहुत-कुछ कर नहीं सकता था। इसलिए मैंने रोक-थाम के ख्याल से एक छोटी कमिटी बना दी। उसी को इन बोर्डों की निगरानी का काम सौंप दिया। मुझे खेद है कि बहुत प्रयत्न के बाद भी अवस्था नहीं सुधरी। मैंने निश्चय किया कि बिहार में इन सभी बोर्डों से कांग्रेसी लोगों को हटा लेने में ही कल्याण है। पर इस निश्चय पर पहुंचने के कुछ ही दिनों के बाद प्रान्त के प्रमुख लोगों के छूटने का समय था। इसलिए उनके छूटने तक इसको स्थगित रखा कि उनकी भी राय ले लेना उचित होगा। उनके छूटने पर उनसे राय लेकर मैंने यह आज्ञा दे दी कि सभी कांग्रेसी लोग जिला-बोर्डों और म्युनिसिपैलिटियों से हट जायं। उसके बाद ही फिर अस्वस्थता के कारण मैं वर्धा चला गया। वहां रिपोर्ट पहुंची कि अधिकांश लोगों ने तो आज्ञा का पालन किया, पर कुछ लोगों ने उसे नहीं भी माना। ऐसे लोगों की संख्या बहुत ज्यादा नहीं थी। जिला-कमिटियों तथा प्रान्तीय कमिटी ने ऐसे लोगों के विरूद्ध अनुशासन की कार्रवाई की। बहुतेरे लोग कांग्रेस से निकाल दिये गये। यह सब १६४१ के नवम्बर-दिसम्बर की बात है। १६४० के नवम्बर से १६४१ के बीच तक कुछ और बातें हुईं, जिनका जिक्र कर देना उचित होगा।

: १४२ :

मेरी मैसूर-यात्रा

उन दिनों मेरा बहुत समय वर्धा में ही बीता। जब मैं वहां था, मैसूर-कांग्रेस के श्री दासप्पा वर्धा आये। उन्होंने महात्माजी से कहा कि वह अपना सालाना जल्सा करना चाहते हैं, जिसमें मुझे जाना चाहिए। मेरे जिम्मे उसके उद्घाटन का काम सौंपा गया। महात्माजी ने उनके अनुरोध को मान लिया। मुझे वहां जाने की आज्ञा मिली। यह सम्मेलन 'हरिहर' नामक स्थान पर तुंगभद्रा नदी के किनारे हुआ था। दृश्य सुन्दर था। लोगों में उत्साह भी काफी था। सम्मेलन, प्रदर्शनी इत्यादि के काम के अलावा श्री दासप्पा मुझे मैसूर के कुछ सुन्दर और पुरातत्व-सम्बन्धी महत्त्व रखनेवाले स्थानों को दिखला देना चाहते थे। मैं भी यह चाहता ही था। वहां जाने के पहले ही श्री दासप्पा से बातें हो चुकी थीं। उन्होंने कार्यक्रम भी बना लिया था। बंगलौर और मैसूर के अलावा मैं उन प्राचीन मन्दिरों को भी देखने गया, जो जैन-काल और हिन्दू-काल की स्थापत्य-कला के अच्छे-से-अच्छे नमूने हैं। श्रवणवेलगोल और हलेवीड के दृश्य अद्भुत हैं। वे संसार के उन चकित करनेवाले स्थानों में हैं, जिनको न देखना मानो मनुष्य की कृतियों के उत्तमोत्तम नमूनों को न देखना है। बाहुबली की सत्तावन फुट ऊंची बहुत विशाल मूर्ति एक पहाड़ की चोटी पर पहाड़ काटकर बनाई गई है, जो बहुत दूर से, प्रायः दस-पन्द्रह मीलों से, नजर आने लगती है। तारीफ यह कि उतनी बड़ी मूर्ति कुछ अलग से तैयार करके वहां चोटी पर बैठाई नहीं गई है, बल्कि वह पहाड़ की ऊंची चोटी को ही काटकर बना दी गई है और चारों ओर की पहाड़ी काटकर समतल कर दी गई है। मूर्ति ऐसी सुन्दर बनी है कि चाहे आप मीलों की दूरी से देखिये या नजदीक जाकर, उसके सभी अंग ऐसे अनुपात से बनाये गये मालूम होंगे कि कहीं कुछ भी त्रुटि नज़र न आयेगी। प्रत्येक अंग, पैर की अंगुलियों से लेकर नाक-कान तक, अपने-अपने स्थान पर ठीक अनुपात में बना दीख पड़ता है। यह जैनों का एक बहुत बड़ा तीर्थ है, जहां समस्त भारतवर्ष के जैन दर्शन करने जाते हैं। मुझे यह बात जानकर प्रसन्नता हुई कि आरा के श्री निर्मलकुमार जैन, परिवार के साथ, वहां अक्सर जाया करते हैं। वहां के लोग उनके सम्बन्ध में

मुझसे पूछताछ कर रहे थे । यह जानकर मुझे और भी अचम्भा हुआ कि उसी मूर्ति की नकल पर, कुछ छोटे पैमाने पर, उन्होंने आरा के नजदीक कहीं जैनी विधवाओं के लिए जो आश्रम खोल रखा है उसमें भी एक मूर्ति बनवाई है; फर्क इतना ही है कि जहां यह पहाड़ी प्रायः साठ-सत्तर फुट की होगी वहां आरा की मूर्ति बीस-बाईस फुट की । यह दृश्य तो विशाल मूर्ति-निर्माण-कला का नमूना है ।

अब हलेवीड में कुछ ऐसे नमूने मिले जिनमें, बारीकी की हद हो गई है । वहां के मन्दिरों में पुराणों की कथाएं मूर्तियों द्वारा अंकित एवं प्रदर्शित की गई हैं । ये मूर्तियां अत्यन्त सुन्दर और मधुर हैं । कुछ पन्द्रह-बीस फुट की ऊंचाई पर एक मूर्ति बनी थी, जिसमें कोई फल या फूल दिखलाया गया था और उसपर एक मधुमक्खी है, जिसके पांव और पंख भी हैं । नीचे देखने ऐसा मालूम होता था कि यह सचमुच मधुमक्खी है, जिसके पांव और पंख भी हैं । पर वास्तव में उसी पत्थर पर, जिसको काटकर फूल या फल बनाया गया था, यह मधुमक्खी भी उसी प्रकार बनाई गई थी--कोई अलग से बनाकर वहां बैठाई नहीं गई थी । दक्खिन के मन्दिरों में पत्थर की बनी जंजीरें अक्सर देखने में आती हैं । किसी धातु की जंजीर बनाना मुश्किल नहीं है; क्योंकि उसकी एक-एक कड़ी अलग-अलग बनाकर एक-दूसरे में गूंथ दी जाती है और तब जोड़ या मुंह दबाकर बन्द कर दिया जाता है । किन्तु पत्थर की जंजीर में ऐसा नहीं हो सकता । उसमें कड़ियां अलग-अलग नहीं बनाई जा सकतीं । एक ही पत्थर के लम्बे टुकड़े को काटकर एक-दूसरे में गुंथी हुई कड़ियां बनानी पड़ती हैं । काम काफी मुश्किल है; क्योंकि यदि कही एक टांकी या छेनी भी जोर की लग गई और कड़ी टूट गई तो सारी जंजीर बिखरकर खराब हो गई । दूसरे मन्दिरों में मैंने जंजीरें देखी थीं; पर आकार बड़ा था । हलेवीड में मैंने एक मूर्ति कुछ ऊंचाई पर देखी । वह अनेक आभूषणों से सुसज्जित की गई थी । सब आभूषण पत्थर के थे और उसी एक पत्थर के टुकड़े में से, जिसमें से मूर्ति बनाई गई थी, काट करके बनाये गये थे । वह मूर्ति एक बहुत ही छोटी-सी झुलनी या नकबेसर पहने हुई थी, वह भी पत्थर की थी, बहुत ही छोटी और नाक में एक छोटे-से छेद में लटक रही थी । जो बाली नाक में थी, वह भी बहुत बारीक थी और नाक के छेद से वह चारों तरफ घुमाई जा सकती थी । उस नथुनी का व्यास आध इंच से ज्यादा न होगा और इसी से नाक के छेद का भी अंदाजा किया जा सकता है । विशालता और बारीकी,

दोनों के सुन्दर नमूनों का वर्णन पढ़कर पाठक समझ सकते हैं कि वहां थोड़े में ही कितनी कला और कलाकारों की कितनी कृतियों के नमूने हम देख सकते हैं। पत्थरों पर इस प्रकार के विशाल और सूक्ष्म काम हम अजन्ता और एलोरा में देख सकते हैं। अजन्ता में चित्रणकला का अद्भुत विकास देखने में आता है और एलोरा में पहाड़ काटकर बनाया गया महान् मन्दिर तथा सुन्दर एवं बारीक मूर्ति-निर्माण-कला का चमत्कारपूर्ण नमूना !

तीसरा अद्भुत दृश्य प्राकृतिक था। वह है गिरिसप्पा का जलप्रपात। यह ऐसे स्थान में हैं जहां ब्रिटिश और मैसूर राज्यों की सरहद मिलती है। प्रायः एक हजार फुट की ऊंचाई से जल गिरता है। इसको एक ओर ब्रिटिश राज्य के एक कोने से और दूसरी ओर मैसूर-राज्य के एक कोने से हम देख सकते हैं। पर मैसूर-राज्य में से देखने पर दृश्य अधिक सुन्दर और सुहावना मालूम होता है। वहां ठहरने और बैठकर दृश्य देखने का भी अच्छा और सुन्दर स्थान राज्य की ओर से बना दिया गया है। मैं कुछ देर तक बैठकर इस प्राकृतिक चमत्कार को देखता रहा। उन दिनों वहां से बिजली निकालने के लिए कारखाना बनाने और दूर-दूर तक बिजली पहुंचाने का प्रबन्ध मैसूर-राज्य की ओर से किया जा रहा था। बहुत-से मजदूर वहां से कई मील की दूरी तक काम करते मिले। मालूम नहीं कि इस प्राकृतिक चमत्कार पर इस मानुषिक बलात्कार का क्या असर पड़ा है और वह शोभा अब भी है या नहीं।

: १४३ :

बिहारशरीफ का दंगा

मैं चन्द दिनों के लिए पटना आया था और फिर वर्धा वापस गया। जिस दिन पटना से जानेवाला था उसी रात को यह सुना कि बिहारशरीफ में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच कुछ अनबन है, पर ऐसा मालूम हुआ कि कोई बड़ी बात है, जिसका नतीजा भयंकर खून-खराबा हो सकता है। वर्धा पहुंचने के एक दिन बाद ही अखबारों से मालूम हुआ और फिर तार पहुंचा कि बिहार में भयंकर दंगा-फसाद हो गया है। गांधीजी की राय हुई और मैंने सोचा कि ऐसी अवस्था में तुरन्त बिहार जाना चाहिए। मैं वापसी गाड़ी से रवाना हो गया। पटने पहुंचने पर मालूम हुआ कि शाह मुहम्मद उजैर मुनीमी और मथुराबाबू कई दिनों से बिहारशरीफ में ही है और वहां की स्थिति बहुत खराब हो गई है, कई हिन्दू और मुसलमानों का खून हो चुका है तथा बलवा केवल बिहार-शरीफ शहर में ही--जहां आरम्भ हुआ था--सीमित न रहकर गांवों में भी फैलता जा रहा है। मुझे याद था कि १९१८ में इसी प्रकार शाहाबाद के एक गांव (पीरो) में आरम्भ होकर उस जिले के सिवा आसपास के जिलों के कुछ भागों में भी फसाद फैल गया था। इसलिए मैं और भी चिहुंका। इत्तफाक से उसी दिन प्रोफेसर अब्दुल बारी भी, जो बाहर थे, पटना पहुंच गये। हमने मोटर-लारी साथ ली। उनपर बिहार-विद्यापीठ के अध्यापकों और विद्यार्थियों को तथा कुछ दूसरे कार्यकर्ताओं को सवार करा लिया। उसी दिन बिहारशरीफ की ओर चल दिया। वहां पहुंचने पर जब शाह उजैर मुनीमी और मथुराबाबू से भेंट हुई तो सब हाल मालूम हुआ। बहुतेरे खून हो चुके थे; पर अब स्थिति कुछ सुधरने लग गई थी। सरकार ने पुलिस का भी काफी प्रबन्ध कर लिया था। जिला-मजिस्ट्रेट और कमिश्नर तथा पुलिस के बड़े-बड़े अफसर भी पहुंच गये थे। शाहसाहब और मथुराबाबू अपनी जान की बाजी लगाकर जहां-जहां हंगामा होता, पहुंच जाते और बलवा-फसाद रोकते। कहीं-कहीं बलवाइयों के उपद्रव के बाद पहुंचते और वहां लाशों को स्वयं उठा-उठाकर यथास्थान भिजवाने में सहायता करते।

हम लोग पहुंचते ही चारों ओर के गांवों में, जहां-जहां से कुछ खराब खबर आती, फैल गये। लोगों में ढाढ़स पैदा करने और गलत अफवाहों को रोकने तथा शान्ति स्थापित करने में सबके-सब लग गये। तीन-चार दिनों में स्थिति काफी सुधर गई। वहीं पर प्रान्तीय मुस्लिम लीग के सभापति खानबहादुर मुहम्मद सैयद इसमाइल से बातें हुईं। हम दोनों एक दिन के लिए पटने आये। वहां एक बड़ी सार्वजनिक सभा में हम दोनों ने भाषण किये। मैं फिर बिहार-शरीफ वापस गया। कुछ दिनों तक वहां रहकर, जहां-जहां लूट-मार और खून-खराबा हुआ था वहां जाकर, लोगों से भेंट की और उन्हें शान्त किया। जो दृश्य देखने में आये, बहुत ही भयानक और दर्दनाक थे। हिन्दू या मुसलमान जब इस प्रकार के झगड़े में पड़ जाते हैं तब धर्म और मनुष्यता दोनों भूल जाते हैं। एक-दूसरे के खून के प्यासे हो जाते हैं। इस झगड़े में हिन्दू और मुसलमान दोनों मारे गये थे, पर मुसलमानों की संख्या अधिक थी। यदि यह झगड़ा रूका न होता तो स्थिति और भी भयंकर हो गई होती। शान्ति-स्थापना के बाद मैं फिर वर्धा वापस गया।

यहां एक और काम मैंने अपने ऊपर ले लिया था। अथवा यह कहना बेहतर होगा कि मेरे ऊपर वह काम डाल दिया गया है। सिंधियां-स्टीम-नाविगेशन-कम्पनी हिन्दुस्तानियों की जहाजी कम्पनी है। उसके जहाज विशेषकर हिन्दुस्तान और बरमा के बीच तथा हिन्दुस्तान के समुद्रतट के बन्दरगाहों में ही अधिक आया-जाया और माल ढोया करते हैं। वह कम्पनी चाहती थी कि जहाज बनाने का एक कारखाना खोला जाय। उसने विशाखापट्टनम् (विजगापटम) को, जो आन्ध्र-प्रदेश में है, इसके लिए उपयुक्त स्थान चुन लिया था। उसके डाइरेक्टरों में प्रमुख हैं, सेठ बालचन्द हीराचन्द और सेठ शान्तिकुमार नरोत्तम मुरारजी। उनकी यह राय हुई कि मैं इसकी नींव डालूं। मैं उस समय कोई भी काम गांधीजी की आज्ञा के बिना नहीं करता था। इसलिए उन्होंने गांधीजी से कहा मुझे आज्ञा, मिली कि मैं वहां जाऊं। इस सिलसिले में मुझे भारतीय जहाजी वाणिज्य के इतिहास के अध्ययन का मौका मिला। यों तो थोड़ा-बहुत जानता था कि ब्रिटिशों ने किस तरह इस फैले हुए व्यापार को हिन्दुस्तानियों के हाथ से जबरदस्ती छीन लिया था, पर इसबार के अध्ययन से मेरा इस विषय का ज्ञान और भी अधिक बढ़ गया। इसके अध्ययन में कम्पनी के लोगों

ने पुस्तकें आदि भी पहुंचा दी थीं, इसलिए स्वाध्याय में बहुत सुविधा भी हो गई थी। मैंने उस अवसर पर वहां जो भाषण किया, उसमें सारे इतिहास और वर्तमान स्थिति इत्यादि का सिंहावलोकन किया। कम्पनी की ओर से बड़ा समारोह किया गया था। उसके सभी डाइरेक्टर वहां आये थे। सारे हिन्दुस्तान से बहुतेरे प्रमुख लोग आमन्त्रित किये गये थे। सरकारी नौ-सेना के अफसर भी उपस्थित थे। बहुत धूमधाम के साथ यह महोत्सव समाप्त हुआ। उन लोगों ने सार्वजनिक काम के लिए मुझे रूपये भी दिये, जिनको मैंने उनकी इच्छा के अनुसार उन संस्थाओं को दे दिया, दो उस काम में लगी थीं। कुछ सामान उन्होंने मेरे साथ कर दिया जिसको मैंने वापसी ट्रेन में कुछ दूर चले आने पर देखा।

: १४४ :

ढाका जिले में दंगे की जांच

वायटेयर से, जो विशाखापट्टनम् के पास में ही है, रवाना होकर मथुराबाबू के साथ मैं सीधे ढाका जाने के लिए कलकत्ते पहुंचा। रास्ते में कटक में भी कुछ देर के लिए ठहरा था। ढाका जाने का कारण यह था कि वहां भी भयंकर हिन्दू-मुस्लिम-दंगा हो चुका था। वहां दंगा ढाका शहर से आरम्भ होकर कई गांवों तक में जा पहुंचा था। गांव-के-गांव लूट लिये गये और जला दिये गये थे। ढाका में तो खून भी काफी हुए थे। जिस दिन मैं पहुंचा, वातावरण शान्त था। वहां जाने के पूर्व ही कलकत्ते में उस समय के प्रधानमंत्री श्री फजलुल हक और सर नाजिमुद्दीन से मेरी मुलाकात हो गई थी। श्री फजलुल हक को मैं उसी समय से जानता था जब मैं कलकत्ता हाइकोर्ट में वकालत किया करता था। सर नाजिमुद्दीन से, बंगाल की जेलों में अनशन कर रहे राजनैतिक कैदियों के सम्बन्ध में बातें करने के लिए, भेंट हो चुकी थी।

मैं ढाका में वहां के प्रमुख लोगों से मिला। हिन्दुओं पर बहुत जुल्म हुए थे। अतः उनमें स्वाभाविक रोष था। मुसलमानों ने वहां के नबाब-साहब के महल में मुझसे मुलाकात के लिए एक चाय-पार्टी दी। वहीं सबसे बातें हुईं। पुराने कांग्रसी, जो उस समय वहां की जिला-कमिटी के सभापति थे, श्रीशचन्द्र चटर्जी के घर पर मैं ठहरा था। ढाका से कुछ दूर उन गांवों को जाकर देखा जो लूट लिये और जला दिये गये थे। दृश्य भयंकर था। बंगाल के मकान अक्सर पक्के नहीं होते, फूस या टिन से छाये जाते हैं। दीवार बांस आदि की टट्टी की होती है, जो लकड़ी के खम्भों के सहारे खड़ी रहती है। जमीन का नमी या सील से बचने के लिए मकान के भीतर का फर्श कहीं-कहीं सिमेण्ट का बना होता है। ऐसे गांव भी देखने में आये, जहां केवल लकड़ी के जले हुए खम्भों के टुकड़ों अथवा निशान तथा सिमेण्ट के फर्शं के सिवा और कुछ भी देखने को न मिला। हालत बिहारशरीफ से भी खराब थी, पर ढाका जिले का उससे किसी तरह मुकाबला नहीं हो सकता था। बिहार में हिन्दुओं का आबादी अधिक है, वहां मुसलमान ही अधिक मारे या लूटे गये थे। ढाका में मुसलमानों की आबादी अधिक है, वहां हिन्दू ही अधिक मारे या लूटे गये थे। पर

जिस तरह लूटना और जलाना ढाका में हुआ था, उसका कुछ भी मुकाबला बिहार नहीं कर सकता था ।

दो-तीन दिनों . तक उन देहातों से घूम-घूमकर देखने के बाद मैं फिर ढाका लौटा । देहातों में घूमते-घूमते दो गांवों में मेरी अपने गांव जीरादेई के दो आदमियों से मुलाकात हो गई । ये यहां काम की तलाश में आये थे । बहुतेरे बिहारियों की तरह ये भी यहां से कुछ पैदा करके आया-जाया करते थे । मुझे देखकर आश्चर्य हुआ कि जिस तरह आसाम की यात्रा में सारन जिले के आदमियों से मुलाकात हो गई थी, उसी तरह बंगाल के देहातों में भी हमारे प्रदेश के लोग फैले हुए हैं । गरीब बिहारी मजदूरों में बहुत हिम्मत और अध्यवसाय है, जो वहां के पढ़े-लिखे लोगों में नहीं देखा जाता । शिक्षितवर्ग के लोग प्रान्त के बाहर बहुत कम मिलते हैं, पर अशिक्षित मजदूर एक ओर बम्बई में मुझे इत्तफाक से मिल गये हैं तो दूसरी ओर बरमा और बंगाल तथा आसाम में फैले हुए हैं । अंगरेजी शिक्षा हमारे प्रान्त के लोगों को कायर और निकम्मा बना देती है क्या ?

इस सम्बन्ध में एक और बात याद आ जाती है । ये गरीब बेचारे सुदूर बरमा, बंगाल, आसाम इत्यादि में जाकर मजदूरी करते हैं, वहां के खेतों को आबाद करते हैं और फसल तैयार होने पर काटते हैं; पालकी ढोते हैं; बैलगाड़ी हांकते हैं; मिट्टी काटने के काम पर तो मानो इन लोगों का एकक्षत्र राज्य है-गांवों में तालाब खोदना, कुआं बनाना, मकान बनाना इत्यादि जितने आवश्यक काम हैं सभी करते हैं-धनी घरों में नौकरी करते हैं, खिदमतगारी और पहरेदारी दोनों काम बहुत करके इनके ही हाथों में हैं । इस तरह बंगाल, आसाम इत्यादि से बिहार के गांवों में बहुत पैसे आया करते हैं-विशेषकर सारन जिले में । जीरादेई गांव के पोस्ट-आफिस में, जब कमासुत लोग बाहर गये रहते हैं तब, प्रायः प्रति-सप्ताह चार-पांच हजार रूपये मनीआर्डर के जरिये आया करते हैं । लोगों ने हिसाब लगाया है कि इस प्रकार से बिहार के गांवों में बाहर से प्रायः पांच करोड़ सालाना आया करता था । कुछ बंगाली भाइयों का कहना था कि बिहार के लोग बंगालियों की शिकायत करते हैं कि वे बिहार में आकर बहुत धन पैदा किया करते हैं-जब बिहारी इतने अधिक पैसे बंगाल से लाते हैं । यह बात सच है कि बिहारी इस बात की शिकायत किया करते हैं-विशेषकर शिक्षित बिहारी, जिनको बंगालियों के साथ सरकारी दफ्तरों और वकालतखानों में मुकाबला करना पड़ता है ।

मालूम नहीं कि इस तरह सरकारी दफ्तरों के क्लर्क, राजे-रजवाड़ों की नौकरी करनेवाले बाबू, कालेजों और स्कूलों के शिक्षक, वकील, डाक्टर इत्यादि बिहार से कितना ले जाते हैं, क्योंकि इनके रूपये तो गरीबों की तरह छोटे-छोटे मनीआर्डरों द्वारा जाते नहीं हैं, और यह कहना कठिन है कि हिसाब लगाने पर बिहार मुनाफे में पाया जायगा या बंगाल । पर एक बात स्पष्ट है । बिहारी लोग बंगाल में जाकर ऐसे आवश्यक काम करते हैं, जिनके बिना वहां के लोगों का जीवन-निर्वाह ही कठिन हो जाय और जिनकी जरूरत बंगाली भाई महसूस करते हैं । किन्तु बिहार में बंगाली ऐसे काम करते हैं, जिनके सम्बन्ध में शिक्षित बिहारी चाहते हैं और कहते हैं कि बंगाली अगर उन कामों न आयें तो बिहारियों का कुछ नुकसान नहीं होगा और वे खुद ही सभी कामों को संभाल लेंगे । इसके अलावा, जितना सैकड़ों बिहारी एड़ी चोटी का पसीना एक करके और मलेरिया इत्यादि के शिकार बनकर पैदा करते हैं उतना एक बंगाली हुकूमत की कुर्सी पर बैठकर आराम करते हुए पैदा कर लेता है । जो हो, इस प्रकार का मनमुटाव बहुत दिनों से चला आ रहा है । नौकरी-पेशा लोगों में बिहारी और बंगाली की काफी होड़ है । गरीबों की बात तो शायद ही किसी के ध्यान में आती है ।

इसी झगड़े के कारण, कांग्रेस-मिनिस्ट्री के समय में, बिहार में, बहुत आन्दोलन हुआ । एक ओर बिहारियों की शिकायत थी कि अनेक विभागों के दफ्तरों में और सरकारी ओहदों पर उसी समय से--जब बंगाल और बिहार एक साथ थे--बंगालियों ने कब्जा कर लिया है और अलग सूबा कायम होने के प्रायः तीस बरसों के बाद भी उनका वैसा ही आधिपत्य है । दूसरी ओर बंगालियों का कहना था कि बहुतेरे बंगाली प्रायः भाषा तो बंगला बोलते हैं, पर वे बिहार के निवासी हैं अथवा बिहार में बस गये हैं, इसलिए उन्हें सरकारी नौकरियां देने में किसी प्रकार का बंगाली-बिहारी भेद-भाव करना अनुचित है--उनकी शिकायत थी कि इस प्रकार का भेद-भाव किया जाता है । यह शिकायत कांग्रेस तक पहुंची और जिस समय श्रीसुभाषचन्द्र बोस कांग्रेस-प्रेसिडेण्ट थे उस समय वर्किंग कमिटी ने जांच-पड़ताल करके एक लम्बी रिपोर्ट दी, जिसमें इतिहास के अलावा आगे के लिए भी सुझाव पेश किये कि सबके साथ इन्साफ का बर्ताव किस तरह किया जा सकता है । वर्किंग कमिटी ने मेरी रिपोर्ट को न्याययुक्त समझकर मंजूर किया और कांग्रेसी मंत्रीमण्डल को उसी के अनुसार काम करने का आदेश दिया । मेरा अनुमान है कि मेरी सिफारिशों को दोनों पक्षों ने मंजूर किया ।

यद्यपि किसी एक पक्ष की सभी मांगें उसमें मंजूर नहीं की गई थीं तथापि लोगों ने यह समझ लिया कि जो मैंने कहा है वह एक प्रकार से ठीक ही है। जब मैं देहातों से लौटकर ढाका शहर में पहुंचा तो मालूम हुआ कि ढाका के दंगे के सम्बन्ध में सरकार ने जांच कराने का निश्चय किया है और सरकार की ओर से बंगाल के स्टैंडिंग कौंसल मेरे पुराने दिली दोस्त श्रीयोगेन्द्रनारायण मजुमदार पैरवी के लिए भेजे गये हैं। बहुत दिनों से भेंट नहीं हुई थी और इस सुयोग को अच्छा समझकर मैं उनसे मिलने गया। वह नदी में एक छोटे स्टीमर पर ही ठहरे हुए थे। उनसे बातें कर ही रहा था कि खबर आई, ढाका शहर में फिर खून-खराबा शुरू हो गया और एक या दो आदमियों को छुरा भोंक दिया गया। मुझे दूसरे ही दिन चला आना था। रात को भी यह काम जारी रहा। सवेरे मालूम हुआ कि शहर में काफी हलचल है और कई आदमी छुरों के शिकार हो गये हैं। ऐसा मालूम होता था कि हिन्दुओं को यदि यह पता लग गया कि मुसलमानों ने किसी मुहल्ले में एक या दो हिन्दुओं को छुरा भोंक दिया तो दो-चार घंटों के भीतर ही कहीं-न-कहीं किसी मुहल्ले में उतने ही मुसलमानों को छुरे भोंक दिये जाते थे। इसी तरह की होड़ हिन्दू-मुसलमान कर रहे थे। इस प्रकार की होड़ के कारण ही छुरा मारनेवाले इस बात का विचार नहीं करते थे कि जो मारा गया उसने क्या कसूर किया था। मारनेवाले तो सुरक्षित बच जाते थे और चुपचाप अपनी राह जानेवाले निरीह बेकसूर--हिन्दू हों या मुसलमान--बिना कारण मारे जाते। दोपहर को हमारे रवाना होने तक आठ-दस खून हो चुके थे। जांच का काम इस परिस्थिति में होना असम्भव था। इसलिए वह स्थगित कर दिया गया और जिस जहाज से मैं लौटा उसी जहाज से योगेन्द्रबाबू भी कलकत्ते आये।

कलकत्ते से मैं सीधा पटना वापस आया। मैं पटने में १९४१ के जून के अन्तिम दिनों में पहुंचा। रास्ते में ही जो खांसी-दमा शुरू हुआ था वह बहुत बढ़ गया। ज्वर भी हो आया। मैं पटना में ही रूक गया। बरसात भी शुरू हो गई, जो मेरे स्वास्थ्य के लिए बहुत खराब होती है। प्रायः दो महीनों तक मैं वहीं पड़ा रहा। अन्त में व्यक्तिगत सत्याग्रह में कैद हुए लोग छूटने लगे, विशेषकर श्रीबाबू, अनुग्रहबाबू इत्यादि प्रमुख लोग छूट गये। उनसे भेंट करके और जिला-बोर्डों तथा म्युनिसिपैलिटियों से कांग्रेसी मेम्बरों को निकल आने का आदेश देकर मैं स्वास्थ्य-सुधार के लिए वर्धा चला गया।

: १४५ :

क्रिप्स-योजना

जब मैं ढाका में था, तभी जर्मनी ने रूस के साथ युद्ध की घोषणा कर दी। बहुत जोरों से रूस में जर्मन-सेना प्रवेश करके आगे बढ़ने लगी। थोड़े ही दिनों में रूस के बहुत बड़े हिस्से पर जर्मनों ने कब्जा कर लिया। यह लड़ाई बहुत बड़े पैमाने पर हो रही थी। रूस के उत्तरी छोर से लेकर दक्षिणी छोर तक जर्मन और रूसी सेनाओं की भिड़न्त हो रही थी। जर्मनी ने पश्चिम में स्पेन और पुर्तगाल, उत्तर में स्वीडन और दक्षिण में इटली को छोड़कर योरोप के प्रायः सभी देशों पर कब्जा कर लिया था। स्पेन में फ्रांकों का आधिपत्य था, जिसको डिक्टेटर बनाने में जर्मनी ने बहुत मदद दी थी, इसलिए वह जर्मनी का बहुत कृतज्ञ था। स्वीडन बहुत-कुछ दब गया था। इटली भी जर्मनी के साथ लड़ाई में शरीक हो गया था। उक्त विजित देशों में कुछ लोग लुक-छिपकर छापे मारने की गोरिल्ला-लड़ाई जहां-तहां जर्मनों के साथ कर रहे थे, पर अधिकतर स्थानों में जर्मन शासन चल रहा था अथवा जर्मनी ने ऐसे लोगों के हाथों में अधिकार दे रखा था, जो उसकी ओर से शासन कर रहे थे।

अमेरिका की सहानुभूति इंगलैंड के साथ थी। जहाज, हथियार इत्यादि द्वारा वह अंगरेजों को मदद भी पहुंचा रहा था; पर खुले-खजाने अभी लड़ाई में नहीं उतरा था। उधर जापान भी चीन के बहुत बड़े हिस्से को अपने पंजे में कस चुका था और दिन-दिन आगे बढ़ता जा रहा था। अमेरिका तो चीन की मदद करना चाहता था, पर उसको मदद पहुंचाने का एक ही रास्ता था, जो खतरे से खाली न था। वह रास्ता था बरमा होकर। अंगरेज जापान को नाखुश नहीं करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने बरमा का रास्ता बन्द कर दिया। चीन एक प्रकार से लाचार होता जा रहा था। जापान इस ताक में था कि मौका पाकर अमेरिका से बदला ले। यह मौका १९४१ के जाड़ों के आरम्भ में उसने ढूंढ़ निकाला और अमेरिका के पर्लहार्बर पर धावा बोलकर अमेरिका की जल-सेना को भारी क्षति पहुंचाई। उसने इंगलैंड और हालैंड से भी लड़ाई ठान दी तथा जर्मनी और इटली के साथ दोस्ती गांठ ली। १९४१ के

नवम्बर के आरम्भ करके थोड़े ही दिनों में उसने दक्खिन-पूरब एशिया के बहुत बड़े हिस्से पर सिक्का जमा लिया। डच-उपनिवेश--जैसे जावा, सुमात्रा, बोर्निया और दूसरे टापू--उसकी धाक में आ गये। अंगरेजों से सिंहपुर (सिंगापुर) उसने जल्द ही जीत लिया। मलाया पर दखल जमाते हुए वह बरमा की ओर आगे बढ़ा। शीघ्र ही मोलमीन, रंगून, मांड़ले प्रभृति बरमी शहरों को हथियाकर प्रायः सारे बरमा को हड़प लिया। लड़ाई छेड़ने के एक-दो दिनों के अन्दर ही उसने ब्रिटिश जल-सेना को सिंगापुर के नजदीक कहीं एक लड़ाई में गहरी शिकस्त दी। 'प्रिन्स आफ वेल्स' नामक बहुत बड़े जहाज पर अंगरेजी एडमिरल फिलिप बहुत गर्व करके यह घोषणा करते हुए निकला था कि वह जापानी जलसेना की तलाश में जा रहा है। उसे जापान ने डुबो दिया।

उत्तर-अफ्रीका में इटालियन लोगों के कुछ उपनिवेश हैं ही। वहां भी अंगरेजों से लड़ाई ठन गई और जर्मन पहुंच गये। उन्होंने चन्द महीनों के भीतर ही उत्तर-अफ्रीका को, प्रायः इजिप्ट (मिस्र) की सीमा तक, अपने चंगुल में कर लिया। ऐसा मालूम होता था कि कोई भी देश अब जर्मनी और जापान की सेनाओं की बाढ़ को रोक न सकेगा। जाड़ों के कारण रूस में जर्मन-सेना को कुछ रूक जाना पड़ा, पर वह पीछे न हटी, जहांतक पहुंच गई थी वहीं डटी रही। १६४२ के आरम्भिक महीनों में ऐसी परिस्थिति मालूम होती थी कि लड़ाई में अमेरिका के आ जाने से ब्रिटेन की जान तो लौट आई, पर अभी जापानी और जर्मन सेना का मुकाबला कोई नहीं कर सकता था। अमेरिका बहुत बड़े पैमाने पर युद्ध-सामग्री, जल-सेना और स्थल-सेना तैयार करने लगा। वह उन सभी देशों को अस्त्र-शस्त्रों की मदद पहुंचाने लगा, जो मित्रों की ओर से लड़ना चाहते थे। उसकी पूरी शक्ति के संगठित रूप से लड़ाई में पूरी मदद पहुंचाने में समय अपेक्षित था और १६४२ के आरम्भिक महीनों तक वह समय नहीं पहुंचा था।

जर्मनी के खिलाफ यह शिकायत की जाती थी कि जो देश उसका साथ देने को तैयार नहीं होते उनपर धावा बोलकर वह कब्जा कर लेता। पर इस दोष से अंगरेज और मित्र-देश भी बरी नहीं थे। उनको डर था कि जर्मन और जापानी सेनाओं का संगम हिन्दुस्तान में किसी समय हो सकता है। उसीको रोकने के लिए अंगरेज एक ओर बरमा की सीमा पर लड़ना चाहते थे और दूसरी ओर इजिप्ट के पास दूसरा

मोरचा बनाना चाहते थे। एक और भी मोरचा अरब और ईरान में बनाना चाहते थे। इसलिए अरब और ईरान पर कब्जा कर लिया। ईरान के बादशाह रज़ाशाह पहलवी को, जिसने १९१४-१८ के युद्धोत्तर-काल में ईरान को शक्तिशाली बनाने का पुरा प्रयत्न किया था और जो वहां के लोगों की उन्नति करने में बहुत-कुछ सफल भी हुआ था, तख्त से उतारकर निर्वासित कर दिया। फिर क्या, रूसी और अंगरेजी तथा अमेरिकन सेनाओं का एक बहुत बड़ा अड्डा उस देश में बन गया। विपत्ति-काल में दुश्मन भी दोस्त बन जाते हैं! मि० चर्चिल ने रूस के साथ, जिसका विरोध उन्होंने अपने सारे जीवन में किया था और जिसको न मालूम कितनी गालियां दी थीं, दोस्ती कर ली। ऐसा मालूम हुआ कि सारी पिछली बातें दोनों भूल गये!

ऐसी स्थिति में इंगलैंड ने यह सोचा कि हिन्दुस्तान के साथ कुछ तय कर लेना चाहिए। सर स्टैफोर्ड क्रिप्स, जो इंगलैंड के राजदूत बनाकर उस समय रूस में भेजे गये थे, जब रूस और जर्मनी के बीच मित्रता थी तथा जिन्होंने रूस को बहुत कुछ-जर्मनी के विरूद्ध उभाड़ने में मदद की थी, लड़ाई ठन जाने पर इंगलैंड वापस आ गये। तब वहां की युद्ध-परिषद के वह प्रमुख सदस्य बन गये। अपने प्रगतिशील विचारों के कारण वह लेबर-पार्टी (मजदूर-दल) से भी अलग कर दिये गये थे। पर इस कठिन समय में, अपनी योग्यता के कारण, और विशेषकर रूस में जो कीर्ति कमा चुके थे उसके कारण, वह बहुत ही लोकप्रिय हो गये। उन्होंने ब्रिटिश कैबिनेट को इस बात के लिए तैयार किया कि भारत के साथ कुछ समझौता कर लेना चाहिए। कैबिनेट ने, जिसमें लेबर-दल और लिबरल-दल के लोग भी शरीक थे, एक योजना तैयार की। उसे लेकर सर क्रिप्स हिन्दुस्तान आये। यह योजना पहले प्रकट नहीं की गई। बहुत ही धूमधाम के साथ यह कहते हुए कि भारतवर्ष द्वारा मंजूर करा लेने का बीड़ा उठाकर वह १९४२ के मार्च में हिन्दुस्तान पहुंचे। पहुंचते ही कांग्रेस-प्रेसिडेण्ट मौलाना आजाद और गांधीजी तथा दूसरे नेताओं से मुलाकात शुरू कर दी गई। वर्किंग कमिटी की बैठक दिल्ली में हुई। हम सभी वहां प्रायः दों-तीन सप्ताह इसपर विचार करते रहे। आरम्भ में कुछ समय तक गांधीजी भी दिल्ली में रहे। पर कस्तूरबा गांधी की अस्वस्थता के कारण वह सेवाग्राम चले गये। कांग्रेस की ओर से बातचीत मौलाना आजाद और पंडित जवाहरलाल नेहरू करते रहे। वर्किंग कमिटी

के सभी सदस्य दिल्ली में ठहरे थे। जो बातें होतीं, उनपर विचार करने के लिए बराबर वर्किंग कमिटी की बैठकें होती रहीं।

क्रिप्स-योजना दो मुख्य भागों में विभक्त की जा सकती है। उसके पहले भाग में हिन्दुस्तान का भावी विधान बनाने का तरीका बतलाया गया है। दूसरे में यह बतलाया गया है कि तत्काल भारत-सरकार का काम चलाने के लिए वाइसराय की वर्तमान कौन्सिल में क्या परिवर्तन होगा। इसमें भविष्य के सम्बन्ध में यह साफ-साफ कह दिया कि लड़ाई के बाद हिन्दुस्तान को वही स्थान मिलेगा जो दूसरे उपनिवेशों को है और यदि वह चाहे तो साम्राज्य से अलग जो जाने का भी उसे अधिकार होगा--विधान बनाने के लिए परिषद बनेगी, जिसे प्रान्तीय धारा-सभाएं चुनेंगी--प्रत्येक प्रान्त को अधिकार होगा कि वह यदि चाहे तो भारतीय संघ (यूनियन) से अपने को अलग कर ले, और यदि किसी प्रान्त ने ऐसा किया तो ब्रिटिश सरकार का उसके साथ वही सम्बन्ध रहेगा जो बाकी भारत अथवा भारतीय यूनियन के साथ होगा। इस प्रकार इस योजना ने मुस्लिम लीग की मांग मान ली और पाकिस्तान की स्थापना को सूबों पर छोड़ रखा। तत्काल के सम्बन्ध में इस योजना में यह नहीं कहा गया था कि वाइसराय की कौन्सिल को क्या अधिकार दिया जायगा। उसमें केवल इतना ही था कि उसे सेना-सम्बन्धी और युद्ध-सम्बन्धी कोई अधिकार नहीं होगा, जिसका अर्थ लोगों ने आम तौर से यही लगाया कि अन्य विभागों और महकमों में कौन्सिल को अधिकार मिलेगा। पूछने पर क्रिप्स महोदय ने कुछ ऐसा ही कह भी दिया।

गांधीजी को इस योजना से सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने मुलाकात में सर क्रिप्स से ऐसा ही कह भी दिया। वर्किंग कमिटी के विचार में भी यह योजना मान्य नहीं जंची, पर उसने उसपर बहुत समय देकर विचार किया। भविष्य के सम्बन्ध में यद्यपि एक प्रकार से पाकिस्तान की बात को योजना मान लेती थी और उसे वर्किंग कमिटी मानना नहीं चाहती थी तथापि वर्किंग कमिटी यह समझती थी और उसने अपने निश्चय में कहा भी कि यह बात यदि साबित हो जाय की किसी सूबे के लोग अलग होना चाहते हैं तो उसे वह जबरदस्ती अपने साथ रखना भी आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के विरूद्ध समझती है। उसका विशेष ध्यान तो तात्कालिक काम के लिए प्रस्तावित कौन्सिल पर था; क्योंकि वह मानती थी कि लड़ाई के जमाने में सारा बोझ उसपर

पड़ेगा और उसमें यदि कुछ अधिकार भारतीयों को नहीं मिलता है तो इस बोझ को भारत के हित की दृष्टि से भारतीय लोगों के लिए उठाना केवल अनुचित ही नहीं, बल्कि असम्भव अथवा कम-से-कम कठिन तो अवश्य होगा। इसलिए उसने उस बात को पूरी तरह साफ कर लेना चाहा कि सेना और युद्ध से सम्बन्ध रखनेवाला कोई भी अधिकार कौन्सिल का होगा या नहीं अथवा सबकुछ वाइसराय और जंगी लाट के हाथों में ही रहेगा। बातचीत के बाद उन्होंने कुछ थोड़ा-सा-नाम-निहादी अधिकार कौन्सिल के हिन्दुस्तानी मेम्बर के हाथ में देना भी स्वीकार किया; पर जब पूछा गया कि वह अधिकार कौन-सा और कितना होगा, तो मालूम हुआ कि वह बिलकुल नाम-मात्र होगा, जिसमें कुछ भी अधिकार वस्तुतः हस्तान्तरित नहीं होगा।

कमिटी को जब यह बात साफ-साफ मालूम हो गई तो उसने यह निश्चय किया कि वह योजना को मंजूर नहीं करेगी। पर अभीतक उसकी यही धारणा थी कि फौज और लड़ाई छोड़कर दूसरे विषयों में कौन्सिल को पूरा अधिकार होगा तथा वाइसराय उसकी राय के मुताबिक ही काम किया करेगा। साथ ही, यह जाहिर था कि लड़ाई के दिनों में दूसरे विभागों में कुछ विशेष काम तो होगा नहीं, और लड़ाई ऐसी चीज है, जिसके चलाने में सरकार को सारी शक्ति लगानी पड़ेगी, दूसरे विभागों को भी उसी काम में लग जाना पड़ेगा; इस तरह वह भी एक प्रकार से सेना और लड़ाई के विभाग के ही अधीन हो जायेंगे, इसलिए उनमें अधिकार मिलने का भी कोई महत्व नहीं रह जायगा। कमिटी के यह निश्चय कर लेने के पहले ही जब यह सब बात कही गई थी तो सर क्रिप्स ने कहा था कि कमिटी अपने निश्चय को स्थगित रखे और वह कैबिनेट के पास इस सम्बन्ध में लिखा-पढ़ी करेंगे। इसी लिखा-पढ़ी का यह नतीजा था कि सेना-सम्बन्धी नाम-निहादी अधिकार देने की बात हुई थी। जब इसपर भी विचार करने के बाद कमिटी इसी नतीजे पर पहुंची कि कुछ भी वास्तविक अधिकार नहीं मिलता तो उसके सामने योजना को नामंजूर करने के सिवा दूसरा रास्ता नहीं रह गया। उसने यह निश्चय कर भी लिया। ठीक इसी अवसर पर प्रेसिडेण्ट रूजवेल्ट के विशेष दूत कर्नल जौन्सन दिल्ली पहुंचे। पंडित जवाहरलाल नेहरू से उनकी मुलाकात हुई। उन्होंने कहा कि कुछ समय दीजिये, मैं भी कोशिश करके देखूं कि कुछ हो सकता है या नहीं। उनकी कोशिश का नतीजा यह हुआ कि जो बात सर

क्रिप्स ने सेना के सम्बन्ध में लिखा-पढ़ी के बाद कही थी, उसके रूप में परिवर्तन हुआ। कैबिनेट का प्रस्ताव था कि सेना-सम्बन्धी कुछ बातों को छोड़कर और सभी बातें जंगी लाट के अधीन होंगी। अब यह प्रस्ताव आया कि निम्नलिखित बातें जंगी लाट के अधीन होंगी और बाकी सब बातें मेम्बर के अधीन।

देखने में बात अच्छी लगी; पर प्रश्न यह था कि निम्नलिखित बातों में कौन-कौन-सी बातें होंगी। पूछने पर कुछ विभागों के नाम बता दिये गये। कर्नल जौन्सन भी इस बात को नहीं जानते थे कि विभागों के नाम जो दिये गये थे उनके बाहर कौन बातें रह गई थीं, जो मेम्बर के अधिकार में आयंगी। अन्त में, बहुत पूछताछ के बाद, मालूम हुआ कि केवल वे ही बातें होंगी, जो कैबिनेट के प्रस्ताव में पहले कही गई थीं, उनसे कुछ भी ज्यादा नहीं। इससे स्पष्ट हो गया कि यह शब्दाडम्बर मात्र था, कोई वास्तविक अन्तर नहीं था। यह हम लोगों को बुरा मालूम हुआ। इसपर भी हम सोचने लगे कि सेना-विषयक और युद्ध-सम्बन्धी अधिकार यदि नहीं मिलते हैं तो न सही, पर यदि दूसरे विभागों पर अधिकार मिलते हैं तो उसपर ही सन्तोष किया जा सकता है। परन्तु यह जान लेना चाहिए कि वह भी कहां तक वास्तविक रूप में मिलता है। पूछने पर सर क्रिप्स ने कहा कि इस सम्बन्ध में वाइसराय से ही बात करनी होगी; क्योंकि यह बात उनकी कौन्सिल से सम्बन्ध रखती है और जब कानून नहीं बदलता है तो प्रचलित विधान के अनुसार उनके जो अधिकार हैं, उनके सम्बन्ध में वही कुछ कह सकते हैं। जब यह कहा गया कि कैबिनेट उनको आदेश दे कि वह अपने अधिकारों को काम में न लायें और उन विषयों में कौन्सिल की राय के अनुसार ही काम किया करें, तो उत्तर मिला कि कैबिनेट इस प्रकार का आदेश नहीं दे सकता है। हम लोगों को यह पूरा-पूरा मालूम था कि कौन्सिल के मेम्बरों की कोई हैसियत वाइसराय नहीं मानते थे। वह मानते और कहा भी करते थे कि मेम्बरों को कोई अधिकार नहीं है, अन्त में सारा अधिकार वाइसराय को ही है और उसे वह छोड़ना नहीं चाहते हैं।

जब यह जाहिर हो गया कि उन विभागों में भी अधिकार नहीं मिलता और जो बातें सर क्रिप्स ने पहले कही थीं कि कैबिनेट की तरह कौन्सिल भी अधिकार रखेगी और काम करेगी, वह केवल वागाडम्बर था, उसमें कुछ भी तथ्य नहीं था, तो वर्किंग कमिटी उसे नामंजूर करने के सिवा दूसरा कुछ नहीं कर सकी; वैसा ही प्रस्ताव पास

करके भेज दिया गया। सर क्रिप्स ने भी उसी दिन घोषणा कर दी कि वह वापस जा रहे हैं और जो बात कैबिनेट की ओर से हिन्दुस्तान के सामने पेश की गई थी वह वापस ली जाती है। मुस्लिम लीग कांग्रेस के फैसले का इन्तजार कर रही थी और जैसे ही हमारा फैसला हो गया उसने भी योजना को नामंजूर किया; पर कारण यह बतलाया कि उसमें पाकिस्तान नहीं दिया गया, केवल उसकी सम्भावना है और वह इतने ही मात्र से सन्तुष्ट नहीं है।

इस तरह, कांग्रेस और लीग, दोनों ही ने योजना को नामंजूर किया। कांग्रेस वर्किंग कमिटी मानती थी कि पाकिस्तान की सम्भावना बताना भी ठीक नहीं था--यदि कोई प्रान्त सचमुच अलग होने की इच्छा रखता है और इसका पूरा सबूत मिल जाय तो उसे जबरदस्ती साथ रखना आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के विरूद्ध होगा, तो भी उसने योजना को इस कारण से नामंजूर नहीं किया था। उसकी नामंजूरी का कारण यह था कि तत्काल कुछ अधिकार नहीं मिल रहे थे, यद्यपि कौन्सिल पर लड़ाई में मदद करने का भार पूरा-पूरा आ जाता था, जिसका अर्थ इतना मात्र था कि चन्दा और 'कर' उगाहने तथा रंगरूट भर्ती करने और कराने के अलावा उसको कोई दूसरा अधिकार नहीं मिलता! लीग की नामंजूरी का कारण तत्काल मिलनेवाले अधिकार से सम्बन्ध नहीं रखता था। वह कारण तो केवल लीगी मुसलमानों की राय के अनुसार तुरन्त पाकिस्तान कायम न करना मात्र था।

वर्किंग कमिटी के अन्दर श्री राजगोपालाचारी का विचार था कि क्रिप्स-योजना को मान लेना चाहिए। उन्होंने ही इस बात पर जोर दिया था कि उसके द्वारा वाइसराय की कौन्सिल के सदस्यों को फौज और लड़ाई छोड़कर अन्य सब विभागों पर पूरा अधिकार मिल जाता है। पर जब अन्त में यह साफ हो गया कि उस विषय में भी कुछ अन्तर होनेवाला नहीं है और वाइसराय अपनी मनमानी करने के अधिकार में किसी प्रकार की कमी आने देना नहीं चाहते हैं, तो उनका मुंह भी बन्द हो गया। वर्किंग कमिटी के इस निश्चय के सम्बन्ध में कांग्रेस के अन्दर भी कुछ लोगों को बहुत गलत-फहमी रही, जैसा पीछे जाकर मालूम हुआ। पर हमारे दिल में कभी कोई सन्देह नहीं रहा। सरं क्रिप्स ने भी कुछ ऐसी बातें कहीं जो निराधार थीं। उन्होंने अपने एक बयान में कह दिया कि इसकी नामंजूरी हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों के कारण हुई, कांग्रेस और मुस्लिम लीग एक राय न हो सकीं तो दोनों ने इसे नामंजूर

कर दिया। उनके बयान का आशय था कि इस नामंजूरी का दोष क़ांग्रेस पर ही है। बात यह थी कि वर्किंग कमिटी के सामने इस विषय में हिन्दू-मुस्लिम झगड़े या मतभेद की बात उस रूप में आई ही नहीं, जिस रूप में लोगों ने बताया। पाकिस्तान-सम्बन्धी घोषणा के सम्बन्ध में वर्किंग कमिटी का योजना से मतभेद जरूर था; पर उसने उस कारण से उसे नामंजूर नहीं किया था। उनकी नामंजूरी का कारण, जैसा पहले भी संक्षेप में कहा गया है, बस एक ही था और वह यह कि इसके द्वारा हिन्दुस्तानी कौन्सिलरों के हाथों में कोई अधिकार नहीं मिलता था, इसलिए इस युद्ध-काल में यह जवाबदेही लेकर वह देश का हित नहीं कर सकेंगे और लड़ाई की मदद करने की जिम्मेदारी उनके सिर पर आ जायगी। यह भी गलत है कि उसमें हिन्दू और मुसलमानों की संख्या कितनी होगी--इस बात पर मतभेद हुआ, जैसा कुछ विरोधियों के बयान से मालूम होता था। पर कौन्सिल में कितने मेम्बर होंगे, उनमें कितने हिन्दू और कितने मुसलमान होंगे, कितने कांग्रेसी और कितने लीगी रहेंगे--यह सवाल एक बार भी हमारे सामने नहीं आया। इसका मौका भी नहीं था; क्योंकि यह सवाल तो तब उठता जब हम निश्चत कर लेते कि कौन्सिल में हमें जाना चाहिए। हमने जब वहां जाने से इनकार कर दिया तब हमारी संख्या उसमें कितनी होगी, यह प्रश्न कैसे उठ सकता था और कभी उठा भी नहीं था। पर हमारे विरूद्ध इस प्रकार का प्रचार बहुत किया गया।

: १४६ :

क्रिप्स-योजना की नामंजूरी के बाद

क्रिप्स-योजना की नामंजूरी वर्किंग कमिटी ने की थी। अब उसपर विचार करने के लिए अखिल भारतीय कमिटी का जलसा होना आवश्यक हो गया। वह इलाहबाद में थोड़े ही दिनों के बाद हुआ। यह बात अब स्पष्ट दीखने लगी कि मामला नामंजूरी तक ही नहीं रहेगा, कांग्रेस को अपनी नीति बताने के लिए कुछ और भी करना पड़ेगा। जापान तेजी से आगे बढ़ता आ रहा था। अंगरेजी फौज उसका मुकाबला नहीं कर सकती थी। हिन्दुस्तान में उस मुकाबले के लिए पूरी तैयारी भी नहीं थी। खूब तेजी के साथ अंगरेजी और अमरीकी फौजें यहां लाई जा रही थीं। अस्त्र-शस्त्र भी लाये जा रहे थे। पर अभी ऐसा नहीं मालूम होता था कि मुकाबला कामयाब हो सकेगा। देश के सामने प्रश्न यह था कि जापान यदि आ गया तो क्या हिन्दुस्तान उसके सामने सिर नवाकर उसका स्वागत करेगा अथवा उसका मुकाबला करेगा। अंगरेजी सरकार, जिसने हिन्दुस्तान की रक्षा का भार अपने ऊपर ले रखा था, असमर्थ मालूम पड़ती थी। पर इस असमर्थता के बावजूद वह हमारे साथ कुछ समझौता करके हमको इसका मौका नहीं देना चाहती थी कि हम भी अपने देश की रक्षा में हाथ बंटा सकें। गांधीजी की, अहिंसात्मक रूप से मुकाबला करने की नीति को वर्किंग कमिटी ने एक तरह से छोड़ दिया था। वह शस्त्र के साथ, अंगरेजी फौज के कंधे-से-कंधा मिलाकर जापान का मुकाबला करने की अपनी तैयारी घोषित कर चुकी थी और करना भी चाहती थी। पर वह ऐसा तभी कर सकती थी जब वह भी ब्रिटिशों की बराबरी में अधिकार पूर्वक काम करे। ब्रिटिश यह पसन्द नहीं करते थे, वे चाहते थे कि हिन्दुस्तान जो कुछ मदद दे सकता है दे, पर उसे वे अपनी गुलामी से बरी करना नहीं चाहते थे। मिस्टर चर्चिल ने ऐसा बार-बार कहा भी था कि ब्रिटेन किसी नये देश को अपने कब्ज़े में करने की लालच नहीं करता, पर साथ-ही-साथ जो उसका है, उसे छोड़ना भी नहीं चाहता। यह स्पष्ट था कि भारत तो उसका था

ही और उसे इस विपत्तिकाल में भी वह छोड़ना नहीं चाहता था । कठिन घड़ी में उन्होंने फ्रान्स से कहा था कि ब्रिटिश-साम्राज्य और फ्रेंच-साम्राज्य दोनों मिला दिये जायं--वही ब्रिटिश साम्राज्य जिसको कितनी लड़ाइयों और कितनी खूंरेजियों के बाद ब्रिटेन ने फ्रान्स से जीता था ! पर भारतीयों का अपने मुकाबले में बैठना ब्रिटेन नहीं सह सकता था--उनको अपने देश में अधिकारपूर्वक जापानियों के साथ मुकाबला करने का मौका देने के लिए वह तैयार नहीं था !

ऐसी अवस्था में हमारे सामने प्रश्न यह था कि हम अपनी रक्षा किसा प्रकार करें । लोगों में उत्साह यदि न रहा तो जापानी आसानी के कब्जा कर लेंगे । हो सकता है कि कुछ लोग ऐसे हों जो यह समझते हों कि इंगलैंड अगर किसी तरह हटा और जापानी आकर बैठ भी जायं, तो विशेष चिन्ता की बात न होगी, उनके साथ हम पीछे निपट लेंगे । हो सकता है कि कुछ लोग जापान से मदद लेकर अंगरेजों को हटाने में कोई हानि न देखते हों । पर वर्किंग कमिटी के अन्दर अथवा प्रमुख कांग्रेसी लोगों में कोई भी ऐसा न था, जो जापान को मदद देकर अथवा तटस्थ रहकर ब्रिटिश सरकार को इस देश से बाहर करना चाहता हो । इसका कारण यह नहीं था कि वे ब्रिटेन को जापान से बेहतर समझते थे । हम जापान को ब्रिटेन से कदापि बेहतर नहीं समझते थे । उसका जो बर्ताव चीन के साथ हुआ था, वह जिस तरह चीन को दबाकर उसके बहुत बड़े भूभाग को अपनी मुट्ठी में किये हुए था, उसका एक ही अर्थ हो सकता था और वह यह था कि वह भी ब्रिटेन की तरह अपना साम्राज्य विस्तृत और स्थिर करना चाहता था । एक साम्राज्य से निकलकर दूसरे साम्राज्य के कब्जे में जाने में कोई बुद्धिमानी नहीं थी । वह तो चढ़ी कड़ाही से उछलकर आग में कूद पड़ने के समान ही था । इसलिए हमारा निश्चय था कि हमको जापान का मुकाबला करना ही होगा । अपने सिद्धान्त छोड़ने पर भी ब्रिटिश सरकार कांग्रेस को सशस्त्र और साधिकार मुकाबले का मौका देना नहीं चाहती थी । हमारे लिए अपने तरीके से मुकाबला करने के सिवा दूसरा कोई रास्ता नहीं था । उस मुकाबले की तैयारी का, जनता में शत्रु के मुकाबले के लिए उत्साह बढ़ाने के सिवा, दूसरा कोई तरीका न था । क्या वह देश नवागन्तुक जापानियों के मुकाबले के लिए तैयार किया जा सकता

था, जो स्थापित ब्रिटिश साम्राज्य का मुकाबला करने में असमर्थ था अथवा मुकाबला नहीं करना चाहता था ? हम समझते थे कि ऐसी स्थिति में, मुकाबले के लिए भारतीयों के हृदय में स्वतन्त्रता की आग धधकाने के अतिरिक्त, दूसरा कोई उपाय नहीं हो सकता।

किन्तु इसका नतीजा ब्रिटिश और जापान दोनों के विरूद्ध पड़ता था। फिर भी इसका दोष हमारे सिर पर नहीं था, वह था ब्रिटिश के सिर पर। उन्होंने हमें स्वतन्त्रता देने से--वह सीमित स्वतन्त्रता भी, जिसपर हम तत्काल के लिए राजी थे--इनकार कर दिया। ब्रिटिश में और जापानी में हमारी नजरों के अन्दर क्या अन्तर रह जाता था ? एक ने हमारी स्वतंत्रता छीन रखी थी, और इस विपत्ति-काल में जापान से मुकाबला करने के लिए भी उसे हमें देने पर राजी नहीं था; दूसरा हमारी स्वतन्त्रता छीनकर अपना साम्राज्य कायम करना चाहता था ! हमारी आंखों में दोनों एक-से ही थे। कहने के लिए तो अंगरेज कहते थे, लड़ाई में हमारी मदद करो, लड़ाई के बाद औपनिवेशिक स्वतन्त्रता तुमको मिलेगी; और जापानी भी कहते थे, हमारी मदद करो, हम तुमको स्वतन्त्र बना देंगे ! किसकी बात हम मानते ? इसलिए हमने निश्चय किया कि दोनों में किसी की बात पर हम विश्वास नहीं कर सकते, हमको अपनी स्वतन्त्रता लेने के लिए खुद तैयार हो जाना चाहिए--चाहे अंगरेज इसे बुरा क्यों न मानें !

गांधीजी ने इन विचारों से प्रभावित होकर जोरदार लेख लिखना आरम्भ कर दिया। इलाहाबाद में होनेवाली आल इण्डिया कांग्रेस-कमिटी के लिए एक प्रस्ताव का मसविदा तैयार करके उन्होंने श्री मीरा बहन के हाथ वहां भेजा। वर्किंग कमिटी में इसपर बहुत वाद-विवाद हुआ। ऐसा मालूम हुआ कि वहां दो मत हैं--एक तो गांधीजी के मसविदा के पक्ष में और दूसरा वह जो उतनी दूर नहीं जाना चाहता था, उसे मंजूर नहीं करता था। उसमें संशोधन करने का बहुत प्रयास किया गया, पर वह सफल न हुआ। अन्त में, ऐक्य कायम रखने के लिए, हमने अपना विरोध हटा लिया और जो कुछ भी औरों ने मुनासिब समझा, उसे ही मंजूर लिया। यह बात वर्किंग कमिटी में हुई। देश का रूख अधिक गांधीजी के साथ था। यदि वही मसविदा आल इण्डिया कमिटी में पेश कर दिया गया होता तो शायद वह मंजूर तो हो जाता, पर

आपस का मतभेद भी खूब प्रदर्शित कर देता। अगर अपनी ओर से कुछ करना ही था तो वह इस तरह आपस की फूट को घोषित करके नहीं किया जा सकता था। इसलिए इस मतभेद को दबा देना ही उचित जान पड़ा और गांधीजी का प्रस्ताव किसी रूप में पेश न हुआ। हां, जो प्रस्ताव हुआ उसमें भी गांधीजी के भावों का काफी समावेश था। जब गांधीजी ने उसे देखा तो उन्होंने कहा कि यद्यपि वह उसे पूरा पसन्द नहीं करते थे तो भी उसमें उनके लिए काम करने का काफी मौका था, इसलिए वह उसे एक प्रकार से मंजूर करते हैं।

: १४७ :

युद्धकाल में देश की स्थिति

मैं प्रयाग से सीधे वर्धा चला गया। मुझे ऐसा मालूम होता था कि अब ब्रिटिश सरकार के साथ मुठभेड़ हुए बिना न रहेगी। गांधीजी जबर्दस्त लेख लिख ही रहे थे। देश में बड़ी अशान्ति थी। हम लोगों के दिल में भी जलन थी। मैंने सोच लिया था कि एक बार सारे सूबे का दौरा करना उचित है। एक तो लोगों को गांधीजी की बातें बता देना आवश्यक था और आनेवाले विकट समय के लिए लोगों में जो आतंक फैलता जाता था, उसका प्रतिरोध करना था और जनता को यह भी बताना था कि यदि वह कहीं हिन्दुस्तान की भूमि पर पहुंच गया तो हमारा क्या कर्तव्य होगा।

इन दिनों सरकार की ओर से भी काफी धांधली मच रही थी। समुद्र के किनारे के गांवों में, जहां यह भय था कि जापानी सेना उतर सकती है, जो थोड़ी-बहुत फौजी तैयारी हो रही थी, उसके अलावा यह नीति भी बरती जा रही थी कि जापानी सेना अगर पहुंच ही गई तो ऐसा कर दिया जाय कि उसे कोई चीज हाथ न लगने पाय। इसलिए नावों की जब्ती हो रही थी। कहीं-कहीं उन्हें बर्बाद कर देने का काम भी जारी था। विशेषकर बंगाल में, जहां नावों द्वारा ही सब काम हुआ करते हैं, इसका असर बहुत बुरा पड़ रहा था। लोगों का आना-जाना, या सामान को ढोकर एक जगह से दूसरी जगह ले जाना, यहांतक कि छोटे-छोटे बाजारों में मामूली खरीद-फरोख्त का काम भी, एक प्रकार से सब रूक गया था। जो धान या चावल गांवों में था, उसे भी सरकार अपने कब्जे में कर रही थी ताकि वह दुश्मन के हाथ न लगने पावे। जिसे अंगरेजी में 'स्काच्र्ड अर्थ पालिसी' (**Scarched earth policy**) अर्थात दुश्मन के हाथ में कोई चीज न पड़ने देने के लिए सभी चीजों को भस्मीभूत कर देने की नीति--कहते हैं, उसकी पूरी तैयारी की जा रही थी। बिहार में छोटानागपुर से लेकर सोन नदी तक एक बड़े मोरचे की तैयारी हो रही थी। इसके लिए बहुत जगहों पर हवाई अड्डे और हवाई जहाज के उतरने के लिए रास्ते बनाये जा रहे थे। हजारों बीघे जमीन जहां-तहां सरकार ले रही थी। उसपर बसी हुई प्रजा

और उसे जोतनेवाले किसान परेशान थे । कहा जाता था कि जमीन और मकान वगैरह जो उनको खाली करने पड़ते थे, उसके लिए उन्हें मुआवजा मिलेगा; पर अभी तक कहीं किसी को कुछ मिल नहीं रहा था । सब काम बहुत तेजी से चलाया जा रहा था । उत्तरी बिहार और छोटानागपुर में बहुत बड़ी अंगरेजी और अमरीकी सेना जुट रही थी । मालूम नहीं, कितने लाख लोग आ चुके थे--कितने और आनेवाले थे । आसाम की सीमा पर लड़ाई पहुंच जाने के कारण उधर सेना के काम में ही रेलगाड़ियों के अधिक लग जाने से जन-साधारण का कहीं रेल पर आना-जाना कठिन हो गया था । विशेषकर बी० एन० डब्लू० रेलवे (अब ओ० टी० रेलवे) में, जो उत्तरबिहार (तिरहुत) होकर अवध में जाती है, बड़ी तकलीफ थी । उसमें फौजी गाड़ियां बहुत चलती थीं । उनमें कई तो घायलों को आसाम के मोर्चे से लाद-लादकर उत्तरबिहार, संयुक्तप्रान्त तथा इनसे भी और पच्छिम की ओर भागे जा रहे थे । इनसब चीजों को देखकर लोगों के ठहरने के लिए अड्डे बनाये जा रहे थे, नई सड़कें निकाली जा रही थीं और स्थान-स्थान पर उनके लिए अन्न-पानी वगैरह जमा रखने का प्रयत्न हो रहा था । इसमें दूरदर्शिता तो अवश्य थी, पर साथ ही जनता कुछ ऐसा समझने लगी कि लड़ाई न करके यह सब तैयारियां भागने के लिए ही हो रही हैं ! जन-साधारण क्या जाने कि आज का मोर्चा कितना फैला हुआ होता है और उसमें कितने प्रकार की लड़ाइयां हुआ करती हैं !

सबका नतीजा यह था कि सारे देश में भारी खलबली थी । मैंने पहले ही निश्चय कर लिया था और वह निश्चय वर्धा में और भी दृढ़ हो गया कि मुझे सारे प्रान्त का दौरा करना चाहिए । अब मेरा स्वास्थ्य ऐसा नहीं था कि मैं जैसे पहले सूबे के छोटे-छोटे स्थानों में भी जाया करता था, वैसे अब भी जा सकूं और तूफानी दौरे में एक दिन में सात-सात आठ-आठ सभाओं में भाषण करूं । इसलिए मैंने निश्चय किया कि हर जिले के एक या दो मुख्य स्थानों में ही जाऊंगा, वहां सार्वजनिक सभा के अलावा कांग्रेस-कार्यकर्ताओं की विशेष सभा की जायगी । अन्न और वस्त्र का संकट भी बढ़ रहा था । इस सम्बन्ध में भी व्यापारियों तथा जन-साधारण से राय-बात करके जानकरी हासिल करना आवश्यक था । इसलिए यह सोचा गया कि ऐसे लोगों के साथ अलग मुलाकात की जाय । ऐसा ही कार्यक्रम बनाकर मैंने सारे सूबे का दौरा

अप्रैल के अन्तिम सप्ताह में आरम्भ कर दिया और जून के अन्तिम सप्ताह तक समाप्त किया ।

यह बात प्रकट हो गई थी कि गांधीजी ने वर्किंग कमिटी के लिए कोई प्रस्ताव प्रयाग में भेजा था । पुलिस इसकी ताक में थी कि उसकी नकल किसी तरह उसे मिल जाय, पर उस समय शायद उसे नहीं मिली । कुछ दिनों के बाद एक दिन अचानक 'स्वराज्य-भवन' की तलाशी हुई । वहां से पुलिस न केवल मसविदा की नकल ले गई, बल्कि उसके साथ वर्किंग कमिटी में हुई बहस का वह संक्षिपत नोट भी ले गई, जो आफिस के काम के लिए रखा गया था । इस मसविदे और नोट का, सरकार अपनी पुस्तिका में, जिसे अगस्त के क्रान्तिकारी आन्दोलन पर मंत्री रिचर्ड टोटनहम ने लिखा था, खूब इस्तेमाल किया । मुझे कुछ सन्देह होता है कि पुलिस को मसविदे का पता लगने देने का कारण कुछ हद तक मैं हूं । मैंने ऊपर बताया है कि गांधीजी के मसविदे में कुछ संशोधन करने का प्रयत्न मैंने किया था । मेरी प्रति, जिसपर यह संशोधन मैंने किया था, आफिस में रह गई । मैं प्रयाग से सीधे वर्धा गया । रवाना होने के समय इस प्रति को साथ लेना भूल गया । स्टेशन पर अथवा रास्ते में यह बात याद आयी । मैंने आफिस के लोगों से कह दिया या लिख दिया कि उसे वे तुरन्त वर्धा भेज दें; क्योंकि मैं समझता था कि गांधीजी शायद उसे देखना चाहें । आफिस से वह प्रति उसी दिन डाक से भेज दी गई । अगर रास्ते में पुलिस उसे रोक न लेती तो मेरे वर्धा पहुंचने के बाद दूसरे ही दिन वह पहुंच जाती । पर वह मुझे मिली नहीं । मैंने मान लिया कि आफिसवालों ने उसे भेजा ही न होगा । पीछे तब आफिस की तलाशी हुई तब मैंने दरियाफ्त किया । मालूम हुआ कि उन्होंने उसे उसी दिन डाक से मेरे पास वर्धा भेज दिया था । शायद, इसी प्रति को देखकर पुलिस ने निश्चय किया होगा कि तलाशी लेने से कुछ मसाला मिल जायगा ।

जो हो, वर्धा से बिहार लौटकर मैंने दौरा शुरू किया । इस बात में किसी तरह का सन्देह मेरे दिल में नहीं रह गया था कि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के साथ हमारा टंटा होगा ही । मैंने खुलकर साफ-साफ अपने सभी भाषणों में यह बात कही । अभी तक हमारे पास कोई कार्यक्रम नहीं था । इसलिए मैं कार्यक्रम नहीं बता सकता था और ना ही बतलाया । पर इतना अवश्य कहा कि यह भद्र-अवज्ञा का ही रूप धारण

करेगा । साथ ही, बिलकुल अहिंसात्मक होगा । और यह भी कहा कि पहले के आन्दोलनों से यह कहीं अधिक उग्र होगा । उन दिनों जापान की ओर से रेडियो द्वारा इस बात का जोरों से प्रचार किया जा रहा था कि जापान भारत को आजाद करने का प्रयत्न कर रहा है और वह हर तरह से भारत की मदद करेगा । इस बात पर भी मैंने अपने सभी भाषणों में कहा कि जापान की बात का विश्वास नहीं करना चाहिए--विशेषकर जब हम देखते हैं कि उसने अपने पड़ोसी चीन का गला दबा रखा है और अधिकाधिक प्रचण्ड होता जा रहा है--हमको ब्रिटिश और जापान दोनों के चुंगलों से भारत को आजाद करना है, उसे एक से बचाकर दूसरे के कब्जे में जाने देना हम हरगिज पसन्द नहीं कर सकते; इसलिए हमारा संग्राम दोनों के साथ होगा और वह अहिंसात्मक ही होगा । मेरे भाषण जोरदार और उग्र हुआ करते थे । मैं भी समझता था और लोग भी मुझसे कहा करते थे कि पहले मेरे भाषण बहुत ठंडे हुआ करते थे, पर इस बार तो मैं आग उगला करता हूं ।

१६३० के सत्याग्रह के आरम्भ के पहले एक बार पटने के युवकों में कुछ गर्मी आई । वे कोई छोटी-सी बात लेकर, जिसका मुझे आज स्मरण नहीं है, सत्याग्रह की बात करने लगे । सार्वजनिक सभा में गरमागरम भाषण हो रहे थे । कई वक्ताओं के बाद मुझे कुछ कहने का मौका मिला । जब मैं उठा तो एक युवक साथी ने आहिस्ता से कहा कि अब लोगों के उत्साह पर मैं भीगा कम्बल डाल दूंगा । मैंने यह सुन लिया और इसी को लेकर लोगों को बतलाया कि मेरे भीगा कम्बल डालने के बाद भी अगर गर्मी ज्यों-की-त्यों बनी रही, तो मैं समझूंगा कि वह स्वस्थ एवं शक्तिशाली आदमी की गर्मी है और जो उत्साह प्रदर्शित किया जा रहा है, वह सच्चा उत्साह है, नहीं तो मैं उस गर्मी को त्रिदोष से पीड़ित मनुष्य का ज्वर समझूंगा और उस प्रदर्शन को उसका प्रलापमात्र ।

इस बार मेरे भाषणों में वह भीगा कम्बल कहीं किसी तरह देखने में नहीं आया । उसके विपरीत उसमें काफी उत्साहवर्धक और उन्मादोत्पादक मसाला रहा करता था । साथ ही, मैं रचनात्मक काम भी करता जाता था । व्यापारियों और जनता से अन्न-वस्त्र के संकट से बचने और बचाने की बात भी करता जाता था । मेरा विश्वास है कि यदि सरकार जनता का सहयोग लेती तो इस संकट का वह भयंकर

रूप नहीं होता, जो हुआ और आज तक भी है। हमारा उद्देश्य ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध लोगों को उभारने का नहीं था और न यह था कि उसके रास्ते में हम रोड़े अटकायें अथवा जैसे-तैसे उसको परेशान करें। हमारा उद्देश्य था कि लोगों को हम इस बात के लिए तैयार करें कि वे जापान का मुकाबला कर सकें; और चूंकि ब्रिटिश सरकार इसका मौका हमको नहीं देती, हम उससे भी समय पाकर लड़कर यह मौका लेना चाहते थे। इसलिए हम अव्यवस्थित तरीके से उसे हैरान करना नहीं चाहते थे। अपनी इस नीति को इसलिए क्रियात्मक रूप से दिखला देने और प्रमाणित कर देने का एक मौका मुझे मिल गया।

उन दिनों स्थान-स्थान पर हवाई जहाज के अड्डे तथा फौज के लिए छावनियां बनाने को जनता की जमीन ली जा रही थी। मैं गया में पहुंचा तो सुना कि शहर से थोड़ी ही दूर पर, जहां पहले से ही अड्डा था, और भी बहुत-सी जमीन ली जा रही है और हजारों आदमी बेघरबार और बेखेत के हो गए हैं, उनको कुछ मुआवजा भी नहीं मिला है, इन कारणों से उनमें रोष है। मैं वहां गया। सुनते ही हजारों की तादाद में लोग जमा हो गये। उनकी दशा सचमुच दयनीय थी। कई गांव पस्त कर दिये गये थे। कई और पस्त किये जाने को थे। खेतों की आबादी रोक दी गई थी। अड्डे बनाने के लिए जमीन तैयार की जा रही थी। वहां हजारों मजदूर काम कर रहे थे। बहुत-सी लारियां सामान ढोकर पहुंचा रही थीं। जिनके घर और जमीन ले ली गई थी, वे इधर-उधर मारे-मारे फिर रहे थे। उनका कोई पुरसां-हाल न था। मेरे पहुंचते ही लोगों ने अपना सब दुखड़ा कह सुनाया। अगर सरकारी अथवा लड़ाई के काम में रोड़े अटकाना हमारा उद्देश्य होता तो इससे बढ़कर दूसरा अच्छा अवसर नहीं मिलता। पर मैंने लोगों को समझाया कि लड़ाई के काम के लिए सरकार ऐसा किये बिना बचाव का इन्तजाम नहीं कर सकती, इसलिए उनको मुआवजा लेकर अपना कुछ दूसरा प्रबन्ध सोचना चाहिए और मैं मुआवजा दिलाने का प्रयत्न करूंगा। मैंने कह तो दिया; पर मैं नहीं जानता था कि सरकार मेरी बात सुनेगी!

मैंने पटना लौटते ही गवर्नमेण्ट-एडवाइजर को पत्र लिखा, जिसमें सब बातें साफ-साफ बता दीं, और मुआवजा किस तरह का होना चाहिए, यह भी बतलाया--यह भी लिखा कि मुआवजा बांटने में भी गड़बड़ी हुआ करती है, इसलिए बांटने के समय

कांग्रेस के आदमी बुला लिये जायं और उनके सामने रूपये बांटे जायं। कुछ जमीन तो ऐसी थी, जिसपर मकान बननेवाले थे अथवा जहाज उतरने के लिए मजबूत सड़कें बनानी थीं, वह तो वापस होने पर भी किसान के काम की नहीं रह जायगी; पर अधिकांश जमीन केवल समतल करके रखी जायगी और उसमें घास उग जायगी, दूसरा कोई परिवर्तन नहीं होगा। सरकार को मैंने यह लिखा कि लड़ाई का काम जब खत्म हो जाय तब जमीन जिसकी थी, उसी को वापस कर दी जाय और यह यथासाध्य किसान के काम लायक बनाकर वापस की जाय, इस बीच उस जमीन उस जमीन से किसान जो पैदा करता वह भी उसे दिया जाय-जो जमीन वापस नहीं होने को है और जो मकान वगैरह गिरा दिये जा रहे थे, उनकी कीमत नकद दे दी जाय तथा नकद बांटने और फसल का मुआवजा निर्धारित करने और चुकाने के समय कांग्रेस के कार्यकर्ताओं से मदद ली जाय।

मेरा पत्र पाते ही कमिश्नर ने इसपर कार्रवाई की। मेरी सिफारिशों को उन्होंने मान लिया और मेरे पास धन्यवाद का पत्र भेजा, जिसमें यह लिखा था कि वहां की जटिल परिस्थिति को मैंने बहुत ठीक तरह से संभाल लिया।

मैं जब मानभूमजिले में गया तो वहां भी ऐसी ही स्थिति थी। वहां के कलक्टर ने भी वैसा ही किया जैसा पटना-डिवीजन के कमिश्नर ने किया था। इन बातों को इतने विस्तार से इसलिए लिखना पड़ा कि जब आन्दोलन आरम्भ हुआ तो सरकार ने हम लोगों पर झूठा इलजाम लगाया कि हम लोग जापान की मदद करना और ब्रिटिश सरकार को हर तरह से परेशान करना चाहते थे। पीछे सरकार ने जापान की मदद करने के अभियोग को निराधार होने के कारण वापस ले लिया। पर हमारे मुस्लिम लीग के भाई अब भी उसे ढोये जा रहे हैं और वैसा कहने से बाज नहीं आते!

मैं दौरे पर था, तभी वर्धा में वर्किंग कमिटी की बैठक को नोटिस मिल गया। मैंने दौरे का कार्यक्रम भी ऐसा बना लिया था कि उसे समाप्त करके सीधे वर्धा चला जाऊं। जून के अन्तिम दिनों में वहां चला भी गया। वहां पहले तो चर्खा-संघ की बैठक थी और उसके बाद वर्किंग कमिटी की। कई दिन वहीं रह जाना पड़ा। खादी की उत्पत्ति का बहुत विस्तार करने का आयोजन सोचा गया; क्योंकि ऐसा दीखने लगा

था कि मिलों से जो कपड़ा जन-साधारण को मिला करता था, वह लड़ाई के कारण बहुत अंशों में अब उपलब्ध नहीं था, कारण यह कि अधिकतर फौजी काम के लिए ही उनको कपड़ा बनाना पड़ रहा था और जो वस्त्र-संकट था वह चर्खा-कर्घा द्वारा दूर किया जा सकता था। इसलिए कई दिनों के विचार के बाद चर्खा-संघ ने बहुत बड़े पैमाने पर काम बढ़ाने का निश्चय किया। वर्किंग कमिटी की बैठक कई दिनों तक होती रही। अन्त में हम इस निश्चय पर पहुंचे कि अहिंसात्मक भद्र-अवज्ञा हमको करनी ही होगी, और इस बात की आज्ञा देने के लिए अगस्त के आरम्भ में बम्बई में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक की जाय।

: १४८ :

१९४२ की क्रान्ति के पूर्व

वर्किंग कमिटी में बहुत बहस हुई । वहां मतभेद कुछ स्पष्ट हो गया । यहांपर यह कह देना अनुचित न होगा कि डाक्टर सैयद महमूद सत्याग्रह के विरूद्ध थे । जुलाई का महीना करीब-करीब आधा बीत चुका था । पानी बरसना जोरों से आरम्भ हो चुका था । हस्बमामूल दमा का दौरा भी उसके साथ-ही-साथ शुरू हो गया था । पर मैं सभी बैठकों में शामिल होता रहा । इतनी बातें हुईं, पर वर्किंग कमिटी ने सत्याग्रह का कोई कार्यक्रम निर्धारित नहीं किया । मुझे यही बात खटकती थी । गांधीजी से मैंने कहा भी कि कार्यक्रम का कुछ निर्देश भी वह करें; पर उन्होंने साफ-साफ उत्तर दिया कि उनका दिमाग इस तरह काम नहीं करता--जब एकबारगी निश्चय हो जायगा कि सत्याग्रह करना ही होगा तभी वह कार्यक्रम के सम्बन्ध में सोच सकेंगे और उसे निर्धारित कर सकेंगे, अभी तो अखिल भारतीय कमिटी को फैसला करना है--वर्किंग कमिटी बिलकुल एकमत नहीं है और उसके बाद सरकार क्या करेगी, यह भी मालूम नहीं--ऐसी अनिश्चित अवस्था में वह कार्यक्रम के सम्बन्ध में अभी कुछ भी निर्धारित नहीं कर सकेंगे; पर इतना अवश्य था कि इस बार का सत्याग्रह बहुत उग्र होगा, केवल जेल जाना ही काफी न होगा, उससे कहीं अधिक त्याग की जरूरत पड़ेगी, आवश्यकता होने पर धन-धान्य, घर-द्वार सब-कुछ स्वाहा करना होगा--चर्खा-संघ में जो पच्चीस-तीस लाख या इससे भी अधिक रूपये लगे हैं, उनपर भी हमला हो सकता है और यद्यपि हमने काम बढ़ाने का निश्चय किया है तथापि सारा चर्खा-संघ और उसके धन-जन दोनों ही आहुति में पड़ जा सकते हैं; पर अभी सत्याग्रह के रूप का चित्रण उनके सामने नहीं आया है और उसपर वह अभी अपना दिमाग भी लगाना नहीं चाहते हैं, क्योंकि जबतक निश्चय न हो जाय कि सत्याग्रह अनिवार्य है और करना ही पड़ेगा तबतक कार्यक्रम बनाने में उनका दिमाग काम ही नहीं करेगा । हम लोगों को यह एक भारी त्रुटि मालूम होती थी, पर कार्यक्रम तो गांधीजी को ही बनाना था और हमको मजबूरन उनकी बात मान लेनी पड़ी ।

वर्धा से रवाना होने के पहले मैं गांधीजी से विदा लेने सेवाग्राम गया। वहां और कई आदमी थे। उनमें से किसी ने कार्यक्रम की बात छेड़ दी, यह प्रश्न किया कि तार और टेलीफोन का तार काटना अथवा रेल की पटरी उखाड़ देना अहिंसा के अन्दर आ सकता है या नहीं। प्रश्न सामयिक था, क्योंकि मैं जानता हूं कि जब-जब सत्याग्रह की बात चली है, कुछ लोगों का ध्यान इस ओर गया और उन्होंने इस प्रश्न को छेड़ा है। प्रश्न पूछते ही मैंने गांधीजी से कहा कि यह प्रश्न बार-बार उठा करता है--१६३० के आन्दोलन में भी, जब महात्माजी और दूसरे बहुत-से लोग जेल में चले गये थे तथा पंडित मोतीलालजी स्थानापन्न प्रेसिडेण्ट थे और मैं वर्किंग कमिटी के मेम्बर की हैसियत से प्रयाग गया था, तो लोगों ने इस प्रश्न को उठाया था और जहां-तहां तार और टेलीफोन के तार लोगों ने काट भी दिये थे; पर यह सब बहुत कम जगहों में ही हो पाया था और उस समय यह रोक दिया गया था, इसलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि आज भी जब हम सत्याग्रह की बात सोच रहे हैं तो इस तरह का विचार कुछ लोगों के दिल में उठ रहा हो--महात्माजी को चाहिए कि कार्यक्रम बनाते समय इस सम्बन्ध में कुछ साफ-साफ आदेश दें। गांधीजी ने कहा कि लोहा-लकड़ी काटने-तोड़ने में हिंसा-अहिंसा की बात नहीं उठती है, हम तो रोज साधारण रीति से लोहा-लकड़ी काटते-तोड़ते रहते हैं; पर रेल की पटरी उखाड़ लेना अथवा तार काट देना दूसरी बात है--किस उद्देश्य से यह काम किया जाता है, किस तरह से किया जाता है और इसका फल क्या होगा है, इन बातों पर इसका हिंसात्मक और अहिंसात्मक होना निर्भर है; यदि इससे हत्या हो अथवा बेकसूर लोगों पर विपत्ति आये तो यह हिंसात्मक होगा, पर हम ऐसी परिस्थिति का अनुमान कर सकते हैं जब यह अहिंसात्मक भी हो सकता है।

हमने उनके कहने का आशय यह समझा कि इसे अहिंसात्मक होना बहुत करके इसपर निर्भर होगा कि इसके कारण किसी की जान पर खतरा न हो और जो कोई भी ऐसा काम करे, वह उसकी जवाबदेही अपने ऊपर साफ-साफ और सीधे ले ले, ताकि दूसरों को, जिनका इससे कोई सरोकार न रहा हो, इसका फल भुगतना न पड़े। ये बातें योंही हो गईं, कोई कार्यक्रम उस समय निर्धारित न हुआ, न होने की बात ही थी। जब सरकार ने यह अभियोग लगाया कि हम लोगों ने रेल-तार तोड़ने का कार्यक्रम बनाया था तो गांधीजी ने उत्तर में कहा था कि सरकार ने एक बातचीत

अथवा सैद्धान्तिक चर्चा को कार्यक्रम मान लेने की भूल की है। गांधीजी की यह बात बिलकुल सत्य थी और हमने उस समय इस कार्यक्रम को अथवा किसी भी कार्यक्रम को निर्धारित नहीं किया था।

वर्धा से मैं पटने के लिए रवाना हुआ। पहले से ही दो-तीन जगहों में जाने का वादा कर रखा था। उनमें गोंदिया एक स्थान था, इसलिए गोंदिया में उतर गया और वहां से सभा इत्यादि करके रात की गाड़ी से रवाना हो गया। दूसरे दिन रात को बनारस पहुंचा। वहांपर भारतीय इतिहास-परिषद् की कार्यकारिणी की बैठक कर लेनी थी। अब यह एक प्रकार से निश्चित-सा था कि थोड़े ही दिनों में आन्दोलन उग्र रूप धारण कर लेगा। इसलिए परिषद्-सम्बन्धी कुछ काम कर लेना जरूरी था। उसमें एक आवश्यक काम कुछ रूपये जमा कर लेना था और जो जिल्दें प्रायः तैयार कही जाती थीं, उनके छपवाने इत्यादि के सम्बन्ध में श्री जयचन्द्र विद्यालंकार से बातें कर लेनी थीं। कुछ रकम गोंदियां में मिली थी, उसे जमा कर दिया और दूसरे कामों का प्रबन्ध करके काशी से मैं पटने में न ठहरकर सीधे मुंगेर जिले में तारापुर चला गया। वहां किसान-कान्फ्रेन्स होनेवाली थी, जिसको लोगों ने मेरे लिए ही कई बार स्थगित कर रखा था। श्री कृपालानीजी भी वहां उसका उद्घाटन करने के लिए आये थे और श्री कृष्णवल्लभसहाय सभापति होनेवाले थे। दूसरे प्रमुख व्यक्ति श्रीबाबू, अनुग्रहबाबू प्रभृति भी आये थे। रास्ते-भर सभी जगहों में खूब पानी बरसता आया और बरसात का जो असर मेरे स्वास्थ्य पर पड़ता है वह अपना काम कर ही रहा था। मैं तारापुर पहुंच तो गया, पर दमे का दौरा हो रहा था। कान्फ्रेन्स का काम शुरू हुआ। मेरे कुछ कहने की बारी आई। मैंने कुछ कहना आरम्भ किया कि इतने में अचानक घटा उमड़ आई और जोरों से वर्षा होने लगी। रामगढ़-कांग्रेस की तरह कान्फ्रेन्स का काम रूक गया। हम लोग किसी तरह भीगते-भीगते डाक-बंगले में पहुंचे, जहां ठहरे हुए थे। रात वहां बिताकर दूसरे दिन सवेरे ही मैं पटने के लिए रवाना हो गया। पटना पहुंचते-पहुंचेते दमा खूब जोर पकड़ गया और ज्वर भी हो आया। उस दिन से बारह या पन्द्रह दिनों के बाद ही बम्बई में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक होनेवाली थी। मुझे यह चिन्ता लगी कि उस समय तक अच्छा हो जाना चाहिए।

बम्बई जाने के पहले प्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी की एक बैठक कर लेना उचित मालूम हुआ, जिसमें वर्धा के प्रस्ताव के सम्बन्ध में, जिसपर बम्बई में विचार होनेवाला था, प्रान्त के लोगों की राय मालूम हो जाय। प्रान्तीय कमिटी का जलसा सदाकतआश्रम में ३१ जुलाई को हुआ। मेरी तबीयत बहुत खराब थी, बहुत कमजोर था। मैंने कमिटी के सामने एक जोरदार भाषण किया, जो उन्हीं भाषणों का सारांश-मात्र था जो सारे सूबे के दौरे में हुए थे। एक बात और थी, वह यह कि वर्धा में जो बातें हुई थीं, उन्हें भी मैंने लोगों को सुना दिया। सभी लोग समझ गये थे कि बम्बई में जो निश्चय होगा, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होगा। इस जल्से के बाद एक-दो दिनों के अन्दर ही, अखिल भारतीय कमिटी के सदस्य तथा अनेक कांग्रेसी, दर्शक होकर बम्बई के जल्से में शरीक होने को, रवाना हो गये। मैं इतना बीमार था कि वहां जा न सका और पटने में ही पड़ा रहा।

अखबारों में जोरों से खबर छपा करती थी कि सरकार की ओर से तैयारियां हो रही हैं और बम्बई में ही सब लोग गिरफ्तार कर लिये जायंगे। इधर-उधर से यह भी खबर पहुंच रही थी कि बिहार में भी तैयारी है और जो कैम्पजेल बन्द थी वह साफ करके तैयार कर ली गई। बम्बई में ५ अगस्त (१९४२ ई०) से वर्किंग कमिटी की बैठक शुरू हुई और ७ अगस्त से अखिल भारतीय कमिटी की बैठक होनेवाली थी। मैं रेडियो और अखबारों में खबरें सुना और पढ़ा करता था। जो प्रस्ताव ८ अगस्त की रात को अखिल भारतीय कमिटी में पास किया गया वह भी वर्किंग कमिटी द्वारा स्वीकृत होने के बाद अखबारों में आ गया। खबर बहुत गर्म थी कि बम्बई में ही सबको गिरफ्तार कर आन्दोलन आरम्भ होने के पहले ही दबा दिया जायगा। मैंने सोचा कि यदि ऐसा हुआ तो जनता के सामने कोई कार्यक्रम नहीं रह जायगा। इसलिए, कम-से-कम अपने सूबे के लिए, मैं कुछ कार्यक्रम बना दूं। इतनी शक्ति नहीं थी कि बैठकर बहुत लिख सकूं। इसलिए जो मित्र वहां मौजूद थे, उनसे बातें करके मसविदा तैयार करने को कहा। इनमें मुख्य थे प्रान्तीय कमिटी के मन्त्री श्री दीपनारायणसिंह और श्री मथुराप्रसाद। अनुग्रहबाबू भी बम्बई नहीं गये थे, पटने में ही थे। जब मसविदा तैयार किया गया तो उसे अनुग्रहबाबू के साथ मैंने देखकर कुछ अदल-बदलकर ठीक कर दिया। उसे छपवाने का प्रबन्ध भी कर दिया गया। यह

निश्चय हुआ कि अगर सचमुच सब लोग गिरफ्तार हो गये और कोई कार्यक्रम न दे सके तो उस हालत में हरेक कांग्रेसी अपने को नेता समझे और अहिंसा के इस सिद्धांत के अंदर रहकर जो कुछ भी सत्याग्रह के रूप में कर सकता हो करे--इस संग्राम को अन्तिम संग्राम समझकर कोई कुछ उठा न रखे, पर अहिंसा को किसी तरह न छोड़े। हमने जो कार्यक्रम बनाया, उसमें भी इस बात पर जोर दिया कि अहिंसा को नहीं छोड़ना चाहिए। उसमें सत्याग्रह के लिए कार्यक्रम भी बताया जो पूर्व के सत्याग्रहों के कार्यक्रम से सिद्धान्ततः भिन्न नहीं था, पर अधिक उग्र जरूर था।

इसी बीच में एक दिन दिल्ली से एक समाचार छपा कि ८ अगस्त के बाद कांग्रेस के लोगों की गिरफ्तारी नहीं होगी और सरकार इस बात का इन्तजार करेगी कि कांग्रेस क्या करती है--कांग्रेस की ओर से भी यह बात कही जा रही थी कि कोई कदम उठाने के पहले गांधीजी वाइसराय से एक बार और बातचीत करेंगे; जब वहां कुछ नहीं होगा तभी कोई कदम उठाने की राय देंगे। इस समाचार को हमने सच मान लिया और समझ लिया कि अब तुरन्त कुछ होनेवाला नहीं है, बम्बई गये हुए लोगों के लौटने तक हमको इन्तजार करना चाहिए--हो सकता है कि वे लोग वहां से निर्धारित कार्यक्रम भी साथ लावें; यदि ऐसा हुआ तो हमारे द्वारा प्रस्तुत कार्यक्रम को काम में लाना अनुचित नहीं तो अनावश्यक होगा। इस तरह हमने निश्चय कर लिया कि अब ११ अगस्त के पहले, जब बम्बई से लोगों के लौटने की आशा थी, हमको कुछ नहीं करना है। इसी निश्चय के अनुसार अनुग्रहबाबू रायबरेली चले गये जहां उनके भाई बीमार थे और दीपबाबू मुजफ्फपुर-जिले में पहले से मुकर्रर किये गये कुछ काम को पूरा करने। मैं, मथुराबाबू और श्री चक्रधरशरण के साथ आश्रम में ठहरा रहा।

: १४६ :

१९४२ के तूफानी दिन

८ अगस्त (१९४२ ई०) की रात को प्रायः १० बजे के बाद भारतीय कमिटी ने प्रस्ताव मंजूर किया। सुना कि गांधीजी का लम्बा भाषण हुआ, जिसमें उन्होंने 'करो या मरो' का मंत्र लोगों को दिया। साथ ही, उन्होंने वाइसराय से मिलने तथा एक बार और समझौते के लिए प्रयत्न करने की बात भी कही। अन्य नेताओं के भी भाषण की लोगों ने बहुत प्रशंसा की। ९ अगस्त (१९४२ ई०) को सवेरे मैं 'सर्चलाइट' में बम्बई की कार्रवाई पढ़ रहा था, मथुराबाबू शहर चले गये थे कि इतने में डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट मि० आर्चर पहुंचे। मैं चारपाई पर था। उन्होंने मुझे देखकर मेरे स्वास्थ्य के सम्बन्ध में पूछताछ की और यह पूछा कि मेरा कार्यक्रम क्या है। मैं तो समझ गया था कि इनके आने का कारण क्या था; क्योंकि रेडियो में गांधीजी तथा वर्किंग कमिटी के सदस्यों की गिरफ्तारी की खबर संक्षेप में आ चुकी थी। मेरी बीमारी देखकर उन्होंने सरकार से पूछा कि ऐसी अवस्था में क्या किया जाय। वहां से हुक्म आया कि सिविल सर्जन से दिखलाओ और पूछो कि वहां से दूर ले जाने योग्य हैं या नहीं। सिविल सर्जन को मि० आर्चर जाकर ले आये।

इसी बीच में मेरे घर के डेरे पर खबर पहुंच गई। वहां से बहन और मृत्युंजय की मां वगैरह पहुंच गईं। सिविल सर्जन की राय हुई कि मैं सफर के लायक नहीं हूं। इसलिए मुझे ११-१२ बजे दिन के करीब बांकीपुर-जेल में ही ले गये। पानी खूब बरस रहा था। खबर शहर में फैल गई। सदाकत-आश्रम से मेरे रवाना होने के पहले ही कुछ लोग, जिनमें विद्यार्थी मुख्य थे, आश्रम पहुंच गये। केवल मुझे ही गिरफ्तार करने का हुक्म था। मि० आर्चर का तौर-तरीका अच्छा था। उन्होंने किसी तरह की न तो जल्दी की और न कोई बेअदबी आ बदतमीजी। जेल में मेरे लिए सब प्रबन्ध ठीक करके मथुराबाबू और चक्रधर वापस गये कि इतने में ही श्री फूलनप्रसाद वर्मा भी गिरफ्तार होकर वहां पहुंच गये। इस तरह प्रायः एक-डेढ़ बजे के पहले ही निश्चित हो गया कि मैं अकेला नहीं रहूंगा और कम-से-कम एक साथी

रात को मेरी देखभाल करने के लिए जरूर रहेंगे। मथुराबाबू ने भी मि० आर्चर से बातचीत की और वह भी संध्या के पहले ही आ पहुंचे। दूसरे दिन तो और लोग भी आने लगे। बम्बई से लौटने पर श्रीबाबू, सत्यनारायणबाबू, महामायाबाबू आदि भी आ गये। अनुग्रहबाबू भी आये। पटने में जोरों से प्रदर्शन होने लगा। बड़े-बड़े जलूस निकलने लगे। कचहरियां बन्द हो गईं और एक बहुत बड़ा जलूस गवर्नमेण्ट-हाउस के दरवाजे तक नारा लगाता हुआ जा पहुंचा। रात हो गई थी, इसलिए और उस दिन कुछ नहीं हुआ; पर खबर मशहूर थी कि दूसरे दिन सेक्रेटेरियट पर झंडा चढ़ाने के लिए जलूस जायगा।

जेल में खबर मिलने का साधन एक ही था और वह था गिरफ्तार होकर नये लोगों का आना। अखबार अभीतक बन्द नहीं थे, पर उनसे थोड़ी खबर मिलती। सेक्रेटेरियट पर जलूस गया। गोली चली। आठ-नौ युवक शहीद हो गये। बहुतेरे घायल हुए, जिनको लोगों ने अस्पताल पहुंचाया। उस जलूस में से चालीस-पचास लड़के गिरफ्तार करके बांकीपुर-जेल में उसी रात को लाये गये। उनसे गोलीकांड की बातें मालूम हुईं। रात-भर सारे शहर में जलूस निकलते रहे। जेल के अन्दर भी जुलूसों की आवाज पहुंचती रही। उसी दिन तार और टेलीफोन तोड़ने का काम आरम्भ हो गया। हमने सुना कि पटने में टेलीफोन बन्द हो गया। जेल-आफिस में भी टेलीफोन का आना-जाना रूक गया। जो लड़के सेक्रेटेरियट के जुलूस से गिरफ्तार करके लाये गये थे, वे किसी तरह बांकीपुर-जेल में रात-भर रखे गये, दूसरे दिन उन्हें कैम्प-जेल में भेजने की तैयारी होने लगी। जेल की कैफियत यह थी कि पहले से ही वह ठसाठस भरी थी। मामूली कैदियों की संख्या सारे सूबे में बहुत बढ़ी हुई थी, क्योंकि डकैतियां कई बरस पहले से ही लड़ाई के जमाने में बहुत बढ़ गई थी, चौरी इत्यादि भी ज्यादा हो रही थीं। कैदियों में बहुतेरे अभी हाजती (**Undertrial**) थे, जिनके मुकदमे की जांच अभी तक नहीं हुई थी। इसलिए जब राजनैतिक कैदियों की संख्या बढ़ने लगी तो उनके लिए स्थान कम पड़ गया। जो ऊंचे दर्जे में रखे जानेवाले थे, वे तो बांकीपुर-जेल में रखे गये और दूसरों को कैम्प-जेल भेजने का प्रबन्ध था। जबतक लड़के कैम्प-जेल में नहीं भेजे गये, शहर की बड़ी जमात जेल के फाटक पर और सड़कों पर खड़ी थी। बांकीपुर-जेल में दोमहला मकान सड़क के किनारे की

ओर ही है । उसपर से लड़कों ने सड़क पर जमी हुई भीड़ से कुछ बातें भी कीं। जब तीन बजे के करीब उनको ले जाने के लिए लारियां लाई गईं, उनमें वे सवार कराये गये । पहरी लारी आगे बढ़ी तो जनता लारी पर टूट पड़ी; लड़कों को छुड़ा लिया और लारी में आग लगा दी । दूसरी लारियों को फिर आगे नहीं बढ़ाया, उनमें सवार लड़कों को उतारकर फिर जेल में ले आये । कुछ देर में फौज बुलाई गई । उसने रास्ता साफ किया । आगे-पीछे फौजी गाड़ियों के बीच में कैदियों की लारियां कैम्प-जेल पहुंचाई गईं ।

जो लोग -'ए' वर्ग में रखे जाते थे, उनकी संख्या भी बढ़ती ही जाती थी और उनके लिए जेल के अस्पताल के सिवा दूसरा स्थान नहीं था । उनको भी हजारीबाग ले जाने की बात थी; पर तबतक रेलगाड़ियों का आना-जाना बन्द हो गया, इसलिए उनका वहां जाना अनिश्चित काल तक के लिए रूक गया । प्रायः एक महीना बाद तक वे लोग उस छोटे-से अस्पताल में ही और कुछ लोग इधर-उधर भी रखे गये । बांकीपुर की जेल पटना-जंकशन-स्टेशन के नजदीक ही है । वहां से गाड़ियों के आने-जाने और विशेषकर रेल की सीटी की आवाज खूब सुनने में आ जाती है । यह सब महीनों तक बन्द रहा । केवल एक इंजिन की सीटी सुनने में आया करती, जो डब्बों को इधर-उधर स्टेशन पर हटाया करता होगा । उसकी आवाज भी हम लोगों ने पहचान ली थी । हम उससे इस भ्रम में नहीं पड़ते थे कि गाड़ियां चलने लगीं । प्रायः एक महीने के बाद सभी लोग हजारीबाग ले जाये गये । मैं वहां जाने के लायक नहीं था । वहां का जलवायु भी मेरे अनुकूल नहीं पड़ती । इसलिए मैं पटने में ही रखा गया ।

जेल में पहुंचने के दो-चार दिनों के बाद यह खबर उड़ी कि मुझे कहीं बाहर ले जायंगे जहां वर्किंग कमिटी के दूसरे सदस्य रखे गये थे । रेलों का चलना बन्द हो चुका था, इसलिए ले जाने का एक ही उपाय था--हवाई-जहाज । डाक्टरों से राय ली गई तो उन्होंने राय दी कि मेरी अवस्था ऐसी नहीं कि हवाई जहाज का सफर बर्दास्त कर सकूं । इसलिए यह विचार भी स्थगित हो गया । प्रायः दस महीनों के बाद, जून १९४३ में, एक दिन अचानक मेजर मर्डक-जिन्होंने मुझे गिरफतारी के समय देखा था और हजारीबाग न ले जाने की राय दी थी-जेल में आ गये । उन्होंने मुझसे कहाकि

हमें सरकार का हुक्म मिला है कि मुझे देखकर मेरे स्वास्थ्य के सम्बन्ध में तुरन्त रिपोर्ट दें। गर्मियों में, विशेषकर जून के शुरू में, मैं बहुत स्वस्थ रहा करता हूं। उस समय बहुत अच्छा था। इसलिए, ऐसे समय में, जब स्वस्थ्य के बारे में कोई खराब रिपोर्ट नहीं गई होगी, डाक्टर का आना आश्चर्यजनक अवश्य था। मैंने ताड़ लिया कि मुझे कहीं दूसरी जगह भेजना चाहते हैं। मैंने डाक्टर से पूछा तो उसने कहा कि बाजाब्ता खबर तो उसको नहीं लेकिन बेजाब्ता तौर से वह कह सकता है कि कुछ ऐसी ही बात थी। कुछ और अधिक पूछने पर उसने यह भी कहा कि मैं हजारीबाग नहीं भेजा जाऊंगा, दक्खिन पूना की ओर जाना होगा। पीछे जेल से निकलने पर यह खबर मिली कि अहमदनगर के किले में भी मेरे भेजे जाने की बात थी और मेरे लिए वहां कमरा ठीक किया गया था; पर न मालूम क्यों, फिर कुछ हुआ नहीं। कुछ दिनों के बाद, जब डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट मिलने आया, पूछने पर उसने कहा कि मालूम क्यों बात आगे न बढ़ी।

जेल जाने के समय मेरी चिकित्सा वैद्यराज ब्रजबिहारी चौबेजी कर रहे थे। जेल में उनकी चिकित्सा होना सम्भव नहीं था। न मालूम सरकार कहने पर भी इसकी इजाजत देगी या नहीं, और मैं कोई खास सहूलियत मांगना पसन्द भी नहीं करता था। इसलिए वहां पहुंचते ही डाक्टरी दवा शुरू हो गई। बाहर रहने पर पटने के नामी डाक्टर श्री त्रिदिवनाथ बनर्जी (टी० एन० बनर्जी), जो उन दिनों मेडिकल-कालेज के प्रिन्सिपल थे, और डाक्टर रघुनाथशरण तथा डाक्टर दामोदरप्रसाद मुझे देखा करते हैं। सरकार ने आज्ञा दे दी कि जब कभी जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट, जो वहां के सिविल सर्जन उन दिनों हुआ करते थे, जब जरूरत समझे तब डाक्टर बनर्जी को बुला लिया करें। इसलिए जब-तब डाक्टर बनर्जी आया करते थे। तबीयत कुछ ज्यादा खराब हुई तो डाक्टर शरण और डाक्टर दस्तीदार भी खास करके बुला लिये जाते थे। इस तरह, मैं जब-जब बीमार पड़ा, वे डाक्टर आते रहे, जो पटने में सबसे अच्छे समझे जाते हैं और जिन्होंने बहुत बरसों से मेरी चिकित्सा की है। इस बात की शिकायत कभी न हुई कि मेरी बीमारी का पूरा ध्यान नहीं दिया गया। इसी तरह मेरे खान-पान, रहन-सहन इत्यादि के सम्बन्ध में भी कभी किसी किस्म की शिकायत नहीं हुई। सराकर के हुक्म से, मेरे साथ रहने के लिए, शुरू से ही मथुराबाबू और

चक्रधरबाबू बांकीपुर-जेल मे ही रहने दिये गये। पीछे वाल्मीकि को भी मेरे साथ रहने दिया। दूसरे लोग आते-जाते रहे, पर मेरी खातिर नहीं। कुछ तो गिरफ्तार करके वहां सीधे लाये जाते। पर कुछ दिनों के बाद यह बन्द हो गया और गिरफ्तार करके लोग सीधे कैम्प-जेल भेज दिये जाते थे। कुछ लोग कभी-कभी बीमार पड़ जाने पर हजारीबाग-जेल से, अथवा किसी दूसरी जेल से भी, पटने के बड़े अस्पताल भेजे जाते। वे पहले बांकीपुर-जेल में आते, वहां से फिर अस्पताल भेजे जाते। इसी तरह अस्पताल से लौटने के समय भी बांकीपुर-जेल होकर ही वापस जाते। हजारीबाग से आनेवाले इन बीमार कैदियों के सिवा दूसरा कोई जरिया हालचाल मिलने का नहीं था। कुछ दिनों के बाद यह भी बन्द हो गया। जिनको अस्पताल जाना होता, वे सीधे अस्पताल में ही भेज दिये जाते। तो भी जेल में न मालूम किस तरह बिना पूछे, जानने की कोशिश किये बिना ही, खबर पहुंच ही जाती है। सरकार समझती थी कि संसार को यह बात मालूम नहीं है कि वर्किंग कमिटी के मेम्बर कहां रखे गये हैं। पता नहीं कि बाहरवालों को कब मालूम हुआ कि वे लोग अहमदनगर-किले में हैं, पर हम लोगों को तो बांकीपुर-जेल में गिरफ्तारी के चन्द दिनों के अन्दर ही यह मालूम हो गया था। स्थानीय अखबार हमारी गिरफ्तारी के चन्द दिनों बाद तक तो निकलते रहे, पर बहुत जल्द सब-के-सब बन्द हो गये। बिहार-सरकार 'पटना-डेली न्यूज' के नाम से एक दैनिक (अंगरेजी) पर्चा निकालने लगी, जिससे कुछ खबरें मिल जातीं। एक विशेष बात उससे यह मालूम हुई कि सरकार ने किस जिले पर कितना सामूहिक जुर्माना किया या प्युनिटिव-टैक्स लगाया। हमने देखा कि चन्द महीनों के अन्दर प्रायः छब्बीस लाख जुर्माना किया गया!

: १५० :

१९४२ के जेल-जीवन की कुछ बातें

बांकीपुर का जेल-जीवन मेरे लिए किसी तरह कष्टप्रद न हुआ। यों तो किसी एक जगह बन्द रहना ही कष्टप्रद होता है, पर मैंने अपने को कुछ ऐसा बना लिया या ऐसा पाया है कि जेल में पहुंचने के बाद मैं बाहर की चिन्ता भूल जाता हूं--जो कुछ बाहर से कोई कैदी आता और उससे भेंट होती तो वह बाहर का हाल कहता। दूसरी जेलों से आये हुए लोग उन जेलों का हाल कहते। जब अखबार फिर निकलने और हम लोगों को मिलने लगे तो उनसे भी देश की बातें मालूम हो जातीं। पर मैं एक प्रकार से इन बातों को केवल सुन लेता, दूसरा कोई सम्बन्ध नहीं रखता। एक-दो मित्रों ने बाहर से खबर भेजने और वहां से मेरी राय जानने का भी प्रयत्न किया, पर मैंने इसे प्रोत्साहन नहीं दिया, तबसे फिर किसी ने ऐसा प्रयत्न नहीं किया। शुरू में कई महीनों तक बीमार रहा। बरसात और जाड़ों में अक्सर अस्वस्थ रहा। केवल मार्च के बाद से जून तक अच्छा रहा करता। पर हमेशा अस्वस्थता ऐसी नहीं होती कि बिलकुल चारपाई पर पड़ जाऊं। ऐसा भी हुआ, पर हमेशा नहीं। इसलिए सूत कातने और लिखने-पढ़ने का समय मिला। आगे चलकर यह सहूलियत और भी अधिक हो गई--जब बाहर से कैदियों का आना-जाना बन्द हो गया और मेरे साथ भी दो-तीन आदमियों से अधिक न रह गये।

घर के लोगों से बराबर मुलाकात होती रही। छोटे-छोटे बच्चे भी उनके साथ आ जाया करते; उनको इसका ज्ञान तो शायद नहीं था कि मैं कहां कहां हूं और क्यों एक जगह में बन्द हूं; पर सुना कि मुलाकात के दिन मेरे पास आने के लिए वे उत्सुक रहा करते थे। चिरंजीव अरूण मेरा पोता ढाई साल का था, पर वह जब जेल के फाटक के अन्दर घुसता तो वहां से सीधे दौड़ता हुआ अस्पताल-वार्ड के मेरे कमरे में आ जाता। दो-चार बार आने के बाद ही उसने रास्ता भी पहचान लिया और मेरा कमरा भी। उससे बड़ी जो लड़कियां थीं, वे तो रास्ता और कमरा जानती थीं। मेरे पास पहुंचकर उन बच्चों की फर्माइश होती--बाबा, कुछ खिलाओ! मैं उनके लिए कुछ

तैयार रखता। आध घंटे तक रहकर और इधर-उधर दौड़-धूप करके कुछ खाकर वे चले जाते। जाने के समय जेल के अहाते में खिले हुए सुन्दर फूल, अगर पसन्द आ जाते तो, तोड़ लेते। जेल के अधिकारी हरकतों से रूष्ट नहीं होते थे, बल्कि बच्चों की चंचलता देखकर खुश होते और हँसते। जब-तब अरूण मेरा हाथ पकड़कर चलते समय कहता--'तुहू चलऽबाबा'। छोटी अवस्था का बचपन भी कैसा सुन्दर, निरीह और निश्चिन्त हुआ करता है!

जेल में एक समय बहुत चिन्ता का बीता। वह था जब महात्माजी ने उपवास किया। इसकी खबर तो अखबारों से मिल गई। हमने सरकार को लिखा कि वहां कि खबर मुझे तार द्वारा दी जाती रहे। कुछ मित्रों को तार भिजवाने के लिए भी कहला भेजा। तार आने लगे। पर जबतक वह सी० आई० डी० (खुफिया पुलिस) द्वारा पास न हो जाय, मुझे न मिलता। इसमें देर लगती और जेल-आफिस में पहुंचने के प्रायः २४ घंटे बाद तार मिलता। उधर भी उतनी ही खबर लोग भेजने को पाते जितनी सरकार की बुलेटिन में छपती, वह तो 'पटना डेली न्यूज' में सेवरे ही हमको मिल जाती; इसलिए तार और भी बेकार हो गया। चन्द दिनों के बाद तार मंगाना बन्द कर दिया। एक दिन एक यह खबर पहुंच गई कि महात्माजी की हालत बहुत खराब है। शहर में तो खबर उड़ गई कि वह अब रहे ही नहीं! हम लोगों को यह खबर जेल में नहीं मिली। जब 'पटना डेली न्यूज' आया तो मालूम हुआ कि अभी वह बचे है और हालत कुछ सुधरने लगी है। हम लोग चिन्ता करते और प्रार्थना करते। ईश्वर की दया से खतरे के घंटे निकल गये। मालूम होने लगा कि वह अब संकट की अवधि को पार कर जायंगे। अन्त में यह शुभ समाचार सुनने को मिला कि यह यज्ञ भी सम्पूर्ण हुआ। ब्रिटिश गवर्नमेण्ट और लार्ड लिनलिथगो की नीति और कड़ाई का पूरा प्रदर्शन हो गया।

जेल का जीवन एक प्रकार से बिना किसी महत्त्वपूर्ण घटना के बीतता रहा। बाहर जो कुछ जनता, सरकारी कर्मचारियों, पुलिस, फौज और मजिस्ट्रेटों द्वारा हुआ उसकी खबर कुछ-कुछ मिलती रही। वह भयंकर और रोमांचकारी थी। पर हम लाचार थे और सुन लेने के सिवा दूसरा कुछ हो नहीं सकता था। जो नये आर्डिनेन्स बन गये थे, उनके द्वारा धांधली खूब चल रही थी। वह धांधली केवल राजनैतिक मामलों में ही नहीं, मामूली मुकदमों में भी। यहां दो उदाहरण देता हूं।

हमारे जेल चले आने के चन्द दिनों के अन्दर ही पटना-जिले के किसी गांव में दो दलों में, किसी जमीन या किसी और चीज के लिए, मार-पीट हुई। एक आदमी मारा गया। पुलिस के लिए, उन दिनों किसी भी मुकदमें से सजा दिलवा देने का, सबसे सीधा रास्ता यह था कि उसे वह राजनैतिक करार दे दे। उसने इसे भी राजनैतिक जामा पहना दिया। खून का कारण यह बताया गया कि जिस आदमी का खून किया गया था, वह फौज में भरती हुआ था, चूंकि दूसरे पक्ष के लोग कांग्रेसी थे, इसलिए उन्होंने उसे फौज में भरती होने से मना किया, जब उसने उनकी एक न सुनी तो उसका खून कर दिया! मामला सीधे स्पेशल जज के सामने पेश हुआ। उसका फैसला हुआ कि जिस आदमी का खून हुआ था, वह कभी फौज में भरती हुआ ही न था, इसलिए उसके खून का कारण वह नहीं हो सकता--पर कारण जो हो, खून तो हुआ ही है, इसलिए आठ आदमियों को फांसी की सजा दी जाय। आर्डिनेन्स के अनुसार भी फांसी की मंजूरी हाइकोर्ट के एक जज द्वारा होनी चाहिए थी। इसके लिए एक जज खास करके नियुक्त किये गये थे। उन्होंने सात आदमियों को छोड़ दिया, पर एक की फांसी की सजा बहाल रखी। उसकी ओर से प्रीवी कौन्सिल में भी अपील की गई, पर वह नामंजूर हो गई। जेल में जबतक हम लोग रहे, एक काम हममें से किसी को करना पड़ता था। उसे हम खुशी से कर भी देते थे। जब किसी मामूली कैदी को जेल से अपील करने का इरादा होता तो वह किसी-न-किसी तरह हम लोगों के पास पहुंच जाता और अपील की दर्खास्त लिखवा ले जाता। फांसीवाले आदमी की ओर से दया की दर्खास्त मुझे ही लिखनी पड़ती। जेल के अधिकारी, फांसीवालों की ओर से दया की दर्खास्त भिजवाने में, मैंने देखा, अक्सर कुछ दिलचस्पी लेते हैं। मुझे याद है कि उन्होंने दो मामलों में मुझसे दर्खास्त का मसविदा लिख देने को कहा था। यह पहला फांसी का मामला था। इसको पुलिस ने पोलिटिकल करार दिया था। पोलिटिकल होने के कारण ही फांसी की सजा हुई थी। मैंने दर्खास्त लिख दी। गवर्नर ने फांसी की जगह डामल-हौस की सजा कर दी। उसकी जान बच गई। पुलिस ने जो पोलिटिकल शक्ल देकर सजा दिलवा दी, उसका एक अच्छा फल यह हुआ कि जब फिर १९४६ में कांग्रेस-मिनिस्ट्री हुई तो दूसरे राजनैतिक कैदियों के साथ वह आदमी भी छूट गया। छूटते ही मेरे पास आकर सदाकत-आश्रम में मुझसे भेंट

कर गया । एक औरत को भी फांसी की सजा हुई थी । उसकी दर्खास्त जेलर ने खुद आकर मुझसे लिखवाई थी । उसकी सजा भी फांसी की न रहकर कालापानी की हो गई थी ।

एक दूसरा मुकदमा डकैती का था । मुजरिम पेलिटिकल करार नहीं दिया गया था । पर उन दिनों मामूली मुकदमों की जांच भी आर्डिनेन्स के अनुसार ही हुआ करती थी । मैजिस्ट्रेट के अधिकार बढ़ा दिये गये थे । वे लम्बी-लम्बी सजाएं दे सकते थे । एक आदमी था, जिसकी उम्र साठ से कम न होगी । उसके हाथ में कुछ ऐब था, जिससे उसकी अंगुलियां पूरी खुलती न थीं । पैर का लंगड़ा होने के कारण मुश्किल से चल सकता था, दौड़ने की तो बात ही नहीं हो सकती थी । जेल में भी बीमार था । अस्पताल में हीं था, जहां मैं था । मुकदमा यह था कि पटना-रांची-रोड पर, जो बहुत चालू सड़क है, एक आदमी बैलगाड़ी पर बोरों में भरकर चावल ले जा रहा था । कुछ डाकुओं ने गाड़ी रोककर चावल लूट लिया । वे बोरों को पीठ पर लेकर खेतों से होकर भाग निकले । गाड़ीवाले ने शोर मचाया तो कुछ आसपास के लोग आ गये । सबने डाकुओं का पीछा किया । प्रायः एक-डेढ़ मील दूर जाने पर खेतों में बोरे फेंककर डाकू चम्पत हो जाना चाहते थे, पर लोगों ने उन्हें पकड़ लिया । उन्हीं डाकुओं में से उपरोक्त अष्टावक्रजी भी थे ! चूंकि वह बहुत बीमार था, इसलिए मजिस्ट्रेट ने जेल के अस्पताल में आकर ही उससे बयान लिया और उसे सात साल की सजा दे दी । मैं जब अस्पताल के अपने वार्ड से बाहर निकला तो वह पैर पकड़कर रोने लगा । मैंने उसे अपील की दर्खास्त लिख दी । वह हाईकोर्ट से छूट गया । जजों ने सारी घटना को असम्भव समझा और इन गरीबों की गिरफ्तारी का कारण भी डकैती के बदले कुछ और ही समझा । मुझे यह देखकर पूरा विश्वास हो गया कि इन्साफ सचमुच अन्धा होता है--कम-से-कम आर्डिनेन्सों के मातहत काम करनेवाले मजिस्ट्रेटों ने तो उसे अन्धा बना दिया था । अगर ऐसा न होता तो अष्टावक्र को देखने के बाद कोई भी आंखवाला आदमी इस बात का विश्वास नहीं कर सकता कि वह गाड़ी पर से लूटकर चावल का बोरा पीठ पर लादे एक-डेढ़ मील तक धान के खेतों से होते हुए भागने के बाद पीछा करनेवालों द्वारा पकड़ा जाय । जिस आदमी के हाथ की अंगुलियां नहीं खुलतीं, जिसका हाथ सीधा नहीं हो सकता,

जिसके पैर ऐसे लंगड़े थे कि वह मुश्किल से चल सकता और जिसकी अवस्था साठ बरस की हो, वह दो मन चावल का बोरा पीठ पर लेकर एक-डेढ़ मील भाग सका होगा, इसका विश्वास अन्धा ही कर सकता था। पर मजिस्ट्रेट ने विश्वास करके सात साल की सजा उसे दे दी थी।

राजनैतिक मुकदमों का तो कहना ही क्या ! पटना-जिले का कुछ हिस्सा बरसात में भी भर जाता है। उसे 'टाल' कहते हैं। बरसात में रेल पर से ही, जहांतक आंखें देख सकती हैं, जल-ही-जल नज़र आता है। इस टाल में जो गांव हैं, वे बरसात में दुनिया से एक प्रकार से अलग हो जाते हैं। वहां से बाहर निकलने के लिए नाव के सिवा दूसरा कोई जरिया नहीं। यों ही दूसरे मौसम में भी इन गांवों में हफ्ते में एक बार डाकिया डाक ले जाया करता है। बरसात में तो शायद महीने में एक-आध बार डाकिया पहुंच जाता हो तो बहुत है। ऐसे ही एक छोटे गांव के लोगों का, वहां के एक जुजवी जमींदार के साथ कई बरसों से झगड़ा चला आता था। इस आन्दोलन को गनीमत समझकर उन्होंने वहां के प्रमुख किसानों पर पुलिस से राजनैतिक मुकदमा चलवा दिया। वे गिरफ्तार कर जेल में लाये गये, जब उनका मुकदमा दौरा-सुपुर्द हो गया वे वे बांकीपुर-जेल में ही रखे गये। सेशन में इतने मुकदमे थे कि इस मुकदमे की सुनवाई १९४४ के जून-जुलाई के पहले न हो सकी। वे लोग प्रायः दो बरसों तक तो हाजत में ही पड़े रहे। उनपर जुर्म बड़े संगीन लगाये गये थे--उस गांव के लोगों ने, बम्बई के ८ अगस्त के प्रस्ताव के बाद कांग्रेस के हुक्म से, अपने और आसपास के गांवों में ब्रिटिश राज्य उठाकर अपना राज्य कायम कर लिया है--एक आदमी राजा हो गया था, दूसरा मंत्री, तीसरा सेनापति, इस तरह और लोग भी इस राज्य-स्थापना में मदद करते थे और इस राज्य को चलाने के लिए लोगों पर 'कर' लगाया था। जो कड़ी-से-कड़ी दफाएं हो सकती हैं, सभी उनपर लगाई गई थीं और उनकी सजा फांसी तथा माल-जायदाद की जब्ती हो सकती थी। राजा, मंत्री और सेनापति अपने अन्य साथियों के साथ बांकीपुर-जेल में लाये गये। सेनापति इतने बीमार थे कि इन दो बरसों में उनका अधिक समय अस्पताल में ही बीता। मुकदमा सेशन-जज के सामने पेश हुआ। पुलिस का बयान यह हुआ कि बम्बई की खबर पाकर इन लोगों ने अपना राज्य कायम कर लिया, उस गांव में तथा आस-पास के गांवों में लोगों से

'कर' वसूलने लगे और जो 'कर' नहीं देता उसका घर-माल लूट लेते। उन लोगों का जवाब था कि सारा मुकदमा झूठा है, वे लोग कांग्रेस के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे, बम्बई के फैसले का उनको कुछ पता ही न था, गांव के उस छोटे जुजवी जमींदार ने अपना वैर साधने के लिए उन्हें झूठे मुकदमे में फंसा दिया है। सेशन-जज का फैसला हुआ कि मुकदमा बिलकुल झूठा और बे-बुनियाद है, उस जमींदार ने ही इसे खड़ा कराया है; क्योंकि ऐसे गांव में--जिसका सम्बन्ध बरसात में बाकी दुनिया से एक प्रकार से टूट जाता है --बम्बई के फैसले और आन्दोलन की खबर भी न पहुंची होगी; क्योंकि जिस दिन वहां स्वतन्त्र-राज्यस्थापना की बात कही जाती थी, उस दिन तक पटना-शहर में भी आन्दोलन ने अभी जोर नहीं पकड़ा था। अन्त में सबके सब छूट गये; पर दो बरसों तक हाजत में रहने और मुकदमे में बहुत खर्च करने के बाद !

एक दूसरी मिसाल और लीजिए। अठारह-बीस बरस का एक लड़का था। राजनीति से उसका कोई सम्बन्ध न था। देखने में ज़रा अच्छा था। पुलिस की उससे कुछ रंजिश थी। वह छोटी-मोटी मामूली चोरियां करनेवाला अथवा पाकिटमार-सा होगा। ९ अगस्त का आन्दोलन आरम्भ होने के कुछ पहले ही वह बिना टिकट रेल पर जाने के लिए गिरफ्तार हुआ। इसी बीच में आन्दोलन शुरू हुआ। पुलिस ने उसे कुछ दिनों के लिए जेल में रख देने का सीधा उपाय यह समझा कि थाना लूटने, रेल तोड़ने, तार काटने इत्यादि के मुकदमों में वह मुजरिम बना दिया जाय। पुलिस ने शायद सोचा कि इस तरह एक पाकिटमार की निगरानी का भार कुछ बरसों के लिए उसके सिर से उतर जायगा। टिकटवाले मुकदमे में उसकी एक हफ्ते कैद की सजा हुई, जो बहुत जल्द समाप्त हो गई। किन्तु उसपर और कई मुकदमे थे। वह राजनैतिक हाजतियों के साथ जेल में रखा गया। एक मुकदमा हुआ, जिसमें उसने बयान किया कि वाकये के बहुत पहले से वह जेल में रहा है। मजिस्ट्रेट ने उसकी बात मान ली और रिहाई कर दी। परन्तु उसपर और भी इस प्रकार के आन्दोलन-सम्बन्धी मुकदमे थे, इसलिए वह छूटा नहीं। दो-तीन मुकदमे हुए और सबमें वह बरी होता गया, पर छूटा नहीं। इस तरह कई महीने बीत गये। एक और मुकदमा चला। उसका सम्बन्ध भी आन्दोलन से था। पर उसके यह बयान करने

पर भी कि वह वाकये के बहुत पहले से ही जेल में रहा है और जेल का रजिस्टर मांगकर देख लेने से ही यह बात साबित हो जायगी, मजिस्ट्रेट ने कई बरसों की कैद की सजा उसे दे दी ! अपील भी नामंजूर हो गई ! पर उसकी ओर से एक दर्खास्त तैयार की गई, जिसमें सब बातें लिखी गईं--उसकी गिरफ्तारी की तारीख, वाकये की तारीख, दूसरे मुकदमों का हाल, जिनमें वह छोड़ दिया गया था, सब बातें खोलकर लिखी गईं और कहा गया कि जेल का रजिस्टर मंगाकर देखा जाय कि वाकये के दिन वह जेल में था या नहीं । जिला-मजिस्ट्रेट जेल देखने आया तो उसके दर्खास्त उसको दी । जिला-मजिस्ट्रेट को आश्चर्य हुआ; पर वह दर्खास्त साथ लेता गया । मालूम हो गया कि वह आदमी गलत सजा पाकर जेल में सड़ रहा है । उसने सरकार को लिखा और उसकी रिहाई का हुक्म मंगवाया ।

इस तरह की धांधलियां न मालूम कितनी ही हुईं, जिनके शिकार राजनैतिक लोग तो हुई ही, दूसरे लोगों की संख्या भी कम न रही । राजनैतिक लोगों की सजा की बात क्या कहूं ! कहांतक कहूं ? ऐसे लोगों को भी देखा, जिनको पच्चीस-पच्चीस साल की सजा मिली थी । ऐसे भी थे जिनको पचास बरस से भी अधिक लम्बी सजा मिली थी । ऐसे लोगों की संख्या भी कम न थी, जिनको दस बरस अथवा दामुल (डामल-हौस) की सजा दी गई थी । साल-दो साल और चार साल की तो बात ही क्या ! जब कलकत्ता हाइकोर्ट न उसे आर्डिनेन्स को, जिसके अनुसार ये मुकदमे चलाये गये थे, गैर-कानूनी बता दिया और लार्ड लिनलिथगो को नया आर्डिनेन्स बनाना पड़ा तथा इस मुकदमों के अभियुक्तों को अपील का मौका मिला, तो हाइकोर्ट ने बहुतेरों को छोड़ दिया । बहुतेरों की सजाएं कम कर दी गईं । बहुतेरे तो यह कहकर छोड़ दिये गये कि जितनी सजा वे भुगत चुके हैं, काफी है । शुरू में ही जब आन्दोलन जोरों पर था और मुकदमों का अभी आरम्भ ही हो रहा था, इस धांधली के कुछ नमूने सामने आ गये, जिनमें से एक का जिक्र ऊपर किया गया है, जिसमें आठ आदमियों को फांसी की सजा जिला-जज ने दे दी थी ।

इसके पहले के आन्दोलनों में कांग्रेसी लोग अदालतों में अपना बचाव नहीं किया करते थे । उस समय भी धांधलियां तो हुआ करती थीं, पर सजाओं में कुछ मर्यादा रहती और इतनी लम्बी-लम्बी सजाएं नहीं होतीं । जुर्माने में बड़ी-बड़ी रकमें

कहीं-कहीं ली जातीं, पर आमतौर से लोग इन बातों की परवा न करते और गांधीजी ने बचाव करने की जो मनाही कर दी थी, उसे मानते । इस बार के मुकदमों का रूख कुछ दूसरा था । इनमें बहुत लम्बी-लम्बी सजाएं--फांसी तक की--होतीं या होनेवाली थीं, इसलिए यह प्रश्न उठा कि बचाव किया जाय या नहीं । बांकीपुर-जेल में ही ऐसे लोग थे, जिनको फांसी का सजा मिली । १९३०-३१ और १९३२-३४ के सत्याग्रह-आन्दोलन में भी जुर्मानों की वसूली में बहुत धांधली होने लगी थी । थोड़ी रकम के लिए घर का सब धन-माल कानूनी तरीके पर केवल जब्त ही नहीं किया जाने लगा, बल्कि गैर कानूनी तौर पर लूटा भी जाने लगा । किसी ने बिना किसी से राय लिए ही हाइकोर्ट तक मामले को पहुंचा दिया । वहां से हुक्म हो गया कि इजमाल हिन्दू-खानदान का माल किसी एक आदमी के जुर्माने की वसूली की धांधली बहुत कम हो गई; क्योंकि सभी जगहों में लोगों को मालूम हो गया कि ऐसी नज़ीर कायम हो गई है । इस बार जब मुझसे लोगों ने पूछा कि ऐसे संगीन मुकदमों में बचाव किया जाय या नहीं, तो मैंने राय दी कि बचाव जरूर किया जाय । कुछ लोगों को यह बात पसन्द नहीं आई और कुछ लोगों को इसका पता ही न था कि मैंने ऐसी राय दी है । इसलिए कुछ लोगों ने कोई बचाव नहीं किया और जो सजा हुई, वह हँसते-हँसते झेल ली । इनमें श्री जगलाल चौधरीजी थे, जिनको दस साल की सजा मिली--और यह भी तब, जब उनका एक जवान लड़का गोलियों का शिकार बन चुका था और उनकी गिरफ्तारी थाने पर हुई थी, जहां उसके शव की तलाश में वह गये थे !

जब नये आर्डिनेन्स के अनुसार अपील का मौका मिला तो उसमें भी मैंने राय दी कि अपीलें की जायं । मैंने राय दी कि अपीलें की जायं । मैंने यह राय दो कारणों से दी--एक कारण तो यह था कि मैं समझता था कि बचाव करने से मजिस्ट्रेटों की धांधली शायद कुछ कम हो और दूसरा कारण यह था कि मैंने देखा कि इस आन्दोलन में बहुतेरे ऐसे लोग भी गिरफ्तार हुए थे, जिनका कांग्रेस से कोई सरोकार नहीं था और जो हर हालत में अपना बचाव करते ही । कांग्रेसी लोगों में भी ऐसे लोग थे, जो हर हालत में अपना बचाव । सजाएं भी कड़ी होनेवाली थीं । इसलिए मैंने सोचा कि इनको यदि रोका गया तो असन्तोष फैलेगा और हो सकता है कि रोकने पर भी बहुतेरे लोग बचाव करें । ऐसी अवस्था में बचाव करने देना ही ठीक मालूम हुआ । मैं जानता था और अपने विश्वास को, जिनसे भेंट होती थी उनसे, कह भी देता था

कि यद्यपि उनकी सजाएं लम्बी हैं तथापि वे और मेरे ऐसे लोग भी जो बिना मियाद के जेल में रखे गये हैं, छूटेंगे सब एक ही समय । हो सकता है कि हम कुछ पहले छूट जायं, पर हम जबतक उनको भी छुड़ा न लेंगे, बाहर नहीं रह सकेंगे । बात भी ऐसी ही थी । हम इतने लोगों को लम्बी सजा भुगताने के लिए छोड़कर खुद कैसे बाहर रह सकते थे ? मुझे इस बात से सन्तोष हुआ कि जब महात्मा गांधी बाहर निकले तो उन्होंने भी मुकदमों में बचाव करने का ही आदेश दिया । चिन्ता उन लोगों के बारे में होती, जिनको फांसी की सजा होती । जो कैद हैं, वे तो कुछ आगे-पीछे जेल से निकाले जा सकते हैं, पर जिनको फांसी की सजा दी गई है, वे तो सदा के लिए चले जायंगे । पटने में कई आदमियों को फांसी की सजा हुई, पर किसी-न-किसी तरह सबके-सब बच गये । कुछ समय तो अपील वगैरा में लगा । पीछे जब हम लोग छूट गये और महात्मा गांधी फांसीवाले मुकदमों के बारे में लार्ड वेवल से बातें करने लगे, तो औरों के साथ पटनावालों की फांसी की सजा भी डामल-हौस (दामुल) में बदल दी गई, और कांग्रेस-मंत्रिमंडल आने पर वे छूट गये । पर मुजफ्फरपुर, भागलपुर, मुंगेर इत्यादि में कई आदमी फांसी चढ़ ही गये । अगर वे भी सहसा लटका न दिये जाते तो अन्त में छूटते ही; पर यद्यपि उनके साथ एक ही मुकदमे में सजा पाये हुए लोग पीछे छूट गये तथापि वे लोग चले ही गये । उन लोगों को, जो फांसी की सजा पा चुके थे, आज बाहर देखकर एक प्रकार की प्रसन्नता होती है और इस बात पर अफसोस भी होती है कि दूसरों को इसी तरह हम लोग नहीं बचा सके ।

: १५१ :

१९४२ की उत्तेजनाओं के परिणाम

इस बार जेल में ९ अगस्त (१९४२) को मैं लाया गया। वहां से १९४५ में १५ जून को निकला। शुरू में मथुराबाबू और श्री चक्रधरशरण मेरे साथ रहे; दूसरे लोग आते-जाते रहे, पर मेरे लिए नहीं। १९४३ के अक्तूबर में श्री चक्रधरशरण हजारीबाग भेज दिये गये। मार्च १९४४ में मथूराबाबू की रिहाई हो गई। उसके बाद ३ दिसम्बर १९४४ तक मेरे साथ केवल वाल्मीकि ही रहे। नये आर्डिनेन्स के अनुसार, सरकार की ओर से, एक कमिटी हर छठे महीने आती और नजरबन्द लोगों से मिलती। जिनके लिए वह सिफारिश करती वे छोड़ दिये जाते। यह कमिटी पहली बार १९४४ के मार्च में आई। मथुराबाबू उसी की सिफारिश पर अचानक छोड़ दिये गये। मुझसे कमिटी के मेम्बरों ने पूछा था कि क्या मैं छूटना चाहता हूं, तो मैंने उत्तर दिया था कि अकेला नहीं, सब लोगों के साथ ही। इसपर उन्होंने पूछा कि यदि छोड़ दिया जाऊं तो मुझे आश्चर्य होगा क्या ? मैंने उत्तर दिया था कि जरूर--बहुत आश्चर्य होगा। उन्होंने पूछा कि तोड़-फोड़ का कार्यक्रम अगर कांग्रेस ने नहीं किया तो लोगों को कैसे मालूम हुआ और यह बात सारे देश में एक छोर से दूसरे छोर तक इतनी जल्दी कैसे फैल गई ? मैंने उत्तर दिया कि ८ अगस्त के प्रस्ताव के साथ-साथ सरकार की एक विज्ञप्ति ९ अगस्त (१९४२) के सवेरे के समाचार पत्रों में निकली थी, जिसमें सरकार ने गांधीजी और वर्किंग कमिटी के लोगों की गिरफ्तारी के कारण बताकर लोगों को यह समझाने की कोशिश की थी कि सरकार की यह कार्रवाई उचित है--उसीमें यह बात साफ-साफ लिखी थी कि कांग्रेस की ओर से इस बार रेल-तार आदि तोड़ने-काटने का भी कार्यक्रम दिया गया है--उसी दिन या उसके दूसरे दिन मि० एमरी ने रेडियो पर भाषण किया था, जिसमें भी यह बात कही गई थी और यह भाषण भी अखबारों में छपा था--कांग्रेस की ओर से कोई कार्यक्रम नहीं निकला था-लोगों ने समझ लिया कि यही कार्यक्रम होगा और सरकार की ही बात पर विश्वास करके लोगों ने काम शुरू कर दिया।

मेरा आज भी विश्वास है कि इस कार्यक्रम का इतना अधिक और इतनी तेजी से प्रचार इसी कारण से हुआ। लोगों के दिल में पहले से ही, १९३० से ही, इस तरह की बातें उठा करती थीं; इस बार उसको पुष्टि मिल गई और जन-साधारण ने उसे ठीक मान लिया। इसके दो जबरदस्त प्रमाण मुझे जेल में उसी समय मिल गये। मैं समझ गया कि यह बात जोरों से चलेगी। मेरी गिरफ्तारी के थोड़े ही दिन बाद फूलनबाबू जेल में पहुंचे थे। उन्होंने कहा कि मेरी गिरफ्तारी की बात शहर में पहुंची तो कुछ लोग उनके (फूलनबाबू के) पास पहुंचे और उनसे पूछा कि कार्यक्रम क्या है। लोग समझते थे कि मेरे साथ उनकी मुलाकात हुई होगी और मैंने कुछ बताया होगा। पर उनकी मेरी बहुत दिनों से मुलाकात हुई ही न थी, इसलिए वह कुछ नहीं बता सके। पर उसी दिन कुछ घण्टे पहले पत्रों में सरकार की विज्ञप्ति छप चुकी थी और लोगों का ध्यान उस ओर आ गया था। दो दिनों के बाद जब कुछ लड़के सेक्रेटेरियट के गोली-काण्ड के बाद गिरफ्तार होकर बांकीपुर-जेल में लाये गये तो मैंने देखा कि वे सबके-सब तार-टेलीफोन और रेल तथा सड़कों को तोड़ना-काटना और किसी तरह यातायात बन्द कर देना कार्यक्रम में दाखिल समझते थे। जब जेल के फाटक के नजदीक एक लारी में गिरफ्तार कुछ विद्यार्थी कहीं भेजे जा रहे थे तो जनता द्वारा वे बचा लिये गये और लारी जला दी गई, फिर बाकी लारियों से उतारकर दूसरे छात्र कुछ देर के लिए जेल के अन्दर पुनः लाये गये। मैं बीमार तो था, पर तो भी मैंने उनको यह समझाने की कोशिश की कि यह अच्छा नहीं हुआ। इसपर उनका उत्तर यही मिला कि जब टेलीफोन-तार आदि तोड़ना और रेल रोकना ठीक है तब तो लारी को भी बेकार कर देना उसी कार्यक्रम के अन्दर है, इसलिए यह भी ठीक होना ही चाहिए। मेरे बहुत कहने पर भी मेरी बात उनको जंची नहीं, यद्यपि मेरे लिहाज से वे कुछ अधिक बोले नहीं। वे तो जेल में कुछ दिनों तक बन्द रहे, इसलिए उन्होंने तो कार्यक्रम को नहीं चलाया होगा। पर यह स्पष्ट था कि लोगों को यह विश्वास हो गया था कि यह तोड़-फोड़ भी कार्यक्रम में है।

इसी कारण इतना जल्द, प्रायः मुग़लसराय से आसनसोल तक, ई० आई० आर० की मुख्य लाइन में, गाड़ियों का आना-जाना बहुत दिनों तक बन्द रहा। इसी तरह पटना-गया ब्रांच-लाइन भी बेकार कर दी गई थी। केवल ग्रैण्डकौर्ड-लाइन में बहुत

नुकसान नहीं हुआ था, इसलिए उसकी गाड़ियों का आना-जाना बन्द नहीं हुआ। गंगा के उत्तर तरफ बी० एन० डब्ल्यू रेलवे अब (ओ० टी० रेलवे) में, इधर बनारस से लेकर कटिहार तक और उधर गोरखपुर-बस्ती से लेकर वहांतक की लाइन, जहां छपरे में वह बनारस लाइन से मिल जाती है, बहुत तोड़-फोड़ हुई थी-प्रायः सभी जगहों पर इतने स्टेशन तोड़-फोड़ दिये गये थे। और लाइन भी इस कदर बरबाद कर दी गई थी कि कई महीनों तक गाड़ियां न चल सकीं। इन्हीं कारणों से, बिहार के बाहर के लोगों का विचार है कि समस्त बिहार और संयुक्त-प्रान्त के पूर्वी जिलों में ही आन्दोलन का रूप सबसे ज्यादा उग्र और जबरदस्त रहा; अतः यहीं सबसे अधिक सरकार की सख्ती भी हुई। न मालूम कितने ही आदमी पुलिस और फौज की गोलियों के शिकार हुए। कितनों के घर जलाये और लूटे गये। कितनों को अन्य प्रकार की अकथनीय यातनाएं सहनी पड़ीं। जेल जानेवालों की संख्या का तो हमें कुछ ठीक पता भी न चला। हम इतना ही जानते हैं कि बिहार में बहुतेरे मामूली कैदियों को राजनैतिक कैदियों के लिए जगह खाली करनी पड़ी और इस तरह मीयाद से पहले ही बहुतेरे छोड़े गये। बहुतेरे तो, जिनपर संगीन जुर्म लगे हुए थे, हाजत से ही छोड़ दिये गये। लोगों का कहना है कि भागलपुर जिले में बांका-सबडिविजन के तीस-चालीस डकैत इसलिए छोड़ दिये गये कि वे बाहर जाकर डकैतियां करें, ताकि जनता कांग्रेस से ऊब जाय! सुना कि उनमें से कुछ ने बाहर निकलकर आन्दोलन में भाग लिया--एक को तो फांसी की सजा हुई और दूसरे कइयों को दूसरी कड़ी सजाएं मिलीं। मैने जेल से छूटने के बाद गवर्नर से मुलाकात होने पर यह बात कही थी। उन्होंने जांच भी कराई थी। मालूम हुआ कि बहुतेरे डकैत इस तरह बांका में छोड़ दिये गए थे! मैंने सुना कि आरम्भ में, जबतक आन्दोलन जोरों पर था, चोरी-डकैती एकबारगी बन्द हो गई थी।

आन्दोलनकारी लोगों ने कुछ डाकखाने या रजिस्टरी-आफिस वगैरह दखल कर लिये। कहीं-कहीं कुछ में उन्होंने आग भी लगा दी। पर शुरू में जब आन्दोलन जोरों पर था तो यह भी सुनने में आया कि जहां-कहीं रूपये मिले उन लोगों ने उनमें से एक नहीं लिया। चांदी के रूपये तो उन दिनों देखने को भी कम ही मिला करते थे; इसलिए प्रायः नोट ही मिलते। लोग उन नोटों को जला देते, उनसे व्यक्तिगत लाभ

उठाने का अथवा उन्हें आन्दोलन के लिए खर्च करने का ख्याल भी किसी को न होता। पर कुछ दिनों के बाद यह बात न रही। कुछ लोग इस तरह से आये हुए धन का संग्रह आन्दोलन के लिए करने लग गये। यहांतक कि आन्दोलन के नाम पर डकैतियां भी की गईं। मालूम नहीं, कि इन डकैतियों में मिला हुआ धन किसके पास गया और किसने उसे किस तरह खर्च किया। पर यह सब बहुत बाद में हुआ। अब आन्दोलन एक प्रकार से बन्द हो गया था। आन्दोलन के जोर के दिनों में तो सरकारी कर्मचारी ही लोगों को लूट-खसोट के लिए आमन्त्रित करते! डाकखानावाले तो डाकखाने का लुट जाना ही अच्छा समझते--उनको यह कहने का बहाना मिल जाता कि जो रूपये जमा थे, लोग लूट ले गये; चाहे वे रूपये सचमुच लुटे हों या नहीं, पर गवर्नमेण्ट को नहीं मिल। बहुत जगहों में, शुरू में, थानावाले भी जनता के साथ मिल गये। लोगों के पहुंचते ही वे थाने पर झंडा फहराने देते और उनके साथ मिलकर नारे लगाते। ऐसे थानेदारों के साथ जनता का भी अच्छा व्यवहार होता। सुना है कि कहीं-कहीं थानेदार को नाव या किसी दूसरी सवारी पर सवार कराकर जिले के सदर शहर में लोगों ने पहुंचवा दिया और थाने पर कब्जा कर लिया। जहां थानेदार की ओर से ज्यादती हुई वहींपर थानेदार के साथ जनता ने सख्ती की। कुछ जगहों में वे मार डाले गये, पर ऐसी कम जगहें थीं। कोई-कोई थानेदार बहुत जालिम साबित हुए, और जब फौज आ गई तब तो पुलिस का रूख ही बदल गया--उन्होंने बहुत जुल्म किया, जिसका वर्णन करना भी कठिन है। इस जुल्म में अधिकतर दारोगा वगैरह ऊपर के अफसर अधिक भाग लेते थे--सिपाही और कान्स्टेबुलों ने कम भाग लिया।

यह सबकुछ जानने के बाद यह मानना पड़ेगा कि जनता ने रेल-तार तो खूब तोड़ा और सरकारी मकानों को भी क्षति पहुंचाई; पर जितना विस्तार आन्दोलन का था, उतने अनुपात में जनता ने सरकारी कर्मचारियों के साथ ज्यादा सख्ती नहीं की। जान ले लेना या मारपीट करना भी बहुत कम ही हुआ। ऐसा मालूम होता है कि जनता की धारणा हो गई थी कि किसी आदमी को मारना-पीटना अथवा जान से मार डालना अहिंसा के सिद्धांत के विरूद्ध है, पर रेल-तार-मकान इत्यादि बेजान चीजों को तोड़ना-फोड़ना अथवा जला देना भी अहिंसा के अन्दर ही है! यद्यपि सरकार के कुछ आदमी मारे गये तथापि उनकी संख्या बहुत कम थी। जब हम देखते

हैं कि बहुत दूर-दूर तक और बहुत समय तक आन्दोलन फैला और चलता रहा तब ध्यान में आता है कि जनता अगर चाहती तो बहुत-से लोगों को आसानी से मार सकती थी। इससे तो यही मालूम हाता है कि जनता ने जान-बूझकर कितनों ही को छोड़ दिया। अगर वह ऐसा न करती तो न मालूम कितने और थानेदार कत्ल हो गये होते। फिर भी इन थोड़े-से लोगों के बदले में सरकार ने न मालूम कितनों को गोलियों का शिकार बना डाला। यदि दोनों ओर के मरे हुओं की संख्या का ठीक पता लगता तो अनुपात एक के बदले ७५ नहीं तो ५०-६० जरूर पड़ता। पर यह तो अनुमानमात्र है। ठीक संख्या न मालूम हुई है और न शायद मालूम होगी ही। तो भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि आन्दोलन बिलकुल अहिंसात्मक न रह सका और जनता भी इस बन्धन से बाहर निकल गई।

आन्दोलन का जोर तो प्रायः एक से दो महीने तक ही रहा। उसके बाद उसका असर जो कुछ रह गया हो, पर लोग आक्रमण न करके अपने बचाव में ही लग गये और सरकार के दमनचक्र का शिकार बनते रहे। कुछ लोगों ने पट पड़े हुए आन्दोलन को फिर से उभाड़ने का बहुत प्रयत्न किया, पर उस प्रयत्न का कोई विशेष फल देखने में नहीं आया--वह फिर उठा या चला नहीं। इक्के-दुक्के वाकया कहीं-कहीं हुए, पर उनका असर न तो सरकार पर कुछ पड़ा और न जनता की ही उनमें कोई विशेष दिलचस्पी रही--हां, उनके कारण दमन का जोर जारी रहा और जनता को बहुत-कुछ सहते रहना पड़ा। कुछ लोग जेल से निकलने पर इस प्रकार के प्रयत्न में लगे रहे। पर थोड़े ही समय के बाद यह स्पष्ट हो गया कि प्रयत्न करनेवाले लोग अब इस समय जनता में फिर जोश नहीं पैदा कर सकेंगे और आन्दोलन फिर जारी नहीं किया जा सकेगा। जो लोग इस तरह के प्रयत्न में लगे हुए थे वे लुक-छिपकर ही काम कर सकते थे। इस आन्दोलन में इस प्रकार के बहुतेरे लोग थे। कुछ दिनों के बाद तो उन लोगों को अपनी रक्षा के सिवा दूसरा काम करने का न तो समय मिलता और न साधन। फरार रहना ही एक ऐसा काम हो गया, जो उनकी सारी शक्ति और सारा समय ले लेता। तब भी बहुतेरों ने बहुत बहादुरी से काम लिया। कहीं-कहीं जबरदस्त संगठन भी कर दिया, जिसको हजार कोशिश के बाद भी सरकार तोड़ न सकी और उनका पता भी न पा सकी। जब कांग्रेस-मंत्रिमण्डल बन गये, उन सब लोगों पर से मुकदमे और गिरफ्तारी के वारंट उठा लिये गये, तभी वे बाहर

निकले या तभी सरकार के कर्मचारी उनका पता पा सके । इस कार्यपटुता और बहादुरी के लिए वे प्रशंसा के पात्र हैं । पर मेरा अपना विश्वास है कि यदि लुक-छिपकर काम न किया गया होता तो उनमें से कुछ लोग जरूर मारे जाते, फांसी पर चढ़ते अथवा दूसरे प्रकार के कठोर दमन के शिकार बनते; परन्तु निरीह जनता पर जितना जुल्म हुआ उतना न होता और आन्दोलन भी कहीं अधिक आगे बढ़ गया होता तथा जल्द दबाया भी न जा सकता । जनता के सामने भी ऐसे लोग हमेशा मौजूद पाये जाते, जिनको वह अपना नेता मानती--जिनकी बातों पर वह खुशी-खुशी जान देती और धन लुटाती । लुक-छिपकर काम करने का यह असर हुआ कि काम बहुत व्यापक रूप में न हो सका--थोड़े लोगों की कार्रवाईयों का प्रतिफल बहुतेरे बेकसूर लोगों को भोगना पड़ा । इसलिए मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यदि रेल-तार तोड़नेवाले लोग सामने आकर काम करते और अपने कामों को कबूल कर लेते तो दूसरे लोगों की हिम्मत कहीं अधिक बढ़ जाती--मुमकिन है कि एक के बदले सैकड़ों दूसरे लोग उसी काम के लिए तैयार हो जाते और सजा भी उन्हीं लोगों को मिलती जो कबूल करते, बेकसूर बहुत-कुछ बच जाते । जो हो, यह तो अहिंसा के सिद्धान्त की बात है । जो लोग उसमें विश्वास नहीं रखते, उनको भला उसकी पाबन्दी कैसे पसन्द हो सकती है । जहांतक जनता की हिम्मत बढ़ी थी, वह खुले-आम विद्रोह के कारण ही बढ़ी थी--वह नीति जारी रहती तो और भी बहुत-कुछ बढ़ती ।

: १५२ :

बंगाल का अकाल और भारत की अखंडता

जेल में रहते-रहते बंगाल के भयंकर अकाल का हाल हमारे सुनने में आया। १६४३ की गर्मियों में चावल और खूराक की चीजों का दाम इतना बढ़ गया कि लोगों के लिए अन्न खरीदना कठिन होने लगा। जब मैं बचपन में छपरे और पटने में पढ़ता था तो एक बार अकाल पड़ा था। मुझे याद है कि सरकार की ओर से जहां-तहां लोगों को काम कराकर मदद देने के लिए बड़े-बड़े तालाब खुदवाये गये थे। मेरे गांव से कुछ दूर पर एक बड़ा तालाब खोदा गया था। जहां-तहां गरीबों के लिए पका हुआ अन्न भी बांटा जाता था। उस समय तक अच्छा चावल रूपये में पन्द्रह सेर बिका करता था। उसके बाद से घटकर नौ-दस सेर का हो गया। उसके बाद एक बार और कुछ महंगी हुई तो वह और भी घटकर रूपये में पांच-छः सेर बिकने लगा। १६४३ में रूपये में सवा सेर या डेढ़ सेर मामूली तौर से चावल का दाम हो गया। जेल में हम लोगों को अखबारों से कुछ खबर मिलने लगी। आहिस्ता-आहिस्ता बंगाल की हालत और भी बिगड़ी। कुछ लोगों के वहां भूखों मरने की खबर होने लगी। थोड़े ही दिनों में यह बात मालूम होने लगी कि कलकत्ते की सड़कों पर लोगों की लाशें मिलती हैं। कुछ दिन बाद अखबारों में मृतकों की तसवीरें भी छपने लगीं। इस दिशा में सबसे पहले 'स्टेट्स्मैन' ने काम शुरू किया। दूसरे हिन्दुस्तानी पत्रों में भी बहुत तसवीरें छपीं। जनता की ओर से लोगों को मदद पहुंचाने का प्रयत्न होने लगा। मैं शुरू में अखबारों में इन खबरों को पढ़ता और तसवीरें भी देखता। पर कुछ दिन बाद स्थिति की भयंकरता इतनी बढ़ गई कि मेरे लिए तसवीरों को देखना और खबर पढ़ना भी असह्य हो गया। मैंने अखबार पढ़ना बन्द कर दिया। जेल में बैठे-बैठे कोई कर भी क्या सकता था। पटने में श्री प्रफुल्लरंजन (पी० आर०) दास ने पीड़ितों की सहायता के लिए कुछ रूपये जमा करने का प्रयत्न किया। उन्होंने एक अपील निकाली। मैंने सोचा, यह काम ऐसा है, जिसमें और कुछ नहीं तो अपने पत्र द्वारा लोगों की कुछ सेवा कर सकूं तो थोड़ा सन्तोष होगा। मैंने

एक पत्र श्री दास महाशय के नाम लिखा, जिसमें उनकी अपील का समर्थन किया। फ़सल तैयार होने के समय जनता से अन्न-दान के लिए अपील करके कुछ अन्न जमा करने का रास्ता भी सुझाया। कुछ दिनों के बाद सरकार का हुक्म आया कि मेरा पत्र श्री दास के पास नहीं भेजा गया, रोक लिया गया। इसकी खबर बाहर किसी को शायद आज तक न होगी।

बंगाल की स्थिति इतनी बिगड़ी कि न मालूम कितने लाख लोग मरे। जन-नायकों का मत है कि पचास लाख के लगभग लोगों को अकाल ही काल का केवल बनना पड़ा। सरकारी अनुमान भी शायद पन्द्रह-बीस लाख का है। जो दर्दनाक घटनाएं हुईं, वे अवर्णनीय हैं। कारण जो हो, शुरू में गवर्नमेण्ट कुछ नहीं कर सकी। सर नाजिमुद्दीन प्रधान मंत्री थे और खुराक के मंत्री श्री सोहरावर्दी। गवर्नर थे सर हर्बर्ट, बड़े लाट थे लार्ड लिनलिथगो । मुझे आश्चर्य होता कि इतनी दुरवस्था में भी वहां की जनता चुपचाप कैसे सबकुछ सह रही है। कम-से-कम मंत्रिमण्डल कैसे खुद काम कर सकता है और असेम्बली के मेम्बर ही उसे कैसे चलने देते हैं। पर लड़ाई का जमाना था। आर्डिनेन्सों की हुकूमत थी। मुस्लिम लीग के हाथों में अधिकार था। कोई कुछ कर न सका। लार्ड लिनलिथगो ने कांग्रेसी लोगों को दबाने में तो काफी तेजी और तनदेही से काम किया था; पर जब बंगाल में इतने लोग मरे जितने इस महायुद्ध-भर में दुनिया के सभी देशों को मिलाकर भी न मारे गये होंगे, तो उनसे इतना भी न हो सका कि एक दिन के लिए भी वह बंगाल जाते! उनके चले जाने पर जब लार्ड वावेल गवर्नर-जनरल (वाइसराय) होकर आये तो आते ही बंगाल गये। वहां फौज को उन्होंने हुक्म दिया कि लोगों को मदद पहुंचाने का काम वह करे। सर हर्बर्ट बीमार पड़ गये। उनकी जगह पर बिहार के गवर्नर वहां भेजे गये। उन्होंने भी स्थिति संभालने में मदद की। किसी तरह से, कई महीनों के बाद, हालत कुछ बदली। लोगों का सड़कों पर बे-मौत मरना बन्द हुआ।

जन-श्रुति कहती है कि इस विपत्ति से बहुतेरों ने, जिनका काम जनता की रक्षा करना था और जिनके जिम्मे यह काम दिया गया था, बहुत रूपये कमाये और कितने तो मालामाल हो गये। इसके कारणों में एक प्रधान कारण यह भी कहा जाता है कि सरकार ने लड़ाई के कारण लोगों से धान-चावल ले लिया था और उनकी छोटी-छोटी नौकाएं भी ले ली थीं। शत्रु को कुछ न मिलने देने के लिए समुद्र-तट के स्थानों को

साधन-हीन अथवा मरूभूमि बना देने की जो नीति जापानी आक्रमण के कारण, बरती गई थी वह इस अकाल के लिए कम जवाबदेह नहीं थी । उस समय लार्ड वावेल ही फौजी लाट थे । उस नीति की जवाबदेह नहीं थी । उस समय लार्ड वावेल ही फौजी लाट थे । उस नीति की जवाबदेही उनपर ही थी । इसीलिए बड़े लाट होकर पहुंचते ही उन्होंने उस नीति के कारण उपस्थित स्थिति के संभालने में, फौज द्वारा मदद करना आवश्यक माना । इसी से स्थिति कुछ संभली भी ।

बिहार में भी अन्न का दाम वैसे ही बहुत बढ़ गया । तीस रूपये मन चावल बिकने लगा था । पर बिहार में बंगाल-जैसी हालत नहीं हुई । यहां भूखों मरनेवालों की खबर अखबारों में कम-से-कम देखने में नहीं आई । एक बात इस अकाल से स्पष्ट हो गई और वह यह कि इस विपत्ति में सारे भारत के लोग बंगाल की मदद के लिए ठीक उसी तरह दौड़ पड़े जैसे बिहार में भयंकर भूकम्प के बाद । फर्क इतना ही था कि इस समय लड़ाई के कारण लोगों के पास साधन नहीं थे । रूपये होने पर भी लोगों को सरकारी मदद बिना अन्न नहीं मिल सकता था । अगर कहीं दूर अन्न मिलता भी तो सरकारी आज्ञा और मदद बिना वह बंगाल पहुंचाया नहीं जा सकता; क्योंकि रेल-स्टीमर इत्यादि यातायात के सभी साधनों पर नियंत्रण था । इसलिए इच्छा रहते भी जितनी मदद की जरूरत थी उतनी लोग न पहुंचा सके । इसके अलावा यह विपत्ति बहुत दूर में फैली हुई थी और बहुत दिनों तक टिकी रही । भूकम्प तो चन्द मिनटों का मामला था । उसके बाद केवल उसके असर को ही दूर करना था । यहां तो विपत्ति ही महीनों तक अपना काम करती रही । उसके ऊपर युद्ध-कालीन नियंत्रण अपनी करामात कर ही रहा था । भारतवर्ष एक है । इसका एक अकाट्य प्रमाण इस विपत्ति ने दिया । पर क्या इसका असर उन पर भी पड़ा जो इसे विभाजित करना चाहते हैं ?

: १५३ :

जेल में ग्रन्थ-लेखन का काम

इस बार जेल में मैंने कुछ लिखा भी। यों तो १९३० में भी मैंने कुछ लिखने का प्रयत्न किया था, पर वह पूरा न हो सका था--पीछे जो कुछ लिखा भी था वह खो गया। मैंने पहले से पाकिस्तान-सम्बन्धी कुछ अध्ययन किया था। वहां जाकर विचार हुआ कि इस विषय का विशेष रूप से अध्ययन करूं। कुछ ऐसी पुस्तकें, जो पाकिस्तान के समर्थन में लिखी गई थीं, मंगाई गईं। उनके पढ़ने के बाद विचार हुआ कि इस बात को देखना चाहिए कि जिस आधार पर यह मांग पेश की जाती है वह कहां-तक ठीक है। इसके बाद यह विचार हुआ कि यह भी देखना जरूरी है कि 'मुस्लिम लीग' पाकिस्तान किसे कहती है--उसकी मांग यदि कोई मान लेना चाहे तो उसे क्या देना होगा और मुस्लिम लीग को क्या मिलेगा-क्या पाकिस्तान अपने पांवों पर खड़ा हो सकेगा? अन्त में मैंने सोचा कि इस विषय पर कुछ लिखने की गुंजाइश है--यद्यपि इसका पता नहीं था कि हम लोग कब जेल के बाहर जा सकेंगे और जो कुछ मैं लिखूंगा वह कभी छपेगा या नहीं, तो भी अपने विचारों को साफ-साफ ऐसे रूप में लिपिबद्ध कर देना, जो दूसरों की समझ में आ जाय, ठीक जंचा। मैंने निश्चय किया कि कुछ लिखूं। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि यदि इस सम्बन्ध की सभी बातें देश के सामने--विशेषकर मुसलमानों के सामने--आ जायं तो जिस तरह विशेष अध्ययन के बाद उसके चलने में मुझे, शक हो गया है, उसी तरह दूसरे भी इसे अव्यवहार्य समझ लेंगे। इसलिए मैंने निश्चय किया कि उन्हीं बातों को कलमबन्द करूं, जिनसे यह अव्यवहार्य्यता मालूम हो जाय। पाकिस्तान को अव्यावहारिक सिद्ध करनेवाला वह भाग लिख जाने के बाद इसके आधार के सम्बन्ध में भी लिखना उचित जान पड़ा, अर्थात् भारत में हिन्दू-मुसलमान दो-दो राष्ट्र हैं, इसलिए उसका विभाजन करके दो स्वतंत्र देश और राष्ट्र स्थापित कर देना चाहिए। इस तरह, जैसे-जैसे लिखता गया, पुस्तक का आकार बढ़ता गया। काम बहुत तेजी से नहीं हो रहा था। एक तो स्वास्थ्य ऐसा नहीं था कि बहुत परिश्रम कर सकूं। जब बीमार पड़ जाता तो महीनों

न कुछ पढ़ पाता और न लिख पाता । जब अच्छा रहता तो पढ़ता और लिखता । कुछ जल्दी करने की जरूरत भी नहीं जान पड़ती थी, क्योंकि इसकी आशा तो थी नहीं कि जेल में रहते-रहते कोई पुस्तक प्रकाशित करने का इजाजत मिलेगी, और अभी छूटने का कोई करीना भी नहीं नज़र आता था । इसलिए आहिस्ता-आहिस्ता थोड़ा-थोड़ा करके लिखा ।

इसी बीच कोई साथी जेल से रिहा होकर बाहर निकले । उन्होंने किसी समाचारपत्र वाले से कह दिया कि मैं पाकिस्तान के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिख रहा हूं । यह बात प्रकाशित हो गई । सरकारी कर्मचारी कभी-कभी जेल में आया करते हैं । कमिश्नर आये । उन्होंने पूछा कि मेरी पुस्तक कहां-तक लिखी जा चुकी है । मैंने कहा कि करीब-करीब पूरी हो चुकी है । उन्होंने उसे देखना चाहा । मैंने हस्तलिखित बहियां उनके हाथ में दे दीं । एक तो मैं कुछ महीन छोटे अक्षरों में लिखने का आदी हूं, दूसरे--कागज की कमी के कारण, पन्ने के दोनों ओर लिखा था । चूंकि पुस्तक थोड़ा-थोड़ा करके लिखी गई थी--जहां कोई नई बात सामने आ गई अथवा किसी कोई पुस्तक से मालूम हो गई, उसे यथास्थान चस्पां कर देता; इस तरह जहां थोड़ी भी जगह छोड़ी गई थी, वह भी बिलकुल भर गई थी और कहीं-कहीं तो पढ़े जाने की सुविधा के लिए दूसरे रंग की रोशनाई से भी काम लेना पड़ा था--इसलिए किसी भी दूसरे के लिए हस्तलिखित पुस्तक पढ़ना काफी मुश्किल था । कमिश्नर ने पूछा कि क्या पुस्तक छपवाने का इरादा है । मैंने उत्तर दिया कि अगर सरकार इजाजत देगी तो छपाई जायगी ! इसपर उन्होंने कहा कि पुस्तक बगैर देखे सरकार इजाजत नहीं देगी--जैसी हस्तलिखित पुस्तक की हालत है वैसी हालत में उसे सरकार का देख सकना भी कठिन है--सरकार तो टाइप की हुई प्रति ही देख सकेगी । इसपर मैंने कहा कि टाइप कराने का साधन तो मेरे पास नहीं है; पर यदि सरकार इसकी सुविधा देगी तो टाइप करा लूंगा ।

इस बातचीत के बाद मैंने सरकार को लिखा कि टाइप कराने के लिए मुझे सुविधा दी जाय और इसके लिए तीन तरीकों में सरकार जो चाहे अख्तियार करे । पहला तरीका यह होगा कि मेरे सहायक श्री चक्रधरशरण को टाइप करने का मौका दे जो मेरे अक्षरों से खूब परिचित हैं । वह उस समय तक रिहा हो चुके थे । इसलिए वह जेल के अन्दर तो आ नहीं सकते थे, न उनसे मेरी मुलाकात हो सकती थी, न

जबतक सरकार मंजूरी देगी तबतक पुस्तक जेल के बाहर भेजी जा सकेगी था। इसलिए उनको जेलर के दफ्तर में बैठकर टाइप करना होगा और हस्तलिखित तथा टाइप की हुई प्रति को जेलर के पास ही रख छोड़ना होगा। दूसरा तरीका यह हो सकता है कि सरकार अपने किसी कर्मचारी को इस काम के लिए नियुक्त कर दे और इसका जो खर्च होगा वह मैं दूंगा। तीसरा तरीका यह हो सकता है कि अगर कोई टाइप करना जाननेवाला कैदी हो तो उसे बांकीपुर-जेल में बुला दिया जाय और वह टाइप कर दे। सोचने के बाद मुझे स्मरण हो आया कि कांग्रेसी कार्यकर्ता जमशेदपुर-लेबर-यूनियन के मंत्री श्री माइकेल जौन टाइप करना जानते हैं--वह आन्दोलन के कारण इस समय दूसरी बार गिरफ्तार होकर और सजा पाकर हजारीबाग-जेल में हैं। मैंने लिखा कि यदि वह बांकीपुर बुला दिये जायं तो वह इस काम को कर सकेंगे। मैंने इसे ही सबसे अधिक सुविधाजनक बताया; क्योंकि जैसा घना और बारीक लिखा गया था वैसा पढ़ने में टाइप करनेवाले को काफी दिक्कत होगी, उसको बार-बार मुझसे पूछना पड़ेगा। इसलिए यदि वह मेरे नजदीक रहे तो सुविधा होगी। इसके अलावा एक सुविधा यह भी होगी कि गवर्नमेण्ट की मंजूरी के पहले बाहर के किसी आदमी को पुस्तक देखने का मौका नहीं मिलेगा।

सरकार ने मेरी बात मान ली और श्री जौन को बांकीपुर-जेल में भेज दिया। उन्होंने बहुत परिश्रम करके, जहांतक मैं लिख चुका था, टाइप कर दिया। इत्तफाक से यह काम सन् १९४५ ई० में तारीख १४ जून की सन्ध्या को समाप्त हुआ। उसी दिन, रात को, हम लोगों को मालूम हो गया कि मैं कल पन्द्रह जून को ही सबेरे छोड़ दिया जाऊंगा। अब यह प्रश्न हुआ कि हस्तलिखित और टाइप की हुई प्रतियों का क्या होगा ? क्या दोनों मेरे साथ बाहर आने पायंगी या सरकार उनको देख लेने के बाद ही बाहर जाने की इजाजत देगी ? सुपरिण्टेण्डेण्ट, बिना सरकारी आज्ञा के बाहर ले जाने की इजाजत, अपनी जवाबदेही पर नहीं देना चाहते थे। पर सरकार से पूछने पर उन्होंने जाने देने की आज्ञा दे दी। इस तरह, जब मैं बाहर निकला, तैयार पुस्तक के साथ निकला।

ऊपर मैं कह चुका हूं कि १९४४ के मार्च से नवम्बर तक मैं प्रायः अकेला ही बांकीपुर-जेल में था, केवल वाल्मीकि ही मेरे साथ था। जब जांच-कमिटी के लोग अक्तूबर में आये तो उनको यह बात मालूम हुई कि मैं अकेला ही हूं। उन्होंने सरकार

के पास लिखा कि एक साथी मेरे पास रखना उचित होगा। नाम पूछने पर मैंने कई मित्रों के नाम बताये। सरकार ने श्री फूलनप्रसाद वर्मा को भेज दिया। वह भी १९४५ के आरम्भ में रिहा हो गये। उसके बाद श्री मणीन्द्रकुमार घोष को हजारीबाग से बांकीपुर मेरे साथ रहने के लिए भेजा। वह एक बड़े परिश्रमी और विचारशील सज्जन हैं। आंकड़ों से डरते नहीं हैं। मेरी पुस्तक देखकर उनकी इच्छा हुई कि वह हस्तलिखित प्रति पढ़े। मैंने उसे पढ़ने को दिया। साथ ही, यह बेगार उनपर लाद दिया कि वह आंकड़ों को जांच जायं, ताकि अगर कहीं कोई भूल रह गई हो तो वह दुरूस्त हो जाय। बहुत परिश्रम करके उन्होंने इस काम को पूरा किया। पुस्तक पढ़ते-पढ़ते उनको ऐसा जंचा कि एक कमी रह गई है--मैंने पुस्तक में यह नहीं दिखलाया है कि हिन्दू-मुस्लिम समस्या किस तरह जटिल होती गई है और किस तरह वह यहांतक पहुंच गई कि मुस्लिम लीग को उसे सुलझाने का एकमात्र उपाय देश का विभाजन ही सूझ रहा है।

मैं पहले कह चुका हूं कि जेल से मेरे छूटने के दिन ही टाइप करने का काम समाप्त हुआ था। जब टाइप हो रहा था तो मुझे कुछ नया लिखने का समय नहीं मिलता था; क्योंकि जो टाइप होता जाता था, उसे एक बार देख लेना जरूरी मालूम होता था। टाइप करने के समय में भी कुछ नया जोड़ता ही जाता था। श्री जौन को भी अक्सर मुझसे कुछ-न-कुछ पूछते ही रहना पड़ता था। इसलिए मैं वहां पुस्तक का एक भाग और लिखकर मनीबाबू की बात को पूरा न कर सका, पर उसे भूला नहीं। जेल से बाहर निकलने के बाद जब १९४५ के अगस्त में स्वास्थ्य सुधारने के लिए पिलानी (राजपूताना) गया तब उस भाग को लिखकर पूरा किया। श्री चक्रधरशरण ने टाइप किया। पिलानी से बम्बई जाते हुए, रेल में, उसका अधिकांश देखकर, मथुराबाबू की मदद से, प्रेस के लिए तैयार कर सका। बम्बई पहुंचने तक प्रायः पुस्तक प्रेस के लिए तैयार हो गई। वहीं उसका नामकरण हुआ--'इण्डिया डिवाइडेड' (**India Divided**)। छपने के लिए पुस्तक प्रेस में दे दी गई। १९४६ की जनवरी के आरम्भ में ही पुस्तक छपकर प्रकाशित हुई। एक महीने के अन्दर ही पहले संस्करण की सभी प्रतियां बिक गईं। तीन चार महीनों में दूसरी बार वह छपी और बिकी।

जेल में मैंने एक चीज और लिखी। जब मैं १९४० में स्वास्थ्य-सुधार के लिए सीकर (जयपुर-राज्य) गया था तो मैंने एक दिन अपने संस्मरण लिखने के विचार किया और लिखना भी आरम्भ कर दिया। किसी से यह बात कही नहीं। मथुराबाबू को भी, जो दिन-रात साथ रहते थे, इसका पता कुछ दिनों तक नहीं लगा कि मैं कुछ लिख रहा हूं। मेरी आदत है कि सवेरे चार-साढ़े चार बजे जाग जाया करता हूं। उसी समय उठकर प्रतिदिन कुछ-न-कुछ लिख देता और दूसरों के जागने के पहले ही लिखना खत्म कर देता। वहां थोड़ा ही लिखा जा सका। वहां से लौटने पर फिर समय ही न मिला। दो बरसों के बाद जब जेल में कुछ तबीयत सुधरी तो साथ के लोगों ने आग्रह किया कि मैं उसे पूरा कर दूं। मैंने कहांतक लिखा था, यह भी ठीक याद न था। हस्तलिखित प्रति को घर से जेल में मंगाना अच्छा नहीं मालूम हुआ; क्योंकि बिना सी० आई० डी० के पढ़े कोई चीज मुझे मिल नहीं सकती थी और मालूम नहीं कि पढ़ने के बाद भी सरकार उसे अन्दर लाने की इजाजत देती या नहीं। इसलिए मैंने अन्दाज से ही वहां से आगे की बातें लिखना आरम्भ कर दिया, जहांतक मैं समझता था कि सीकर में लिख चुका हूं। आहिस्ता-आहिस्ता वह भी बहुत-कुछ लिखा जा चुका। समाप्त भी शायद हो जाता, पर पीछे 'इण्डिया डिवाइडेड' में ही सारा समय लगने लगा। अतः संस्मरण को रख छोड़ा।

कभी-कभी दिल में यह विचार भी उठता कि इस संस्मरण की जरूरत या उपयोगिता ही क्या है। मैंने जो कुछ किया है या पाया है वह दूसरों के साये में रहकर ही--पहले अपने भाई के और पीछे महात्मा गांधीजी के। मेरी कोई ऐसी हस्ती नहीं कि मेरा हाल दूसरों के लिए जानना जरूरी हो अथवा उससे दूसरे कुछ सीख सकें। हां, मैं सार्वजनिक कामों में, विशेषकर कांग्रेस-सम्बन्धी कामों में, लगा रहा हूं। यदि उनके सम्बन्ध में अपने संस्मरण लिख दूं तो शायद लोगों को कुछ बातें मालूम हो जायं। पर इतिहास की दृष्टि से इस संस्मरण का कुछ मूल्य नहीं; क्योंकि मैंने इतने लम्बे सार्वजनिक जीवन में बहुत-कुछ लिखा नहीं है। अगर कुछ लिखा भी है तो उसकी प्रतिलिपि अपने पास सुरक्षित नहीं रखी। और लोगों ने सार्वजनिक घटनाओं के सम्बन्ध की सामयिक सामग्री जमा कराई है, मैंने वह भी नहीं किया है। कुछ लोगों के महत्त्वपूर्ण पत्र-व्यवहार दूसरों के साथ हुए हैं। मैंने स्वभाव से ही ऐसा कुछ नहीं

किया है। और यदि कुछ किया भी हो तो उसकी भी प्रतियां मेरे पास नहीं है। कुछ लोग रोजनामचा लिखा करते हैं, जिसमें सभी घटनाओं का प्रतिदिन उल्लेख हुआ करता है। मैंने यह अभ्यास ही नहीं किया कि रोजनामचा लिखा करूं। इसलिए अपनी स्मरण-शक्ति के सिवा संस्मरण लिखने का कोई दूसरा साधन भी मेरे पास नहीं था। इतिहास की दृष्टि से, केवल स्मरण-शक्ति पर निर्भर संस्मरण की भी, कोई विशेष प्रामाणिकता नहीं हो सकती है। इन्हीं कारणों से कभी-कभी यह विचार उठता कि मेरा संस्मरण लिखना केवल अहम्मन्यता है, इससे दूसरों को कोई लाभ नहीं पहुंच सकता। तो भी, जब एक बार काम शुरू कर दिया तो उसे पूरा कर देना ही ठीक जंचा; प्रकाशित करने और न करने की बात पीछे देखी जायगी।

इस प्रकार, रामगढ़-कांग्रेस के समय तक के संस्मरण मैं जेल में लिख सका। एक प्रकार से यह संस्मरण है; क्योंकि इसमें केवल उन्हीं बातों का उल्लेख है, जो लिखते समय स्मृति में आ गई। इसलिए बहुत सम्भव है कि बहुतेरी महत्त्वपूर्ण बातों और घटनाओं का जिक्र ही न हो--कहीं-कहीं देश-काल के निर्देश में भी भूल हो--कुछ बातों को जो गलत असर दिल पर रह गया है, वही इसमें आ गया हो। पर एक बात मैं कह सकता हूं--जान-बूझकर कोई गलत बात नहीं लिखी गई है। मित्रों का अनुरोध है कि यह संस्मरण प्रकाशित किया ही जाय। उन्होंने दूसरों को इसे दिखलाया। जो ऐसी चीजों के परखने के अधिकारी हैं, उनकी भी राय हुई कि उसे प्रकाशित करना ही चाहिए--विशेषकर इसलिए कि मैंने इसे हिन्दी में लिखा है। इसीलिए बाकी हिस्सा, जेल से बाहर निकलने के बाद, १९४६ के जुलाई-अगस्त में, पिलानी में बैठकर लिख रहा हूं।

: १५४ :

मेरी रिहाई और कुछ दुःखद मौतें

जेल में रहते हुए ही एक और भयंकर एवं दुःखद विपत्ति आई। यह बिहार पर ही आई। मलेरिया का प्रकोप १९४४ में बहुत जोरों से हुआ। बहुतेरे लोग मरने लगे। अखबारों में इसकी खबर छपने लगी। इत्तफाक से श्रीबाबू, अनुग्रहबाबू और दूसरे प्रमुख कांग्रेसी लोग इस समय तक रिहा हो चुके थे। उन्होंने जनता की मदद का काम शुरू किया। डाक्टरों ने डाक्टर टी० एन० बनर्जी की अध्यक्षता में अपनी कमिटी बनाकर सेवा-कार्य आरम्भ किया। भूकम्प के समय के कुछ रूपये बच गये थे, जिन्हें इस प्रकार की विपत्तियों के समय जनता की सेवा के लिए एक ट्रस्ट बनाकर रख छोड़ा था। जब कहीं बाढ़ वगैरह आती तो थोड़ा-बहुत सहायतार्थ उसमें में खर्च होता था। यह खर्च कुछ ज्यादा नहीं होता था। जो रूपये थे, उनके ब्याज से ही यह काम हो जाया करता था। रूपयों का बहुत अंश चर्खा-संघ को कर्ज दे दिया गया था। उसीसे समय पर ब्याज के रूपये आ जाते, जो बैंक में पड़े रहते और समय-समय पर खर्च किये जाते। १९४२ के अगस्त में चर्खा-संघ का काम बिहार में सरकार ने एक प्रकार से बन्द कर दिया था। बैंक में मेरे नाम के सभी खाते जब्त थे, जिनमें एक खाता सहायता-कोष का भी था। मलेरिया का हाल पढ़कर मैंने सरकार को लिखा की जब्त रूपयों को सहायतार्थ खर्च करने की इजाजत दी जाय, और पहली रकम मैंने डाक्टरों की कमिटी को देने के लिए मांगी। सरकार ने इसे मंजूर कर लिया। रूपये उनको दे दिये गये। पीछे अनुग्रहबाबू ने जब सहायता-समिति का निर्माण किया तो उनको भी रूपये देने की इजाजत सरकार ने दी। अन्त में तो जो भी ट्रस्ट का पावना चर्खा-संघ के जिम्मे था, सरकार ने सहायता-कार्य के लिए चर्खा-संघ के जब्त रूपयों में से सब रकम दे दी। पर उतना सब खर्च नहीं हुआ। रूपयों का अधिकांश अब भी जमा है। मुझे इससे सन्तोष हुआ कि इस बार बंगाल के अकाल के समय की तरह सरकार ने जेल के अन्दर से कुछ सहायता पहुंचाने की इच्छा को विफल नहीं होने दिया।

इसी सिलसिले में 'इण्डियन नेशन' ने यह लिखना शुरू किया कि सहायता-कार्य को संगठित रूप से चलाने के लिए यह आवश्यक है कि मैं रिहा कर दिया जाऊं। उसने मेरी रिहाई पर बहुत जोर दिया। जहां-तहां से जनता की ओर से भी ऐसी आवाज उठने लगी। मुझे यह बात अच्छी न लगी। मैं राजनैतिक कारण से जेल में लाया गया था। जबतक उसका कुछ निपटारा न हो जाय और हमारे सभी साथियों के छोड़े जाने का रास्ता साफ न हो जाय, मैं इस तरह मलेरिया-पीड़ित लोगों की सहायता के बहाने छूटना नहीं चाहता था। मैं यह भी समझता था कि जो लोग बाहर हैं--जिनमें श्रीबाबू, अनुग्रहबाबू, मथुराबाबू प्रभृति हैं--सब काम संभाल सकते हैं, मेरी कोई खास जरूरत भी नहीं है। मुझे ऐसा भी लगा कि कहीं सरकार यह न समझ ले कि यह आन्दोलन मेरे छूटने के लिए ही एक बहाना ढूंढ़कर किया जा रहा है और यह मेरी अनुमति से अथवा कम-से-कम मेरे मित्रों की अनुमति से किया जा रहा है। मैंने सरकार को एक पत्र लिख दिया कि यह आन्दोलन मेरी दृष्टि में अनावश्यक है और मैं इस तरह छूटना नहीं चाहता हूं। पर जब मैं बाहर निकला तो मालूम हुआ कि उस समय गवर्नर मुझे छोड़ देने का विचार कर रहे थे। किन्तु, गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया, जिसके हुक्म से ही वर्किंग कमिटी के लोग नजरबन्द रखे गये थे, शायद वर्किंग कमिटी के सदस्यों को अभी छोड़ना नहीं चाहती थी। यह भी मालूम हुआ कि गवर्नर ने कुछ लोगों से कहा भी कि मैं खुद नहीं चाहता कि छोड़ दिया जाऊं तो छूटने का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है। जो हो, उस समय अर्थात् १९४४ की बरसात में, छूटने की जो बात थी वह पूरी नहीं हुई। मैं निश्चिन्त अपना काम करता रहा। इस तरह, समय कटते कुछ देर न लगी। १९४५ में १५ जून को मैं छोड़ दिया गया।

इस बार गिरफ्तारी के समय ही हम समझ चुके थे कि जेल-यात्रा लम्बी होगी। उसके लिए अपने चित्त को तैयार कर लिया था। जैसे-जैसे आन्दोलन बढ़ा और लम्बी-लम्बी सजाएं लोगों को दी जाने लगीं तो यह धारणा और भी पुष्ट हो गई। हर बार जेल-यात्रा में कुछ लोग जेलों में मर भी जाते हैं। इस बार भी ऐसे लोगों की संख्या काफी रही। यह जानकर हमको विशेष दुःख हुआ कि रांची-जिले के टाना भगत लोगों में बहुतेरे जेल में मरे। इनके अलावा और लोग भी काफी मरे। पर जेल के अन्दर मारे-जानेवाले लोगों की संख्या कहीं ज्यादा थी। जिन लोगों ने इस प्रकार देशहित के लिए अपने प्राणों को निछावर किया, उनमें बहुत कम ऐसे

थे, जिनको मैं जानता था। इसका विशेष कारण यह था कि मुख्य कांग्रेसी कार्यकर्ता गिरफ्तार करके जेलों में रख दिये गये। जो बाहर रह गये, वे बहुत ख्याति पाये हुए लोग नहीं थे। इनके अलावा इस लहर में बहुतेरे नये लोग आये थे, जो पहले कभी कांग्रेस में काम तो नहीं करते थे, पर इसे स्वराज्य के लिए गांधीजी की अन्तिम लड़ाई समझकर आ जुटे थे। यह तो मैंने अपने सूबे के बारे में कहा। सूबे के बाहर कुछ ऐसे प्रमुख व्यक्तियों की मृत्यु हुई, जिनका स्थान कभी भरा नहीं जा सकता। इनमें सबसे पहले, गिरफ्तारी के चन्द दिनों के अन्दर ही मरनेवाले श्री महादेवभाई देसाई थे। वह गांधीजी के साथ ही गिरफ्तार होकर आगाखां के महल (पूना) में उनके साथ ही रखे गये थे। वहां अचानक एक दिन हृदयगति रूक जाने से वह चल बसे। इसका असर पूज्य महात्माजी के दिल पर बहुत ही भारी पड़ा, क्योंकि वह उनके दाहिने हाथ थे। जबसे महात्माजी की सेवा में आये थे, तबसे उन्होंने अपने जीवन को गांधीजी की शिक्षा और सिद्धांतों के अनुसार ढालने का सतत प्रयत्न किया था। इसमें बहुत सफलता भी प्राप्त की थी। साथ ही उनकी लिखने की शैली भी अद्भुत थी। उसे भी उन्होंने गांधीजी की शैली से मिला लिया था। परिश्रम इतना ज्यादा कर सकते थे कि शायद दो-तीन आदमी मिलकर भी उनके बराबर काम नहीं कर सकते थे। काम भी सब प्रकार के। कपड़े और कमोड साफ करना, नाजुक-से-नाजुक बातों को लेकर दूत का काम करना और सुन्दर-से-सुन्दर लेखों के लिखने का काम भी, उनके लिए सब बराबर था। सबकुछ समान सहूलियत और तेजी के साथ खुशी-खुशी कर लिया करते थे। स्वभाव के इतने सरल और सहृदय थे कि शायद ही कभी किसी से उनका कोई झगड़ा हुआ हो। हमारा उनसे परिचय पहले-पहल चम्पारन में हुआ था जब महात्माजी ने उनको, उनकी पत्नी श्रीमती दुर्गाबहन के साथ ही, वहां अपनी खोली हुई एक पाठशाला में काम करने के लिए भेजा था। जो प्रेम और सद्भाव उस समय पैदा हुआ वह बराबर बना रहा। उनकी इस प्रकार अचानक मृत्यु से मुझे भी काफी चोट लगी।

दूसरी मृत्यु श्री कस्तूरबा गांधी की थी, जो १६४४ की फरवरी में हुई। वह भी आगाखा-महल में महात्माजी के साथ थीं। बहुत दिनों तक बीमार थीं। अन्त में चल बसीं। गांधीजी की सहधर्मिणी होने का उनको सौभाग्य उनके जीवन के अन्तिम दिन

तक बना रहा। गांधीजी की गोद में ही उनका महाप्रस्थान हुआ। वैसी सौभाग्यवती दूसरी कौन हो सकती है? उनको सभी लोग 'बा' कहा करते थे। वह सचमुच सबकी 'बा' (माता) थीं। वह पहले-पहल १९१७ में चम्पारन पहुंची। उसी समय हम लोगों का उनके साथ पहला परिचय हुआ। वहां उनके पहुंचने के पहले हम लोगों के लिए भोजन बनाने के वास्ते एक ब्राह्मण रखा गया था। उनके पहुंचते ही गांधीजी की आज्ञा हुई कि अब ब्राह्मण की जरूरत नहीं रही, वही सबके लिए रसोई बना लेंगी। हम लोगों की संख्या भी काफी थी। शायद चौदह-पंद्रह आदमी थे। हम लोगों को यह अनुचित मालूम हुआ कि हम सबकी रसोई का भार उनपर डाला जाय। हमको ऐसा भी मालूम हुआ कि जैसी दुबली-पतली और कमजोर वह दीखती थीं, उनसे यह काम हो भी न सकेगा। पर गांधीजी हमारे उज्र को सुननेवाले कब थे। उन्होंने कहा कि चिन्ता न करो, वह सब कर सकती हैं, उनको ऐसे काम का अभ्यास है। दूसरे लोग उनकी कुछ मदद कर दिया करते थे--खासकर भारी कड़ाही और बटलोई के उतारने इत्यादि में। पर बहुत प्रेम से वह सबके लिए रसोई बनातीं। उस समय जिस प्रेम से उन्होंने हमको पहले-पहल खिलाया था, उसी प्रेम के साथ जबतक वह जीती रहीं और जब-जब हमसे भेंट हुई, उन्होंने खिलाया। साबरमती के सत्याग्रह-आश्रम में हो, चाहे मगनवाड़ी या सेवाग्राम के आश्रम में हो, अथवा कहीं सफर में ही क्यों न हो, बापू के पास पहुंचने पर, विशेषकर अगर साथ रहने का सुअवसर मिला तो, माता का स्नेह उनसे हमेशा मिलता। उनके अन्तिम दिनों की दुःखद कहानी गांधीजी के उन पत्रों में पढ़ी जा सकती है, जो उन्होंने सरकार को लिखे थे। वे पत्र श्री बनमाला पारिख तथा डाक्टर सुशीला नैयर द्वारा लिखित 'हमारी बा' नामक पुस्तिका में छपे हैं। वह हिन्दू महिला की आदर्श मूर्ति, भारतीय संस्कृति की प्रतीक और प्रेम की पुतली थीं। वह सचमुच 'बा' थी और 'बा' बनी रहीं। एक बार गांधीजी ने मुझसे कहा--"बा को बा कहने में मुझे भी बड़ा आनन्द आता है।" पति-पत्नी का जो प्रचलित सम्बन्ध हुआ करता है, वह तो दोनों ने स्वेच्छापूर्वक छोड़ दिया था। वह सचमुच उनकी भी 'बा' बन गई थीं।

हम लोगों की जेल में ही मौलाना अबुलकलाम आजाद के पत्नी-वियोग का समाचार मिला था। यह जानकर और भी दुःख हुआ था कि अन्त काल में मौलाना

से उनकी मुलाकात नहीं होने दी गई। वह पर्दे में रहा करती थीं, इसलिए उनसे हमारी मुलाकात नहीं थीं; पर मौलाना के दुःख का मैं अनुमान कर सकता था। श्री रंजीत पंडित (आर० एस० पंडित) से तो काफी घनिष्ठता थी और उनकी मृत्यु भी एक बहुत दुःखद घटना हुई। जेलों में सरकार की नीति कुछ ऐसी हुआ करती है कि उनका समझना कठिन हो जाता है। नियम था कि केवल निकट के सम्बन्धियों के साथ ही पत्र-व्यवहार हो सकता है। मेरे पास कभी-कभी ऐसे लोगों के पत्र आ जाया करते जिनसे किसी प्रकार का मेरा ताल्लुक नहीं था। पर मौलाना के पास और बहन विजयलक्ष्मी के पास मेरे संवेदना के तार नहीं जा सके!

अपने सूबे के मित्रों में सबसे दुःखद वियोग श्री रामदयालुसिंह का हुआ। पढ़ने के समय ही उनसे परिचय हुआ था, जो पीछे घनिष्ठ प्रेम के रूप में परिणत हो गया। उनका स्वास्थ्य कई बरसों से खराब रहा करता था। इसी कारण से वह आन्दोलन में भाग लेने योग्य न थे। सरकार ने भी यही समझकर उनको गिरफ्तार नहीं किया था। हमारी रिहाई के कुछ महीने पहले ही उनकी भी मृत्यु हो गई। जो मित्रता प्रायः पैंतीस-छत्तीस बरसों से चली आ रही थी, उसका ऐहिक धागा टूट गया! हमारे प्रान्त की वह एक विभूति थे। उनका स्थान भी खाली रहेगा। कांग्रेस के बाहर, पर जिनसे हमारा बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था, ऐसे दो सज्जन थे, जिनसे भी फिर मुलाकात नहीं हुई। एक तो वैद्यराज ब्रजबिहारी चौबे थे, जो आयुर्वेद के अगाध विद्वान थे और जिनकी कृपा हमपर बराबर बनी रही थी। मैं कह चुका हूं कि मेरी गिरफ्तारी के समय वही मेरी चिकित्सा कर रहे थे और जिस समय गिरफ्तारी हुई, उस समय वह सदाकत-आश्रम पहुंच गये थे। मुझे यह कभी नहीं भूल सकता कि मेरी गिरफ्तारी से वह कितने दुःखी और चिन्तित हुए। उन्होंने औषधि आदि साथ रख दी और अपनी सरलता में यह भी कहा कि अगर आप बुरा न मानें तो मैं गवर्नर से जाकर मिलूं और आपके बारे में कहूं। वह यह जानते थे कि गिरफ्तारी का हुक्म गवर्नर ने ही दिया था और गवर्नर को भी उसे स्थगित रखने का अधिकार नहीं था। दूसरे सर गणेशदत्तसिंह थे। उनसे कलकत्ते में, जब मैं पढ़ता था, पहले-पहल परिचय हुआ था। वहां वह वकालत करते थे। उसी समय से उन्होंने मेरे ऊपर जो प्रेम दरसाना आरम्भ किया, वह अन्त तक ज्यों-का-त्यों बना रहा। पीछे राजनैतिक बातों

को लेकर उनसे काफी मतभेद हुआ और मैंने कई कार्रवाइयों का काफी बड़ी टीका की, पर उस प्रेम में कोई अन्तर नहीं आया । अन्त में वह बहुत बीमार रहा करते थे । मैं जबतक बाहर था तबतक जब कभी पटने में रहने का मौका होता, जाकर उनसे बराबर भेंट किया करता था । वह बहुत दिनों तक मंत्री रहे । उसमें उनकी कार्रवाइयों की ठीक टिप्पणी करनेवाले बहुत हुए, जिनमें एक मैं भी था । पर मैंने यह देखा कि चाहे वह मिनिस्टर रहे तब, चाहे अपने अन्तिम दिनों में जब वह सारे काम-धाम से अलग हो गये थे, वह इसकी चिन्ता हमेशा किया करते थे कि हमारे ऐसे सार्वजनिक कामों में लगे लोगों का स्वास्थ्य ठीक रहे । इसलिए हम लोगों का जेल जाना वह पसन्द नहीं करते थे । जब कभी उन्हें जेल से किसी की बीमारी की खबर मिलती तो वह और भी चिन्तिन हो जाया करते । अपने मंत्रिमण्डल के समय में अपने वेतन का बहुत बड़ा अंश सार्वजनिक काम में लगा देने का निश्चय उन्होंने शुरू में ही कर लिया । इस तरह से कई लाख की रकम ट्रस्ट में दे डाली । यह हमारे लिए एक नमूना था, जिसका अनुसरण और किसी ने नहीं किया । कांग्रेसी मंत्रियों का तो वेतन ही पांच सौ रू० कर दिया गया, जिसमें से बचाने की गुंजाइश कम थी, पर तो भी मैं जानता हूं कि कुछ ऐसे हैं, जिन्होंने पैसे-पैसे का हिसाब रखा और उसमें से बचाकर सार्वजनिक कामों में लगाया । तीसरे साथी, जिनसे फिर भेंट होनेवाली नहीं थी, श्री निरसूनारायणसिंह थे । इनसे भी पढ़ने के समय से ही परिचय था । सार्वजनिक प्रश्नों पर बहुत मतभेद रहते हुए भी प्रेम बराबर बना रहा । अपने घर में सबसे बड़ी भतीजी गिरिजा भी मेरे जेल में रहते-रहते ही चली गई । उसका भी स्वास्थ्य बहुत दिनों से खराब ही रहा करता था । मेरे होश होने के बाद मेरे घर में वही सबसे पहले पैदा हुई थी । मैंने उसी को सबसे पहले बचपन में खेलाया था । वह प्रेम बहुत रखती थी । जेल में आकर मिली थी । पर कौन जानता था कि वह आखिरी मुलाकात थी । वह बड़ी भाग्यशालिनी थी । पति और पुत्रों को अपने सामने देखते-देखते चली गई । अपने घर में गृहिणी रहकर उसने जिस प्रकार सब लोगों को सुख पहुंचाया था, उसे सभी याद रखेंगे ।

: १५५ :

अस्थायी केन्द्रीय सरकार की स्थापना से पूर्व

जेल में समय काटना बहुतों के लिए बड़ा कठिन काम हो जाया करता है। इसलिए अगर कुछ दिलबहलाव का सामान मिल जाय तो उसे बहुत लोग पसंद करते हैं। हजारीबाग-जेल में हमारे साथियों ने एक बिल्ली के बच्चे को पाल रखा था। वह लोगों से इतना हिल-मिल गया था कि निःसंकोच चारपाई पर जाकर सो रहा करता था। खाने के समय कहीं से घूमता-फिरता आकर गोद में बैठ जाता और जो-कुछ दिया जाता उसे खाता। लिखने-पढ़ने के समय हाथ में से कलम-पेन्सिल छीन लेने में भी न हिचकता। अपने जन्म से ही वह कभी जेल के बाहर नहीं गया था। हमेशा बड़े और जवान लोगों की संगति में ही रहा। उसने आदमी के बच्चे को कभी देखा ही न था। हजारीबाग जेल में हमारे साथियों में से एक आदमी बीमार पड़े। उनके बाल-बच्चे उनसे मिलने आये। उन छोटे बच्चों को देखते ही वह इतना डर गया कि किसी की गोद में से, जहां वह उस समय बैठा था, कूदकर भागा और कहीं दूर जाकर छिप रहा। उन बच्चों के चले जाने के बाद भी कुछ देर तक वापस नहीं आया!

इस बार बांकीपुर-जेल में कुछ मामूली कैदियों ने मैना चिड़िया के बच्चे को पाल रखा था। वह आदमियों के हाथ पर, कंधे पर, सिर पर निडरता से बैठ जाता। कैदी काम करते रहते, वह वहां डटा रहता। उसका हम लोगों से भी परिचय हो गया। वह हमारे कमरे में भी आने लगा। कुछ दिनों के बाद अधिकतर वहीं रहने लगा। चर्खा चलाने के समय सामने बैठ जाता और निकलते हुए धागे को चोंच से मारकर तोड़ देता। रात को मसहरी पर बैठ जाता और वहीं रात-भर रहता। सवेरे उड़कर बाहर जाता और फिर घूम-घामकर वापस आ जाता। एक दिन उड़कर गया और फिर नहीं लौटा। न मालूम कहीं उड़ता चला गया अथवा किसी चिड़िया या दूसरे जानवर ने उसे मार डाला। दूसरी मैना भी लोगों ने पालने का प्रयत्न किया, पर हमने प्रोत्साहन नहीं दिया। इस तरह लिखते-पढ़ते चर्खा कातते, बीमार पड़ते, लोगों के

और आन्दोलन के समाचार सुनते-सुनाते और पुराणों की कथा सुनते-जिनमें वाल्मीकीय रामायण, अध्यात्म रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, चैतन्यचरित इत्यादि ग्रन्थ मुख्य थे--समय बीतते कुछ मालूम न हुआ। प्रायः तीन बरस के बाद १५ जून को हम छूटे।

हम लोगों के रिहा होने के कुछ दिनों पहले से ही इस बात की बहुत चर्चा चल रही थी कि अब वर्किंग कमिटी के सदस्य छोड़ दिये जायंगे। अहमदनगर-किले में जो लोग थे, उनमें से कुछ लोग दूसरे स्थानों में भेजे जा चुके थे। ऐसा मालूम होता था कि यह सब छोड़ने की तैयारी है। इस बात की घोषणा हुई कि १४-६-४५ की संध्या को लार्ड वावेल अपनी कोई नई योजना देश के सामने रखेंगे--यह योजना रेडियो द्वारा सारे देश को उसी रात में बतलाई जायगी। ऐसा ही हुआ। योजना के साथ-साथ यह भी उन्होंने रेडियो पर कहा कि वर्किंग कमिटी के सदस्यों को छोड़ने की आज्ञा दे दी गई है, तारीख १५ जून के सवेरे सब छोड़े जायंगे। रेडियो की बात सुनकर कुछ लोग तो उसी रात को हमारे छोड़े जाने की आशा से जेल के दरवाजे पर आये। अधिकारियों के यह कहने पर भी कि उस रात को छोड़ने का हुक्म नहीं है, वे कुछ देर तक वहां ठहरे रहे। १५ जून को एक भारी भीड़ जमा हो गई। जेल में इतने दिनों तक रहने के बाद वहां से निकलने के समय मन में कितनी भावनाएं उठने लगीं। हम लोग जिस दिन जेल में गये थे उसी दिन से मामूली कैदियों को हम लोगों के साथ, न मालूम किसा कारण से, प्रेम-सा हो गया--हमारे ऊपर उनका बहुत विश्वास हो गया। वे हम लोगों को जेल के अधिकारियों से भी बड़ा समझते थे। जब कोई कष्ट होता तो हजार पहरा रहने पर भी किसी-न-किसी तरह हमारे पास पहुंच जाते। हमारे हजार समझाने पर कि हमारा कोई अधिकार नहीं है, वे यह बात मानने को तैयार नहीं होते। मैं इतना और भी कहूंगा कि जबतक हम उस जेल में रहे, उनके साथ अधिकारियों का बर्ताव भी अच्छा ही रहा। यों तो जेलों में कैदियों के साथ बर्ताव सख्ती का--प्रेम का नहीं, सजा देने का--सुधारने का नहीं, हुआ करता है। पर उनमें जो पुराने थे वे कहा भी करते थे कि बहुत-से अधिकारियों का रूख बहुत-कुछ बदल गया था। इत्तफाक से उस जेल के अधिकारी भी अधिकांश अच्छे ही रहे। वे उन लोगों में से नहीं थे, जो सारे सूबे में अपनी करतूतों के कारण बदनाम

हो चुके थे। इस तरह, यद्यपि मामूली कैदियों के साथ हमारा कोई सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं था तो भी एक अजीब सम्बन्ध हो गया था। हमारे छूटने की खबर से न मालूम उनके दिल में खुशी हुई या तकलीफ। मैं इतना कह सकता हूं कि बहुतेरों को आशा जरूर हुई कि वे भी कुछ दिनों में छूट जायंगे। हमने इस तरह की आशा उन्हें किसी तरह से दिलाई नहीं थी। पर उनमें से बहुतेरों को हमारे छूटने के बाद निराशा हुई होगी।

जेल से बाहर निकलते ही हमको बम्बई जाना पड़ा, क्योंकि वहां वर्किंग कमिटी की बैठक हुई, जिसमें वावेल-योजना पर विचार करना था। बम्बई में बातें थोड़ी ही हुईं और शिमले से महात्माजी तथा सभापति मौलाना आजाद की बुलाइट आ गई। उनको वहां जाना पड़ा। मैं पटना लौट आया। पर यहां दो-चार दिन भी ठहर न सका; क्योंकि शिमले से मेरा बुलाइट आ गई--वहीं वर्किंग कमिटी की बैठक होगी। शिमला में प्रायः दो सप्ताह तक रहना पड़ा। हमारी ओर से लार्ड वावेल के साथ कभी मौलाना, कभी पंडित जवाहरलाल और कभी महात्मा गांधी की बातें होतीं। मुस्लिम लीग की ओर से मिस्टर जिन्ना, और उनके साथी, वाइसराय से बातें करते। पर मुख्य काम तो वहां एक कान्फ्रेन्स का था, जिसमें कांग्रेस और मुस्लिम लीग के सभापतियों के अलावा सूबों के प्रधान मंत्री बुलाये गये थे। जहां मंत्रिमण्डल टूट गया था--जैसा उन सभी सूबों में हुआ था, जहां कांग्रेसी मंत्रिमण्डल था--वहां के टूटने के समय के प्रधान मंत्री बुलाये गये थे।

योजना पर और दूसरी बातों पर विचार किया गया। ऐसा मालूम हुआ कि वाइसराय की कार्यकारिणी-समिति को एक प्रकार से राष्ट्रीय सरकार का रूप दिया जायगा। कांग्रेस की ओर से हमने योजना को एक प्रकार से मंजूर कर लिया। नौबत कांग्रेस की ओर से नाम देने की आई। कान्फ्रेन्स में ग्यारह सूबों में से सात के प्रधान मंत्री कांग्रेसी थे। बाकी चार में से तीन की ओर से लीगी प्रधान मंत्री थे, जिनमें एक आसाम का था। आसाम में कांग्रेस के हट जाने के बाद मंत्रिमण्डल में हेरफेर हुआ था। वहां उस समय यद्यपि लीगी मंत्रिमण्डल नहीं था तथापि प्रधान मंत्री सर सदाउल्ला लीगी थे। चौथे सूबा--पंजाब के प्रधान मंत्री सर खिजिर हयात खां लीग से झगड़कर अलग हो गये थे। योजना की एक शर्त यह थी कि वाइसराय की

कौन्सिल में हिन्दूओं और मुसलमानों की संख्या बराबर होगी--इनके अलावा दूसरे लोग भी कुछ होंगे, जिनमें हरिजनों के प्रतिनिधि भी रहेंगे। योजना ने एक तरह से हरिजनों के प्रतिनिधियों को हिन्दू-प्रतिनिधियों से अलग मान लिया था और जो समानता हिन्दू-मुस्लिम प्रतिनिधित्व में दी गई थी वह अ-हरिजन अथवा सवर्ण हिन्दुओं के साथ ही थी।

अभीतक लड़ाई चल रही थी। देश की स्थिति कुछ अच्छी नहीं थी। हमने सोचा कि इस योजना को मानकर शायद हम उस स्थिति के सुधारने को कुछ सफल हो सकेंगे। हमने यह कहा कि कौन्सिल, वाइसराय और कमाण्डर-इन-चीफ के अलावा, पन्द्रह आदमियों को ही, जिनमें पांच सवर्ण हिन्दू, पांच मुसलमान, दो हरिजन और तीन सिख, क्रिस्तान, पारसी इत्यादि दूसरी जातियों के प्रतिनिधि हों। हमने पन्द्रह नाम भी दिये, जिनमें और नामों के अलावा पांच मुसलमानों के भी नाम दिये। इनमें तीन मुस्लिम लीगी लोगों के अलावा एक कांग्रेसी मुसलमान और एक लीग के बाहर के दूसरे मुसलमान के नाम थे। यह भी कह दिया गया कि लीग यदि अपनी ओर से दूसरे नाम देना चाहे तो वह दे सकती है, उसमें हमको उज्र नहीं होगा। मिस्टर जिन्ना ने यह दावा पेश किया कि मुसलमानों के सभी प्रतिनिधियों को नामजद करने का लीग को ही अधिकार होना चाहिए, वह दूसरे किसी मुसलमान का होना पसन्द नहीं करेंगे! लार्ड वावेल को इस कठिनाई का सामना करना पड़ा। वह कांग्रेसी मुसलमान को तो छोड़ सकते थे, पर सर खिजिर हयात की पार्टी को नहीं। वह समझते थे कि सर खिजिर हयात ने और उनके पहले उस दल के नेता सर सिकन्दर हयात ने लड़ाई में बहुत मदद की थी, इसलिए उनको छोड़ना पंजाब के मुसलमानों को गवर्नमेण्ट के विरूद्ध कर देना होगा। हम लोगों को यह तो मालूम नहीं हुआ कि वाइसराय किन लोगों को रखना चाहते थे, पर हम समझते थे कि कांग्रेस और लीग की ओर से वे ही लिये जायंगे जिनके नाम ये संस्थाएं देंगी, चाहे दूसरों में कुछ हेरफेर भी हो। ऐसा अनुमान किया जाता था कि उन्होंने मुसलमानों में चार नाम लीग के और एक मुसलमान पंजाब की युनियनिस्ट पार्टी का लेना चाहा था। पर मिस्टर जिन्ना इसपर राजी नहीं हुए। कान्फ्रेन्स टूट गई!

कान्फ्रेन्स के टूटने पर मिस्टर जिन्ना ने एक बयान दिया, जिसमें उन्होंने लीग

के दावे बताये। उन कारणों को भी बताया, जिनसे लीग को योजना नामंजूर करनी पड़ी थी। मुख्य कारण यह था कि एकमात्र लीग ही मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था है और उसी को मुसलमान मेम्बरों के नामजद करने का पूरा अधिकार होना चाहिए--चूंकि लार्ड वावेल इस बात को नहीं मानते, इसलिए योजना मंजूर नहीं कि जा सकती। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात उन्होंने यह कही कि उस प्रस्ताव के अनुसार पन्द्रह गैर-सरकारी आदमियों की कौन्सिल में केवल पांच ही मुसलमान होनेवाले थे--उनके विरूद्ध कांग्रेसी हिन्दू लोग होते, और दूसरी अल्पसंख्यक जातियों के जो प्रतिनिधि होते वे हमेशा हिन्दुओं के साथ ही जाते, क्योंकि दूसरी जातियों के विचार और मनोभाव कांग्रेस के ही साथ थे--इस तरह कौन्सिल में मुसलमान केवल एक-तिहाई की अल्पसंख्या में रह जाते, जो लीग मंजूर नहीं कर सकती। मार्के की बातें इसमें दो थीं--एक तो यह कि आजतक सभी अल्पसंख्यक जातियों के संरक्षण का भार मिस्टर जिन्ना हमेशा अपने ऊपर लिया करते थे--कहा करते थे कि कांग्रेस केवल सवर्ण हिन्दुओं का प्रतिनिधित्व करती है, बाकी सबकी रक्षा लीग ही कर सकती है, और करती है। ऐसा कहने का कोई कारण नहीं था; क्योंकि बार-बार अन्य अल्पसंख्यक जातियों ने अपनी संस्थाओं में लीग और भारत-विभाजन तथा पाकिस्तान की बात का स्पष्ट रीति से विरोध किया था और कांग्रेस के साथ अपनी सहानुभूति बतलाई थी। पर वह इस तरह की बातें कहते आ रहे थे। इन अल्पसंख्यकों में वह हरिजनों को भी गिनाया करते थे और अपने को उनका हिमायती बतलाया करते थे। अब, जब कौन्सिल में सवर्ण हिन्दुओं की संख्या केवल एक-तिहाई, मुसलमानों की भी एक-तिहाई, और बाकी तिहाई में दो हरिजन तथा दूसरे अल्पसंख्यकों के रखने की बात हुई तो भण्डाफोड़ हो गया। उन्होंने साफ-साफ कह दिया कि दूसरे सब-के-सब कांग्रेस और हिन्दुओं के साथ हैं और रहेंगे, वह केवल उन्हीं मुसलमानों पर जिनको लीग ने अर्थात् उन्होंने स्वयं नामजद किया हो। दूसरी बात यह साफ हो गई कि वह इसपर राजी नहीं थे कि कौन्सिल में हिन्दुओं और मुसलमानों में समानता हो। वह यह चाहते थे कि एक ओर केवल मुसलमान और दूसरी ओर बहुसंख्यक सवर्ण हिन्दू--हरिजन तथा दूसरी सभी अल्पसंख्यक जातियां--हों, और मुसलमानों की समानता उन सभी जातियों के साथ हो! इसके साथ यह भी स्पष्ट था कि मुसलमानों का अर्थ सभी मुसलमान नहीं, केवल वही मुसलमान जो लीग में शरीक थे!

लीगी मुसलमानों की उस समय यह हालत थी कि उन दो बड़े-बड़े सूबों में, जहां उनकी आबादी ज्यादा है--पंजाब और बंगाल में, लीगी मंत्रिमण्डल टूट गया था। पंजाब में लीग से अलग होकर, मिस्टर जिन्ना से झगड़कर, सर खिजिर हयात ने अलग मंत्रिमण्डल बना लिया था--वह भी तब, जब भूतपूर्व प्रधान मंत्री सर सिकन्दर हयात खां के लड़के सरदार शौकत हयात खां लीग के साथ हो गये थे और सर खिजिर का जोरों से विरोध कर रहे थे। बंगाल का मंत्रिमण्डल हारकर टूट गया था। यदि उस समय विपक्षी दल को मौका दिया जाता, जैसा देना न्याय और वैधानिक नियम के अनुसार आवश्यक था, तो वहां गैरलीगी मंत्रिमण्डल बन गया होता। पर गवर्नर ने उस समय की नीति के अनुसार लोग को नाखुश करना नहीं चाहा--जब लीगी मंत्रिमण्डल बनाने का किसी को मौका न देकर, दफा ९३ के अनुसार, अधिकार अपने हाथों में कर लिया था। सीमाप्रान्त में कांग्रेसी मंत्रिमण्डल के हट जाने के कुछ दिनों बाद लीगी मंत्रिमण्डल बन गया था, पर वह अपनी कार्रवाइयों से इतना बदनाम हो गया कि हम लोगों के छूटने के कुछ दिन पहले ही कांग्रसी मेम्बरों ने असेम्बली में भाग लेकर उसे तोड़ डाला था, जिससे वहां कांग्रेसी मंत्रिमण्डल कायम हो चुका था। एक सिन्ध ही ऐसा सूबा था, जहां लीगी मंत्रिमण्डल काम कर रहा था, यद्यपि वहां भी राष्ट्रीय मुसलमानों के नेता अल्लाहबख्श को प्रधान मंत्री के पद से हटाने में गवर्नर का सिर्फ हाथ ही नहीं था, बल्कि उसके लिए गवर्नर को बहुत-से अवैधानिक काम भी करने पड़े थे और पीछे अल्लाहबख्श कत्ल भी कर डाले गये थे!

यह तो उन सूबों का हाल हुआ जहां मुसलमानों की आबादी ज्यादा है। वह तो पाकिस्तान में आसाम को भी मिलाते हैं, पर वहां मुसलमानों की आबादी एक-तिहाई से ज्यादा नहीं है। कांग्रेसी मंत्रिमण्डल के हट जाने के कुछ दिनों बाद वहां भी लीग के सरदार सर सादुल्लाह ने मंत्रिमण्डल बनाया था; पर वह भी इतना बदनाम हो चुका था कि वह अन्तिम सांस गिन रहा था। ऐसी अवस्था में यह दावा करना कि लीग ही एकमात्र मुसलमानों की प्रतिनिधि जमायत है और उसके ही नामजद किये लोग कौन्सिल में लिये जा सकते हैं तथा उनकी संख्या भी इतनी होनी चाहिए कि वे अकेले ही सवर्ण हिन्दू एवं हरिजन और तमाम दूसरी अल्पसंख्यक जातियों के प्रतिनिधियों का अपनी संख्या के कारण विरोध कर सकें, केवल मुस्लिम लीग और मि० जिन्ना के लिए ही सम्भव था! इस दावे पर शिमला-कान्फ्रेन्स को असफल बतलाकर तोड़ देना

ब्रिटिश सरकार के लिए ही सम्भव था ! याद रखना चाहिए कि अभी लड़ाई चल रही थी और इंगलैंड में प्रधान मंत्री के पद पर मिस्टर चर्चिल और भारत-मंत्री के पद पर मिस्टर एमरी विराजमान थे !

शिमला-कान्फ्रेन्स के सम्बन्ध में एक-दो बातें और कह देना आवश्यक जान पड़ता है। ऊपर कहा जा चुका है कि कांग्रेस की वर्किंग कमिटी ने अपनी ओर से कौन्सिल के लिए नाम भी दे दिये थे। इनमें श्री भूलाभाई देसाई का नाम नहीं था। वह उस समय तक केन्द्रीय असेम्बली में कांग्रेस-दल के नेता थे। उन्होंने उस हैसियत से काम भी बहुत अच्छा किया था। जब से, बारदोली-सत्याग्रह के समय (१९२८) में, वह कांग्रेस में खुलकर आये थे तबसे जब-जब मौका हुआ, वह जेल जाने से हिचके नहीं थे। रूपये-पैसे से भी बराबर मदद करते आये थे। अपनी योग्यता और अपने त्याग के कारण वह बराबर वर्किंग कमिटी के भी मेम्बर रहे थे। कांग्रेस की ओर से उनका न लिया जाना उनके लिए बहुत ही दुःखदायी हुआ। यद्यपि नाम प्रकाशित नहीं किये गये थे तथापि बहुतों को यह बात मालूम हो गई थी कि उनका नाम नहीं दिया गया था। दूसरे लोगों को भी, विशेषकर केन्द्रीय असेम्बली के मेम्बरों को, यह बात बहुत खटकी थी। उनका नाम न दिये जाने के कारण यहां लिखना जरूरी नहीं है और न उचित ही है। मैं इस फैसले से सन्तुष्ट नहीं था, दुःखी था। पर कोई दूसरा रास्ता नहीं दीखा। श्री भूलाभाई का मेरे साथ बहुत प्रेम था। मुझपर वह विश्वास भी रखते थे, जिसको उन्होंने कई मित्रों से कहा था। कुछ दिनों के बाद, जब वह उस रोग से ग्रस्त थे, जिसके कारण उनकी मृत्यु हुई, मैं उनसे बम्बई में मिला। उन्होंने अपना दुःख बहुत दर्द-भरे शब्दों में कहा भी। यहां इतना कह देना ठीक होगा कि इसके थोड़े ही दिनों के बाद, जब आजाद-हिन्द-फौज के मेजर-जनरल शाहनवाज और उनके साथियों पर दिल्ली के लाल किले में राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया और श्री भूलाभाई को उनकी ओर से पैरवी करने को कहा गया तो, उन्होंने खुशी से इस मुश्किल काम को अपने हाथों में ले लिया--यद्यपि उनका स्वास्थ्य उन दिनों कुछ अच्छा नहीं था। इसी मुकदमे का घोर परिश्रम एक तरह से उनकी मृत्यु का कारण हुआ; क्योंकि वह मुकदमे का काम किसी तरह खत्म करके बीमार पड़ गये और फिर चारपाई से उठ नहीं पाये। मुकदमे में उनकी प्रखर योग्यता

और अद्भुत शक्ति का पता लगा। उनकी बहस संसार के बड़े-से-बड़े मुकदमों के बड़े-से-बड़े वकीलों की बहस का मुकाबला करती रहेगी। चारपाई पर पड़े श्री भूलाभाई को एक सन्तोष रहा--उनके सभी मवक्किल छूट गये। उनके मरने से भारत की एक विभूति चली गई। उनका स्थान लेनेवाला दूसरा कोई अभी नहीं दीखता। मुझे उनके अन्तिम दिन हमेशा स्मरण रहेंगे--विशेषकर वह करूणापूर्ण भावना कि इतनी सेवा के बाद भी वर्किंग कमिटी ने उनको कौन्सिल के योग्य नहीं समझा! उनके मन में पद की लालसा नहीं थी। यदि कांग्रेस में वह न आये होते तो उसे वह अनायास ही बहुत पहले पा सकते थे। उनको दुःख इस बात का था कि हमने उनको अयोग्य समझा!

दूसरी बात जिसका जिक्र करना चाहता हूं, निजी है। वर्किंग कमिटी के सामने नामों के चुनाव का जब प्रश्न आया तो उन नामों में मेरा नाम भी आया। मैं इसके लिए बिलकुल तैयार नहीं था। एक तो मेरा स्वास्थ्य ऐसा नहीं कि बहुत परिश्रम कर सकूं। दूसरे, इस प्रकार के काम का मुझे बिलकुल तजरबा नहीं था। ऐसे कठिन समय में इस भार को लेना ठीक नहीं जंचता था। तीसरे, मैं समझता था कि बाहर रहकर जैसे मैं उस समय तक काम करता आ रहा था वैसे ही काम करते रहना मेरे स्वभाव के अनुकूल था। चौथे, दिल में कुछ नैतिक दुविधा भी मालूम होती थी। मैंने अपनी कठिनाइयों को पूज्य महात्माजी के पास अकेले में जाकर कहा। उन्होंने राय दी कि मुझे मंजूर कर लेना चाहिए। इसके बाद मेरे लिए कुछ कहने को नहीं रह गया। पर चित्त में शान्ति पूरी नहीं आई। इसलिए जब शिमले में बातचीत खत्म हो गई तो मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मेरे सिर से भी एक बोझ टल गया--देशहित की दृष्टि से यद्यपि उसका टूटना अच्छा नहीं लगा तथापि व्यक्तिगत विचार से अच्छा ही हुआ जान पड़ा।

: १५६ :

पीड़ित राजबन्दियों के लिए अर्थ-संग्रह

शिमले से मैं दिल्ली आया। वहां बीमार पड़ गया। तबीयत बम्बई जाने पर ही कुछ खराब हो गई थी। इसीलिए बम्बई से जल्द पटने चला आया था। पर पटने में भी ठहर न सका। वहां से शिमला जाना पड़ा। शिमले में किसी तरह काम खत्म किया। डाक्टर बिधानचन्द्र राय ने, जो शिमला गये हुए थे, सलाह दी कि किसी सूखे स्थान में कुछ दिनों के लिए चला जाना अच्छा होगा। मैं इस विचार से दिल्ली में ठहर गया कि वहां से पिलानी जाकर कुछ दिन आराम कर लूं। पर दिल्ली में अधिक बीमार हो जाने के कारण प्रायः दो सप्ताहों तक ठहर जाना पड़ा। वहां से अगस्त की पहली या दूसरी तारीख को पिलानी गया, जहां एक महीने से कुछ अधिक ठहरा। पिलानी में, बिड़ला-बन्धुओं की ओर से, हमारे ठहरने का अच्छा प्रबन्ध था। वहां बहन और मृत्युन्जय की मां के साथ बहुत आराम से रहा। मुझे आराम पहुंचाने का प्रबन्ध बिड़ला-बन्धुओं के मैनेजर श्री हरिश्चन्द्र ने बड़ी खूबी से किया था। बिड़ला-कालेज के प्रिन्सिपल श्री शुकदेव पाण्डेयजी तथा दूसरे अध्यापकों और आचार्यों की संगति भी बहुत अच्छी रही।

जो पुस्तक (डिवाइडेड इण्डिया) जेल में लिखी गई थी, उसका एक भाग लिखना बाकी रह गया था, यह कहा जा चुका है। पिलानी में यह काम कर लिया गया। वहां बिड़ला-कालेज के पुस्तकालय में पुस्तकों का अच्छा संग्रह है। मेरे काम की प्रायः सभी पुस्तकें वहां मिल गईं। इसलिए इसे पूरा करने में सुविधा हुई। परिश्रम तो करना पड़ा, पर काम हो गया। वहीं से वर्किंग कमिटी और अखिल भारतीय कमिटी की बैठक के लिए बम्बई जाना पड़ा। बम्बई की हवा मेरे लिए इतनी हानिकर होती है कि वहां पहुंचते ही फिर खांसी-दमा हो गया। आखिर वर्किंग कमिटी बम्बई में न होकर पूना में हुई। हम लोग पूना चले गये। वहां भी बराबर पानी बरसता रहा। इसलिए स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहा। बम्बई में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक के बाद मैं पटना वापस आ गया। बम्बई में किताब (डिवाइडेड इण्डिया) के छपने और

प्रकाशित करने का प्रबन्ध कर लिया। ऐसा मालूम हुआ कि दो-तीन महीनों के अन्दर पुस्तक प्रकाशित हो जायगी। शिमले में ही हम लोग समझ गये थे कि प्रान्तीय और केन्द्रीय असेम्बलियों का नया चुनाव शीघ्र ही होगा। मैं समझता था कि चुनावों के पहले ही पुस्तक प्रकाशित हो जाय तो अच्छा होगा। केन्द्रीय असेम्बली के चुनाव के पहले तो नहीं, पर प्रान्तीय चुनावों के पहले वह प्रकाशित भी हो गई।

जब मैं जेल में था, मुझे उन लोगों की चिन्ता हुई जिनको १६४२ के आन्दोलन के कारण बहुत प्रकार के कष्ट उठाने पड़े थे--विशेषकर उनके सम्बन्ध में भी चिन्ता होती, जिनपर संगीन मुकदमे चल रहे थे जिसके फलस्वरूप फांसी अथवा लम्बी कैद की सजा मिलती थी। मुकदमों की पैरवी में खर्च पड़ता था और जो लोग बाहर थे, उन्होंने यथासाध्य इसका प्रबन्ध किया था। दूसरे लोगों में बहुतेरे ऐसे थे, जिनके कैद हो जाने पर उनके परिवार को बहुत कष्ट सहना पड़ रहा था। बहुतेरे तो ऐसा स्वास्थ्य लेकर छूटते कि उनकी चिकित्सा करना आवश्यक होता। बाहर निकलने पर जब कुछ और बातें मालूम हुईं तो मैंने तय कर लिया कि इसके सहायतार्थ कुछ रूपया जमा करना चाहिए। पर बम्बई और शिमले की बातों तथा उसके बाद बीमार पड़ जाने के कारण बम्बई से लौटने तक मैं कुछ विशेष नहीं कर पाया था। बम्बई में मैंने इस सम्बन्ध में कुछ मित्रों से बातें की थीं, पर वहां कुछ उत्साहवर्द्धक स्थिति नहीं था। वहां के लोगों ने इसके पहले बहुत पैसों से देश की मदद की थी। अब एक खास सूबे के लिए अलग चन्दा उगाना कठिन था। हां, यदि सारे देश के लिए कुछ किया जाता तो हो सकता पर केवल एक सूबे की बात लेकर मैं उनसे कैसे कुछ कह सकता था। दूसरे लोगों का ध्यान इस ओर अभी नहीं गया था। इसलिए मैंने सोच लिया कि पहले अपने सूबे में कुछ कर लिया जाय तो फिर बम्बई और कलकत्ते-जैसे बड़े स्थानों में प्रयत्न करूंगा।

मैंने पिलानी में ही पैसे जमा करने का काम शुरू कर दिया था। अगर यों कहा जाय कि अनायास ही शुरू हो गया तो ज्यादा ठीक होगा। वहां के कालेज के प्रिंसिपल श्री शुकदेव पाण्डेयजी तथा दूसरों से बातों-ही-बातों जिक्र आ गया था; मैंने कुछ मांगा नहीं था। पर ६ अगस्त (१६४५ ई०) को कालेज में एक सभा हुई, जिसमें ६ अगस्त के सम्बन्ध में कुछ कहने के लिए मुझे बुलाया गया। वहींपर कालेज के आचार्यों और विद्यार्थियों की ओर से एक हजार रूपये की थैली राजनैतिक पीड़ितों के सहायतार्थ मुझे

भेंट की गई। पिलानी से रवाना होने के पहले मैं शेखावाटी के कुछ स्थानों में गया, जहां के लोगों का बड़ा आग्रह था। चिड़ावा, सूर्यगढ़, फतहगढ़ इत्यादि कई स्थानों में गया। सभी स्थानों में थैलियां भेंट की गईं। इस तरह, वहां से चलने के पहले, पन्द्रह-सोलह हजार रूपये कोष में आ गये। पटना लौटकर मैंने सारे सूबे में दौरा करने का कार्यक्रम बनाया। पर अभी बरसात समाप्त नहीं हुई थी। मेरा स्वास्थ्य भी ठीक नहीं था। इसलिए निश्चय किया कि दस दिनों के लिए जीरादेई जाकर आराम करूं और फिर दशहरे के दिन से दौरे के लिए जीरादेई जाते समय कुछ ऐसा अनुभव हुआ कि जिससे मेरे दिल में रूपये जमा होने के सम्बन्ध में जो थोड़ा सन्देह था वह दूर हो गया।

गंगातट के पहलेजाघाट-स्टेशन पर स्टीमर से उतरकर मैं रेल पर जा रहा था। वहां लोगों की भीड़ लग गई थी। इस बात की सूचना लोगों को मिल गई कि मैं उसी गाड़ी से जीरादेई जा रहा हूं। इसलिए वहां के कांग्रेसी लोग जमा हो गये थे। मैंने बिना सोचे-विचार भीड़ देखकर लोगों से कह दिया कि मैं राजनैतिक पीड़ित कोष के लिए पैसा चाहता हूं, जिससे जो कुछ हो सके वह दे दे। पटना से ही सभी जिलों को खबर दे दी गई थी कि मैं दौरे पर इस काम के लिए निकलूंगा। हरेक जिले से एक निश्चित रकम मांगी गई थी जिससे कम उनको कोष के लिए नहीं देना था। पहलेजाघाट के कार्यकर्ताओं ने सोचा था कि इस अवसर पर ही कुछ जमा कर लेना चाहिए। इसलिए वे जिले के 'कोटा' में से अपना हिस्सा पूरा करने का प्रबन्ध कर रहे थे और कुछ जमा करके लाये भी थे। वह उन्होंने भेंट की। पर इसके अतिरिक्त उपस्थित जनता ने छोटी-छोटी रकमों से एक अच्छी रकम खड़ी कर दी। मैंने देखा कि लोगों में उत्साह अद्‌भुत है, इससे लाभ उठाना चाहिए। इसलिए हर स्टेशन पर मैंने रूपये जमा करने शुरू कर दिये। जीरादेई में लोगों ने स्वागत के लिए तैयारी की थी, क्योंकि तीन-चार बरसों के बाद मैं अपने गांव जा रहा था। वहां लोगों को यह भी मालूम था कि मैं पीड़ित-कोष के लिए रूपये भी जमा कर रहा हूं। अतः कुछ जमा करके थैली भी रखे हुए थे। इस प्रकार जीरादेई पहुंचते-पहुंचते लोगों ने एक अच्छी रकम भेंट कर दी। इससे मेरा उत्साह बहुत बढ़ गया। मैं समझ गया कि रूपये काफी मिल जायंगे।

जीरादेई में गया तो था आराम करने के लिए, पर बहुत आराम न कर

सका । बहुत लोग भेंट करने आते और उनपर जो कुछ बीता था, उसे कह सुनाते । वहां रहते-रहते मैंने कुछ आसपास के लोगों के ऐसे घरों को देखा जो १९४२ में सरकारी कर्मचारियों द्वारा जला दिये गये थे और ऐसे लोगों के परिवार से भेंट भी की, जो गोलियों के शिकार हुए थे । हमारे खानदान के पुराने सम्बन्धी नरेन्द्रपुर के बाबू कृष्णकुमारसिंहजी थे, जिनके भतीजे की मृत्यु पटना-सेक्रेटेरियट के गोलीकांड में हुई थी । जिस बेरहमी से घर जलाये गये थे, देखकर बहुत दुःख होता और इसका अन्दाजा मिलता कि तीन बरस पहले जब ये घटनाएं हुई थीं तब लोगों की क्या हालत हुई होगी । जीरादेई का भी एक आदमी गोली से मारा गया था । उसके परिवार के लोगों को सहायतार्थ कुछ दिया भी । जीरादेई रहते-रहते रूपये जमा करने का काम भी जारी रहा । जो लोग भेंट करने आते, उनमें बहुतेरे कोष के लिए कुछ दे जाते और विस्तारपूर्वक लोगों के कष्टों का हाल सुना जाते ।

एक और काम जीरादेई में हुआ । जबलपुर के श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्रजी ने १९४०-४१ में व्यक्तिगत सत्याग्रह के समय जेल में 'कृष्णायण' लिखना आरम्भ किया था । एक बार मुझे वर्धा से पटना लौटते समय कुछ घण्टों के लिए उनके साथ ठहरने का अवसर मिला था तो उन्होंने मेरे आग्रह से उसका कुछ अंश मुझे सुनाया था । मुझे वह बहुत पसन्द आया था । उसे उन्होंने १९४२-४५ की जेल-यात्रा में पूरा किया था और जेल से मेरे निकलने पर बम्बई में अखिल भारतीय कमिटी के समय कहा था कि चन्द रोज मेरे साथ रहकर उसे पढ़कर सुनाना चाहते हैं । मैंने उनको जीरादेई में बुला लिया । उनके भाई और वह स्वयं वहां आ गये थे । पुस्तक का कुछ अंश उन्होंने सुनाया था । मुझसे एक छोटी भूमिका लिखने का आग्रह किया, जो मैंने वहीं लिख दी । पुस्तक श्री तुलसीकृत रामायण की शैली पर दोहा और चौपाइयों में लिखी गई है । जिस तरह रामायण में श्री रामचन्द्र का चरित्र-चित्रण है उसी तरह इसमें श्रीकृष्ण की जीवनी और चरित्र का चित्रण है । पुस्तक बहुत ही हृदयग्राही और सुन्दर ढंग से लिखी गई है । सुनकर बहुत आनन्द आया । मिश्रजी का सत्संग बहुत अच्छा रहा ।

जीरादेई से मैं सीधे दौरे पर निकल गया । प्रायः छः-सात हफ्तों तक दौरा करता रहा । लोगों में उत्साह बहुत था । १९४२ के दमन का कुछ भी असर देखने में नहीं

आता था। मालूम होता था कि जैसे रबर की गेंद जितने जोर से पटकी जाती है, वह उतने ही जोर से ऊपर उठती है, वैसे ही दमन के कारण लोगों का जोश और भी ज्यादा हो गया है। सभाओं में रूपयों की वर्षा होती। जो-कुछ थैली के लिए लोग जमा करके पहले से रखते उसके अलावा सभाओं में भी अच्छी रकम जमा हो जाती। दौरा बहुत सख्त था, क्योंकि बहुत स्थानों में जाना था और सभी जगहों में भाषण करना पड़ता था। यद्यपि तबीयत ठीक हो गई थी तथापि कमजोरी अभी काफी थी। भाषणों में लोगों का उत्साह बढ़ाने के अलावा आनेवाले चुनावों के सम्बन्ध में भी मैं कुछ कह देता और फिर रूपयों के लिए अपील करता। जितना 'कोटा' निश्चित था, उससे कम किसी जिले ने नहीं दिया। अधिकांश ने 'कोटा' से कहीं अधिक रकम दी। हम लोगों ने सोचा था कि तीन लाख रूपये सूबे से जमा किये जायं और दो लाख रूपये बम्बई-कलकत्ता-जैसे बाहर के बड़े-बड़े स्थानों से। पर सूबे के अन्दर ही पांच लाख से अधिक रूपये आ गये। बाहर मांगने की जरूरत न रही। अभी दौरा पूरा नहीं हुआ था और मैं थक-सा गया। दो-तीन जिले अभी बाकी थे कि कटिहार में पहुंचकर मैं बहुत बीमार पड़ गया। न्युमोनिया जैसा कुछ हो गया। कई दिनों तक वहां ठहर जाना पड़ा। पटने से डाक्टर बनर्जी बुलाये गये। कुछ अच्छा होने पर वहां से स्पेशल ट्रेन द्वारा मैं पटना पहुंचाया गया; क्योंकि वहां से गाड़ियों का सिलसिला ऐसा था कि कहीं-न-कहीं रात गाड़ी में बितानी पड़ती और डाक्टर लोग इससे बचाना चाहते थे। पटने पहुंचकर भी मैं बहुत दिनों तक बीमार रहा। आहिस्ता-आहिस्ता अच्छा हुआ। इसी बीच कलकत्ते में वर्किंग कमिटी की बैठक होनेवाली थी। मैंने यात्राक्रम ऐसा बनाया था कि स्वास्थ्य यदि मेरा साथ दिये होता तो दौरा समाप्त करके मैं कलकत्ते पहुंच जाता, पर बीमार पड़ जाने के कारण न दौरा ही समाप्त कर सका और न कलकत्ते ही जा सका। जो जिले दौरे से वंचित रह गये थे, उनका दौरा कई महीनों के बाद किसी तरह कर सका; पर वह बात न रही जो उस समय थी। उस समय का उत्साह और जोश अद्भुत था।

: १५७ :

असेम्बली का चुनाव और कुछ पार्टियों के कारनामे

केन्द्रीय असेम्बली के लिए पहले चुनाव हुआ। यह जनवरी तक समाप्त हो गया। इसके बाद प्रान्तीय असेम्बली का चुनाव आया। केन्द्रीय असेम्बली के लिए बिहार में जितने गैर-मुस्लिम खड़े किये गये थे, आसानी से जीत गये, अधिकांश तो निर्विरोध चुने गये। एक जगह विरोध हुआ, पर वहां भी विरोधी की जमानत जब्त हुई। पर मुस्लिम जगहों के लिए कांग्रेस की ओर से खड़े उम्मीदवार हार गये, सब जगहें मुस्लिम लीग को मिल गईं। यह कैफियत केवल बिहार में ही नहीं रही, प्रायः देश-भर में ऐसा ही हुआ! गैर-मुस्लिम जगहों में कांग्रेसी और मुस्लिम जगहों में लीगी चुने गये।

अब प्रान्तीय चुनाव के लिए तैयारियां हुईं। इसमें भी मुस्लिम लीग के साथ मुकाबला हुआ। कांग्रेस तीन मुस्लिम जमायतों के साथ मिलकर लीग का मुकाबला बिहार में कर रही थी। ये तीन जमायतें थीं--जमीअत उलेमा, जमीअत मोमिन और इण्डिपेण्डेण्ट पार्टी। इनमें इण्डिपेण्डेण्ट पार्टी की कोई खास हैसियत नहीं थी और मोमिन लोगों का संगठन बहुत फैला हुआ था। उम्मीदवार चुनने में बहुत देर हो गई; क्योंकि कई जमायतों को साथ चलना था। तय हुआ कि कुछ जगहों के लिए कांग्रेसी, कुछ के लिए जमीबत उलेमा के और कुछ के लिए मोमिन उम्मीदवार खड़े किये जायं। सबसे ज्यादा जगहें मोमिनों की दी गईं। बहुत धूमधाम से मुकाबला हुआ। लीग की ओर से हर तरह की जोर-जबरदस्ती भी की गई। खर्च भी काफी किया गया। अन्त में नतीजा यह हुआ कि चालीस जगहों में से चौतीस लीग ने ले लीं, पांच मोमिनों को मिलीं और एक कांग्रेस को! जमीअत उलेमा का एक उम्मीदवार भी कामयाब नहीं हुआ। जिस जगह के बारे में यह कहा जाता था कि उस इलाके के सभी वोटर जमीअत उलेमा के उम्मीदवार के मुरीद थे वहां भी जमीअत उलेमा के उम्मीदवार हार गये। कांग्रेस को सबसे भारी धक्का यह लगा कि प्रोफेसर अब्दुलबारी हार गये। कांग्रेसी उम्मीदवारों में डाक्टर सैयद महमूद जीते।

गैर-मुस्लिम जगहों में और कहीं कोई विशेष विरोध नहीं हुआ। केवल छोटा नागपुर में--रांची और सिंहभूम जिलों में जोरदार विरोध हुआ। जमींदारी जगहों पर हमने किसी को खड़ा ही नहीं किया था। छोटा नागपुर के आदिम निवासियों के बीच कुछ दिनों से काम करती 'आदिवासी-महा-सभा' का मुख्य कार्यक्रम यह था कि छोटा नागपुर बिहार से अलहदा सूबा बना दिया जाय। इसके नेता श्री जयपालसिंह स्वयं रांची-जिले के खूंटी-इलाके से खड़े हुए। और-और जगहों में--सिंहभूम, रांची, संथाल-परगना इत्यादि में--इस सभा की ओर भी उम्मीदवार खड़े किये गये। कुछ जगहें अदिवासियों के लिए, विधान के अनुसार, सुरक्षित हैं। जो दूसरी गैर-मुस्लिम जगहें हैं, उनमें भी उनको खड़ा होने का अधिकार है। उन्होंने सुरक्षित जगहों के लिए, और कुछ आम जगहों के लिए भी, उम्मीदवार खड़े किये। इन्हीं जगहों में कड़ा विरोध हुआ। कहीं-कहीं आदिवासियों के अतिरिक्त, मुंगेर और शाहाबाद की कुछ जगहों से, और मजदूरों के लिए सुरक्षित स्थानों में भी, रेडिकल-डेमोक्राटिक-पार्टी (श्री एम० एन० राय की पार्टी) और कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से उम्मीदवार खड़े किये गये थे।

१९४२ के क्रान्तिकारी आन्दोलन के समय में श्री एम० एन० राय और उनकी पार्टी ने कांग्रेस की बड़ी निन्दा की थी। केवल इसी देश में उन्होंने उस आन्दोलन का विरोध नहीं किया था--विदेशों में भी, विशेषकर अमेरिका में। उनके आदमियों ने जाकर कांग्रेस को दबा देने और उसके संगठन को चूर-चूर कर देने की सलाह दी थी। सरकार को उनकी सलाह की जरूरत नहीं थी, वह खुद सबकुछ कर रही थी। पर उनके प्रचार से उसको अपना दमनचक्र चलाने में सहारा जरूर मिला। जेल में हम लोगों के रहते-रहते ही केन्द्रीय असेम्बली में एक प्रश्न के उत्तर में सरकार की ओर से कहा गया कि उस पार्टी को सरकार की ओर से तेरह हजार रूपये की मासिक मदद दी जा रही है। उस दल के लोगों में आपस में भी इस विषय में झगड़ा हो गया और एक दल ने इस खबर से लाभ उठाकर दूसरे को जनता की नजरों में गिराना चाहा। हम लोग जब बाहर थे तब ऐसी बातें सुना करते थे। उस दल के लोग बहुत खर्च करते भी देखे गये थे, पर निश्चयपूर्वक कोई कुछ कह नहीं सकता था। १९४२ के आन्दोलन के समय उन लोगों में कुछ मतभेद हो गया था। कुछ लोग आन्दोलन में शरीक होना पसन्द करते थे, पर श्री एम० एन० राय और दूसरे लोग

उनका जोरों से विरोध करना चाहते थे । जेल में हम लोगों को इसका पता लग गया था । यह भी मालूम हो गया था कि वह पार्टी सरकार के रूपये के काम कर रही है । असेम्बली में तो सरकार ने ही भण्डाफोड़ कर दिया । वही पार्टी को भारत का सच्चा प्रतिनिधि बताती थी और कांग्रेस को देश-विदेश में गालियां दिया करती थी ।

कम्युनिस्ट लोगों का भी हाल कुछ विचित्र रहा । लड़ाई आरम्भ होने के चन्द दिन पहले रूस और जर्मनी ने पोलैण्ड पर चढ़ाई कर दी और दूसरी ओर से उसके कुछ हिस्से पर रूस ने कब्जा कर लिया । इस प्रकार दोनों में बड़ी आवभगत हो गई । हिन्दुस्तान के कम्युनिस्ट लोग, जो अधिकतर रूस के इशारे पर ही काम किया करते हैं, आरम्भ में ब्रिटेन के खिलाफ ही बोलते-लिखते रहे, जिसके कारण उनकी संख्या गैर-कानूनी करार दे दी गई थी । और उनके प्रमुख व्यक्ति लुक-छिपकर काम कर रहे थे । जबतक रूस और जर्मनी के बीच लड़ाई नहीं छिड़ी, हिन्दुस्तान के कम्युनिस्ट लोग जर्मनी के हिमायती और ब्रिटिश के विरोधी बने रहे । जब रूस और जर्मनी में लड़ाई छिड़ गई तबसे उन्होंने अपना रूख बिलकुल बदल दिया । जैसे ही ब्रिटेन और रूस एक ओर होकर जर्मनी से लड़ने लगे, उन्होंने यह कहना शुरू कर दिया कि यह लड़ाई जनयुद्ध है और ब्रिटेन की मदद करना सबका फर्ज है । इस तरह कांग्रेस के आन्दोलन के प्रति उनका विरोध अनिवार्य हो गया । उन्होंने विरोध किया भी । इस कारण कांग्रेसी लोगों में--विशेषकर कांग्रेसी के अन्दर सोशलिस्ट पार्टी में--इन दोनों उक्त पार्टियों के विरूद्ध बहुत जबरदस्त भावना पैदा हो गई थी । जेल के अन्दर तो इसका कुछ पता चलता ही था, पर बाहर निकलने पर जब सब बातों का पूरा पता चलने लगा तो वह भावना और भी जबरदस्त हो गई ।

इन्हीं पार्टियों की ओर से कांग्रेस के विरूद्ध उम्मीदवार खड़े किये गये थे । उनके जीतने का तो कोई सिलसिला था ही नहीं, पर एक मुठभेड़ का मौका जरूर पैदा हो गया । कम्युनिस्टों के साथ मुठभेड़ हुई भी । मुझे इस बात का अफसोस रहा कि कांग्रेसी लोग उनके प्रहारों को अहिंसात्मक रीति से बरदाश्त नहीं कर सके, कम्युनिस्टों के एक नेता को बहुत पीट भी दिया । वातावरण बहुत दूषित हो गया । हमारे सिद्धान्त को भी बहुत धक्का पहुंचा । अन्त में दोनों दलों के लोग खूब हारे । बिहार में एक स्थान से भी उनका उम्मीदवार नहीं चुना गया । कई जगहों में तो उनकी जमानत भी जब्त हुई ।

आदिवासियों का विरोध भी हिंसा से खाली न रहा। जब मैं दौरे पर निकला तो रांची-जिले में कई आदमी मेरे सामने पेश किये गये, जिनको आदिवासी-सभा के लोगों ने खूब पीटा था। वे सभाओं में बड़ी तादाद में जमा होते और कांग्रेसी लोगों को मारते-पीटते। उनका विशेष ध्यान उन आदिवासियों पर होता, जो कांग्रेस की ओर से खड़े थे अथवा जो कांग्रेस की मदद कर रहे थे। ऐसे लोगों को उन्होंने बहुत पीटा। कुछ घायलों को तो बहुत समय तक अस्पताल में रहना पड़ा था। खूंटी-इलाके में उनकी धांधली बहुत ज्यादा थी। मैंने इन बातों की सूचना सरकार को दी, पर वहां के स्थानीय अफसरों का रूख कुछ ऐसा था कि सरकार ने इन बातों पर कुछ ध्यान नहीं दिया। एक स्थान पर पांच आदिवासी-सभा का गठबन्धन हो गया था। दोनों मिलकर काम कर रहे थे। आदिवासी-सभावाले भी 'पाकिस्तान-जिन्दाबाद' के नारे लगाया करते थे। मुस्लिम लीग के कुछ नेताओं ने पीछे इन पांच मृत्युओं की संख्या बढ़ाकर सौ-डेढ़ सौ बना दी और सबके लिए कांग्रेस को दोषी ठहराया। कांग्रेसी लोगों ने इससे बराबर इनकार किया।

चुनाव का नतीजा यह हुआ कि श्री जयपालसिंह स्वयं तो हार गये, पर उनके दल के तीन आदमी चुने गये--दो सिंहभूम जिले से और एक रांची-जिले से। सात सुरक्षित जगहों में से उनके दल को दो जगहें मिलीं--एक रांची में और एक सिंहभूम में तथा आम जगहों में से एक जगह सिंहभूम में। पांच सुरक्षित जगहें और दूसरी सभी जगहें, जहांपर उन्होंने मुकाबला किया, कांग्रेस के हाथ आईं। ईसाइयों के लिए जो सुरक्षित जगह है, उसमें भी एक क्रिस्तान आये, जो शायद उनके दल के थे अथवा उनके मददगार।

चुनाव-सम्बन्धी दौरे पर मैं निकला और अधिकांश जगहों में, जहां जाने का विचार था, गया। पर अन्तिम तीन-चार दिन दौरा न कर सका। फिर तबीयत कुछ ढीली पड़ गई। उसी समय जोरों से पानी भी बरसने लगा। इत्तफाक से इन्हीं दिनों मुंगेर-जिले में जाना था। वहां नहीं जा सका। पीड़ित-कोष के लिए दौरा करते समय भी मुंगेर पहुंचने के पहले ही बीमार पड़ जाने के कारण वहां नहीं पहुंच सका था। बहुत दिनों के बाद मुंगेर-जिले के अन्य स्थानों में तो जा सका, पर खास मुंगेर में अभी तक नहीं जा सका हूं। मेरे दौरे की विशेष जरूरत नहीं थी; क्योंकि जनता में बड़ा उत्साह था और कांग्रेस की जीत निश्चित थी। तो भी एक बार फिर से बहुत

स्थानों में जाना अच्छा ही रहा ।

चुनाव समाप्त हो जाने पर मंत्रिमण्डल बनना था । यद्यपि कांग्रेस की ओर से कोई बाजाब्ता निश्चय हुआ था कि कांग्रेस मंत्रिमण्डल बनाने में शरीक होगी, पर अब तो लड़ाई समाप्त हो चुकी थी । कांग्रेस ने लड़ाई के कारण ही मंत्रि-पद छोड़ा था । अब वह कारण नहीं रहा । देश की परिस्थिति भी ऐसी थी कि सभी लोग चाहते थे कि कांग्रेस फिर मंत्रि-पद-ग्रहण करे । इस तरह कांग्रेसी लोग तथा कांग्रेस के बाहर के लोग, सभी समझे बैठे थे कि कांग्रेसी मंत्रिमण्डल बनेगा ही । ऐसा ही हुआ भी । सीमा-प्रान्त, युक्तप्रान्त, बिहार, मध्यप्रान्त, आसाम, उड़ीसा, मद्रास और बम्बई में तो कांग्रेस का बहुमत था । इनमें मंत्रिमण्डल बनने में कोई सन्देह नहीं था । पंजाब में किसी एक दल का बहुमत नहीं था, पर लीग के अधिक मेम्बर चुने गये थे । वहां कांग्रेस, सिख और युनियनिस्ट पार्टी--तीनों मिलकर लीग से ज्यादा थे । इसलिए वहां इन तीनों की सम्मिलित पार्टी बन गई और मंत्रिमण्डल इनका ही बना, लीग का नहीं । सिन्ध में लीग और दूसरे दलों का प्रायः बराबरी का मुकाबला था । कहा जाता था कि लीग के साथ तीन अंगरेज मेम्बरों के मिल जाने पर भी दूसरों का एक या दो अधिक बहुमत था । पर सिन्ध के गवर्नर ने लीग को ही मंत्रिमण्डल बनाने का निमंत्रण दिया । वहां लीगी मंत्रिमण्डल बना । केवल एक बंगाल में ही यूरोपियनों के साथ मिलकर लीग का बहुमत था । वहां भी लीगी मंत्रिमण्डल बना । बाकी सभी सूबों में कांग्रेसी मंत्रिमण्डल बने । बिहार में पुराने चारों मंत्री आरम्भ में नियुक्त हुए । श्री जगनलाल चौधरी दस बरस की सजा पाकर जेल में थे, इसलिए चुनाव में खड़े नहीं हुए थे । श्रीबाबू, अनुग्रहबाबू और डाक्टर महमूद अपनी नियुक्ति होते ही उनको जेल से निकाल लाये और चौथी जगह पर उनको नियुक्त करा दिया । कुछ दिनों के बाद पांच मिनिस्टर और भी नियुक्त किये गये ।

: १५८ :

गो-सेवा-सम्बन्धी कार्य

महात्मा गांधी बहुत दिनों से गो-सेवा-सम्बन्धी अपने विचार प्रकाशित करते आ रहे हैं। साबरमती-आश्रम में और सेवाग्राम में भी गोशालाएं चलती आई हैं। सेठ जमनालाल बजाज की देख-रेख में, वर्धा के पास ही नालवाड़ी में, श्री राधाकृष्ण बजाज कई बरसों से गोशाला चला रहे हैं। पारनेरकरजी ने गांधीजी के विचारों के अनुसार गो-सेवा का विशेष अध्ययन और सक्रिय अनुभव प्राप्त किया। अपने मरने के कुछ दिन पूर्व सेठ जमनालालजी ने गो-सेवा को अपना एक मुख्य कार्यक्षेत्र बना लिया था। उन्होंने वर्धा में इसके लिए नालवाड़ी की गोशाला को केन्द्र बनाकर एक संस्था कायम कर ली थी। इसकी स्थापना के समय वहां एक सम्मेलन हुआ था, जिनमें विशेषज्ञ लोग दूर-दूर से आमन्त्रित होकर आये थे। मैं भी हाजिर था। मैं सब प्रवृत्तियों का कुछ-कुछ अध्ययन करता आया था। पर गो-सेवा पर मैंने विशेष ध्यान नहीं दिया था। मैं इसके महत्त्व और उपयोगिता को भली भांति समझ गया था; पर कोई सक्रिय अनुभव मैंने नहीं पाया था। श्री बालुंजर द्वारा संचालित नालवाड़ी के चर्मालय को भी जानता था। जब-तब वहां जाकर उसे देख आया करता था। गोशाला के साथ चर्मालय के सम्बन्ध को समझता भी था। इस विषय पर जब-तब कुछ लेख भी लिखे थे। गोशालाओं को, विशेषकर दरभंगे की गोशाला को, इस ओर प्रवृत्त करने का प्रयत्न भी किया था। इतना होते हुए भी मैं गो-सेवा-संघ का सदस्य नहीं बना था और न ऐसी किसी संस्था के साथ कोई विशेष सम्बन्ध ही जोड़ा था।

१९४६ के आरम्भ में वर्धा से श्री जानकीदेवी बजाज और श्री राधाकृष्ण बजाज का पत्र आया कि इस बार के गो-सेवा सम्मेलन का मैं सभापति बनूं। उसमें यह भी लिखा था कि पूज्य बापूजी की भी इच्छा है कि मैं यह पद स्वीकार करूं। यों तो श्री जानकीदेवीजी का कहना ही काफी था, तिसपर पूज्य बापू की आज्ञा ! मैंने स्वीकार कर लिया। ठीक समय पर वर्धा पहुंच भी गया। वहां पद के भार को संभालने के लिए इस विषय पर कुछ विशेष ध्यान देना पड़ा। सम्मेलन में अच्छे-अच्छे विशेषज्ञ आये थे, जिनमें सर दातारसिंह, लाला हरदेवसहाय (हिसार, पंजाब) और मध्यांप्रान्त

के सरकारी विशेषज्ञ श्री शाहीजी मुख्य थे। वहींपर सब बातों को देख-सुनकर और बिहार से गये हुए दरभंगा-गोशाला के प्रतिनिधि से बातें करके यह निश्चय कर लिया गया कि इस तरह का काम बिहार में भी किया जाय तथा इसके लिए एक प्रान्तीय गो-सम्मेलन किया जाय। इसी निश्चय के अनुसार पटने में एक गो-सम्मेलन हुआ, जिसमें बिहार की सभी गोशालाओं की ओर से प्रतिनिधि आये। इनके अतिरिक्त दूसरे लोग भी आये। सर दातारसिंह, लाला हरदेवसहाय, दिल्ली के सैयद रहीमतुल्लाह काजी (हिन्दू-मुस्लिम गो-रक्षा-सभा के सभापति), रावलपिंडी के नजीर अहमद शेरवानी और बिहार-सरकार कके विशेषज्ञ लोग, जो गो-सेवा में दिलचस्पी रखते हैं, आये। मैं ही सभापति बनाया गया। भागलपुर के रायबहादुर वंशीधर ढानढनिया स्वागताध्यक्ष थे। पटना सिटी के गोशाला में सम्मेलन हुआ। श्री जानकीदेवीजी भी पधारीं।

मैंने विषय का विशेष अध्ययन करके एक लम्बा भाषण लिखा। विशेषज्ञों ने तथा दूसरों ने उसे बहुत पसन्द किया। सम्मेलन ने निश्चय किया कि सूबे-भर की गोशालाओं और पिंजरापोलों का एक संघ कायम किया जाय, उसके साथ सभी गोशालाओं को सम्बद्ध हो जाना चाहिए, संघ का एक स्थायी दफ्तर भी रहना चाहिए, जिसकी रजिस्ट्री करा ली जाय और संघ के दफ्तर की देखरेख में नमूने के लिए एक आदर्श गोशाला खोली जाय। इन्हीं निश्चयों के अनुसार दफ्तर खुल गया। सदाकत-आश्रम में एक छोटी गोशाला भी हो गई। उसको बढ़ाकर आदर्श गोशाला का रूप देने का प्रयत्न किया जा रहा है। आशा है कि दरभंगा गोशाला के प्रबन्धक श्री धर्मपालसिंह के परिश्रम और लगन से यह काम आगे बढ़ निकलेगा। यह एक नया काम है। इसका भार मैंने उन मित्रों के भरोसे पर लिया, जिन्होंने इसमें काफी दिलचस्पी दिखलाई है।

मैं गो-सेवा को धार्मिक दृष्टि से नहीं फैलाना चाहता। भारत की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखकर ही इसकी आवश्यकता और उपयोगिता को समझता हूं। इसी तरह से हम इसमें उनकी भी मदद पा सकते हैं, जिनमें इसके लिए वैसी धार्मिक भावना नहीं है जैसी हिन्दुओं, जैनों और सिखों में पाई जाती है। मैं मानता हूं कि यही आर्थिक लाभ और उपयोगिता की भावना कुछ काम कर सकती है और सफल भी हो सकती है। निरी धार्मिक भावना मुसलमानों में द्वेष और हिन्दुओं में आडम्बर

तथा दम्भ पैदा करती है, जिससे सच्ची गो-सेवा पीछे रह जाती है और दिखावे की मात्रा बढ़ जाती है। इसलिए, मैंने अपने भाषण में भी आर्थिक दृष्टिकोण से ही इसपर विचार किया। मैंने बतलाया कि कृषि-प्रधान देश में गो-जाति और गोवंश का कितना महत्त्व है--किस तरह हम अपने अन्धविश्वास और अज्ञान के कारण उसकी सेवा के बदले उसका अहित कर रहे हैं--दूसरों की सहानुभूति प्राप्त करने के बदले उसका द्वेष एवं विरोध मोल ले रहे हैं। हमारा विश्वास है कि ठीक तरह से, वैज्ञानिक रीति से, यदि इस विषय का अध्ययन और प्रचार किया जाय तो हम निस्संदेह उसकी सहानुभूति और मदद पा सकते हैं।

उदाहरण के लिए एक मोटी बात ही ले लीजिये। साल-भर में बकरीद एक या दो दिन हुआ करती है। उसी दिन जहां-तहां मुसलमान कुछ गौओं की कुर्बानी किया करते हैं। इसके लिए बहुत जगहों पर काफी खून-खराबा हो जाया करता है। पर हिन्दुओं की दृष्टि इस ओर नहीं जाती कि कसाई-खानों में रोज-रोज हजारों गायें कत्ल की जाती हैं--विशेषकर लश्करी छावनियों के लिए तो अच्छी-अच्छी गायें ही कत्ल की जाती हैं। महायुद्ध में विदेशी फौजों के लिए तो न मालूम हिन्दुस्तान के कितने जानवर कत्ल कर दिये गये। धार्मिक प्रवृत्ति से प्रभावित होकर कुर्बानी करनेवालों के साथ तो इतनी सख्ती और पेट या जीभ के लिए अथवा कुछ पैसे कमाने के लिए कत्ल करानेवालों को कोई पूछता भी नहीं! बूढ़ी, लंगड़ी और बेकार गायों की रक्षा के लिए गोशालाओं में करोड़ों रूपये खर्च किये जा रहे हैं; पर इस ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता कि गायें किस तरह एक मुनाफा देनेवाला जानवर बना दी जायं कि किसी हिन्दू या गैर-हिन्दू को न तो बेचने की जरूरत रहे और न कत्ल करने की। आज तो गाय के दूध और बछड़े से जो कुछ मिल सकता है, उससे अधिक उसे वध के लिए बेच देने से मिल सकता है। जो वध करने के लिए उसे खरीदता है, वह उसके मांस, चमड़े, हड्डी, चर्बी और सींग से उससे अधिक पैदा कर सकता है, जो वह उसे पालकर उसके दूध-बछड़े इत्यादि से पैदा कर सकेगा। इन्हीं कारणों से गो-सेवा में आस्था रखनेवाले हिन्दू भी वध के लिए गाय बेच डालते हैं और वध ा करनेवाले उसे खरीद लेते हैं। मेरा विश्वास है कि गाय यदि शास्त्रीय ढंग से पाली-पोसी जाय; उसके दूध की वृद्धि की जाय; उसके गोबर-मूत्र इत्यादि का ठीक इस्तेमाल किया जाय; उसके मर जाने पर उसके चमड़े, मांस, चर्बी, पुट्‌ठे, हड्डी, सींग

इत्यादि का ठीक-ठीक उपयोग किया जाय; तो गो-पालन नुकसान के बदले मुनाफा देनेवाला पेशा हो जाय ।

इसी विचार और ध्येय को सामने रखकर काम करना है । केवल बहुत दूध देनेवाली गाय, जिसके बछड़े हल जोतने और गाड़ी खींचने के काम के योग्य न हों, ऐसे ही देशों में काम दे सकती है जहां बैलों से मांस-लाभ के सिवा दूसरा काम नहीं लिया जाता--जहां बछड़े भी केवल मांस के लिए ही पाले जाते हैं, जिसे हिन्दुस्तान में खस्सी । पर हिन्दुस्तान में--जहां लोग गो-मांस नहीं खाते, जहां बैलों से दूसरे बहुत-से आवश्यक काम लिये जाते हैं, जहां बैलों के बिना किसान का कोई काम चल ही नहीं सकता--हमें ऐसी गायें चाहिए, जो काफी दूध भी दें और अच्छे बछड़े भी । यह तो नस्ल पर ध्यान देने से ही हो सकती है । हमारे देश के लोग इस विषय पर काफी ध्यान देते थे । वे जरूरत के मुताबिक मवेशी पैदा कर लेते थे । आज भी हम देख सकते हैं कि एक नस्ल के जानवर बहुत बोझा ढो सकते हैं और बहुत परिश्रम के काम भी कर सकते हैं; पर वे बहुत तेज भाग नहीं सकते । दूसरे प्रकार के जानवर बहुत तेज भाग सकते हैं; पर उतना बोझ नहीं ढो सकते और न उतना अधिक परिश्रम ही कर सकते हैं, जितना पहले प्रकार के । कुछ गायें ऐसी हैं, जो बहुत दूध देती हैं; पर उनके बछड़े इतने अच्छे नहीं होते । कुछ ऐसे हैं, जिनके बछड़े तो अच्छे होते हैं, पर वे अधिक दूध नहीं देतीं । भारत का किसान एक गाय दूध के लिए और दूसरी बछड़े के लिए नहीं रख सकता । उसको तो एक ही गाय से दोनों काम लेना है । इसलिए हमको ऐसी नस्लों को ही प्रोत्साहन देना होगा, जो इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक हो सकें । इस प्रकार की गोशालाएं हो जायं, जो अधिक दूध देनेवाली गायें रखें--जिनसे अच्छे काम लायक बछड़े भी पैदा हों । यदि गो-सेवा का ठीक प्रबन्ध किया जाय तो गाय मुनाफा देनेवाली हो जायगी--उसका वध खुदबखुद बन्द हो जायगा । साथ ही, जो गायें बूढ़ी और कमजोर पड़ जायंगी, उनकी रक्षा भी, अच्छी गायों के दिये हुए मुनाफे से तथा उनके अपने मांस-चाम इत्यादि के दाम से, हो सकेगी । ऐसी अवस्था में ही गो-रक्षा और गो-सेवा में मुनाफा और गोवध में नुकसान होगा । तभी सब लोग--चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, धार्मिक भावना से उत्तेजित हों अथवा स्वार्थभावना से प्रेरित--गोरक्षा के काम को अपना हितकर काम मानने लगेंगे । तभी सच्ची गो-सेवा और यथार्थ गो-रक्षा हो सकेगी ।

: १५६ :

भारतीय इतिहास-परिषद्

१६४२ में, जेल जाने के पहले, वर्धा से लौटते समय, इतिहास-परिषद् की बैठक के लिए मैं काशी में उतर गया था। उस समय इतिहास लिखने का काम कई सज्जनों के सुपुर्द किया जा चुका था। कहा जाता था कि अकबर-सम्बन्धी एक जिल्द करीब-करीब तैयार है। १६४२ में अकबर के जन्म के चार सौ बरस पूरे होते थे। ऐसा विचार था कि अकबर के जन्म-दिन पर यह खण्ड प्रकाशित हो जाय। जेल जाने के समय तक ऐसा होने में काफी अड़चने आ गई थीं। छपाई और कागज की दिक्कत तो थी ही, बमबारी के कारण कलकत्ता-मद्रास आदि शहरों से पुस्तकालयों और संग्रहालयों के सामान भी जहां-तहां सुरक्षित स्थानों में हटा दिये गये थे। इस कारण, सहायक-ग्रन्थों के अभाव से, पुस्तक लिखने में भी कठिनाई उपस्थित हो गई थी। तो भी मैं आशा करता था कि पुस्तक प्रकाशित हो सकेगी, पर ऐसा हो नहीं सका। मेरी गिरफ्तारी के कुछ दिनों बाद श्री जयचन्द्र विद्यालंकार भी गिरफ्तार करके नजरबन्द कर दिये गये। इससे सब काम रूक गया। मेरे बाहर निकलने के कुछ पहले ही सर यदुनाथ सरकार और श्री मथुराप्रसाद ने चाहा कि इतिहास-प्रकाशन का काम फिर चलाया जाय। विद्वानों ने कुछ लिख तो डाला ही था, सिर्फ प्रकाशन की बात थी। दो जिल्दें तैयार थीं। बम्बई के भारतीय विद्या-मन्दिर के संचालक श्री कन्हैयालालजी मुन्शी से कुछ बात चली कि प्रकाशन का भार विद्यामन्दिर ले ले; पर अन्त में कुछ तय न हो सका। इसलिए यह प्रबन्ध किया गया कि दो जिल्दे जो तैयार हो गई थीं, वे प्रकाशित कर दी जायं--डाक्टर रमेशचन्द्र मजुमदार और डाक्टर अलटेकर-लिखित 'वाकाटक'-युग-सम्बन्धी छठी जिल्द तथा श्री नीलकंठ शास्त्री-लिखित गुप्त-कालीन चौथी जिल्द। छठी जिल्द छापाखाने में भेज दी गई थी। जेल से निकलते ही मैंने सोचा कि इस काम में विलम्ब नहीं होने देना चाहिए। शिमले से लौटते ही मैं कलकत्ते गया। वहां यदुनाथ सरकार तथा डाक्टर मजुमदार से भेंट की सब बातें तय हुईं। एक बार और इसी सम्बन्ध में चन्द घंटों के लिए कलकत्ते में

ठहरा । छठी जिल्द तो प्रकाशित हो गई, चौथी अभी छापेखाने में है ।

कुछ दिनों बाद श्री जयचन्द्र विद्यालंकार जेल से रिहा हुए । मैने समझा कि अब काम तेजी से आगे बढ़ेगा । पर कुछ कारणों से सर यदुनाथ सरकार रूष्ट हो गये । उन्होंने इस्तीफा दे दिया । बहुत कहने पर भी उन्होंने उसे वापस नहीं लिया । श्री जयचन्द्र विद्यालंकार भी अभीतक इस काम को पूरी तरह अपने हाथों में नहीं ले पाये हैं । इसलिए काम रूका पड़ा है । मैं इस काम में श्री जयचन्द्रजी की प्रेरणा से, अपने स्वर्गीय मित्र श्री काशीप्रसाद जायसवाल की स्मृति के प्रति श्रद्धा के कारण, पड़ा था । इतिहास में दिलचस्पी रखते हुए भी अन्य कामों का इतना बोझ था कि यदि ये बातें न होतीं तो मैं शायद अपनी प्रेरणा से यह बोझ न उठाता । तिसपर सर यदुयाथ सरकार का प्रोत्साहन मिला । आज कुछ ऐसी स्थिति हो गई है कि यह मालूम ही नहीं होता कि काम कब पूरा हो सकेगा । पर इसे तो पूरा करना ही है । सभी विध्न-बाधाओं के रहते हुए भी इसे पूरा कराना होगा । आगे ईश्वर जाने ।

: १६० :

१६४६ की घोषणा और सरकारी योजना

१६४६ के मार्च में ब्रिटिश सरकार की ओर से घोषणा हुई कि भारत के मसले को सुलझाने के लिए भारत-मंत्री लार्ड पेथिक लारेन्स, सर स्टैफर्ड क्रिप्स और मिस्टर ए० बी० अलेक्जेण्डर भारत आयंगे और यहां के नेताओं तथा वाइसराय से बातें करेंगे। इस बात की घोषणा करते हुए प्रधान मंत्री मिस्टर क्लिमेण्ट एटली ने यह भी कहा कि यद्यपि अल्पसंख्यक लोगों के स्वत्वों की रक्षा का प्रबन्ध किया जायगा, तथापि किसी अल्पसंख्यक दल को भारतीय राजनैतिक प्रगति में बाधा नहीं डालने दिया जायगा और इंगलैंड इस बात के लिए तैयार है कि हिन्दुस्तान आजाद हो जाय--इंगलैंड यह चाहता है कि हिन्दुस्तान उसके साथ रहे, पर यह निश्चय करने का अधिकार कि वह साथ रहेगा या एकदम अलग हो जायगा हिन्दुस्तान को ही होगा। इस प्रकार घोषणा बहुत अंशों में संतोषजनक मालूम हुई। थोड़े ही दिनों के बाद मंत्रिमण्डल के तीनों सदस्य पहुंच गये। वाइसराय से तथा सरकार के दूसरे उच्च कर्मचारियों से बातें करने के बाद उन्होंने विभिन्न दलों के प्रमुख लोगों से बातें शुरू कीं। कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना आजाद तथा महात्मा गांधी से भी उनकी बातें हुईं। इस तरह सब दलों के लोगों से बातें करते बहुत दिन लग गये। तब उन्होंने कांग्रेस के प्रेसिडेण्ट और लीग के प्रेसिडेण्ट को लिखा कि वे अपने-अपने चार-चार प्रतिनिधि दें, जिनके साथ बैठकर वे शिमले में बातें करना चाहते हैं। दोनों पक्षों के आठ आदमी और वाइसराय को मिलाकर वे चार आदमी शिमले में एकत्र हुए। कई दिनों तक बातें होती रहीं, पर कुछ फल न निकला। इसपर उन्होंने कान्फ्रेन्स खत्म करके घोषणा की कि दिल्ली में वे देश के सामने अपनी योजना रखें। सब लोग दिल्ली वापस आ गये। दिल्ली लौटकर उन लोगों ने सरकार की ओर से १६ मई वाला वक्तव्य निकाला, जिसमें अपनी योजना देश के सामने रखी।

योजना के मुख्य तीन भाग थे। पहले में युक्तियुक्त कारणों के साथ उन्होंने मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की मांग को अव्वयहार्य्य बतलाया और कहा कि यह नहीं

हो सकता है--इसलिए भारत का विधान ऐसा होगा कि उसमें भारत के सूबों का एक संघ बनेगा, जिसमें देशी रियासतें भी शरीक हो सकेंगी; इस केन्द्रीय संघ के अधिकार में तीन विभाग होंगे--फौज और बचाव, विदेशों के साथ सम्बन्ध रखनेवाले मामले, रेल-तार इत्यादि; इन तीनों विभागों के लिए जो रूपयों की जरूरत हो, उसको वसूल कर लेने का अधिकार भी होगा--अन्य विषयों में सूबों को स्वतन्त्रता रहेगी। जो ऐसे विषय हैं, जिनका कहीं जिक्र न हो और जो बच गये हों, वे सब सूबों के अधिकार में होंगे। दूसरे भाग में उस विधान-निर्माण-समिति की योजना बतलाई गई, जिसके जिम्मे विधान बनाने का काम सुपुर्द किया जायगा। तीसरे में तत्काल सरकार कायम करने की बात कही।

वक्तव्य में यह स्पष्ट कह दिया गया था कि भारतवर्ष को अधिकार होगा कि वह यदि चाहे तो ब्रिटिश साम्राज्य से अपने को अलग कर सकता है। विधान निर्माण-समिति के संगठन का रूप निम्नलिखित प्रकार का होगा । सभी प्रान्तों की असेम्बलियां अपने-अपने प्रान्त की आबादी के प्रत्येक दस लाख पर एक आदमी को चुन लेंगी और ये लोग ही विधान-निर्माण-समिति के सदस्य होंगे। उस चुनाव में मुसलमान सदस्य तथा पंजाब में सिख सदस्य अपनी जाति के प्रतिनिधि अलग-अलग वोट देकर चुनेंगे। बाकी सब लोग इकट्ठे ही वोट देकर प्रतिनिधि चुनेंगे। दिल्ली-अजमेर-मेरवार के प्रतिनिधि वे ही लोग समझे जायंगे, जो वहां से चुनकर इस समय केन्द्रीय असेम्बली में भेजे गये हैं और कुर्ग तथा बलूचिस्तान के प्रतिनिधि अलग से चुन लिये जायंगे। ये लोग मिलकर देशी रजवाड़ों के प्रतिनिधियों से बात करके तय कर लेंगे कि उनके कैसे और कौन प्रतिनिधि होंगे। उनकी संख्या भी दस लाख आबादी पर एक प्रतिनिधि के अनुपात में ही होगी। इस प्रकार ब्रिटिश भारत के कुल २९२ प्रतिनिधि होंगे, जिनमें २१० गैर-मुस्लिम, ७८ मुस्लिम और ४ सिख होंगे। सूबे तीन भागों में विभक्त होंगे। पहले विभाग में मद्रास, बम्बई संयुक्तप्रान्त, बिहार, मध्यप्रान्त और उड़ीसा होंगे। दूसरे विभाग में पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, सिन्ध और बलूचिस्तान तथा तीसरे विभाग में बंगाल और आसाम होंगे। ब्रिटिश भारत की विधान-निर्माण-समिति की प्रारम्भिक बैठक में सभी सदस्य शरीक होंगे। उस बैठक में सभापति इत्यादि पदाधिकारी चुन लिये जायंगे और कार्य-पद्धति निश्चित कर ली जायगी। इसके बाद तीनों विभागों के सदस्य अलग-अलग बैठेंगे। उनमें से प्रत्येक

अपने विभाग में सम्मिलित सूबों के लिए विधान तैयार करेगा। तब वह इस बात का निश्चय करेगा कि उस विभाग के लिए किसी सम्मिलित विधान की भी आवश्यकता है या नहीं, और यदि है तो उसके क्या विषय होंगे और उसका क्या रूप होगा। अन्त में विधान-निर्माण-समिति की फिर बैठक होगी, जिसमें देशी रजवाड़ों के प्रतिनिधि भी शरीक होंगे और अखिल भारतीय संघ का विधान तैयार किया जायगा। विधान तैयार हो जाने के बाद जब उसके अनुसार प्रान्तों की असेम्बलियों का चुनाव हो जायगा तब प्रत्येक सूबे को अधिकार होगा कि वह यदि चाहे तो अपनी असेम्बली के वोट से जिस विभाग में वह सम्मिलित किया गया है, उसमें शरीक न रहकर अलग हो जाय। अल्पसंख्यक जातियों के स्वत्व-संरक्षण के लिए एक अलग समिति बनाई जायगी, जिसमें उनके प्रतिनिधि रहेंगे और जो संरक्षण के उपाय और तरीके बतायेगी; उसके निश्चयों पर विधान-निर्माण-समिति विचार करके विधान में उचित प्रबन्ध रखेगी। तत्काल के लिए वाइसराय फिर नये सिरे से अपनी कौन्सिल की नियुक्ति करेंगे और उसमें यथासाध्य भारत के विभिन्न दलों के प्रतिनिधियों को रखेंगे। यद्यपि १६३५ का विधान आज बदला नहीं जायगा और उनके अनुसार वाइसराय के हाथों में ही अन्तिम अधिकार रहेंगे तथापि जहांतक हो सकेगा, कौन्सिल की राय से ही काम चलाया जायगा और उसमें यथासाध्य हस्तक्षेप नहीं होगा।

इस योजना में किसी भी दल की सभी मांगें न मंजूर की गई थीं और न सब एकबारगी नामंजूर ही की गई थीं। सब दलों को कुछ-न-कुछ देकर खुश करने का प्रयत्न किया गया था! लीग की पाकिस्तान की मांग नामंजूर तो की गई थी, पर उसके साथ ही सूबों को इस तरह तीन विभागों में बांट दिया था कि जिन सूबों को मुस्लिम लीग पाकिस्तान में मिलाना चाहती थी, उनको दो विभागों में रख दिया था और बाकी सूबों को अलग एक विभाग में। पाकिस्तान की नामंजूरी से लीग नाखुश और दूसरे लोग सन्तुष्ट थे; पर इस प्रकार सूबों का विभाजित होना लीग को पसन्द था और वह इस विभाजन में पाकिस्तान के बीज देखने लगी। दूसरे लोग इस विभाजन को नापसन्द करते थे और इसमें पचरी की उस बारीक नोक को देखते थे, जो आगे चलकर आहिस्ता-आहिस्ता घर करती हुई शायद फिर पाकिस्तान का रूप धारण कर लेगी। इस बात से यह विरोध और भी तेज हो जाता था कि इन दोनों मुस्लिम विभागों में पंजाब और बंगाल के वे अंश भी शरीक रखे गये थे, जिनमें हिन्दुओं की

बहुत अधिक आबादी थी तथा आसाम का सूबा भी उसमें शरीक किया गया था, यद्यपि आसाम में मुसलमानों की आबादी एक-तिहाई से अधिक नहीं है ।

इस योजना पर विचार करने के लिए वर्किंग कमिटी की बैठक कई दिनों तक होती रही । बीच-बीच में कैबिनेट-मिशन और वाइसराय से कांग्रेस-प्रेसिडेण्ट तथा कभी-कभी कुछ दूसरे मेम्बरों की मुलाकात भी होती रही । वर्किंग कमिटी ने योजना की उन त्रुटियों की ओर ध्यान आकर्षित किया, जिनको वह महत्त्वपूर्ण समझती थी । उसने यह राय जाहिर की कि उसके मत के अनुसार सूबे बाध्य नहीं हैं कि उन विभागों में वे सम्मिलित हों, जिनमें वे जोड़ दिये गये थे । यह तो जाहिर था कि विधान बन जाने के बाद प्रत्येक सूबे को अधिकार होगा कि अपनी असेम्बली की राय से वह उस विभाग से अलग हो जाय; पर वर्किंग कमिटी को कहना था कि उसके अलावा विधान बनाने के लिए विभागों की अलग बैठक में शरीक न होने का भी प्रत्येक सूबे को अधिकार है । सूबा सरहदो और आसाम, दोनों ही, जबरदस्ती विभाग में मिलाये जाने के विरूद्ध थे--इसलिए उनको यह अधिकार मिलना चाहिए कि वे आरम्भ से ही विभागों से अलग रह सकें । वर्किंग कमिटी का कहना था कि सारी योजना के पढ़ने से यही अर्थ निकलता था ।

मिशन ने अपनी सम्मति दी कि उसका इरादा ऐसा नहीं था कि आरम्भ से ही सूबे शरीक न हों, पर विधान बनने के बाद सूबों को अलग हो जाने का अवश्य अधिकार था ।

वर्किंग कमिटी अपनी राय पर डटी रही । उसने निश्चय किया कि राय के अनुसार यह योजना काम में लायेगी । उधर मुस्लिम लीग ने योजना की कड़ी आलोचना की । कहा कि पाकिस्तान नामंजूर करना न्याययुक्त नहीं, पर तो भी सूबों के विभाजन में वह पाकिस्तान का अंकुर देखती है और अपने ध्येय-साधन के लिए वह योजना को मंजूर करती है ।

इसके बाद कुछ दिनों तक तात्कालिक सरकार के सम्बन्ध में बातचीत चलती रही । शुरू में वाइसराय की राय थी कि बारह आदमियों की सरकार बने, जिनमें पांच मुसलमान, पांच हिन्दू और दो दूसरे हों । कांग्रेस को यह बात किसी तरह मंजूर नहीं थी । एक तो, हिन्दुओं और मुसलमानों की संख्या बराबर होती थी, यद्यपि हिन्दुओं की संख्या आबादी में मुसलमानों की संख्या से तिगुनी है । दूसरे शिमला-कान्फ्रेन्स के

समय, १९४५ जुलाई में, लार्ड वेवल की योजना में, पांच मुसलमान और हरिजन-प्रतिनिधि के अलावा, पांच हिन्दुओं को स्थान दिया गया था और दूसरे अल्पसंख्यकों की संख्या भी दो से अधिक थी। इस तरह, केवल हिन्दू-मुस्लिम समानता का ही सवाल न था, बल्कि लार्ड वेवल के प्रस्ताव से भी यह कहीं अधिक बुरा था। वेवल-प्रस्ताव को भी कांग्रेस ने, लड़ाई का जमाना होने के कारण, किसी तरह मंजूर कर लिया था। अब वह लड़ाई का जमाना भी नहीं था। उस दबाव से कांग्रेस इस समय मुक्त थी, तो वह कैसे मंजूर कर सकती थी ? कांग्रेस का विचार था कि पन्द्रह सदस्यों की सरकार जब बनेगी तभी अल्पसंख्यकों के यथेष्ट प्रतिनिधि लिये जा सकेंगे और सबको सन्तुष्ट किया जा सकेगा।

वाइसराय ने बारह के बदले तेरह की सरकार बनाने की बात कही, जिनमें पांच मुसलमान, एक हरिजन, पांच दूसरे हिन्दू और दो अन्य अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधि होते। कांग्रेस ने इसे भी नामंजूर कर दिया। तब मिशन और वाइसराय ने विज्ञप्ति निकाली कि कांग्रेस और लीग दोनों की राय से सरकार बनाने का प्रयत्न विफल हो गया--अब वे अपनी ओर से प्रस्ताव रखेंगे। तारीख १५-६-४६ को उनका प्रस्ताव प्रकट किया गया, जिनमें उन्होंने चौदह आदमियों के नाम दिये, जिनको वाइसराय ने सरकार में शरीक होने का निमन्त्रण दिया। इनमें पांच लीगी मुसलमान, पांच कांग्रेसी गैर-हरिजन हिन्दु, एक कांग्रेसी हरिजन, सिख, एक ईसाई और एक पारसी के नाम थे। बातचीत के दरम्यान वाइसराय ने पंडित जवाहरलालजी से, जो कभी-कभी वहां आया-जाया करते थे, नाम पूछे थे। उन्होंने कुछ नाम बताये भी थे। हरिजन और दूसरे कांग्रेसी लोगों के, एक के सिवा, वही नाम थे, जो पंडितजी ने बताये थे--ईसाई और सिख के भी नाम उनके बताये हुए थे--मुसलमानों में भी चार नाम वही थे, जो पंडितजी के बताये थे। पर एक गैर-लीगी मुसलमान के बदले में लीगी मुसलमान का नाम और एक कांग्रेसी हिन्दू के बदले में दूसरे कांग्रेसी हिन्दू का नाम तथा एक पारसी का नया नाम वाइसराय ने दिया था।

हम इस बात पर विचार कर ही रहे थे कि यह प्रस्ताव स्वीकार किया जाय या नहीं कि इसी बीच में मिस्टर जिन्ना से वाइसराय की बातें हुईं और उनके कहने पर वाइसराय ने उनकी कई बातें मान लीं, जो पत्रों में किसी-न-किसी तरह प्रकाशित हो गईं। इसपर हम लोग चिहुंक गये ! मांगने पर वाइसराय ने अपने पत्र के उस अंश

की नकल भेज दी, जिसमें मिस्टर जिन्ना की मांगों को उन्होंने मंजूर किया था। इसमें महत्त्व की बातें यह थी कि चौदह से अधिक सरकार की संख्या नहीं होगी--अल्पसंख्यकों की जो जगहें खाली होंगी, उनकी नियुक्ति में लीग की राय ली जायगी--सरकार कोई ऐसा काम नहीं करेगी, जिसमें लीग का बहुमत भी शरीक न हो। इस तरह, सरकार के संगठन में ही नहीं, उसकी प्रतिदिन की कार्रवाईयों में भी लीग की अनुमति के बिना कुछ न हो सकेगा। जब हमारे दिये हुए गैर-लीगी मुसलमान के नाम को वाइसराय ने छांट दिया और यह साफ हो गया कि पांच लीगी मुसलमानों की संख्या में कमी न हो सकेगी, तो वर्किंग कमिटी यह विचार करने लगी कि कांग्रेस अपनी जांच जगहों में से एक में किसी राष्ट्रीय विचारवाले मुसलमान का नाम दे। हम ऐसा सोच ही रहे थे कि वाइसराय का पत्र मिल गया कि मुसलमान का नाम कांग्रेस न दे, क्योंकि उसकी मंजूरी नहीं हो सकेगी। वर्किंग कमिटी इस स्थिति को कभी मंजूर नहीं कर सकती थी; क्योंकि इसके मंजूर करने का अर्थ हो जाता था कि कांग्रेस केवल हिन्दुओं की जमात है और केवल मुस्लिम लीग को ही मुसलमानों का प्रतिनिधित्व प्राप्त है।

सब बातों पर विचार करके वर्किंग कमिटी ने तात्कालिक सरकार बनाने की १६-६-४२ वाली योजना को नामंजूर कर दिया। अब उसके सामने प्रश्न यह था कि विधान-निर्माण-समिति-सम्बन्धी योजना के बारे में क्या किया जाय। उसके दोषों और त्रुटियों को हम बता चुके थे। उस योजना का जो अर्थ हम निकालते थे, वह भी बता चुके थे। यह भी हम कह चुके थे कि अपने अर्थ के अनुसार ही हम उससे काम लेंगे। इस प्रकार, यद्यपि अपनी सम्मति के अनुसार उससे काम निकालने की बात कहकर हम एक प्रकार से उसे मंजूर तो कर चुके थे; पर स्पष्ट शब्दों में दो-टूक फैसला करके साफ-साफ कुछ नहीं कहा था। इसलिए उसपर एक बार फिर विचार करने की जरूरत पड़ी। कमिटी में दो-एक आदमी छोड़कर, जो उसको मंजूर नहीं करना चाहते थे, बाकी सभी सदस्य उसे मंजूर करने के पक्ष में थे--विशेषकर महात्मा गांधी तो मंजूरी का जोरों से समर्थन कर रहे थे। इसी समय का तार आसाम से आया, जिसमें यह कहा गया था कि बंगाल में विधान-निर्माण-समिति के चुनाव के लिए जो नियम बनाया गया है, उसके अनुसार प्रत्येक उम्मीदवार को प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी कि वह समिति का सदस्य होना, योजना की उस धारा के अनुसार, मंजूर करता

है, जिसमें बहुतेरी दूसरी बातों के साथ-साथ सूबों के तीन विभागों का भी जिक्र है। इस तार के प्रेषक ने यह अर्थ निकाला था कि उम्मीदवारों को पहले से ही विभागों को मान लेने की प्रतिज्ञा कर लेनी पड़ेगी। आसाम, और हम सभी, विभागों में जाने के विरोधी थे ही। इसलिए कुछ शंका पैदा होने लगी, पर अभी कोई राय स्थिर नहीं हुई थी; क्योंकि नियम अभीतक पूरे देखे नहीं गये थे--यद्यपि, नमूने के तौर पर, भारत-सरकार की ओर से प्रान्तों में जो नियम भेजे गये थे, उनकी नकल, हमारे पास भी, सरकार ने भेज दी थी।

उस दिन का काम खत्म करने का समय हो गया था, इसलिए दूसरे दिन के विचार के लिए बात स्थगित कर दी गई। सोचा गया कि इस बीच में हम लोग नियमों को भी भलीभांति देख लेंगे। महात्माजी के दिल में उक्त तार के कारण शंका हो गई। प्रार्थना के समय भाषण में उन्होंने यह बात कह दी। इसका नतीजा यह निकलता था कि कांग्रेस उस योजना को भी मंजूर नहीं करेगी। दूसरे दिन हम लोग मिले। हम लोगों की राय में नियम का वह अर्थ नहीं निकलता था, जो तार भेजनेवाले ने निकाला था। इस बीच में महात्माजी की, कैबिनेट-मिशन के लोगों से भेंट हुई। उन्होंने भी यही कहा कि उस प्रतिज्ञा का अर्थ वह नहीं हैं; पर यदि किसी प्रकार से वह अर्थ निकलता हो और महात्माजी को नियम के शब्दों के कारण कोई नैतिक अड़चन मालूम होती, तो उसके शब्दों को भी वे बदलवा देंगे और साफ कर देंगे; क्योंकि उनका यह कभी आशय था ही नहीं।

नियम बदल भी दिया गया। इसलिए हमने उस योजना को मंजूर कर लिया। इस तरह अब स्थिति यह हो गई कि कांग्रेस वर्किंग कमिटी ने तारीख १६ मई (१९४६) वाली दीर्घकालीन योजना को मंजूर कर लिया। यद्यपि मंजूर करने में उसकी त्रुटियों को नजरअन्दाज नहीं किया और न जो अर्थ वह योजना का लगाती थी, उसे ही छोड़ा तथापि उसने तारीख १६५ जून (१९४६) वाली अन्तरकालीन सरकार -सम्बन्धी योजना को नामंजूर कर दिया। यह निश्चय एक पत्र द्वारा, प्रस्ताव की नकल साथ भेजकर, मिशन और वाइसराय को बता दिया गया। उस तरफ लीग ने दीर्घकालीन योजना को पहले ही मंजूर कर लिया था और अन्तरकालीन योजना के सम्बन्ध में कांग्रेस के फैसले का इन्तजार कर रही थी। उसी दिन वाइसराय से मि० जिन्ना की मुलाकात हुई, जिस दिन कांग्रेस का फैसला वहां भेजा गया था। वाइसराय

ने उनको हमारा पत्र दिखला दिया। तारीख १६ जून की योजना में एक बात यह लिखी थी कि अगर कोई दल उस योजना को नामंजूर कर दे तो भी वाइसराय अन्तरकालीन सरकार बनाने के प्रयत्न को जारी रखेंगे और ऐसे दलों के प्रतिनिधियों की अन्तरकालीन सरकार बनायंगे, जिन्होंने १६ मई की योजना को मंजूर कर लिया हो। अब स्थिति यह थी कि कांग्रेस और लीग दोनों ही ने १६ मई की योजना मंजूर कर ली थी, इसलिए तारीख १६ जून की योजना का आठवीं दफा के अनुसार इन दोनों दलों के प्रतिनिधि लेकर ही वाइसराय अन्तरकालीन सरकार बना सकते थे, और वह वैसा ही करना चाहते हैं --यह बात उन्होंने उसी मुलाकात में मि० जिन्ना से कह भी दी।

लीगवाले तो इसी उम्मीद में बैठे थे कि कांग्रेस ने अगर १६ जून की योजना नामंजूर कर दी तो अब अन्तरकालीन सरकार में लीग की ही प्रधानता रहेगी और कांग्रेसी लोगों के उससे बाहर रह जाने से लीग के हाथों में ही अधिकार आ जायगा। मुलाकात के समय तक १६ जून वाली योजना को लीग ने भी मंजूर नहीं किया था; क्योंकि वह कांग्रेस के फैसले का इन्तजार कर रही थी। वाइसराय की यह बात उनको खटकी, तो भी उन्होंने उसी रात को निश्चित किया कि लीग १६ जून की योजना भी मंजूर करती है। दूसरे दिन मिशन और वाइसराय ने घोषणा कर दी कि १६ जून की योजना कांग्रेस ने नामंजूर कर दी, इसलिए उसकी आठवीं दफा के अनुसार अब, कांग्रेस और लीग दोनों के प्रतिनिधियों को लेकर, वाइसराय अन्तरकालीन सरकार बनायंगे--पर चूंकि मिशन को तुरन्त इंगलैंड वापस जाना है और इसके बनने में कुछ विलम्ब हो सकता है, इसलिए तबतक केवल सरकारी अफसरों को लेकर ही कामचलाऊ सरकार बना ली जायगी। इस निश्चय के अनुसार मिशनवाले वापस चले गये। कामचलाऊ सरकार बना ली गई।

वाइसराय और मिशन के इस फैसले से लीग बहुत रूष्ट हुई। उसके प्रमुख लोगों ने कड़े-कड़े वक्तव्य दिये। लीग-कौन्सिल की एक बैठक बुलाई गई। उन लोगों का कहना था कि कांग्रेस ने १६ मई की योजना को मंजूर नहीं किया है --उसकी इतनी कड़ी आलोचना की है और उसके अर्थ का ऐसा अनर्थ किया है कि वह नामंजूर के बराबर है--उसने यह भी अपना इरादा बतला दिया है कि वह सूबों के विभाजन को नहीं मानती, जो उस योजना की मौलिक बात है और उसे तोड़ने के इरादे से ही

वह विधान-निर्माण-समिति में जाना चाहती है । इस बीच में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक बम्बई में हुई, जिसमें नये चुनाव में निर्वाचित सभापति पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अध्यक्ष-पद ग्रहण किया । वहांपर कांग्रेस-सोशलिस्ट-दल के विरोध के बाद भी कमिटी ने वर्किंग कमिटी के निश्चय का समर्थन कर दिया । इसके बाद सभी सूबों में असेम्बलियों ने विधान-निर्माण-समिति के सदस्यों को चुन लिया । इस चुनाव में कांग्रेस ने यह नीति बरती कि कांग्रेस के बाहर के भी प्रमुख लोगों को उसने चुनवाया । उनके अलावा कुछ और लोग भी चुने गये । मुसलमानों में प्रायः सभी प्रान्तों में लीगी सदस्य ही असेम्बली में थे, इसलिए प्रायः लीगी सदस्य ही चुने गये, क्योंकि मुसलमान ही मुसलमान को चुन सकते थे । सीमाप्रान्त से तीन ही मुसलमान चुने जा सकते थे--मौलाना अबुलकलाम आजाद और खां अब्दुलगफ्फार खां चुने गये । संयुक्तप्रदेश में श्री रफीअहमद किदवई, दिल्ली से श्री आसफअली और बंगाल में श्री फजलुल हक, लीग के बाहर के लोगों में, चुने जा सके । बिहार में कोई मुसलमान नहीं चुना जा सका । डाक्टर अम्बेदकर बंगाल से चुने गये । मुख्य कांग्रेसी लोग और दूसरे नामी विधानवेत्ता तथा पुराने देशभक्त लोग चुने गये । इस प्रकार से विधान-निर्माण-समिति के सदस्य चुन लिये गये । इस चुनाव में लीग शरीक रही । उसके मेम्बरों ने अपने प्रतिनिधियों को चुना । मि० जिन्ना पंजाब से चुने गये ।

चुनाव हो जाने के बाद लीग-कौन्सिल की बैठक हुई । उसने निश्चय किया कि लीग १६ मई और १६ जून की दोनों योजनाओं को नामंजूर करती है--अपने उन निश्चयों को, जिनमें ये मंजूर की गई थीं, वापस लेती है । उसने यह भी निश्चय किय कि पाकिस्तान स्थापित करने के लिए 'सीधी कार्रवाई' काम में लायेगी । उसने तबतक के लिए अपने मेम्बरों को आदेश दिया कि ब्रिटिश सरकार की दी हुई उपाधियों को वे वापस कर दें । बैठक में गरमागरम भाषण हुए, जो कांग्रेस और सरकार दोनों के विरूद्ध थे । ऐसा मालूम हुआ कि वे दोनों से भिड़ेंगे । इसके बाद ही कांग्रेस वर्किंग कमिटी की बैठक वर्धा में हुई । उसने फिर साफ शब्दों में १६ मई की योजना मंजूर कर ली ।

अब वाइसराय के सामने यह स्थिति आई कि एक ओर कांग्रेस ने १६ मईवाली योजना मंजूर की थी और १६ जूनवाली योजना नामंजूर । लीग ने अपनी कौन्सिल

की बैठक में दोनों योजनाओं को नये सिरे से नामंजूर कर दिया था । इसलिए १६ जून की आठवीं दफा के अनुसार लीग को छोड़कर अब अन्तरकालिक सरकार बनाना लाजिमी हो गया । वाइसराय ने पंडित जवाहरलाल नेहरू को अन्तरकालिक सरकार के निमित्त अपने प्रस्ताव उपस्थित करने के लिए लिखा । पंडितजी ने मि० जिन्ना को दरमियानी सरकार में शरीक होने के लिए निमन्त्रण दिया, पर उन्होंने इससे इनकार कर दिया । तब पंडितजी के सामने इसके सिवा दूसरा कोई चारा न रह गया कि लीग को छोड़कर ही दरमियानी सरकार के लिए नाम सोचें । वाइसराय से मुलाकात के बाद उन्होंने नामों का सोचना शुरू किया । इस काम में सहायता पाने के लिए उन्होंने वर्किंग कमिटी की पार्लमेंटरी सब-कमिटी की बैठक दिल्ली में की । इसके तीन मेम्बर थे--सरदार वल्लभभाई पटेल, मौलाना अबुलकलाम आजाद और मैं ।

: १६१ :

कलकत्ते का हत्याकांड

हम लोग इस काम में लगे हुए थे कि कलकत्ते से खबर आई कि वहां भयंकर साम्प्रदायिक दंगा शुरू हो गया है। लीग की ओर से, अपनी नई नीति के प्रचार के लिए, १६ अगस्त मुकर्रर किया गया था। उस दिन सभी जगहों में हड़ताल और सभाएं करने की आज्ञा थी। इसी निश्चय के अनुसार कलकत्ते में भी हड़ताल वगैरह होने की बात थी। बंगाल और सिन्ध में लीगी मंत्रिमण्डल काम रहे हैं। इन दोनों सूबों में मंत्रिमण्डल ने उस दिन आम सरकारी छुट्टी दे दी। इस तरह सभी दफ्तरों, बैंकों इत्यादि को जबरन बन्द कर दिया। कांग्रेस प्रायः सत्ताईस-अट्ठाईस बरसों से हड़ताल मानने के लिए दिन मुकर्रर करती आई है। बहुत हड़तालें पूरी तरह कामयाब भी रही हैं। पर वह चाहे सरकार के विरूद्ध रही हो, चाहे सरकार की बागडोर उसके हाथ में रही हो, उसने सरकार के अधिकार से इस काम में कभी लाभ नहीं उठाया। लीग ने इस पहले अवसर पर उस अधिकार का दुरूपयोग किया। इसका विरोध सभी लोगों ने किया। यह खास करके कहा गया कि छुट्टी हो जाने से बहुतेरे लोग बेकार रहेंगे और जलूस, सभा तथा हड़ताल में इतने बेकार लोग हमेशा खतरा पैदा कर सकते हैं। बंगाल की धारासभाओं में ये बातें हुईं। पर प्रधान मंत्री मि० सुहरावर्दी ने एक की भी न सुनी--उलटे यह कहा कि शान्ति बनाये रखने के लिए ही छुट्टी दी गई है। उस दिन सवेरे से ही दुकानें बन्द कारवाने में जबरदस्ती शुरू हो गई। उसके साथ-साथ लूट-पाट और खून-खराबा भी जारी हो गया।

सरकार ने १६ और १७ अगस्त के दोपहर तक बलवा रोकने की कोई विशेष कार्रवाई नहीं की। इस बीच हजारों आदमी कत्ल हो चुके और हजारों मकान लूटे और जलाये गये। उसकी रोक-थाम की कोशिश की गई, पर उपद्रव बहुत आगे बढ़ चुकने के बाद! चार दिनों तक खूब हत्याएं और ज्यादतियां होती रहीं।

सुना जाता है कि छः-सात हजार आदमियों का खून हुआ। सड़कों पर दो-तीन दिनों तक लाशें पड़ी रहीं। तीन हजार से ऊपर लाशें जहां-तहां से हटाई गईं। यह भी खबर है कि बहुत-सी लाशें जमीन के अन्दर के नाले में डाल दी गईं, जिनकी

दुर्गन्ध से रास्ता चलना कठिन हो गया। इसी तरह जलाये हुए मकानों के अन्दर और हुगली नदी में कितनी लाशें डाल दी गईं, इसका पता नहीं। सुना जाता है कि हावड़ा-पुल पर से बहुतेरे लोग फेंक और ढकेलकर गंगा में डुबा दिये गये। बच्चे, बूढ़े, बेबस स्त्रियां, किसी पर आततायियों ने दया नहीं की--सब उनके क्रूर कर्मों के शिकार बने। आज नवां दिन है। अब हालत सुधर रही है। पर अब भी फौज और पुलिस का कड़ा पहरा है। तो भी इक्के-दुक्के कुछ-न-कुछ हो ही जाती है। इस तरह का कत्ल-आम कलकत्ते में कभी न हुआ था। शायद नादिरशाह के दिल्लीवाले कत्ल-आम के अलावा और कहीं भारतवर्ष के इतिहास में ऐसा नहीं हुआ। इसका भी ठीक पता नहीं है कि उस कत्ल-आम में कितने लोग मारे गये थे। लीग के एक प्रमुख नेता सर फीरोज खां नून ने एक बार हाल ही में कहा था कि वह ऐसी हालत पैदा कर देंगे जैसी चंगेज और हलाकू खां ने भी नहीं की थी। लीग की सीधी कार्रवाई का कुछ नमूना लोगों के सामने आ गया। उस दिन और जगहों में भी जहां-तहां कुछ होता नजर आया, पर कहीं कोई विशेष बात नहीं हुई। छोटी-मोटी घटनाएं कलकत्ते के सामने नगण्य हैं। पर अब सुनने में आया कि ढाका, बनारस, इलाहाबाद, रानीगंज, दिल्ली तथा दूसरे कई स्थानों में इस समय कुछ-न-कुछ हुआ है। कुछ खून-खराबा इन सभी जगहों में हो रहा है; पर वहां के सरकारी कर्मचारी स्थिति संभालने में लगे हैं। अब तो मि० सुहरावर्दी भी इस काम में लगे हुए हैं और सबसे शांति-स्थापना की अपीलें कर रहे हैं। हिन्दी कहावत है--"सत्तर चूहे खाकर बिल्ली चली हज को" कलकत्ते के बलवे के सम्बन्ध में 'स्टेट्समैन' जैसे अंगरेजी पत्र ने, जो हमेशा लीग को हिमायत करता रहा है, जोरों से बार-बार लिखा कि लीगी मंत्रिमण्डल शान्ति कायम रखने में अपने-को अयोग्य साबित कर चुका, उसे हटना चाहिए। इसी प्रकार की बातें इंगलैंड के बहुतेरे पत्रों ने लिखीं, जिनमें 'टाइम्स' भी शरीक है। देशी पत्रों की तो बात ही क्या। किन्तु इतने पर भी लीगवालों के कान में जूं तक न रेंगी। १९३७-३९ के कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों के विरूद्ध जिन्होंने बिना कारण इतना बावैला मचाया था, वे ही लोग इस अभूतपूर्व हत्याकाण्ड और भीषण अत्याचार पर, जिसके कराने में अगर उनका हाथ साफ-साफ नहीं रहा तो कम-से-कम जिसपर से चश्मपोशी उन्होंने जरूर की, बिलकुल चुप थे। मि० जिन्ना ने केवल इतना ही कहा कि जिस किसी ने बलवा किया हो उसको सजा मिलनी चाहिए और चूंकि उनको पूरी

रिपोर्ट नहीं मिली, इसलिए वह यह नहीं कह सकते कि इसमें किसका कसूर है तथा उनको विश्वास है कि लीगी लोग लीग के हुक्म के विरूद्ध नहीं गये होंगे और यदि कोई गया होगा तो प्रान्तीय लीग उसपर अनुशासन की कार्रवाई करेगी। उनके मुख्य पत्र 'डॉन' ने तो जो कुछ हुआ उसे बहुत थोड़ा बतलाया और देर करके खबरें छापने के अलावा कई दिनों तक इस विषय पर कुछ लिखा ही नहीं। इस दुर्घटना से सारे देश में खलबली मच गई और घबराहट पैदा हो गई। यह भी सुनने में आया कि शुरू में तो हिन्दू ही मारे गये, पर पीछे जब किसी तरह की मदद उनको सरकार की ओर से नहीं मिली तो उन्होंने भी अपना बचाव किया और बाद में तो जितने मरे उनमें शायद अधिक संख्या मुसलमानों की ही होगी। जो हो, चाहे हिन्दू अधिक मरे हों या मुसलमान, इसमें शक नहीं कि मरनेवालों में सबसे अधिक बेकसूर लोग हैं, जो दंगे में शरीक नहीं हुए, पर उसके शिकार बन गये ! धन तो करोड़ों का बर्बाद हुआ है--बहुत अंशों में हिन्दुओं का ही धन बर्बाद हुआ और लूटा गया। अभी तक वहां तनातनी है। देखें, आगे कलकत्ते में और दूसरे स्थानों में क्या होता है।

: १६२ :

अस्थायी सरकार के पहले

इधर दरमियानी राष्ट्रीय सरकार की बातचीत चल रही थी, उधर इस तरह का खून-खराबा हो रहा था। वाइसराय और पंडित जवाहरलाल ने निश्चय कर लिया कि इस कारण उस काम में रूकावट नहीं पड़नी चाहिए। हम लोगों से राय करके पंडितजी ने वाइसराय को दरमियानी राष्ट्रीय सरकार के लिए नाम दे दिये, इन नामों में मेरा नाम भी था। आज से एक सप्ताह के लिए दे दिये, इन नामों में मेरा नाम भी था। आज से एक सप्ताह बाद, सितम्बर के आरम्भ से, ये नामजद लोग सरकार का काम संभालने लग जायंगे। आज ही तक यह वृत्तान्त लिखकर समाप्त करना चाहता हूं।

यों तो शिमले में भी मेरा नाम दिया गया था। जैसा ऊपर कह आया हूं, मैं बहुत पसोपेश में था। अन्त में पूज्य बापू (महात्माजी) के कहने पर मैंने उसे मंजूर किया था। मुझे एक नैतिक अड़चन बहुत सता रही थी। वह यह थी कि उस समय लड़ाई चल रही थी। सरकार का भार लेने का अर्थ उस लड़ाई में सहायता देना भी होता था। शिमला-कान्फ्रेन्स के भंग होने के थोड़े ही दिन बाद वह लड़ाई समाप्त हो गई। इसलिए, जब कैबिनेट-मिशन और वाइसराय से इस बार बातें शुरू हुईं तो वह नैतिक अड़चन उस रूप में अब नहीं रही, और पहले भी पंडित जवाहरलालजी ने मेरा नाम कह दिया था। इस तरह १६ जून की योजना में मेरा नाम भी था, पर उसकी नामंजूरी के बाद वह बात टल गई थी। इस बीच में जब फिर यह बात चली तो पहले यह भी सोचा गया कि दरमियानी सरकार में पंडितजी के शरीक हो जाने के बाद मैं ही मेरठ-कांग्रेस के प्रसिडेण्ट के लिए खाली रखा जाऊं। कुछ ने यह भी सोचा कि विधान-निर्माण-समिति का सभापति मैं ही बनाया जाऊं, मुझे दरमियानी सरकार में जगह न दी जाय। मुझे इस विषय में किसी से कुछ कहना नहीं था। जो कुछ भी निश्चय होता, मुझे मंजूर था। पर यदि मेरी अपनी रूचि की बात पूछी जाय तो मैं उन दोनों को अस्थायी सरकार की मेम्बरी से ज्यादा पसन्द करता। पर यह बात मेरी

पसन्द पर निर्भर नहीं थी। लोगों ने सब बातों पर विचारकर मुझे यही पद देना उचित समझा। मेरा नाम दे दिया गया है। यह सब निश्चय दिल्ली में मेरे सामने ही किया गया। मैं आराम करने के लिए पिलानी चला आया था। वहां से एक दिन के लिए जयपुर गया था। जयपुर में ही बुलाहट का तार मिला। वहीं से दिल्ली चला गया। हमारे बीच जब नामों का निश्चय हो गया तो मैं पिलानी चला आया। मैं समझता था कि शायद अगस्त के अन्त तक यहां रह सकूंगा, क्योंकि इसके पहले दरमियानी सरकार में काम उठाने का समय नहीं होगा। पर यहां पहुंचने पर मालूम हुआ कि तारीख २७ अगस्त (१६४६) को वर्किंग कमिटी की बैठक दिल्ली में होनेवाली है, जिसमें पूज्य महात्माजी भी आ रहे हैं, इसलिए अब वहां २७ अगस्त तक ही पहुंच जाना जरूरी है।

पिछले छब्बीस बरसों में दिन-रात कांग्रेस के काम में लगा रहा है। घर पर बीमार होकर ही गया हूं। वहां के काम में, भाई के मरने के बाद ही, कुछ थोड़ा समय कुछ दिनों तक देना पड़ा था, नहीं तो घर के काम से भी एकबारगी अलहदगी रही है। अपने रहने के लिए कहीं कोई अलग इन्तजाम नहीं किया। आश्रम में रहा या जब कहीं गया तो मित्रों के साथ। पटने में मृत्युजन्य के डेरे पर दो-चार ही रोज रहा हूं। इस तरह एक ही प्रकार का जीवन कटा है। कभी किसी दफ्तर में बैठकर काम नहीं किया। कुछ दिनों तक पटना-म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन की हैसियत से दफ्तर का काम किया था, पर वह अनुभव इतना कम और थोड़े दिनों का था कि कोई गिनती नहीं है। कांग्रेस के दफ्तर का, काम संभालना पड़ा है, पर वहां भी दफ्तर से अधिक जन-सम्पर्क का ही काम किया है और जाहिर है कि वह काम बिलकुल दूसरे प्रकार का है। अब एक नये प्रकार के जीवन में प्रवेश करना है। पहले तो अपने लिए अलग खास घर लेना है। उसमें रहने और खाने-पीने आदि का इन्तजाम करना होगा। अब रूपये भी वहां मुशाहरे के मिलेंगे। मालूम नहीं, इस सम्बन्ध में कांग्रेस की ओर से क्या आदेश मिलेगा--हम कितना लेंगे और उसे किस तरह खर्च करेंगे।

इसके बाद जो जटिल समस्याएं सामने पेश हैं, उनका हल किस तरह किया जायगा। मालूम नहीं, मुझे कौन विभाग मिलेगा। पहले सुनता था कि कृषि-विभाग और अन्न-विभाग मुझे दिये जायंगे। पता नहीं कि पंडितजी से वाइसराय की जो

बातचीत मेरे चले आने के बाद हुई, उसमें मेरे लिए कौन विभाग सोचा गया । यदि वे ही विभाग रहें तो मेरे मन के मुताबिक होंगे, यद्यपि अन्न-संकट बहुत कठिन है और इसका इस समय संभालना आसान नहीं है ।

मैं चाहता था कि शुरू करने के पहले एक बार पटने और रांची हो आता, पर शायद इसका समय नहीं मिलेगा । रांची जाने की बहुत जरूरत है । जनार्दन का बच्चा चिरंजीवी सूर्यप्रकाश बहुत दिनों से बीमार है । उसे बिमारी के कारण बम्बई से पटने बुला लिया था । बम्बई और पटने के डाक्टर उसे आराम न कर सके । तब वह रांची भेजा गया है । आज से प्रायः दस महीने हो गये । ढाई बरस का बच्चा बहुत कष्ट पाता आ रहा है । प्रतिदिन ज्वर हो आता है । खासी भी बहुत हुआ करती थी । फेफड़े की कुछ शिकायत थी । पर अब सुनते हैं कि वह कम है । अब कांख में घाव-सा हो आया है । उसको देख लेने की बहुत इच्छा है । जनार्दन भी अब बम्बई अपनी नौकरी पर चले गये हैं । देखें, क्या होता है ऐसी स्थिति में नया काम शुरू करना पड़ा रहा है ।

नये लोगों का साथ होगा, जिनमें बहुतेरे ऐसे होंगे, जिन्होंने या जिनके साथियों ने हमको और हमारे साथियों को जेलों में बन्द रखा--हमारे लोगों के साथ तरह-तरह की सख्तियां कीं । पर मैंने मन में किसी के प्रति कोई दूसरा भाव नहीं है और मैं मानता हूं कि मैं सबको मिलाकर अपना काम कर सकूं । पर सरकार के बाहर भी भारी कठिनाईयों का सामना करना है । न मालूम लीग क्या-क्या करेगी और जनता का रूख क्या रहेगा । यदि हमने सचाई के साथ और निष्पक्ष होकर सबकी सेवा की, तो फल अच्छा ही होगा । अपना इरादा ऐसा ही है । आगे ईश्वर के हाथ में है ।

पिलानी
२४ अगस्त, १६४६

परिशिष्ट

मैंने संस्मरण लिखना कब आरम्भ किया और यह कैसे लिखा गया, इसका जिक्र पुस्तक के १५३ वें अध्याय में किया है। पुस्तक के अन्त में यह भी लिखा है कि दरमियानी सरकार के बनने तक का ही हाल इसमें लिखा गया है। आज से प्रायः चार महीने पहले मैंने पुस्तक को पूरा किया था। इस बीच में बहुत बातें हो गई हैं, जिनका महत्त्व है और जिनको इस परिशिष्ट के रूप में दे देना अच्छा प्रतीत होता है।

तारीख २ सितम्बर, १६४६ को दरमियानी सरकार बनी। इसमें बारह मंत्री बनाये गये, जिनके नाम थे--सर्वश्री जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल, शरतचन्द्र बोस, राजगोपालाचारी, आसफअली, डाक्टर मथाई, जगजीवनराम, सर शफात अहमदखां, सरदार बलदेवसिंह, भाभा, अली जहीर और मैं। सरदार वल्लभभाई पटेल, श्री जगजीवनराम और मैं उस समय बिड़ला-भवन में ठहरे हुए थे। वहां के लोगों ने मांगलिक क्रिया के साथ हमको गवर्नमेण्ट हाउस के लिए रवाना किया। वहां से हम लोग पूज्य गांधीजी के पास गये और अन्य साथियों के साथ गांधीजी का आशीर्वाद लेकर वाइसराय के पास अपना काम संभालने के लिए गये। वहां नियमानुकूल हमको सौगधं लेनी पड़ी। इसमें एक मुख्य बात यह थी कि हम बादशाह जार्ज और उनके वारिसों के प्रति सच्ची वफादारी बरतेंगे।

हमारी सारी जिन्दगी ब्रिटिश साम्राज्य से हिन्दुस्तान को मुक्त कराने में लगी रही है। अन्त में ब्रिटिश बादशाह की वफादारी की सौगन्ध कहां-तक ठीक है, यह प्रश्न बहुतों के दिलों में उठा करता है। बात यह है कि ब्रिटिश-विधान में इस प्रकार की सौगन्ध एक आवश्यक वस्तु है और प्रजातन्त्र का काम प्रजा की मरजी के मुताबिक चलना और चलाना भी वैसा ही आवश्यक अंग है। राजा प्रजातन्त्र की सम्मति के विरूद्ध कुछ भी नहीं कर सकता और प्रजातन्त्र की सम्मति पार्लमेण्ट द्वारा ही जानी जाती है। प्रधान मंत्री उस सम्मति के अनुसार ही काम करता है। राजा उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता और मंत्रिमण्डल के बनाये हुए भाषण देता है तथा बताये हुए काम को ही करता है। एक विधान-शास्त्री ने लिखा है कि जो भी कागज प्रधान मंत्री पेश करे, उसपर राजा को दस्तखत करना ही पड़ता है। यहांतक कि यदि उसके सामने राजा को फांसी देने का हुक्मनामा भी पेश किया जाय तो राजा उसपर दस्तखत करने से इनकार नहीं कर सकता। इस प्रकार की एक घटना कुछ वर्ष पूर्व हुई भी जब राजा अष्टम-एडवर्ड को, प्रधान मन्त्री बाल्डविन की सम्मति मानकर गद्दी छोड़नी पड़ी। जब वहां का विधान ऐसा है तो भारतवर्ष को स्वतन्त्र बनाने का प्रयत्न इस सौगन्ध के विरोध में नहीं माना जा सकता है और सब लोगों ने ऐसा ही समझा भी है। यदि बाल्डविन राजा को गद्दी छोड़ने की सम्मति दे सकते हैं तो भारतीय मंत्री भी उसे हिन्दुस्तान पर से ब्रिटिश सत्ता हटा देने की सलाह, सौगधं के बावजूद, दे ही सकते हैं। इसलिए दोनों में कोई विरोध नहीं दीखा और हम सबने सौगंध ले ली।

मेरे जिम्मे अन्न और खेती-विभाग दिये गये। अन्न-संकट सारे देश में जबर्दस्त था, विशेष करके दक्षिण के उन हिस्सों में जहां के लोग चावल ही खाया करते हैं। १६४५ में

वर्षा बहुत कम हुई। पहले से भी पानी नहीं बरसा। इसलिए रबी की फसल भी कम हुई। पहले से, लड़ाई के जमाने में ही, अन्न की बहुत कमी हो गई थी, क्योंकि बर्मा से चावल आना बन्द हो गया था। हिन्दुस्तान के कुछ हिस्सों में वहां के लोगों के खाने के लिए काफी अन्न नहीं होता है। यह कमी बर्मा के चावल से पूरी होती थी। जब उसकी आमद बन्द हो गई तो बड़ी कठिनाई हो गई। बंगाल के भयंकर अकाल के कारणों में यह भी एक था। १६४६ के आरम्भ से ही इसका डर हुआ कि इस साल अन्न की बहुत कमी रहेगी और फिर कहीं अकाल न पड़ जाय। इसलिए भारत-सरकार ने विदेशों से अन्न मंगाने का इतजाम सोचा। आजकल दुनिया में अन्न-संकट है, इसलिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था बनाई गई है, जो सभी देशों में, जहां कुछ अधिक अन्न मिल सकता है, पता लगाकर उन देशों में उसे पहुंचवाने का प्रबन्ध करती है, जहां अन्न की कमी है। इस संस्था में भारतवर्ष भी शरीक है और उससे भारत की ओर से अन्न की मांग की गई।

विदेशों मे और विशेष करके अमेरिका में यहां का समाचार पहुंचा। वहां के भूतपूर्व राष्ट्रपति हूवर सभी देशों में अन्न-संकट की स्थिति देखते-देखते हिन्दुस्तान भी पहुंचे। वे यहां की बुरी हालत से बहुत प्रभावित हुए और मदद देने की सलाह दी। इसके बाद ही कुछ लोग अमेरिका से गैर-सरकारी तौर पर यहां की हालत देखने आये। इनके प्रधान थे डाक्टर शुल्ट्ज, जो कृषि और अन्न-सम्बन्धी समस्याओं के विशेषज्ञ समझे जाते हैं वह भी यहां की दुर्दशा से बहुत प्रभावित हुए। नतीजा यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय संस्था ने भारतवर्ष के लिए अन्न दिया। पर हम जितना चाहते थे उतना नहीं, उससे बहुत कम। इसका कारण यह था कि उनके पास इससे अधिक देने की शायद गुंजाइश थी ही नहीं, क्योंकि उनको दूसरे देशों को भी देखना था। जिस दिन मैंने इस काम को संभाला, हालत बहुत नाजुक थी और डर मालूम होता था कि किसी-न-किसी दिन अन्न बिना लोग मरने लग जायंगे। देश और विदेश से जो कुछ मिल सकता था, उसे देश के भिन्न-भिन्न भागों में जरूरत के मुताबिक बांटा जा रहा था। आते ही मैंने देखा कि पूज्य गांधीजी ने जो कुछ पहले कहा था, वही ठीक है। उन्होंने कहा था कि विदेशों पर हम बहुत भरोसा नहीं कर सकते, क्योंकि वहां से अन्न लाने में हजारों अड़चनें पड़ सकती हैं। हमारे लिए अपने देश और अपने लोगों पर भी भरोसा करना ठीक है। मैंने तुरन्त स्थिति को समझकर इस बात की अपील की कि जिससे जो बन पड़े, अधिक अन्न पैदा करने के लिए करे--जितना कम अन्न खर्च कर सके, करे और जितना बचा करके दूसरों के लिए दे सके, दे।

विदेशों से जो कुछ आ सकता था, उसपर जोर लगाया गया और देश में जो कुछ मिल सकता था और अन्न के खर्च में जितनी किफायत हो सकती थी, की गई। चिन्ता दिन-रात बनी रहती। यह सब केवल मेरे ही साथ नहीं थी--हमारे विभाग के सभी कर्मचारी हमसे भी अधिक चिन्तित रहते थे, क्योंकि अभी तक अकाल-मृत्यु से बचाने का भार तो उनपर ही था। मैं तो अभी आया था। मुझे इस बात से बड़ी प्रसन्नता हुई कि मेरे विभागों में मेरे और

कर्मचारियों के बीच किसी प्रकार का मतभेद नहीं हुआ और सभी मिल-जुलकर अपनी शक्ति-भर संकट से देश को बचाने के काम में लगे रहे । सबसे कठिन समय हम, सितम्बर से दिसम्बर तक के, चार महीने मानते थे । दिसम्बर समाप्त हो गया । ईश्वर की कृपा है कि अबतक कोई अन्न बिना मरा नहीं है । लोगों की खुराक बहुत कम कर दी गई है । जो चावल के सिवा गेहूं-मकई कभी खाते नहीं थे, ऐसे अन्न को किस तरह खाने के लिए तैयार किया जाता है--यह भी नहीं जानते थे, उनको भी हम गेहूं-मकई दे सके हैं और चावल बहुत कम मात्रा में । इस तरह उनको बहुत कम खुराक मिली है और ऐसी खुराक मिली है, जिसको वह पहले जानते ही नहीं थे । तो भी बावजूद इन कष्टों के उधर लोगों ने बहुत ही साहस और धीरज से संकट का समय काट लिया है । बरसात मामूली तौर पर अच्छी हुई है और धान की फसल औसत है । अब तो धान लोगों की आंखों के सामने है, कहीं-कहीं खलिहान में आ गया है और कहीं-कहीं तो चावल भी तैयार हो गया है । अब उन हिस्सों के लोगों के लिए, जहां चावल खाया जाता है, भय कम हो गया है । पर गेहूंवाले प्रदेशों की हालत अब चिन्तित करने लगी है । चावल की कमी के कारण जहांतक हो सका, वहां से गेहूं लेकर चावलवाले प्रदेशों में दिया गया था । उसे अब वापस करना है । गेहूं की फसल तैयार होने में अभी कम-से-कम तीन-चार महीनों की देर है । इसी बीच में पत्थर-पानी न मालूम कितनी आसमानी आफतें आ सकती हैं । विदेशों से, विशेष करके अमेरिका से जो गेहूं आने की आशा थी, वहां पूरी नहीं हो रही है, क्योंकि वहां जहाजों पर काम करनेवालों की और कोयले की खानों में हड़ताल चली है । इसलिए गेहूं की कमी हो रही है । जिस तरह ईश्वर ने चावल-संकट को हटाया, आशा है, इस संकट में भी वही त्राण देगा ।

थोड़े दिनों के अनुभव ने मेरा यह विश्वास और भी दृढ़ कर दिया है कि भारतवर्ष जैसे कृषिप्रधान देश को अपनी खुराक खुद पैदा करनी चाहिए । इसके लिए विदेशों पर भरोसा करना ठीक नहीं । यह कोई आसान समस्या नहीं है । हमारी आबादी बढ़ती जा रही है । आबाद होने लायक जमीन अब बहुत नहीं बची है । बहुत-कुछ आबाद हो चुकी है । पहले भी पांच-छः करोड़ मन चावल हर साल बाहर से मंगाना पड़ता था । अब आबादी बढ़ जाने से अधिक अन्न की जरूरत हो गई है और बढ़ती जायगी । इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न करना कृषि-विभाग का काम है । फिर यह भी जाहिर है कि हमारे लोगों को जो भोजन मिलता है, वह ऐसा नहीं होता कि उससे उनका स्वास्थ्य उन्नत हो । उसमें बहुत प्रकार की कमी है, जिसे पूरा करना चाहिए । इसलिए अन्न के अलावा दूध, मछली, मांस, तेल, घी, फल-मूल, सब्जी इत्यादि सभी चीजों को अधिक मात्रा में पैदा करना आवश्यक है । मेरी दिलचस्पी इन विषयों में काफी है और ऐसे प्रयत्न में दिन-रात लगा हूं कि यह कैसे किया जाय । सरकार तो केवल कुछ मार्गदर्शन करा सकती है, सलाह दे सकती है--थोड़ी-बहुत सहायता कर सकती है । पर काम तो जनता का है । हमारी जनता विशेष करके खेती का काम करती हैं । उसे ही इस भार को संभालना है । जनता को किस तरह सहायता दी जाय कि वह इसे संभाल सके ।

कृषि-विभाग का प्रधान होने की हैसियत से मुझे इस जबाबदेही को संभालने का प्रयत्न तो करना है। सभी कर्मचारी मदद कर रहे हैं, पर काम इतना बड़ा और विस्तृत है कि प्रायः चार महीनों के बाद भी अभी यह नहीं कह सकता कि मैं यह कहांतक कर पाया हूं और कहांतक पूरा कर सकूंगा। संकट-निवारण में जनता ने काफी मदद की। मेरी अपील पर हजारों लोगों ने खाना कम कर दिया। उन्होंने निश्चय किया कि समय-समय पर नियमित रूप से उपवास करके अन्न बचायेंगे और दूसरे प्रकार से सबने मदद की थी। आशा है, अन्न की पैदावार बढ़ाने में भी उनकी ओर से वैसे ही मदद मिलेगी।

लार्ड वेवल इस बात के लिए बराबर कोशिश में थे कि मुस्लिम लीग किसी तरह दरमियानी सरकार में और विधान-परिषद् में शरीक हो जाय। हमारी नियुक्ति के थोड़े ही दिनों बाद उन्होंने मि० जिन्ना से पत्र-व्यवहार शुरू किया और एक समय आया जब पं० जवाहरलाल नेहरू को उनसे बातचीत करनी पड़ी। भोपाल के नवाबसाहब भी बीच में पड़े और इस बात की कोशिश की गई कि कांग्रेस और मि० जिन्ना के बीच कुछ समझौता हो जाय। पर यह प्रयत्न सफल नहीं हुआ। अन्त में मि० जिन्ना ने निश्चय किया कि वाइसराय की अनुमति से, कांग्रेस की सम्मति के बिना ही, वह अपने लोगों को दरमियानी सरकार में भेजेंगे। हमने तीन जगहें खाली कर दीं और मुस्लिम लीग के पांच सदस्यों की नियुक्ति हो गई। इस नियुक्ति के सम्बन्ध में कुछ बातें लिख छोड़ना बुरा न होगा। १६ जून १९४६ के वक्तव्य में कैबिनेट-मिशन और वाइसराय ने कहा था कि वही लोग दरमियानी सरकार में शरीक हो सकेंगे, जिन्होंने १६ मई वाले वक्तव्य को मंजूर कर लिया हो और चूंकि उस समय लीग और कांग्रेस दोनों ने ही उसे मान लिया था, दोनों के सदस्यों को लेकर ही दरमियानी सरकार बनाई जा सकती थी। उस समय कांग्रेस उसमें शरीक होने के लिए तैयार नहीं थी, इसलिए उस समय दरमियानी सरकार नहीं बनी। इससे रूष्ट होकर लीग की कौन्सिल ने निश्चय किया कि वह अब १६ मई और १६ जून के दोनों वक्तव्यों की स्वीकृति के अपने प्रस्तावों को वापस ले लेती है।

अक्तूबर में जब लार्ड वेवल ने लीग के मेम्बरों को नियुक्त करना चाहा तो प्रश्न यह हुआ कि क्या लीग ने १६ मई वाले वक्तव्य को मंजूर कर लिया है या नहीं। उसके मंजूर कर लेने का अर्थ यह है कि वह विधान परिषद् में शरीक होगी और उसकी कार्रवाई को पूरा करेगी। हम लोगों के पूछने पर लार्ड वेवल ने हम लोगों को आश्वासन दिया कि उन्होंने लीग को बता दिया है कि दरमियानी सरकार में शरीक होने का अर्थ ही है कि १६ मई वाले वक्तव्य को लीग मंजूर करती है।

दूसरी बात यह थी कि दरमियानी सरकार में शरीक होने के पहले हमने यह तय कर लिया कि हम सब कैबिनट की तरह एकसाथ मिल-जुलकर काम करेंगे। इसका अर्थ यह होता है कि हम सबकी सम्मिलित जवाब-देही है अर्थात् हरेक मंत्री की कार्रवाई के लिए सारी कैबिनेट जवाबदेही होगी और यदि एक को हटना पड़े या हटाया जाय तो सारी कैबिनेट हटेगी। इस तरह हरेक मंत्री अपनी मर्जी और इच्छा के अनुसार काम न करके सब साथ मिलकर काम करेंगे और उनको एक-दूसरे के विरूद्ध फोड़ा न जा सकेगा। हमने इसी रीति के अनुसार काम भी शुरू

किया । हमने समझा, सरकार की रीति में यह एक बहुत बड़ा फर्क होगा, क्योंकि इस तरह वाइसराय को हस्तक्षेप करने का मौका बहुत कम रह जायगा । बात यह है कि किसी एक के साथ हस्तक्षेप का अर्थ सबके साथ हस्तक्षेप हो जाता है और सारा मंत्रिमण्डल टूट जा सकता है ।

पहले के एक्जिक्यूटिव-कौन्सिल के लोग अलग-अलग नियुक्त किये जाते थे और एक-दूसरे के साथ उनका सम्पर्क वाइसराय के मार्फत ही होता था और एक के हटने से दूसरों पर असर नहीं पड़ता था । हमारी नियुक्ति के बाद दफ्तर के कामों और कागजों में मंत्रिमण्डल और उसके सदस्यों को एक्जिक्यूटिव कौन्सिलर और कौन्सिल का सदस्य न कहकर कैबिनेट और कैबिनेट-मेम्बर के नाम का ही व्यवहार किया जाने लगा । सभी कागजों में, जहां कौन्सिल का नाम था, काट करके कैबिनेट बना दिया गया । हमारी निजी कार्रवाई भी इसी के अनुकूल होने लगी । हम मंत्रिगण प्रतिदिन संध्या के पांच बजे निजी तौर पर मिलते थे और सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर, चाहे वह किसी भी विभाग के क्यों न हों, बातें कर लेते थे और सबकी राय से निश्चय भी कर लिया करते थे । जब लीग के लोगों के आने की बात चली तो हमने आशा की कि वही तरीका रहेगा । पर ऐसा हुआ नहीं ।

लीग ने आते ही इन दोनों बातों से इनकार किया । कहा गया कि उसकी ओर से ऐसा कोई वचन नहीं दिया गया है कि १६ मई के वक्तव्य की नामंजूरी के निश्चय को वह रद करेगी और उसने यह मंजूर नहीं किया है कि दरमियानी सरकार के सदस्य कैबिनेट की तरह काम करेंगे । वे इस बात को मानते हैं कि जैसे पहले की एक्जिक्यूटिव कौन्सिल काम किया करती थी, उसी तरह वे अब भी काम करेंगे । पं० जवाहरलालजी के निमंत्रण देने पर कि वे हमारी संध्यावाली कैबिनेट की निजी बैठक में शरीक हों, उन्होंने इनकार कर दिया । अब वे लोग और हम लोग वाइसराय की उपस्थिति में जब कभी कैबिनेट की बाजाब्ता बैठक होती थी तभी मिल सकते थे और जो विषय वहां उपस्थित होते थे, उनके सम्बन्ध में जो कुछ कहना-सुनना होता था, वहीं हो सकता था ।

इधर दरमियानी सरकार का काम इस तरह चल रहा था, उधर कलकत्ते के हत्याकाण्ड के बाद सारे देश में बड़ी खलबली मच रही थी । बम्बई, प्रयाग, ढाका इत्यादि अनेक स्थानों में लोगों को छूरे भोंके जा रहे थे और बहुतेरे बेकसूर निरीह लोग हिन्दू या मुसलमान होने के कारण राह चलते मारे जा रहे थे । बिहार के बहुत लोग कलकत्ते में रहा करते हैं । उनमें से बहुतेरे कलकत्ते के हत्याकाण्ड में मारे गये थे और दूसरी तरह से सताये गये थे । जो भाग करके वापस आये, उन्होंने अपने और दूसरों के दुखड़े सुनाये । इसका असर बिहार के लोगों पर बहुत पड़ता गया । मुजफ्फरपुर जिला के बेनीवाद गांव से खबर उड़ी कि वहां कोई मुसलमान एक हिन्दू स्त्री को कलकत्ते से जबरदस्ती ले आया है । हिन्दुओं की एक भीड़ उस गांव में गई और कई मुसलमानों को उसने मार डाला और कितनों के घर जला दिये । खबर मिलने पर वहां के लोगों के साथ सरकार ने सख्ती की और बहुतेरे गिरफ्तार किये गये और सामूहिक जुर्माना दिया गया । इस घटना की खबर फैलने पर मुसलमानों में अशान्ति फैली । कुछ दिनों के बाद जोरों

से खबर आई कि नोआखाली और त्रिपुरा जिलों में, जहां मुसलमानों की बहुत आबादी है, मुसलमानों ने हिन्दुओं पर हमला शुरू कर दिया। बहुतेरे मारे गये और गांव-के-गांव, जहां हिन्दू रहते थे, जला दिये गये और हजारों की तादाद में हिन्दू जबर्दस्ती मुसलमान बना लिये गये। बहुतेरी स्त्रियों के साथ जबरदस्ती शादी कर ली गई और बहुतेरी भगा या चुराकर अन्यत्र हटा दी गईं। ये बकाया दो जिलों के कई थानों में फैले हुए थे। पहले तो ठीक पता नहीं चला कि इसका फैलाव कितना है। हजारों की तादाद में हिन्दू अपने घर-द्वार को छोड़कर अथवा सब-कुछ बर्बाद होने और लुट जाने या जला दिये जाने के बाद भाग करके शहरों में और दूसरे स्थानों में आश्रय लेने आये। उन इलाकों में किसी भी हिन्दू के लिए जाना कठिन था, क्योंकि इलाके-भर का महासरा कर लिया गया था। वहां की सरकार की शिकायत होने लगी कि उसने बलवाइयों को रोक ने का कोई समुचित प्रबन्ध नहीं किया और जैसे कलकत्ते में बलवाइयों को छोड़ दिया गया था वैसे ही वहां भी छोड़ दिया गया कि वे मनमानी करें। यह काण्ड कई दिनों तक चलता रहा। वहां के और कलकत्ते के काण्ड में एक बहुत बड़ा अन्तर यह था कि कलकत्ते में हिन्दुओं की आबादी बहुत ज्यादा है, लेकिन नोआखाली और त्रिपुरा में मुसलमानों की। इसलिए कलकत्ते में शुरू में तो हिन्दू खूब पिटे, पर पीछे उन्होंने अपना बचाव जोरों से किया। नोआखाली और त्रिपुरा से ऐसा नहीं हो सका, क्योंकि वहा हिन्दू बहुत कम और कमजोर थे। इन घटनाओं की खबर देश-भर में फैल गई और चारों और हिन्दुओं में बड़ा रोष पैदा हुआ।

इन घटनाओं का नतीजा यह हुआ कि हिन्दुओं में प्रतिशोध की भावना भर गई। उधर मुस्लिम लीग के नेता लोग और समाचार-पत्र दिन-प्रतिदिन जहर उगला करते थे और हिन्दुओं को युद्ध के लिए ललकार रहे थे। पं० जवाहरलालजी पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में सरकार के मंत्री की हैसियत से सफर करने गये। वहां के सरकारी राजनैतिक विभाग के कर्मचारी सीधे वाइसराय की मातहती में काम करते थे। कुछ हिस्सों में गलत प्रचार से लोगों को उभाड़ा गया और कुछ आदमियों ने पंडितजी तथा बादशाह खान के साथ केवल बदतमीजी ही नहीं की, बल्कि और तरह की ज्यादतियां कीं। एक जगह तो इतना जबर्दस्त हमला हुआ कि उन लोगों की जान किसी तरह से बची और बादशाह खान के हाथ में इतनी चोट आई कि हड्डी टूट जाने के कारण महीनों तक पट्टी बांध रखने की जरूरत हो गई। पर बावजूद इस तरह की दुर्घटनाओं के पंडितजी की यात्रा बहुत सफल रही और वहां के लोगों ने उनका बहुत स्वागत किया--प्रेम और उत्साह दिखलाया। इस बात का भी असर देश के हिन्दुओं पर काफी पड़ा। उनको ऐसा जान पड़ा कि मुस्लिम लीग हिन्दुओं को ब्रिटिश के साथ मिल करके दबाना चाहती है और दबाती जा रही है।

बिहार में भारी बलवा शुरू हो गया। कई जगहों में छोटी-मोटी घटना को लेकर हिन्दू बड़ी तादाद में मुसलमानों के गांवों पर हमला करने लगे। पटना-जिले के कई थानों के कितने ही मुसलमान मारे गये और कितनों के साथ क्रूरता का व्यवहार किया गया। यह आग मुंगेर और

गया जिलों के कई थानों तक पहुंच गई । छपरा में इसका आरम्भ ही हुआ था, जहां पहले शहर में और पीछे गांवों में बहुतेरे मुसलमान मारे गये । दिल्ली में इन दुर्घटनाओं की खबर मिली । पंडित जवाहरलाल और सरदार वल्लभभाई--जो बंगाल की हालत देखने कलकत्ता गये थे--पटने में वापसी के समय रूक गये । उनके साथ मि० लियातकअली और सरदार निश्तर भी गये थे । वे लोग भी रूक गये । सरदार वल्लभभाई और मि० लियातकअली तो दिल्ली के काम से वापस आ गये, पर पंडित जवाहरलाल और सरदार निश्तर बिहार में ठहर गये । मैं भी हवाई जहाज से वहां पहुंचा । हमारे मंत्रिमण्डल के लोग बहुत जोरों से दौड़-धूप कर रहे थे और पुलिस से जहांतक हो सकता था, बलवा रोकने का प्रयत्न कर रहे थे । फौज की मदद भी मांगी थी, जो कुछ देर के बाद पहुंची । पंडित जवाहरलाल और मैं दोनों दौड़-धूप करने लगे । उधर जब गांधीजी को खबर मिली तो उन्होंने घोषणा की कि यदि बिहार में बलवा न रूका तो वह आमरण अनशन करेंगे । इस समय गांधीजी नोआखाली में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच पुनः सद्भाव स्थापित करने के लिए गये हुए थे । वहीं से उन्होंने यह घोषणा की । नतीजा यह हुआ कि बिहार में बलवा एकबारगी जल्द बन्द हो गया । पर जितना हो चुका था वह बहुत भंयकर था । कितने मारे गये, इसका ठीक पता अभीतक नहीं लगा है, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनकी संख्या हजारों की है । मुस्लिम लीग के लोगों ने तो बहुत बढ़ा करके संख्या बताई है और मि० जिन्ना ने ३०,००० के आंकड़ों को घोषित किया । यह तो बिलकुल गलत है और मेरे अनुमान में इसके दशमांश को मान लेना गलत न होगा । संख्या जो भी हो, इसमें शक नहीं कि बहुत जुल्म और क्रूरता की गई, जिसके लिए सबको लज्जित होना चाहिए । आपस के मेल-जोल के प्रयत्न में बड़ा धक्का लगा । इन बलवों के कारण हजारों की तादाद में मुसलमान भाग करके शहरों और ऐसे स्थानों में, जहां वे अपने को सुरक्षित समझते हैं, आ गये हैं । वहां उन लोगों के रहने, खाने इत्यादि का प्रबन्ध सरकार कर रही है और मुस्लिम लीग के बहुतेरे काम करनेवाले पहुंच गये हैं । बलवा तो चन्द दिनों के बाद ही रूक गया, पर उसका नतीजा तो अभीतक आंखों के सामने है और बहुत दिनों तक रहेगा ।

इसी तरह की भयंकर घटना मेरठ-जिला के गढ़मुक्तेश्वर के मेले के समय हो गई । वहां भी बहुतेरे मुसलमान मारे गये और पीछे मुसलमानों ने हिन्दुओं से उसका कुछ बदला चुकाया । इस समय खबर है कि सीमाप्रान्त में भी, हजारा जिले में, कुछ कबीलों का लश्कर हिन्दुओं पर हमले कर रहा है । बहुतेरे शहरों में छुराबाजी तो कम-बेश जारी है ही । एक भयंकर स्थिति है ।

इस बार मेरठ में ही कांग्रेस होने की बात थी । जब गढ़मुक्तेश्वर की दुर्घटना हुई तो ऐसा शक होने लगा कि वहां कांग्रेस नहीं हो सकेगी । पर स्थिति संभल गई और कांग्रेस का जलसा हुआ । हां, जो समारोह होने को था, वह नहीं हुआ । कांग्रेस के साथ होनेवाली प्रदर्शनी और अनेकानेक दूसरी संस्थाओं की सभाएं नहीं हुईं । कांग्रेस में भी दर्शकों को आने से रोक दिया गया और केवल प्रतिनिधियों को ही आने दिया गया तो भी समारोह तो हो ही गया और

कुछ-न-कुछ दर्शक आ ही गये। आचार्य कृपालानी के सभापतित्व में सफलतापूर्वक कांग्रेस समाप्त हुई। महत्त्व के दो प्रस्ताव हुए। एक में भारतवर्ष में प्रजातन्त्र कायम करने की बात कही गई और दूसरे में विधान-परिषद् को विधान-सम्बन्धी आदेश दिये गये।

हम दिल्ली से ही मेरठ गये थे। वहां से लौटते ही मालूम हुआ कि इंगलैंड के मंत्रिमण्डल ने कांग्रेसी नेता पं० जवाहरलाल और वल्लभभाई को, सिखों के नेता सरदार बलदेवसिंह को और लीग के नेता मि० जिन्ना तथा मि० लियाकतअली को बुलाया है। हम लोगों की समझ में यह नहीं आया कि हमको क्यों बुलाया जा रहा है, क्योंकि हमने तो १६ मईवाले वक्तव्य को मान करके काम शुरू कर ही दिया। केवल लीग ने अभीतक अपनी अस्वीकृति के निश्चय को नहीं बदला था। अब विधान-परिषद् की बैठक का समय नजदीक आ गया था, क्योंकि १ दिसम्बर से होनेवाली थी और यह बात २७ नवम्बर को पेश हुई थी। हम लोगों ने तो पहले यह कहा कि हमारे जानते वहां जाने की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि हमारा मतभेद विलायती मंत्रिमण्डल के साथ १६ मई के वक्तव्य के अर्थ के सम्बन्ध में था। वह उनको मालूम ही था और वहां जाने से उसमें कोई फर्क नहीं पड़नेवाला है, पर तो भी यदि वे बुलावेंगे ही तो हम चले जायंगे। प्रधान मंत्री मि० एटली का तार आया कि जरूर आइये और ९ दिसम्बर तक विधान-परिषद् की कार्रवाई शुरू होने के पहले ही वापस चले जाइये। लीग ने पहले तो जाने का निश्चय कर लिया, पर जब मि० जिन्ना को मालूम हुआ कि कांग्रेस को कुछ आश्वासन दिया गया है तो उन्होंने जाने से इनकार कर दिया। वह उस समय करांची में ही थे। वाइसराय वहां पहुंचे और दोनों में कुछ बातें हुईं और वह भी जाने के लिए तैयार हो गये। इस प्रकार पं० जवाहरलाल, सरदार बलदेवसिंह, मि० जिन्ना और मि० लियाकतअली वाइसराय के साथ हवाई जहाज से इंगलैंड गये।

कैबिनेट-मिशन और वाइसराय ने बार-बार आश्वासन दिया था कि १६ मई के वक्तव्य में कोई परिवर्तन या परिवर्धन नहीं किया जायगा। पर इस बार उन्होंने उसमें परिवर्धन और परिवर्तन दोनों ही किये और यद्यपि यह कहा गया है कि केवल उस वक्तव्य का अर्थ साफ कर दिया गया है और उससे कुछ भी ज्यादा नहीं किया है, फिर भी इसमें शक नहीं कि कुछ नई बातें कही गईं और कुछ पहले कही गई बातों में जोड़ा गया। लन्दन में जो बातचीत हुई, उसका नतीजा तारीख ६ दिसम्बर १९४६ का वक्तव्य है, जिसके सम्बन्ध में उपर्युक्त परिवर्तन और परिवर्धन की बातें कही गई हैं। इस सम्बन्ध में विचार करके अपनी राय प्रकट करने के लिए अखिल भारतीय कमिटी की एक विशेष बैठक बुलाई गई।

९ दिसम्बर को विधान-परिषद् की बैठक का निश्चय कर दिया गया था और उसके सदस्यों के पास निमन्त्रण भेज दिये गये थे। इसलिए वह बैठक की गई। उसकी बैठक के लिए केन्द्रीय धारा सभा के चौगोल में एक भाग, जिसमें पुस्तकालय था, खास तौर पर बहुत अच्छी तरह सजवा करके तैयार किया गया था। विशेष करके उसमें ऐसा प्रबन्ध किया गया था कि सदस्यों को बोली की प्रतिध्वनि, जो ऐसी इमारतों में स्वाभाविक है, न होने पावे। इसके लिए अनेक

प्रकार के वैज्ञानिक प्रबन्ध किये गये और सदस्यों को दिल्ली की सरदी से बचाने के लिए स्थान को गर्म रखने का प्रबन्ध था। वहां ६ दिसम्बर से विधान परिषद्-का काम शुरू हुआ।

इसके सम्बन्ध में पहला प्रश्न यह उठा था कि जबतक स्थायी सभापति का चुनाव न हो जाय तबतक परिषद् की कार्रवाई का संचालन कौन करे। निश्चय हुआ कि सदस्यों में जो सबसे अधिक वयोवृद्ध हों, वही अस्थायी सभापति हों। हमारे बिहार के डाक्टर सच्चिदानन्दसिंह ही सबसे अधिक वयोवृद्ध निकले। इनकी उम्र और हरिसिंह गौड़ तथा श्री प्रकाशम् की अवस्था में थोड़ा ही अन्तर था, पर वह सबसे बड़े निकले। इसलिए उन्होंने ही सभापति का आसन ग्रहण किया और दो-तीन दिनों तक--जबतक स्थायी सभापति का चुनाव नहीं हुआ, बड़ी खूबी के साथ काम चलाया।

अब यह प्रश्न उठा कि स्थायी सभापति किसको नियुक्त किया जाय। ऊपर कह चुका हूं कि दरमियानी सरकार में हम लोगों की नियुक्ति के पहले विचार हुआ था कि मुझे इस काम के लिए रख छोड़ा जाय और दरमियानी सरकार में मुझे न भेजा जाय। पर अन्त में यह विचार बदल दिया गया और मुझे वहां नियुक्त कराया गया। इंगलैंड जाने के पहले हम लोगों ने पं० जवाहरलालजी से बातें कीं थीं और सोचा गया था कि कांग्रेस के बाहर के किसी योग्य व्यक्ति को ही चुनना ठीक होगा। सर गोपालस्वामी आयंगर का नाम भी सामने आया था। वह योग्य और अनुभवी व्यक्ति हैं और इस विषय में उन्होंने काफी दिलचस्पी ली थी। वह कांग्रेस के नहीं थे, तथापि चुने जाने में कांग्रेसी सदस्यों ने उनकी मदद की थी। जब परिषद् के इजलास के लिए लोग आने लगे तो सदस्यों का विचार हुआ कि मुझे यह पद दिया जाय। उन्होंने आपस में बातें कीं और मालूम हुआ कि बहुत लोगों की यही इच्छा थी। मुझे पहले इसका पता नहीं था, पर लोग एक-एक करके मेरे पास पहुंचने लगे और जोर देने लगे कि मैं इस पद को स्वीकार करूं। मेरे सामने बड़ी कठिनाई यह थी कि दो विभागों का काम मेरे जिम्मे था और वह मेरे लिए काफी था। उसपर यह काम भी उठाना बहुत भारी हो जायगा। मैंने इस विचार से इसे पहले इनकार कर दिया। वर्किंग कमिटी में यह बात पेश हुई और मैंने यह प्रश्न उपस्थित किया कि यदि मुझे यह पद लेना पड़े तो दरमियानी सरकार में से मुझे मुक्त कर दिया जाय। इसपर कोई राजी न था। परिषद् के सदस्य इस बात पर तुल गये थे कि मुझे ही यह भार दिया जाय। अन्त में मजबूर होकर और डरते-डरते मैंने इस भार को भी लेना मंजूर किया। मेरा नाम पेश हुआ और मैं सर्वसम्मति से चुना गया। लोगों ने बधाई देते समय मेरे सम्बन्ध में बहुत-कुछ कहा। पर मैं तो भार से दबा जा रहा था और भी वही हालत है। इधर तो चन्द दिनों की ही बैठक रही है। काम चला लिया है और विशेष करके कोई विरोध या जटिल प्रश्न अभी तक सामने नहीं आया है। देखें आगे कैसे निभता है। ईश्वर ही चलायेगा।

ऊपर कहा गया है कि ६ दिसम्बर के वक्तव्य पर विचार करने के लिए अखिल भारतीय कमिटी की बैठक बुलाई गई। वह ५-६ जनवरी १९४७ को हुई और उसने निश्चय किया कि

१६ मई वाले वक्तव्य का जो अर्थ ६ दिसम्बर के वक्तव्य में लगाया गया है, उसी के अनुसार काम किया जाय । हां, किसी सूबे या भाग के साथ जोर-जबर्दस्ती हम बर्दाश्त नहीं करेंगे और जब कभी ऐसा होता दीखेगा तो हम उसके विरोध में जो उचित समझेंगे, करेंगे । देखें अब भी मुस्लिम लीग विधान-परिषद् में शरीक होती है या नहीं । उसे या ब्रिटिश सरकार को अब कांग्रेस के साथ कोई शिकायत १६ मई के वक्तव्य के सम्बन्ध में नहीं रहनी चाहिए । पर देखना है वह करते क्या हैं ।

इधर तो विधान-परिषद् की बैठक होने लगी, उधर मैंने काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय में दीक्षान्त भाषण देने का पहले से ही वचन दे रखा था । उसके लिए १५ दिसम्बर को वहां जाना पड़ा । हवाई जहाज से पंडित जवाहरलालजी के साथ वहां गया । उनको डाक्टर की उपाधि दी गई और मैंने दीक्षान्त भाषण दिया । हिन्दू-विश्व-विद्यालय तीस बरसों से चल रहा है । आरम्भ में पूज्य मालवीयजी का विचार था कि वहां हिन्दी द्वारा ही शिक्षा दी जाय । पर विश्व-विद्यालय की स्थापना के समय उनको परिस्थिति में मजबूर होकर यह विचार बदल देना पड़ा था और अंगरेजी को माध्यम बनाना पड़ा था । नागपुर की नई यूनिवर्सिटी ने निश्चय कर लिया है कि वहां शिक्षा का माध्यम हिन्दी और मराठी हो । बहुत लोगों को हिन्दू-विश्वविद्यालय की यह त्रुटि बहुत खटकती है । उसकी रजत-जयन्ती के समय महात्मा गांधीजी ने हिन्दी के अभाव और अंगरेजी के प्राचुर्य की टीका की थी । मैंने अपने भाषण में इस बात पर जोर दिया कि अब कोई कारण नहीं है कि हिन्दी को माध्यम क्यों न बनाया जाय, क्योंकि अब पाठ्य-पुस्तकों की कमी नहीं है और जो कमी हो भी वह शीघ्र पूरी की जा सकती है । मैं जहांतक समझ सका, उपस्थित जनता ने इसे पसन्द किया । मालूम नहीं, अधिकारी लोगों का क्या विचार होगा ।

-इस बार विश्वविद्यालय का समावर्तन एक बड़ी विशेषता और महत्त्व रखता है । इसके निर्माता, कर्ता-धर्ता महामना पूज्य पंडित मदनमोहन मालवीयजी का देहावसान हाल ही में हो गया । एक महान् कर्मठ योगी संसार से चला गया । विश्वविद्यालय तो चिरकाल तक उनका स्मारक बना रहेगा ही । पर स्वराज्य-प्राप्ति के प्रयत्न में भी उनका हिस्सा उतना ही बड़ा रहा । वह तीन बार कांग्रेस के सभापति हुए थे और मतभेद रहते हुए भी उन्होंने कांग्रेस को कभी नहीं छोड़ा । जब-जब कांग्रेस कठिनाई में पड़ी, उन्होंने अदम्य उत्साह के साथ उसकी सहायता की ।

हिन्दू महासभा के तो मालवीयजी एक प्रकार से जन्मदाता और प्राण ही थे । धार्मिक उत्थान के लिए हिन्दुओं की उन्होंने जो सेवा की वह अवर्णनीय है । सभी देश-सेवकों के साथ प्रेम और दया का भाव उनके लिए स्वाभाविक था । उनके उठ जाने से एक प्रकार से देश सूना हो गया है । उनके अन्तिम दिन कुछ विपत्तियों के कारण दुःखपूर्ण हो गये थे । ज्येष्ठ पुत्र पं० रमाकान्त मालवीय की मृत्यु से बहुत धक्का लगना स्वाभाविक था, पर अन्तिम दिनों तक वह देश को नहीं भूले और आज की परिस्थिति से चिन्तित और प्रसन्न दोनों ही थे । उनकी जीवन से हमको बहुत-कुछ सीखना है और वह हमारे सामने मार्गप्रदर्शक का काम करता रहेगा ।

इसी प्रकार की एक भारी क्षति बिहार में पूज्य बाबू ब्रजकिशोरप्रसाद की मृत्यु से हुई है । इधर अस्वस्थता के कारण कई बरसों से वह सार्वजनिक कामों में भाग लेने से बिलकुल असमर्थ हो गये थे और देश तथा सूबे को उनकी सेवा से वंचित हो जाना पड़ा था । पर जो सेवाएं वह पहले कर चुके थे, उनको स्मरण करके कोई भी देशवासी और विशेष करके बिहारी इस क्षति से दुःखित हुए बिना नहीं रह सकता । मेरे लिए तो यह बड़ी चोट है । वह तीक्ष्ण बुद्धि, अटल दृढ़ता और पैनी दूरदर्शिता, वह महान् त्यागशक्ति और निःस्पृहता, वह अनुपम प्रसिद्धि से बचने का निश्चय, यह निर्भयता कहां देखने को मिलेगी ? जब हम बिहार के लोग सार्वजनिक जीवन को केवल मनोरंजन का साधन मान करके उसमें कुछ थोड़ा समय लगा देना ही काफी समझते थे, उन्होंने हमारे समाने अखण्ड सेवा की बात रखी और हममें से बहुतेरों को उस व्रत में व्रती बनाया । हममें जब कभी कमजोरी आई तो उन्होंने अपने अटल निश्चय से हमको अनुप्राणित किया और व्रत में ढीलापन लाने से बचाया । किसानों की सेवा का आरम्भ उन्होंने उस समय से किया जब नीलवरों को बोलबाला था और उनके विरूद्ध आवाज उठाना खतरे से खाली नहीं था । जब मैंने एण्ट्रेन्स की परीक्षा पास की थी तभी से उनका प्रेम मेरे साथ हो गया था और मेरे जीवन की प्रत्येक कठिन घड़ी में वह बराबर सहायता करते रहे । उस सम्बन्ध ने इधर उनकी पुत्री के साथ मृत्युन्जय के विवाह के कारण कुछ और रूप भी धारण कर लिया था । पर सार्वजनिक जीवन में इसका कोई असर नहीं था । भाई की मृत्यु के बाद वह एक प्रकार से मेरे घर के कारबार में भी मदद देने लगे थे और देते रहते यदि स्वयं अस्वस्थ होकर अक्षम न हो जाते । इसलिए उनके देहावसान का समाचार सुनकर मैं दिल्ली में बहुत दुःखी हुआ । पर महात्माजी ने जो सान्त्वना का तार उनके पुत्रों को भेजा था, वह मेरे लिए भी सहायक हुआ । उन्होंने लिखा था कि उनके शरीर की जो दुरवस्था हो गई थी, उसमें उनका देहावसान सुखद होना चाहिए, न कि दुःखद और आत्मा तो अमर है ही । उसके लिए चिन्ता करना व्यर्थ है । बात ठीक है और जैसा कष्ट उनको देखकर हुआ करता था, वह अब नहीं होगा । ईश्वर उनके लड़कों की मदद करे ।

उनके श्राद्ध के अवसर पर मृत्युन्जय की स्त्री, विद्यावती, दरभंगे, जहां उसके भाई और माता हैं और जहां उनकी मृत्यु हुई थी, गई । मृत्युन्जय भी गये थे, पर श्राद्ध के बाद उसे वहां छोड़कर पटने चले गये आये । चन्द दिनों के बाद ही न मालूम उसको क्या हो गया और वह एकाएक एक-दो दिनों की बीमारी में ही चल बसी । मृत्युन्जय बीमारी की खबर पाते ही पटना से दरभंगा के लिए रवाना हुए, पर उनको रास्ते में ही उसके देहान्त की खबर मिल गई । मैं बिहार में हिन्दू-मुस्लिम दंगों की खबर पाकर पटने जा रहा था और रवाना होने के समय समाचार मिला । मैं वहां चला गया । बच्चों का कोलाहल और स्त्रियों का रोना-पीटना सुना । मृत्युन्जय उसी दिन दरभंगा गये हुए थे । दो दिनों के बाद वहां से दाह-क्रिया करके लौटे । मैं पटना जिला के गांवों में हिन्दू-मुस्लिम-दंगा रोकने के काम में लगा रहा । जहां इतने लोग मारे गये थे और इतने घरों में शोक और कालाहल था वहां अपना शोक एक प्रकार से शर्माकर दब-सा गया । मैं पटने में बहुत दौड़-धूप के कारण बीमार पड़ गया । इससे चन्द दिनों तक

ठहर जाना पड़ा। इसी बीच श्राद्ध का काम भी समाप्त हुआ।

एक-दो महीनों के अन्दर यह दूसरा शोक था। रांची में बहुत दिनों तक कष्ट सहकर बच्चा प्रकाश चला गया। जब बीमारी बहुत बढ़ी तो मुझे टेलीफोन से दिल्ली में खबर दी गई। मैं जाने की तैयारी कर ही रहा था कि खबर आई कि वह चला गया। यह बहुत मोटी चोट थी। उसका बड़ा भाई मोहन बारह बरस पहले चला गया था। वह घाव अभी तक मौजूद है और जब याद आती है तो आंसू आ ही जाते हैं। अब यह दूसरी चोट निर्दय काल ने लगाई। पर किया क्या जाय? जनार्दन और चन्द्रमुखी तथा भाई-बहू की दशा क्या कहूं। इन बच्चों को चले जाना ही होता है तो आते ही क्यों हैं? भगवान की लीला समझ में नहीं आता। एक तरफ विपत्ति-पर-विपत्ति और दूसरी तरफ एक-पर-एक काम के बोझ का बढ़ता जाना इतना भी समय नहीं मिलता कि दुःखी परिवार के लोगों के साथ कुछ समय बिताऊं। पर मैं जानता हूं कि इसमें भी ईश्वर का ही हाथ है। वह जो चाहे करे और करावे।

दिल्ली का जीवन कई बातों में नया जीवन है। दफ्तर का काम करने का पहले-पहल मौका हुआ है। सुना है कि लोग मेरे काम से सन्तुष्ट हैं। अभीतक देश जो अन्न-संकट में पड़ा रहा है, उससे रिहाई तो नहीं हुई है, पर कुछ हालत सुधरी जरूर है। दक्षिण में चावल की कमी के कारण जो भय था, वह अब कम हो गया है, पर उत्तर में गेहूं की कमी के कारण बढ़ता जा रहा है। मैं नहीं जानता कि मैंने खास क्या किया, जिसके लिए मुझे बधाई या ख्याति मिलनी चाहिए। पर लोग सन्तुष्ट हैं और अनेकों मानते हैं कि मैंने परिस्थिति को संभाला है। यदि कर्मचारी और जनता साथ न देती तो कोई भी कुछ नहीं कर सकता था। मैं तो कर ही क्या सकता था? यहां का जीवन मेरे लिए बिलकुल एक नया अनुभव है। मकान बहुत बड़ा है, पर उसमें जगह बहुत कम है, क्योंकि कमरे बड़े-बड़े पर संख्या में कम हैं। अहाता बहुत बड़ा और फूलों से सुसज्जित है। तरकारी की खेती की गई है और अपनी उपजाई तरकारी हम लोग इस्तेमाल कर रहे हैं। पर खर्च काफी पड़ता है। जब से आया हूं, इतना व्यस्त रहता हूं कि मित्रों से मिलने-जुलने का भी समय नहीं मिलता। कहीं आना-जाना तो बहुत मुश्किल से हो सकता है। अब तो और भी कठिनाई बढ़ गई। पर ईश्वर की दया है कि स्वास्थ्य काम दे रहा है और अभीतक कोई ऐसी हालत नहीं हुई है कि काम रोकना पड़े। यदि स्वास्थ्य ने साथ दिया, जैसा अभीतक रहा है, तो ईश्वर चाहेगा तो विधान-परिषद् के अध्यक्ष का काम भी किसी तरह से चला ले जाऊंगा।

दिल्ली,

८ जनवरी, १९४७